श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

तृतीय, चतुर्थ व पंचम भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक :—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
ारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

संस्करण १०००]
सन् १९७२
[मूल्य १८

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली:—

१	श्रीमान्	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
२		वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय,	कानपुर
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,,	मंत्री, जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जनसंघी,	जयपुर
२२	,,	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत

लालगोला

२८ श्रीमान् गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, कानपुर
२९ ,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर, आगरा
३० ,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी, आगरा
३१ ,, संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी, रुड़की
३२ ,, नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, सहारनपुर
३३ ,, मक्खनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले, सहारनपुर
३४ ,, रोशनलाल के० सी० जैन, सहारनपुर
३५ ,, मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट शिमला
३६ ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, सदर मेरठ
३७ ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, गोटे गाँव
३८ ,, दिगम्बर जैनसमाज इटावा
३९ ,, माता जी धनवंती देवी जैन राजागंज रुड़की
४० ,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द" चिलकाना
४१ ,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन, चिलकाना
४२ ,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन, सुलतानपुर
४३ ,, हुकमचंद मोतीचंद जैन, सदर मेरठ
४४ ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सुलतानपुर
४५ श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी गया
४६ ,, ❀ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज झूमरीतिलैया
४७ ,, ❀ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा, कानपुर
४८ ,, ❀ इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर, जयपुर
४९ ,, ❀ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या, सदर मेरठ
५० ,, ❀ बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सहारनपुर
५१ ,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, शिमला
५२ ,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा हैं उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५॥

—०—

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

समयसार-प्रवचन तृतीय, चतुर्थ व पंचम पुस्तक

(तृतीय पुस्तक)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वाभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥

१–अध्यात्मनाट्य––आत्माकी पर्यायोंकी सन्तति एक नाटक है। इन नाटकोंके करनेवाले ही देखनेवाले हैं। वही करनेवाला है, वही देखनेवाला है। जब इस नाट्यसभाके आत्ममंचपर ज्ञान उपस्थित होता है, उस समय ज्ञान उपस्थित होते ही नाटक देखनेवाले इन अज्ञानी भोले संसारी जीवोंको यकायक विश्वास उत्पन्न करा देता है। जैसे––आप लोगोंने कभी-न-कभी नाटक देखा ही होगा। जब नाटक हो रहा हो, उस समय कोई अन्याय अत्याचारका सीन चल रहा हो, तव उस अन्यायको समूल विनाश करनेवाला जब मंचपर उपस्थित होता है, उस समय दर्शकोंको आह्लाद हो जाता है। जिस समय नाटकमें यह प्रसंग चल रहा हो कि धवल सेठ श्रीपालके प्रति ऐसा अन्याय करनेवाला है, उस समय दर्शकगण चिन्तित और आकुलित हो जाते हैं, स्टेजपर रक्षा करनेवाला देव उपस्थित होता है, उस समय दर्शकगण हर्षसे गद्गद् हो ताली बजाने लगते हैं और चाहते हैं कि इस अन्यायी सेठको शीघ्र दण्ड दे डाले तो अच्छा है। उसी प्रकार जब मोहका नाटक चल रहा था, ज्ञान सामने आया तो उसने सभासदोंको विश्वास उत्पन्न कर दिया। क्या मैनासुन्दरी नाटकमें रक्षक देवने स्टेजपर आते ही रैनमञ्जूषाके ही शोकको दूर किया? नहीं, अपितु रैनमञ्जूषाके साथ-साथ उस दृश्यको देखनेवाले उपस्थित सभासदोंको भी आह्लादित किया। जब यह ज्ञान नाट्यभूमिमें सामने आता है, उसकी झलक देखकर ही दर्शकोंको विश्वास जग जाता है कि अब मोहका नामोनिशाँ न रहेगा। जब ज्ञान सामने आया तो जीव अजीवके भेदकी प्रबल दृष्टिके द्वारा ज्ञानके पहचाननेवाले सन्तोंको विश्वास हो गया कि हमारी रक्षा तो हो गई। इस अध्यायमें वर्णित आशंकाओंके हल करनेमें यह ज्ञान ही सर्वत्र काम देता है। शिष्य अनेक बातोंको आचार्यके सामने रखकर प्रश्न करता है कि महाराज, जो शुभ, अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, इनके उत्पन्न होनेकी जो सूक्ष्म सन्त-

तियाँ हैं, क्या वह आत्मा होगा ? शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि महाराज, क्या यह आत्मा होगा, क्या यह आत्मा होगा ? तब आचार्य परभावोंका निषेध करते हुए परम पारिणामिक शुद्ध भावोंको सिद्ध करेंगे।

२–ज्ञानपात्रके आते ही आततायी मोहके हौंसले समाप्त—वह ज्ञान नाट्यभूमिपर उपस्थित हुआ तो आते ही उसने उपसर्गके बन्धन ढीले कर दिए, केवल विश्वास ही नहीं दिलाया, अपितु उस मंचपर रहनेवाले आततायियोंके भी हौंसले बिगड़ गए और दर्शकोंको भी प्रसन्नता हुई। जिस प्रकारसे अन्यायको दूर करनेवाला पात्र स्टेजपर उपस्थित होता है, तो आततायियोंके हौंसले ढीले हो जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ज्ञान नाट्यभूमिपर आया तो अनादिकालसे बँधे हुए इन कर्मोंके तो हौंसले बिगड़े और दर्शक अपन लोगोंको आनन्द आया। जीव अजीवके विवेककी पुष्कल दृष्टिके द्वारा सभासदोंको विश्वास दिलाता हुआ ज्ञान प्रकट हुआ, तब स्टेजकी शोभा बढ़ी, आततायियोंके हौंसले बिगड़े और स्टेजपर चमत्कार-सा भी छा गया। इसी प्रकार यह मोह आत्मापर अन्याय करता आ रहा था और भी बड़े उपद्रव हो रहे थे। इसपर मोह बड़ा भारी अन्याय कर रहा था, ऐसी स्थिति में जब स्टेजपर ज्ञान आया, कुछ विशुद्धता जंचने लगी, दर्शकोंको कुछ शान्ति मिली, दर्शकों को आनन्द आया और बन्धनोंके हौंसले बिगड़े। इस प्रकार श्रीमत् अमृतचन्द्र सूरिने बड़े कलात्मक ढङ्गसे इस बातका विवेचन किया है। देखिये कीमत होती है किसी अवसरपर बात बननेकी। जब मोह इस आत्माको परेशान कर रहा था, गुणोंको विकृत कर रहा था, ऐसे समयपर मंचपर ज्ञान आता है, ऐसे समयकी कितनी बड़ी कीमत है ? उस समय पहली बार आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय आत्मामें जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है, इतने कर्मोंकी निर्जरा किसी समय नहीं होती है। ज्ञान होते ही सारा अनन्त संसार कट गया, यह कितनी बड़ी निर्जरा है, बादमें इतने कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है, रह भी तो थोड़ेसे जाते। जब यह ज्ञान इस आत्मस्टेजपर प्रकट हुआ तो एक साथ तीन बातें प्रकट हुई:—स्टेजपर चमत्कार, आक्रान्ताओंके बन्धन ढीले होना और सभासदोंको विश्वास होना। इतनी ही बात नहीं। आत्मारूपी बगीचेमें झवकारेको उत्पन्न करता हुआ यह ज्ञान प्रकट हुआ। किसी आक्रांतापर जब कोई आक्रमण करता है उस समय यह आनन्द होता ही है।

३–नित्य उदित ज्ञान—यह ज्ञान स्टेजपर आज आया। परन्तु था वह पहिलेसे ही नित्य अन्तः प्रकाशमान। जैसे वह देव अभी आया ही था, वैसे वह था वहां पहिलेसे ही। अतः उसको देखते ही दर्शकोंको आनन्द प्राप्त हुआ था। जिस ज्ञान नायकके देखनेपर जनताको अपार हर्ष हुआ और मोहके होश उड़ गए, वह था पहिले से ही, किन्तु देखा गया

अब। जैसे मैनासुन्दरीका नाटक चल रहा है, जब वह स्टेजपर आती है, उस समय दर्शकों में बड़ी उमङ्ग पैदा होती है, ऐसी उमङ्ग शेष सीनोंके देखनेपर नहीं होती। नाटकोंका नायक जब सामने उपस्थित होता है, उस समयका सीन बड़ा ही आकर्षक होता है। यह ज्ञान आत्माके गुणोंमेंसे मुख्य है, नायक है। जब जब आत्मामें ज्ञान आता है, तब तब पारिषदोंकी उमङ्ग ही और हो जाती है। किसी भी नाटकके नायकमें ३ गुण होते हैं:—धीर, उदात्त और अनाकुल। तुम्हें जो चीज दिखानी होती है, उसकी महिमासे सम्बन्धित महिमाको करने वाला नायक होता है। मैनासुन्दरीने रोग होनेपर भी कितनी सेवा की, यह उसकी उदारता थी। उसी प्रकार जब यह ज्ञान आत्ममंचपर उपस्थित होता है, उस समय वह धीर है, अनाकुल है और उदात्त है। उसने सभीको छोटोंको भी (मनको भी) प्रसन्न कर दिया। ज्ञानने आत्माको तो प्रसन्न किया है। मन केवल विषयोंसे प्रसन्न होता हो, यह बात नहीं, अपितु यदि यह आत्मा सत्पथमें चले तो वह अनुपम प्रसन्न रहता है। जब यह ज्ञान प्रकट हुआ तब इसने स्टेजपर क्या-क्या कार्य किये—वह विलास करता है। ज्ञानको इस समय कोई कष्ट नहीं हो रहा है। किन्तु दर्शकोंकी बड़ी विपत्तियाँ दूर हो गईं महान् आक्रांताओं—मोह, राग, कषायोंको विनष्ट किया। ज्ञानको इसमें तनिक भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। ये सारी बातें ज्ञानकी सीधीसादी मुद्रासे ही प्रकट हो गईं। अतः कहा गया है कि यह ज्ञानका विलास है। विलास माने जिस कार्यके करनेमें तनिक भी कष्ट न हो और कार्य हो जाये। यह ज्ञान यहाँ प्रकट हुआ। इस अधिकारकी पहली गाथामें आचार्य महाराज इस ज्ञानकी छत्रछायामें रहकर दूसरोंको सम्बोध रहे हैं:—

अप्पाण मयाणंता मूढा हु, परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥

४–अज्ञानीकी अध्यवसानमें आत्मत्वकी मान्यता—आत्माको न जानने वाले व परको आत्मा कहने वाले ही मूढ़ पुरुष अध्यवसानको ही जीव कहते हैं तथा कितने ही मूढ़ कर्मको ही जीव प्ररूपित करते हैं। अधि = आत्मामें जो कुछ भी निश्चय कर लिया जाता है उसे कहते हैं अध्यवसान। यह अध्यवसान शब्द सर्व विभावोंको अविशेषतया सूचित करने वाला है अथवा विभावोंकी वासनाको अध्यवसान कहते हैं। यह पर्यायमुग्ध प्राणी अध्यवसानको व और भी अन्य भाव व द्रव्योंको, जिनका वर्णन इस प्रसङ्गमें चार गाथाओंमें है, आत्मा मानता है। क्यों इन सबको आत्मा मानता है यह ? इसलिए मानता है कि उसके उपयोग में आत्माका असाधारण लक्षण तो आया ही नहीं, इसलिए आत्माके तथ्यको समझनेमें क्लीब है, अयोग्य है, अतएव वह अपनेमें गुजरने वाले विभावोंमें मुग्ध हो गया, विमूढ़ हो गया। अब वह तात्विक आत्माको न जानता हुआ नाना प्रकारके परपदार्थ व परभावों

को आत्मा बकता है। उनमें से एक मूढ़ यह है जो अध्यवसानको आत्मा बता रहा है। इसका मन्तव्य है कि नैसर्गिक राग द्वेपसे कल्माषित जो अध्यवसान है वह जीव है। इसकी दृष्टिमें रागद्वेपका पुञ्ज ही यह जीव है तभी तो इसे रागद्वेप नैसर्गिक दीख रहे हैं। इन राग द्वेषोंसे मलीमस जो भीतरी निश्चय है, संस्कार है, वासना है वह ही जीव है। ये मोही लोग परपदार्थको आत्मा समझने वाले हैं, सो आत्माको न जानते हुए अध्यवसान और राग द्वेष कर्म आदिको जीव कह बैठते हैं। जीवसे अपरिचित कोई नहीं है। कोई आत्मासे किसी रूपमें परिचित है, कोई किसी रूपमें। यह मैं हूं, शरीर मैं हूं---ऐसे ज्ञानमें कुछ विवेक तो आया। दो बात तो कह दी, सो ऐसा नहीं। इसे देखते ही मैं हूं---यह प्रतीति होनेमें मोहका जकड़ाव हुआ। यह मोह उन्हें क्यों बना? इसलिए कि उन्हें जीवकी पहिचान तो थी ही नहीं। जो गेहूं और कूड़ाको समझ नहीं पाया, उसके लिए कूड़ा भी गेहूं है और सारा गेहूं भी कूड़ा है। इन गाथाओंमें आगे अनेक और सूक्ष्म भी आशङ्कायें होंगी। तीव्र और मन्द जो आत्मामें गुण हैं, वह तो आत्मा होगा, यहाँ तक शिष्य प्रश्न करेगा।

५--अध्यवसानात्मवादिता---जो जन आत्माको नहीं जानते, परको आत्मा कहते है वे पुरुष जीवको किस-किस रूपमें निरखा करते है, इसकी चर्चा इस गाथामें की है। जो परको आत्मा मानते हैं वे अपने ज्ञायकस्वभावसे भिन्न अन्यत्र दृष्टि ही तो रख रहे हैं। आत्मामें उत्पन्न होनेवाले जो अध्यवसान भाव हैं, रागद्वेपादिकसे कलुषित जो कुछ आत्माका परिणाम है उस परिणामको ही जीव मानते हैं। अपने बारेमें यह कल्पना तक भी नहीं जगती कि मैं एक विशुद्ध ज्ञानमात्र हूं और उसी कारण न यह कल्पना जग सकती--मैं एक विशुद्ध ज्ञानमात्र प्रकट भी हो सकूंगा। उनके मतमें कुछ नहीं। और कदाचित मोक्षका नाम भी तो लें, यों समझिये कि जैसे भोगभूमिया स्वर्ग यह नाम ले लिया जाता है कि इसमें बड़ा सुख है तो इसमें कुछ और ऊँचा सुख मोक्षमें है, इतनी तक बुद्धि रहती है। ऐसी उनको अध्यवसानमें आत्माकी प्रतीति हुई। जैसे कि कोयलेमें कालापन। कोयलेका कालापन जैसे अलग नहीं किया जा सकता, कोयला और कालापन एक है, कालिमासे भिन्न कोयला और कुछ नहीं प्राप्त होता है। इसी प्रकार अध्यवसानसे भिन्न कोई आत्मा अलग प्राप्त नहीं होता। यों निज सहज ज्ञायकस्वभावसे अपरिचित बाह्य भावमें ही भटकनेकी आदत रखने वाले मूढ़ अज्ञानी जन अध्यवसानको आत्मा मानते हैं।

६--अज्ञानीकी कर्ममें आत्मत्वकी मान्यता---अब दूसरा विमूढ़ महानुभाव कहता है कि कर्म ही जीव है, कर्मसे अतिरिक्त कोई जीव नहीं है। देखो भैया! क्या इसने अत्यन्त सूक्ष्म इस पौद्गलिक कर्मका अवगम कर लिया? नहीं, उसको लक्ष्य करके यह ऐसा नहीं कह रहा, किन्तु यत्किमपि कुछ तो कर्मके नामपर मान रहा है। वह उसी विकल्पित कर्मको

आत्मा मान रहा है। जिस कर्मको यह मोही जीव जीव मान रहा है उसे यह अनादि अनन्त समझता है। अनादि अनन्त समझे बिना किसीको जीव माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि अपनेको अध्रुव कोई नहीं मानता। अध्रुवको भी आत्मा माने तो उसे ध्रुवत्वरूपसे अङ्गीकार किए बिना आत्मा नहीं मान सकता। अनादि अनन्त जिसके पूर्व और अपर अवयव हैं ऐसे एक संसरण रूप क्रियासे खेलता, लीला करता, विलास करता, जो कर्म है वही जीव है। इसे भी ऐसा ही दीखता कि जैसे कृष्णतासे अतिरिक्त कोई अङ्गार फङ्गार कुछ नहीं, इसी तरह इस कर्मसे अतिरिक्त आत्मा फात्मा और कुछ नहीं है। ज्ञानचेतनाका अनुभव न कर सकनेसे कितने ही मोही जीव किस किसको आत्मा मान बैठे हैं, कोई अध्यवसानको आत्मा कहता है तो कोई कर्मको आत्मा कहता है।

७–कर्मात्मवादिता–कोई कोई पुरुष कर्मको ही आत्मा मानते हैं। कर्मका नाम सब लेते हैं––दैव, भाग्य, विधि, तकदीर, कर्म आदिक शब्दोंसे प्रायः मनुष्य व्यवहार करते हैं, लेकिन सही पता कर्मका भी नहीं है अज्ञानी जीवोंको। जैसे सही पता नहीं अपना, इसी प्रकार कर्मका भी किसी भी परतत्त्वका भी पता नहीं होता। हाँ इतना अवश्य वे अज्ञानी जन कर्म और तकदीरके बारेमें अंदाजा रखते हैं कि कोई कर्म और तकदीरके बारेमें अंदाजा रखते हैं कि कोई कर्म है जो मुझे सुखी करता, दुःखी करता, जन्म देता, मरण कराता। इतना भी ज्ञान हो तो थोड़ा वहाँ भी भेद आ गया। कर्म कराते हैं, मुझे कराते हैं। किन्तु ऐसा अज्ञान गहरा पड़ा हुआ है कि इतना भी भेद नहीं है। उनकी दृष्टिमें तो जो कर्म है सो ही मैं हूं। कर्मसे भिन्न और कुछ मैं नहीं हूं।

८–अध्यवसान व कर्मकी सकलानात्मत्व प्रतीकता—इस गाथामें एक ऐसा सामान्य कथन आ गया कि जितने भी आत्माके बारेमें भूलें बतायी जायेंगी उन सबकी दशा इन दो में समा गयी। जो अपनेसे सम्बंधित हैं, आत्माके प्रदेशोंमें होनेवाले जो कुछ भी परभाव हैं जिसे कि यह अज्ञानी आत्मा मानेगा, उसका तो अन्तर्भाव हो गया अध्यवसानमें और जो परतत्त्व हैं जिन्हें यह आत्मा मानेगा उन सब परका प्रतीक यह कर्म है। यों अज्ञानी जीव अध्यवसान और कर्मको आत्मा समझता है। अध्यवसान शब्दसे शब्दार्थकी दृष्टिसे यह भाव निकलता है कि जो मुझमें नहीं है, जो मेरे स्वरूपमें, स्वभावमें पाया नहीं जाता, उससे अधिक किसी भावका निर्णय रखना आत्मस्वरूपके रूपमें इसको अध्यवसान कहते हैं। अधि अवसान। अपने स्वरूपसे अधिक अवसान अतिरिक्त भावमें मैं आत्मा हूं ऐसे निश्चयरूप विकल्पको अध्यवसान कहते हैं, उनमें जो भी परिणाम आत्माके स्वभावसे अतिरिक्त हैं वे सब अध्यवसान कहलाते हैं। आत्मामें आत्माका स्वभावतः परिणाम है चेतन। उस चेतन-भावसे अतिरिक्त जो परिणाम है, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयकषाय

आदिक, वे सब अध्यवसान कहलाते हैं। उन अध्यवसानोंको यह मूढ़ जीव आत्मा मानता है। यह मैं हूँ, इसी कारण अध्यवसान भावमें जब कभी कोई विघ्नसा आता है तो उस समय इसे बड़ी हैरानी होती है। यह अपनी हानि समझता है और अध्यवसानकी तरक्कीमें अध्यवसानके लगावमें सन्तोष मानता है। इसी प्रकार कर्मके सम्बन्धमें भी कोई तो इस सागररूपमें जो चल रहा है ऐसे भावको आत्मा मानकर सन्तुष्ट होता है और कोई सुने हुए कर्म तकदीर दैव आदिक नामसे जिनका परिचय किया है बुद्धिके अनुसार उन्हें आत्मा मान करके सन्तुष्ट होता है। ये सब परात्मवादी जीव जी हैं जो कि अजीवको जीव मानते हैं।

९–अज्ञानीको शान्तिनिधि ज्ञानचेतनका अपरिचय–ज्ञानचेतना वह स्थिति है, जिसमें रागादि विकल्पोंका अनुभव नहीं होता है। निर्विकल्प ज्ञानमात्र निजचैतन्य तत्त्वको ही मैं देखता हूं और करता हूं, इस प्रकारका अनुभवनमात्र ही ज्ञानचेतना है। ज्ञानके विकल्पको ज्ञानचेतनाका अविरोधी भाव कह सकते हैं। विकल्प दो प्रकारके होते हैं:—(१) ज्ञानका विकल्प और (२) रागका विकल्प। जगतमें जो जैसे पदार्थ हैं उस तरहका प्रतिवेदन हो जाना ज्ञानका विकल्प कहलाता है। ज्ञानका विकल्प ज्ञानका लक्षण है। रागका विकल्प आत्माका लक्षण नहीं है। रागका विकल्प ज्ञानचेतनामें बाधक है। स्नेह, मोह होना भी ज्ञान चेतनामें बाधक है। ज्ञानका विकल्प सभी आत्माओंके साथ चलता है। रागका विकल्प मोह और रागमें चलता है। जितने काल ज्ञानचेतनाकी अनुभूति रहती है, उतने काल उपयोग बदलता याने विषम होता नहीं है। अतः वह उपयोग भी निर्विकल्प है। जीवका साथी ब्रह्मज्ञान है। आत्माका ज्ञान होना, यह स्थिति जीवका मित्र है। इसके अतिरिक्त दुनियामें अपना कोई साथी नहीं है। मोहमें ऐसा विश्वास हो जाता है कि पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सब मेरे हैं, मेरे आज्ञाकारी हैं और मेरा कल्याण करने वाले हैं। परन्तु उस मोहीको यह मालूम नहीं कि वे सब स्वतन्त्र पदार्थ हैं, उनका परिणमन उनमें ही होता है, उनका परिणमन मेरेमें नहीं हो सकता है। उनके स्वार्थमें जब कोई बाधा आती है, फिर कोई ध्यान नहीं रखता है। अपनी निर्विकल्प परिस्थितिमें स्थित आत्मा-आत्मामें ही रमे तो इस जीव का आत्मा स्वयं साथी है। परके स्मरणसे कभी कहीं शान्ति नहीं मिलेगी, शांति मिलेगी तो अपने ही आपमें मिलेगी। सर्वत्र चले जाओ, आपके लिये आप ही जिम्मेवार हैं। इस जगतमें मेरे सिवाय मेरा कुछ नहीं है। ऐसी वस्तुकी स्थिति है। जो धनके झुकावमें है, उसे क्लेश ही क्लेश है। जो अपनी ओर झुका हुआ है, उसे शान्ति, सन्तोष व धैर्य है।

१०–ज्ञानी जीवके ज्ञानचेतना–यदि यह विश्वास हो जाये कि मैं अमुकका कर्ता हूं तो

जीवकी ज्ञानचेतना छूट जायेगी। यदि ऐसा मिथ्या विश्वास नहीं है तो जीवकी ज्ञानचेतना ज्योंकी त्यों बनी रहती है, उसका लेश भी नहीं बिगड़ता है। यदि कोई यह प्रतीति करे कि मैं परका स्वामी हूं, परका कर्ता भोक्ता हूं तो उसकी ज्ञानचेतना नष्ट हो जायेगी। परन्तु जब तक यह आत्मा अपना विश्वास सही रखता है तब तक उसे कैसे परबुद्धि कहा जा सकता है! यदि यह ज्ञानी परका भी ज्ञान व राग करे तो भी इसकी ज्ञानचेतना लुप्त नहीं होती। जो आनन्द अपने अनुभवमें है, वह आनन्द संसारके सब संग्रहोंमें भी नहीं है। प्रश्न--ऐसी स्थितिमें जब कि सम्यग्दृष्टि बाह्यकी स्थितिमें है, तो क्या जीवके उपयोगमें बाह्य अर्थ नहीं होता है? समाधानः—ज्ञानोपयोगका स्वरूप ही ऐसा है, ज्ञानोपयोगकी महिमा ही ऐसी है कि निश्चयसे वह केवल स्वका प्रकाशक है, परका नहीं। व्यवहारसे वह ज्ञानोपयोग स्व और पर दोनोंका प्रकाशक है। कभी-कभी सम्यग्दृष्टिका उपयोग बाह्यमें भी जाता है, परन्तु उसका उस समय भी आत्माकी ओर उपयोग है, अतः उसे बाह्यमें आसक्ति नहीं रह सकती है। सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्वके माहात्म्यसे सम्यक्त्व उत्पन्न रहता है। सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें एक प्रकारकी ऐसी विशुद्धता आ जाती है कि उसको विपरीत विश्वास बनाये भी नहीं बनता। जैसे किसीसे कहा जाये कि तुम एक मिनटको मान लो यह चीज हमारी नहीं है, मिथ्यादृष्टि कहेगा कि कैसे मान लें कि यह चीज हमारी नहीं है, किन्तु ज्ञानीमें इसके विपरीत होता है। देखो दोनोंमें कितना अन्तर है? अतः ज्ञानी न स्वके विषयमें और न परके विषयमें उल्टा विश्वास करता है। ज्ञानीके भी विश्वास है कि मेरी सम्पत्ति मेरे लिए ही है, मित्रके लिये नहीं है। और करता है मित्रोंसे अनुराग। सम्यग्दृष्टि जीवके विश्वास भी रहे और पुत्रमें राग भी रहे तो क्या ऐसा नहीं हो सकता है? उल्टी बात जिस दिन आ पड़ेगी कि यह पुत्रादिके बिना कुछ नहीं है, उस दिन ज्ञानचेतना नष्ट हो जायेगी।

११–सम्यक्त्वका लाभ—जब तक सम्यक्त्व है, तब तक क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्वके लाभ प्रायः एकसे हैं। उपशम सम्यक्त्वकी अन्तर्मुहूर्त स्थिति है। क्षायिक सम्यक्त्वकी संसारमें ३३ सागर स्थिति है। क्षयोपशम सम्यक्त्व में सूक्ष्म चलादि दोष हैं। इतना ही अन्तर है। जिस प्रकार जिस समय आत्मा अपने विषय में उपयोग करता है, उस समय आत्माका आत्मज्ञान कहलाने लगता है और आत्मा प्रेय हो जाता है, वहाँपर भी वह स्वको जानता है। परमें उपयोग हो तब भी वह स्वकी प्रतीतिसे च्युत नहीं होता है। प्रेय वहाँपर वही खुद होता है। जैसे देहातोंमें बच्चे खेलने चले जाते हैं, रात होनेपर घर आना ही पड़ता है। जब वे खेलमें थे, तब भी उनकी प्रतीति थी कि हमारा घर यहाँ नहीं है, परन्तु उपयोग खेलमें था, यदि उनकी प्रतीति ही नष्ट हो जाती

तो उनको घरकी याद आना ही नहीं चाहिये थी। यही बात सम्यग्दृष्टि जीवके है, प्रतीति बनी रहती है और उनका उपयोग अन्यत्र रहता है। सम्यग्दृष्टिके राग होता रहता है, परन्तु उनके प्रतीति ऐसी है कि हमारा राग नहीं है। जैसे कोई किसीके मर जाता है, उसको प्रतीति तो बनी रहती है कि यह हमारा कुछ था ही नहीं, परन्तु आँसू तो बहाने ही पड़ते हैं। वैसे ही इस ज्ञानी आत्माको प्रतीति तो बनी रहती है कि रागादि अब मेरा नहीं है, मेरे स्वरसतः उत्पन्न नहीं हुआ है तथापि उस प्रकारके उपादान निमित्तका ऐसा ही मेल है कि कर्मोदय उपाधिको निमित्तमात्र करके यह मलीमस योग्यतावाला जीव रागादिरूप परिणम जाता है। जीवका स्वभाव रागादि नहीं है तब वाह्य पदार्थ जो रागादि भावके विषय पड़ते हैं वे जीवके क्या हो सकते हैं? आत्मा परसे राग नहीं करता। आत्मा परको क्या रंगेगा, चाहे निजको जानो या परको, परन्तु जिनका यथार्थ विश्वास है, उनका आशय शुद्ध ही है। आत्मा परको जाने या स्वको जाने—इससे आत्मामें कोई बिगाड़ नहीं है, परन्तु आत्मामें प्रतीति बदलनेपर हानि होती है। विपरीत श्रद्धा होने पर अधिक हानि कुछ न हो तो उत्कर्ष भी नहीं होता है। जाननेमें कुछ भी आओ, यदि उसमें उपराग अथवा उपयोग नहीं है तो आत्माका उससे कोई बिगाड़ नहीं है। अपनी उपयोग भूमिको निर्मल बनाना अपना सबसे बड़ा कर्तव्य है।

१२–वस्तुस्वातन्त्र्यके श्रद्धानसे ही जीवका कल्याण— हे आत्मन्! तू चाहता तो यह था कि मैं सदा निराकुल रहूँ, परन्तु तुझे विपरीत श्रद्धा हो गई, अतः तू दुःखी हो रहा है। अतः सुख पानेके लिए तू इन सातों तत्त्वोंको तो देख। सातों तत्त्वोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। मोक्ष मार्गके विपरीत तत्त्वोंपर आत्मरूप व हित रूप श्रद्धा करनेका नाम मिथ्या दर्शन है। हे आत्मन्! तू अपनेसे विपरीत तत्त्वोंमें श्रद्धा न कर। जैसा जो पदार्थ है उस पदार्थका वैसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्या दर्शन है। मेरा कोई कुछ नहीं है, ऐसी श्रद्धा करनेमें आनन्द मिलेगा। यदि यह बात श्रद्धामें आ गई कि निजका निज है और परका पर है तो आत्माका कभी कोई बिगाड़ नहीं होना है। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपकी परिणतिसे ही परिणमता चला जाता है। यदि तुम अपना जीवन सत्यकी श्रद्धाके अनुकूल बनाओ तो तुम्हारा जीवन ठीक चलेगा। तुम्हारा किसीने कुछ नहीं किया। सबकी दुकानें अलग-अलग चल रही हैं, वे ही ग्राहक हैं, वे ही विक्रेता हैं, उसीमें से उनको माल मिल जाता है, उसीमें से माल चला जाता है—ऐसी दुकान सबकी अपनी-अपनी चल रही है। ऐसी प्रतीति करो कि सारे संसारमें मैं स्वतन्त्र एक हूं। सबसे अपरिचित रहकर भी अपने आपमें परिणमता रहता हूं। यह भी हमारा भ्रम है कि यह मुझे पहिचानता है। किसीके द्वारा कोई पहिचाननेमें नहीं आता है। ऐसे अपरिचयमें रह

कर यह आत्मा अपने आपमें परिणमता चला जा रहा है। अपने आपमें इसका उपयोग जम जाये तो इस जीवका कल्याण हो जाए। ज्ञाताका स्वभाव जानना है। हम और आप का ज्ञान इतना कमजोर है कि अपने ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना कर लेते हैं। परन्तु इससे श्रद्धामें कोई विशिष्ट गुण हानि नहीं होती है। जितना भी बन्ध होता है वह प्रतीतिके अनुसार होता है। आपका विश्वास आपके अनुसार नहीं हो पाया तो चाहे कितनी भी तपस्या करते रहो, सब व्यर्थ है। बन्धको रोकने वाला आत्माका स्पर्श याने अनुभव ही है।

१३–अध्यवसानमें जीवत्वकी प्रतीतिका मूल अज्ञान—यहाँ आत्माके असाधारण लक्षण न जानने वाले एवं परको ही आत्मा समझने वाले एक पर्यायमुग्धकी मान्यता बताई जा रही है कि वह अध्यवसानसे पृथक् कोई आत्मतत्त्व ही नहीं मान रहा है। उसका यह ठोक बजाकर कहना हो रहा है कि अध्यवसान ही जीव है। क्योंकि इससे अतिरिक्त अन्य कोई जीव पाया ही नहीं जाता, जैसे कि कृष्णता (कालिमा) से अतिरिक्त अन्य कुछ अंगार है ही नहीं। यह दृष्टान्त भी इस चतुरने कितना बढ़िया दिया है जिसमें अपना सारा भाव झलका दिया। अथवा यहाँ अन्य कोई कहने वाला है ही नहीं, सो श्री पूज्य अमृतचन्द जी सूरिका कौशल देखो। अमृतचन्दजी सूरि सम्यग्दृष्टि, स्वानुभावी महापुरुष थे। तभी मिथ्यात्व में हो सकने वाली गलतियोंका भी ठीक ठीक वर्णन व उदाहरण दे रहे हैं। सुलझा हुआ ही पुरुष उलझन व सुलझनोंको यथार्थ प्रतिपादन कर सकता। पर्यायमूढ़ प्राणी मिथ्यात्वका यथार्थ वर्णन क्या करेगा? वह तो बेहोश है। देखो यहाँ अंगार द्रव्यस्थानीय है और कृष्णता विकारस्थानीय है। मूढ़की मान्यता है कि जैसे कृष्णतासे अतिरिक्त अंगार कुछ नहीं है इसी तरह अध्यवसानसे अतिरिक्त आत्मा कुछ नहीं है। अंगारको बुझाकर देखलो कालिमा मिलेगी, सो जलते अंगारमें भी कालिमाके अतिरिक्त कुछ नहीं है। कोयलाके सारे पर्दे खोल लो, धो धो करके देखलो, कलिमासे अतिरिक्त कुछ नहीं है। अंगार जलतेको भी कहते हैं, बुझेको, अधजलतेको भी कहते हैं। कहीं भी देख लो, कालिमासे अतिरिक्त वह कुछ नहीं। सो जैसे कृष्णताके सिवाय अङ्गार फङ्गार कुछ नहीं, इसी तरह अध्यवसानके अतिरिक्त आत्मा-फात्मा कुछ नहीं, ऐसी विभावमूढकी मान्यता है। वह खुलासेमें इस तरह नहीं कह पाता किन्तु झुकता इसी कुतत्त्वकी ओर है।

१४–ज्ञानविकल्पसे सम्यक्त्वकी क्षतिका अभाव—सम्यक्त्वमें बाधा ज्ञानके विकल्पोंसे नहीं आती है। ज्ञानका विकल्प मायने चीज ज्ञानमें आना। चीजके ज्ञानमें आनेसे सम्यक्त्वको क्षति नहीं पहुंचती है। सम्यक्त्वकी क्षति यही है कि या तो सम्यक्त्व मिट जाये या संवर और निर्जराकी हानि हो जाये। आत्मासें रागद्वेष कषायादि भी होते रहें, मगर इनसे सम्यक्त्व की हानि नहीं होती है। यह बात जरूर है कि राग-द्वेष मोहके आत्मासें परिणमनसे आत्मा

का विकास रुक जाता है, रागादि आत्माके विकासको नहीं होने देते, उसमें बाधक होते हैं:—परन्तु सम्यक्त्वको इनके होनेसे कोई हानि नहीं पहुँचती है। कषाय भी सम्यक्त्वका नाश नहीं करती हैं। कषाय होती रहें, बार-बार होती रहें, यह परम्परा सम्यक्त्वके नाशका कारण बन सकती है, वहाँ भी उनसे सम्यक्त्वमें बाधा नहीं पहुंची। विपरीत अभिप्रायसे ही सम्यक्त्वकी क्षति हुई। रागादिक बाधक अवश्य हैं आत्मोत्कर्षमें। यहाँ तो केवल स्वरूप की दृष्टि रखकर वर्णन हो रहा है कि राग चरित्र गुणका विकार है, वह सम्यक्त्वका विपक्षी नहीं। केवल सम्यग्दर्शन ही आत्माके उत्कर्षका कारण नहीं है, अपितु चारित्र भी तो आत्माके सुविकासके उत्कर्षमें कारण है। कितने ही जीव जो विपरीत अभिप्रायमें पड़े हुए हैं, वे कहते हैं—अध्यवसान ही जीव है। रागद्वेष आदि विभावोंसे कलुषित परिणमन अध्यवसान कहलाता है। रागादि परिणामोंसे सम्यक्त्वका नाश नहीं होता, इनसे चारित्रकी क्षति है। सम्यक्त्वके कारण जो संवर निर्जरा होती है, वह रागादिके होनेपर भी होती रहती है। सम्यक्त्वके रहनेपर रागका रहना एक दोष है। परन्तु राग चारित्रपर आक्रमण करता है, सम्यक्त्वका घात नहीं कर सकता है। आत्मामें जो रागादि परिणाम पाये जाते हैं, उन्हें अध्यवसान कहते हैं, रागादि भाव बुद्धिपूर्वक हों या अबुद्धिपूर्वक हों, समझमें आते हों या न आते हों—रागादिसे कलुषित जो परिणाम है, उसे अध्यवसान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव अध्यवसानको जीव मान बैठा है। क्रोध मान-माया-लोभ-राग-द्वेष, मद मोह भय करते हुए उन्हें यह प्रतीति रहती है कि यही (क्रोधादि) मैं हू। उसके आगे पीछे रहने वाला भी कोई है, यह भी उन्हें खबर नहीं रहती है। सम्यक्त्वमें चैतन्यमात्रकी ही प्रतीति होती है, रागादिक परिणाम मैं हूं, यह प्रतीति सम्यक्त्वमें नहीं होती है।

१५. चिद्भावकी प्रतीति होनेपर भी रागादिकी संभावना पर शंका समाधान—शंका—आत्मामें चैतन्यकी प्रतीति होने पर रागादि कैसे हो सकते हैं? समाधान—जैसे जब किसी का कोई इष्ट गुज़र जाता है, वह भोजन भी करता है, सोता भी है, परन्तु प्रत्येक समय इष्टकी ओर चित्त रहता है। भोजन करते हुए भी उसे इष्टकी प्रतीति है, लेकिन भोजन भी करता ही है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके प्रतीति तो चैतन्य स्वभावकी है, कदाचित् आत्मामें रागादि भाव भी आये, परन्तु उनसे आत्माका विशेष बिगाड़ नहीं है। आत्माका बिगाड़ है तो विपरीत अभिप्रायसे है। वह राग जिस समय घनिष्ठ हो जाये कि विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करने लगे तो सम्यक्त्वमें तब बाधा होती है। रागादि भाव चार जातिके होते हैं—(१) अनन्तानुबन्धी, (२) अप्रत्याख्यानावरण, (३) प्रत्याख्यानावरण, (४) संज्वलन। अनन्तानुबन्धी राग तो मिथ्यात्वको पोषता है, संसारबन्धन कराता है। शेष राग उपभोगके हेतु तो है परन्तु संसार-बन्धन नहीं कराते अर्थात् मिथ्यात्वको नहीं पोषते। अनन्तानुबन्धी

राग आदि परिणाम विपरीत अभिप्रायके उद्भावक ही हुए, लेकिन सम्यक्त्वका बाधक विपरीत अभिप्राय ही है। ऐसा सम्बन्ध होनेसे अनन्तानुबंधी भी सम्यक्त्वकी घातक हुई।

१६. मोहमें रागद्वेषकल्मापितभावमें जीवत्वकी कल्पना—राग-द्वेष-मोहादि जो अध्यवसान हैं, उनमें ही मानना कि यही मैं हूं, यही विपरीत अभिप्राय है। राग भी विपरीत अभिप्राय है, परन्तु राग मिथ्याश्रद्धा नहीं है। स्वरूपपर दृष्टि दो, राग मिथ्या श्रद्धा नहीं हैं। राग राग हैं, राग चारित्र गुणका विकार हैं, परन्तु वह मिथ्या श्रद्धा रूप नहीं है। जीवका स्वरूप अध्यवसान मानने पर मुक्ति कैसे हो ? कोई कहता है कि अध्यवसान ही जीव है। जैसे हमको उसने ऐसा क्यों कह दिया ? ऐसा विषाद किया तो इसमें रागद्वेष रूप परिणमन ही "हम" हैं, यह श्रद्धा निश्चित समझी गई। असमानजातीय व्यंजन पर्याय ही उसका हम हैं। रागद्वेषसे कलुषित जो परिणाम है, वही "जीव" है, ऐसी मोहियोंकी कल्पना है। वे कहते हैं, जैसे कोयलेसे कालापन अलग नहीं है, उसी प्रकार राग-द्वेष-मोहसे अलग आत्मा है ही क्या ? अतः राग द्वेष होना ही तो जीव है। कोई लोग कहते है कि रागादिक मलके रूपसे ज्ञान होना ही जीव है। जैसे अंगारेसे "कालापन" कोई अलग चीज नहीं है, इसी तरह आत्मासे भिन्न राग-द्वेष-मोह नहीं हैं और रागादिसे भिन्न आत्मा नहीं है। अतः मैं जानता हूं कि रागादि परिणाम ही आत्मा है। एक बार देहलीमें जब हम थे तो किसीने आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराजसे जिक्र किया कि:—"राग द्वेष आत्मासे कतई नहीं छूटते हैं और राग-द्वेषके मन्द पड़नेपर मोक्ष हो जाता है।" यद्यपि प्रश्नकर्ताने यह प्रश्न हंस करके किया, परन्तु बात ऐसा कि उन्हें यह प्रतीति है कि आत्मासे रागद्वेष कभी छूटते नहीं हैं। जब रागादि अत्यन्त कम हो जाते है, वही मोक्ष है। उनकी ऐसी प्रतीति बनी थी, अतएव वे एक भूलपर भ्रष्ट हो गए।

की हानि है। एक बार गिर जाना उतना बुरा नहीं, जितना गिरते जाना बुरा है। गिरते जाना माने निरन्तर गिरना है। गिरते जानेमें बेहोशी है। अतः निरन्तर गिरनेसे सम्यक्त्व में हानि है। जैसे बरसातमें पैर फिसलना "गिरना" है। मगर फिसलते जाना यह निरन्तर गिरते जाना है। पाप सम्यग्दृष्टिके भी होता है, मगर पाप निरन्तर होते रहने और पुण्य कम होनेमें सम्यक्त्वकी हानि है। पुण्यका निरन्तर अपकर्ष होने लगे, यह भी सम्यक्त्वकी हानिका कारण है। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होना या सम्यक्त्वमें किन्हीं अंशोंका बढ़ना, या निर्जरा संवर विशेष रूपसे होने लगना—ये सब सम्यक्त्वके गुण हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया यह सम्यक्त्वका गुण है।

१८. ज्ञानोपयोगमें स्वयंमें विकारकी अकारणता—ज्ञानोपयोगमें आकार बनता है। इस आकारके बननेसे सम्यक्त्वकी क्षति नहीं होती। ज्ञानोपयोग न सम्यक्त्वके गुणका कारण है, और न दोषका कारण। क्योंकि ज्ञान और सम्यक्त्व गुण न्यारे-न्यारे हैं। ज्ञानकी क्रिया से सम्यक्त्वमें गुण दोष नहीं पड़ता है सम्यक्त्वकी हानि होना, पाप बढ़ने लगना, पुण्य घटने लगना—ये सब सम्यक्त्वके दोष हैं, सम्यक्त्वकी क्षतिके कारण हैं। दर्शनमोहनीयके नष्ट होनेसे जो परिणाम होता है, वह सम्यक्त्व है। जैसे एक दर्पणमें तैल लगा है, कुछ मटमैला सा हो रहा है, उसकी सफाई कर दी तो वह सफाई क्या चीज है? सफाई जो स्वच्छता है, उसके होनेपर जो चमक आई, उसे सफाई कहते हैं। सम्यक्त्व आत्माकी सफाई है:—जिस सफाईके होने पर ज्ञान गुण प्रकट होता है, वह सफाई दर्शनमोहनीयके अस्त होने पर होती है। ज्ञान न सम्यक्त्वरूप परिणमता, न मिथ्यारूप। सम्यक्त्वके साथ रहनेवाले ज्ञानको सम्यक् कहते हैं, और मिथ्यात्वके साथ रहनेवाले ज्ञानको मिथ्या कहते हैं। जैसे काँचके हरे गिलासमें पानी हरा मालूम पड़ता है लेकिन पानी हरा नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान मिथ्यात्वके साथ मिथ्यारूप मालूम पड़ता है और सम्यक्त्वके साथ सम्यक्रूप। ज्ञानका काम है, जानना। जैसे कोई मुनि है, उसके सामने उसका गृहस्थावस्थाका पुत्र जाये तो वह उसे जान मात्र लेगा, उसमें विकल्प नहीं करता। यदि कोई गृहस्थ हो तो वह पुत्र को पुत्र तो जान जाता है, परन्तु उसके साथ वह विकल्प भी करता है कि यह मेरा पुत्र है। भगवानका काम तो ज्ञाता द्रष्टा रहना है, लेकिन मोहियोंके मिथ्या श्रद्धा विशेष है। ज्ञान तो बेचारा सरल है, उसका काम तो जानना मात्र था, लेकिन जानकर उसमें विकल्पादि होना मिथ्याज्ञानके व्यपदेशका कारण हो जाता है। भगवान्में और हममें कम बढ़का फर्क है। भगवान् तो पदार्थको जानते मात्र हैं, हम उसमें विकल्प भी तो करते हैं यही हमारा विशेष जानना है। जीवका कल्याण अकल्याण अस्तित्व गुणके परिणमनसे नहीं है। आत्मद्रव्यके साधारण गुणोंके कारण आत्माका भला बुरा नहीं है। योगके

परिणमनसे भी आत्माकी भलाई-बुराई नहीं है। अरहन्त भगवानका कितना योग चलता है, परन्तु योगके परिणमन होनेसे उनमें कोई हानि नहीं पहुंचती। आत्माके अन्य गुणोंके परिणमनसे भी आत्माकी बुराई नहीं है। आत्माकी बुराई सम्यक्त्व और चारित्रगुणके विकारसे है। सम्यक्त्व और चारित्रके बिगड़ने पर आत्मा की हानि हुई। जहाँ सम्यक्त्वकी हानि हुई, वहाँ राग द्वेष मोहादि ही परिणमते हैं। वहाँ वे स्वयं वह है ऐसी प्रतीति होती है। जैसे बच्चा धाय या ठगिनीके द्वारा पाला गया, वह उसी धायको याठगिनीको अपनी माँ समझता है और कहता है। परन्तु कुछ बड़ा होनेपर मालूम पड़ा कि किसी ठगिनीने हमें पाला पोंसा है, तो उस धाय या ठगिनीके प्रति प्रतीति हो जाएगी कि यह मेरी माँ नहीं है, परन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं उससे वह तुरन्त नहीं छूट सकता और उसे 'मां' भी कहता रहेगा, मगर ज्ञान होते ही उसकी यह प्रतीति बदल गई कि यह मेरी माँ नहीं है। इसी प्रकार इस संसारमें रहनेवाले जीवकी जब प्रतीति बदल गई कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं, चैतन्य मात्र आत्मा हूं, जानना-देखना मेरा स्वभाव है, दुनियाके समस्त पदार्थ मेरेसे भिन्न हैं, उन जीवोंकी परपदार्थसे बुद्धि हट जाती है और स्वकी प्रतीति होने लगती है। फिर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि इनका त्याग नहीं हो पाता। राग द्वेषकी परिणतियाँ आत्मामें होती रहें, परन्तु इससे सम्यक्त्वका बिगाड़ होनेवाला नहीं है।

१६. मिथ्या अभिप्रायके विकल्प—सम्यक्त्वकी क्षति मिथ्या अभिप्रायसे होती है। रागद्वेषका होने लगना मिथ्या अभिप्रायका कारण बन जाता है। अतः राग-द्वेष भी नहीं करना। कोई कहता है कि कर्म विधना, ब्रह्मा, विधि—यही एक जीव है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं है। जो लगातार संसारकी परम्परासे क्रीड़ा करता हुआ चला आया है, वही जीव है। यह कर्म संसारमें खेलता हुआ चला आया, इसमें कर्मका क्या बिगाड़? क्षति तो आत्माकी हुई तभी तो यह कर्मकी क्रीड़ा कहलाई। बहुतसे जीव कहते हैं कि कर्म के अतिरिक्त हमें चेतन वगैरह दिखाई नहीं देता है। भैया! सम्यक्त्वकी हानि होनेपर जीव के कैसे भाव हुए—इसका ही तो वर्णन चल रहा है।

अवरे अज्झवसाणेसु तिब्बमंदाणुभावगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥

२०. तीव्रमंदानुभावग अध्यवसानमें जीवत्वकी कल्पना—अन्य अज्ञानी जीव अध्यवसानोंमें तीव्र मंद अनुभावोंमें गत जो है उसे जीव मानते हैं तथा अन्य अज्ञानी जीव नोकर्म (शरीर) को जीव मानते हैं। यह एक तीसरा विमूढ़ पुरुष है जो जरा और चतुरसा है। इसके आशयमें यह बैठा है कि अध्यवसान कोई तीव्र अनुभागवाला है, कोई मन्द अनुभाग वाला है, तो ये विशेष अनुभव तो मिटते चले जाते हैं, तभी तो तीव्रसे मन्द और

मन्दसे तीव्र होगा, परन्तु मैं (आत्मा) तो मिटनेवाला नहीं, सो अध्यवसान ही जीव नहीं है, किन्तु अध्यवसानकी संतान जीव है। इसको भी अध्यवसानके अतिरिक्त तो कुछ मिला नहीं और अध्यवसान कुछ बदलते दिखे, साथ ही अध्यवसान अनादि अनन्त दिखे, ऐसी स्थितिमें अध्यवसानकी संतानको जीव मान लेना प्राकृतिक बात है। कालिमाके अतिरिक्त कोयला क्या, कालिमाके अतिरिक्त अङ्गार क्या ? इसी तरह अध्यवसानकी संतानके अतिरिक्त आत्मा भी कुछ नहीं है।

२१–प्रभुताके भान बिना अध्यवसानसंतानमें जीवत्वकी कल्पना—भैया ! विज्ञानघन परमानन्दमय निज प्रभुकी प्रभुता भूलकर यह जीव कैसी-कैसी पर्यायोंको धारण करता है, कैसा-कैसा बरबाद होता है ? मुफ्त भ्रममें दुःखी होता है यह। आत्मन् ! अब तो दृष्टि करो अपने प्रभुकी ओर। पूर्व गाथामें बतलाया था कितने ही मोही जीव अध्यवसानको आत्मा मानते हैं। कितने ही लोग कुछ जरा विवेक करते हैं, सोचते हैं कि अध्यवसान परिणाम बदलते रहते हैं यह तो जीव नहीं है, परन्तु उन परिणामोंमें जो तीव्र मन्द विपाक होते हैं, उनमें जो रहता है, वह जीव है। तीव्रमन्द फलोंकी जो परम्परा है, वह जीव है। क्रोध जीव नहीं है, परन्तु क्रोधकी जो सन्तति है, वह जीव है। तीव्रमन्द और मध्यम जो फल हैं, इन तरीकोंसे होनेवाले नाना प्रकारके अध्यवसान हैं, उनमें रहनेवाला जो संतान है वह जीव है। क्योंकि राग-द्वेष आदि विभावकी सन्ततिसे भिन्न कोई जीव नहीं है। राग-द्वेषसे भिन्न जीव मिल सकता है, परन्तु राग द्वेषकी सन्तानके अतिरिक्त जीव नहीं है, ऐसा लोग कहते हैं। जैसे क्षणिकवादी लोग कहते हैं कि आत्मा नया-नया पैदा होता रहता है, एक ही आत्मा लगातार नहीं रहता है। वर्तमानमें जितनी हालतें हैं उनका उतना ही आत्मा है, विचारोंका नाम ही आत्मा है। उनसे यह पूछा जाय कि जब विचारोंका नाम ही आत्मा है तो एक क्षणके बाद दूसरे ही क्षण एकदम विरुद्ध विचार क्यों नहीं चलते, अनुकूल विचार ही क्यों आते हैं ? जैसे दीपक जल रहा है, वह अनेक है। जितनी तेलकी बूंद हैं उतने ही दीपक हैं। एक बूंद जली वह एक ज्योति है, दूसरी बूंद जली, वह दूसरी ज्योति है। वे ज्योति अनेक हैं। परन्तु वे एक ही क्यों मालूम पड़ती है ? लोग दिया जलाते हैं कि लगातार वे बूंदें जलने लगती हैं। लगातार जलनेके कारण वे एक मालूम पड़ती हैं। तो इसमें लगातारपनेका अर्थात् सन्तान भी तो जानता है इसी प्रकार विचारोंका नाम आत्मा है। एकके बाद दूसरा, दूसरेके बाद तीसरेके क्रमसे विचार आते रहते हैं, अतः मालूम पड़ता है कि विचार एक ही आया। इस प्रकार विचार अनेक होते हैं। उन विचारोंकी जो सन्तान है वह जीव है, ऐसा भी कोई कहते हैं। विचार, राग, मोह आदिको देख-देख मोही जीव कहता है कि रागकी जो सन्तान चलती है, वही जीव है। इस प्रकार आत्माको न जानने

वाले मोही जीव आत्माके विषयमें कहते हैं कि अध्यवसानकी सन्तानें ही जीव हैं, क्योंकि इनके अतिरिक्त हमें कोई जीव नहीं दीखता है। कितने ही मोही कहते हैं कि शरीर ही जीव है। शरीरसे भिन्न कोई ज़ीव नहीं है। जो नया बने, जो पुराना बने—इस प्रकार प्रवर्तमान जो शरीर है, वही जीव है, इसके अतिरिक्त जीव नहीं है—ऐसा आत्माको न जाननेवाले कहते हैं।

२२. **अध्यवसानवेगात्मवादिता**—पढ़े लिखे मिथ्यादृष्टि लोग अध्यवसानोंमें जो तीव्र मंद अनुभागको प्राप्त होते हैं उसे जीव कहते हैं। रागद्वेष भावको जीव कहा, एक तो यह परिणाम और दूसरे रागद्वेष भावोंमें जो अनुराग पड़ा है, फलदानशक्ति पड़ी है, तीव्र मंद अनुभाग है उस शक्तिको जीव माना। तो कोई जीव इस नोकर्मको ही जीव समझता है। शरीरका जो नया बनना है, पुराना बनना है उसे यह मानता है कि मैं अब पैदा हुआ अथवा मैं अब मरा।

२३. **मोहीकी शरीरमें जीवत्वकी कल्पना**—यह एक चौथे प्रकारका विमूढ़ पुरुष है। यह शरीरको ही जीव मानता। उनमें भी कोई ठवकेके मूढ़ हैं, कोई चतुर मूढ़ हैं। भोले मूढ़ तो इस शरीरको ही जीव मानते हैं। शरीर मिट गया तो जीव मिट गया, शरीर हो गया तो लो जीव हो गया, ऐसी बुद्धि इनकी है। परन्तु जो चतुर चौथे विमूढ़ हैं वे कहते हैं कि नई पुरानी अवस्थामें प्रवर्तमान जो नोकर्म (शरीर) है वह जीव है। यह शरीर सामान्य को जीव कह रहा है। उसके नए नए प्रादुर्भाव अथवा विकास चलते रहते हैं। उन विशिष्ट शरीरोंका सन्तानभूत अथवा उन विशिष्ट शरीरोंमें व्यापक जो नोकर्म (शरीर) है वह जीव है इसके आशयमें। सो जैसे कृष्णताके अतिरिक्त कोयला और कुछ चीज नहीं है, इसी तरह नोकर्मके अतिरिक्त जीव और कुछ चीज नहीं है। भैया! यह तो ज्ञानियोंकी भाषामें अज्ञानियोंकी बात बताई जा रही है। अज्ञानी थोड़े ही जानता है कि यह नोकर्म है, यही जीव है। वह तो उसको लक्षित करके 'यही मैं हूं' ऐसा अनुभव करता है। यदि कोई नोकर्म समझे तो कर्म भी समझना होगा और फिर आगे बढ़ना होगा। प्रिय आत्मन्! अपनेपर अब तो दया करो, इस शरीर विडम्बनाको ही आत्मसर्वस्व मानकर क्यों अपार कष्ट उठा रहे हो? बाह्यसे नेत्र बन्द करो, अपनेमें ज्ञाननेत्र खोलो, आत्मा स्वसंवेद्य चीज है। यहाँ लौकिक तर्कोंसे और इन्द्रियोंसे आत्माको जानना चाहते हैं। शरीरका नाम नोकर्म इसलिए कहा गया कि सुख दुखके खास कारण कर्म हैं, उसी प्रकार प्रायः दुखका कारण शरीर पड़ता है। नो = ईषत् थोड़ा। जैसे कर्म सुख दुखके कारण हैं, उसी प्रकार शरीर भी सुख दुखका कारण है। ऐसा नहीं कि नोकर्मके बिना सुख दुखका कर्मको पूरा अधिकार हो जाये। सहयोग सम्बन्धी जैसे कार्य नोकर्म (शरीर) करता है। नोकर्मसे भिन्न हमें कोई जीव

दीखता ही नहीं, ऐसा किन्हीं लोगोंका कहना है।

२४. दृष्ट शरीरसें जीवत्वकी कल्पना——शरीर ५ प्रकारका है:—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। शंकाकार जो कह रहा है, उसके लक्ष्यमें अन्तिम चार शरीर नहीं हैं, केवल औदारिक शरीर है। शंकाकार तो औदारिक शरीरको ही लक्ष्य करके कहता है कि शरीर ही जीव है। कोई यदि चतुर शंकाकार होता वह कहता कि तैजस और कार्माण शरीर रूप सूक्ष्म नोकर्म जीव है जो कि जीवके साथ प्रति समय लगा रहता है, वह स्थूल शरीर प्राप्त होनेके कारण बनते हैं, वह निरन्तर रहता है अतः शरीरसे भिन्न जीव है ही नहीं। जो पुनर्जन्म मानने वाले हैं, वे कहते हैं कि तैजस और कार्माणके अलावा जीव रहता ही नहीं है। जो पुनर्जन्म नहीं मानते हैं, वे कहते हैं कि शरीर नष्ट हो जाता है और शरीरके उत्पन्न होनेपर जीव भी उत्पन्न हो जाता है। पञ्चतत्त्व (भूमि जल, पावक गगन, समीर) से अलावा कोई शरीर नहीं है। शरीर ही जीव है, ऐसा कितने ही आत्माको न माननेवाले जीव कहते हैं। अभी तक आचार्य महाराज वे बातें बता रहे हैं कि जिन्हें मोही जीव सोच सकता है। आत्मतत्त्वके अनभिज्ञ किसी-किसी प्राणीकी मान्यता है:—

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तण गुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥

२५. कर्मोदयमें जीवत्वकी कल्पना——अन्य कोई कर्मके उदयको ही जीव मानते हैं तो अन्य कोई कर्मके अनुभागको जीव मानते हैं कि तीव्र मंद गुणोंसे नाना रूप है। कितने ही जीव कर्मके उदयको ही जीव मानते हैं। कैसा है वह उदय याने फल ? जो पुण्य और पाप के उदयमें आकर जीवपर आक्रमण करता है, उसीको कितने ही लोग जीव कहते हैं। पुण्य पापके माने शुभ और अशुभ भावके हैं। शुभ और अशुभ भावोंके अतिरिक्त हमें कोई जीव नजर नहीं आता है। इन भावोंके अतिरिक्त भी क्या कोई जीव है ? पुण्य और पापके अतिरिक्त कोई जीव नहीं है, ऐसा वह कहता है। कर्मका उदय, कर्मका विपाक ही जीव है।

२६. कर्मानुभागमें जीवत्वकी कल्पना——कितने ही जीव मानते हैं कि सुख-दुःखका अनुभवन ही जीव है, इसके अतिरिक्त कोई जीव नहीं है, सुख-दुःखके अलावा मोही जीवोंको कोई चीज समझमें नहीं आती है। साता-असाता रूप परिणाममें व्याप्त जो तीव्र मंद गुण, उन गुणोंसे भेदको प्राप्त होनेवाला जो कर्मोंका अनुभवन है, वही जीव है। सुख-दुःखमें न्यूनाधिक जो सन्तान चल रही हैं, उसे जीव कहते हैं। परन्तु ये सव यथार्थ वात नहीं हैं। सुख दुःख क्या हैं ? यह आत्माके विकार हैं, आनन्द गुणकी पर्यायें हैं। आनन्द गुणकी तीन पर्याय हैं:—सुख, दुःख और आनन्द। आनन्द निर्विकार पर्याय है। आनन्द गुणकी

विकृत पर्यायें सुख दुःख हैं। जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे, उसे सुख कहते हैं और जो इन्द्रियोंको सुहावना न लगे, उसे दुःख कहते हैं। आसमन्तात् नन्दति आत्मानम् इति आनन्दः अर्थात् जो आत्माको चारों ओरसे समृद्ध करे, उसे आनन्द कहते हैं। शंकाकारकी दृष्टि निर्विकार पर्याय आनन्द तक भी नहीं पहुंच पाई है। वह कहता है कि सुख दुःख रूप जो पर्यायि हैं—वही जीव है, इसके अलावा जीव नहीं है। परन्तु आत्मा न सुख रूप है और न दुःख रूप है तथा न निर्विकार आनन्दरूप परिणमन ही जीव है, क्योंकि निर्विकार आनन्द तो बादकी अवस्था है, जीव तो इनसे पहलेसे ही जीव था। नहीं तो जीव प्रारम्भसे अन्त तक निर्विकार होना चाहिए था ? आनन्द गुण भी जीव नहीं है। यदि आनन्द गुण मात्र ही जीव होता तो आनन्दमात्र ही जीव नजर आना चाहिए था। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आदि अनेक गुणोंका समुदाय भी जीव नहीं है। सुख दुःख तो विकृत अवस्था है, वह जीव नहीं है, यह तो जल्दी स्पष्ट हो जाता है। तुम्हारी समझमें आनेवाले अनेक गुणोंका एक नाम जीव है। "सम गुण पर्यायो द्रव्यम्"। जैसे पत्ता, कोपल, फल, फूल, बीज, शाखा—इन सबका एक नाम एक वृक्ष है। वास्तवमें यह भाषा गलत है कि वृक्षमें फूल लगे हैं। अरे, इन सबका नाम ही तो वृक्ष है। इसी प्रकार यहाँ जितने भी अनेक गुण हैं, उन सब गुणोंका जो एक पर्यायवाची शब्द है, उसका नाम आत्मा है। आत्मा तो अभेदरूप है। उसके गुणरूप भी भेद नहीं किये जा सकते हैं। इस तरह आत्मा और स्वभाव ही वह गुणं के भेदरूप भी जीव नहीं कहा जा सकता है। यहाँ कोई यह कहता है कि विचारोंके समूह का नाम ही जीव है। यहाँ पर दृष्टियोंके समूहका नाम ही जीव कहा गया है, ऐसी उनकी मान्यता है। जीवोंका यह अनुभव है कि सुख दुःखके अलावा जीव है ही क्या ? मालूम पड़ता है। आचार्य महाराज जिनको सुना रहे हैं, उनके मनमें यह श्रद्धा जमी हो, परन्तु कह न पा रहे हों कि सुख दुःखके अलावा कोई जीव नहीं है। जीव कोई भौतिक चीज तो है नहीं, जो सामने लाकर रख दिया जाये, यह स्वसंवेद्य है।

२७. **शुभ, अशुभ भावमें भी जीवत्वका अभाव**—कोई कहते हैं कि तीव्र मन्द गुणोंकर भेदको प्राप्त हुए नाना प्रकारके शुभ अशुभ भाव जीव हैं। विषय पोषनेके भाव व उन्हींसे सम्बन्धित कषाय भावके उपयोगको अशुभ भाव कहते हैं और सेवा, सद्विचार, लोकहित भावना आदि मन्दकषायसे होनेवाले उपयोगको शुभ भाव कहते हैं। सातारूप (राजी होने रूप) परिणामको सुख कहते हैं और असातारूप परिणामको दुःख कहते हैं। जैसे शुभ अशुभ कर्मके उदय हैं अतः जीव नहीं है, इसी प्रकार सुख दुःख भी कर्मके विपाक हैं अतः जीव नहीं है। शुभ अशुभ भाव और सुख दुःखमें क्या अन्तर है ? इसको दिखानेके लिए पूज्य श्रीमद् अमृतचन्द्र जी सूरिने शुभ अशुभ भावके लिए कर्मका उदय शब्द दिया है और सुख

दु:खके लिए कर्मका अनुभाग शब्द दिया है। शुभ अशुभ भावमें तो कर्तव्यका भाव चलता है व सुख दु:खमें भोक्तृत्वका भाव चलता है। उदय अल्पस्पर्शी है, अनुभाग दृढ़स्पर्शी है। यह एक पाँचवें प्रकारका विमूढ़ पुरुष है जिसकी मान्यता है कि कर्मविपाक ही जीव है। कर्मविपाक शुभ और अशुभ भाव है जो कि पुण्य और पापरूपसे सारे विश्वको व्याप रहा है, आक्रान्त कर रहा है। इसने भीतर देखा तो कुछ और खाली राग द्वेष व अध्यवसान भावमें जीव माने जानेका सन्तोष नहीं हुआ इसे। यह कुछ उपयोगके समीप आ रहा है किन्तु उपयोगकी स्वच्छताके मर्मको नहीं पा सका है। इसी कारण शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे अतिरिक्त कुछ जीव न दिखा।

२८. कर्मानुभागमें आत्मत्वका मोह—अब छट्ठे प्रकारके विमूढ़ पुरुषका मन्तव्य देखें—वह कर्मके अनुभवको जीव मानता है। यहाँ अनुभव कहनेसे सुख दु:खका ग्रहण करना है। सुख दु:खके अतिरिक्त कोई जीव नहीं, सुख दु:ख रूप अनुभव ही जीव है। सुख दु:ख रूपमें जो कर्मका अनुभव चलता है वह जीव है, यह अनुभव ही तीव्र मंदत्व गुणों (डिग्रियों) के कारण नाना भेदरूप है। सो नाना रहो किन्तु साता असातारूपसे सदा अभिव्याप्त है। इसकी मान्यतामें सुख दु:खके अलावा कुछ जीव है ही नहीं। अहो आत्मन्! तुम चैतन्यपिण्ड, सहजानन्दस्वरूप हो। यह क्या तेरी गति हो रही है, मति हो रही है कि विकल्पविडम्बनाकी परेशानीसे छुट्टी ही नहीं पाते! ऐहिक सुख दु:खमें इतने आसक्त हो गए हो कि सुख दु:खके अतिरिक्त तुम कुछ सहज विलक्षण स्वरूपवाले हो, यह सुननेको भी तैयार नहीं होते। यह छटा छटाया छट्ठा मूढ सुख दु:खके अतिरिक्त कुछ जीव ही नहीं मानता।

२६. कर्मोदय व कर्मानुभागमें अनात्मवादिता—कोई अज्ञानी कर्मके उदयको ही जीव समझते हैं। कर्मका उदय हुआ और उसमें जो कुछ भी अपनेमें प्रभाव हुआ उसका भी नाम उदय है और द्रव्यकर्म प्रकृतिका उदय हो, निकलना हो, उसका भी नाम उदय है। तो प्राय: कर्मोदयसे प्रभाव उत्पन्न होनेमें प्रभावरूप उदयको समझता है कि यह मैं हूं, मैं इससे निराला कोई ज्ञानमात्र स्वरूप हूं ऐसी उस अज्ञानीकी बुद्धि नहीं जगती। कोई कर्मके अनुभागको ही जीव मानते हैं। जो फलदान शक्ति है वही मैं जीव हूं, ऐसी बातें कुछ लोग मानते हैं। क्योंकि जो निपट मूर्ख लोग हैं वे अनुभागको क्या जानें, वे फलशक्तिको क्या समझें, किन्तु जो कुछ पढ़े लिखे लोग हैं, कुछ शब्दोंका परिज्ञान रखते हैं और न प्राप्त हो अपने आत्माका स्वरूप तो जब अपना टिकाना अपने को न मिला तो बाहर भटकते हैं और अपने चैतन्यस्वरूपसे बाहर जो कुछ उन्हें आत्मरूपसे विदित हो उसे आत्मा मानते हैं।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥

३०. जीव और कर्मके उभयमें आत्मत्वकी कल्पना—देखो आत्माके बारेमें लोगोंकी क्या-क्या धारणाएं हैं ? कोई कहते हैं कि जीव और कर्मका मिश्रण जीव है। वैसे जीव और कर्म इन दोनोंका मिश्रण जीव है, यह बात अज्ञानी नहीं समझता, क्योंकि उन्हें खाली जीव और कर्म दिखा नहीं, कर्म कभी दृष्टिमें नहीं आया—अतः अज्ञानी जीव उन दोनोंके मिश्रण को जीव तो कहता है, किन्तु उनकी स्वयं स्वयंकी सत्ता न जानकर कहता है। इस सातवें विमूढ़ पुरुषको शुद्धसत्ताक जीव तो समझमें आया नहीं और कर्मको जीव कह सकता नहीं। इतना तो जानता है कि जिसमें सुख, दुःख, जानकारी आदि हो रही है वह जीव है, पर वह सब दिख रहा है कर्मके नाट्यमें। अतः न केवल जीव इसकी समझमें आत्मा है, न केवल कर्म इसकी समझमें आत्मा है। इनका उभय ही आत्मा है ऐसा यह सप्तम विमूढ़ मानता है, चाहता है। इस कल्पित स्वरूपसे ही बने रहनेकी चाह है इसकी।

३१. जीवकर्मोभयात्मवादिता—कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि जीव और कर्म इन दोनोंके मेलको जीव समझते हैं। केवल जीव नहीं दृष्टिमें, केवल कर्म नहीं दृष्टिमें, किन्तु जीव कर्मका मिल करके आत्मा बना है ऐसा मानते हैं। ऐसा माननेका कारण उनका अज्ञान है। यह बोध नहीं है कि प्रत्येक पदार्थ अपना निजी चतुष्टय रखता है। दो मिल कर कभी एक पदार्थ होता ही नहीं है, सो स्वरूप चतुष्टयका परिज्ञान नहीं, जीवतत्त्वका बोध नहीं और कर्मोंके प्रभावसे लिपटे हुये ही हैं, कर्मोंके प्रभावमें लिपटकर भी समझ है, बुद्धि है, ऐसा कुछ ख्याल करते हैं तो कुछ बात तो चेतनकी पकड़ी गई और सारी बातें कर्मकी पकड़ी गई। इस प्रकार जब एक मिश्रण कर लिया तो वह अज्ञानी जीव और कर्म इन दोनोंके मेलको जीव समझता है। इन शब्दोंमें कोई कह सके या न कह सके, पर इस प्रकारकी बुद्धि अनेक लोगोंके रहा ही करती है। एक जीवतत्त्व जब दृष्टिगत नहीं होता और जीवकी बात, जीवका प्रताप बराबर चल ही रहा है, समझ बन ही रही है, ऐसी स्थितिमें कुछ अपना तत्त्व मिलाया, शेष परतत्त्व मिलाया तो इन सबको मिल करके यह मानता है कि मैं जीव हूं।

३२. कर्मसंयोगमें जीवत्वकी कल्पना—अब अष्टम विमूढ़की बात देखिये—यह कर्मों के संयोगको ही जीव मानता है। अर्थ क्रियामें समर्थ कर्मका संयोग ही तो है। भिन्न-भिन्न रूपसे कर्म रहें तो वे क्या कर सकते हैं ? खाटमें आठ काठ होते हैं—४ मिचवा, २ पाटी, २ सीरा। ये भिन्न-भिन्न रहें तो ये पुरुषके सुलानेमें समर्थ हैं क्या ? इनका संयोग करके बुना दो, फिर काम करेंगे ये। इनका संयोग कोई अलग चीज नहीं। कितने ही अज्ञानी

कर्मोंके संयोगको जीव कहते हैं। जैसे— ईंटोंके संयोगसे भित्ति है और आठ काठके संयोग का नाम खाट है, उसी प्रकार आठ कर्मोंके संयोगका नाम ही जीव है। जैसे आठ काठके बिना कोई खाट नहीं होती है, इसी प्रकार यह अज्ञानी कहता है कि आठ कर्मोंके संयोगके बिना जीव नहीं है। उक्त सब कल्पनायें मोहमें होती हैं।

३३. **कर्मसंयोगात्मवादिता**—कुछ लोग कर्मोंके संयोगको जीव मानते हैं। केवल एक एक कर्म क्या करे? कर्म जैसे कि ८ माने हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनका जो मेल है, संयोग है वही जीव है। जैसे चारवाक लोग मानते हैं कि आठ काठका जो संयोग है सो खाट है। उन आठमें से अगर एक न हो कुछ चीज, एक मिचवा या एक पाटी या कोई पाया, तो काम बन सकता है क्या? नहीं बन सकता। वह खाट नहीं कहला सकती। ८ काठका जो संयोग है सो ही तो खाट है। आठ काठसे भिन्न और खाट क्या? इसी तरह आठ कम नहीं, फिर जीव कुछ न रहा। आठ कर्मोंके संयोगका ही नाम जीव है। कुछ मूढ़ जीव अपनेको न जानकर इन कर्मोंके समूहको जीव समझते हैं और जानते हैं। सुन रखा है कि ज्ञानावरणका उदय आता तो ज्ञान कम हो जाता है। ज्ञानावरण जरा सहूलियत देता है तो यह ज्ञान प्रकट हो जाता है। दर्शनावरणसे दर्शनका सम्बंध है, वेदनीय कर्मसे सुख दुःख मिलता है। मोहनीय कर्मके कम बढ़ होनेसे हम जीवोंको कुछ प्रकाश आवरण आदिक मिलते हैं। आयुके कारण शरीर टिका हुआ है, नामकर्मसे यह सब मैं बन बैठा हूं, इस शरीरकी रचना हुई है। गोत्रसे हम ऊँच नीच कहलाते है। अंतरायसे सब देना लेना न देना लेना आदिक बनते है। तो ८ कर्मो से रहित हम और रहे क्या? जो भी व्यवहार है, जो भी प्रवृत्तियाँ हैं ये सब अष्ट कर्मोंके प्रतापसे है। तो यह अज्ञानी जीव अष्टकर्मोंके संयोगको ही जीव समझता है। उससे भिन्न मैं कुछ जीव हूँ ऐसा उसकी दृष्टिमें नहीं है।

एवंविहा वहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

३४. **परात्मवादियोंमें परमार्थवादिताका अभाव**—इस तरहके बहुतसे दुर्बुद्धि जन परको ही आत्मा मानते हैं। वे परमार्थवादी नहीं है ऐसा निश्चयवादियोंने निर्दिष्ट किया है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारकी कल्पना करनेवाले जीव परमार्थवादी नहीं हैं—इस प्रकार बहुतसे लोग परपदार्थोंको आत्मा कह देते हैं। चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त जो कुछ भी है, सो सब पर है। अतः शरीर कर्म, रागद्वेषकी परम्परा आदि सभी पर हैं। एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे देखा गया आत्मा तो निज है, इसके अतिरिक्त सब पर हैं। जिनकी बुद्धि सोई हुई है, वे परको आत्मा कहते हैं। निश्चय तत्वको माननेवालोंने बताया है कि

वे परमार्थवादी नहीं हैं। यह वही बता पायेगा, जिन्होंने परमार्थको जाना है। एकके जानने में अनेकका निषेध हो सकता है। जो अनेकका निषेध करेगा, उसे इस एक चीजका पता है, तभी तो निषेध करेगा। आत्माकी जानकारी सबसे बड़ी चीज है। देखो जो विमूढ़ाष्टक द्वारा आठ कुतत्त्वोंमें तत्त्वकी कल्पना की है उनमें से अध्यवसान तो जीवका परिणमन है, किन्तु वह नैसर्गिक नहीं है, औपाधिक है, अध्रुव है अतः परतत्त्व है, जीव नहीं है। कर्म तो पौद्गलिक है, अजीव प्रकट ही है। अध्यवसानकी संतान कल्पना है, प्रत्येक अध्यवसान भाव अपने समयमें उस जातिकी परिपूर्ण पर्याय है, उसका अगले समयमें व्यय हो जाता है वह द्रव्य तो है नहीं जिसकी संतानरूपमें कल्पना की जावे। शरीर (नोकर्म) तो प्रकट अचेतन है। कर्मोदयजनित भाव (शुभ अशुभ भाव) औपाधिक भाव है, परभाव है, अध्रुव है वह जीव नहीं है। जीव तो परमार्थतः शुद्ध चेतनामात्र है। सुख दुःख आदि भी इसी तरह इन्हीं कारणोंसे जीव नहीं हैं। कर्म और जीवका मिश्रण तो हो नहीं सकता क्योंकि वे जुदे-जुदे पदार्थ हैं। अपना-अपना अस्तित्व रखनेवाले दोनोंका समुदाय भी जीव नहीं है। कर्म अचेतन हैं, उनका संयोग भी जीव नहीं है। आत्मा तो इनसे परे निजचैतन्य-स्वभावमात्र है। इसका प्रकट अनुभव तो निज ज्ञायकस्वाभावके उपयोग द्वारा एकला होने की स्थितिमें होता है। आत्मज्ञान होनेके बाद विकारका अभाव हो जाता है। उसके संसार बढ़ाने वाला बन्ध नहीं है। जैसे किसी महाजनके यहाँ लाखों रुपएका कर्जा होता था वह निपटा दिया जावे सिर्फ मामूली सा कर्जा शेष रहे तो वहाँ सौ दो सौ रुपएके कर्जकी गिनती नहीं होती है। परको आत्मा कहने वाले जीव परमार्थवादी नहीं हैं।

३५. **अज्ञानमें अनेकपरात्मवादिता**—इसी प्रकार और और भी परजीवोंमें परतत्त्वों में 'यह मैं हूं' ऐसा मानता है। कुछ लोग तो पुत्रादिकको ही ऐसा समझते हैं कि यही मैं हूं। इतनी आसक्ति होती है जिस आसक्तिमें और कुछ सूझता ही नहीं। कुछ लोग जो धनमें आसक्त हैं वे धनको ही समझते हैं कि यही मैं हूं, धन न रहा तो मैं कुछ न रहा। जो लोग नाम इज्जतको समझते हैं कि यह मैं हूं वे नाम इज्जत न रहे तो ऐसा अनुभव करते कि अब मैं कुछ रहा ही नहीं। बहुतसे लोग कहते हैं कि अब क्या जीवन है वह तो मर गया। जैसे कोई तीन वर्ष पहिले प्रधानमंत्री था रूसका तो उसका लोग बड़ा आदर करते थे, उसका बड़ा नाम लिया जाता था, उसका नाम अखबारोंमें खूब आया करता था, पर अब उसके प्रधानमंत्री न रहनेपर उसका कोई नाम भी लेने वाला है क्या? लोग बड़े आश्चर्य से देखते हैं कि अरे अब वह क्या रहा? वह तो मर गया। तो जो लोग इज्जतमें आसक्ति रखते हैं उनकी दृष्टिमें इज्जत न रहे तो उसे जीवन ही नहीं समझते। जिन्हें पर्यायमें, नाम में, विभावमें, किसी वस्तुमें आसक्ति है वे उस इसको मानते हैं कि यह मैं हूं। और इस

अज्ञानने, आसक्तिने बड़ों बड़ोंको परेशान कर लिया है, पर जो यथार्थत: महापुरुष हैं वे कभी इनसे परेशान नहीं होते।

३६. **अवशिष्ट समयको सत्पथमें व्यतीत करनेमें भलाई**––वे भी पहिले इसी चक्कर में पड़े हुए थे, जो आज सुलझ गये हैं ऐसे महापुरुष और सिद्ध भगवन्त, वे भी कभी हम आप जैसे ही चक्करमें पड़े हुए थे। उन्हें भी इस दुनियाका सब कुछ रंग ढंग ही सर्वस्व दीखता था, लेकिन जब ज्ञानप्रकाश हुआ, उससे विरक्त हुए तो पार पा गये संसारसे। हम आप भी एक विकल्पोंमें ही उलझकर अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं, उससे मिलेगा क्या, दूसरों पर नजर डालकर समझ लो। जो लोग घरमें रहे, अच्छा किया बुरा किया, आखिर मर गए, तो क्या मिला उन्हें? उनको दृष्टिमें रखकर भी समझा जा सकता है कि इस संसारमें रहनेका कुछ नहीं। जब अपना कुछ भी नहीं है, और उस ही को सर्वस्व समझा जाय तो इस संसारका दु:ख कैसे मिट सकता है? बाह्यपदार्थोंके प्रति तो हठ ऐसी किया करते हैं, इन इन्द्रिय विषयोंके प्रति तो हठ ऐसी करते हैं कि कुछ भी हो, किसी प्रकार हो, बात यों ही होना चाहिये, पर कदाचित् यह ज्ञान नहीं जगता कि अपने आत्मस्वभावमें ठहरनेके लिए, अन्य सबको बिल्कुल भुलानेके लिए हमारी हठ हो तो हमारी इसमें दया है। जब हम परपदार्थोंसे धोखा ही धोखा खाते आ रहे हैं, कोई समझे कि मायाचार करके हम विषय साधन बढ़ा लें तो हमने बुद्धिमानी की, सो बुद्धिमानी नहीं है। वह तो एक अपना पतन है, बरबादी है। हमने अपने आपको धोखा ही दिया। कोई पुरुष किसी दूसरेको सताकर यह माने कि मैं बड़ा चतुर हूं, मैंने धोखा दिया दूसरेको और अपना काम सिद्ध किया, पर वास्तवमें उसने अपनेको ही धोखा दिया और अपने आपका ही बिगाड़ किया। कुछ बड़ी उम्र बीतनेपर स्वयं समझमें आ जाता है कषायोंका वेग कम होनेपर स्वयं समझमें आ जाता है कि मैंने व्यर्थ ही इतना जीवन खो दिया। कैसे खो दिया? विषयोंमें रत रहे, कषायोंमें प्रीति की, दूसरोंसे विरोध ईर्ष्याभाव रखा आदिक अनेक परिणामोंसे विकल्पोंसहित जो जीवन गुजरता है उससे सन्तोष नहीं मिल सकता। आखिर पछतावा ही मिलेगा, क्योंकि अपनी ही जातिकी चीज होती तो वहाँ सन्तोषका अवसर था। की गई अपने विरुद्ध अपनी परेशानीकी बात तो उन दुष्कर्मोंके फलमें अन्तमें पछतावा ही मिलेगा। हम रहे सहे समयके लिए भी चेत नहीं पाते हैं, न यह संकल्प कर पाते हैं कि जो समय गुजरा सो गुजरा, अब जो रहा सहा समय है उसे तो बिल्कुल ठीक ढंगसे गुजार लें, यदि ऐसा किया जा सका तो समझिये कि हम लोग सब भले मार्गमें चल रहे हैं। यदि यह नहीं किया जा सकता तो समझिये कि हम लोग एक अनुचित पथमें जा रहे हैं।

३७. **प्रशमादिसद्भावोंसे जीवनकी सफलता**—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक

इन चार प्रकारके परिणामोंको रखनेमें कौनसी अशान्ति है ? प्रशमभाव रखें, शान्तिभाव रखें, सम्वेग परिणाम, संसार शरीर भोगोंसे विरक्तिका परिणाम, इन भोगोंमें लोग तो कल्पनाओंमें राजी होते लेकिन अन्तमें रीते रहना पड़ता है इस कारण असन्तोष बढ़ेगा, और फिर वहाँ मैं क्या करूँ, कुछ उसे दिखेगा नहीं सत्पथ। शरीरमें आसक्त रहेगा तो शरीर तो बूढ़ा बनेगा, रोगी बनेगा, मिटेगा, तो इस शरीरको निरखकर आसक्तिके कारण यह बड़ा विह्वल होता है। जो पहिलेसे ही अनासक्त हो, रोगमें वह घबड़ायेगा नहीं, अपना अहित न मानेगा। तो सम्वेगभाव रखनेमें शान्ति ही है। अनुकम्पादयाका परिणाम—स्वयं पर दया, दूसरेपर दया, किसीपर अन्याय न करना ऐसे परिणामोंमें आसक्ति है, मैं आत्मा हूं, मुक्ति ऐसे होती है, जीवकी ऐसी अवस्थायें हैं, स्वभाव विभाव जो जैसे हैं तैसे दृष्टिमें रहें, अपने आत्माके अस्तित्वकी प्रतीतिमें रहें तो इसमें इसका क्या बिगाड़ ? इसका लाभ ही है। तो इससे चाहिये कि रहे सहे समयको हम शान्तिमें गुजारें, वैराग्यपूर्वक गुजारें। मैं हूं, ऐसा अपने प्रत्यक्ष श्रद्धामें रहे, ऐसे भावमें गुजरे तो समझिये कि जीवन सफल है, और रहे सहे जीवनको भी यदि ऐसे ही अनापसनाप विषयोंमें, कषायोंमें गवायें तो मरणके बाद कीड़ा मकोड़ा असंज्ञी हो गये तो फिर कुछ वश नहीं चलनेका। इस कारण बुद्धि मिली है, कुल श्रेष्ठ है, जैनशासन मिला है तो इनका उपयोग यह है कि प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा आस्तिक आदिक गुणोंकी वृद्धिमें अपना प्रयत्न रहे, यही बड़े सन्तोषकी बात होगी।

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलि जिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

३८. **परभावोंकी पुद्गलपरिणामनिष्पन्नता**—ये समस्त भाव पुद्गलद्रव्यके परिणामसे निष्पन्न हैं ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहा गया है। अतः वे जीव हैं ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? कोई कहते हैं कि जो हममें राग-द्वेष उठ रहे हैं, वही जीव है। यदि राग-द्वेष ही जीव है तो राग-द्वेष ही करते रहो। यदि राग द्वेषादिको जीव न माना तो रागादिसे छुटकारा मिल सकता है। जहाँ राग-द्वेष मैं हूं, वहाँ "मैं" को कैसे मिटाया जा सकता है ? इस प्रकार बन्धन नहीं छूट सकता है। आत्माके आश्रयसे बन्धन छूटता है, क्षणिक के आश्रयसे बन्धन नहीं छूटता है। इन परभावोंमें कुछ तो चीजें ऐसी हैं, जो पुद्गलके निमित्तसे हुई हैं और कुछ ऐसी हैं कि जो पुद्गल द्रव्यका परिणमन है। अज्ञानी इन दोनों को जीव मानता है। पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे राग-द्वेष, साता-असाता, शुभाशुभ भाव होते हैं, ये पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुए परिणमन हैं। पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुए वे भी जीव नहीं हैं। जो पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं, वे भी जीव नहीं हैं। सबसे पहले यह श्रद्धा करनी है कि शरीर मैं नहीं हूं। यह बात जल्दीसे सीखी जा सकती है, क्योंकि औरोंके शरीर

जलाते प्रतिदिन देखे जाते हैं। बहुतसे लोगोंको यह अनुभव होता है कि जैसी हमारी बुद्धि होती है, वैसी किसीकी है ही नहीं। जैसा हमारा पुण्य है, वैसा किसीका है ही नहीं। मरने वाले तो और कोई होंगे मैं सदा जिन्दा रहूंगा, परन्तु यह सब अज्ञानीकी कल्पना है। भिखारी भी यही मानते हैं कि जैसी हममें चतुराई है, वैसी किसीमें है ही नहीं। जीवको अपने-अपने बारेमें ऐसी श्रद्धाएं जमी हुई हैं। सम्भव है कि जिनमें आज बुद्धि नहीं है वे इसी पर्यायमें या किसी अन्य पर्यायमें हमसे अधिक ज्ञानी बन सकते हैं। रागमें कोई सफल नहीं होता है, परन्तु वह मानता है कि मैं रागमें सफल हो गया।

३९. रागादिविकारोंमें स्वभावरूपता होनेकी अशक्यता—

कितने ही लोग मानते हैं कि राग-द्वेष ही जीव है, क्योंकि जीवने अपने को एक समय भी रागद्वेषसे रहित अनुभव नहीं किया है। अतः अज्ञानी रागादिको ही जीव मानता है। अज्ञानी मानता है कि राग ही मैं हूं, राग ही मेरा सब कुछ है और वह ऐसी श्रद्धा रखता है कि मैं रागसे अलग नहीं हो सकता हूं। जिन बच्चोंके मनमें यह भाव भरा रहता है कि मैं परीक्षामें सफल न हो पाऊँगा तो वह पास नहीं हो पाता है। राग-द्वेष मैं नहीं हूं, क्योंकि ये पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं। जैसे दर्पण है, दर्पणमें हरा रंग दिखाई देता है। ज्ञानीको यह पता है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पणकी चीज नहीं है। सामने निमित्त आया, हरा प्रतिबिम्ब हो गया। यह तो दर्पणका स्वभाव है कि निमित्त पाये इस रूप परिणाम जाये। मलिन जीवकी भी कुछ ऐसी आदत है कि निमित्त पाये रागद्वेष रूप परिणाम जाये। अतः रागद्वेष मैं नहीं हूं। ये रागादि चैतन्य स्वभाव रूप नहीं बन सकते हैं, क्योंकि रागद्वेष आदिका स्वभाव चैतन्य नहीं है। जब स्वानुभव होता है तब उपयोग आत्मा की ओर लगा रहता है, शुद्ध द्रव्य रूप आत्माकी ओर उपयोग लगता है। ऐसे उपयोगके समय भी रागादि द्रव्य चलते रहते हैं, परन्तु उपयोग उन्हें नहीं पकड़ रहा है। ये रागादि भाव आत्मामें होते हैं, होने दो, इससे आत्माका क्या बिगाड़ ? मैं तो चैतन्य मात्र ज्ञानवाला आत्मा हूं। यदि आत्माको चेतना आप दिख जाये तो रागादि अबुद्धिपूर्वक ही होते रहेंगे। जितनी भी बातें ऊपर बताई गई हैं, ये जीवद्रव्यके हो नहीं सकती। अतः रागादि जीव नहीं हो सकते हैं। रागादिको जीव माननेमें आगमसे बाधा, युक्तिसे बाधा, स्वानुभवसे भी बाधा आती है। इतना तो निश्चित है कि यदि यह जीव विषय कषायकी ओर उपयोग लगाता तो दुःखी होता और यदि चैतन्य स्वभावकी ओर ध्यान लगाता है तो सुखी होता है। यदि हम परपदार्थकी ओर उपयोग लगाते हैं तो उसका फल केवल आकुलता ही है। क्योंकि यदि इसमें ऐसा उपयोग लगाया तो ऐसा ही परिणाम जाना चाहिये, लेकिन परिणमता नहीं है, किन्तु अज्ञानीका इसकी ओर उपयोग है, अतः अज्ञानीको दुःख स्वयमेव होता

है। यदि अखण्ड चित्स्वभावकी ओर दृष्टि लग जाये तो शांति मिलती है। हम वैसा विचार बना पायें, चाहे न बना पायें, लेकिन जीवके वह अनुकूल है। आगम, युक्ति आदिसे बाधा होनेके कारण शरीर रागादिको जीव मान लेना मिथ्यात्व है। जिन-जिनको मोही जीवने आत्मा माना, वे चीजें या तो पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं या पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे हुई हैं, ये दोनों ही जीव नहीं हैं। मैं इनसे अलग एक शुद्ध आत्मा हूं।

४०. **समस्त अनात्मतत्त्वोंकी पुद्गलमयता**—कोई पुरुष कहता है कि रागद्वेषभावोंको कलुषितपनेका जो परिणाम है वह जीव है तो कोई कहता है कि रागद्वेषादिक क्रियामें अथवा ज्ञानावरण आदिक कर्म ये ही जीव हैं, तो कोई कहता है कि नहीं, उन अध्यवसान भावोंमें, उन रागद्वेषादिक परिणामोंमें जो तीव्रता मंदताकी शक्ति पड़ी है उस तीव्र मंद अनुभागमें जो रह रहा है वह जीव है। तो किन्हींका कहना था कि शरीर ही जीव है। इस मान्यता वाले तो सभी हैं, जितने मिथ्यादृष्टि हैं। जो कुछ विद्वान हैं, दार्शनिक हैं कुछ बोलनेमें चतुर हैं वे और-और तरहसे जीव कहते हैं, पर शरीरको जीव कहनेवाले तो सभी मिथ्यादृष्टि हैं। असंज्ञी भी शरीरको आपा मानते हैं, एकेन्द्रिय आदिक भी। और ये मनुष्य भी सभी कहते हैं कि शरीर ही जीव है। तो कोई कहता है कि कर्मोंमें जो विपाक पड़ा हुआ है कर्मोंका उदय, कर्मोंमें होने वाले कर्मका उदय इनकी तो किसे खबर है? और कर्मोंके उदयमें उत्पन्न होनेवाले जो विभावोंका उदय है उन विभावोंके उदयको जीव कहते हैं। कोई कर्मोंकी शक्तिको जीव कहते हैं। कोई कहते कि नहीं, जीव और कर्म दोनोंका जो मिलावट है सो जीव है। कुछ जीव जैसी बात दिखें तो और कुछ जीव न हो, इस तरह की बात अपनेमें दिखें और सबका मिले दिखे तो कहते कि जीव और कर्म दोनोंका मेल जीव है। तो किन्हींका कहना है कि इन कलहोंमें क्या है? आठ कर्मोंका जो संयोग है वही जीव है। यह मानने वाला अज्ञानी बहुत बढ़िया सा रहा, सुननेमें कहनेमें कि बताओ आठ काठके सिवाय खाट क्या है, यों ही आठ कर्मोंके सिवाय और जीव क्या? इस प्रकार अनेक तरह से परतत्त्वोंको जो जीव मानते हैं उनको समझाया जा रहा है कि ये सभीकी सभी बातें जो कही गयी हैं वे तो पुद्गलके परिणामसे उत्पन्न हुए भाव हैं अर्थात् पौद्गलिक जितनी भी बातें अभी कही गई हैं अज्ञानियोंसे, वे सब पौद्गलिक बातें हैं, अर्थात् पुद्गलके परिणामसे उत्पन्न हुये हैं। उनमेंसे कुछ तो हैं पौद्गलिक भाव सीधे उपादान दृष्टिसे और कुछ हैं जीव-भाव, जैसे अध्यवसाय विकार, लेकिन ये पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुये हैं इस कारण पौद्गलिक हैं। भाव यह है कि स्वयंके निजकी चीजें नहीं हैं। जैसे कर्म शरीर ये स्वयंकी चीज नहीं हैं, इसी प्रकार रागद्वेषादिक विकार ये भी स्वयंके तत्त्व नहीं हैं, हुये हैं स्वयंमें, किन्तु स्वयंकी ओरसे स्वयंके सहज स्वभावके नाते हुए नहीं हैं, किन्तु पुद्गल कर्मके

तैयार हुये योगी निःशंकतासे निरख रहे हैं कि ये सब कोई जीव नही हैं। पहिले तो इस अमूर्त स्वरूपसे ही यह निर्णय हो जाता है कि जो जो कुछ दिखते हैं वे भी सब जीव नहीं। तो व्यवहारक्षेत्रमें यद्यपि यह बात युक्त नहीं बैठती कि यह कहने लगें कि ये मनुष्य पशु, पक्षी ये सब जीव नहीं हैं, किन्तु जीवके असाधारण स्वभावपर सहजस्वभावपर दृष्टि देकर यह निश्चय रखकर कि स्वभाववान स्वभावमें होता है। फिर निरखा तो पहिले तो एक मोटे रूपसे यही भेद आ गया कि जो दिखे वह जीव नहीं। जीव इन्द्रियसे नहीं दिखा करता। इन्द्रियका विषय है रूप, और जीव काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदिक नहीं है वह तो ज्ञानभाव स्वरूप है। तो जो कुछ दिख रहा यह जीव नहीं। अब और अन्दर चलें तो जिसने स्वभावमात्रसे जीव निरखनेका आशय बनाया है—एक अध्यात्मयोगमें बसने के लिए विशुद्ध दृष्टि बनाया है ऐसे पुरुष निरख रहे है कि ये रागद्वेष आदिक भाव ये पुद्गलके परिणामसे उत्पन्न हुए हैं, पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं, अतः यह भी मैं नहीं हूं। मैं हूं अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत् असाधारण चैतन्यस्वभाव। ऐसा निर्णय जिस दृष्टिमें बसा है उस दृष्टिका यह कथन चल रहा है।

४३. **अध्यात्मयोगवृत्तिके प्रयोजनका प्रकरण**——इस अधिकारमें जिसका कि नाम जीवजीवाधिकार है, यह बतानेका प्रयोजन है कि वास्तवमें जीव क्या है, और जो यह नहीं है वह सब जीव नहीं है, अर्थात् अजीव है। अजीव होकर फिर हम उसे किस द्रव्यमें डालें? उसे हम पुद्गल द्रव्य मानें या अन्य कुछ मानें? धर्म आदिक माने यह निर्णय करनेका प्रसंग नहीं है। उसमें आशय जीवके शुद्ध स्वरूपको निरखकर जीवको ग्रहण करनेके आग्रह का बनाया है। उस समय यह प्रश्न नहीं उत्पन्न होता कि रागादिक भाव यदि जीव नहीं हैं, अजीव हैं तो शेष ५ द्रव्योंमेंसे कौनसा द्रव्य है? क्या पुद्गल? क्या धर्म अधर्मादिक? ऐसा प्रश्न उठाये जानेका प्रसंग नहीं है। यहाँ तो केवल जीवके सहजस्वरूपको निरखकर उसके अतिरिक्त समस्त भावोंका प्रतिषेध करके उस स्वभावमें उपयुक्त होनेका प्रकरण है। निर्णय यदि करना है तो निर्णयमें यह बात आयगी कि रागद्वेषादिक परिणाम जीवके परिणमन हैं, किन्तु पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं। यहाँ एक स्वभावदृष्टिसे जीवका स्वरूप कहा जा रहा है। चैतन्यशून्य जो जो कुछ भी भाव हैं, जो जो भी द्रव्य हैं उन सबसे निराला यह मैं चैतन्यस्वभाव हूं, जीवद्रव्य हूँ, अन्यरूप मैं कैसे होऊंगा? जिन पुरुषोंने इस चैतन्यस्वभावरूप स्वतत्त्वका अनुभव किया है वे पुरुष समझ रहे हैं कि जैसे स्वर्ण किट्टकालिमामें रहकर भी उससे भिन्न है इसी प्रकार जीवका सहजस्वरूप इन अध्यवसान आदिक इन शरीरादिक रूप नहीं है। भले ही ये कर्म अनादिकालसे अब तक एक संसरणकी धारा बनाये हुये आ रहे हैं और इस वजहसे जीव धाराप्रवाह संसार

भावोंमें चला आ रहा है, फिर भी जो स्वतत्त्वका अनुभव करने वाले जानते हैं कि उस संसरणसे, उस क्रीड़नसे, उस कर्मसे यह मैं पृथक् केवल चित्स्वभावमात्र हूं। भले ही चढ़ाव उतारके साथ यह अध्यवसानोंका संतान चला आ रहा है। रागद्वेष मोह आदिक परिणामों की संतति चढ़ाव उतारको लिए हुए है जिसका कि फल बहुत ही बुरा है। ये सब चले आ रहे हैं, पर यह मैं जीव नहीं हूं, जिसने समस्त पर और परभावोंसे उपेक्षा करके एक सहज विश्राम लिया है और उस विश्राममें आत्माके स्वभावका दर्शन किया है, अनुभव किया है, उन्हें यह स्पष्ट विदित है कि यह सब बखेड़ा, ये सब औपाधिक भाव, ये सब उपाधियाँ, ये मैं नहीं हूं। मैं तो एक चैतन्यमात्र जीव हूं।

४४. ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके बोधका प्रताप--देखिये—यह अपना मूल मंत्र समझ लीजिये अपनी भाषामें, मूल उपासना यह ध्यानमें रहे कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। अपने स्वरूपकी परख करनी है ना, यह बात तो ध्यानमें बनी ही रहना चाहिये, चाहे अपने रहनेके स्थानपर कमरेमें लिख भी लें, जिससे देखते हुए रहें कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। यह ध्यान रहेगा तो कितनी ही विपदाओंसे, व्यसनोंसे, पापोंसे, दुष्कल्पनाओंसे निवृत्ति उसकी झट हो जायगी। मैं ज्ञानमात्र हूं। जो ज्ञानस्वरूप है वह साधारण है अर्थात् व्यक्तिरूपतामें नहीं आ पाता है कि जिसका नाम रखा जा सके। लोग नाम रखते हैं इस पर्यायका, वह व्यक्तिरूप बन जाता है, इस मूर्तका तो नाम रखा जाता है, किन्तु जो ज्ञानस्वरूप हो ज्ञानभावमात्र, उसका नाम क्या? और कदाचित कुछ नाम भी रखा जाय तो उस नाम से यह भेद नहीं हो सकता कि इन अनन्तानन्त जीवोंमेंसे इस नामके द्वारा केवल मुझको ही पुकारा गया है। ज्ञानस्वभावमात्र आत्मतत्त्वका नाम आप क्या रखेंगे? ज्ञान रखें, आत्मा रखें, जीव रखें, जो यहाँ रखे जाते नाम अमुकचन्द, अमुकलाल, अमुकप्रसाद आदिक। ये क्या इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वके नाम हैं? मैं ज्ञानमात्र हूं ऐसा ध्यान जाते ही बहुतसे अवगुण समाप्त हो जाते हैं। जिनको हितकी लगन है, अपनेको अविकार बनानेकी बुद्धि लगी है और अभ्यास द्वारा बहुत कुछ निर्णय और साधन किया है वह एक ज्ञानमात्र मैं हूँ, इस अर्थको जानकर इस शब्दको सुनकर वे अवगुणोंसे झट दूर हो जाते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूं तो इस मुझका फिर कोई क्या हो सकता है? यह घर इस ज्ञानमात्रका कुछ है क्या? प्रकट भिन्न है, देह तक भी मेरा नहीं हैं, फिर ये परिकर मेरे क्या होंगे? ज्ञानमात्र निज तत्त्वको जाननेपर यह ममता सुगमतासे मौलिक ढंगसे हट जाती है कि इसके अतिरिक्त अन्य उपाय करनेपर हटना कठिन हो जाता है।

४५. ममता दूर करनेका उपाय--उपदेश होता है कि ममता दूर करो, ममता किस तरह दूर करें, कोई उपाय तो बताओ। अच्छा उन उपायोंमें चलिये। यह निरखते जावो

कि कोई किसीका साथी नहीं है, कोई किसीका कुछ चाहता नहीं है, सब स्वार्थके गर्जी हैं, सब अपने भाग्यसे उत्पन्न होते हैं, अपने ही भाग्यसे चले जायेंगे, ऐसी सारी बातें भी समझ लें, लेकिन मोहकी जड़ समाप्त नहीं हुई है, वह तो एक ऊपरी ही ज्ञानप्रकाश है और क्षण भरको सन्तोष करा देने वाला ज्ञान है। जहां मोह मूलसे नष्ट हो और हमारी तृप्ति सन्तोष के लिए स्थिर रह सके ऐसा कोई उपाय है तो वश वह प्रकाश है। सबसे निराला मैं ज्ञान-मात्र हूं, ऐसा बोलते हुए भी यदि तृप्ति सन्तोष नहीं हो पा रहा, ऐसा सुनते हुये भी यदि कोई तृप्ति नहीं हो रही है तो समझना चाहिये कि इसका प्रयोगात्मक ज्ञान नहीं कर रहा हूं, किन्तु अब भी किसी परतत्त्वका राग लगा है, परसे परभावसे राग हुये बिना आकुलता नहीं होती। यदि सच्चाईसे एक तान होकर लगनके साथ अपने अन्तर्ज्ञान उपयोगको प्रवेश कराते हुए अपने आपके इस स्वरूपको तक लें, यह हूं मैं ज्ञानमात्र—ऐसा तकते ही वहाँ भार नहीं रहता। कहाँ बोझ? आकाशमें बोझ कहाँ, वह तो अमूर्त है, ऐसे ही आत्मामें बोझ कहाँ? वह तो अमूर्त है, ज्ञानभावमात्र है, जिसमे ऐसा सोचनेमें ही निर्भारता, ऐसा लखनेमें ही निर्भारता, और शान्ति उत्पन्न होती है। कभी दृढ़ अभ्यासके बलसे ऐसी परिणति बन जायगी, तब वहाँ व्यक्त निर्भार कृतार्थ हो जायगा।

४६. कृतार्थताका अन्तः उद्यम—जीवने अपनेको कृतार्थ करनेके लिए नाना उपाय किए। जैसे मनुष्य जीवनमें जवानीमें जो धनार्जन करते हैं उसमें वे यही भाव रखते है ना कि हम इतने वर्ष खूब उद्यम कर लेवें ताकि उसके बाद कृतार्थ रहें। जो प्रयोजन हैं वे सब सही सलामत मिलते रहेंगे। यही तो भाव रखते हैं। जो कोई भी जों उद्यम करते है उनके उद्यमका भाव है कृतार्थ होना, क्योंकि शान्ति कृतार्थतामें ही है। जो प्रयोजन है वह पूरा हो चुका, बादमें कुछ करनेको न रहे, ऐसी स्थितिको कृतार्थता कहते हैं। कृतार्थ होनेके लिए सारे यत्न है, मगर कोई कृतार्थ न हो सका। सभी लोग कुछ न कुछ विकल्पोंमें, कल्पनाओं में समाये ही रहते हैं। कृतार्थ होनेका उपाय तो यही है कि यह दृष्टिमें आ जाय कि मैं यह ज्ञानस्वभावमात्र हूं। इसको दूर करनेको क्या पड़ा है? जो कुछ करनेको पड़ा हुआ माना जा रहा था वह सब अज्ञानमें भ्रममें माना जा रहा था। इस मुझ ज्ञानमात्र आत्मा का बाहरमें है क्या? जो कुछ माना जा रहा था तो वह अज्ञानमें माना जा रहा था। उसे ज्ञानस्वभावमात्र स्वतत्त्वकी सुध हुई है। उस सुधमें तत्काल ही अलौकिक स्वाधीन आनन्द भी अनुभूत हो रहा है। तब मेरी यह कृतार्थताकी ही स्थिति है। यह रहा-सहा जो कुछ भी अकृतार्थपन है या झंझट है वे सब इस ही के प्रसादसे दूर हो जाते हैं। अपनेको ऐसा अनुभव करें कि मैं ज्ञानमात्र हूं। भले ही कुछ लोग नया पुराना बन रहे, शरीरको जीव मान रहे लेकिन तनिक भी बुद्धिका प्रयोग करनेवाले समझ जाते हैं कि शरीर मैं नहीं हूं।

शरीर है जड़ पौद्गलिक विनश्वर। मैं हूं चैतन्यस्वरूप अमर अविनाशीतत्त्व। भले ही लोग सुख दुःखको कर्मके उदयको जीव रूपसे माना, किन्तु जो विवेचक जन हैं, ज्ञानीजनोंने सुख दुःख परिणामसे निराला केवल ज्ञानानन्दका अनुभव कर सकने वाले इस तत्त्वको स्वभावसे समझा है कि उन सुख दुःख परिणामोंसे यह निराला है। कुछ लोगोंकी समझमें आता होगा कि जीव और कर्म इन दोनोंका जो उभयमेल है वह जीव है। लेकिन यह तो वस्तुस्वरूप ही नहीं। दो चीजें मिलकर एक बनें—यह वस्तुस्वरूपमें नहीं पड़ा है। ८ कर्मोंका संयोग भी जीव नहीं। वह तो जो कुछ है सो है, उससे भिन्न ज्ञानमात्र निज जीवतत्त्वका ज्ञानियोंने परिचय पाया है। अरे और कुछ नहीं करते तो परको पर जानकर उससे उपेक्षा करके, विश्रामसे ही अगर बैठ जाय तो इन पौद्गलिक तत्त्वोंसे भिन्न चित्स्वभावमात्र मैं हूं, यह स्वयं तेरे अनुभवमें आ सकेगा। जो चैतन्यस्वरूप है सो जीव है और जो चैतन्यशून्य है सो जीव नहीं है।

४७. उत्तम लक्ष्य बनानेका ध्यान—जीवनका उत्तम लक्ष्य बनाना चाहिये कैसे ही बनें अपने उद्धार करनेवाले अपने हम ही बनेंगे, अतः हममें आज यह बात आ जानी चाहिए कि हम विषय कषाय आदिमें इच्छाएं कम करके ज्ञानकी ओर झुकें। मानके लोभमें यदि आपकी अपनी सम्हाल न हुई तो बड़ी हानि है। मरण समाधि सहित हो जाये, यह सबका लक्ष्य होना चाहिये। जब मैं मरूं तब मेरेमें किसी प्रकारका विकल्प न उठे, मैं मरूं तो निर्विकल्प शान्तिपूर्वक मरूं—यह भाव और काम मरते वक्त भी होना चाहिये। पाण्डवों ने क्या-क्या नहीं किया, किन्तु उनके मरण समय इतने अच्छे परिणाम रहे कि तीनको मोक्ष मिला, दो सर्वार्थसिद्धि गये। अपना उत्तर जीवन सुधार लो, पूर्व जीवन कैसे गुजरा, पूर्व जीवनमें कैसे रहे ? इनका विकल्प भी करना लाभदायक नहीं है। आत्माका स्वभाव मोक्ष है, वैसा यह जीव अपना उपयोग बनाता रहे, यही सबसे बड़ा सहायक है। आत्माका साथ देने वाला स्वयं आत्माका ज्ञान है, अतः ऐसा मत मानो कि रागद्वेष ही जीव है। किट्टकालिमासे जुदे सोनेकी तरह, रागद्वेष कर्म, नोकर्म आदिसे जुदा आत्मा ज्ञानियोंके उपयोगमें आता है।

४८. आत्माके उपयोगमें चैतन्य आत्मा हो, पर अपनी शोभा—सब कुछ कर लिया, रागद्वेष आदिके करनेसे कुछ नहीं मिल जायेगा। परिवार कुटुम्बके बीचमें रहकर भौतिक चीजोंको बढ़ा लिया जाये, उनसे क्या होता है ? आत्मा इतना ही मात्र तो है नहीं। आत्माकी शोभा तो ज्ञान और शीलसे है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए चारों अनुयोग हैं। करणानुयोग तो इतना असीम है कि उसका ज्ञान प्राप्त करते करते जिन्दगी समाप्त हो जाती है। द्रव्यानुयोगके ज्ञानका तो ऊंचा मर्म है। इसका परिचय होनेपर तो आत्मा

सर्वस्व सार प्राप्त कर लेता है। जितना भी ज्ञान करते जाओ आनन्द ही बढ़ता जायेगा। ज्ञानके सिवाय शान्ति कहीं नहीं है। रागद्वेषसे न्यारा ज्ञानी जीवने अपने आत्माका अनुभव किया है। ऐसा अनुभव होनेपर थोड़ी ही दृष्टिमें पूराका पूरा आत्मा समा जाता है। जिसने बम्बई देखी है, उसके सामने बम्बई की बात की जाये तो उसके सामने सारे बम्बईका चित्रना खिच जाता है। हमने इस आत्माके अतिरिक्त बहुतसे आनन्द लिए, परन्तु एक बार सब कुछ भूलकर केवल आत्मीय तत्त्वका अनुभव करो तो जीवनका उद्धार हो जाए। यदि लक्ष्य नहीं बनाया तो जैसे नावपर तैर रहे हो, कभी इस तरफ आओगे, कभी उधर जाओगे, लक्ष्य बन जानेपर पहुँच ही जाओगे। अपना लक्ष्य बन जाये, यही सबसे बड़ी चीज है। आत्माका काम सब विकल्पोंको दूर करके अपनेको निर्विकल्प स्थितिमें अनुभव करना है—ऐसे आत्माके अनुभवसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो जाती है। यह भी मत सोचो कि हम निर्विकल्प समाधिमें आ गए, कोई भी विकल्प नहीं आना चाहिए। मन वचन काय तो जीवके निमित्तसे पैदा हुए हैं, धन तो जीवका कुछ है ही नहीं। हमें मरना है, यहाँ तो ठीक है, परन्तु इसके लिए यह करना, इसके लिए यह करना—ये सब व्यर्थके झंझट हैं। अतः अपना यह लक्ष्य बने कि हमें अपनेको ज्ञानमय अनुभव करना है। इसके लिए एक दो घण्टा प्रतिदिन अध्ययन मनन करो तो लाभ होगा। अपने भीतरी भाव उठनेमें जो समय लगाओ, वह बहुत लाभदायक है। समय ऐसा होना चाहिए कि कुछ मुमुक्षु मिलकर आत्माके विषय में चर्चा करें। धर्मकी ओर दिलचस्पी है तो आत्माका उद्धार हो ही जाएगा अन्यथा मोहियों की गोष्ठीमें आकुलताका उपहार मिलता रहेगा।

४९. विसंवादकोंको शान्तिसे समझानेका अनुरोध— अभी अभी तो प्रकरण निकला था। मोही लोग कैसी कैसी कल्पना कर भटक रहे थे? अनेक बातें मोहियोंकी निकली और अन्तमें तो कुछ मोहियोंने यह बताया। क्या? कोई मोही कह रहा था कि कर्मोंका अनुभवन जो कि तीव्र साता, तीव्र असाता; मन्द साता, मन्द असाताके उदयरूप होता था, वही जीव है। आचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं है। सुख दुःखके अलावा भी कोई जीव है, ऐसा ज्ञानियोंने समझा है। इसपर कुछ मोहियोंने यह कहा कि जैसे दही और बूरा मिल जानेपर तीसरी अवस्था होती है, उसे श्रीखण्ड कहते हैं। इसी प्रकार जीव और कर्मोंका मिश्रण ही जीव है ऐसा हम जानते हैं। उत्तर—कर्मोंसे भिन्न कोई जीव है, ऐसा ज्ञानियोंने समझा है। भौतिक पदार्थोंमें जैसे साइन्स काम करती है। अग्निका निमित्त पाया और पानी गर्म हो गया। अग्निका निमित्त हटनेपर पानी ठण्डा हो जाता है। पर दे दृष्टि देनेसे विह्वलताएं उत्पन्न होती हैं। आत्माकी ओर दृष्टि देनेसे निराकुलता प्राप्त होती है। कर्मोंसे भिन्न आत्माको ज्ञानियोंने पहिचाना है। कोई लोग मानते कि

जैसे आठ काठसे न्यारी कोई खाट नहीं है, उसी प्रकार आठ कर्मसे न्यारा कोई जीव नहीं है। क्योंकि कर्मसे भिन्न आत्मा ज्ञानियोंकी समझमें आया है। आठ काठकी खाट अवश्य होती है, किन्तु उसपर सोने वाला तो उससे न्यारा है। उसी प्रकार कर्मोंके ढेर कार्माण शरीरसे न्यारा जीव है ऐसा ज्ञानियोंकी समझमें आया है। इस प्रकार नाना प्रकारकी दृष्टिवाले मोही जीव आत्माके बारेमें विवाद कर रहे हैं कि पुद्गलसे न्यारा कोई जीव नहीं है, तो कहते हैं कि उन्हें शांतिसे इस प्रकार समझा देना चाहिए। विशेषसे कहनेसे कोई प्रयोजन नहीं है, विशेषसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती है।

५०. व्यर्थका शोर खतम करके आत्मामें सत्य आराम पानेका अनुरोध—आचार्य महाराज मोहियोंसे कहते हैं कि हे भाई ! जरा आराम लो, तुम बहुत थक गए होगे। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध विचारोंमें थकान आ ही जाती है। व्यर्थके कोलाहलसे कोई लाभ नहीं है। तुम स्वयं ही अपने अन्दर स्वतन्त्र होकर देखो उस एक आत्माको। अपने हृदय सरोवरमें छः माह उसे देखो तो सही, फिर तुम्हें आत्मा मिलता है या नहीं ? वह आत्मा पुद्गलसे न्यारा है। ऐसा आत्मा अपने अन्दर देखनेसे अवश्य प्राप्त होगा। अनन्तानुबंधी कषाय छः माहसे ऊपर भी चलती है यदि छः माह विशुद्ध उपयोग रहे तो अनन्तानुबन्धी समाप्त हो जाय। मान लिया किसीकी आयु ६० वर्षकी है। साठ वर्षमें प्रायः ३ घण्टे रोज धर्म ध्यानमें लग जाते हैं। इस प्रकार ६० वर्षमें ७॥ वर्ष तुम्हारे धर्म ध्यानमें निकले। उस साड़े सात वर्षमें, बजाय प्रतिदिन तीन घण्टेके ७ घण्टा धर्मध्यान कर लो और कभी निरन्तर तुम छः माह ऐसे व्यतीत करो कि जहाँ वातावरण अच्छा हो और उद्देश्य आत्मसिद्धिका हो तो अधिक लाभ है। मोहको छोड़कर छः माह ही तो धर्मध्यान करो, इष्टसिद्धि होती है या नहीं, यह तुम स्वयं जान जाओगे। व्यर्थके कोलाहलसे क्या फायदा किसी भी धर्मका हो, अपने कुल धर्मका पक्ष भी भुलाकर मानों मान लिया कि तुम इस कुलमें उत्पन्न ही नहीं हुए हो ऐसा समझ करके सर्व आग्रह छोड़ आत्मामें व्यवस्थित रहो। फिर इतना जानो कि मैं क्या हूं ? अन्य सबके सहारे छोड़कर खुद समझो कि मैं आत्मा क्या हूं ? आपको इस प्रकार एक दिन सत्य मिल ही जावेगा। आत्मा स्वयं प्रभु है। स्वयं भीतरसे निर्णय उठता आयेगा कि हम क्या हैं ?

५१. सत्यका आग्रह होनेपर आत्माकी समझ—मैं कौन हूँ, यह मैं अपने आप समझूंगा, यह सत्याग्रह करके अपनेको देखो। इस प्रकार वह आत्मा अपने आप नजर आ जायेगा। इस शैलीसे जो समझमें आयेगा वही जैन शास्त्रोंमें पहलेसे ही वर्णित है। परन्तु जैन शास्त्रोंमें लिखा है, इस पराधीनताको भी छोड़ो। फिर देखना तुम्हें आत्माको उपलब्धि होती है या नहीं ? हम जैन हैं, इसलिए हम जिनमन्दिरमें दर्शन करने जाते हैं,

इससे तुम्हें क्या मिलेगा ? सुख दुःख मिटानेका उपाय अनुभव करना, यह उद्देश्य तो किन्हीं अंशोंमें ठीक है। हम मलिन हैं, संसारी हैं, कर्मसे ढके हैं, इसका उपाय समझना है. अतएव हम मन्दिरमें जाते हैं, ऐसा समझने से तो कल्याण है। तत्त्व निकलता है, किसी निश्चित उद्देश्यसे। इस प्रकार बड़ी शान्तिसे आचार्य महाराजने उन मोहियोंको समझाया। यदि समझानेपर कोई नहीं माने तो लो ऐसा उपाय करो कि न तुम अपनेको हिन्दू मानो और न हम अपनेको जैन समझें, ऐसा निष्पक्ष हो करके आत्मध्यानमें बैठ जाओ तो देखो छः माहमें ही सिद्धी होती है या नहीं ? और यह जानोगे कि दुःखसे छूटने का उपाय क्या है ? छः माह इस प्रकार करके देखो तो जान जाओगे कि आत्मा क्या है ? जिन्हें आत्मा व अनात्माका परिचय नहीं है ऐसे पर्यायमुग्ध पुरुषोंने जिस-जिस चीजको आत्मा मान डाला है उनके बारेमें जरा ध्यान तो दो, वे क्या हैं ? वे सारे भाव पुद्गलद्रव्य के परिणामसे निष्पन्न हैं अर्थात् पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं और ऐसा ही विश्वसाक्षी अर्हन्त देवोंके द्वारा प्रज्ञप्त है, उनकी दिव्य ध्वनिमें भी बड़े-बड़े महर्षियों, ज्ञानियों तक ने ऐसा ही जाना।

५२. विकारोंकी पुद्गलपरिणाममयता—परिणाममयके दो अर्थ होते हैं-(१) परिणाम-स्वरूप फलस्वरूप), (२) परिणमनरूप। जैसे शुभ भाव अशुभभाव, सुखानुभाव, दुःखानुभाव राग, द्वेष, मोह आदि भाव ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप हैं अर्थात् पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त मिला तो उसका परिणाम जीवमें यही निकला कि जीवमें वे विभाव व्यक्त हुए। इस प्रकार परिणाममयका अर्थ नैमित्तिक भाव हैं, यह निकला। परिणमनरूप का अर्थ तो प्रकट ही है कि शरीर, कर्म आदि पुद्गलके ही परिणमन हैं। फिर तो अध्यव-सानादिक समस्त भाव चैतन्य शून्य पुद्गलद्रव्यसे विलक्षण चैतन्यस्वभावमय जीव द्रव्य रूप होनेका उत्साह भी नहीं करते अर्थात् उनमें जीवत्वकी संभावनाकी तो बात भी नहीं चल सकती। अरे यह बतंगड़ा मोहियोंने कैसा बना दिया ? देखो तो मोहियोंका ऊधम, भगवानसे भी बढ़कर जानकार बनना चाहते हैं। भगवानके तो कल्पना भी नहीं उठती, ज्ञानमें भी नहीं है कि ये परद्रव्य जीव हैं। भगवान तो समस्त विश्वके साक्षी हैं, ज्ञाता द्रष्टा हैं, जिसका जो स्वरूप है उसी रूपसे उसके ज्ञाता हैं। किन्तु इस मोही को बहुतसी विकलायें याद हैं।

५३. व्यर्थ कोलाहलका परिहार करके अन्तस्तत्त्वके दर्शनके लिये आत्मविश्रामकी सलाह—हे आत्मन्! व्यर्थका कोलाहल छोड़ दो, व्यर्थकी कलकल करना छोड़ दो। कल मायने शरीर है, जो शरीर शरीर ही वर्णना है वही तो कलकल करना है। आप स्वयं ज्ञानमय हैं तो आप क्या अपनेको नहीं जान सकोगे ? अपना जानना तो अति सरल

है, किन्तु आत्माको जाननेके लिए तैयार हो जीव तभी तो सरल है। जो आत्माको जानने के लिए तैयार होता है वह परमें उपयोग लगानेका रंच भी उत्साह नहीं रखता। परकी रुचि हटे तो आत्माके ज्ञानमें फिर देर क्या है? यह आत्मा तो सनातन ज्ञानस्वभाव ही है। अहो जिसके ज्ञानोपयोगकी ज्ञानस्वभावमें एकता हो जाती है वह आत्मा धन्य है। ऐसी स्थिति पानेके लिए वस्तुस्वरूपका यथार्थ दर्शन करो। मोहके रंग विवेकज्योतिके आगे टिक सकते नहीं हैं। मोही अज्ञानी राग–द्वेष, शरीर व कर्मोंको ही जीव मान रहा था परन्तु पुद्गल कर्मके परिणमन और पुद्गल कर्मके निमित्त होनेवाला वह सब जीव नहीं है। मोटे रूपसे देहाती भी जानते हैं कि वेदना होनेपर जिसे तुम पुकारते हो, वह परमात्मा है और जिसमें वेदना हो रही है, वह आत्मा है। ये मोही जीव इस आत्माके विषयमें कई प्रकारसे विवाद कर रहे थे। कोई रागादि भावोंको आत्मा कहता था, कोई कहता इन आठ कर्मोंसे भिन्न कोई जीव नहीं है, कोई मानता कि पौद्गलिक शरीर ही जीव है। ऐसे नाना प्रकारकी मान्यता वाले इस मोही जीवको, जो पुद्गलसे न्यारा जीव नहीं मानता उसे शान्तिसे इस प्रकार समझा देना चाहिए। हे आत्मन्! जिन्हें तू आत्मा मानता, वे या तो पुद्गलके विकार हैं, या पुद्गलके निमित्तसे पैदा हुए हैं। अब आचार्य मोहियोंके प्रति कहते हैं कि व्यर्थमें चिल्लानेसे क्या फायदा? तुम अपने आपमें स्वतन्त्र होकर उस आत्माको एक बार देखो तो सही। अपने ही अन्दर छः मास तो देखो, जीव मिलता है या नहीं? प्रत्येक आत्मा जिस वातावरणमें पैदा हुआ है उसीको जीव मान लेता है यदि यह आत्मा एक बार भी अपना भरोसा करके चाहे किसी भी धर्मको न मानकर अर्थात् धर्मोंको भुलाकर कि मैं जैन हूं, बौद्ध हूं—इसे भुलाकर इस आत्माका ध्यान करे, स्वयं समझे कि मैं क्या हूं, तो वास्तविक तथ्यकी प्राप्ति हो सकती है। मजहबोंको भुलाकर सब विकल्पोंको छोड़कर फिर बुद्धिसे निर्णय करे। वहाँ सब विकल्प शान्त होते और निर्विकल्प परिणमन होता है। यही सम्यग्दर्शनका कारण है। हम अमुक धर्ममें पैदा हुए अतः हमें यही धर्म चलाना है, यही ठीक है, अन्य सब मिथ्या हैं—ऐसी मान्यतासे वास्तविक सत्यकी अनुभूति नहीं हो सकती।

५४. निज आत्मतत्त्वको समझे बिना धर्मलाभका अभाव— समस्त धर्मोंको गौण करके, मैं क्या चीज हूं, इसका एक बार अपने आपमें निर्णय कर लेना चाहिए ऐसी दृढ़ प्रतीति बनाओ कि मैं स्वयमेव अनुभव करूंगा कि मैं कौन हूं। हम कैसे जाने कि परम्परा का चलाया हुआ धर्म सत्य है अथवा नहीं है। सब विकल्पोंको दूर करो। विकल्पोंको छोड़कर सब पक्षोंको भुलाकर स्वतन्त्र रूपसे यह निर्णय करो कि क्या हम अपनेको अपने आपमें नहीं जान सकते? जान सकते हैं अवश्य, परन्तु उसके जाननेका उपाय यह है कि अपनेमें

यह लगन लगा लो कि मैं आत्मा क्या हूं ? इस अपने आत्माको समझे बिना धर्म हो ही नहीं सकता। अतः धर्म सेवन इच्छा करने वाला जीव सब मजहबोंको भुलाकर अपने आत्मा को एक बार जाने। आत्माके जाननेके पश्चात् अपने आप स्पष्ट हो जाएगा कि मैं आत्मा क्या हूं ?

५५. आत्मलक्षणका दिग्दर्शन—ज़रा ठहरो, विराम लो। हे मोहियों जिस जिस चीजको तुम आत्मा मानते आये हो, उन भ्रमोंको छोड़ो। जिन-जिन चीजोंमें तुम आत्माका भ्रम करते हो, विवाद करते हो, उनमें आत्माका लक्षण नहीं है। लक्षण वह होता है जो अनादिसे लेकर अनन्तकाल तक साथ बना रहे। परन्तु आत्मामें सदा राग नहीं बना रहता है। राग क्षीणकषायोंमें नहीं पाया जाता है, अतः राग आत्माका लक्षण नहीं हो सकता है। सिद्ध आत्मामें राग बिल्कुल भी नहीं पाया जाता। हाँ, यदि सभी आत्माओंमें राग पाया जाता तो रागको हम आत्माका लक्षण मान सकते हैं। परन्तु राग प्रारम्भसे अन्त तक जीवके साथ नहीं रहता है अतः राग आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है ? जो चीज परके निमित्तसे होती है और घटती बढ़ती रहे, उसका सर्वथा कहीं न कहीं नाश अवश्य हो जाता है। राग किसी जीवमें अधिक देखा जा सकता है—किसी जीवमें उससे कम पाया जाता है, किसी जीवमें उससे भी कम रागकी मात्रा होती है तो फिर राग सदा बना रहे, वह भी नहीं हो सकता है। राग परवस्तुको निमित्त पा करके होता है, और घटता बढ़ता रहता है अतएव राग मूलतः नष्ट भी हो जाता है। अतः कोई आत्मा ऐसा अवश्य है, जिसमें रागका लेश भी नहीं है। राग किसी न किसी तरह नष्ट हो जाता है, अतः राग आत्माका लक्षण नहीं हो सकता है। शरीर भी जीवका लक्षण नहीं है, क्योंकि शरीरको हम लोग नष्ट होता देखते हैं। अपना शरीर भी किसी न किसी दिन नष्ट हो जाएगा, फिर शरीर आत्माका लक्षण कैसे हो सकता है ? अमूर्तपना भी जीवका लक्षण नहीं है। अमूर्त कहते हैं, जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श न पाया जाये। अमूर्त तो धर्म, अधर्म आकाश और काल द्रव्य भी है। यदि अमूर्तपना जीवका लक्षण होता तो धर्मादि भी जीव कहलाने लग जायेंगे। यद्यपि जीवमें रूप नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है, गन्ध नहीं है, शब्द नहीं है तो भी अमूर्तपना होनेसे जीवका लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि अमूर्तत्त्व लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें पाया जाता है। अतः उसमें अतिव्याप्ति दोषका प्रसंग आता है। इस प्रकार राग, मोह, शरीर व अमूर्तत्त्व जीवका लक्षण नहीं है। जीवका लक्षण है ज्ञान, चेतना। चेतनाके बिना कोई भी जीव नहीं पाया जाता। चेतनाको जीवका लक्षण मानना चाहिए।

प्रश्न—रागादिक भाव आत्मामें ही होते हैं, फिर उस रागको पुद्गलका स्वभाव क्यों कहते हो ? रागादिकभाव भी आत्माके स्वभाव माने जाने चाहिएं। उत्तरः—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।।४५।।

५६. कर्मकी पुद्गलमयता—आठों ही प्रकारका जो कर्म है वह सब पुद्गलमय है ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं। उस विपच्चमान पुद्गलकर्मका जो फल है वह दुःख ही है. ऐसा आगममें कहा गया है। आठ प्रकारका जो कर्म है, वह पुद्गलमय है। यद्यपि कर्म दिखाई नहीं देता है, परन्तु आत्मामें जो खराबियाँ उत्पन्न होती हैं वे आत्मामें उत्पन्न हुई हैं, यह अवश्य समझमें आता है। जब रागादिक भाव होते हैं वे अनुभवमें आते हैं। अतः स्पष्ट है कि कोई परपदार्थ आत्मामें रागादि उत्पन्न करनेमें निमित्त कारण स्वरूप है। जिसके सम्बन्धसे राग होता है वह निमित्त आत्माके स्वभावसे उल्टा होना चाहिए। जैसा चैतन्य स्वरूप मैं हूं, वैसा चैतन्य स्वरूप पदार्थ राग उत्पन्न होनेका कारण नहीं हो सकता है। कर्म पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं, अतः वह रागके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण है।

५७. दुःखकी कर्मफलरूपता—दुःख कर्मका फल है, अतः दुःख कर्मका अविनाभावी है, दुःख आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे किसीका लड़का जुआरी है, उसकी माँ कहती है कि यह तो अमुक लड़केकी आदत लग गई याने अमुकके लड़केने हमारे लड़केको यह आदत सिखा दी है। इसका भाव यह है कि परके लड़केको निमित्त पाकर यह लड़का जुआरी बना है। उसी प्रकार आत्मामें जो दुःख उत्पन्न हुआ है, वह कर्मका फल है। कर्मका बंध न हो तो फल अच्छा मिलेगा। अब इस मनुष्यभवको पाकर अपने जीवनको सुधारनेका मौका मिला है अतः आत्माको दुःखसे निवृत्त करनेका उपाय करना चाहिए। व्यर्थके कषाय भावोंमें, अहङ्कार ममकारोंमें समय नहीं बिताना चाहिए। तेरेमें ऐसी कौनसी चीज है—जिसका तू घमण्ड करता है ? कर्मके उदयमें आनेपर कर्मका जो फल मिलता है, वह दुःख ही है। आत्मामें परिणति होती है, परन्तु आत्माका स्वभाव नहीं है। रागादि पुद्गलके निमित्तके कारण होते हैं। कर्मके उदयसे उत्पन्न इन रागादिकको उत्पन्न करने वाला निमित्त पुद्गल ही है। पौद्गलिक शब्दके दो अर्थ हैं:—१—जो पुद्गलके निमित्तसे हुआ हो, और २—पुद्गलकी ही परिणति हो। रागादि चैतन्यके परिणमन है, परन्तु कर्मके निमित्तसे राग, द्वेष, मोह उत्पन्न होते हैं। रागादिको न पुद्गलके ही कह सकते और न आत्माके। रागादि कर्मका निमित्त पाकर आत्माकी विभाव पर्याय मानी जाती है। रागादि निमित्त रूपसे पौद्गलिक हैं, उपादान रूपमें नहीं हैं। आकुलता नाम दुःखका है। जीवके दुःखादिकमें पुद्गल द्रव्य निमित्त पड़ता है। जैसे दर्पण है। दर्पण लाल चीजका निमित्त पाकर लाल हो गया। तो दर्पणकी लालिमा दर्पणके निमित्तसे तो नहीं बन गई। यदि रागादिकका निमित्त आत्मा है तो रागादि आत्मासे कभी नहीं छूटने चाहिएं। परन्तु देखा

जाता है कि रागादिका आत्मासे सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः रागादि कर्मके निमित्तसे ही हैं। रागादि पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्माके स्वभावके विकारका नाम है। रागादि आत्मामें होते हैं, यह कष्ट है, आत्माकी विपत्ति है। रागादि को नष्ट करके संसारसे छूट सकते हैं। अपना ध्यान, अपनी चिन्ता विशेष रहे। चैतन्यमें रागादि होते हैं, फिर भी रागादिको चैतन्यका स्वभाव न मानो, किन्तु पुद्गलका स्वभाव मानो।

५८. **अज्ञानियोंका पुद्गलविपाकसे लगाव**—शंकाकारने जो कई प्रकारके आशय बताये हैं परको आत्मा माननेके वे सबके सब पौद्गलिक हैं। उनमें से कुछ तो हैं पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होने वाले और कुछ हैं स्वयं पुद्गल उपादान वाले, सो जो पुद्गल उपादान वाले हैं वे तो प्रकट भिन्न ही है और जो पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं अर्थात् पुद्गलके उदयका फल है वह भी दुःखरूप है, और पुद्गलके निमित्तसे जायमान होनेके कारण पौद्गलिक हैं। आठों प्रकारके सारे ही कर्म पुद्गलमय बताये गए हैं जिनका कि उदय काल आता है तो उस समय दुःखरूप फल हुआ करते हैं। राग, द्वेष, मोह आदिक उत्पन्न करने वाले हैं ये ८ प्रकारके कर्म। वे सब पुद्गलमय हैं। उनका विपाककाल जब आता है तो फल मिलता क्या है ? दुःख, जो कि आत्मामें स्वभावसे बिल्कुल विपरीत है। आत्माका स्वभाव तो है अनन्तसुख, परमशान्ति, उससे विलक्षण है यह दुःख। तो जितने भी ये भाव हैं वे सब आकुलतामय हैं, इस कारण यद्यपि वह आत्मामें सम्बन्ध है और अन्वयरूपसे आत्मामें रहते हैं, आत्माके परिणमन हैं, फिर भी वे आत्मस्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गल स्वभाव हैं। यहाँ अब शंकाकार यह पूछता है कि यदि अध्यवसान आदिक भाव पुद्गल स्वभाव हैं तो उन्हें जीवरूपसे फिर क्यों कहा गया अनेक खण्डोंमें। चार गतियाँ होती हैं आदिक वर्णन जीवोंके बारेमें फिर शास्त्रोंमें क्यों कहा गया है ? उसका उत्तर देते हैं।

५९. **देह देवालयमें निज सनातन देवका दर्शन**—आत्माके सम्बन्धमें मोही जीवकी नाना प्रकारकी कल्पनाएं हुईं। किन्हीं ने रागकी सन्तानको आत्मा कहा, किसी ने सुख दुख को आत्मा जाना, किसी ने शुभ-अशुभ भावमें जीवकी कल्पना की, कोई अज्ञानी शरीरको ही आत्मा मान बैठा, किन्हींके कर्मको आत्माकी संज्ञा दी, कोई जीव और कर्मके मिश्रणको आत्मा मानता है, परन्तु ये सब पदार्थ आत्माएं नहीं हैं। आत्माका वह लक्षण है, जो आत्मामें त्रैकालिक निर्विकल्प पाया जाता है, वह है चैतन्य। चैतन्य स्वभाव आत्मा है, ऐसा ज्ञानियोंने अनुभव किया। उस चैतन्य स्वभाव आत्माको कहाँ खोजा जाये, यह योगीन्द्रोंने कहा कि यद्यपि वह आत्मा देहमें बस रहा है, परन्तु देहको छूता तक नहीं है। देह अपना देवालय है, जिसमें वह कारणपरमात्मा अभी निवास करता है। यह देह

देवालय है, क्योंकि इसमें वह देव बसता है। जिसे स्वभावदृष्टिसे देखा जाये तो वही परमात्मा नजर आता है। स्वभावदृष्टिसे देखा गया वह नित्स्वभाव आत्मा कारणपरमात्मा है। वह कारणपरमात्मा देहमें बसता हुआ भी देहको न छूता है और न वह देहसे अलग है याने देहसे जुदे बाहरके आकाशमें। जो समताभावमें स्थित है, ऐसे योगियोंको परमात्मा दिखाई पड़ता है। परमात्माके अवलोकनका बाधक अहङ्कार और ममकार है। अहङ्कार और ममकारका अभाव हो तो परमात्मतत्त्व अनुभवमें आता है। एक गाँवमें एक नकटा रहता था, उसे लोग नकटा ही कहते थे। एक दिन उस नकटेने कहा कि इस नाक की नोक के ओटमें परमात्मा नहीं दिखाई देता है, जब इस नोकको काट दिया जाता है, तो साक्षात् परमात्माके दर्शन हो जाते हैं। जो इसको चिढ़ा रहा था, उसने कहा यदि ऐसी बात है तो मेरी भी नाककी नोक काट दो। नकटेने दूसरे आदमीको भी छूरी लेकर नकटा कर डाला। फिर पूछा कि अब तुझे परमात्मा दिखाई देता है? उस नये नकटेने कहा कि नहीं। फिर पूर्व नकटेने उसे उल्टी पट्टी पढाई कि अरे, तू तो नकटा होनेके साथ पागल भी हो गया है और कहा कि अब यदि तेरेसे कोई नकटा कहे तो तू उसे समझा दिया कर कि इस नाक की नोककी ओटमें परमात्मा दिखाई देनेमें बाधा पड़ती है। इस प्रकार लोग नये नकटेको नकटा कहने लगे। जो उसे नकटा कहते उससे वह कह देता—भैय्या, इस नाककी नोककी ओटमें परमात्मा दिखाई पड़नेमें बाधा पड़ती है, परमात्मा दिख जानेकी तृष्णासे लोग नाकें कटाने लगे। इस प्रकार उस नगरमें सभी नकटे हो गये। एक दिन राजगृहमें मीटिंग होनी थी सभी लोग पहुंचे। सबको नकटे (नाक कटे) देखकर राजाको अपनी नाक की चोंच भद्दी मालूम पड़ने लगी। उसने पूछा कि भाइयों, आप लोगोंकी नाकें तो बहुत सुन्दर हैं मेरी नाककी चोंच बहुत भद्दी मालूम पड़ती है। सब लोग बोले कि राजन् इस नाककी नोकके हटनेपर परमात्माके दर्शन होते हैं, तो राजाने कहा फिर तो मेरी भी नाक काट दो। मूल नकटा (जो सबसे पहले नकटा था) बोला कि राजन् मैं आपसे एकान्तमें कुछ पूछना चाहता हूं। एकान्तमें कहा, आप इन झूठोंके फेरमें मत पड़ो, ये सब झूठ बोलते हैं, मैं भी झूठ बोलता हूं। उसने सारी वास्तविक बात राजासे कह दी। अब इसका मर्म देखो नाक माने वास्तवमें मान है। अर्थात् नाकके (मानके) कट-जाने पर, नष्ट होने पर परमात्माके दर्शन हो जाते हैं। परमात्माके दर्शनमें बाधक अहंवृत्ति ही है। मैं विद्वान हूं, मैं श्रीमान हूं मैं त्यागी हूं मैं मुनि हूं. इस तरह की आत्मबुद्धि को मान कहते हैं। देहको अलग माने विना आत्मबुद्धि कर ही नहीं सकते। शरीर ही आत्मा है, ऐसा जिसके दिमागमें जम जाये, वही शरीरको धनी, पण्डित कहा करता है। पर जिसमें यह आत्मा बुद्धि खतम हो जाये और समताभाव जगे तो साक्षात् परमात्माके दर्शन हो जाते हैं।

६०. परमपारिणामिक निज कारणसमयसारकी उपासना—परमात्मा दो प्रकारसे है,—(१) कारणपरमात्मा और (२) कार्यपरमात्मा अरहन्त-सिद्ध हैं। कार्यपरमात्मा किस बात विशेषके होनेसे बन गये ? अरहन्त सिद्धमें कोई नई बात आ करके जम नहीं गई। उनके चैतन्यस्वभावका विकास हो गया है। वह चैतन्यस्वभाव जिसका पूर्णतः विकास कार्यपरमात्मा कहलाता है, कारणपरमात्मा कहलाता है। चैतन्यस्वभाव ही कारणपरमात्मा है। चैतन्यस्वभाव जिसके न हो, ऐसा कोई जीव नहीं है। समस्त जीव कारणपरमात्मा हैं। कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो कारणपरमात्मा न हो। वह चैतन्यस्वभाव जिसे कारणपरमात्मा कहते हैं, वह सब आत्माओंमें है। वह स्वभाव सब जीवोंमें है, परन्तु अभी अनेकोंके प्रच्छन्न है, अत्यन्त प्रच्छन्न नहीं है, फिर भी बहुत कुछ अंशोंमें प्रच्छन्न है। जो चैतन्यस्वभाव थोड़ा प्रकट होते होते जब पूर्ण प्रकट हो जाये वही कार्यपरमात्मा है। कारणपरमात्मा विशुद्ध परिणतिका नाम नहीं है, परन्तु विशुद्ध परिणतिका नाम कार्यपरमात्मा है, उसका जो उपादान स्वभाव है वह कारणपरमात्मा है। स्वभावदृष्टिसे प्रत्येक जीव कारणपरमात्मा है, अभव्य भी कारणपरमात्मा है। अभव्य के केवल ज्ञानावरण होता है। यदि अभव्यके केवलज्ञानकी योग्यता न हो तो केवल ज्ञानावरण नहीं हो सकता है। अभव्य माने जिसके केवलज्ञान न हो सके। कारणपरमात्मा निश्चल है, अभेद्य है। कारणपरमात्मा, कारणसमयसार पारिणामिक भाव, जीवत्व—ये सब कारणपरमात्माके पर्यायवाची शब्द हैं। कारणपरमात्मा उस स्वभावको कहते हैं कि जिसके अवलम्बनसे कार्यपरमात्मा बनते हैं। पूर्ण कार्यपरमात्मा अरहन्त सिद्ध हैं। कार्यपरमात्मा जिस स्वभावके अवलम्बनसे बनते हैं, वह है कारणपरमात्मा।

६१. कारणपरमात्माके प्रसंगमें पारिणामिक भावका विवरण—द्रव्यदृष्टिसे भव्य और अभव्य दोनों समान हैं। शुद्धताकी दृष्टिसे उनके भेद कर लिए गये हैं। अनन्त गुणों की अपेक्षासे सभी जीव समान हैं। द्रव्योंकी जाति बनानेकी यह पद्धति है कि तुम ऐसी बात बनाओ कि जो बात सबमें समान रूपसे घट सके। जीव द्रव्यकी दृष्टिसे भव्य-अभव्य सभी समान हैं। अनन्त गुण भव्यमें हैं और वैसे ही अनन्त गुण अभव्यमें भी हैं। गुण विकासको प्राप्त हो तब भी उसका नाम गुण ही है और गुण विकासको न प्राप्त हो, तब भी उसको गुण ही कहते हैं। यदि किसी द्रव्यमें एक भी गुण कम या अधिक होता तो भी सात द्रव्य माने जाते। पारिणामिक भाव ४ हैं—१ शुद्ध जीवत्व, २ दश प्राणरूप जीवत्व, ३ भव्यत्व, ४ अभव्यत्व। इनमें से शुद्ध जीवत्व परमपारिणामिक भाव है और शेषके ३ अशुद्ध पारिणामिकभाव हैं। शुद्ध पारिणामिक भाव कारणपरमात्मा है। कारण-

परमात्मा चैतन्यस्वभावको कहते हैं। कार्यपरमात्मा बननेकी योग्यता हो या न हो, सभी जीव कारणपरमात्मा हैं। कारणपरमात्मतत्त्वके आधारपर कार्यपरमात्मतत्त्व प्रकट होता है जहाँ फिर प्रति समय केवलज्ञानका विशुद्ध परिणमन होता रहता है। अतः जिसका आधार पाकर ज्ञानमय परिणति होती है उसे कारणपरमात्मा कहते हैं। यह देह देवालय है। परपदार्थके अवलम्बनसे धर्मभाव उत्पन्न नहीं होता है। परपदार्थके आश्रयसे या तो पुण्य भाव होता है, या पाप भाव होता है। धर्म भाव तो स्वकी दृष्टि बनानेसे होता है। कार्यपरमात्मा अरहन्त भगवान्‌की भक्ति करते—यदि निज स्वभावका अवलम्बन हो जाए तो धर्मभाव होता है। यदि निज चित्स्वभावका अवलम्बन न हो तो भगवान्‌की भक्तिसे पुण्य भाव प्रकट होता है। कोई गरीब रोगी या असहाय धर्म नहीं कर सकता, यह बात नहीं है।

६२. कारणपरमात्मतत्त्वके आश्रयमें धर्मविकास—वास्तवमें चैतन्यस्वभावके अवलम्बनको धर्म कहते हैं। कारणपरमात्मा चैतन्यस्वभावके अवलम्बनका नाम नहीं है, किन्तु चैतन्यस्वभावका नाम है। चैतन्यस्वभावका अवलम्बन पर्याय है। जैसे यह अंगुली है। सीधी, गोल, टेढ़ी आदि अवस्थाओंसे युक्त यह अंगुली है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें रहने वाली अंगुली एक है। वह एक अंगुली अंगुलीसामान्य कहलाती है। अंगुलीसामान्य आँखोंसे नजर नहीं आती है। सब टेढ़ी, सीधी, गोल आदि सब अवस्थाओंमें रहने वाली कोई एक अंगुली सामान्य है। इसी तरह आत्मा भी नाना पर्यायोंको करने वाला कारणपरमात्मा है। वह एक, जो सभी पर्यायोंरूप परिणत हुआ, उस एक आत्मद्रव्यको स्वभाव दृष्टि बनाये तो जान सकते हैं। स्वभावदृष्टिसे देखा गया आत्मा कारणपरमात्मा है। उस कारणपरमात्माके अवलम्बनसे धर्म होता है। स्वभाव है कारणपरमात्मा, उसकी दृष्टि हो तो मोक्षमार्ग चलता है, और धर्म बनता है। यह नियम नहीं कि कारणपरमात्मा कार्यपरमात्मा बन कर ही रहें। अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्माका नाम कारणपरमात्मा नहीं है, किन्तु कारणपरमात्मा की ये तीन (अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा) पर्याय हैं। पारिणामिक भावका नाम कारणपरमात्मा है। कारणपरमात्मा की दृष्टि होवे तो कार्यपरमात्मा बन सकते हैं। वह कारणपरमात्मा प्रत्येक जीवमें मौजूद है। जो उसको जान ले या अनुभव करले, वह कार्यपरमात्मा बन सकता है। उस स्वभावकी दृष्टिसे धर्म प्रकट होता है। वह कारणपरमात्मा सबमें बस रहा है। जैसे दूधमें घी सर्वत्र प्रत्येक अंशमें व्याप्त है। दूधमें घी कारण घी है। दूध कहो और उसे कारण घी भी कह सकते हो। कारणपरमात्माके दर्शन होने पर मिथ्यात्व खतम हो जाता है।

६३. **पदार्थोंका स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अस्तित्व**—प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशमें, अपने गुणमें और अपनी-अपनी पर्यायमें स्थित है, यह द्रव्यका स्वभाव है। प्रत्येक जीव अखण्ड सत् है। प्रत्येक पुद्‌गल द्रव्य अखण्ड है। अखण्डत्व द्रव्यका लक्षण है। जिसका खण्ड होवे, उसे पर्याय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना प्रदेश, गुण पर्याय रखता है। पुद्‌गलका एक-एक परमाणु अखण्ड है। जीवद्रव्य भी अखण्ड है। धर्म-अधर्मद्रव्य तथा आकाश काल द्रव्य अखण्ड हैं। अनन्तानन्त परमाणुओंको मिलकर एक पर्याय बनी है उसे समानजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं। जीव और शरीर मिल कर एक बने, उसे असमानजातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं। जिन्हें अपने व्यवहारमें जीव कहते हैं, वे सब असमानजातीय द्रव्य पर्याय हैं। जो अखण्ड है वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणोंमें, अपने-अपने प्रदेश और अपनी-अपनी पर्यायोंमें बसता है। ये परमाणु भले ही मिले हों, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणुके प्रदेश, गुण, पर्यायमें नहीं जाता है। यह द्रव्य इतना ही अखण्ड है, इससे बाहर नहीं है, ऐसी प्रतीति द्रव्यके विषयमें आजाये तो मोह बली जल जायेगा। सम्बन्ध दृष्टिसे पदार्थोंको निरखना यह सब मिथ्यात्व है। पदार्थोको भिन्न-भिन्न देखे, उसे सम्यक्त्वका चिन्ह कहते हैं। योगियोंको परमात्मा महान् आनन्दको उत्पन्न करता हुआ दृष्ट होता है।

६४. **आनन्दकी आत्माश्रयता**—दुःख सुखके लिये जीवको श्रम नहीं करना पड़ता। मोही परन्तु जीव दुःख सुखमें श्रम न समझकर आनन्दमें अत्यन्त श्रम समझता है। इस आत्मामें विकल्प न होनेसे समताभाव जागृत होता है। समताभावके जगनेसे परमानन्द प्रकट होता है। समस्त विकल्पोंकी आहुति देनेपर छोड़ देनेपर परमात्मतत्त्व प्रकट होता है। परपदार्थ में आत्मबुद्धि ही परमात्माके दर्शनमें बाधक है। यह कारणपरमात्मा प्रत्येक प्राणीके देहमें बसा हुआ है। हे योगी! कर्ममें निबद्ध होकर भी यह परमात्मा सकल (शरीर सहित) नहीं होता है। देहमें बसता हुआ भी यह आत्मा सकल नहीं है। ऐसे आत्माको कारणपरमात्मा कहते हैं। जो कारणपरमात्मा ज्ञानमयताकी दृष्टिसे ध्याया जाता है, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ध्यान बने और विकल्प न उठें—केवल यह ज्ञान ही उसकी आत्मामें रह जाए तो उस कारणपरमात्माके दर्शन होते हैं। योगी जन इस कारणपरमात्माका निरन्तर ध्यान करते हैं। जिनके उपयोगमें यही चैतन्यस्वभाव रह गया उसे आत्माका आत्मामें लीन होना कहते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें उपयोग हो तो वह आत्मामें लीन होना नहीं है। भगवान्‌में उपयोग लगना, कषाय अशुभोपयोगरूप विपत्तियोंको दूर करनेके लिए है। भगवान्‌की भक्ति करनेसे आत्मा आत्मस्थ नहीं कहलाता है। किन्तु कारणपरमात्माकी अभेददृष्टिसे आत्मा आत्मरूप होता है। जो चैतन्यस्वभाव है, उसका पूर्ण विकास ही कार्यपरमात्मा है। कारणपरमात्माकी दृष्टि बने रहना यही कार्यपरमात्माको प्रकट करना है।

६५. औपाधिक विकार स्वाभाविक तत्त्व नहीं—ये रागादिभाव होते हैं आत्मामें, परन्तु कर्मोदयके निमित्तसे होते हैं, अतः ये रागादि आत्माका विकार हैं। स्वभाव वह कहलाता है, जो बिना किसी परके निमित्तसे होता है और जो आत्माके साथ त्रिकाल बना रहता है। रागादिक भाव पुद्गलके निमित्तसे होते हैं, अतः इनको पुद्गलके स्वभाव कहा गया है। वस्तुतः रागादि किसीके स्वभाव नहीं हैं, न आत्माके स्वभाव हैं, और न पुद्गलके ही। वस्तुतः रागादि पुद्गलके परिणमन नहीं है, अतः पुद्गलके स्वभाव नहीं हैं तथा रागादिक भाव आत्मामें त्रिकाल नहीं रहते, अतः आत्माके स्वभाव भी नहीं हैं। तभी तो सांख्य लोग भ्रम करनेमात्रको रागादि कहते हैं। कर्मको निमित्त पाकर ये रागादि आत्मामें होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। अतः निमित्तकी अपेक्षासे देखो तो रागादि पुद्गलका स्वभाव है और उपादानकी अपेक्षा देखो तो आत्माके स्वभावके विकारभाव हैं। जैसे कोई खोटा कार्य करता है, उसे कोई कहता कि तुम्हारे कुलका यह काम नहीं है। जब उस व्यक्तिको गौरव होता कि जो कार्य मैंने किया वह मेरे कुलके योग्य नहीं था, मुझे करना ही नहीं चाहिए था, इससे मेरे कुलमें लाञ्छन लगता है। इसी तरह आत्मा जिसका काम चैतन्यमात्र है, रागादि बिल्कुल भी नहीं है। यदि वह राग-द्वेष मोह आदि अकृत्य कृत्य करे तो उसे ज्ञानी आचार्य समझाते कि अरे मूढ़ आत्मन्! चेत, रागादि करना तेरे योग्य कार्य नहीं है। तब आत्माको स्वयमेव गौरव होता कि मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा रहनेका है। रागादि करना मेरा स्वभाव नहीं है। अतः इन रागादिको मैं फिर क्यों करता हूं?

६६. रागादिभावके स्वामित्वका विचार— प्रश्न—जिज्ञासु पूछता है कि आचार्यदेव फिर ये रागादि किसके स्वभाव हैं? उत्तर—ये रागादि पुद्गलके स्वभाव हैं। निमित्त दृष्टिसे रागादि पुद्गलके मत्थे मढ़े गये। जैसे दर्पण है। दर्पणके सामने कोई खिलौना रख दिया गया तो दर्पण खिलौने को निमित्त पाकर खिलौनाके आकार रूप दर्पण अपनेमें प्रतिबिम्ब बनाता है। यहाँ पूछा जा सकता है कि दर्पणमें उत्पन्न हुआ प्रतिबिम्बरूप दर्पण किसका स्वभाव है? यह प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव तो नहीं है। क्योंकि खिलौनेका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पहले तो था नहीं। जब दर्पणके सामने खिलौना आया तो दर्पण खिलौनेरूप परिणम गया और जब खिलौना दर्पणके सामनेसे हटा दिया तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब भी हट जाता है, फिर प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव कैसे रहा? यदि खिलौनेका प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव होता तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणमें त्रिकाल झलकना चाहिए था। यदि फोटो दर्पणका स्वभाव होता तो खिलौनेका प्रतिबिम्ब खिलौना सामने आनेसे पहले भी आना चाहिए था, और खिलौना हटनेपर भी खिलौनाका प्रतिबिम्ब दर्पणमें दिखाई देना चाहिए था। जब खिलौनेका प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव नहीं है, तो खिलौनेका प्रतिबिम्ब खिलौनेका ही

स्वभाव होना चाहिए ? नहीं, खिलौनेका प्रतिबिम्बित खिलौनेका स्वभाव नही हो सकता। क्योंकि खिलौनेकी कोई चीज खिलौनेके बाहर दर्पणमें नहीं जा सकती है; खिलौनेकी चीज खिलौनेमें ही रहती है। यदि प्रतिबिम्ब खिलौनेका स्वभाव होता तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में नहीं पड़ना चाहिए था। जैसे अपने लोग व्यवहारमें कहते हैं कि यह किताब मेरी है, किन्तु यह किताब मेरी तो नहीं है, कागजकी है। उसी प्रकार यह प्रतिबिम्ब दर्पणका स्व-भाव नहीं है। यदि प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वभाव होता तो प्रतिबिम्ब दर्पणके साथ त्रिकाल रहता। प्रतिबिम्ब खिलौनेका स्वभाव भी नहीं है। यदि प्रतिबिम्ब खिलौनेका स्वभाव होता तो खिलौनेसे बाहर नहीं जाना चाहिए था। अतः प्रतिबिम्ब खिलौना और दर्पणका स्वभाव नहीं है। प्रतिबिम्ब खिलौनेको निमित्त पाकर दर्पणके गुणोंका विकार रूप परिणमन है। खिलौनेको निमित्त पाकर दर्पण विभाव रूप परिणम गया। क्रीडनक दर्पणभात्र वह फोटो है। ये रागादि पुद्गल स्वभाव हैं। पुद्गल = कर्म, स्व = आत्मा और भाव = परिणमन। रागादि आत्माके स्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गलके स्वभाव हैं। कर्मको निमित्त पाकर आत्मा के भाव है। उपादान दृष्टि हो तो आत्माके स्वभावसे रागादि हुए तथा निमित्तपर दृष्टि हो तो रागादि पुद्गलके स्वभाव हैं। वस्तुतः ये रागादि न पुद्गलके स्वभाव हैं और न आत्माके ही स्वभाव हैं। रागादि तो भ्रमकी अवस्था हैं।

६७. **रागादिको पुद्गलस्वभाव जानकर अपना कर्तव्य**—ये रागादि भाव पुद्गलके निमित्तसे होने वाले आत्माके परिणमन हैं। ऐसा जानकर रागादि भावोंको आत्मा मत समझो। जो भी तुमपर परिणमन चल रहे हैं, उन्हें तुम अपना मत समझो। पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले रागादिको पुद्गलके स्वभाव मत समझो। यदि यह प्रतीति हो जाये कि रागादि मैं नही हूं तो रागादिसे तत्काल निवृत्ति हो जाए। जैसे कोई रास्तेपर दौड़ता जा रहा है। दौड़ते-दौड़ते उसे यह प्रतीति हो जाये कि जिस रास्तेपर मैं दौड़ रहा हूं, वह रास्ता गलत है तो उसे उस रास्तेपर दौड़नेसे तत्काल निवृत्ति हो जायेगी। यद्यपि वेगके कारण वह दस कदम आगे चलकर रुक सकेगा, परन्तु उसे तत्काल पहले कदमपर ही उस रास्तेपर दौड़नेसे अनिच्छा हो जायेगी तथा उसका उस ओर प्रयास भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार रागादि मैं नहीं हूं, यह प्रतीति आत्मामें जिस समय उत्पन्न हुई, उसी समयसे रागादि से निवृत्ति हो जाती है। रागादि मैं नहीं हूँ, यह प्रतीति होनेसे पहले मैं चैतन्य मात्र आत्मा हूं, यह प्रतीति होना चाहिए। चैतन्यमात्र मैं हूं यह प्रतीति होनेपर रागादि मैं नहीं हूं, यह प्रतीति सच्ची है। चैतन्यमात्र आत्माको आत्मा समझकर आत्माकी ओर दृष्टि होना चाहिए। कषायोंको मिटाना, यही कल्याणके लिए एक प्रयोजन है। सम्यक्श्रद्धासे कषाय मिटती हैं, अतएव आत्मतत्त्वके विषयमें दृष्टि लगानी चाहिए और सम्यक्त्वभाव जानना

चाहिये। अब यहाँ जिज्ञासु पूछता है कि राग-द्वेष मोहादिभाव पुद्गलके स्वभाव हैं तो इन्हें अनेक तंत्रोंमें अध्यवसानादिक जीवके क्यों बताये गये है? इसके समाधानमें श्रीमत्कुन्दकुन्द देव कहते हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा॥ ६॥

६८. जीवकी अध्यवसायादिरूपताका निश्चयसे अभाव—ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव हैं ऐसा यह सब व्यवहारका प्रदर्शन कराया है, ऐसा जिनेन्द्रदेवोंके द्वारा वर्णित हुआ है। समयके वास्तविक स्वरूपको जाननेके लिये दृष्टि स्वभाव पर करनी होती है। है। न तो पुद्गलकी रचना जीव हैं और न पुद्गलके निमित्तसे होनेवाली रचना जीव है, जो कारणसमयसार है सो जीव है। परमशुद्ध निश्चयदृष्टिमें जो पारिणामिक भाव जाना गया उसे जीव कहते हैं। एकेन्द्रिय, त्रस, रागद्वेष, मो शरीरादि जीव नहीं है। केवल ज्ञान भी शुद्ध दृष्टिसे जीव नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान ज्ञानकी परिणति है। परिणति जीव है नहीं, अतः केवलज्ञान भी जीव नहीं हो सकता है। जीव अविनाशी है, केवलज्ञान प्रति समय नष्ट होता रहता है, और नया-नया पैदा होता रहता है। केवलज्ञानकी यह विशेषता है कि उसकी परिणति उसी प्रकारकी होती है, जिससे उसका प्रतिसमय बदलना मालूम नहीं पड़ता है। शुद्धता दो प्रकारकी होती हैं—१-पर्याय की शुद्धता और २-द्रव्य की शुद्धता। पर्यायकी शुद्धता भगवान अरहन्त सिद्धमें है, द्रव्यरूप शुद्धत्व द्रव्यमें सनातन है। समयसार दो प्रकारसे है:-कारणरूप समयसार और कार्यरूप समयसार। कार्यरूप समयसार भगवान अरहन्त सिद्ध हैं। परसे भिन्नत्व और अपने से अभिन्नत्वको द्रव्यशुद्धि कहते हैं। द्रव्यशुद्धि जीवमें अनादिसे अनन्त तक है। पर्यायशुद्धि जीवमें किसी क्षणसे होती है। जीव द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है। उसको अध्यवसानादिरूप कहना व्यवहारनयका उपदेश है।

६९. पर्यायशुद्धिके लिये आलम्ब्य तत्त्वका विचार—पदार्थ अवक्तव्य हैं, जो कुछ है सो है। आत्माको यदि सर्वथा अशुद्ध ही मानें तो कभी शुद्ध नहीं हो सकता है। शुद्धकी दृष्टि करनेसे बनता है शुद्ध और अशुद्धकी दृष्टि करनेसे बनता हैं अशुद्ध—यह आध्यात्म शास्त्र का प्रथम सिद्धान्त है। अब सोचिये एक मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमें अशुद्ध है, राग-द्वेष को अपनाता है, अशुद्धका अवलम्बन किये हुए है। अब वह कौनसे शुद्धका अवलम्बन करे कि वह सम्यग्दृष्टि हो सके? तर्क—अरहंत सिद्धका अवलम्बन करे। उत्तर—जीव परका अवलम्बन कर ही नहीं सकता। यह अध्यात्मशास्त्रका नियम है। जैसे आपने अरहन्त भगवानका स्मरण किया, तो यह आपने अरहन्त भगवानका अवलम्बन नहीं किया, परन्तु अरहन्त भगवान्के विषयमें तुम्हारे मनमें जो पर्याय उत्पन्न हुई है, उसका तुमने अवलम्बन

किया है। वास्तवमें तुम दृश्यमान पदार्थोंको नहीं जान रहे हो। एक भी चीजको तुम नहीं जानते। किसी भी परमाणुको तुम नहीं जान सकते। निश्चयसे जानते हो उसे, जो तुम्हारे आत्मामें अर्थविकल्प हो रहा है। वास्तवमें हमने क्या जाना है, इस अन्तरकी चीज को बतानेके लिए उसका नाम बताना पड़ता है कि हमने इसरूप परिणत आत्माको जाना। वह ज्ञेयाकार इस तरहका इस अद्भुत चीजको बतानेके लिए कहा जाता है। जिस वस्तुका जो गुण होता है, उस गुणका परिणमन उसी वस्तुमें होता है, अन्य वस्तुमें दूसरी वस्तुके गुणका परिणमन नहीं हो सकता है। जिस वस्तुका जो गुण है, उस वस्तुकी क्रिया उसी वस्तुमें होती है—यह एक साधारण नियम है। भगवान् निश्चयसे अपनी ही आत्माको जानते हैं। व्यवहारमें कहते हैं कि भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं, अतएव 'सर्वज्ञ' हैं। वास्तवमें उनका केवलज्ञान आत्माको ही जानता है। उनकी आत्मामें सम्पूर्ण विश्व झलकता है। भगवान् विश्वके आकाररूप परिणत आत्माको ही जानते हैं, इस बातको समझने के लिए कह दिया गया है कि भगवान् विश्वके ज्ञाता हैं। जैसे एक दर्पण है। उसके सामने अपने पीछे ५–७ लड़के खड़े हुए हैं जो दर्पणमें प्रतिबिम्बित हैं। हमारे पीछे खड़े हुए लड़के क्या कर रहे हैं, यह हम दर्पणमें देखकर बता सकते हैं। परन्तु हम केवल दर्पणको ही देख रहे हैं। हम किस प्रकारके परिणत दर्पणको देख रहे हैं, यह बात हम लड़कोंकी क्रियाओं का निर्देशकर बता रहे हैं। इसी प्रकार हम दृश्यमान पदार्थोंको नहीं जान रहे हैं। निश्चयसे हम ज्ञानका जो ज्ञेयाकार परिणमन है, उसको जान रहे हैं। केवलज्ञानकी ऐसी योग्यता है कि उसका ज्ञेयाकार परिणमन विश्वरूप बना रहता है। परन्तु निश्चयतः भगवान् विश्वको नहीं जानते हैं, विश्वरूप परिणत अपने आत्माको जानते हैं। निश्चयसे आत्मा परको नहीं जानता है, आत्मा आत्माको जानता है। कोई-कोई मनुष्य केवलज्ञानको जीव स्वीकार करता है, परन्तु केवलज्ञान जीव नहीं है। केवलज्ञान ज्ञानका परिणमन है। अतः केवलज्ञान जीव नहीं हो सकता है।

७०. **कारणपरमात्मतत्त्वके आश्रयसे पर्यायविशुद्धि**—अब प्रकृत तत्त्वपर आइए, प्रकृत यह चीज है कि शुद्धका अवलम्बन करनेसे शुद्ध परिणमन होता है और अशुद्धका अवलम्बन करनेसे अशुद्ध परिणमन होता है। दूसरे कोई परका अवलम्बन कर ही नहीं सकता है। सदा जीव अपना ही अवलम्बन कर पाता है। जब यह जीव अपना ही अवलम्बन करता है तो मलिन आत्मा किसका अवलम्बन करे कि वह शुद्ध बन जाए? रागद्वेष आदिके अवलम्बनसे शुद्ध बन नहीं सकता है। करेगा अपना ही अवलंबन, दूसरेका कर नहीं सकता है। मलिन आत्मामें भी ऐसा कौनसा तत्त्व है, जिससे आत्मा शुद्ध बन सके? अरहंतका विचाररूप जो ध्यान है, वह भी अशुद्ध भाव है। जीव अरहंतका अवलंबन कर ही नहीं

सकता है। अरहन्तका अवलम्बन रूप पर्याय अशुद्ध है। शुभ भाव और अशुभ भाव दोनों अशुद्ध भाव हैं। जब मलिन आत्माको चैतन्यस्वरूपकी खबर होती है—चैतन्यस्वभाव मलिन दशामे भी है। चैतन्य स्वभावका अवलम्बन किया तो उसकी शुद्ध पर्याय बन जाती है। सिद्धोंके बारेमें आप जो विचार कर रहे हैं, वह विचार शुभ है अतः अशुद्ध है। परके सम्बन्धमें हुए निज विचारको ही जीव जान सकता है, विचारमात्र अशुद्ध है। इस मलिन अवस्थामें भी चैतन्यस्वभाव अनादि अनन्त शुद्ध है। आत्मा द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है, पर्यायदृष्टिसे अशुद्ध है। द्रव्य और पर्यायके मुकाबिलेमें जितने भी पर्याय ज्ञान हैं, सब अशुद्ध हैं, गुण मात्र शुद्ध हैं। जैसे ज्ञानकी मत्यादि ५ पर्याय अशुद्ध है, परन्तु ज्ञान सामान्य गुण है, अतः शुद्ध है। भेददृष्टिसे गुण शुद्ध है और अभेददृष्टिसे स्वभाव शुद्ध है। ज्ञानके मति श्रुतादि ५ परिणमन अशुद्ध हैं। अशुद्ध माने पर्याय है। शुद्ध माने स्वभाव—यहाँ पर शुद्ध अशुद्धका यह अर्थ लेना। विशेष, पर्यायें विनाशी हैं, जो विनाशीक है, वह जीव तत्त्व नहीं है। जो विनाशीक है, वह अशुद्ध है और जो अविनाशी है वह शुद्ध है। केवल शुद्ध चैतन्य स्वभावके अवलम्बनसे शुद्धता प्रकट होती है। यहाँ अशुद्धका अर्थ 'चल' है और शुद्धका अर्थ निश्चल है। निश्चलके अवलम्बनसे जीव शुद्ध होता है। जो शुद्धको आश्रय करके जानता है, वह शुद्ध होता है और जो अशुद्धको आश्रय करके जानता है, वह अशुद्ध होता है।

राग-द्वेष क्रोध, स्थावर, त्रस, संसारी, मुक्त आदि जीव हैं—यह सब व्यवहारका कथन है। मुक्त ही यदि जीव होता, तो जिस समय जीव मुक्त नहीं हुआ था तो क्या उस समय वह जीव नहीं था? यदि संसारी ही जीव होता तो मुक्त जीव जीव नहीं रहेगा?

७१. निश्चयदृष्टिसे ज्ञात तत्त्वके अवलम्बनसे द्रव्यमें निर्मल पर्याय—शुद्ध द्रव्यके अवलम्बनसे तो जीवका कल्याण होना है, किन्तु यदि कोई कहे कि हम तो निश्चय निश्चयको मानेंगे, व्यवहारको हम नहीं मानते तो वह समझ ही नहीं सकता। किसी बातको व्यवहारसे समझकर फिर निश्चयदृष्टिसे कहो तो वह समझना तुम्हारा ठीक है। जीव न वीतराग है, न सराग है; जीव न सकषाय है और न अकषाय है; जीव न संसारी है और न मुक्त है; जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, किन्तु एक ज्ञायकस्वभाव और चैतन्यस्वभाव जीव है। बाकी पर्याय रूपको जीव कहना यह सब व्यवहारका दर्शन है। मोटे रूपमें ऐसा जानो कि शरीर मैं नहीं हूं, क्योंकि शरीर नष्ट हो जाने वाली चीज है। मनुष्य मैं नहीं हूँ, देव मैं नहीं हूं, नारकी मैं नहीं हूं, क्योंकि ये सब पर्याय हैं। पर्यायमात्र नष्ट हो जाने वाली चीज है। राग मैं नहीं हूं तथा वर्तमान ज्ञान, जो हो रहा है, वह भी मैं नहीं हूं, क्योंकि ये चीजें सब मिट जायेंगी, परन्तु मैं नष्ट होनेवाला नहीं हूं। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं। जो जो परिणमन मेरेमें हो रहे हैं, वे सब मैं नहीं हूँ। सर्दत्र द्रव्य परिपूर्ण है, ऐसी

बात द्रव्य-दृष्टिसे समझ पाओगे। द्रव्य-दृष्टिका जो तत्त्व है, वह कारणसमयसार है। कारणसमयसारके अवलम्बनसे जो कार्य बनता है, वह सब कार्यसमयसार है। जीवरूपसे जो रागादि कहे गये हैं यह सब व्यवहारदर्शन है। क्योंकि यह जीव सब पर्यायोंमें गया है। जीवका पर्यायोंसे ही विशेष परिचय है, अतः उसे पर्यायकी बात कहकर ही समझाया जा सकता है। अतएव साधारणतया बताया जाता है कि जीव संसारी है, मुक्त है, त्रस है, स्थावर है, मनुष्य है, देव है, आदि। यह सब व्यवहारका कथन है। व्यवहार निश्चयका प्रतिपादक है। अर्थात् जो बात हमारे निश्चयनयसे समझमें आई है, वह हम व्यवहार द्वारा ही कह सकते हैं या यों कहिये कि निश्चयकी बातको व्यवहार द्वारा ही समझाया जा सकता है। जैसे हम मन्दिरमें देख रहे हैं, हरा रंग दिखाई दे रहा है। हम उसे देखकर जान सकते हैं कि मन्दिरमें बिजली जल रही है। इसी प्रकार जीवमें राग है। जीवमें राग कहनेसे ही तुम समझ जाओगे कि जीवमें चेतना गुण अवश्य है। जैसे मन्दिरमें खूंटीपर माला टंगी दिखाई दे रही है। उसे देखकर ही हम समझ जायेंगे कि मन्दिरमें बिजली जल रही है। मोटे रूपमें यह जानना कि शरीर मैं नहीं हूं, राग मैं नहीं हूं, मैं इसका पिता हूं, मैं इसका मामा हूं, मैं इसका भानजा हूं आदि बातें तो सब कल्पनाकी चीज हैं। इन सब अहङ्कारों को दूर करना है और कारणसमयसारको समझना है। कारणसमयसारको समझकर उसकी ओर दृष्टि लगानी है। उसकी ओर दृष्टि लगानेसे ही हमारा कल्याण होना है।

७२. **आत्महितमें आलम्ब्य तत्त्व**--जिसका आलम्बन करके हम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, वह चीज जीवमें अनादिसे ही है। जीवको जब उस अनादि अनन्त चीजका ज्ञान होता है, तभी सम्यक्त्व होता है। उसका आलम्बन लिया समझो, सम्यक्त्व पैदा हो गया। उस अनादि अनन्त चैतन्यस्वभावके अवलम्बन न लेनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता है। वह अपने अन्दर अनादिकालसे मौजूद है और सदा तक बना रहेगा। जिसके आलम्बनसे सम्यक्त्व जगता है, उसे कारणसमयसार कहते हैं। उसका आलम्बन लो या न लो, फिर भी वह चीज अनादिकालसे अपने अन्दर है, और अन्त तक बनी रहेगी। जिस तरह पत्थर में से जो मूर्ति निकालनी है, वह उसमें पहलेसे ही विद्यमान है। पत्थरमें जो परमाणु स्कन्ध मूर्तिको ढके हुए हैं, चारों ओर लगे हैं, उस मूर्तिको ज्योंकी त्यों निकालनेके लिए उन पत्थरोंको हटाना पड़ता है। जो मूर्ति उस पत्थरमें से प्रकट होगी, वह उसमें पहलेसे ही विद्यमान है। इसी तरह वह स्वभाव जो कि प्रकट होनेपर भगवान कहलाता है, आत्मामें पहिलेसे ही विद्यमान है, किन्तु उसके आवरक राग द्वेष आदि भाव हैं, उन्हें हटा देनेपर स्वयं प्रकट हो जाता है। स्वभावके समान पर्यायका होना सिद्ध अवस्था है। स्वभावसे

विषम अवस्थाओंका होना संसार अवस्था है। हम चैतन्यस्वभावका अवलम्बन लें, तभी हम शुद्ध बन सकते हैं। चैतन्यस्वभावके अवलम्बनसे ही सम्यक्त्व जागृत होता है। सत्संग, पूजा, भक्ति, ध्यान ये विकल्प साक्षात् धर्म नहीं हैं। जिसके आलम्बनसे धर्म होता है, सम्यक्त्व जगता है, वह हमारेमें पहलेसे ही मौजूद है। चैतन्य स्वभाव ही जीव है, इस बातको लक्ष्यमें लेकर, 'रागादि जीव है' इस बातका खण्डन किया गया है।

७३. **व्यवहारदर्शनमें अध्यवसानादिको जीव कहनेका वर्णन**—जितने भी ये अध्यवसान आदिक भाव हैं वे सब जीव ऐसे भगवान सर्वज्ञदेवने बताये हैं, सो इसे भूतार्थनयसे नहीं बताया, किन्तु अभूतार्थनय अथवा व्यवहार उसकी दृष्टिमें यह मंतव्य है। कहते हैं कि व्यवहारसे यह जीव नहीं है, निश्चयसे यह जीव नहीं है, इसमें अन्तर क्या आया ? अन्तर यह आया कि निश्चयसे जीव वह कहलाता है जो जीव अपने स्वरूपसे स्वयं अपने आपमें जो कुछ हो और जो किसी उपाधिके संसर्गसे ज्ञात आये वह जीव नहीं है। यह उपाधिके संसर्गसे आया, फिर व्यवहारसे इसे बताना पड़ा। जैसे कोई संस्कृत भाषा नहीं जानता और संस्कृतमें किसीने आशीर्वाद दिया तो उस म्लेच्छ भाषावादीको म्लेच्छ भाषामें ही कहे तो उसकी समझमें आयगा, यों ही व्यवहार परिणमन अथवा संसर्ग निमित्त भाव इन्हींसे जो अपरिचित हैं, परमार्थ उपादान शुद्धनयका विषयभूत परमस्वभाव, इनसे जो परिचित नहीं हैं उनको एकदम यह पद कह दिया जायगा। उन्हें गति इन्द्रिय आदिक व्यवहार जीवको बताकर यह जीव है चूंकि एक सम्बंध है ना मूलमें, जीव सम्बंध न होता तो ये पर्यायें बन कैसे जातीं ? जीव जब तक रहता है तब तक इस पर्यायमें सजगता रहती है, हलन चलन रहती है। तो वह सब एक मूल जीवके रहनेका ही तो प्रताप है और यही क्यों, जितने पदार्थ आज अजीव पुद्गल सामने दिख रहे हैं चौकी पत्थर चटाई आदिक वे सब भी जीवका संसर्ग न पाते तो इस सकलको न धारण कर सकते। यद्यपि उनमें आज जीव नहीं है लेकिन कभी तो था, सजीव तो था। तो इस तरह वे अध्यवसान आदिक भाव यद्यपि साक्षात् जीवतत्त्व नहीं हैं, चैतन्यशून्य हैं, किन्तु एक सम्बंध पाकर ही ये हुए हैं, उसमें आये हैं परिणमन और फिर उस भवके सम्बंधसे ये शरीरादिक परिणमन बने हैं इस कारण ये सब व्यवहारसे जीव हैं, निश्चयसे तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व जीव है। व्यवहारनय भी व्यवहारनयसे कार्यकारी है। जिस कारण व्यवहारमें व्यवहार न माना जाय तो इसका अर्थ है कि चूंकि रह तो रहे हैं व्यवहारमें और बात करें निश्चय एकान्तकी और यह कहा करें कि जीव तो शरीरसे बिल्कुल जुदा है, शरीरके परिणमनसे जीवका कुछ भी नहीं होता। अगर शरीरको मार डालें तो उसमें हिंसा काहेकी, क्योंकि शरीर अजीव है, जड़ है, उसमें लाठी मारनेसे उसका कुछ बिगड़ता नहीं, जैसे कि पदार्थ ईंट, भींत, इनपर लाठी मारनेसे कुछ बिगड़ता

नहीं, क्योंकि वे पुद्गल हैं, शरीर भी पुद्गल है। रहा जीव, वह शरीरसे न्यारा है, उससे जीवको कुछ होता नहीं है। तो फिर व्यवहारमें दयाकी प्रवृत्ति ही कुछ नहीं रही। दूसरे अगर यह बुद्धि करते कि इसमें बंध भी नहीं होता तो शरीर न्यारा, जीव न्यारा। अगर शरीरको मारनेपर जीवको बंध नहीं होता तो फिर मोक्ष किसका कराओगे ? फिर मोक्षका उपदेश करना भी व्यर्थ है। तो सभी तत्त्वोंमें बाधा आती है। यदि व्यवहारनय नहीं मानते और एकान्त कर लेते हैं कि बस एक यही निश्चय एकान्त है। बात यहाँ यों समझना है कि जो हम आप ये शरीरमें दिख रहे हैं ये जीव है या नहीं ? यह जो कुछ दिख रहा है, जिससे व्यवहार कर रहे हैं ऐसे मनुष्य पशु पक्षी आदिक ये सब जीव हैं या नहीं ? तो उत्तर यह है कि व्यवहारसे तो जीव हैं और निश्चयसे ये जीव नहीं है। निश्चयसे तो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है सो ही जीव है।

७४. व्यवहारदर्शन और निश्चयदर्शनका प्रयोजन—समस्त ये अध्यवसानादिक भाव जीव है ऐसा सिद्धान्त शास्त्रमें वर्णित है, सर्वज्ञदेव द्वारा प्रज्ञप्त है वह अभूतार्थनयका दर्शन है, व्यवहारनयका दर्शन है। यह बात यद्यपि अभूतार्थ है अर्थात् स्वयं सहज नहीं हुआ अर्थ है तो भी संसर्ग एवं सांसर्गिकता रूप व्यवहारके आशयसे तो ठीक है। यहाँ शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि है अतः वास्तवमें ठीक नहीं है अर्थात् उक्त परपदार्थ व परभाव जीव नहीं हैं। फिर भी व्यवहार तीर्थप्रवृत्तिके लिये दिखाना न्याययुक्त है, क्योंकि यद्यपि व्यवहारमें जो कहा गया वह अपरमार्थ है तथापि परमार्थका प्रतिपादक अवश्य है। हाँ, यदि कोई परमार्थ की प्रतिपादकता रूपसे व्यवहारका अर्थ न करे तो उसकी यह व्यवहारविमूढ़ता है। तथा जो व्यवहारको झूठ कहकर सर्वत्र भेद ही भेद देखे, जैसा कि परमार्थ दृष्टिमें परभावसे, भेद दिखा करता है, पर्याय दृष्टिमें भी देखे तो उसकी यह निश्चयविमूढता है। इस मान्यतामें क्या अनर्थ हो सकता है सो देखो—इसने ऐसा देखा कि जीवस्थान जितने हैं अर्थात् त्रस स्थावर ये सब, कोई जीव नहीं हैं। तब जीवका देहसे सम्बन्ध न मानने पर त्रस और स्थावरोंका राख धूलकी तरह निःशङ्क उपमर्दन किया जायगा, उससे किसी की हिंसा होगी नहीं, ऐसी स्वच्छन्दता हो जावेगी। इससे अनर्थ क्या होगा—(१) परहितके लिये तो यह अनर्थ होगा कि परजीव उस उपमर्दनादिके निमित्तसे संक्लेशसहित मरण करेगा और जो जितने विकासपदसे मरण करेगा उससे नीचेके स्थानमें जन्म लेगा, इस तरह वह मोक्षमार्गसे दूर होगा और नीच योनि, नीच कुल, नीच गतिमें जीवन रहनेसे दुःखी रहेगा। (२) खुद के लिये क्या अनर्थ होगा कि वह तो भेद ही भेद देख रहा और निःशङ्क प्राणिघात कर रहा है, और हिंसा भी न हो तो बन्धका भी अभाव हो जायेगा। अब देखो मोक्ष तो बद्ध का हो तो होता, सो बद्ध ये है नहीं तो मोक्षका उपाय क्यों किया जाय, लो इसी तरह

मोक्षका भी अभाव हो गया। लो, कल्याण मार्ग ही खतम हो गया है सर्वथा भेददर्शी तो राग, द्वेष, मोहसे जीवको सर्वथा भिन्न ही देख रहा, अब राग, द्वेष, मोहसे मुक्त होनेका उपाय ही क्यों होगा ? सो भैया ! व्यवहार व परमार्थको ठीक ठीक समझो, एकान्त दृष्टिमें लाभ नहीं है, हानि है। अतः व्यवहारकी बात व्यवहारमें सत्य मानकर उसका विरोध न करके मध्यस्थ होकर परमार्थ दृष्टिका अवलम्बन करके निस्तरङ्ग तत्त्वका निस्तरङ्ग अनुभव करो। भूतार्थदृष्टिसे चैतन्य स्वभाव ही जीव है तथा राग, द्वेष, मोहादि अध्यवसानों को जीव कहना व्यवहारका दर्शन है। भूतार्थ माने स्वयं ही होने वाला तत्त्व यह तत्त्व अनादि, अनन्त, स्थायी होता है। रागादि भाव मलिन भाव हैं। रागादि अभूतार्थ हैं। रागादि अभूतार्थदृष्टिसे कहे गये हैं। ये व्यवहार जीव हैं।

७५. अभूतार्थ होनेपर भी व्यवहारके कहनेका प्रयोजन—जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छोंको परमार्थ समझानेके लिए बोली जाती है वैसे अपरमार्थ परमार्थको बतानेके लिये कहा जाता है। व्यवहारका दर्शन धर्मकी प्रवृत्ति चलानेके लिये किया जाता है। यदि व्यवहार न हो तो एक बड़ा नुक्सान यह होता है कि धर्मप्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। केवल निश्चय ही एकान्त हो और व्यवहार बिल्कुल न मानो तो अर्थ यही हुआ कि शरीरसे जोव अत्यन्त न्यारा है तो जिस चाहे जीवकी हिंसा करते रहो, किसी तरहका कोई भय नहीं रहेगा। शरीरको कुचलते जाओ, जीव तो न्यारा है ही, अतः जोवका क्या बिगाड़ ? करते जाओ हिंसा, पाप नहीं लगेगा। व्यवहार न माननेसे यह स्वच्छन्द प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाएगी। राख मिट्टीकी तरह त्रसोंको लोग कुचलेंगे व्यवहार न माननेसे शरीरके हननसे जीवोंकी हिंसा न होनेसे बन्ध भी नहीं होगा। जब बन्ध नहीं हुआ तो मुक्त होनेकी क्या आवश्यकता है ? अतएव मोक्षका उपाय भी व्यर्थ है। जो व्यवहार जीव न माने, उसे मोक्षके उपायमें भी नहीं लगना चाहिए। क्योंकि उसकी दृष्टिमें शरीरके कुचलनेसे हिंसा नहीं होती है एवमेव अन्य पाप भी नहीं होते। क्योंकि वहाँ रागद्वेष जीवसे न्यारा है, फिर उससे छूटनेकी क्या जरूरत है ? मोक्षका उपाय न बननेसे मोक्ष भी नहीं रहता। इस प्रकार जिन ग्रन्थोंमें बताया गया कि त्रस जीव है, स्थावर जीव है, मुक्त जीव है, संसारी जीव है—यह भी धर्मको चलानेके लिये कहा गया है। निश्चयका जीव तो ज्ञानके कामका है कि उसे समझो। व्यवहार न याननेसे यह दोष आयेगा कि कोई ऐसी बुद्धि बनी रहे कि शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है तो शरीरको मानते जाओ, जीव उसकी दृष्टिमें मरेगा ही नहीं। जीव न मरनेसे फिर हिंसा किसकी ? जो व्यवहारको नहीं मानता उसको मोक्षका उपाय भी नहीं बन सकता है। और फिर यह भी कठिन होगा कि अपने बारेमें जीवपना कैसे स्वीकार किया जाय, ऐसा कि मैं चैतन्य मात्र जीव हूं। प्रश्न—पर्यायोंको जब

जीव रूपसे नहीं माना है, यहाँ स्वभावको जीव रूपसे माना है तब तो फिर त्रसादि जीव हैं, यह व्यवहार क्यों चला ? इसका उत्तर आचार्य महाराज दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

राया हु णिग्गदोत्ति य एसो वलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण हु उच्चइ तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥४७॥

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावणं ।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

७६. दृष्टान्तपूर्वक प्रकृत व्यवहार निश्चय प्रतिपादन—सेना समुदायके संबंध में ऐसा कथन होता है कि यह राजा जा रहा है, सो यह व्यवहारनयसे कहा जाता है। निश्चयसे देखो तो वहाँ एक ही राजा जा रहा है। बाकी तो सब सेनाके लोग हैं। इसी प्रकार अध्यवसानादि अन्य भावोंके सम्बन्धमें ऐसा कथन होता है कि यह जीव है सो सूत्र (सिद्धान्तशास्त्र) में व्यवहार किया गया है (व्यवहारनयसे ऐसा कहा गया है)। निश्चयसे देखो तो वह एक ही (अनाद्यनन्त एकस्वरूप) जीव निश्चित किया गया है। जैसे एक राजा सजधज करके सेनाके साथ जा रहा है। लोग उसको देखकर कहते हैं कि देखो, यह राजा १० कोसमें फैला हुआ गया है। लेकिन राजा तो एक ३–४ हाथका होगा, वह तो १० कोसमें फैल नहीं सकता है। परन्तु व्यवहारमें कहते हैं कि यह राजा १० कोसमें फैल करके जा रहा है। राजा तो एक पुरुष मात्र है, मगर राजाका सेनाके साथ सम्बन्ध है अतः राजा को १० कोसमें फैलकर चलनेवाला बताया जाता है। इसी प्रकार जीव तो एक है। वह नाना परिणतियोंमें जाता है, अतः जिन-जिन पर्यायोंमें से वह गुजरता है, उन उन पर्यायोंको भी व्यवहारमें जीव कहने लग गये है। अतः पर्यायोंमें जीवका उपचार किया जाता है। देखो जितनी पर्यायें हैं, उतने जीव नहीं हैं, क्योंकि जीव तो नाना पर्यायोंमें क्रम-क्रमसे जाता है। जीव तो वास्तवमें उन अनुगत पर्यायोंमें एक है, वह नाना पर्यायोंमें चलता रहता है। हम जीव एक हैं, मनुष्य तिर्यंच देवादि नाना पर्यायोंमें क्रम क्रमसे जाते हैं। नाना पर्यायोंमें जाना जीव तो नहीं हुआ। जीव यद्यपि एक है, चैतन्यमात्र है, तथापि रागादि जो अनेक परिणमन हैं, वह उनमें व्याप्त हो गया है। वस्तुतः जीवका जैसा स्वरूप माना, वैसा है, जीवका स्वरूप रागादिमें व्याप्त नहीं है, फिर भी व्यवहारी जन रागादि भावोंमें जीव मानते हैं।

७७. आनन्दधाम अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे आनन्द लाभ—देखो, आत्मामें आनन्द भरा है, जिस आनन्दको आश्रय करके जीव अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होता है। धनके उपार्जनसे आकुलता ही मिलती है। धनको चोर, डाकू लूट ले जायेंगे, २४ घण्टे इसीका भय

बना रहता है। बाह्य जितने भी पदार्थ हैं उनमें आत्मबुद्धि जानेसे जीवको अनाकुलता नहीं मिलती है। वास्तवमें देखा जाये तो शरीर मैं नहीं हूं। जैसे जीवके निकलनेपर शवमात्र रह जाता है, ऐसा ही तो यह शरीर है। जिस कालमें शरीरमें जीव रह रहा है, तब भी शरीर जीव नहीं है। शरीरसे मैं जुदा हूं। शरीर मेरेसे जुदा है। इस आत्मामें रूप नहीं है, स्पर्श नहीं है, रस नहीं है, गन्ध नहीं है, शब्द नहीं है। यह आत्मा पकड़नेपर नहीं पकड़ा जाता है। यह आत्मा ज्ञान द्वारा समझमें आता है। जीवका सीधा साधा लक्षण यह है कि जो जानता है, सो जीव है। जीव अखण्ड है। यह जीव अपने गुण, पर्यायोंमें रत है। इसका परिणमन इसमें ही होता है। आत्माका परिणमन इससे बाहर नहीं हो सकता है। इसे दुनियाके लोग पहिचान नहीं सकते हैं। लोग जिसे देखते हैं, वह मैं आत्मा नहीं हूं। मैं तो चैतन्यमात्र हूं, इस प्रकारकी भावनासे परके विकल्प दूर हो जाते हैं, इन विकल्पोंके हटनेसे आनन्द प्राप्त होता है। इस निर्विकल्प दशासे जो आनन्द प्राप्त होता है, ऐसा आनन्द कुछ भी किया जाये, अन्यत्र नहीं मिल सकता है।

७८. **अध्यवसानादिमें जीवत्वव्यवहारके दर्शनका दृष्टान्त**—व्यवहारनय किस तरह निरूपण करता है और निश्चयनय किस तरह उससे हटा हुआ है? इस विषयमें दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे कोई बड़ा राजा अपनी बड़ी सेना सजाकर बड़े ठाठसे जा रहा है तो देखने वाले लोग कहते हैं कि आज तो राजा बीस कोशमें फैला हुआ जा रहा है। अथवा जितने भी उसके परिकर हैं उतने में फैला हुआ जा रहा है. तो यह तो बतलावो कि क्या राजा २० कोशका लम्बा चौड़ा है जो कि २० कोशमें फैला हुआ जा रहा है? राजा तो वही साड़े तीन हाथका लम्बा है पर उसका जो ठाठ है, जो कि राजाके साथ चलता है, राजासे सम्बंधित है, उस परिकरमें राजाके सम्बन्धके कारण राजाका व्यपदेश किया गया है, इसी प्रकार इन सबको जीव कहते हैं। जीव इन सबमें व्याप्त है, फैला हुआ है। मनुष्य भी जीव, पशु भी जीव, पक्षी भी जीव, जितने ये भाव हैं उन भावोंको देखकर और उसमें जितने रागादिक भाव उठ रहे हैं उन रागादिक भावोंको निरखकर कहते हैं कि ये सारे अध्यवसान विकल्प इसमें फैलकर प्रवृत्ति कर रहा है, जा रहा है, मगर यह तो बतलावो कि परमार्थभूत जो कुछ भी एक जीव जिसका चैतन्यसे ही सम्बंध है, जो चैतन्यात्मक हो सो जीव। वह जीव क्या इन रागादिकभावोंमें फैलकर रह रहा? थोड़ा दृष्टान्त में एक चीज लीजिये। एक दर्पण है, दर्पणमें सामनेके मनुष्योंकी फोटो पड़ी, छाया हुई तो छायामें क्या स्वच्छता व्याप्त रही है? स्वच्छताका स्वरूप देखना है, तन्मात्र दर्पणको समझना है तो स्वच्छतासे छाया न्यारी मालूम होती है। देखिये—उस स्वच्छताकी वजहसे छायारूप परिणमन हुआ अथवा व स्वच्छता वहाँ तिरोभूत हुई, स्वच्छताका स्वच्छतारूप

में स्वाभाविक परिणमन नहीं रहा, छायारूपसे विभावपरिणमन हो गया, तिसपर भी बुद्धि यह कहती हैं कि छाया स्वच्छतासे निराली चीज है। दर्पण तो स्वच्छतामात्र है, इसी प्रकार आत्मामें उपाधिके सम्बन्धसे रागद्वेषादिक नाना अध्यवसान चल रहे हैं तिसपर भी चूँकि आत्मा चैतन्यस्वरूप है, इन रागादिकोंसे चेतन नहीं नजर आता। लगता ऐसा है कि जिस समय राग अथवा द्वेषरूप परिणमन करते हैं तो साथ ही साथ होश चेतना चैतन्य ज्ञान यह भी बना हुआ है। ज्ञानके बिना राग क्या लेकिन जब स्वरूपपर दृष्टि डालते हैं। रागका स्वरूप क्या है, चैतन्यका स्वरूप क्या है ? वे दोनों एकाधिकरण हैं इस कारण सब कुछ ठीकसा जँच रहा है, लेकिन रागभाव चैतन्यभावसे निराला है। चैतन्यका चेतन काम है, रागादिकका रज्जमानता काम है। तो व्यवहारसे ही यह कहा जाता कि यह चेतन रागादि भावोंको व्याप कर रह रहा है। वस्तुत: वह तो स्वभावमात्र है। यह जीव नहीं है, तब फिर जीव क्या है ? उसके उत्तरमें अगला श्लोक कहते हैं।

७९. परमार्थमें पहुँचनेका उपाय—हम परमार्थमें कैसे पहुंचें, इसके लिये उपाय व्यवहार है। जैसे व्यवहारसे सेनाको राजा कह देते हैं, उसी प्रकार इन रागादिको भी व्यवहारमें जीव कह देते हैं। परमार्थसे जीव एक ही है। देखो जैसे व्यवहारी जन किसी सम्बन्धके कारण सेना समुदायमें "यह राजा है" ऐसा व्यवहार करते हैं। परमार्थसे तो राजा एक ही है। इसी प्रकार व्यवहारी जन किसी सम्बन्धके कारण अध्यवसानादि अन्य भावोंमें "यह जीव है" ऐसा व्यवहार करते हैं। परमार्थसे तो जीवकी जितनी पर्यायें हैं वे जीव हों तो जीव अनेक हो गये। यहाँ अनन्त जीवोंको एक होनेका दोष नहीं दिया जा रहा है किन्तु किसी भी एक जीवके बारेमें विचार करो, उस जीवकी भूत भविष्य, वर्तमान सम्बन्धी अनन्त पर्यायें हैं वे यदि जीव हों तो जीव अनेक हो जावेंगे। उनमें एक जीव तो रहा नहीं, फिर तो असत्का उत्पाद सत्का विनाश, व्यवहारका लोप, मोक्षमार्गका लोप आदि सभी विडम्बनायें प्रस्तुत होंगी, जो कि हैं नहीं। अत: व्यवहारको असत्य न समझो, किन्तु व्यवहारका विषय जानकर उसमें मध्यस्थ होकर परमार्थतत्त्वका आश्रय लो। यथार्थ ज्ञान होनेपर सब समझमें आ जाता है। विज्ञेष्वलमधिकेन। अब पूछते हैं कि परमार्थमें एक ही जीव है तो यह किस लक्षण वाला है ? इसका उत्तर आचार्य इस गाथा द्वारा देते हैं:—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४९॥

८०. जीवका लक्षण और अविद्यमानरसगुणत्व—जीवको रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त (स्पर्शरहित), शब्दरहित चेतना गुण वाला, अलिङ्गग्रहण (जिसका किसी लिङ्ग, साधन व चिन्हसे ग्रहण नहीं होता) व अनिर्दिष्ट संस्थान (जिसका स्वभावत: कोई

आकार निर्दिष्ट नहीं है) जानो। जीव रसरहित है। जीव द्रव्येन्द्रियके द्वारा भी रसका रसन नहीं करता है। जीव भावेन्द्रियके द्वारा रस गहण नहीं करता है। जीव जानता है, केवल वह रसको ही नहीं जानता है। जीव रूपादिक, ज्ञानादिक गुण व उसकी अनेक पर्यायोंको जानता है। जीव रसको जानता है, फिर भी जीवमें और रसमें तादात्म्य नहीं हो जाता है। इन सब बातोंके कारण जीव रससे रहित है। जैसे हमने भोजन किया। भोजन करनेसे हमें रस आया। परन्तु वह भोजनका रस भोजनमें ही रहेगा। भोजनका रस आत्मामें नहीं जा सकता है। जैसे आम खानेमें स्वाद आया। उस स्वादमें है आत्मा की आसक्ति, अतः हम कह देते हैं कि आमका स्वाद हममें आया, निश्चयसे रस मुझमें नहीं। रस गुणका तादात्म्य पुद्गल द्रव्यमें है वह आत्माका कुछ नहीं हो सकता। इस अमूर्त आत्माका काम दर्शन, ज्ञान, चारित्रका परिणमन है। अमूर्त तो आत्मा अनादिसे अनन्त काल तक है, ऐसा नहीं कि जीव सिद्ध होनेपर ही अमूर्त होता हो। आत्मामें कर्म-बंध होनेके कारण जीवको उपचारसे मूर्त भी कह दिया है। आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रका पुञ्ज है। जिसके रागबुद्धि न हो उसे रंच भी दुःख नहीं होता। शरीरमें राग होनेसे आत्मा दुखी रहता है। जैसे व्यवहारमें कहते हैं कि उसे भूख लगी है। परन्तु भूख को हाथमें लेकर या किसी भी प्रकार दिखाया नहीं जा सकता है। 'भूख' बुभुक्षा' से बना है। भोक्तुमिच्छति बुभुक्षा। अर्थात् खानेकी इच्छाको भूख कहते हैं। शरीरमें राग है, तभी तो भूख लगती है। जीवको भूख तो लग सकती है, परन्तु जीव खा नहीं सकता है। भूख तो आत्माका परिणमन है। भूख शरीरका भी परिणमन नहीं है। वस्तुतः आत्माका भी परिणमन नहीं है। खानेसे भूख इसलिए शान्त होती है कि खानेकी इच्छा मिट जाती है। खानेकी इच्छा मिटनेसे भूख शान्त होती है। वह शान्ति किसी को खाने के निमित्तसे आवे या बिना खाये आवे। बड़े-बड़े योगी बिना खाये ही इच्छा शान्त कर लेते हैं। यदि सम्पूर्ण इच्छाएं शान्त हो जायें तो केवलज्ञान हो जाता है। परन्तु आजकल इच्छा ही किसी की शान्त नहीं होती है। भूखकी शान्ति इच्छाके ही मिटनेसे होती है। अतः खाना जीवका काम नहीं है। हाँ, भूख लगना जीवका काम है। यह विभाव है। कोई बिना खाये ही इच्छा शान्त कर लेते हैं। कोई खा करके इच्छा शान्त करते हैं। इच्छा मिटनेका नाम ही भूखका मिटना है। भूखका अर्थ खानेकी इच्छा है। जीवका लक्षण बताया जा रहा है कि जीव वह है, जिसमें रूप-रस-गंध-स्पर्श नहीं है, परन्तु जीवमें चैतन्यगुण है। इसकी और भी विशेषतायें बताई जायेंगी। आत्मामें रस नहीं है, इसको छह ढंगसे बताया गया है:—

८१. आत्माके रस गुणत्वका अभाव—आत्मामें रस गुण नहीं है, रस गुण पुद्गल

में होता है, आत्मा पुद्गलसे जुदा है। कोई यह कहे कि आत्मामें रस गुण नहीं है, यह तो हम भी मानते हैं, परन्तु आत्मा स्वयं रस गुण है। आचार्य कहते हैं कि नहीं, आत्मा स्वयं रस गुण भी नहीं है, क्योंकि रस गुण पुद्गलका तत्त्व है। पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न होनेसे आत्मा स्वयं रस भी नहीं है। प्रश्न:—अनुभवरस भी तो रस है फिर कैसे रससे जुदा है? उत्तर—आनन्द गुणकी ३ पर्याय हैं:—१—सुख, २—दुख, और ३—आनन्द। 'ख' इन्द्रिय को कहते हैं। जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे, उसे सुख कहते हैं और जो इन्द्रियोंको न रुचे, उसे दु:ख कहते हैं। आ समन्तात् आत्मानं नन्दतीत्यानन्द:। अर्थात् जो चारों ओरसे आत्माको समृद्ध करे, उसे आनन्द कहते हैं। 'टुनदि समृद्धौ' धातु है। अत: आनन्द आत्मा को समृद्ध करने वाला है। इस संसारमें सुख दु:ख दोनों चल रहे हैं। अर्थात् सुख और दु:ख दोनों ही संसारके कारण हैं। आनन्द संसारमें नहीं है। कहीं कहीं पर आचार्योंने आनन्दका भी सुख नामसे निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि आचार्योंका उद्देश्य अज्ञानियोंको सरलसे सरल भाषामें समझानेका रहा है। अत: आचार्योंने आनन्दको 'सुख' नामसे निर्दिष्ट किया है, क्योंकि संसारी जीवोंका सुखसे अधिक परिचय है। आनन्द पर्याय भगवान केवलीके पाया जाता है। जब भगवान् केवलीके इन्द्रियाँ ही नहीं होती हैं तो उनकी इन्द्रियोंको सुहावना ही क्या लगेगा? अत: भगवान्में अनन्त आनन्द है। ऐसे ही आनन्दोंको अनुभव रस शब्दसे कह दिया जाता है। यहाँ प्रकरण उस रसका है जिसका काला, पीला, नीला, लाल सफेद परिणमन होता है।

८२. परमार्थत: द्रव्येन्द्रियके द्वारा रसन न होनेसे आत्माकी अरसता—कोई यह कहे कि आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा रसका रसन करता है। अत: आत्मा रसवान है। उत्तर में कहते है कि आत्मा रसनेन्द्रियके द्वारा रसता ही नहीं है। द्रव्येन्द्रिय पुद्गल द्रव्यका परिणमन है। आत्मा पुद्गल द्रव्यका स्वामी नहीं है। तब आत्मा जो करेगा वह अनात्मा के द्वारा कैसे करेगा? आत्मा रसज्ञान ज्ञानके द्वारा ही करता। स्वादना, देखना, सूंघना, सुनना सब ज्ञान ही तो हैं। आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा नहीं रसता। अत: आत्मा द्रव्येन्द्रिय के द्वारा रसनेसे रसवान है, यह युक्त नहीं है। आत्मा अरस ही है। भैया! जो कुछ यह दिख रहा है शरीरमें, यह सब स्पर्शन इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियाँ हैं, किन्तु वे व्यक्त नहीं हैं। क्योंकि स्पर्शनेन्द्रियका ज्ञान तो छूकर जानकर अथवा देखकर हो सकता है, परन्तु शेष चार इन्द्रियाँ (रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) अव्यक्त हैं। स्पर्शनेन्द्रिय व्यक्त है। जो बताओगे कि यह रसना है यह घ्राण है, यह चक्षु है अथवा यह कर्ण है, वह सब स्पर्शनेन्द्रिय हैं। रसना इन्द्रिय कहाँसे स्वाद लेती है, पता नहीं चलता, क्योंकि वह अव्यक्त है। घ्राण इन्द्रिय कहाँसे गंध ग्रहण करती है, पता नहीं चलता है, क्योंकि ये सब इंद्रियां अव्यक्त हैं।

दिखने वाले स्पर्शनोंके अंदर कुछ ऐसी क्वालिटी है कि उसको निमित्त पाकर जीव चखता, सूंघता, देखता और सुनता है। वे स्पर्शन से भिन्न हैं, अतः अन्य इन्द्रियाँ हैं। आचार्य कहते हैं कि यह आत्मा अरस है, अगन्ध है, अदृश्य है और अशब्द है। इस पुद्गल द्रव्यका मालिक जीव नहीं है। जो जिसका स्व है, वही उसका स्वामी है। शरीरका स्वामी शरीर है, परमाणुका स्वामी प्रत्येक परमाणु है। क्योंकि प्रत्येक परमाणुके प्रदेश गुण पर्याय दूसरोंसे न्यारे-न्यारे हैं। इस प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कैसे स्वामी बन सकता है ? अतः आत्मा द्रव्येन्द्रियोंके द्वारा भी रसन नहीं करता है। सत्पाय जीव है तो निमित्त-नैमित्तिक भावके कारण उसका शरीर स्वयमेव बन जाता है, अन्य कोई इसका आविष्कार नहीं करता है। जीभ, नाक, आंख आदि निमित्तनैमित्तिकतासे बन जाते हैं। इस जीभके पीछे ही सारे झगड़े फिसाद होते हैं। पता नहीं, इस जीभमें कहाँसे रस ग्रहण होता है और कैसे स्वाद आ जाता है ? जीभके अग्रिम भागसे ही स्वाद आता है। वहाँ भी स्पर्शन है और वहीं अव्यक्त रसनाइन्द्रिय है। यह जीव पुद्गल द्रव्यका स्वामी नहीं है। अतः यह भी मत कहो कि यह जीव रसनेन्द्रियके द्वारा स्वाद लेता है।

८३. स्वभावतः भावेन्द्रिय द्वारा रसन न होनेसे आत्माकी अरसता—अब फिरसे जिज्ञासु कहता है कि अच्छा, यह जीव रसनेन्द्रियके द्वारा स्वाद नहीं लेता है, न सही, परन्तु यह भावेन्द्रियोंके द्वारा तो रस ग्रहण करता है। इन्द्रियोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है, उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। यह आत्मा भावेन्द्रियके द्वारा तो रसज्ञान करता है ? तो कहते हैं कि यह आत्मा स्वभावतः भावेन्द्रियोंके द्वारा भी रस ग्रहण नहीं करता है। जीवका लक्षण वही हो सकता है, जो जीवमें अनादिसे अनन्तकाल तक पाया जाये। जीवमें हमेशा रहने वाला चैतन्य स्वभाव है। चैतन्य गुण जीवमें त्रिकाल रहता है। आत्मामें स्वभावसे क्षायोपशमिक भावका अभाव है। अतः यह आत्मा निश्चयतः भावरसनेन्द्रियके द्वारा भी रस ग्रहण नहीं करता है। अतः स्वभावतः अरस है।

८४. केवल रसवेदनापरिणामापन्न रूपसे रसन न होनेसे आत्माकी अरसता—जिज्ञासु पुनः पूछता है कि आत्मामें क्षायोपशमिक भावका अभाव है, अतः आत्माको अरस मान लिया, परन्तु आत्मा किसी प्रकार भी जानता हो, आखिर जानता तो है। अतः आत्मा रसवाला कहलाया। उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि नहीं। केवल यह आत्मा रसको तो नहीं जानता है अनेक ज्ञेयोंका साधारण संवेदन करता है यह। अतः यह आत्मा रसवाला नहीं है।

स्वयं रसरूपसे अपरिणमन होनेसे आत्माकी अरसता— इस पर जिज्ञासु एक आखिरी जिज्ञासा प्रकट करता है कि यह आत्मा रसको जानता है, इतनेसे नहीं है तो न

होओ, किन्तु यह तो रसके ज्ञानसे आत्मा रसवान परिणत हो जाता है, तन्मय हो जाता है। अतः रसवाला कहो। उत्तर—यह आत्मा रसके ज्ञानमें परिणत तो होता है, परन्तु ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है और ज्ञायक ज्ञायक ही रहता है। ज्ञेय ज्ञायक नहीं हो सकता है तथा ज्ञायक ज्ञेय नहीं हो सकता है। जैसे आगके जाननेसे आत्मा गर्म नहीं होता है। छुरीके जाननेसे आत्मा कट नहीं जाता है। जैसे मिठाईका स्मरण करनेसे मुंहमें पानी आ जाता है, परन्तु उसका स्मरण करनेसे आत्मामें रस नहीं पहुंच जाता है। जैसा आत्मा ख्याल बनाता है, वैसा ही अनुभव करता है। मिठाईको भी यदि जीभपर रखो, तभी अनुभव ज्ञान का ही होता है। रसका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होता है। इसको निमित्त पाकर आत्मा रस को जानता है। रसको आत्मा जानता है, अतएव रसका आत्मासे तादात्म्य हो जाता हो, ऐसा नहीं है। जैसे पुस्तकपर उजेला पड़ रहा है, यह उजेला पुस्तकका ही है, बिजलीका नहीं है। बिजलीका प्रकाश उसकी लौ से बाहर नहीं है। पुस्तकपर जो प्रकाश पड़ा है, वह पुस्तकका ही है। क्योंकि पुस्तकका परिणमन पुस्तकमें ही है, बिजलीका परिणमन बिजलीमें ही हो रहा है। फिर बिजलीका प्रकाश पुस्तकपर कैसे पड़ सकता है? हाँ, बिजलीको निमित्त पाकर यह पुस्तक स्वयं प्रकाशयुक्त हो गई। इसी प्रकार आत्मा अपने को ही जानता है। आत्मा विश्वके आकार रूप परिणत स्वयंको ही जान रहा है। आत्मा विश्वको जान ही नहीं सकता है। हाँ, विश्वके आकाररूप परिणत आत्माको आत्मा स्वयं जान रहा है। जैसे बिजलीका निमित्त पाकर उसके पासका परमाणु स्कंध प्रकाशमान है। बिजलीका निमित्त पाकर जिस परमाणु-स्कन्धके जितने प्रकाशकी योग्यता है, उस ही योग्यताके मुआफिक वह स्कन्ध अपनी योग्यता प्रकट करता है। सूर्यको निमित्त पाकर पास के परमाणु-स्कन्ध स्वयं प्रकाशरूप परिणत हो जाते हैं। सूर्यके उन परमाणुओंके किरणें नहीं हैं, किरणें आँखने स्वयं देखनेकी पद्धतिमें बनाई हैं। आँखके देखनेका जो मार्ग है, उस उस रास्तेमें आने वाले उसको स्कन्ध दिखाई देते हैं, जो कि स्वयं प्रकाशमान हैं। वे स्कन्ध उसको चमकते दिखाई देनेके कारण किरण मालूम पड़ते हैं। दृष्टि दो तरहकी होती है— १–व्यवहार और २–निश्चय। वस्तुकी चीज उसी वस्तुमें बताई जाये उसे निश्चयदृष्टि कहते हैं और वस्तुकी चीज उस वस्तुसे बाहर बताई जाये, उसे व्यवहारदृष्टि कहते हैं। एक द्रव्यकी चीजें यदि दूसरे द्रव्यमें पहुंच जायें तो द्रव्यका ही अभाव हो जायेगा। अतः एक द्रव्यकी चीज दूसरे द्रव्यमें पहुँच ही नहीं सकती है। आत्मा रसके ज्ञानमें परिणत है रस ज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है। ज्ञेय ज्ञायक नहीं हो सकता है और कभी भी ज्ञायक ज्ञेय नहीं हो सकता है। अतः आत्मा रसवाला नहीं हो सकता है। इस प्रकार आत्मा अरस है, यह सिद्ध हुआ।

८५. आत्मामें रूप गुणवत्ताका अभाव—काला-पीला-नीला-लाल और सफेद ये रूप की पर्याय भी आत्मामें नहीं हैं। इनका आधारभूत रूप भी आत्मामें नहीं है। आत्मा सम्पूर्ण विश्वका जानने देखने वाला है। जिस तरह आत्माको छः प्रकारसे अरस सिद्ध किया, उसी प्रकार छः ढंगसे ही आत्माको अरूप बताते हैं। आत्मामें रूप नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है। आत्मा पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है, यह बात विचार करनेमें, विकल्प छोड़नेसे अपने आप समझमें आ जाती है। समझमें आता है कि शरीरसे आत्मा पृथक् है। आत्मा पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है, अतः इसमें रूप नहीं है। क्योंकि रूपादि पुद्गल के गुण हैं। ये गुण पुद्गलके बाहर नहीं पाये जाते हैं, पुद्गलमें ही पाये जाते हैं। मूर्तपना तो जीवका लक्षण नहीं है। जीवका लक्षण तो अमूर्तपना भी नहीं है क्योंकि उस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष है। जीवका लक्षण तो चैतन्य गुण है। किन्तु जहाँपर जीवकी अनेक विशेषताएं बताई जा रही हैं, उसमें यह बात भी बता दी जाती है कि जीव अमूर्त है। लक्षण तो समस्त दोषोंसे रहित होता है। निर्दोष लक्षण जीवका चैतन्य है।

८६. आत्माके रूप गुणत्वका अभाव—कहते हैं कि आत्मामें रूप गुण नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं रूप नहीं है। आत्मा स्वयं रूप गुण नहीं है और आत्मा रूप भी नहीं है। रूप गुण जिसकी पर्याय काला-पीला-नीला-लाल-सफेद होती हैं, उसे कहते हैं। पाँचों पर्यायोंमें रहने वाले गुणको रूपगुण कहते हैं। जैसे आम है, आममें अनेक रूप होते हैं। जिस समय आम छोटा होता है, उस समय काला होता है, उससे कुछ बड़ा हो जानेपर कहते हैं कि आम नीला हो गया है, फिर हरा। बड़ा होने पर पीला-लाल और सड़ जाने पर सफेद रंग हो जाता है। जिस समय आम कालासे नीला होता है, उस समय कहते हैं आम नीला हो गया है। रूप गुण सभी अवस्थाओंमें रहा, जिस समय आम काला नीला-पीला-लाल-सफेद था; सभी अवस्थाओंमें आममें रूप गुण विद्यमान था। जो रूप गुण समस्त रूपकी पर्यायोंमें रहता है, उसे रूप गुण कहते हैं। रूप गुणकी पर्यायें काला पीला-नीला-सफेद-लाल हैं। आत्मा स्वयं रूप गुण नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे न्यारा है। आत्मा पुद्गल द्रव्य नहीं है, अतः आत्मा स्वयं रूप भी नहीं है। पुद्गलद्रव्यके गुण पुद्गल द्रव्यको छोड़कर बाहर नहीं जा सकते हैं तो फिर आत्मामें रूप गुण कैसे आ सकता है? पदार्थ अपने प्रदेश, गुण, पर्याय रूप रहता है। रूप गुण पुद्गल द्रव्यमें ही पाया जाता है, आत्मामें नहीं पाया जाता, अतः न आत्मा स्वयं रूप है। आत्माका रूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आत्मा अरूप है। अरूप माने रूप वाला नहीं, आत्मा स्वयं रूप नहीं है, रूपसे भी रहित है।

८७. परमार्थतः द्रव्येन्द्रियके द्वारा रूपण न होनेसे आत्माकी अरूपता—जिज्ञासु

तीसरी बात पूछता है कि तुम कहते हो कि रूपके साथ आत्माका कोई सम्बंध नहीं है। हम कहते हैं कि बड़ा भारी सम्बन्ध है। द्रव्येन्द्रियके द्वारा यह सारी दुनिया देखी जा रही है, अतः आत्माका रूपके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तर—आत्माका पुद्गल द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः आत्मामें रूप नहीं है, न आत्मा द्रव्येन्द्रियके द्वारा विषय करता है। परपदार्थोंके साथ पुद्गल द्रव्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे इस आँखकी कमजोरीमें कुछ ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि हम चश्मेके द्वारा देख पाते हैं। वास्तवमें चश्मेके द्वारा हम कोई चीज नहीं देखते हैं। देखनेका अर्थ है रूपका ज्ञान। आत्मा चक्षु इन्द्रियके द्वारा नहीं देखता है, किन्तु आत्मा आत्माके द्वारा ही जानता कि इसमें यह रूप है। हाँ, इस आत्माके जाननेमें चक्षु इन्द्रिय निमित्त है। परन्तु देखता है आत्मा ज्ञानके द्वारा ही। जैसे हम लोकमें कहते हैं कि हमने चक्षु इन्द्रियसे रूप देखा, कानसे आवाज सुनी, नाकसे फूल सूंघा, जीभसे आम चखा आदि, परंतु हम इन्द्रियोंके निमित्तसे जानते मात्र हैं। परमार्थसे आत्मा इन्द्रियोंसे नहीं जानता है। परन्तु इन्द्रियाँ आत्माके जाननेमें निमित्त कारण हैं। व्यवहारमें कोई निमित्त होता है फिर भी द्रव्यस्वभाव पृथक् पृथक् है। व्यवहार की बात व्यवहारसे देखो। यों तो भैया! निश्चयकी बात भी निश्चयसे देख पावोगे। यह सुनिश्चित है कि सब लोगोंका धर्म मूर्ति-मान्यतापर टिका हुआ है। मूर्तिके माने बिना किसी का धर्म नहीं रह सकता है। प्रत्येक धर्म वाले मूर्तिको मानते हैं। कुछ लोग जो मूर्तिको नहीं मानते हैं, उनका धर्म भी मूर्तिमान्यतापर आधारित है। कुछ लोग मूर्तिको नहीं मानते हैं, परन्तु जब तक मूर्ति वाले रहेंगे और वे जब तक मूर्तिका खण्डन करेंगे, तभी तक उनका धर्म हो सकेगा। यदि कोई भी मूर्ति न मानें तो फिर वे किसका खण्डन करेंगे। यदि हम लोग मूर्तिको मान्यता न दें, फिर वे किसका खण्डन करेंगे और खण्डन नहीं करेंगे तो फिर उनका धर्म ही क्या रहा? कोई मूर्तिका खण्डन करके अपना धर्म चलाता है, कोई मूर्तिका खण्डन करके अपना धर्म प्रवर्तन करता है। अतः मूर्ति मान्यताके बिना धर्म नहीं चलता है। रहो यह व्यवहार, फिर भी सबके विकल्प उनके प्रत्येकमें हैं। द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा देखता नहीं है, ऐसा कहकर भी आत्माके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध मत जोड़ो। द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा जानता नहीं है। अतः आत्मासे इन्द्रियोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः आत्मा अरूप है।

८८. **स्वभावतः भावेन्द्रियके द्वारा देखना न होनेसे आत्माकी अरूपता**—चौथी बात जिज्ञासु पूछता है कि आत्मा भावेन्द्रियके द्वारा तो जानता है? जाननेकी योग्यता-शक्ति है, उस योग्यताको जो काममें लाना है उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। चूंकि आत्मा भावेन्द्रियोंके द्वारा रूप जानता है, इस दृष्टिसे तो आत्माका और रूपका सम्बन्ध है। उत्तर:—वह जो क्षायोपशमिक भाव है, उसे भावेन्द्रिय कहते हैं। स्वभावसे आत्मा क्षायोपशमिक भाव नहीं हैं।

अतः आत्म भावेन्द्रियके अवलम्बनसे स्वभावसे यह रूपज्ञान नहीं करता है। आत्मा स्वभाव से ऐसा जाने तो हम रूप और आत्माका सम्बन्ध मानें, इसपर विचार करें। अतः आत्मा अरूप है। क्षायोपशमिक भाव स्वभावसे उत्पन्न नहीं होता है। क्षायोपशमिक भाव कर्मोंके क्षायोपशमसे उत्पन्न होता है। ज्ञान जितना भी प्रकट है, वह आत्माके स्वभावसे ही प्रकट है। क्षायिक भाव भी निमित्तताके कारण स्वभाव भाव नहीं है। इस निमित्तदृष्टिको भी हटाकर देखो, जो जानना है वह स्वभावभाव है। पहले समयमें उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान नैमित्तिक भाव है और दूसरे आदि समयमें उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान अनैमित्तिक भाव है। केवलज्ञान ज्ञानका पूर्ण विकास है। स्वभावसे क्षायोपशमिक भाव नहीं होता है, अतः आत्माका रूपके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

८९. केवल रूपवेदनापरिणामापन्न रूपसे देखना न होनेसे आत्माकी अरूपता—अब जिज्ञासु फिर कहता है कि आत्मा रूपको जानता तो है, अतः आत्माका रूपके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध अवश्य है। कहते हैं कि रूपका जानना साधारण संवेदन है। ज्ञान गुणकी सामान्य व्यवस्था है कि वह इतने जाने मात्रसे आत्माका रूपके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ।

९०. स्वयंरूप रूपसे अपरिणत होनेसे आत्माकी अरूपता—जिज्ञासु अब छठवें ढंगसे कहता है कि आत्मा रूपको जानता है, इतनी ही बात नहीं, इससे तो रूपका कुछ न्यारापन ज्ञात होता है, परन्तु रूपज्ञानमें आत्मा उस रूपज्ञेयाकार ग्रहणमें तन्मय है। इस कारण आत्मा अब तो रूपज्ञान वाला है। रूप ग्रहणमें आत्मा रूपपरिणत है, अतः आत्माका रूपके साथ सम्बन्ध है। उत्तर:—भाई, समस्त ज्ञेय और ज्ञायकका तादात्म्य कभी नहीं होता है। ज्ञेय ज्ञेय रहता है, ज्ञायक ज्ञायक। ज्ञेय ज्ञायक रूप नहीं हो जाता और ज्ञायक ज्ञेय रूप नहीं परिणाम जाता है। अतः रूपके ज्ञानमें परिणत होनेपर भी आत्मा रूप रूपमें परिणत नहीं हो गया है। ज्ञेय ज्ञायकके तादात्म्य सम्बन्धका अत्यन्ताभाव है। अतः आत्मा अरूप है। ज्ञेयभूत अर्थका ज्ञायकमें अत्यन्ताभाव है, अतः उन सभी ज्ञेयभूतोंसे ज्ञायक जुदा है, फिर आत्मा अरूप कैसे न होगा? जो कुछ यह बताया, यह सब अपने संवेदसे ज्ञात है, ऐसा ज्ञात होने वाला आत्मा स्वयं ज्ञायक है। जब भी शान्ति मिलेगी, इस आत्माकी शरणमें ही मिलेगी। अतः अपने आत्माके उपादानके लिए स्वयं आत्मा बड़ा है। आपका बड़ा भाग्य है जो वस्तुस्वरूपकी स्वतन्त्रता जान रहे हैं। आपका कोई कितना ही बड़ा हितैषी क्यों न हो, वह आपका कुछ नहीं करता है। आपके पुण्यका असर है, अतः वह आपकी सेवामें निमित्त है। हम कहीं भी किसी अवस्थामें क्यों न हों, चाहे कहीं क्यों न भटक आये हों अन्तमें यही समझमें आयेगा कि अपने लिये मैं आत्मा स्वयं बड़ा हूं। इस प्रकार आत्मा अरूप सिद्ध है।

६१. निर्विकल्प चिद्घन आत्मस्वरूपकी उपासना का अनुरोध—जिस आत्माके विषयमें वर्णन चल रहा है कि आत्मा अरूप है, अरस है आदि—वह आत्मा देहमें बस रहा है, देहके प्रत्येक प्रदेशमें रह रहा है फिर भी परमसमाधिके बिना, निर्विकल्प स्थिति के बिना छोटे क्या, बड़े बड़े हर हरि आदिक भी उसे नहीं जान पाते हैं। हरि नारायणको कहते हैं। जो नारायण हुए हैं, वे सब जिनेन्द्र-भक्त थे, उन्होंने प्रयत्न भर खूब उपाय किया, फिर भी परमसमाधिके बिना वे इस आत्मरतिको न पा सके। परन्तु नारायणको सम्यक्त्व हो चुका था, वे इस रत्नत्रय उपाय द्वारा शीघ्र परमात्मस्वरूपमें होंगे। हरका मुख्य लक्ष्य लोगोंका महादेवसे है। महादेव जी एक दिगम्बर मुनि थे। उन्होंने पहले खूब तपस्यायें कीं। तपके प्रभावसे वे ११ अंग और ९ पूर्व विद्याओंके पाठी भी हो गये। १० वें पूर्वके प्रगट होने पर इन्हें सब विद्याओंने आ घेरा। उन्होंने कहा कि महाराज आप जो भी हमारे योग्य कार्य कहेंगे, हम उस कार्यको पूर्ण कर देंगी। फलतः महादेव जी अपनी निर्विकल्प उपासनासे निवृत्त हो गये। वे भी इस आत्मरतिको परमसमाधिके बिना न पा सके। किन्तु निर्विकल्प अखण्ड स्वभावकी उपासनाके बलसे शीघ्र परमात्मस्वरूपमें प्रकट होंगे।

साधारण लोग कह देते हैं कि जो देह है वही मैं हूँ। बहुतसे लोगोंकी धारणा है कि आत्मामें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श भी है और आत्मा बोलता भी है और वे इस प्रकारकी दलीलें भी देते हैं। किन्तु इस मिली हुई अवस्थामें भी जो शब्द है, वह शब्द पुद्गलका परिणमन है। अतः आत्मा बोलता नहीं है, कुछ कहता नहीं है। ऐसा विवेक रखें। हाँ आत्माके बिना ऐसा शब्दपरिणमन नहीं होता इसीलिए निमित्त कहा जाता है तथा उपादानकी परिणति उपादानमें ही होती है। प्रत्येक पदार्थको स्वतन्त्र निरखना ही विवेक है। यह आत्मा देहमें बस रहा है तो क्या देहमें बस रहा है? नहीं बस रहा है। कोई कहे कि शरीरसे इसे जरा अलग तो कर दो, परन्तु तुम उसे अलग नहीं कर सकते। अतः आत्मा देहमें बस तो जरूर रहा है परन्तु असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे बस रहा है, निश्चयनय से आत्मा देहमें नहीं बस रहा है। आत्मा आत्मामें रहता है। कभी ऐसा नहीं हुआ कि आत्मा आकाशमें न रहे। फिर भी आत्मा आत्मामें रहता है। निश्चयनयसे आत्मा आकाश द्रव्यमें भी नहीं बसता है, देहमें तो बसेगा ही क्या? प्रत्येक द्रव्य अपनी अखण्ड सत्ता वाला है। अतः आत्मा आत्मामें रह रहा है। आत्माका प्रसर्पण देहमें है। इस आत्माको जैसा देह मिला कि वह उसी शरीरमें फैल गया। जब यह आत्मा हाथीके शरीरमें पहुंचता है, तो हाथीके आकाररूप परिणत हो जाता है। और जब वह पेड़में पहुंचता है, पेड़के पत्ती पत्तीमें, फूल-फूलमें, परागमें, डालियोंमें प्रस्तुत हो जाता है। इतना सब कुछ होते हुए

भी यह देहमें वसता नहीं है। निश्चयसे आत्मा आत्म-स्वरूपमें है। किसी द्रव्यका प्रदेश, गुण, पर्याय दूसरे द्रव्यमें नहीं पहुंचता है। आत्मा-यद्यपि देहमें वस रहा है, फिर भी परम समाधिके विना आत्मा नजर नहीं आता है। देखो तो, लोग देहमें वसते हुए भी आत्माको नहीं जान पाते हैं। उसी आत्मा की यह चर्चा है कि आत्मामें रूप नहीं है, आत्मामें रस नहीं है।

६२. आत्माकी गन्धरहितता—अब कहते हैं कि आत्मामें गन्ध भी नहीं है। आत्मा को इन्हीं छः प्रकारोंसे अगन्ध सिद्ध किया जायेगा। आत्मा गन्ध गुण नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे जुदा है। घ्राणेन्द्रियको कोई नहीं जानता है कि किस जगहसे यह प्राणी गंध ग्रहण करता है, कैसे करता है--यह पता नहीं चल पाता है। क्योंकि घ्राणेन्द्रिय अव्यक्त है। आत्मा पुद्गल द्रव्यसे जुदा होनेसे गन्ध गुणवाला नहीं है, क्योंकि पुद्गल द्रव्यसे बाहर पुद्गलका गुण नहीं पहुंचता है। अतः आत्मा गंध भी नहीं है।

६३. इन्द्रियविषयोंका प्रसंग—जो मनुष्य पंचेन्द्रियोंमें रत है, वह उनके विषयोंमें तन्मय हो जाता है। मनुष्यको कुछ सूंघते समय अपना पता नहीं रहता है। उन्हें दुर्गन्ध आदिकी भी खबर नहीं रहती है। इन्द्रियाँ पाँच हैं। एक तो इन पाँचों इन्द्रियोंको नामकर्म ने मानों इतने अच्छे क्रमसे बनाई हैं कि उनको पहिचाननेमें देर नहीं लगती है और एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदिकी व्यवस्था शीघ्र समझमें आ जाती है। एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इंद्रिय है यह सारे शरीरमें है। द्वीन्द्रिय जीवके स्पर्शन व रसना ये दो इन्द्रिय हैं, सो देखो गलेके ऊपर पहिले रसना (जिह्वा) इंद्रिय मिलती है। त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन रसना व घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं सो देखो रसनाके ऊपर घ्राण (नाक) इन्द्रिय मिलती है। चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण व चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं सो देखो घ्राण (नाक) के ऊपर चक्षुरिन्द्रिय (आँख मिलती है। पञ्चेन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण (कान) ये पाँचों इन्द्रिय होती हैं सो देखो आँखसे ऊपर कान होते हैं। अब जरा पश्चादानुपूर्वीसे देखो तो प्रायः उत्तरोत्तर आसक्तिकी अधिकता मिलेगी। जैसे—कानसे जो विषय होता है, उसके जाननेमें तेज आसक्ति नहीं होती है जितनी चक्षुइन्द्रियके विषय देखने में आसक्ति होती है। कोई आँखका मनोरम विषय देख रहा हो, यदि कोई तुम्हें आवाज लगाये तो जल्दी सुनाई नहीं देता है, देखनेसे जल्दी उपयोग नहीं हटता है। देखनेकी अपेक्षा सूंघने का विषय अधिक आसक्तिजनक है। नाकके विषयकी अपेक्षा रसनेन्द्रियका विषय अधिक आसक्ति पैदा करता है। स्वादिष्ट पदार्थोके चखनेमें विकल्प भी अधिक होते हैं। नाना प्रकारके अनाचार और झगड़े इस जीभके स्वादके लिये ही होते हैं। रसनेन्द्रियकी अपेक्षा स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें अधिक आसक्ति होती है। यद्यपि व्यभिचार सुननेका, देखनेका,

सूंघनेका, चखनेका और छूनेका सभी विषयरतिका नाम है, मैथुनको भी व्यभिचार कहते हैं, सब इन्द्रियोंके विषयोंका नाम व्यभिचार है, परन्तु मैथुनके अर्थमें व्यभिचार शब्द रूढ़ हो गया है। क्योंकि सब इन्द्रियोंके विषयोंसे अधिक आसक्ति स्पर्शनेन्द्रियकी है।

९४. परमार्थतः द्रव्यन्द्रियके द्वारा गंधन न होनेसे आत्माकी अगन्धता—इन इन्द्रियों के बननेका क्रम कितनी बातोंको साबित करता। ये सब इन्द्रियाँ निमित्तनैमित्तिक भावसे बन जाती हैं, इन्हें कोई बनाता नहीं है। जो पदार्थ बना-परिणमा उसकी विधिका नाम प्रकृति है। निमित्त पाकर स्वयं परिणम जानेका नाम प्रकृति है। ऐसा निमित्त पाकर ऐसा होता ही है, इसीका नाम प्रकृति है। घ्राण (नासिका) पुद्गल द्रव्य है। उनका स्वामी आत्मा नहीं है। अतः आत्मा घ्राणेन्द्रियके द्वारा जानता नहीं है। ज्ञानका साधन ज्ञान ही है। निमित्तके द्वारा उपादान परिणमता नहीं है। जैसे आपने एक वीरकी फोटो देखी, उस फोटोको देखकर आपमें कुछ बात सी आई। आत्माके अभिप्रायके कारण वीरताका भाव आया। वीरत्वका भाव उत्पन्न होनेमें फोटो निमित्त है किन्तु भाव पुरुषका है। कर्म प्रकृति के उदयसे आत्मामें क्रोध होता है। क्रोध प्रकृतिनामक कर्मकी प्रकृतिने क्रोध उत्पन्न नहीं किया। यहाँ यह बात जरूर है कि क्रोधप्रकृतिके बिना आत्मा क्रोध नहीं कर सकता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्यायमें परिणमता है। निमित्त न हो तो विभाव कार्य नहीं बन सकता है। परन्तु उपादानमें कार्य उपादानके परिणमनसे ही होता है। यह घ्राणेन्द्रिय पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे ही है। यह इन्द्रिय रूप रस गंध स्पर्श रूप ही परिणम रही है। और कुछ नहीं कर रही है।

९५. परकर्तृत्वबुद्धिका दुष्परिणाम——क्या पिता लड़केको पालता है? नहीं पालता है। पिताको पुत्रसे राग था, स्नेह था, उसने राग और स्नेह भावको खूब किया; रागभावके करनेमें जो कुछ हो गया, सो हो गया, परन्तु पिताने उसे पाला नहीं है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कुछ करता ही नहीं है। जैसे हम तुम्हें समझा रहे हैं ऐसा कोई देखे परन्तु तुम्हें हम नहीं समझा रहे हैं, तुम स्वयं समझ रहे हो। अपने सुनानेके रागको मिटानेके लिये हम अपने दुःखको मिटा रहे हैं। यह मनुष्यभव कोई मामूली तपस्यासे ही नहीं मिल गया है। इस मनुष्यभवको पानेके लिये इसका पूर्व जन्मसे विशेष पुरुषार्थ हुआ होगा। भैया! इस चैतन्य पौरुषके जाने बिना आत्मा कैसी-कैसी विपत्तिमें फंसा? पेड़में तो देखो आत्माको कितने प्रदेशोंमें जानना पड़ा। जलको ही देख लो, बिना छना पानी खींचा और आगपर डाल दिया गया। वहाँ क्या आगपर कोई बचा सकता है। क्या इस जलके जीव हम न थे, और आज किस स्थितिमें हैं, पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, सुन सकते हैं, देख सकते हैं, बोल सकते हैं। बड़े बड़े आचार्योंने कठिन परिश्रम करके ग्रन्थ बनाए, वे सब तुम्हारे-हमारे लिए ही तो हैं

परन्तु इस पुण्यकी कीमत हमारे समझमें कुछ नहीं है। इतना सौभाग्य मनुष्य बननेमें है। तुम्हारे पुण्यका उदय है। इस मनुष्यभवको पाकर वह काम करना चाहिए, जो अगले भव में भी काम दे। अन्य वैभव तो यहीं रह जायगा, मगर जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह एकदम खो जाने वाला नहीं है। ज्ञान मरनेपर भी साथ जायेगा, जो हमारी योग्यता है वह बनी रहेगी। यदि ज्ञान प्राप्त करनेमें सब कुछ भी गंवा दिया जाये, समझो तुमने कुछ नहीं खोया। हम लाभमें ही रहेंगे, हानि कुछ भी नहीं हुई। इतने सुन्दर मनुष्यभवको पाकर ज्ञानवृद्धिमें नहीं लगाया तो मनुष्यभवमें जन्म लेना निरर्थक है। यहाँ परकर्तृत्वका भाव न लावो। जिसके कम पुण्यका उदय है, उसको अधिक पुण्यशालियोंकी नौकरी करनी पड़ती है। दूसरोंके पुण्यका उदय है, यदि हम काम न करेंगे तो उनका पुण्य फलेगा कैसे? परकर्तृत्व-बुद्धिका फल है कि परकी नौकरी करो। आत्माकी भलाई निर्विकल्प ज्ञानमें है। हमें अपनी निर्विकल्प समाधि बनानी है, ऐसी बात मनमे तो आनी चाहिए। यह शरीर जिसे आत्मा मानकर सब कुछ कर रहे हो, वह अपनेसे बिल्कुल भिन्न है। यह शरीर एक दिन जला दिया जाना है। यह शरीर इतना अशुचि है उसी शरीरको आत्मा मानकर बेसुध हो रहे हो, उस शरीरका स्वामी आत्मा नहीं है। शरीरका ही अङ्ग इन्द्रियाँ हैं। आत्मा घ्राणेन्द्रिय के द्वारा जानता नहीं है, घ्राण इन्द्रिय तो गन्धके ग्रहणमें निमित्त मात्र है, अतः आत्मा गन्ध-रहित है।

९६. स्वभावतः भावेन्द्रियके द्वारा गंधन न होनेसे आत्माकी अगन्धरूपता—आत्मा गन्धरहित है। आत्मा द्रव्येन्द्रिय, घ्राणेन्द्रियके द्वारा गंध जानता है, अतः आत्मा गंधवाला है, इसका खण्डन तो कर दिया, परन्तु आत्मा भावेन्द्रियके द्वारा तो गन्ध जानता है। वर्तमान जो ज्ञान है, वही भावेन्द्रिय है उस ज्ञानके द्वारा तो आत्मा गन्ध जानता है अतः आत्मा गन्धवान है। इसका उत्तर यह है कि भावेन्द्रिय होती है क्षायोपशमिकभाव, अतः स्वभावतः भावेन्द्रियके द्वारा आत्मा गन्ध ग्रहण नहीं करता है।

९७. केवलगन्धावेदन व ज्ञेयातादात्म्य होनेसे आत्माकी अगन्ध रूपता— प्रश्नः— आत्मा गन्ध ग्रहण तो करता है, अतः इसका गन्धसे सम्बन्ध है, यह माननेमें आपको क्या आपत्ति है? उत्तरः—यह आत्मा केवल गन्धको ही तो नहीं जानता है, सभी पदार्थोंका ज्ञान करता है। जब आत्माका स्वभाव सम्पूर्ण विश्वको जाननेका है, तब फिर तो सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझ लेना चाहिये। गन्धका जो ज्ञान हुआ, आत्मा उसमें तो परिणत है। फिर भी क्योंकि ज्ञेय ज्ञायकका तादात्म्य नहीं हो सकता है, अतः आत्माको गन्धवाला नहीं कह सकते हैं।

९८. आत्मामें स्पर्शगुणवत्ता व स्पर्शगुणरूपताका अभाव—अब जिस प्रकार गंधके

बारेमें कहा, उसी प्रकार स्पर्शके बारेमें कहते हैं। आत्मा अव्यक्त है। स्पर्शनेन्द्रियके विषयमें ही व्यक्तकी बात आती है, क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय ही व्यक्त है। जैसे इसी आँखको लो, जो दीखता है, हाथसे छूनेमें आता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। उसमें जो देखनेका गुण है, वह चक्षु इन्द्रियका विषय है। यह जीभ जो दिखाई दे रही है, उसके छूनेसे ठण्डे, गर्म, कड़े नर्मका ज्ञान होता है। छूनेका विषय स्पर्शनेन्द्रियका विषय है। जीभमें फिर रसनेन्द्रियत्व कहाँ रहा? जो जीभ दिखाई दे रही है, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। इसीमें स्वाद लेनेकी जो परिणति है, वही रसना इन्द्रिय है। स्पर्शन इन्द्रियको व्यक्त इन्द्रिय माना है। रसना आदि इन्द्रियाँ दिखाई नहीं देती हैं, अतः वे सब इन्द्रियाँ अव्यक्त हैं। हम कानसे कहाँसे सुनते हैं? जो पर्दा है उसको छूनेसे भी कुछ न कुछ ज्ञान होता है, अतः वह कानका पर्दा भी स्पर्शनेन्द्रिय है। जिससे ठण्डे गर्मका ज्ञान हो, वह स्पर्शन इन्द्रिय है। जो स्पर्शसे बोध हुआ वह तो स्पर्शन इन्द्रिय है। यह हमारी आँख, जो दिखाई दे रही है, उसके छूनेसे ठण्डा गर्म, नर्मका ज्ञान होता है, अतः यह आँख भी स्पर्शन इंद्रिय है। सर्वत्र चारों इन्द्रियोंमें स्पर्शन इन्द्रिय भी है, फिर भी उनसे भिन्न-भिन्न विषयका ज्ञान हो जाता है। प्रतिनियत विषयका ज्ञान मात्र करनेवाली चारों इन्द्रियाँ अव्यक्त हैं। ज्ञानीजन कहते हैं कि आत्मामें स्पर्श गुण नहीं है क्योंकि आत्मा पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है। अतः आत्मामें स्पर्श गुण नहीं है। एक तो आत्मा स्पर्श गुणवाला नहीं है, दूसरे आत्मा स्वयं स्पर्श गुण भी नहीं है, क्यों कि आत्मा पुद्गलके गुणोंसे न्यारा है। पुद्गलके गुण रूप, रस, गन्ध स्पर्श हैं उनसे आत्मा अत्यन्त न्यारा है, अतः आत्मामें स्पर्श नहीं है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें अत्यन्ताभाव है। जिसे आप किरणें कहते हैं, वे क्या हैं? सूर्य है? नहीं। सूर्य तो इतना ही प्रकाशमान है जितना सूर्य प्रदेश है। सूर्यको निमित्त पाकर वे पासके स्कंध प्रकाशपरिणत हो जाते हैं। वे प्रकाशपरिणत स्कन्ध सूक्ष्म और स्थूल हैं। जब उन स्कन्धोंको देखते हैं, उन्हीं को किरणें कह देते हैं। सूर्यके प्रकाशकी वे प्रकाशपरिणत किरणें गवाक्ष जालसे दिखाई पड़ती हैं। प्रकाशपरिणत जो स्कन्ध हैं उन्हींका नाम लहर है। उन्हींको किरणें कहते हैं। किसी भी द्रव्यका गुण पर्याय प्रदेश द्रव्यसे बाहर नहीं पहुंचता है। जहां जो आपको चीज दिखाई देती है, वह वहीं की चीज है। एक वस्तुका क्या स्वरूप है? वस्तुका वस्तुत्व क्या है? इसको यथार्थतः समझो तो पदार्थोंकी स्वतन्त्रता समझमें आजावेगी। यह सब निमित्त-नैमित्तिक भावका ही व्यवहार चल रहा है।

६६. **द्रव्येन्द्रियता, भावेन्द्रियता, केवल स्पर्शवेदन व ज्ञेयतादात्म्य होनेसे आत्माकी अस्पर्शरूपता**—आत्मा स्पर्श गुण वाला नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्यसे वह भिन्न है। इस पर कहते हैं आत्मा स्वयं स्पर्श गुण भी नहीं है। तो न होओ, किन्तु आत्मा द्रव्येन्द्रियके

द्वारा स्पर्शन करता है, अतः आत्मा स्पर्श गुण वाला मान लो। उत्तर—नहीं, क्योंकि आत्मा द्रव्येन्द्रियका स्वामी ही नहीं है, अतः द्रव्येन्द्रियका और आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे दर्पण है। दर्पणके सामने जो भी चीज आयेगी वह उसमें प्रतिबिम्बित हो ही जायेगी। यदि निमित्त हट जाये तो उसका प्रतिबिम्ब भी दर्पणमें नहीं पड़ेगा। ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है तथापि दर्पणमें जो बिम्ब है वह दर्पणकी परिणति है, उसमें उसके निमित्तका कोई अंश नहीं गया। अब जिज्ञासु पूछता है कि द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा स्पर्श नहीं करता है। चलो यह मान लिया, परन्तु भावेन्द्रियके द्वारा तो आत्मा स्पर्श ग्रहण करता है ? उत्तर है कि भावेन्द्रिय क्षायोपशमिक पदार्थ है, अतः आत्मा स्वभावतः भावेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श गुणको नहीं जानता है।

शंका:—किसी भी तरह जानो आत्मा स्पर्श गुणको जानता तो है ? अतः आत्मा स्पर्श वाला होना चाहिये। **समाधान:**—कहते हैं कि आत्मा तो विश्वको जानता है. विश्व को जाननेसे आत्मा विश्व वाला हो जाना चाहिये ? अतः आत्मा स्पर्शज्ञान तो करता है, परन्तु स्पर्श गुणवाला नहीं है। पुनः जिज्ञासु पूछता है कि आत्मा स्पर्श-ज्ञानमें परिणत है, उससे आत्मा तन्मय है अतः स्पर्शवाला आत्मा मान लिया जाना चाहिए। उत्तर—स्पर्श ज्ञेय पदार्थ है, ज्ञायक आत्मा है तथा ज्ञेय ज्ञायक पदार्थ कभी तन्मय नहीं हो सकता है। अतः आत्मा अस्पर्श है, अव्यक्त है। इस प्रकार आत्माको अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श सिद्ध किया गया है। ज्ञेय और इन्द्रियोंके सम्बंधमें सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक भाव है। निमित्तनैमित्तिकका इतना सम्बन्ध होता है कि पदार्थमें उसीके अनुसार परिणति हो जाती है ऐसा होनेपर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र ही है, स्वतन्त्र होकर ही परिणमते हैं। आत्माके लक्षणमें अभी यह बताया गया था कि उसमें रूपादि पुद्गलके चार गुण नहीं हैं। जिस आत्मामें ये चारों गुण और उनके परिणमन नहीं हैं, उस सामान्य दर्शनज्ञानमय आत्माको समयसारमें शुद्ध आत्मा कहा है।

१००. **आत्माकी इन्द्रियरहितता और इन्द्रियागोचरता**—जीव रसरहित है, रूप-रहित है, गंधरहित है, स्पर्शरहित है, ऐसा कहनेमें यह आया कि चार प्रकारके गुणोंसे रहित है और इन गुणोंकी पर्यायोंसे भी रहित है। पुद्गलद्रव्यमें ये चार गुण पाये जाते हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श। आत्मा रूप, रस, आदिकसे रहित है, इसका अर्थ यह निकला कि आत्मामें न तो रूपादिक गुण है और न रूपादिक परिणमन हैं। यों यह आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है, यह शब्दसे रहित है। शब्द कोई गुण नहीं होता, किन्तु यह एक द्रव्य-पर्याय है। पुद्गलद्रव्यकी द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है। जैसे कि बंध सूक्ष्म स्थूलतम छाया आदिक पुद्गलकी द्रव्यपर्याय है इसी प्रकार शब्द भी भाषा वर्गणा जातिके स्कंधोंकी द्रव्यपर्याय है।

ात् शब्दका आधारभूत, श्रोतभूत कोई ऐसी शक्ति नहीं जो शक्ति गुण निरंतर द्रव्यमें करे, किन्तु भाषावर्गणा जातिके पुद्गलमें जब संयोग अथवा वियोग होता है तदनुकूल से शब्दकी उत्पत्ति होती है। आत्मा शब्दरहित है—इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द पर्याय रहित है, यह अपने पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी अपेक्षासे वर्णन किया। ५ इन्द्रियाँ हैं—स्पर्शन, ना, घ्राण, चक्षु और श्रोत, ये ५ विषय हैं स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द। इन पाँचोंसे त यह आत्मा है, इससे यह भी सिद्ध हुआ कि आत्मा कभी भी स्पर्शन इन्द्रियसे नहीं न सकता। चाहें कि हम टटोलकर आत्माको समझ जायें कि आत्मा क्या है तो आत्मा र्शनइन्द्रियसे न जाना जायगा, रसना इन्द्रियसे भी न जाना जायगा क्योंकि रसरहित है। ाई चाहे कि मैं आत्माको चखकर समझ लूँ कि इसका स्वाद क्या है? बहुत-बहुत आचार्य- न कह रहे हैं कि आत्मामें अनन्त आनन्द है, आत्मामें समरस है, समता अमृतका रस रा पड़ा हुआ है तो उसे जीभसे चख ले, ऐसा कोई समता अमृतका रस नहीं है, आत्म- त्त्व नहीं है जो जीभसे चखा जाय। यह सूँघनेसे भी ज्ञात नहीं होता। कोई सूँघ सूँघकर मझ ले। सूँघनेसे बहुत सूक्ष्म बात समझी जाती है। भला गंध जो सूँघनेमें आती है क्या सका आकार आपने देखा है? अथवा किसी अन्य इन्द्रियसे पहिचान लें ऐसी गंध होती है या? कितनी सूक्ष्म वस्तु है, सूक्ष्मभाव है वह गंध। कोई सोचे कि उस सूक्ष्म गंध तत्त्वको म घ्राण इन्द्रियसे सूँघ सूँघकर जान लेंगे तो घ्राण इन्द्रियसे नहीं जाना जाता है। उसमें रूप नहीं है। तो चक्षुइंद्रियसे भी नहीं जाना जाता है। आत्मा नेत्रइंद्रियसे भी अगम्य है और श्रोत्र इंद्रियसे भी आत्मा नहीं परखा जाता। यों आत्मा पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे रहित है।

१०१. आत्माकी चैतन्यगुणात्मकता—फिर है क्या आत्माके अन्दर? चेतना गुण है। यह चेतना इस जीवका अभिन्न प्राण है। अनात्मभूत लक्षण है। चेतना न हो आत्मामें फिर क्या है? देखो मोहसे काम न चलेगा। किसी चीजकी चिंता रखनेसे काम न चलेगा। जगतके ये जितने बाह्य परिकर हैं ये सब असार हैं, भिन्न हैं, इनकी प्रीति करने में हित नहीं है। इंद्रिय विषयोंसे भी प्रेम करनेमें हित नहीं हैं। मोह छोड़कर ही प्रभुके दर्शन हो सकेंगे। यह चैतन्य गुण है सो ही तो प्रभु है। हम इस प्रभुके दर्शन करना चाहें और कषायोंको मोहको छोड़ें नहीं तो यह कभी सम्भव नहीं कि मुझमें बिराजमान विशुद्ध परमा- त्मतत्त्वका दर्शन हो सकेगा। पुद्गलद्रव्यका स्वामी पुद्गल है। आत्मद्रव्यका स्वामी आत्मा है। घरमें रह रहे हैं, राग करना होगा, व्यवस्था रखनी होगी वह सब तो ठीक है, किन्तु चित्तमें यह सही ज्ञान बनाये रहें कि जब शरीर भी मेरा नहीं है तो और कुछ मेरा होगा क्या? और समझ लो कि यदि आज यहाँ पैदा न हुये होते तो यहाँके लिए क्या थे? तो

आत्माका जो असाधारण लक्षण चेतनागुण है उस चेतनागुणका जिन्होंने अनुभव किया है वे पुरुष ज्ञानी हैं, महापुरुष हैं, धीर हैं, गम्भीर हैं। उनके मोह नहीं रहता, कषायें भी नहीं जगतीं। ऐसे ही उपयोगसे इस चैतन्यगुणका दर्शन होता, अनुभव होता। आत्मामें है एक चैतन्य नामक तत्त्व उस चैतन्यको ही आत्मा कहते हैं?

१०२. गुण गुणीका व्यवहारतः भेदकथन—गुण गुणी भिन्न नहीं हुआ करते। जैसे मटकामें बेल रख दिया इस तरह आत्मामें चेतना बन गई ऐसा नहीं है। जो दार्शनिक एक थोड़ा सा स्वरूप कथन भेद पाकर स्वभाव और स्वभाववानको अलग कर देते हैं और फिर स्वभावका स्वभाववानमें समवाय सम्बंधसे जोड़ करते हैं, भेद नहीं, कभी तो स्वभाव अलग होनेका नहीं ऐसा वे समाते जाते हैं और फिर भी स्वभावसे पृथक् तत्त्व समझकर स्वभाववानमें सम्वाय सम्बंधसे स्वभावको जोड़ते हैं। जैसे आत्माका ज्ञानस्वभाव है, लेकिन इस कथन भेदसे कि आत्मा तो है गुणी और गुण है गुण। गुणका स्वरूप एक जानन है, आत्माका स्वरूप। जैसे स्याद्वादी भी कहते हैं कि अनन्त धर्मोंका आधारभूत आत्मा है, वह है धर्मी, ज्ञान है धर्म। तो ज्ञानका स्वरूप कुछ भिन्न जंचा ना किसी रूपसे। इतनीसी गुण मुक्तिके भेद कथनका आधार पाकर एकदम यह कह दिया कि गुण भी एक पदार्थ है। आत्मा भी एक पदार्थ है, और जब सम्वाय सम्बंध आत्मामें ज्ञानका है तो आत्मा ज्ञानी है। यह समवाय कभी टूटेगा नहीं। ज्ञान आत्मासे कभी अलग था और फिर लग गया हो ऐसा नहीं है। अनादि समवाय मात्र है। भले ही निर्वाणको कुछ स्थिति माननेपर आत्मा और ज्ञानका सम्बंध ये मीमांसक लोग न माने, तथापि समवाय तो उसका अनादिसे मानते हैं, लोग गुण गुणीके कथनका भेद मात्र पाकर कहते हैं कि ज्ञान अलग पदार्थ है और आत्मा अलग पदार्थ है। पर ऐसा नहीं है। ज्ञान ही का नाम आत्मा है। कोई एक बात जो आँखोंसे बिल्कुल साफ दिख रही है उसको समझानेके लिए आप क्या करेंगे? बातोंसे टुकड़ा करेंगे। चीजका तो टुकड़ा न होगा। जैसे एक चौकीका ही स्वरूप जानना है तो चौकी वह पूरी ज्ञानमें आयी, वहाँ कुछ कमी न रही। अब ज्ञानमें आयी हुई उस चौकीको जब हम समझाने बैठते हैं तो हम उसको अब तोड़ने लगते हैं, चौकी नहीं टूटती, बातोंसे तोड़ने लगते हैं, देखो इसमें चौकोर आकार पड़ा हुआ है, इसमें रूप पड़ा हुआ है, इस प्रकारका रूप है आदिक हम तोड़मरोड़ करते हैं, पर यह सब एक व्यवहार कथन है। निश्चयसे चौकी कुछ और है, आकार कुछ और है, रूपादिक कुछ और हैं, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार आत्मामें ज्ञानको समझानेके लिए भेद कथन है, पर आत्मामें ज्ञान बसता है, यह बात नहीं है। आत्मा ही स्वयं पूरा ज्ञानस्वरूप है। यह चैतन्य गुणात्मक है। जब कभी परकी अपेक्षा करके निर्विकल्प स्थितिसे अपने आपमें आपका परिज्ञान होता है, परम विश्राम होता है तो

स्थितिमें आत्मा चैतन्यमात्र है, यह अनुभवमें आता है।

१०३. आत्माकी अनिर्दिष्ट संस्थानरूपता—ज्ञानी जीवने इस चैतन्यस्वरूपका अनु- किया है। तो यों आत्मा चैतन्यगुणस्वरूप है, इसका कोई आकार नहीं है। जो आकार रूमें आ रहा है वह आकार सम्बंधजनित है। संसार अवस्थामें जिस देहमें यह जीव उस देहरूप लगता है अज्ञानीको और देहका जो आकार है उस आकार यद्यपि प्रदेश रहे लेकिन आत्माका ऐसा आकार बनना, यह आत्माके स्वभावसे बनी हुई बात नहीं जिस पर्यायमें जाता है, जिस देहमें रहता है, जिस देहके आकार जीव होता है, पर त्र स्वयं अपने आपके सत्त्वसे अपनी ओरसे इस प्रकार आकार बदलता रहे सो बात नहीं इसलिये इसका कोई संस्थान नहीं बताया जा सकता कि आत्माका आकार क्या होता है? ते परमाणुका आकार बताया जाता, परमाणु एक प्रदेशी है, अब वह जैसा हो षट्कोण गोल स प्रकार भी वर्णन है सब अणुवोंका सब परमाणुवोंका एक ही प्रकार है आकारमें, इसी कार जीवोंका सबका एक ही प्रकारका आकार हुआ, सो बात नहीं ध्यानमें आती। यहाँ क जो सिद्ध जीव हुए हैं, सिद्ध भगवंत हैं, उन सबका भी आकार एक हो, सो भी बात हीं। यद्यपि वे मनुष्यभवसे ही मुक्त हुए हैं, उनका आकार मनुष्यभव ही अनुरूप पाया जा हा जो पहिले था देह न रहकर भी, लेकिन कोई ७ हाथकी अवगाहना वाला, कोई ५० थकी, कोई ५०० धनुषकी और कोई ५२५ धनुषकी अवगाहना वाला, तो वहाँ भी एक आकार बन सकता। कारण यह है कि वह जिस भवसे मुक्त हुए हैं, आकार घटता बढ़ता ा, कर्मोंके उदयसे संसार अवस्थामें। जब अष्टकर्मोंसे मुक्त हो गए तो तत्काल ही जैसा जो कुछ आकार था वह आकार रह जाता है। वह कम बढ़ नहीं होता। तो जीवका संस्थान कुछ निर्दिष्ट नहीं है।

१०४. आत्माकी अलिङ्गग्रहणता—यह आत्मा किसी लिंगसे पहिचाना नहीं जाता। किसी चिन्हसे नहीं जाना जाता हेतुसे चिन्हसे। जैसे कि यहाँ मूर्तिक पदार्थोंसे एक परिचय हो जाता है इस तरह परमार्थ जो ज्ञानस्वभाव जो जीवतत्त्व है, ज्ञानमात्र है उस ज्ञानस्वरूप जीवका क्या लिंग है प्रकट जिससे झट जान जायें। अगर इसका कोई चिन्ह प्रकट होता तो सभी एक ढंगसे एक सहीरूपसे जाने जाते जीवको। कोई अज्ञानी ही न रहता। तो जीव इस प्रकार ऐसा गुप्त स्वरक्षित ज्ञानियोंको व्यक्त, अज्ञानियोंको अव्यक्त एक चैतन्य गुणस्व-रूप है। यदि कोई केवल ज्ञान-ज्ञानका स्वरूप जो कुछ होता है, जो कुछ समझा है। केवल जाननको एक उपयोगमें रखे रहे उस स्वरूपको तो उसका उपयोग बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कसे और आकुलताओंसे दूर होगा और वह अपनेमें ज्ञानका अनुभव करेगा, क्योंकि ज्ञान ही ज्ञान

का अनुभव करता है और उस अनुभवकी स्थिति यह होती है कि ज्ञान ही ज्ञेय रहता, ज्ञान ही जाननहार रहता अर्थात् स्वयं जानने वाला स्वयंके विशुद्ध जाननस्वरूपको जानने लगे तो वहाँ ज्ञानानुभूति होती है। परमार्थभूत चेतन क्या है? यह वहाँ समझमें आता है।

१०५. अध्यात्मज्ञानकी उपयोगिता—यह अध्यात्म ज्ञान कलेवा (पाथेय) के समान है जिसकी दृष्टि करनेसे धर्म होता है, वह समझमें आ जाये तो जहाँ भी होओ, तनिक दृष्टि दो और धर्मका फल प्राप्त कर लो। ऐसी शुद्ध आत्माका इस समयसारमें वर्णन है। वह शुद्ध आत्मत्त्व प्रत्येक जीवमें है। पर्याय अशुद्ध है। जिस कालमें जो पर्याय है, वहाँ भी दृष्टिकी महिमासे शुद्ध आत्मतत्त्वको यह जीव देख ही लेता है। देखो भैया! अशुद्धकी दृष्टि से शुद्धि प्राप्त होती नहीं और परशुद्धकी दृष्टिसे भी शुद्धि नहीं होती। इस निज शुद्ध स्वभावकी दृष्टिसे शुद्धि होती है।

वह शुद्ध आत्मतत्त्व कैसा है, सो वतलाते हैं। यह अंगुली जैसे टेढ़ी, सीधी आदि रूप १० तरहसे परिणम गई, किन्तु वह एक अंगुली सभी रूपोंमें विद्यमान है। वहीं एक जिस ज्ञानके द्वारा तुम जान रहे हो, वह जानी हुई अंगुली शुद्ध कहलाती है। दसों तरहकी अंगुली बनी, उसमें जो एक रहे, उसे शुद्ध कहते हैं, जो न टेढ़ी है और न सीधी ही है। शुद्ध आत्मतत्त्वका जब वर्णन करेंगे तो वह न नारकी है, न मनुष्य है, न देव है और न तिर्यञ्च ही है आदि, किन्तु सर्व परद्रव्य व परभावोंसे विविक्त निज चेतनमय आत्मा है। जितनी भी पर्याय है वह शुद्ध आत्मा वह नहीं हैं ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्व है। जीव न मुक्त है, न संसारी है। कह रहे हैं उसी चैतन्यतत्त्वको, जो न वहिरात्मा है, न अन्तरात्मा है और न ही परमात्मा है। यद्यपि वह क्रमशः सभी पर्यायोंमें रहता है, फिर भी वह इन सभी पर्यायोंसे भिन्न हैं अतएव शुद्ध है। जो लोग पाप करनेमें धर्म मानते हैं, उनकी बात भी अपेक्षासे ठीक है। जैनशास्त्रोंमें बतलाया गया है कि मिथ्यात्वके तीव्र उदयमें जीवको उल्टी उल्टी बात सूझा करती है। मिथ्यात्व उल्टा ही दिखाई देता है।

१०६. आत्मस्वरूपका अन्तर्दर्शन—आत्मा न शिष्य है, न गुरु है, न उत्तम है, न नीच है, न मनुष्य है, न देव है, न नारकी है और न तिर्यञ्च ही है—ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वको योगी जानता है। परिणमनमें शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं है। एक शुद्ध आत्मतत्त्व चैतन्यमात्र है। आत्मा न पण्डित है, न मूर्ख है, आत्मा केवलज्ञानी नहीं है, मतिज्ञानी नहीं है। वह तो शुद्ध चैतन्यतत्त्व है। शुद्ध अग्नि वह है जो किसी आकार या पर्यायमें बद्ध नहीं है। पर्याय, अपेक्षा, भेद, अंश इनका नाम ही अशुद्धताको लिये हुए है। शुद्ध अग्निका कोई आकार नहीं है। शुद्ध अग्निके सही अर्थमें कोई अपेक्षा न लगाओ, वही शुद्ध अग्नि है। सीधी अंगुली शुद्ध अंगुली नहीं है। टेढ़ी, सीधी, तिरछी आदि समस्त पर्यायोंमें रहनेवाली एक अंगुली शुद्ध

अंगुली है। इसी प्रकार नरक तिर्यञ्च मनुष्य, देव सिद्ध पर्याय आदिमें जो आत्मा है, वह तो जाननेमें आयेगा, परन्तु उन सब पर्यायोंमें से किसी भी पर्यायमें न रहने वाला आत्मा न मिलेगा। द्रव्यका भी कोई निज स्वरूप है। द्रव्यके लक्षणमें पर्याय नहीं है। जैसे मनुष्य वह है। जो बूढ़ा भी है, जवान भी है, बालक भी है—सभी अवस्थाओंमें जाकर भी उन पर्यायिरूप नहीं है। वह आँखोंसे दिखाई नहीं देता है, उसे कहते हैं शुद्ध मनुष्य। उस शुद्ध तत्त्वपर उपयोग जानेसे संसारके समस्त विकल्प मिट जाते हैं। यदि वह अनुभवमें आ जाये तो कहना ही क्या ? वह शुद्ध आत्मतत्त्व जो न मनुष्य है, न देव है, सब अवस्थाओंमें जाकर भी किसी एक अवस्थारूप बनकर नहीं रहता है।

१०७. **परिणामनकी श्रद्धानुसारिता**—द्रव्यकी शक्ति अनादि अनंत है। रूपादिका नाश नहीं हो सकता है। रूप सदा रहता है। परन्तु उसमें परिणामन होता रहता है। आप शक्तिका स्वरूप सोच रहे हैं तो विकल्पमें पर्याय नहीं रहना चाहिए। ध्रुवपर दृष्टि डालोगे तो ध्रुव बनोगे और यदि अध्रुवपर दृष्टि डालोगे तो अध्रुव बनोगे। यदि यह श्रद्धा करो कि हम सामान्य आत्मा हैं तो आपके समस्त विकल्प छूट जायेंगे। जिनमें यह विश्वास बन गया है कि मैं उसका पिता हूं उसको बच्चोंकी रक्षा करनी ही पड़ेगी। जिन्हें यह विश्वास है कि मैं अमुक हूं, उसके अनुसार उसे अपना काम करना पड़ता है। त्यागियोंको जल्दी गुस्सा इसलिये आता है कि उन्हें विश्वास बना रहता है कि मैं त्यागी हूं, इतनी पोजीशनका हूं, किन्तु सम्मान इतना मिलता नहीं। इस पर्यायबुद्धिके कारण गुस्सा आता है। पर्यायबुद्धि होनेके कारण पर्यायके मुताबिक काम करना ही पड़ता है। यदि काम उसके अनुसार न हो तो गुस्सा आ जाता है। सुबहका समय है, सब घूमने जा रहे हैं। एक सेठ जी भी घूमने के लिए निकले। सामनेसे एक किसान सेठजी को बिना नमस्कार किये निकल जाता है। यह देखकर सेठजी को गुस्सा आ जाता है। कषाय उत्पन्न होनेका मूल कारण पर्यायमें अहंकार बुद्धि है। संसारमें सर्वत्र बस पर्यायबुद्धिका आदर हो रहा है। संसारके समस्त झगड़े, नटखट यह पर्यायबुद्धि ही कराती है। सर्व पापोंमें महान् पाप पर्यायबुद्धि ही है, क्योंकि पर्यायबुद्धिमें प्रगतिका अवसर ही नहीं मिल पाता।

१०८. **आत्मतत्त्वके दर्शनके यत्नकी चर्चा**—जिस पर्यायकी दृष्टि करनेपर इतने ऐब लगते हैं उस पर्यायको भुलानेपर शुद्ध आत्मतत्त्वके दर्शन होते हैं। देखनेवालोंकी विशेषता है, देख सके तो देख लें, न देख सके तो न देख पावें। वास्तवमें देखा जाये तो शुद्ध चैतन्य स्वभाव ही धर्म है। इसका उपयोग बने रहना ही धर्म है, शील है और तप है। जिस जीव को इतनी लगन हो गई कि मैं उस शुद्ध आत्नतत्त्वकी निगाहसे कभी भी अलग न होऊं, मेरा अधिक समय इसी शुद्ध आत्मतत्त्वकी निगाहमें लगे तो संग्रह अपने आप छूटते जाते

हैं। शुद्ध तत्त्वकी सिद्धिके लिए साधुका वेश अपने आप हो जायेगा। आप देखते हैं कि जिनकी इतनी ऊंची वृत्ति है, ऐसा महात्मा भोजनके लिए घर आये तो कितने लोग आहार न करायेंगे, कितने लोग उनकी भक्ति वैयावृत्ति नहीं करेंगे। भक्ति करना माने प्रतिग्रह। मुनि आदिके प्रति समय शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि बनी रहती है। मुनि आदिकी ये तपस्यायें शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिके लिए हैं। ये तपस्यायें उददण्डके लिए दण्ड देना है ऐसा उनका विचार है ताकि हमारी शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि बनी रहे। धर्मका लक्षण शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि है। भगवानकी भक्ति तो योगीका ध्येय ही नहीं है। योगीका ध्येय शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि करना मात्र है। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें जो जो बाधाएं होती हैं वह उनसे छुटकारा पानेके लिए भगवानकी भक्ति करता है। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें जब बाधा आती है उसको दूर करनेका उपाय स्वाध्याय है, अध्ययन है, भक्ति है, पूजा है, तपस्या है। भगवानकी भक्तिके लिए वह मुनि नहीं बना है, वह मुनि बना निज रामकी उपासनाके लिए। रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः अर्थात् आत्मा। शुद्ध तत्त्व न रोगी है, न गरीब है, न धनी है न मनुष्य है, न देव है, न नारकी है, न तिर्यंच है। चैतन्य मात्रमें शुद्ध तत्त्व बसता है। शुद्ध तत्त्व अनुभवकी चीज है। मिश्रीका अनुभव अनुभवसे ही होता है। तुम जितनी बात बोलोगे वह शुद्ध तत्त्व नहीं है। खालिस आत्माका नाम शुद्ध आत्मा है। शुद्ध आत्माका वर्णन किया गया, इसमें न रूप है, न स्पर्श है, न गंध है, न रस है और शब्द है।

१०९. जीवका लक्षण चैतन्य—आत्म-प्रकरण चल रहा है कि जीव कैसा है? जीव वह कहलाता है कि जिसमें जानने-देखनेकी ताकत हो। आत्मामें ही जानने-देखनेकी ताकत है। शरीरमें जानने देखनेकी शक्ति नहीं है अतः आत्मा शरीरसे अलग है। जीव जो करता है वह उसका कर्म है। उसीके अनुसार यह फल भोगता है। जीवका लक्षण चैतन्य है। चैतन्यका काम है, जानना-देखना। चैतन्य स्वभावकी अपेक्षा सब जीव समान हैं। जीव के कर्म और कषायका पर्दा लगा है। सच कहते हैं कि किसी तरह यह पर्दा हटे, परन्तु हटता नहीं है। जीव दो प्रकारके होते हैं:—(१) कर्म सहित (संसारी) और (२) जिनके कर्म छूट गये हैं (मुक्त)। कर्मसहित जीव संसारी कहलाते हैं और कर्मसे छूटे हुए जीव मुक्त कहलाते हैं। जिन्हें कर्मोंसे छूटनेकी इच्छा है, उन्हें प्रथम, कर्मसे छूटे हुए सिद्ध भगवान्की और अरहंत भगवान्की भक्ति करनी चाहिये। जिस तरह भगवान् सिद्धने परिग्रह छोड़ा, उसी प्रकार भगवानकी भक्ति करनेसे परिग्रह छोड़नेका रास्ता मिलता है। मुक्त जीव सिद्ध हैं। मुक्त जीव सब एक किस्मके हैं। जैसे खालिस दूध सब एक तरहका होता है, परन्तु जिसमें पानी मिला है, वह तो कई प्रकारका हो सकता है—एक छटांक पानी वाला, आधा पानी वाला आदि। दूधमें जिस दूधके अलावा कोई चीज नहीं है, वह खालिस दूध कहलाता

है। वह तो एक ही तरहका है। इसी प्रकार जो जीव कर्मसे मुक्त हैं, वे सब एक प्रकारके हैं।

११०. संसारी जीवोंके भेद व स्थावरोंका वर्णन—जो जीव कर्मसहित हैं वे दो प्रकार के हैं:—त्रस और स्थावर। जिनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है, वे स्थावर जीव हैं, ये जीव एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय होती है। वे सब त्रस जीव हैं। ये क्रमशः द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं, जिनके केवल एक ही इन्द्रिय है, ऐसे स्थावर जीवोंके भेद हैं:—पृथ्वीकायिक, वायुकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीव। इनमेंसे वनस्पतिकायिक जीव दो तरहके होते हैं:—साधारण वनस्पतिकायिक जीव और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव। साधारण वनस्पतिकायिक जीव निगोदिया जीवोंको कहते हैं। हरी वनस्पति फूल, फल, पत्ते आदिको प्रत्येक वनस्पति जीव कहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंमें एक शरीरका स्वामी एक ही है। और साधारण वनस्पतिकायिक जीवोंमें एक शरीरके स्वामी अनन्तानन्त निगोदिया जीव हैं। साधारण वनस्पति आँखोंसे दिखाई नहीं देती है। प्रत्येकवनस्पति आँखोंसे दिखाई देती है। बहुतसे लोग आलू-प्याज आदिको साधारण वनस्पति कहते हैं। परन्तु साधारण वनस्पति तो दिखाई नहीं देती है, प्रत्येक वनस्पति दिखनेमें आती है, अतः आलू आदि साधारण वनस्पतिकाय नहीं है। प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं:—(१) साधारण सहित प्रत्येकवनस्पति और साधारणरहित प्रत्येकवनस्पति। साधारणसहित प्रत्येकमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, अतः इसे सप्रतिष्ठितप्रत्येक कहते हैं, पालककी भाजी, आलू, रतालू, अरबी आदि ऐसी ही वनस्पतियां हैं। जिनके मोटे पत्ते होते हैं उनमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं। अप्रतिष्ठित प्रत्येकमें अनन्त निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। फिर भी इसमें असंख्यात प्रत्येक हैं। इन्हें अप्रतिष्टित प्रत्येक कहते हैं। इसमें भिण्डी, लोकी, सैम, सेंगरे, आदि हैं। असंख्यात प्रत्येक होनेके कारण इन्हें लोग अष्टमी चौदसको नहीं खाते हैं।

१११. त्रसजीवोंके प्रकार—अब त्रस जीवोंको कहते हैं। जिसके दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय व पाँच इन्द्रिय होती हैं, उन्हें त्रस कहते हैं। जिन जीवोंके दो इन्द्रियाँ होती हैं, घ्राण नहीं होती है उन्हें द्वीन्द्रिय त्रस कहते हैं। जिनके घ्राण इन्द्रिय तो होती है, परन्तु चक्षु नहीं होती, उन्हें त्रीन्द्रिय त्रस कहते हैं। जिनके चक्षुइन्द्रिय होती है, कर्ण नहीं होतीं उन्हें चतुरिन्द्रिय त्रस कहते हैं और जिनके कर्णेन्द्रिय भी होती है, उन्हें पंचेन्द्रिय त्रस कहते हैं। पंचेन्द्रिय दो प्रकारके जीव होते हैं एक मनवाले जो हिताहितका विवेक रखते हों, उन्हें संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहते हैं; और दूसरे जिनके मन नहीं होता और शिक्षा उपदेश

भी ग्रहण न कर सकें, उन्हें असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं। असंज्ञी जीव तिर्यंच गतिमें ही होते हैं। यदि जीवके साथ कर्म न लगा हो तो सब ही जीव एकसे हो जायेंगे। किसीको क्रोध आता, खोटे भाव उत्पन्न होते यह सब कर्मके उदयके निमित्त कारणसे ही होता है। अतः सर्वप्रथम कर्मोंका क्षय करना चाहिए किन्तु कर्मोंका क्षय कर्मदृष्टिसे नहीं होता। यह मनुष्य-भव कर्मोंका क्षय करनेके लिए ही प्राप्त हुआ है। स्वभावदृष्टि–साधक भक्ति पूजा, धर्म स्वाध्याय–ये सब कर्मक्षय करनेके लिये ही प्राप्त हुए हैं। सर्व कर्मोंका क्षय हो जाये तो शुद्ध चैतन्य भाव प्रकट होता है। धनसे भी बड़ी चीज धर्म है। धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है, धनसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक दृष्टिसे धर्म करना श्रेष्ठ है। बाह्य चीजें, जो भी मिलती हैं, वे हितकर चीजें नहीं हैं। परन्तु लोग बाह्य पदार्थोंकी ही इज्जत करते हैं।

११२. जगतके विविध जीवोंको देखकर शिक्षाग्रहण—ये जगतके नाना तरहके जीव हैं। इनको देखकर अनुभव करना चाहिए कि धर्म न करने से यह कीड़ा हुआ है, मकौड़ा हुआ है। धनसे भी बड़ी चीज धर्म है। जीवके नाना भेद देखो तो तुम्हारेमें ऐसी तर्कणा उत्पन्न होगी कि धर्म न करनेसे ही ऐसी गति होती है। कोढ़ीको देखकर यह विचारो कि धर्म न करनेसे ये कोढ़ी हुए। इसी हेतु मनमें उनके प्रति दया आती है। दया इस लिए आती है कि कभी ऐसे हम न हो जायें। अतएव हम लोगोंको दुखियोंकी रक्षा करनी पड़ती है। धर्म न करनेसे ही ये संसारकी सारी बातें होती हैं। जीवकी सभी अवस्थाओंमें सदा चैतन्यस्वभाव रहता है। उस एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टि हो जावे कि मैं एक चैतन्य सबसे न्यारा हूँ, ज्ञानमात्र हूं, मैं आत्मामें ही हूं, इस प्रकार जितनी भी आत्माकी दृष्टि आवे उतना ही धर्म है। धर्म यही है कि चैतन्यस्वभावकी दृष्टि होवे। दुखियोंको देखकर चैतन्य स्वभावकी दृष्टि लगा लेनी चाहिए। धर्मसेवनके लिए ज्ञान बढ़ाना चाहिये। भगवानके स्वरूप निहारनेमें भी धर्म है। सामायिकमें अपना स्वभाव विचारो। पूजामें भगवानकी और निजस्वभावकी भक्ति की जाती है। अतः पूजा और भक्तिसे भी धर्म होता है। भैया! भगवानकी भक्ति और आत्माका ध्यान करके अधिकसे अधिक विशुद्ध लाभ लो।

११३. विभक्त निज एकत्वको जाने बिना शान्ति-मार्गका अलाभ—बहुत कुछ जान-कर भी जिस एकके जाने बिना आत्माके क्लेश नहीं मिटते उस एकके स्वरूपका यहाँ वर्णन है। जगतमें दुःख अनन्त हैं, जो पदार्थ अपने नहीं थे, न होंगे, उनके सम्बंधमें धारणा बनाना कि ये मेरे हैं, सब दुःखोंकी मूल यह धारणा है। दुःखको दूर करनेके लिए इस धारणाको बहुत कोशिश करके मिटाना चाहिए। जगतके पदार्थ मेरेसे भिन्न हैं, मगर भीतर से विश्वास नहीं होता कि ये पदार्थ मेरे नहीं हैं। अन्तरमें यदि यह विश्वास जग जाये कि ये पदार्थ मेरे नहीं हैं तो सम्यग्ज्ञान हो जाये। सम्यग्ज्ञान यथार्थ ज्ञानको कहते है। पदार्थ

जैसा है, उसमें वैसी श्रद्धा करना सो सम्यग्ज्ञान है। पदार्थ जैसा है यदि उसका वैसा ज्ञान कर लिया जाये तो पदार्थके शुद्ध स्वभावके ज्ञान करनेमें बहुत सहूलियत मिलती है।

११४. पदार्थोंका विश्लेषणात्मक परिज्ञान——पदार्थोंको सुगमतया जाननेके लिए प्रथम उनके भेद जानने पड़ेंगे। समस्त पदार्थ कितने हैं? संसारमें एक दो जितने हो सकते हैं उतने ही पदार्थ हैं। एक उतना होता है जिसका दूसरा कोई खण्ड न हो सके। पदार्थ एक वह होता है जिसका दूसरा हिस्सा किसी भी हालतमें नहीं हो सकता है। मैं भी एक आत्मा हूं आप भी एक आत्मा है, समस्त संसारके प्राणियोंका आत्मा एक लक्षण होकर भी अलग-अलग है, अंश नहीं हो सकता है। तो क्या दिखाई देने वाले चौकी पुस्तक आदि पदार्थ एक हो सकते? नहीं, ये पदार्थ नहीं हैं। ये अनेक परमाणुओंका पुञ्ज है। क्योंकि जिस पदार्थका दूसरा हिस्सा हो जाता है, वह एक नहीं है। चौकी आदि पदार्थोंके तो अनेक हिस्से भी हो सकते हैं। चौकी पुस्तकका प्रत्येक सबसे छोटा हिस्सा एक एक स्वतंत्र द्रव्य है उसका नाम परमाणु है। इस प्रकार अनंत परमाणुओंका ढेर स्कन्ध कहलाता है। एक एक परमाणु वस्तु है। धर्म द्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है और एक एक करके असंख्यात कालद्रव्य हैं। एक एक परमाणु एक-एक अलग द्रव्य है। इसका कारण यह है कि ये एक एक द्रव्य अपने ही परिणमनसे परिणमते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने ही द्रव्य क्षेत्र कालमें रहता है। अतः प्रत्येक द्रव्य न्यारा न्यारा स्वतन्त्र है। मैं आत्मा अपने निजके क्षेत्रमें फैला हुआ हूं, मैं उतना ही हूं, उससे बाहर नहीं हूं। आपके आत्मामें दुख-सुखका अनुभव जितने प्रदेशमें होता है, उससे बाहर नहीं होता है। प्रत्येक आत्मामें सुख दुःख उसीके आत्मप्रदेशोंमें चलता है, अपने आत्मप्रदेशोंसे बाहर नहीं जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी ही परिणतिसे परिणमता है।

११५. ज्ञानीका स्वरूपनिर्णयन——यह मैं आत्मा अपने परिणमनसे परिणमता हूं। यद्यपि जैसा विचार मैं करता हूं, वैसा विचार आप भी कर सकते हैं। परन्तु आपका विचार स्वतंत्र विचार है। मेरा स्वतंत्र है। प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणतिसे परिणमते हैं। आपकी कषाय आपमें उत्पन्न होती है, मेरी कषाय मेरेमें, प्रत्येक परमाणु अपनेमें ही परिणमता है। मैं अपनेमें परिणमता हूं। यही कारण है कि सब पदार्थ अलग अलग हैं। यह द्रव्य आत्मा प्रत्येक अन्य द्रव्यसे अत्यन्त जुदा है। घरमें रहते हुए भी तुम्हारे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहिन तुम्हारेसे इतने जुदा हैं, जितने कीड़े-मकोड़े, पशु पक्षी आदि अन्य जीव और आत्माओंकी अपेक्षा घरमें रहने वाले आत्माका तुमसे तनिक सम्बन्ध हो गया हो, यह हो नहीं सकता। प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावमें रहता है—यदि यह प्रतीति हो जाये, फिर मोह, रागद्वेषादि ठहर जायें, यह हो नहीं सकता। भेदविज्ञानी अपने आपमें इस

प्रकार निर्णय कर लेता है कि मैं अपनी ही पर्यायोंमें वर्तता चला जा रहा हूं, कभी क्रोधी हुआ, कभी मानी हुआ, कभी मायावी हुआ, नाना प्रकारके मुझमें उपद्रव चल रहे हैं, परिणमन चल रहे है। ये परिणमन आत्मामें चलते तो है, परन्तु ये परिणमन किसी सम्बन्ध से चलते होंगे ? क्योंकि ये तरंगें मुझमें नाना प्रकारकी होती हैं, अतः यह परिणमन निमित्त के होनेपर होते हैं। अतः बारम्बार मेरेमें जो राग द्वेषादिरूप तरंगें उठती हैं, वे मैं नहीं हूं।

११६. आत्मामें अन्यव्यावृत्ति और स्वानुवृत्ति—ज्ञानी विचार करता है कि जो पदार्थोका ज्ञान होता रहता है, क्या वह मैं हूं ? पदार्थोका ज्ञान भी मैं नहीं हूं। मैं पदार्थो का स्वामी नहीं हूं। क्योंकि उनमे भी नानापन नजर आता है। शरीर, धन, मकान आदि मैं हूं, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है। मैं तो चेतन गुणवाला अमूर्त आत्मा हूं, जिसकी पर्यायें राग-द्वेप मोह आदि चलती है। यदि इस चेतनाको भी इसमें नाना गुण हैं, इस तरहसे तकते हैं तो इस तरहका चैतन्य, आत्मा मैं नहीं हूं। मैं तो निर्विकल्प अद्वैत चैतन्य हूं। जब यह ज्ञान होता है तब ये सब आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। मैं चैतन्य गुण हूं। आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है। आत्माको इनसे रहित हो जाना, मगर कुछ सहित भी है ? कहते हैं, आत्मा चैतन्य गुण सहित है। यह वाक्य भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेसे चेतना गुण अलग और आत्मा अलग प्रतीत होता है। आत्मा कैसा है, यदि हम यह समझना चाहते है तो भेदकी दृष्टिसे ही हम आत्माको बता पायेंगे। भेद किये बिना आत्माको नहीं बताया जा सकता है। दूसरेको आत्मा समझाया जायेगा तो भेदपूर्वक ही समझाया जायेगा। अतः दूसरोंको समझानेके लिए हम कहते हैं कि जिसमें चैतन्य गुण है वह आत्मा है। जो अनुभवमें आ रहा है, वह आत्मा है। जिसे हम पुकारते हैं, वह परमात्मा है।

११७. शान माननेकी असारता—इस झूठी शक्लका व्यवहार ऐसा व्यवहार बन गया है कि शरीरके साथमें रहकर अपने आपमें रहनेको चित्त नहीं चाहता है। और जब इन शक्लोंमें रहनेकी ही इसकी आदत हो गई तो इस आत्मको इतने द्वंद फंद करने ही पड़ते हैं। यदि आत्मा यह सोचे कि यदि मैं मनुष्य न होता तो मेरा इन लोगोंसे तो परिचय न होता। इतना ही सोचकर यदि इस समागमसे ही अपना मुख मोड़ लिया जावे और धर्म, ज्ञान करनेके लिए समय निकाल लिया जाये तो भी अच्छा है। यदि मैं बचपनमें ही मर जाता तो मेरे लिये ये सब कुछ न होता। यदि ऐसा हो गया होता तो मैं किस पर्यायमें होता, इस पर्यायसे परिचय तो न होता, अब मै हूँ तो ऐसा निराला मैं हूं। मैं लोगोंके लिये नहीं हूं किसी आत्मसिद्धिके लिये हूं, ऐसा समझकर बाहरी साधनोंमें रहकर भी धर्म किये जाओ। ज्ञान ध्यानमें विशेप उपयोग लगाया जाये तो अच्छा है। इस तरहके यत्नसे भी

हमारा कल्याण पथ प्राप्त हो जायेगा। इस निर्विकल्प स्थितिको पाये बिना आत्मशान्ति नहीं मिल सकती है। आत्माकी शान्तिका जो मार्ग है उसके विपरीत पथपर मत चलो। विपरीत पथपर चलनेसे आत्मशान्ति नहीं मिल सकती है। वह मार्ग है रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रसे आत्मशान्ति मिल सकती है। आज शुद्ध तत्वको मानो, आज ही फल मिलेगा और कल मानो कल फल मिलेगा।

११८. सच्चा जीवन धर्मधारणमें—एक मुनि आहारके लिये गए। आहारोपरान्त बहूने पूछा कि महाराज आप इतने सवेरे क्यों आये? मुनिने कहा समयकी खबर न थी। मुनिने पूछा—तुम्हारी उम्र कितने वर्षकी है? बहूने कहा मेरी उम्र अभी पाँच वर्षकी है। मुनिने पूछा—तुम्हारी पतिकी कितने वर्षकी है? बहूने कहा—अभी मेरे पतिकी उम्र पाँच माहकी ही है। सेठ जी को बहूकी मूर्खतापर गुस्सा आ रहा था। मुनिने पूछा—तुम्हारे श्वसुरकी क्या उम्र है? बहूने कहा—ससुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए। मुनिने पूछा—बासी खाया जा रहा है या ताजी? बहूने कहा—अभी बासी ही खाया जा रहा है। मुनि तो चले गये। सेठ जी ने अब तो बहू जी को आड़े हाथों लिया। कहने लगे कि पागल तो नहीं हो गई थी? तू कैसी कैसी बातें कर रही थी? बहूने कहा—पागल मैं हूं या तुम, यह तो मुनिके पास चलकर ही पता चल सकता है। दोनोंके दोनों वहीं वनमें पहुंचे और सेठने कहा कि बहूने तुम्हारेसे जो यह पूछा कि इतने सवेरे क्यों आये, इसका क्या मतलब था? मुनिने कहा—इसका मतलब था कि तुम छोटी ही अवस्थामें क्यों मुनि हो गये हो? मैंने तब कहा, समयकी खबर न थी अर्थात् जाने कब मर जायें। अच्छा तो बहूने अपनी आयु पाँच सालकी क्यों बताई, सेठजीने पुनः मुनिसे पूछा। मुनिने कहा—यह बहूजीसे ही पूछो। बहूने कहा, मेरी उम्र पांच सालकी इसलिए है कि मेरी धर्ममें श्रद्धा पांच वर्षसे ही हुई है। पतिकी पाँच माहसे हुई और आपको अभी तक धर्ममें श्रद्धा ही नहीं हुई है, अतः आपको कहा गया कि आप पैदा ही नहीं हुए। आयु तभीसे गिनी जाती है जबसे धर्ममें श्रद्धा होती है। ससुरने कहा, अच्छा यह बताओ तुमने बासी कब खाया जो तुम मेरी बदनामी कराती हो कि अभी तो हम बासी ही खा रहे हैं। बहूने उत्तर दिया कि तुम अपने पहले पुण्यके उदयसे प्राप्त धनसे ही हमारा पेट पाल रहे हो, अभी तो तुम नया धर्म कर ही नहीं रहे हो सो यह बासी ही तो हुआ। भैया! जिन्दगी तभीसे मानो जबसे धर्मपर विश्वास होता है। निर्विकल्प स्थितिमें ही आत्माकी सच्ची जिन्दगी है।

११९. वास्तविक धर्मपालन—धर्म माने स्वभावकी दृष्टि। स्वभावकी दृष्टि न होकर परकी दृष्टिको अधर्म कहते हैं। मैं धनी नहीं हूं, गरीब नहीं हूं, मैं तो एक शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूं। परम शुद्ध निश्चयनयसे स्वभावसे पाये हुए विश्वासके पश्चात् अना-

कुलता रूप परिणमनमें ही आनन्द है। सब स्थितियोंमें आनन्दके मार्गसे च्युत नहीं होना चाहिए। मैं सब झगड़ोंमें पड़ रहा हूं, परन्तु इनमें आनन्द नहीं है, इतना भी तो विश्वास रखो। चैतन्यकी प्रतीतिसे तो तत्त्वकी प्रतीति हो सकती है। इसीके लिये यहाँ तक कि योगी बनकर शहर छोड़कर अपनी आत्मामें ज्ञानी रमण करते रहते हैं। आत्मरुचि हो तो तत्त्व की प्रतीति हो सकती है। साधुका चिन्ह पीछी कमण्डलु नहीं है। अकेला साधु ही है। हाँ, वह पीछी कमण्डलु आदिके विना चल नहीं सकता है। मुनिको चलना आदि भी व्यवहारके काम करने पड़ते हैं। तब पीछी कमण्डलु आदिकी आवश्यकता पड़ती है। साधुका लक्षण स्वरूप विचारना है। साधु तो अपनी भीतरी दृष्टिसे होता है। साधुका चिन्ह स्वभावदृष्टि की स्थिरता है। श्रावकका चिन्ह स्वभावदृष्टिका कभी कभी होते रहना है। जब वह साधु बन जाता है तो उसके स्वभावमें प्रवृत्ति स्थिरता करनी पड़ती है। इस प्रकार स्वभाव-स्थिरतामें मुनिको मुक्तिका निर्बाध मार्ग मिल जाता है। अब तक यह बात आई कि आत्मा चैतन्य गुणमय है। जैसे—अग्निमें गर्मी है—ऐसा नहीं कहना चाहिये। गर्मीमय ही अग्नि है—ऐसा कहना चाहिये। इसी प्रकार आत्मामें चैतन्य है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। इसमें भेद जाहिर होता है, आत्मा चैतन्यमय है। इसके अतिरिक्त यह भी बात आई थी कि आत्मा शब्द पर्याय नहीं, न वह स्वयं शब्द है, न वह द्रव्येन्द्रियके द्वारा शब्दको जानता है और न भावेन्द्रियके द्वारा शब्दको जानता है। शब्दके ज्ञानमें तन्मय होकर भी आत्मा शब्दरहित है। आत्मा अशब्द, अरूप, अस्पर्श, अगंध और अरस है।

१२०. आत्माकी अलिङ्गग्रहणता—आत्मा किसी चिन्हके द्वारा समझमें नहीं आता है और न इसका कोई संस्थान है, न आचार है, न प्रकार। आत्माका कोई आकार स्वयं नहीं होता है। निमित्तको पाकर आत्मा संस्थान स्वयं बन जाते हैं। जिस शरीरको यह प्राप्त करता है, उसके आकार रूप यह स्वयं बन जाता है। यह आत्माका आकार नहीं है, आत्माका आकार पुद्गलके निमित्तसे बना है। जैसे यह हाथ है। हाथके बीचमें जो पोल है, वहाँ आत्मा नहीं है। नाकके बीचमें जो पोल है वहाँ आत्मा नहीं है। जिस शरीरसे जीव मुक्त होता है, उस प्रमाणसे कम या अधिक घटने बढ़नेके कोई कारण न होनेसे यह आत्मा उसी प्रमाण मात्र है।

१२१. टङ्कोत्कीर्ण स्वभावमय आत्माकी चर्चा—आत्माको कोई बनाता नहीं है। आत्माकी उन्नति भी होती है, परन्तु तब भी कोई नई चीज बनती नहीं है। आत्माका जो स्वभाव है, उस स्वभावका नाम आत्मा है, उसीका नाम परमात्मा है। जैसे—एक पत्थर है। उसमें कारीगरको बाहुबली स्वामीकी मूर्ति निकालनी है। कारीगर उस पत्थरके बीचमें उस मूर्तिको अभीसे देख रहा है, जो मूर्ति उसे उसमेंसे निकालनी है, वह मूर्ति हमें आँखों

से नहीं देखनेमें आ रही; परन्तु वह मूर्ति उस पत्थरमें अभीसे विद्यमान है। जिस जगह वह मूर्ति है, कारीगर उस पत्थरमें उसी मूर्तिको देख रहा है। वह मूर्ति जो इस पत्थरमें से निकलनी है, उसे कारीगर नहीं बनाता है। उस पत्थरमें वह मूर्ति है, जिसे कुछ उपाय करके वह दुनियाको दिखा देगा। परन्तु उस मूर्तिके विकासका उपाय उस मूर्तिको ढकने वाले अगल-बगलके पत्थर दूर कर दिये जायें तभी वह मूर्ति प्रगट हो जायेगी। उस मूर्तिमें नई चीज तो कोई डाली नहीं गई। बस उस मूर्तिको टांकीसे निकाल डाला और सबके सामने प्रस्तुत कर दी। इसी प्रकार वह परमात्माका स्वरूप सबके अन्दर है, जिसका विकास होनेपर आत्मा परमात्मा कहलाने लगता है। राग-द्वेष, मोह, कषायके परिणमन इस परमात्माके स्वभावको आच्छादित किये हुए हैं, अतः वह स्वभाव दिखता नहीं है। ज्ञानी जीव उस निर्मल स्वभावको कषाय रागादिके रहते हुए भी देख रहा है। ज्ञानी जीव राग द्वेषसे मलिन आत्मामें भी उस निर्मल स्वभावके दर्शन कर रहा है। उस स्वभावके विकासका उपाय उस स्वभावको ढकने वाले विषय कषाय आदिको दूर करना है। जैसे उस पत्थरमें से मूर्तिको प्रकट करनेके लिए हथौड़ी, छैनी और कारीगर काम कर रहे हैं। उस उपायसे उस मूर्तिको ढांकने वाले पत्थरोंको हटा देते हैं, परन्तु इस आत्म-स्वभावको ढकने वाले विषय कषायादिको ज्ञानके द्वारा यह आत्मा स्वयं प्रकट कर लेता है। आत्मासे राग-द्वेषको हटाने के लिए ज्ञान ही कारीगर है, ज्ञानकी छैनीसे तथा ज्ञानके प्रहारसे उस चैतन्य स्वभावको विकसित कर लिया जाता है। इस चैतन्य स्वभावको देखनेमें ज्ञानकी ही विशेषता है।

१२२. **चैतन्यलक्षणकी दृष्टिके बिना आत्माकी अनुपलब्धि**—यह ज्ञान साधक कर्ता है और ज्ञानका ही वहां प्रयोग होता है। वह स्वभाव टङ्कोत्कीर्णकी तरह आत्मामें अब भी मौजूद है। जिसे सम्यग्दृष्टि देखता है, ऐसा चैतन्यमात्र मैं हूं। आत्माका लक्षण चैतन्य है। जिसकी दृष्टिसे चैतन्य लक्षण गया उसकी दृष्टिसे आत्मा भी ओझल हो जायेगा। एक कथानक है। एक बुढ़िया थी। उसके रुलिया नामका एक लड़का था। बुढ़ियाने एक दिन रुलियाको बाजारसे साग भाजी लानेके लिये भेजा। वेटा बोला, यदि माँ मैं रुल गया तो? माँ ने उसके हाथमें एक धागा बांध दिया और कहा, जिसके हाथमें धागा बंधा होगा, उसे ही तू रुलिया समझना। रुलिया साग लेने बाजारमें चला गया। भीड़में उसका धागा टूट गया। वह रोने लगा कि माँ मैं रुल गया, रोता रोता घर पहुंचा। मां ने बहुत समझाया कि तू रुलिया ही तो है। उसने कहा, रुलियाके हाथमें तो डोरा बंधा है, माँ समझ गई। माँ ने कहा, वेटा तू सो जा, रुलिया मिल जायेगा। वेटा जब सो गया, माँ ने उसके हाथमें डोरा बांध दिया। रुलिया जब उठा, बड़ा प्रसन्न हुआ और माँसे कहने लगा, माँ, रुलिया मिल गया। जिनकी दृष्टिमें वह चैतन्य स्वरूप नहीं है, उनकी दृष्टिमें आत्मा रुल गया है।

जिनकी दृष्टिमें चैतन्य स्वभावका ध्यान नहीं है, उनकी दृष्टिमें आत्मा भी नहीं है। अतः आत्मा चैतन्य स्वभावके द्वारा पहिचाना जाता है। एकान्तमें बैठकर मैं चैतन्य मात्र हूं, चैतन्यका क्या लक्षण है, यह भी रुचिमें आते रहना चाहिये। हम अनेक पदार्थोंको जानते हैं। जानकर मैं चैतन्यमात्र हूं, प्रतिभासमात्र हूं, अमूर्त हूं, सबसे परे, सबसे ओझल हूँ। इस आत्माको कोई नहीं जानता है। "शुद्धचिदस्मि"—मैं शुद्ध चैतन्य हूं। इस भावनाको बार बार ले आओ तो उसे अनुभव होगा निराकुल स्थितिका और उस स्थितिमें अनुभव करेगा कि मैं चैतन्य मात्र हूं। यह श्रद्धा बढ़ाओ कि मैं न त्यागी हूं, न गृहस्थ हूं, न मुनि हूं और न ही पुरुष हूं। किसी भी परिस्थितिमें आत्मत्वका विश्वास न करो तो धर्म हो जायेगा। धर्म पापोंसे बचनेका मार्ग है। जिस काल चैतन्य स्वभावकी दृष्टि बन जायेगी, तभी धर्म होता है। जब चैतन्य स्वभावकी दृष्टि नहीं है तो उपवास, पूजादिसे पुण्य बंध तो हो जायेगा, परन्तु बंधनसे नहीं छूट सकते। उस चैतन्य स्वभावके जाननेमें एक बड़ा उपयोग कर लो। एकके आगे जितने बिन्दु रखोगे, उसकी उतनी ही कीमत बढ़ेगी। अतः पहले एकको जानलो, फिर पूजा, धर्म, व्रत उपवासादि क्रियाएं करो तो वे कल्याणमें साधक होंगी। इस चैतन्य स्वभावको अति परिश्रमपूर्वक जानो। श्री अमृतचन्द जी सूरि कहते हैं कि एक उस चैतन्य शक्तिके सिवाय, बाकी जो कुछ है, क्रोध मान माया लोभादि वे सब बाह्य हैं, पौद्गलिक हैं। बाह्य समागमको छोड़कर चेतना शक्तिमें अवगाहन तो करो।

१२३. कल्याणलाभमें जीवनकी सफलता—जीवनका इतना लम्बा समय है। पर वास्तवमें देखा जाये तो समय कुछ भी नहीं है। वैसे समय है अनादि अनन्त। उस अपरिमित कालके सामने ४०-५० साल क्या कीमत रखते हैं? ४०-५० वर्षके जीवनका कुछ भी मूल्य नहीं है, फिर भी इस थोड़ेसे जीवनमें अनेक वर्ष विकल्पोंमें बिताये, यदि एक घण्टा, आधा घण्टा, १५ मिनट, १ सैकन्ड भी विकल्प जालोंको छोड़कर इस निज स्वभावमें लगाये तो इस जीवका बड़ा कल्याण होगा। हमें उस आत्मसाधनाको पानेके लिये पूजा व्रत आदिमें काफी समय लगाना पड़ता है, तब ही उस सैकण्डको पाते हैं। धन्य है वह समय जिस क्षण आत्मामें सत्य विश्राम होता है। उस अनुभवके बाद जीवको यह अनुभव होता है कि मेरा एक भी मिनट निर्विकल्प चैतन्य स्वभावके अनुभव बिना न गुजरे। यह जो शरीर पाया है, बड़ा घिनावना है। अनेक मलोंका पिण्ड यह शरीर है। मोहके उदयमें इतना गन्दा भी यह शरीर पापके उदयसे जीवको सुहाता है। यदि यह शरीर न होता, देवों आदिका दिव्य शरीर होता तब भी रमनेके लायक यह शरीर नहीं है। यह अशुचि शरीर मोहके उदयसे सुहावना लगता है। स्वरूप समझमें आये और इस शरीरसे मोह टले तो यह ज्ञान इस जीवको पापसे बचा देता है। विद्या पढ़ना भी पापोंसे बचा देता है। दान,

पूजा, भक्ति, शील आदिको करनेसे जीव पापसे बच जाता है। परन्तु संसारसंततिके छेदके लिए ज्ञानको अपनाना होगा। कहा भी है:—धन, कन, कंचन, राजसुख सब ही सुलभ कर जान। दुर्लभ है संसारमें एक यथार्थ ज्ञान॥ धनी लोग सब कुछ न्यौछावर करके भी विवेक के बिना ज्ञानको नहीं पा सकते हैं। चाहे कोई गरीब हो, चाहे अमीर हो, जिसके पास ज्ञान है, उसीके पास वैभव है। जैसा काम करोगे, वैसी ही गति मिलेगी। अतः अनेक यत्न करके अपने आत्माको जानों। बस निर्विकल्प होकर बैठ जाओ, तभी उस चैतन्यमात्र आत्माको जान सकते हो।

१२४. अहितकर विषयोंसे हटकर हितकर स्वभावकी उपासनाका कर्तव्य—ऐसे परमात्मस्वरूपको जिसका कि चैतन्य स्वरूपकी मुख्यतासे वर्णन किया गया है, हे भव्य जीवो! ऐसे परमात्मस्वरूप आत्माको अपने आत्मामें धारण करो। चैतन्य स्वभावकी दृष्टि अपनेमें निरन्तर बनाये रहो, जब तक समस्त प्रकारके दुःखोंसे दूर न हो जाओ। पूजा करते समय भी कहते हैं कि हे जिनेन्द्र! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमें रहें, तुम्हारे चरणोंमें मेरा हृदय रहे। मैं तुम्हारी तब तक भक्ति करूं जब तक मोक्षकी प्राप्ति न हो जायें। यहाँ ज्ञान और भक्तिका मेल अथवा विवेक दिखाया गया है। उसने द्वैत भक्तिमें कह दिया कि मेरे चरण तुम्हारे हृदयमें रहें, जब तक निर्वाण प्राप्ति न हो। इसी प्रकार ज्ञानी कहता है कि कारणसमयसारकी दृष्टि तब तक निरन्तर बनी रहे, जब तक आत्मानुभव न हो। सिवाय इस आत्माके मेरे कोई शरण नहीं है। यह महान् धोखा है कि कोई किसीको प्यारा लगता है। ऐसा जो मोह उठता है, यह महान् धोखा है। आत्माका शरणके बल एक आत्मा ही है। मैं श्रीमान् हूँ, मैं धनी हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं अमुकका पिता हूँ, मैं अमुक का बन्धु हूँ, ऐसा आत्मा शरण नहीं है, परन्तु किसी भी पर्यायरूप नहीं रहने वाला और समस्त पर्यायोंमें क्रमशः रहने वाला शक्तिमात्र मैं शरण हूँ। पर्यायबुद्धिसे समझा गया मैं आत्मा शरण नहीं हूं। शरण है, परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे पहिचाना गया आत्मा। जिस चैतन्य शक्तिमें ही सर्वस्व सार निहित है ऐसा मैं आत्मा शरण हूं। यही चैतन्यशक्ति जीव है, इसके अतिरिक्त सब पौद्गलिक हैं। चैतन्यशक्तिरूपसे प्रतीत हुआ मैं जीव हूँ, इसके अतिरिक्त जीव नहीं है। निमित्त दृष्टिसे रागादि पौद्गलिक हैं। उपादान दृष्टिसे रागादि वैभाविक हैं। रागादि मैं नहीं हूँ, मैं चैतन्यमात्र आत्मा हूँ। जो तरंगें होती हैं, वे मिट जाती हैं, मैं मिटनेवाला नहीं हूं, अतः मैं कोई तरंग भी नहीं हूं। पर्याय होती हैं, और मिट जाती हैं, अतः मैं पर्याय या परिणमन भी नहीं हूं। चैतन्य शक्तिके अतिरिक्त जो भी भाव हैं, सब पौद्गलिक है।

जीवस्स गत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥

१२५. जीवके वर्णादिके अभावके प्रसंगमें वर्णके अभावका विवरण—जीवके न तो वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न संस्थान है और न संहनन है । जीवके वर्ण नहीं है । रूप कहो, वर्ण, रंग, चाक्षुष कहो, एक ही बात है । ये दिखाई पड़ने वाले काले पीले नीले लाल सफेद रंग—ये सब रूपकी पर्याय कहलाते हैं । मगर ये रूप गुण नहीं है । रूप गुण वह है, जिसे हम इन शब्दोंमें कह सकते हैं कि जो एक वही अनेक पर्यायों रूप परिणमता है वह गुण है । जैसे आमने हरा रंग छोड़कर पीला पाया जो रूप याने अभी हरा था, वह अब पीला हो गया । जिस एक तत्त्वके लिये 'जो वही' शब्द लगा है, उसे रूप गुण कहते हैं । जैसे किसी मनुष्यके बारेमें कहा जाये, जो मनुष्य अभी बालक था, वह अब जवान हो गया है । मनुष्य सामान्य घटता बढ़ता नहीं है, परन्तु उसकी अवस्थाओंमें घटाबढ़ी होती है । मनुष्यका परिवर्तन माने मनुष्यका अभाव सो तो हुआ नहीं । मनुष्य सामान्य बदलता नहीं है, किन्तु वह सब अवस्थाओंमें रहता है । मनुष्य किसी एक अवस्थारूप नहीं रहता है । जैसे आम जब छोटा होता है तो काला होता है । जरा बड़ा होने पर आमका रंग नीला पड़ जाता है । और बड़ा होनेपर आमका रंग हरा हो जाता है । थोड़ा पकनेपर पीला और पूर्ण पकनेपर आम लाल हो जाता है । आमके सड़ने पर आम सफेद भी हो जाता है । इस प्रकार आममें सभी रंग होते हैं । आममें ये रंग इस ढंगसे होते हैं, जिस क्रमसे आचार्योंने इन पर्यायोंका वर्णन किया है । आममें रूप गुण वहीका वही है, परन्तु उसकी पर्यायें ऐसी होती जा रही हैं ।

१२६. पर्यायव्यामोहकी विचित्रता—जो कुछ दीखता है, वह सब पर्याय है । इनके आधारभूत शक्तिका नाम रूप गुण है । आत्मामें न रूप गुण है, न रूप गुणकी पर्याय ही है । क्योंकि ये रूपादि गुण पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं । पुद्गलद्रव्यके परिणमन होनेके कारण अनुभूतिसे भिन्न हैं । मैं आत्मा निजकी अनुभूति रूप हूं । इसलिये जीवमें रूप नहीं है । जीवका वर्ण कुछ नहीं है । मेरेमें जब रूप गुण नहीं है, तो दुनिया मुझे जानती भी नहीं है । मेरा वह स्वभाव है, जिसे हम देखते हैं कि उन सबसे घुलमिल जाते हैं । सामान्य में एक व्यक्ति पकड़ा नहीं जा सकता । ऐसा मैं एक चैतन्य मात्र आत्मा हूं । चैतन्य ही सर्वोच्च सम्पत्ति है । रुपया पैसा इनकी क्या कीमत है ? रुपया पैसाके उपयोगमें आकर जीव को कुछ मिलना नहीं है ।

मैं किसी भी दिन दुनियाकी तरफसे मर जाऊं सब झगड़ा मिट जाये । मैं मर नहीं सकता, मैं अमर हूं, अविनाशी हूं । दुनियाके विकल्पोंको छोड़कर निर्विकल्प स्थितिको प्राप्त

हो जाऊं तो फिर संसारके झगड़ोंसे छुटकारा मिल जाये। निर्विकल्प स्थिति सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। मेरे वर्ण नहीं है। यह वर्ण पुद्गलका गुण और पुद्गलकी पर्याय है। यह वर्ण जिस द्रव्यमें है उससे बाहर नहीं जा सकता है। यह वर्ण शरीरसे आत्मामें नहीं पहुंच सकता है। मैं वर्ण नहीं हूं। इतना मोह शरीरसे जीवको है जिसका कोई ठिकाना ही नहीं। मोहियोंका कैसा चित्त है कि ऐसे अशुचि शरीरपर पाउडर, लिपस्टिक आदि लगाकर क्या करना चाहती हैं। यदि यह स्वाँग अपने ही पतिको दिखाना है तो पति तो दो ही घण्टे घरपर रहता है। यदि यह सुन्दरता दूसरोंको दिखानेके लिये है तो फिर तुम्हारे हृदयमें कितनी शुद्धता रही, यह तो आपही स्वयं जानती होंगी। यह काम पाउडर लगाना, लिपस्टिक लगाना किसी को नहीं करना चाहिए। यदि पुरुष यह श्रृङ्गार पसन्द करता है, वह विषयलोलुपी है। इस शरीरको संयममें लगाना चाहिये। शरीरमें उपयोग लगाना मोहकी बड़ी तीव्रताका द्योतक है। यह वर्ण है तो शरीरका है, आत्माका नहीं। शरीर मैं नहीं हूं। वर्ण मेरे नहीं पाया जाता।

१२७. आत्माकी रहितताका विकार—लोग कहा करते हैं, दूर बैठो, आपमें बड़ी दुर्गंध आती है। अरे, आत्मामें गन्ध है कहाँ, जो आपको दुर्गन्ध आने लगी। गन्ध आती है तो शरीरसे आती है। गन्ध दो प्रकारकी होती है सुगन्ध, दुर्गन्ध, ये दोनों गन्ध गुणकी पर्याय हैं। गन्ध गुण वह है, जो दुर्गन्ध और सुगन्धमें रहे। जैसे कहा करते हैं कि यह फूल अभी अच्छी गन्ध दे रहा था, अब इससे खराब गन्ध आने लगी। जो अच्छा बुरा लगता वह गन्ध गुण नहीं है, पर्याय है। मेरेमें गन्ध नहीं है। गन्ध शरीरकी वस्तु है, वह आत्मामें नहीं आ सकती है। बल्कि एक परमाणुका गन्ध गुण दूसरे परमाणुमें नहीं जाता है, फिर विजातीय आत्मामें कैसे पहुंच सकती है? सैण्ट तेलमें डाल दिया, परन्तु सैन्टकी खुशबू तेलमें नहीं पहुंचती है, सैन्टकी खुशबू सैन्टमें रहती है। सैन्टके जो स्कन्ध हैं वे तेल में नहीं पहुंचते हैं। तेल अपनी गन्धसे गन्ध वाला है, सैन्टकी गन्ध वाला नहीं बन सकता है। सैन्टकी खुशबूसे तेलकी खुशबू तिरोहित हो गई यह भी हो सकता और सैन्टको निमित्त पाकर तेल ने अपनी गंधका परिवर्तन कर लिया हो यह भी हो सकता। जैसे—जलमें लाल रंग डालनेसे जल लाल नहीं हुआ। आपको पानी लाल दीखता है। क्या लाल रंगके निमित्त से पानीने अपना रंग बदल दिया? यह प्रायः नहीं होता, पानी स्वच्छ ही है। इसी प्रकार पुत्रकी ऐसी कौनसी चीज आत्मामें आई, जिससे आप इतने आकृष्ट हो जाते हैं कि मेरा जो कुछ है सो पुत्र ही है। इस चैतन्य परिणमनमें परका उपयोग मत करो। वह घड़ी धन्य है, जब कि यह आत्मा अत्यन्त निर्विकल्प रहता है। उसी क्षणकी प्रतीक्षा करो कि जिस समय सब विकल्प छूट कर आत्मा आत्माका ही ध्यान करे। यह ध्यान ज्ञानमार्गको

दिखाता है। ज्ञानकी स्थिरता इस अनुभवको उत्पन्न कर देती है वह चैतन्य मात्र मेरेमें रहो। मेरेमें गन्ध नहीं है, गन्ध पुद्गल द्रव्यका परिणमन है। वह अनुभूतिसे भिन्न है, मैं अनुभूतिमात्र हूं।

१२८. आत्माकी रसरहितताका विचार—रस पांच प्रकारका है खट्टा, मीठा, कडुआ, चर्परा, कषायला। मैं आत्मा अमूर्त हूं। मैं इन पर्यायों रूप नहीं हूं, और इन पर्यायोंके स्रोत रूप रस गुण मैं नहीं हूं। पर्याय प्रवाह कहलाती है। मैं उस पर्यायरूप नहीं हूं। शुद्ध चैतन्य ज्ञानकी भीतरकी गोष्ठीमें बैठा हुआ ज्ञानी जब ज्ञानमात्र स्वभावमें तन्मय होता है, उसे दुनिया नहीं जानती है, मगर वह परमानदमय है। जिससे तीव्र राग हो, उस चीजका त्याग कर देना सबसे बड़ा बलिदान है। बलिदानके विना कुछ नहीं होता है। आत्माकी स्वतंत्रताके लिये जो कुछ हमें रुचता, उसका त्याग करना चाहिये। आपसे मुझे कुछ मिलना है नहीं, मुझसे आपको कुछ मिलना है नहीं, क्योंकि एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यमें नहीं जाते हैं। आपको कुछ कुटुम्बसे भी नहीं मिलता है, फिर तुम क्यों मोह करते हो ? जिसके घरमें निधि गढ़ी हो, जब तक उसे पता नहीं है तव तक वह गरीव है। इसी प्रकार स्वभाव यही है, स्वभाव मिटानेसे नहीं मिटता है, परन्तु जिन्हें स्वभावकी खवर नहीं है, स्वभाव उनसे अत्यन्त दूर है। हे अरहन्त ! आपके दर्शन मुझमें ही मिलेंगे। हे सिद्धदेव ! तुम्हारे दर्शन भी मुझमें ही मिलेंगे। मेरेसे बाहर तुम्हारे दर्शन नही मिल सकते हैं। जब मेरा भगवान और अरहंत सिद्ध भगवान एक आसनपर विराजे, लो दर्शन हो गये। मैं चैतन्य हूं। ऐसा यह चैतन्य मात्र आत्मा मैं आत्मा हूँ। मेरेमें कोई रस नहीं है, मैं रससे रहित हूं। रस पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं। रस अनुभूतिसे भिन्न हैं, मैं अनुभूति मात्र हूं। अतः मैं रस से भिन्न हूं।

१२९. जीवके रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका अभाव–जीवके स्पर्श भी नहीं है, स्पर्श जीव की कोई चीज नहीं है। स्पर्शकी आठ पर्याय हैं–ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना, कड़ा, नर्म और हल्का, भारी। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि पदार्थमें एक गुणकी एक पर्याय रहती है, फिर स्कन्धमें स्पर्श गुणकी चार पर्यायें (ठण्डा या गर्म, रूखा या चिकना, कड़ा या नर्म और हल्का या भारी) कैसे आ गई ? उत्तर:——नर्म-कठोर और हल्का-भारी ये खास पर्यायें नहीं हैं, किन्तु यह हमारी कल्पना है। अथवा ये स्कन्धमें होते हैं। यदि पुद्गलकी पर्याय हैं तो अणुमें भी होना चाहिए। परन्तु परमाणुमें दो पर्याय होती हैं–ठण्डा या गर्म और रूखा या चिकना। वास्तविक बात यह है कि परमाणुमें स्पर्श एक नहीं है और भेद करो तो उसका कोई नाम नहीं है। उसे स्पर्श इसलिए कहते हैं कि वह भी स्पर्शन इन्द्रियसे जाना जाता है, यह भी स्पर्शन इन्द्रियसे जाना जाता है। पुद्गलमें ऐसे ये दो गुण है जिनमें एकका

तो स्निग्ध या रूक्ष परिणमनमेंसे एक समय एक होता और दूसरे गुणका शीत उष्णमें से शीत या उष्ण, इनमेंसे एक समयमे कोई एक परिणमन होता। परन्तु उन दोनों गुणोंके उक्त विकास जाने जाते हैं स्पर्शन इन्द्रियके निमित्तसे, इससे स्पर्शकी वे पर्यायें कही गई है। जैसे आत्मामें दो गुण हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, किन्तु दोनों चेतनेका ही काम करते है, चेतनाके विकास हैं इससे एक चेतनामें दोनों गर्भित हैं। इसी तरह स्पर्श गुणमें वे दोनों शक्ति गर्भित हैं। आत्मामें कोई प्रकारका स्पर्श नहीं है। यों आत्मामें वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध नहीं हैं। अर्थात् आत्मामें मूर्तित्वपना ही नहीं है। आत्माका सबको ज्ञान है। जिसमें दुख होता है, कल्पना होती है, वही आत्मा है। आत्मा अत्यन्त समीप है, फिर भी नहीं जाना जाता है, इसमें मोह ही कारण है। मोहियोंकी तो यह हालत है कि 'विद्यते बालक: कक्षे नगरे भवति घोषणा।'

१३०. निर्ममतका एक दृष्टान्त—जिन जीवोंने ऐसा विश्वास कर लिया कि यह चैतन्य सद्भूत वस्तु मैं हूं, यह मैं सब पदार्थोंसे जुदा हूं। वे जीव निर्मोह हो जाते हैं, जिन्हें स्वतंत्र सत्ताका बोध हो जाता है, जो जीव सम्यग्ज्ञानी हैं, स्वतंत्र सत्ताका जिन्हें विश्वास है उनके मनमें तो विषादका रंच भी नहीं आ पाता। एक कथानक है—एक निर्मोह नामका नामका राजा था। उसका पुत्र जंगलमें चला जा रहा था। प्यास लगी, पानी पीनेके लिये कुटीमें गया। कुटीके अन्दर बैठे हुए साधु पूछते हैं:—तुम कौन हो, किसके पुत्र हो ? राजपुत्रने कहा:—मैं राजकुमार हूं, और मेरे पिताका नाम राजा निर्मोह है। साधुने 'निर्मोह' सुनकर कहा, क्या तुम्हारे पिता निर्मोह हैं। राजपुत्रने 'हाँ' कहा। साधु बोला, अच्छा मैं परीक्षा लेकर देखता हूं कि तेरा राजा कैसा निर्मोह है ? जो निर्मोह है, वह राज्य ही क्या कर सकता है ? मैं जब तक न लौटूं कृपा करके इसी कुटीमें विराजमान रहिये। राजगृहपर साधु गया। सबसे पहले उसे द्वारपर दासी मिली और कहने लगा:—तू सुन चेरी स्वामिकी बात सुनाऊं तोय, कुंवर विनाश्यों सिंहने आसन पड़्यौ है मोहि। हे चेरी ! सुन, राजाके कुंवरको शेरने मार दिया है, वह खूनसे लथ-पथ जंगलमें पड़ा है। यह सुनकर निर्मोह-चेरी कहती है कि:—न मैं चेरी स्वामकी न कोई मेरा स्वाम, प्रारब्धका मेल यह सुनो ऋषि अभिराम ॥ मैं किसीकी चेरी नहीं हूं और मेरा कोई स्वामि भी नहीं है। यह सब भाग्यवश होता है। चेरीका उत्तर सुनकर साधु बड़ा प्रभावित हुआ। अब साधु पुत्रवधू के पास जाकर कहता है कि:—तू सुन चातुर सुन्दरी अवला यौवनवान। देवीवाहन दल मत्यौ तुम्हरो श्री भगवान ॥ हे सुन्दरी ! देवीवाहन (शेर) ने तुम्हारे पतिको खा लिया। तब बहू जवाब देती है—तपिया पूरव जन्मकी क्या जानत हैं लोग। मिले कर्मवश आन हम अब विधि कीन वियोग ॥ कि क्या जाने हमने पूर्वमें क्या किया ? हम सब कर्मके उदयसे

आकर मिल गये थे। अब कर्मके उदयसे वियोग हो गया है। यह सुनकर साधु और अधिक आश्चर्यमें पड़ गया। जिज्ञासापूर्वक और राजमातासे कहता है कि:—रानी तुमको विपत्ति अति सुत खायो मृगराज। हमने भोजन न कियो तिसी मृतकके काज॥ कि तेरे लड़केको सिंहने खा लिया है और मैं विना भोजन किये चला आया हूं, क्योंकि तुम्हें यह समाचार सुनाना था। अब राजमाता कहती है कि—एक वृक्ष डाली घनी पंछी बैठे आय। यह पाटी पीरी भई चहु दिश उड़ उड़ जाय॥ जैसे एक वृक्ष है, उसकी शाखाओंपर दूर दूरसे पक्षी आकर बैठते हैं। पौ फटनेपर सब अपने वाञ्छित स्थानको उड़ जाते हैं। इसी प्रकार एक कुटुम्बमें सब आकर मिल जाते हैं, आयु पूर्ण होनेपर सब अपने कर्मोदयके अनुसार गतिको प्राप्त कर लेते हैं। यह उत्तर सुनकर साधुमें भी कुछ निर्मोहताका संचार हुआ। जिज्ञासा पूर्वक वह आगे बढ़ता है और राजाके पास जाकर कहता है:—राजा मुखते राम कहु पल पल जात घड़ी। सुत खायो मृगराजने मेरे पास खड़ी॥ हे राजन्! अब अपने मुंहसे 'राम' कहो। तेरे पुत्रको सिंहने खा लिया है। राजा बड़े निर्ममत्वपूर्वक उत्तर देता है। 'तपिया तप क्यों छांड़ियों इहाँ पलग नहिं सोग। वासा जगत सरायका सभी मुसाफिर लोग॥ हे तपस्विन्! तू अपनी तपस्याको छोड़कर यहाँ भागता फिरा, यहाँ तो रंच भी शोक नहीं है। इस प्रकार परीक्षा लेनेके लिये आया हुआ कुटियाका साधु स्वयं राजाके रंगमें रंग कर चला गया।

१३१. निर्ममत ज्ञानसे हितोपलब्धि—भैया! यह सर्व समागम ऐसा ही है। यहाँ न तो यह समागम साथ रहना है और न यह इच्छुक ऐसा रहेगा। एक सेठने एक बड़ा मकान बनवाया। जब उद्घाटनके समय मकान देखने के लिये लोग आये तो उनसे उसने कहा यदि इस मकानमें कोई कमी हो तो कहो। सभीने बड़ी प्रशंसा की। किन्तु एक व्यक्ति बोला—एक तो इसमें यह गलती है कि यह मकान सदा नहीं रहेगा। दूसरे इस मकानका बनवाने वाला भी सदा नहीं रहेगा। इसमें इञ्जीनियर क्या सुधारे? यह तो जगतका परिणमन हैं, इन गलतियोंको कोई सुधार नहीं सकता है। जैन सिद्धान्तका इस तरहका भेद विज्ञान और पदार्थका स्वरूप जो युक्तिसे भी ठीक उतरे, कहीं नहीं है। भगवान्ने ऐसा कहा है, अतः मान लो ऐसा नहीं है। यदि किसी देशमें कोई पक्ष न हो और उस जगह पदार्थके उस स्वरूपका वर्णन किया जाये तो जो यह चाहते हैं, "ग्रन्थमें लिखा है अतः हम नहीं मानते, आचार्योंने ऐसा कहा है अतः हम नहीं मानते"—ऐसे दिमाग वाले व्यक्ति भी द्रव्य-स्वरूप को समझकर माननेके लिए तैयार हो जायेंगे। यह द्रव्यस्वरूप ऐसा है, युक्तिसे सिद्ध कर लो, तुम्हारे दिमागमें उतरे तो मानो। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने यही तो बात ग्रन्थके प्रारम्भमें कही है। आत्मा वस्तु क्या है? तुम्हें इस चीजको युक्ति व वैभवके साथ बताऊंगा, परन्तु

हमारी जोरावरीसे मत मानना। प्रत्येक वस्तु अपने ही परिणमनसे परिणमती है। यदि हम कहें कि ऐसे लोग ऐसे बन जायें, इसीमें मेरा भला है यह तो मिथ्यात्व है। दूसरे सच-मुचमें करना है और—जीवोंपर दया, तो वह जीव कहेगा, समझायेगा और कोई विषाद नहीं करेगा। तुम्हारी समझमें आये मानना, न समझमें आये न मानना। जो मैं कह रहा हूं, सो ठीक है यह भी मैं नहीं कहता। मगर जो बात ठीक है, यदि वह बात तुम्हारे चित्त में बैठ जाये तो अच्छा है। यदि मैं तुम्हें समझानेमें चूक जाऊं तो आगे समझनेकी कोशिश करना। उचित शब्दरचना न बन पाई हो तो इसमें सिद्धान्तका दोष नहीं है। जिस ज्ञानसे निर्मोहिता बनती है, इसीमें सारा सुख है। अतः प्रयत्न करके यही कोशिश करना कि मोह न हो। जैसे—यह तुम्हारा लड़का खड़ा है, यह तुम्हारेसे अत्यन्त जुदा है, यह बात श्रद्धामें ही आजाये, बहुत बड़ी बात है।

१३२. प्राकृतिक चर्याविभाग—देखो भैया! पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से भैया! आजकल साक्षात् मोक्ष तो है नहीं, इसलिये मोक्षके एवजमें एक नई बात बता दें, वह अनेकोंको बड़ी प्रिय लगेगी। वह है नींद। सो देखो ये चार काम हैं और २४ घन्टेके भाग चार करो तो ६-६ घन्टे हुए। अब धर्म-अर्थ-काम और नींद-इन चार पुरुषार्थोंके लिये बराबरका समय दो। छह छह घण्टा तक प्रत्येक कार्य करो। पहले छह घण्टा धर्म, दूसरे छह घण्टा अर्थ, तीसरे छह घण्टा घरके देशके, सम्बन्धियोंके काम तथा चौथे छह घण्टा (रात्रिके १० बजे से ४ बजे तक) नींद। यह तुम्हारी दिनचर्या उत्तम रहेगी। यह जिंदगी रहेगी नहीं मिट जायेगी। यह शरीर किरायेका टट्टू है, इसे संयममें लगाओ।

१३३. आत्माका अरूपित्व—रूप माने भौतिकता या मूर्तिकता है, यहाँ रूपका अर्थ रंग नहीं है। आत्मामें मूर्तिकपना नहीं है। क्योंकि जो मूर्तिक होता है, वह पुद्गल है। पुद्गलसे आत्मा भिन्न है। आत्मामें रूप नहीं है। शरीर भी आत्माके नहीं है। शीर्यते इति शरीरम्—जो बरबाद हो जाये उसे शरीर कहते हैं। उर्दूमें शरीर माने शरारती है। जब भीतरसे राग मोह उठता है, तो लगता है शरीर बहुत अच्छा है। सारे शरीरमें मुख सबसे अच्छा लगता है, परन्तु शरीरके मुखभागसे जितना मैल बहता, उतना कहींसे नहीं बहता। उस मैलको निकालनेके लिये दरवाजे भी बने हैं। आस्य माने जिससे लार बहे। लपन-जो लप २ करे, यह पूराका पूरा शरीर अशुचि है। बढ़ियासे बढ़िया भोजन करनेके एक घन्टे बाद ही मलवायु निकलने लगता है। शरीरका चाहे जितना पोषण करो वह शरारत ही करता है। एक दिन वह आने ही वाला है कि जिस दिन शरीर छोड़कर चले जाना है। यह शरीर यहीं पड़ा रहा जायेगा, और आत्मा निकलकर चला जायेगा। जैसे औरोंके

शरीर जले, वैसे ही यह भी जलाया जायेगा। विना जानेमें ही इतनी आयु तो वीत गई, शेष दिन भी हाथ पर हाथ धरे हुए छोड़कर निकल जाते हैं। हे आत्मन्! अपना भी कुछ देखना है या परके विकल्पमें यों ही समय गंवाना है। देख एक परका अणु भी काममें नहीं आता है।

१३४. दौलतकी फजूल मुहव्वत— कहते हैं कि दौलतके दो लात होती हैं। जिस समय वह आती है, पहली लात वह छातीमें मारती है, जिसके कारण दौलत वालेको अहंकार हो जाता है, छाती तन जाती है। दूसरी लात जब वह जाती है तब कमरमें जमाकर जाती है। जिसके कारण दूसरोंके सामने नम जाना पड़ता है। इस दौलतकी मुहव्वतका फल कटु होता है। एक सेठजी थे। उन्हें धनसे मुहव्वत थी, लड़कोंपर वे तनिक भी विश्वास नहीं करते थे। उन्हें चावी भी न देते थे, लड़के वहुत समझाते, पर वह न मानता। जब यमराज छातीपर चढ़ आ वैठा, तव सेठको सुध आई और लड़कोंको वुलाकर कहता है—बच्चों, लो चावी। लड़के कहते हैं—पिताजी, चावी अव हमें नहीं चाहिए, साथ लेते, जाइये। दुनियामें कुछ भी करलो मरनेके समय किसीकी नहीं चलती है। मरनेके बाद कोई बात काममें नहीं आती है।

१३५. जीवसे देहका पार्थक्य—जीवका शरीर नहीं है:-यह शरीर, जिसके कारण दुनियाँ भरसे मोह करना पड़ता है यह शरीर मेरा नहीं है। इस शरीरसे आत्मा इतना अलग है जैसे दूधसे पानी। दूध दूधमें है, पानी पानीमें है। गर्म करने रख दो, दूध अलग रह जायेगा। पानी जल जायेगा। शरीरमें आत्माका वास है, परन्तु शरीर शरीरमें है और आत्मा आत्मामें है। आयुक्षय होनेपर आत्मा शरीरका साथ छोड़कर निकल जाता है। इसी शरीरके मोहके कारण धनसे मोह होता है और अन्य जीवोंसे मोह होता है। मोहसे ही अन्याय-न्यायका ख्याल नहीं रखा जाता है। कब तक चलेगी यह मायाचारिता, पोल तो एक दिन खुल ही जानी है। एक ग्वालिन थी। वह पाँच सेर दूध घरसे लेकर चलती और रास्तेमें नदीका उसमें पाँच सेर पानी मिलाकर बाजारमें दूध-बन्धनीपर दूध वेच आती। महीनेके अन्तमें उसे दूधके पैसे मिले। पैसे गठरीमें बाँधकर चली। रास्तेमें वही नदी पड़ी, इच्छा हुई नहा लिया जाये। गठरी किनारेपर रखी, कपड़े उतारे और नहाने लगी। उस गठरीको एक बन्दर लेकर पेड़पर चढ़ गया। उसके ऊपर उसने बहुत पत्थर फेंके, किन्तु बन्दरने गठरी न छोड़ी। कुछ देर बाद बन्दरने पोटली खोली और डालपर रख ली। उसमेंसे एक रुपया लेता नदीमें फेंक देता और दूसरा सड़कपर। इस प्रकार बन्दर खेल करने लगा। ग्वालिन यह देखकर कहती है कि हाय पानीका रुपया पानीमें गया और दूधका रुपया सड़कपर पड़ा मिल गया।

१३६. सृष्टिके विषयमें भिन्न अभिमत—ये बाह्य पदार्थ हैं इनकी रखवाली करने वाला कौन है ? जगत्में कोई सहाय्य नहीं है, अपनी दृष्टि ही सहाय्य है। कुछ तो जगत्के फंदमें फंसकर मालूम भी पड़ गया, कुछ और मालूम पड़ जायगा। वस्तु स्वरूपका ज्ञान ही मेरे लिये सहाय्य है। यह शरीर जीवका कुछ नहीं है। शरीर कैसे बना, किसने बनाया ? इस सम्बन्धमें निमित्तनैमित्तिक भावका प्राकृतिक नियम है। लोग कहते हैं कि यह चीज प्रकृतिसे उत्पन्न हुई परन्तु क्या प्रकृति किसीको दीखती है ? सांख्योंमें तो प्रकृति शब्द ही निश्चित है। और वे प्रकृति शब्दका कुछ अर्थ भी अनिश्चितरूपमें मानते हैं। पुरुष (आत्मा) में होने वाले मोहको बताया कि यह प्रकृतिसे होता है, प्रकृतिसे एक महान् उत्पन्न होता है, सीधे शब्दोंमें वह 'ज्ञान' है। ज्ञानको भी वे पुरुषसे उत्पन्न नहीं मानते। पुरुषको चैतन्यस्वरूप जरूर मानते हैं। जो मूल आचार्य हुए, उन्होंने कोई भी धर्म बेईमानीसे नहीं चलाया है। जाननेके लिये अनेक दृष्टियाँ लगानी पड़ती हैं। बस यह सब दृष्टि लगानेमें भूल है। इसी कारण सिद्धान्तमें भी भूल हो गई है। आत्मामें प्रकृतिसे समझ उत्पन्न हुई और समझसे अहंकार उत्पन्न हुआ और अहंकारसे पाँच इन्द्रियाँ—द्रव्येन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, शरीरके अवयव उत्पन्न हुए। इन्द्रियोंसे पाँच भूत उत्पन्न हुए। वे मानते हैं कि गंध पृथ्वी की चीज है। अग्नि नेत्रकी चीज है। शब्दका सम्बन्ध आकाशसे है। जलका सम्बंध रसना से और स्पर्शका सम्बन्ध वायुसे है। वे कहते हैं, यह सब प्रकृतिकी ही देन है। स्वभावसे जो चीज उत्पन्न होती है, वह दुनियांको नहीं दीखती है।

१३७. प्रकृतिस्वरूप—जैसे एक दर्पण है। उसके सामने कोई रंग बिरंगी चीज रख दी। रंग बिरंगी चीजसे उसकी कोई चीज नहीं निकल रही है। रंगबिरंगे कागजकी चीज है। अब दर्पणको देखो, दर्पणमें रंगबिरंगे कागजमें कागजका परिणमन दीख रहा है। दर्पण में जो फोटो उत्पन्न हुआ, वह प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ। वह प्रकृति क्या कागजकी प्रकृतिसे उत्पन्न हुई ? नहीं, क्या वह दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुई ? नहीं। यदि वह कागज और दर्पण की प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ होता तो दोनोंमें एक ही बात होनी चाहिए थी। इसी तरह न केवल दर्पणके स्वभावसे वह उत्पन्न हुआ। वास्तवमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका नाम प्रकृति है। ऐसी योग्यता वाला दर्पण हो और रंगबिरंगे कागजकी अभिमुखताका निमित्त मिले, दर्पण इस रूप परिणम जाता है—इसका कारण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। दर्पणका ही ऐसा स्वभाव है कि दर्पण ऐसे पदार्थको अभिमुख पाये, इस रूप परिणम जाता है, इसका नाम प्रकृति है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धपूर्वक जो कार्य होता है, उसे समझ लेना। अग्निको निमित्त पाकर हाथ जल जाता है। क्यों जल जाता है, इसमें कोई क्यों चलती नहीं है। यदि कोई न समझे, हाथपर आग रख दो, अपने आप समझ जायेगा कि क्यों जल जाता है ? सूर्यका निमित्त पाकर ये पदार्थ प्रकाश परिणत हो जाते हैं, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

शास्त्रोंके शब्दोंका निमित्त पाकर आत्मामें परिणमन हो जाता है। नियम, प्रकृतिकी वात और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक ही वात है। यह चौकी, इसके सामने प्रकाशपरिणत काष्ठ है। अतः यह काठको निमित्त पाकर प्रकाशरूप परिणत हो रही है। दर्पणको निमित्त पाकर इस कमरेके पदार्थ प्रकाशपरिणत हो जाते हैं। जो ये किरणें दिख रही हैं-ये भी स्कन्ध हैं। सूर्यको निमित्त पाकर जो प्रकाश परिणत हो रहे हैं, जगतमें जो भी निर्माण हो रहा है, वह सब निमित्त-नैमित्तिक सम्बंधसे हो रहा है। इसीका नाम प्रकृति है।

१३८. शरीरप्रसंग—जीवके कोई कारण पाकर कषाय भाव उत्पन्न हुए, उस उदित कषायको निमित्त पाकर कर्मबन्धन हो जाता है। और उस कर्मबन्धनका नाम है, कार्माण शरीर। उसी कार्माण शरीरके साथ तैजस शरीर भी है। इस तैजस कार्माण शरीरमें रहने वाला आत्मा जिन परमाणुओंको ग्रहण करता है, नाम कर्मके उदयको निमित्त पाकर यह ढाँचा वन जाता है। यह शरीर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ। यहाँ प्रकृति माने कर्म और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध। इस प्रकृतिसे हमारा शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर औदारिक वर्गणाओंका वना हुआ है। पंचेन्द्रियोंमें नारकी और देवका शरीर वैक्रियक वर्गणाओंसे बना है। मेरे शरीरके निर्माणमें माँ-बापकी कोई करतूत नहीं है, फिर अपनेमें यह भ्रम क्यों लगाये हो कि मेरे उत्पन्न करने वाले मेरे माता-पिता हैं। तुम्हारे शरीरके बननेमें निमित्त रजोवीर्य है तथापि सारी विधिका तो अध्ययन करलो। प्रथम तो भैया, शरीर न मिले तो अच्छा है। शरीरका बन्धन टूट जाये, यही सबसे बड़ा काम है। मगर मोहमें इस कामके लिये उत्साह ही नहीं जगता है। ऐसा प्रयत्न करो कि इस शरीरका बन्धन छूट जाये। यह शरीर जीवका कुछ नहीं है। यह संस्थान तो जीवका कुछ हो ही नहीं सकता है।

१३९. जीवमें वर्णादिका अभाव—यह जीव चैतन्यशक्तिसे व्याप्त है, सर्वस्वसार जिसका इतना ही है। जैसे व्यवहारीजन राजाको ५ राज्योंमें फैला हुआ निरखते हैं, इसी प्रकार अज्ञानीजन जीवको रागद्वेषादिक विचार विकल्प वितर्क अनेकोंमें व्याप्त हुआ देखते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष इन सबसे हटकर केवल चैतन्यशक्तिमात्र जीवको निरखता है। जीव का सर्वस्व सार चैतन्यशक्तिमें ही समा गया है। इससे बाहर जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं है। तब फिर जितने भी अध्यवसान विकार, अनुभाग उदय आदिक कहे जाते हैं उन्हें जीव माना जा रहा था। वे सब पौद्गलिक हैं, इसी कारण यह निर्णय समझिये कि जीवके वर्ण नहीं है। वर्ण है तो यह शरीरके। शरीर पौद्गलिक है। पुद्गलमें वर्ण होता, जीवमें वर्ण नहीं होता। लोग वर्णपर इस रूपपर अति मोहित होते हैं, किन्तु रूप चीज क्या है? सिवाय एक रूपको देख लेने भरका कोई भाव है। वह न छूनेमें आता, न

सूंघनेमें आता, न रसनेमें आता। अन्य किसी उपयोगमें आता ही नहीं है। अनेक भोज्य पदार्थ खाये, चलो उससे भूख प्यासकी बाधा मिटी, मगर किसी रूपके निरखनेका जो एक व्यसन है उससे आत्माको कौनसी शान्ति होती है ? फिर रूप है क्या ? कैसा ही रूप हो, कुछ भी वर्ण हो, वह एक वर्ण मात्र है। उसमें सार तत्त्व कुछ नहीं है, फिर शरीरके रूप के सम्बन्धकी बात सुनो। वह तो स्पष्ट असार है। क्या है ? हाड़ मांस चाम आदिक एक पौद्गलिक पिण्ड पड़ा है. उसमें एक पौद्गलिक पिण्ड पड़ा है। उसका रूप है किसी भी प्रकार रहे। उसमें सार क्या है ? तो शरीरको निरखकर लोगोंको सर्वप्रथम वर्ण दिखता है और उस वर्णको देखकर फिर आसक्ति मोह व्यवहार आदिक बनाते हैं। वे सब व्यर्थ की चीजें हैं, और जीव इसमें व्याप नहीं रहा। जीव तो अपनी चैतन्यशक्तिमें व्याप रहा है। इसको इस ढंगसे भी निरख सकते हैं कि जैसे एक ही जगहमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य रहते हैं, पर यह तो बतलावो कि धर्मद्रव्य, अधर्म और आकाशमें व्याप रहा क्या ? यह तो झट समझ जायेंगे कि धर्मद्रव्य अधर्ममें नहीं व्याप रहा, मगर आकाशमें तो व्याप रहा ? नहीं। जैसे धर्मद्रव्य अधर्ममें नहीं व्याप सकता इसी प्रकार धर्मद्रव्य आकाशमें भी नहीं व्याप सकता। अच्छा। तो जीव तो आकाशमें व्याप रहा होगा ? नहीं। जीव आकाशमें नहीं व्यापता। तो जीव रागादिक भावोंसे तो व्याप रहा होगा ? नहीं। जीव रागादिक भावोंसे भी नहीं व्याप रहा। जीव तो अपने एक जीवत्व स्वरूपसे व्याप रहा। तो जिसका सर्वस्वसार चैतन्यशक्ति है ऐसा यह जीव उतना ही है, यहाँ तक जिनको ज्ञान हो गया वे संसारसे पार हो गए। समझ लीजिये। कुछ काल रहेंगे निर्वाण अवश्य पायेंगे। जिनको इतनी दृष्टि मिली कि मैं तो उतना मात्र हूं जिसका सर्वस्वसार चैतन्य शक्तिमें ही व्याप रहा, इससे बाहर नहीं। ऐसे इस जीवमें वर्णकी कथा करना यह विचित्र बात है। वहाँ वर्णका क्या प्रसंग ? इसी प्रकार जीवमें गंध कहाँ ? गंधमें जीव नहीं व्याप रहा। जीव तो जीवसे भिन्न है, रागादिक उन तकमें भी नहीं व्याप रहा, अन्यकी तो बात क्या कही जाय ? तो जीवमें न वर्ण है, न गंध है, न रस है, न स्पर्श। ये सब पुद्गलमें रहते हैं, पुद्गलके गुण हैं, पुद्गल गुणकी पर्यायें हैं। इसी प्रकार जीवके मूर्तपना भी नहीं है। चारोंका मेलमिलापसे समझा जा सकने वाला मूर्तपना भी जीवके नहीं है। जीव एक भावमात्र तत्त्व है, अन्यथा उसमें जानने देखनेकी क्रिया ही नहीं भहीं हो सकती। भावमात्र तत्त्व ही कोई जानन देखनका कार्य कर सकता है। मूर्त पदार्थमें तो जानन देखनका कार्य हो ही नहीं सकता।

१४०. आत्महितमें देहदृष्टिकी महती अटक—जीवके शरीर नहीं। शरीरकी अटक इतनी बड़ी भारी अटक है, जैसे घरमें किवाड़ लगे हों तो वह बड़ी अटक है। घरमें कैसे

घुसा जाय ? इसी प्रकार शरीर जीव है, यह मैं हूं, इस प्रकारकी जो दृष्टि है वह इतनी बड़ी भारी अटक है कि जीव अपने घरमें प्रवेश नहीं कर सकता । शरीरको आत्मा मानना इस प्रकारकी अटक है जैसे घरके द्वारमें किवाड़ लगे हों । इस आत्मारामके द्वारपर शरीरमें आत्मबुद्धिके किवाड़ लगे हैं, विकल्पके किवाड़ लगे हैं, अब कैसे हम आत्मगृहमें प्रवेश करें ? शरीर मैं हूं– यह अटक सब अटकोंमें प्रधान अटक है । शरीरका अनुराग रखना मोह रखना यह महापाप है । यद्यपि जीवन रखनेके लिए थोड़ी शारीरिक सेवा करनी होती है लेकिन यह तो सबका अपना-अपना भाव बता सकता है कि धर्मसाधनके लिए हम जीना चाहते हैं या जीनेके लिए हम इस शरीरको खिलाते पिलाते हैं, यह सब कोई अपने भावोंसे समझ सकता है, और यह बात वही समझ सकता है जिसे यह मालूम है कि धर्मसाधन कहते किसे हैं ? कैसा है आत्माका धर्म ? चैतन्यस्वरूप, निजस्वभावमात्र । उस निजस्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोग बसानेको धर्म कहते है । धर्म यही करना है, इसके लिए हम इस पर्यायमें जी रहे हैं, ऐसे जीनेके लिए हम शरीरकी साधना बनाते हैं ऐसा जो भाव करे उसे तो कहेंगे कि हाँ वह सत्पथपर है. पर अन्यमें यह भाव ही नहीं है, खाना पीना, मस्त रहना, शरीरको तो पलंगपर ही डाले रहना, इससे काम न लेना । कहीं यह शरीर घुल न जाय, इस शरीरकी अनेक लोग सेवायें करें, ऐसा भाव रखने वाले तो पापी हैं । उनमें धर्मका अंश नहीं है; क्योंकि शरीरकी अटक आत्मदेवके दर्शनमें इतनी कठिन बाधक है कि जैसे घर में प्रवेश करनेको रोकनेमें किवाड़ बाधक हैं । मजबूत किवाड़ लगे हों तो भीतर ही नहीं जा सकते । इस तरह शरीरमें अटक बन गयी हो, शरीर ही सब कुछ है, वह आत्माराममें प्रवेश नहीं कर सकता । यदि कोई धनिक है तो उसे यह समझना चाहिये कि अकिञ्चन बननेपर, अपनेको ज्ञानमात्र माननेपर अपना पूरा पड़ेगा । तब फिर उस घरमें मोह क्यों करना ? शरीरमें भी मोह न करना । यदि कोई गरीब हो तो उसे तो यह समझना चाहिये कि हमें तो एक सहज मौका सा भी मिल गया । एक बड़ा भार जो हमें हटाना पड़ता धन होनेपर, उस धनसे उपयोग हटाकर अपनेको अकिञ्चन माननेकी जो एक कसरत करनी पड़ती, मैं उस एक कसरतसे बच गया । एक सुगम वातावरण मिला हुआ है । अब थोड़ा शरीरकी अटक और छोड़ दें । देखिये—आपका अभी सब कुछ भला हो जायगा । अरे जो शरीर जल जाने वाला है, श्मशानमें लोग जला डालेंगे अथवा कहीं फेंक देंगे, पक्षी चोंट जायेंगे उस शरीरका इतना तेज अनुराग कि जिसमें अपने व्रतका भी ध्यान न रहे । किसी भी प्रकार हो शरीर मौजमें रहे ऐसी बुद्धि रखनेसे संसार बढ़ेगा । अगर संसार संकटोंसे बचना है तो इतना तो किया ही जाना चाहिये । यह शरीर मैं नहीं हूं ।

१४१. निरपेक्षतामें स्वावलम्बनका प्रकाश—यह संस्थान मैं नहीं हूं । जो शरीरका आकार

बने, उस आकारको निरखकर हम समझते हैं कि बड़े बलिष्ट हैं, हम बड़े बलवान हैं, साहसी हैं, हम बहुत नामी है। अरे यह संस्थान क्या तेरा है ? यह तो पौद्गलिक संस्थान है। तुम तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र भाव हो। अपने उस ज्ञानमात्रको सम्हाल। जीवके संघनन भी नहीं, संघनन हड्डीकी मजबूतीको कहते हैं। अस्थिरचतताका नाम संघनन है। क्या मैं यह हड्डियाँ हूं ? अरे इस हाड़ पिंजरमें जो ममत्व रखे हुये हैं वे क्या इस जीवतत्त्वको पा लेंगे ? जैसे एक भिखारी पुरुष जिसके पास धन नहीं है और वह भिखारी माने कि मैं तो धनकी ममतासे जुदा हूं तो उसका यह मानना बेकार है, क्योंकि धन उसको मिल जाय और फिर उसे न अपनाये, उसे न रखे तो वहाँ परीक्षा हो सकेगी कि यह सचमुचमें अकिञ्चन था। यों ही गरीबीकी हालतमें नौकर-चाकर नहीं मिलते हैं शरीर सेवाके लिए और वह गरीब माने कि मैं स्वाधीन हूं तो उसका कहना यह झूठा हुआ। अरे उसे यदि कोई नौकर चाकर मिल भी जाय और वहाँ भी उससे सेवा न चाहे, और जाने कि मैं तो वही हूं जो पहिले था, सेवासे ममत्व न रखे तो समझिये कि वह स्वावलम्बी है। जब सब कुछ छोड़कर अपनेको अकिञ्चन अनुभव करते हैं तो शरीरकी इतनी ममता रखना कि यह शरीर भी हमारे ढोये नहीं चल सकता जिसके ढोनेके लिये भी नौकर चाहिये, तब समझिये कि ऐसे आसक्त जीवनमें धर्मकी दृष्टि नहीं बन सकती। यह बात एक आत्माके भलेके नातेसे कही जा रही है। अनावश्यक परतंत्रता ये भावको बिगाड़ देने वाली चीज है। आवश्यक सहयोग वह तो एक परस्परका आदान प्रदान है, पर शरीरकी इतनी आसक्ति कि जो कुछ है देवता मेरा सो शरीर है। भले ही हम प्रभुपूजा कर लें, किन्तु चित्तमें यह बात बसी कि शरीर ही मेरा देवता, न अरहंत, न सिद्ध, ऐसी तीव्र आसक्तिमें विशुद्ध ज्ञानका अनुभवन आ सके ऐसी पात्रता आ सकती है क्या ? इस जीवाजीवाधिकारमें जीवके उस स्वरूपका वर्णन किया जा रहा है कि जिसकी निगाह होनेपर यह कृतार्थ हो जाय, उस चैतन्यशक्तिका दर्शन हो जो लोकमें अब तक नहीं किया। बाह्य बातें तो अनेक बार मिली हैं। मैं अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव वाला एक अंतस्तत्त्व हूं। इस मुझ अंतस्तत्त्वका चित्शक्तिसे ही सम्बंध है, तन्यमपना है। उस चैतन्यशक्तिके सिवाय अन्य किन्हीं भावोंमें नहीं व्याप रहा। आकाश आदिकपें क्या व्यापेगा ?

१४२. बोलना और देखना राग बढ़ानेके खास कारण—सबसे अधिक विपत्ति इन्हीं दो खास कारणोंसे मिलती है। हे आत्मन् ! तू हैरान मत हो कि तुझे मालूम नहीं कि आँख और मुँहपर नियन्त्रणके लिये दो ढक्कन लगे हैं। तुम इन दो ढक्कनोंसे आँख और मुंहको बन्द कर डालो तो इन सब विपत्तियोंसे छूट जाओगे। बोलना और देखना जब मदद करते हैं तो और इन्द्रियोंके कारण भी अधिक नुक्सान पहुंचता है। कान, नाकमें और सारे

शरीरमें ढक्कन नहीं हैं। भाग्यसे आंख और मुँहपर ढक्कन भी मिल गये हैं। लगाओ या न लगाओ तुम्हारी इच्छा है। यह शरीर मेरा कुछ नहीं लगता है।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥

१४३. **जीवके रागका अभाव**—जीवके राग नहीं है, द्वेष नहीं है और मोह भी नहीं है तथा जीवके न तो आस्रव (भावकर्म) है, न कर्म है और न नोकर्म (शरीर) है। जीवके राग नहीं है अथवा राग जीवका कुछ नहीं है। राग क्या चीज है? राग प्रकृतिके उदयको निमित्त पाकर जीवकी चारित्र शक्तिसे होने वाले परिणमनको राग कहते हैं। राग आत्माका परिणमन है, वह कर्मोदयको निमित्त पाकर हुआ, अतः वह न तो जीवका ही कहा जा सकता है, न कर्मका ही। जो जिसका स्व होता है, वह उसके पास तीन काल रहता है। राग जीवका कुछ नहीं है। कर्मके उदयको निमित्तमात्र पाकर हुआ राग किसका हो जाये? जैसे दर्पण है, दर्पणके सामने रंगविरंगी चीज रख दी, दर्पण रंग विरंगा हो गया। अब हम रंगविरंगापन किसका बतावें? यदि हम दर्पणका कह देते हैं तो रंग विरंगापन दर्पणका सदा होना चाहिये और कागजमें वह फिर नहीं रहना चाहिये।' यदि रंगविरंगी चीजका रंग विरंगापन बता देवें तो वह उसके प्रदेशसे बाहर नहीं जा सकता है। वास्तवमें रंगविरंगी चीजको निमित्त पाकर दर्पण रंगविरंगे रूप परिणम रहा है। यहाँपर जीवका स्वरूप बताया जा रहा है। जब जीवके स्वरूपको निरखते हैं तो राग जीवका नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव हरेक चीजको अनेक दृष्टियोंसे जब जान लेता है तो उनके उपयोगमें शुद्ध स्वरूपके अतिरिक्त कुछ ठहर नहीं पाता है। राग आत्मामें नहीं है, स्वभावसे देख रहे हैं। राग जड़ पदार्थोंमें भी नहीं है अतः राग ठहरेगा कहाँ? सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायके अशुद्ध भावोंको आश्रय नहीं देता है। ये रागादिक भाव एक क्षणको आते हैं और दूसरे क्षणको चले जाते हैं। यह आत्मा एक क्षणको आने वाले राग आदिमें राग करके क्या नफा पायेगा, केवल आकुलता ही पायेगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको रागमें राग नहीं होता है। आये हुए रागपर उसे खेद रहता है, उसे अपनाता नहीं है और न आशा करता है कि यह राग बना रहे। वह रागको वियोग बुद्धिसे टालना चाहता है। जीवके राग कुछ नहीं है। राग आत्माका परिणमन है तथापि स्वभाव दृष्टिकी प्रधानतासे आत्माके पारिणामिक भावको देखने वाला जीव चैतन्यशक्तिके अतिरिक्त जितने भाव हैं, उतने भावोंको सम्यग्दृष्टि नहीं मानता है। जीवके राग नहीं है। जीव तो चैतन्यस्वरूप है।

१४४. **दृष्टान्तपूर्वक रागभावकी उपेक्ष्यताका वर्णन**—जैसे कोई सेठ हो, आरामसे पलने पुसने वाला हो। उसे कैद हो जाये और उसे चक्की पीसना पड़े तो वह चक्की तो

पीसेगा, परन्तु उसके पीसनेमें वह आनन्द नहीं मानता है। उसका चक्की पीसनेमें राग नहीं है। यही हालत सम्यग्दृष्टिकी है। उसे भोगना पड़ता है, परन्तु उसकी भोगनेमें इच्छा नहीं होती है। जिसका भाव वैराग्यका हो गया है, उसका मन तो रागके करनेमें लगता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टिके राग तो होता है, मगर रागमें राग नहीं होता है। जैसे कोई रईस आदमी है। उसे हो जाये बुखार। वह स्प्रिंग वाले पलंगपर पड़ा हो, वहाँ चारों ओरसे सजा हुआ कमरा हो, चारों ओरसे पंखे चल रहे हों, द्वारपर चपरासी खड़ा हो, डाक्टर वैद्य बुखार देख रहे हों, अर्थात् सब प्रकारका आराम हो, परन्तु क्या वह रईस ऐसे आरामको चाहेगा ? उसे औषधि दी जा रही हो, उसे पी भी रहा हो, परन्तु उसमें उसे राग नहीं है, उसकी यह इच्छा नहीं है कि मैं औषधि ऐसे ही सदा पीऊं। पी रहा है अतः औषधिसे राग है, परन्तु औषधिके रागसे राग नहीं है। वह नहीं चाहता कि मुझे ऐसी औषधि जिन्दगीभर मिले। औषधि पीकर किसीके मनमें यह भाव नहीं आता कि हमें यह औषधि जिन्दगीभर मिलती रहे, चाहे वह मीठी ही क्यों न हो ? इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको कर्मोदयके कारण नाना विडम्बनाएं होती हैं, उसे राग भी होता है, मगर वह उसे चाहता नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव चीजको चाह लेता है, मगर वह चाहकी चाहको नहीं चाहता है, क्योंकि वह जानता है कि यह आत्माका वैभाविक परिणमन है क्षणिक है, उसे आस्रवके प्रति ऐसा विश्वास है, मगर वह आस्रवमात्रको नहीं चाहता है। कोई आदमी किसी दूसरे आदमीकी हिंसा कर ही नहीं सकता। हिंसा करेगा तो अपनी करेगा और दया भी करेगा तो अपनी ही करेगा। वह हिंसा क्या हुई, दूसरेके सम्बन्धमें जो विचार हुए, इसका नाश हो जाये आदि, उन विकल्पों से हिंसा हुई और हिंसा भी हुई विकल्प करने वालेकी। जब हिंसाका विकल्प होता है, जीव को मारनेका विकल्प होता है। जीव चाहे मरेगा बादमें, पहले हिंसा विकल्प करनेसे हो ही गई।

१४५. पुण्योदय व पापोदयमें समताका निर्णय—सम्यग्दृष्टि जीवके निर्णयमें पापका उदय और पुण्यका उदय बराबर है। पुण्यके उदयमें भी निर्विकल्प शान्ति नहीं और पापके उदयमें भी उसे शान्ति नहीं है, ऐसी उसकी प्रतीति है, जो पुण्य और पापको बराबर देख रहा है, क्या वह उनके कारणभूत उपयोगको बराबर नहीं मानेगा ? मानेगा। और शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे बने हैं पुण्य और पाप। पुण्य और पापके उदयसे सुख और दुःख होता है, सो वह सुख दुःखको भी बराबर मानता है। सम्यग्दृष्टिने कुछ ऐसी चीजका अनुभव कर लिया है कि उसकी दृष्टिमें पुण्य भी कष्टकर है और पाप भी उसे कष्टप्रद प्रतीत होता है। एकेन्द्रिय जीवोंमें गुलाबके पुण्यका उदय अन्य अनेक फूलोंसे अधिक है। गुलाबके फूलके पुण्य का क्या फल हुआ—फूलका तोड़ा जाना। पुण्यका उदय है ना, चम्पाके ? सो उनके पुण्यका

उदय होनेके कारण वे तोड़ लिये जाते हैं। खराब फूलोंको कौन तोड़ता है ? उनका आयुच्छेद तो लोगोंके निमित्तसे नहीं होता है। सदा पुण्य और पापके उदयमें कष्ट मिलता है। एकको मानसिक कष्ट और दूसरेको शारीरिक कष्ट होता है। यह उपाधि भी मानसिक दुःख, आधि-मानसिक दुःख उप–समीप, जो मानसिक दुःखके पास ले जाये, उसे उपाधि कहते हैं। धनादि सब उपाधि हैं। एक क्षण भी जीवनका ऐसा गुजरे कि समस्त विकल्प छूटकर शुद्धोपयोग रहे। आत्माका ध्यान हर वक्त बना रहनेके तीन वक्त सामायिक करना बताया गया है। देखो ना छः घण्टे अन्यत्र गये, फिर सामायिक, शामकी सामायिकसे सुबहकी सामायिकमें १२ घण्टेका अन्तर रहता है सो वहाँ भी करीब जगनेके तो छह घण्टे गये। दिनकी सामायिकोंका अन्तर छह-छह घण्टेका है। साधुकी नींद एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं होती है। यदि उनकी नींद अन्तर्मुहूर्तकालसे अधिक हो जाये तो सातवें गुणस्थानसे गिर जाता है। छट्ठे गुणस्थानका अन्तर्मुहूर्तकाल भी ४८ मिनटका नहीं होता है, बहुत हल्का मध्यम अन्तर्मुहूर्त होता है। तो साधु तो अर्धरात्रिमें भी सामायिकमें बैठ जाते हैं।

१४६. जीवकी अन्यमें राग करनेकी अशक्यता--जीवके राग नहीं है। जैसे आप कहते हैं कि हमारा बच्चेमें राग है। तुम्हारा राग और बच्चेमें पहुंच जाये, ऐसा हो नहीं सकता। तुम्हारा राग तुम्हारेमें ही रहता है, किन्तु आप बच्चेको विषय बनाकर अपने राग भावका आविर्भाव कर रहे हैं। हमारा कोई भी परिणमन किसी अन्यमें नहीं पहुंचता है। यह सब एकाँगी नाटक हो रहा है, दो मिलकर कोई कुछ नहीं कर रहे हैं, केवल एक ही करने वाला है, वही उसे देखनेवाला है या भोगनेवाला है। भला करते हो तो अपना, बुरा करते हो सो अपना। भिखारीको देखकर क्या आप उसके लिये भीख देते हैं। आपने भिखारीके रोनेको देखकर अपने आपमें एक नया दुःख उत्पन्न कर लिया, उस दुःखसे आप बेचैन हो जाते हैं। अपने दुःखको मेटनेके लिये आप भिखारीको भीख देते हैं। आप बच्चेको दुःखी देकर अपने रागको पूर्ण करते हैं। आप बच्चेको नहीं पोषते हैं, आप अपने रागको पोषते हैं। जो करता है, वह अपनी बात करता है, दूसरेकी कोई कुछ नहीं करता है। इस संसारमें कोई किसीकी नहीं सुनता है, सब अपनी-अपनी सुननेमें लगे हैं। कोई किसीका हितैषी नहीं है। हरेक प्रकारसे आप अपने ज्ञानकी वृद्धि करके अपनेको जान लो।

१४७. रागकी भिन्नता व असारता—जीवके राग नहीं है, यह बात बताई जा रही है। रागमें ये कषाय आ जाती हैं:—माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद—ये प्रकृतियाँ रागमें आ जाती हैं। राग नामकी कोई प्रकृति अलगसे नहीं है। माया लोभादि कषायोंका नाम ही राग है। ये सब आत्मामें नहीं हैं। जिस प्रकार राग आत्माका कुछ नहीं है, उसी प्रकार द्वेष भी आत्माका नहीं है। क्रोध, मान, अरति और शोक, भय

और जुगुप्सा—ये द्वेषकी प्रकृतियाँ है। मान द्वेषमें आता है, इसका कारण जो मान करता है उसकी दृष्टिमें अन्य लोग मेरेसे नीचे हैं, यह भरा रहता है। मान करना द्वेषकी ही किस्म है। किसी से विशिष्ट राग हो, उसमें अपने आपके बड़प्पनका अभिप्राय नहीं रह पाता है। अपने आपके बड़प्पनका ख्याल तभी होता है जबकि किसीसे द्वेष हो। अरति और शोक भी द्वेषका ही परिणमन है, यह द्वेष भी आत्माके नहीं है। ये द्वेष कर्मज है, सहेतुक है, पौद्गलिक है, अतः आत्माके नहीं हो सकते हैं। पुद्गलके निमित्तसे होने वाले पौद्गलिक कहलाते हैं। आत्मामें रागद्वेष पुद्गलके निमित्तके बिना नहीं हो पाते हैं। रागादि हैं आत्मा के ही परिणमन। यदि सब प्रकारसे वर्णन न किया जाये तो जीवको ठीक दिशा नहीं मिल पाती है। जिसको यही पता नहीं कि रागद्वेष मेरे हैं, मुझे दुःख देते हैं, तो रागद्वेष मेटनेका प्रयत्न ही क्या करेगा ? रागद्वेष मुझमें उत्पन्न होते हैं, जिस काल ये उत्पन्न होते हैं, उस काल ये मेरेमें तन्मय हैं। यदि यही जाने कि ये रागद्वेष मुझमें उत्पन्न हुए हैं और यह पता न हो कि ये सहेतुक हैं, पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं तो उसे यह कैसे मालूम होगा कि रागद्वेष दूर किये जा सकते हैं ? इस कारण उपादान दृष्टिसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं और जिस काल उत्पन्न होते हैं, तन्मय हैं, तो भी आत्माके स्वभाव भाव नहीं हैं, निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं। ये रागद्वेषादि यद्यपि पुद्गलको निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं मुझमें ही, तथापि ये दुःखरूप है, अतः इन्हें दूर करना चाहिए। यह भीतरका विचार ही अपनेको बरबाद करता है। एक तो बाहरका कोई शत्रु नहीं होता है। यदि होता भी है तो दूर किया जा सकता है। परन्तु अपने घरमें छिपा शत्रु अपनी उन्नतिको रोक देता है, उसकी स्थिति सदा भयावनी होती है। ये राग आदि आत्मा के भीतरी शत्रु हैं, आत्माके वैभाविक परिणमन हैं। स्वभाव दृष्टिसे देखनेसे यह निर्णय होता है कि रागद्वेष मैं नहीं हूं। आज किसी पुरुषके विषयमें ख्याल हो गया कि यह मेरा दुश्मन है, तब वह आकुलित होता है और जब यह मालूम हो जाता है कि यह मेरा भीतर से हितैषी है तो मित्रता हो जाती है।

१४८. रागवश इष्ट अनिष्टकी कल्पना—पदार्थ है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक। पदार्थमें इष्टपनेका कोई निजी तत्त्व नहीं है। जैसे यह समयसार किसीको जबर्दस्ती पढ़ाया जाये तो यह उन्हें अनिष्ट है। और जो इसका जानने वाला है, यही पुस्तक उसे इष्ट हो जाती है। यह पुस्तक स्वयं न इष्ट है, और न स्वयं अनिष्ट है। हमारी जैसी रुचि होती है उसीके अनुसार हम हिस्से बना डालते हैं। वस्तुके तो हम हिस्से क्या बना सकते हैं, हमारेमें जो अध्यवसान अपने परिणमनसे आप उठता है, हम उसके दो भाग कर डालते

हैं—इष्ट और अनिष्ट। वास्तवमें हम पदार्थके टुकड़े नहीं कर सकते हैं। पदार्थ तो स्वयं इष्ट भी नहीं है, न ही पदार्थ अनिष्ट है। रागके कारण वस्तु इष्ट प्रतीत होती है और द्वेषके कारण वही वस्तु अनिष्ट जंचने लगती है। जो बच्चा आपको बचपनमें प्यारा लग रहा था, वह उस समय आपके लिये इष्ट था, वही बच्चा बड़ा होनेपर अनुकूल व्यवहार न होनेसे अनिष्ट प्रतीत होने लगता है। जो स्त्री जवानीमें इष्ट प्रतीत हो रही थी, वह बाल पक जानेके कारण आज अनिष्ट प्रतीत होने लगती है। कोई परपुरुष जो आज तुम्हारे लिये अनिष्ट है, और वही यदि तुम्हारे विषयकामनाओंमें साधक बन जाये तो वही इष्ट प्रतीत होने लगता है। अपना बालक चपटी नाकका भी हो, मुंहसे लार बह रही हो, तब भी वह आपको इष्ट प्रतीत होता है। आपका अपना चेहरा चाहे असुन्दर भी हो, दर्पणमें देखते ही सुन्दर कहने लगते हो। दुनियामें जो आपको इष्ट लगे वही आपको सुन्दर लगने लगता है और जो आपको अनिष्ट लगता है, उसे आप असुन्दर कह देते हैं। यह सब अपने अपने मनकी कल्पना है। कोई वस्तु स्वयं न सुन्दर है, न ही कोई वस्तु स्वयं असुन्दर है। जिनका आपसे राग है, उसे आप सुन्दर कह देते हैं और जो आपके लिये अनिष्ट हैं, उनको आप असुन्दरका डिप्लोमा दे देते हैं। देखो भैया! जिनसे आपका राग है, उनमें आप सुन्दर असुन्दरका ठीक निर्णय नहीं दे सकते हैं तो जिनके विषयमें आप को राग नहीं है उनके विषयमे देखो। जैसे पशु, पक्षी वगैरह, जानवरोंमें कुत्ता और कुतिया इन दोनोंमें आपको कौन सुन्दर लगता है? बैल और गाय—इन दोनोंमें आपको किसका शरीर अधिक सुन्दर लगता है? कुछ ऐसे प्रकरण है कि उन प्रकरणोंसे स्त्रीवेदी जानवरों की सुन्दरता नष्ट हो जाती है और पुरुषवेदी जानवरोंकी सुन्दरता नष्ट नहीं हो पाती है। पुरुषवेदी जानवर सुन्दर दीखते हैं।

१४९. रागमें इष्ट व अनिष्ट आशय—आप अपनी मनुष्य जातिमें ही देख लो, जिसे आप इष्ट मानते हैं, वह आपको सुन्दर है, जिसे आप अनिष्ट मानते हैं वह आपके लिये असुन्दर है। इष्ट माने आपकी इच्छाओंका प्रिय! सु+उन्द+अर्। 'उन्दी' क्लेदने धातु है। जो भले प्रकारसे दुःख पहुंचावे उसे सुन्दर कहते हैं। सु उपसर्ग है, अरच् प्रत्यय लगा हैं। यह सुन्दरका सही अर्थ है। क्योंकि इष्ट वस्तुके संयोगसे आपको दुःख ही पहुंचता है। जिसे आप कहते हैं कि यह चीज हमें सुन्दर लगती है, उसका मतलब हुआ कि यह चीज हमें दुःख देने वाली है। वस्तु न स्वयं इष्ट है और न अनिष्ट है। रागभाव इष्ट बनाता है और द्वेषभाव अनिष्ट बनाता है। विभीषणको रावणसे कितना स्नेह था कि जिसकी रक्षाके लिये उसने जनक और दशरथके सिर काट डाले। विभीषण इस खोजमें था कि यदि जनक और दशरथ न रहेंगे तो सीता और राम भी पैदा नहीं हो सकते हैं, अतः

हमारा भाई नहीं मारा जा सकेगा। परन्तु जब रावणने परस्त्री हरण किया तो विभीषण रावणके कितना प्रतिकूल हो जाता है कि रावणके साथ युद्ध होनेमें कितनी ही सफलताओं में तो विभीषणका ही अधिक हाथ था। वस्तु उत्पाद–व्यय ध्रौव्यात्मक है। पदार्थ अपने गुणोंमें तन्मय है, अपना परिणमन स्वयं करने वाला है, निजके क्षेत्रमें रहता है। इसके सिवाय जो कुछ अन्य बात पदार्थके विषयमें कहोगे, यह सब तुम्हारी कल्पना है। पुस्तक ७ इन्च लम्बी है, ४ इन्च चौड़ी है--यह सब तुम्हारे दिमागमें भरा है। पदार्थ तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। पदार्थ न लम्बा है, न चौड़ा है। इन स्कन्धोंमें तो असलमें पदार्थ एक एक अणु है।

१५०. मोहमें अधिक अध्यवसायका यत्न—अपन लोग भगवानसे ज्यादह जानने का प्रयत्न करना चाहते हैं। क्यों भैया ! यह मकान मेरा है, इस प्रकारका जो आपका परिणमन हुआ; यह तो भगवानके ज्ञानमें झलक रहा है, परन्तु यह भगवानके ज्ञानका विषय नहीं है कि यह मकान इनका है। जो मनुष्य यह मकान मेरा है, इस प्रकार अपने विकल्पसे कलुषित हो रहा है, यह भगवानको ज्ञात है। किन्तु भगवान यह नहीं जानते कि यह मकान इसका है और आप जानते। सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं, जो न तो कम जाने और न अधिक जाने, अतः हमारा ऐसा ज्ञान मिथ्या है। मकानका ऐसा स्वरूप नहीं है कि मकान मेरा है। मकानका स्वरूप द्रव्य-गुण पर्यायमय है। अमुक पदार्थ मेरा है—यह भी उसकी प्रतीतिमें है और उसने उसके विषयमें अधिक जान रखा है। ज्यादह जानना भी मिथ्या ज्ञान है। वह अधिक जानना यही तो है कि जो तत्त्व वस्तुके स्वरूपमें नहीं है, उसे भी कल्पित कर लेना। अधिक जाननेका रिजल्ट यह हुआ कि हमारा ज्ञान घट गया। इन जड़ पदार्थोंका स्वरूप और कारण न जान पाये, यह भी गल्ती है और इसके विषयमें अधिक जान लेना यह भी गल्ती है। जो भगवानसे बढ़कर जानना चाहता है उसकी दुर्गति होती है। ये जगतके पदार्थ न तो स्वयं इष्ट हैं और न स्वयं अनिष्ट हैं। हमारा ही राग इन्हें इष्ट बना देता है, हमारा ही राग इन्हें अनिष्ट बना देता है। जो हमारी कल्पना है, उसे हम इष्ट मान लेते हैं और उसे ही अनिष्ट मान लेते हैं।

१५१. जीवमें विकार प्रकृतिका अभाव—शुद्ध चेतनमें राग नहीं है, द्वेष नहीं है, इसी प्रकार आत्मामें मोह भी नहीं है। यह आत्माके श्रद्धा गुणका परिणमन है। मोह कर्मोदयके निमित्तसे होता है, मोह आत्माका स्वभाव नहीं है। जब किसीके लड़केकी आदत बिगड़ जाती हैं, तो उसे दीखता है कि यह इसकी आदत नहीं थी, इसे दूसरोंके बच्चोंकी आदत लग गई है। मेरे आत्माकी आदत राग द्वेष करनेकी नहीं है। यदि आपको आत्मासे रुचि है तो आपको ऐसा ही दिखेगा। जरा आत्मस्वरूपको देखो, आत्माको आदत राग द्वेष

मोह करना है ही नहीं। यह तो कर्मोदयके निमित्तसे लग गई है। केवल आत्मा आत्माको देखो तो आत्मा निरपेक्ष शुद्ध है। शुद्ध विकाससे देखे गये आत्माका यहाँ वर्णन नहीं है किन्तु निरपेक्ष स्वरूपसे देखे गये आत्माका यहाँ वर्णन है। इस प्रकार आत्मामें राग द्वेष मोह नहीं हैं। मुझ आत्मामें अध्यवसान नहीं है। इस प्रकार राग द्वेष मोह ये तीनों बातें आत्मामें नहीं हैं, ऐसा वर्णन किया गया है।

१५२. जीवके आस्रवका अभाव—५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग। विपरीत अभिप्रायको मिथ्यात्व कहते हैं। वस्तु स्वतन्त्र है, परन्तु यह किसीके द्वारा बनाई है, यह श्रद्धा होना विपरीत अभिप्राय है। वस्तु अनेक धर्मवाली है, किन्तु सर्व दृष्टियोंसे वस्तुका निर्णय न करके एक दृष्टिको ही सत्य मानना मिथ्यात्व है। अपने आप को फालतू मानकर प्रत्येक को ये भी देव हैं, ये भी देव हैं—इस प्रकारका अभिप्राय आना विपरीत अभिप्राय है। भगवान चाहे किसीको भी मान लिया जाये, परन्तु भगवानका स्वरूप ठीक मानना चाहिए। वुद्धं वा वर्द्धमानं, केशवं वा शिवं वा—चाहे किसी को भी भगवान कहलवालो। छह कायके जीवोंकी रक्षाका भाव न आना और उनकी विराधनाका भाव आना, उसे कहते हैं काय-अविरति। मन और इन्द्रियके विषयोंसे विरक्ति न आना इन्द्रिय अविरति है। क्रोध मान माया लोभको कषाय कहते हैं। मन, वचन, कायका हिलना डुलना योग कहलाता है। ये सब आस्रवके कारण हैं, आस्रव भी अपना नहीं है, जो चीज अपनी नहीं है, उस चीजपर हठ कर लेना अपमानका कारण है। इसी तरह जो आत्माकी चीज नहीं है और उस विषयमें हठ हो जाये, इसको ऐसा करके मानूंगा, मैं तो रसगुल्ला ही खाऊंगा अभी ही होना चाहिए, यह सब आस्रवोंकी हठ है। जो विभाव परिणमन होते हैं, वे अपनी वस्तु नहीं हैं। उनके विषयमें हठ करनेसे कोई लाभ नहीं है, उल्टे हानि ही है। मेरा किसी वस्तुसे राग हुआ है, यह राग हितकर नहीं है। रागको करके उसकी हठ मत करो। परिवारमें यदि अधिक लोग हैं सम्पत्ति अच्छी है वहाँ आरामकी बुद्धि मत करो। मोहमें जीवको ऐसा लगता कि मैं ही उत्तम हूं, बरबाद होते होंगे तो और लोग होते होंगे। भैया किसी जगह विश्वास मत करो। आस्रवकी हठ करनी बुरी है। बच्चेको हठ लगी हो वह सुखी नहीं हो सकता है। हमको तो सबके हिस्सेसे दुगुने ही रसगुल्ले मिलने चाहिएं, मैं कम नहीं ले सकता, इसका इसका फल पिटाई है। किसीको किसी गरीबसे भी हठ हो जाये यह भी बहुत बुरी चीज है।

१५३. टेकका फल—एक स्त्री बहुत हठीली थी। मैं पतिकी मूंछ मुंडाकर ही रहूँगी, ऐसी उसे टेक आ गई। वह पेटके दर्दका बहाना लेकर पड़ गई। पेटका दर्द अच्छा हो तो तो कैसे हो, वह तो हठका दर्द था। बहुत लोग देखने गये, वैद्य डाक्टर आये, पेटका दर्द ऐसे

नहीं मिटा। पतिने कहा कि दर्द कैसे मिटे ? स्त्रीने कहा जो भी हमारा प्रिय हो, वह मूंछ मुड़ाले तो हमारा पेटमें दर्द ठीक हो जायेगा। क्योंकि एक बार पहले भी ऐसे ही ठीक हुआ था। पतिने सोचा कि है कौन बड़ी बात, उसने अपनी मूंछें मुड़ालीं। स्त्रीको और चाहिए ही क्या था ? प्रतिदिन सबेरे उठकर चक्की पीसती हुई गावे—अपनी टेक रखाई पतिकी मूंछ मुड़ाई। पतिने सोचा यह तो इसने मुझे चिढ़ानेके लिये किया है, अतः इसे भी मजा चखाना चाहिए। पतिको एक उपाय सूझा। उसने ससुरालमें एक पत्र लिखा कि तुम्हारी लड़की बहुत सख्त बीमार है, बड़े-बड़े डाक्टर वैद्य बुलाये गये, किसीकी भी औषधि कार्यकर न हुई, देवता भी बुलाये, सबने यही सलाह दी कि इसकी बीमारी तभी ठीक हो सकती है, जबकि सब इसके परिवार वाले सिर और मूंछें मुड़ाकर एक लाइनमें इसे देखने आवें, अन्यथा यह मर जायेगी। यदि आपको अपनी प्रिय पुत्रीके दर्शन करने हों तो आप जैसा जानें सो करें। ससुरालमें चिट्ठी पहुंची, सबने वैसा ही किया और लाइन बनाकर वे सुबह ही सुबह आये जब कि उसका चक्की पीसनेका टाइम था। वह चक्की पीसती हुई प्रतिदिनकी तरह गाती है कि "अपनी टेक रखाई पतिकी मूंछ मुड़ाई।" उसी समय पति कहता है कि "पीछे देख लुगाई, मुण्डनकी पलटन आई।" स्त्री बड़ी लज्जित हुई। अतः भइया, टेक करना अच्छी चीज नहीं है। न बड़ोंसे हठ करो, न छोटोंसे। हमेशा अपने अपराधोंको मान लो। दुनियां इन्द्रजाल है। यहां कोई न्यायधीश थोड़े ही बैठा है, बेधड़क कह दो कि मेरेसे यह गलती हो गई। किसी भी आस्रवका हठ मत करो। अपने आपमें आये हुए राग परिणामका भी हठ मत करो। यदि हठ करोगे तो धोखा खाओगे। प्रायः लोग खाने पीनेकी बड़ी हठ करते हैं। किसी चीजकी इच्छा हुई, वह तुरन्त मिलनी चाहिये। ऐसा अभी होना चाहिए, ऐसी हठ करना कभी अच्छा नहीं है। विनयसे रहोगे, सब कुछ मिलेगा। उज्जड्डतासे रहोगे, सब कुछ रहा सहा भी उजाड़ बैठोगे। जो चीज विनयसे मिल सकती है, वह कभी हठसे नहीं मिल सकती है। आस्रवोंमें आत्म-बुद्धि होना सबसे पहली हठ है। यह हठ पर्यायबुद्धि होनेपर होती है। जो कुछ सोचा बस वही सही, यह पर्यायेकी हठ है। अरे, तुमसे ज्यादा चतुर तो आठ आठ वर्षके बच्चे भी होते हैं। उनका भी ज्ञान अधिक पाया जाता है। भैया ! यहां मिला ही क्या है, जिस पर इतना इतराया जाय।

१५४. विद्यामद—एक बाबू साहब थे। नावमें बैठकर सैर करने चले। वे मल्लाह से पूछते हैं कि अबे, तू कुछ इंग्लिश भी जानता है। उत्तर मिला—नहीं बाबू जी ! बाबू जी कहते हैं कि बस तूने अपनी आधी जिंदगी खोदी और पूछा कि अच्छा हिन्दी भी जानता है या नहीं। फिर वही उत्तर पाकर उपेक्षाकी दृष्टिसे बाबूजी ने कहा कि बस

अब तो तूने पौनी जिंदगी खोदी। जब नौका मंझधारमें पहुंची और डगमगाने लगी। तब मल्लाहने बाबूसे पूछा कि बाबू साहब! आप तैरना भी जानते हैं। बाबूजी ने कहा, नहीं। मल्लाह बोला— तो, बाबू जी आपने तो अपनी पूरी जिन्दगी खोदी। जब नाव डूबने लगी, मल्लाह तो तैरकर बाहर निकल आया और बाबू जी वहीं पानीमें विलीन हो गये। इस प्रकार सभी प्रकारकी हठ बुरी हैं। यह मोही जीव तो भगवानको भी बड़ा नहीं मानता है। हमारी बड़ी सिद्धी हो रही है, इस प्रकार मोही जीव अपनेसे बढ़कर किसीको नहीं समझता है। अपनी ही पर्याय उसे रुचती है।

१५५. विकारोंकी हठमें दुर्दशा—रागद्वेष मोह कषाय ये आत्माके कुछ नहीं है। इन भावास्रवोंका कारण कर्मका उदय है। कर्म जब बंधे होंगे तभी तो उदयमें आयेंगे। कर्मों के बंधनेका कारण जीवका कषाय भाव है। जीव अपने कषाय भावोंको बनाकर अपना नाश कर डालता है। संसारके प्रत्येक जीव अपने ही आप अपने ही कषायसे दुःखका कारण बना लेते हैं। किसीसे कुछ मिलना नहीं है, परन्तु परके विषयमें विकल्प बना बनाकर यह व्यर्थ दुखी होता है। ये आस्रव मेरे स्वभाव भाव नहीं हैं, ये जीवमें प्रकृतिसे आये हैं। सांख्य लोग समझते हैं कि प्रकृतिसे अहंकार हुआ, वास्तवमें निमित्त-नैमित्तिक भावसे कषाय परिणमन होता है। अहंकार मुझ पुरुषमें नहीं है, प्रकृतिसे आया है। आई हुई चीजका हठ नहीं करना। आये है तो उन्हें उपेक्षाभावसे आने देना और उसी प्रकार निकल जाने देना। उनमें आदर और आत्मबुद्धि नहीं करना। किसीने कुछ कहा, उसकी उपेक्षा कर देना, उसे हृदय में स्थान न देना, उनको वहीं खत्म कर देना चाहिये। कोई कुछ भी प्रतिकूल कहे, जो उन बातोंको पी जाये वह सुखी रहेगा, जो उस ओर उपयोग लगायेगा, उसे क्लेश ही क्लेश हैं। बार बार बाह्यसे अपना उपयोग हटाकर उस चैतन्यस्वरूपकी ओर ले जाओ। हठ करना बुरी चीज है। किसीको छोटा मत समझो। चूहे जैसे जानवर भी सिंहके काम आ जाते हैं। मरने पर भी अनेक पशुवोंका शरीर काम आता है, परन्तु मनुष्यकी कोई चीज किसी अन्यके काम नहीं आती है। मुझसे छोटे-छोटे जीव भी बहुत काममें आ जाते हैं। खोटे परिणाम बढ़ते-बढ़ते इतने बढ़ जाते हैं कि उनकी हद हो जाती है। हमारे दुश्मन हमारे खोटे भाव हैं, अतः उन्हें नष्ट करनेकी जल्दीसे जल्दी कोशिश करना चाहिए। भक्ति करो, सत्संग करो, पुस्तक लेकर पढ़ो—ये सब खोटे भाव दूर करने और उपयोग बदलनेके उपाय हैं। दुखियों के बीच जाकर खड़े हो जाना, इससे भी अपनी अक्ल ठिकाने लगती है। अनेक उपाय करके खोटे परिणामोंकी हठ मत करो। खोटे परिणाम होते है तो तत्काल रोक दो।

१५६. जीवके रागादि परभावका प्रतिषेध—जीवके राग नहीं, रागपरिणाममें जीव व्याप नहीं रहा। है यद्यपि उसका ही परिणमन राग, पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे हुआ

विभावपरिणमन है लेकिन व्याप नहीं रहा। जीवत्व तो उस ही में व्याप रहा जो अनादि अनन्त सम्पूर्णतया जितनेमें रह सकता है। रागभाव तो नैमित्तिक भाव है, स्वके भावमें क्या बिगाड़? जीवके दोष नहीं, मोह नहीं, ये सब अध्यवसान भाव पुद्गल परिणामसे निष्पन्न हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। इनका भी लगाव छोड़ना है और एक चैतन्य शक्तिमात्रमें अपना स्वरूप जोड़ना है। जीवके आस्रव नहीं, कर्म नोकर्म नहीं। जीव सबसे निराला केवल एक चैतन्यमात्र है। और जो चैतन्यमात्र नहीं है वह जीव नहीं है, फिर क्या है? इसका निर्णय करनेकी हमें फुरसत नहीं, न आवश्यकता है। हम तो उतना निरख रहे हैं इस कालमें कि मैं यह हूं और कुछ नहीं हूं। इसी दृष्टिको लेकर चैतन्यशक्तिको छोड़कर अन्य जो जो कुछ भी प्रमाण हैं वे सब जीव नहीं हैं, अजीव हैं।

१५७. जीवकी कर्मसे विविक्तता—जीवके कर्म नहीं है। कर्म जीवका कुछ नहीं है। यहाँ भेदविज्ञानकी बात चल रही है यह पहचानेके लिये कि मैं आत्मा शुद्ध कैसा हूं? लोग भी कहते हैं, ग्रन्थ-पुराणोंमें भी वर्णन किया गया है कि जीवके साथ कर्म लगे हैं। व्यवहार दृष्टिसे यह बात सही भी है कि जीवके साथ अनादिकालसे कर्म लगा है। यह कर्म जीवको दुःखका कारण बन रहा है किन्तु कर्म क्या है. इस बातपर प्रायः लोगोंने कभी विचार नहीं किया है और यह कहकर उपेक्षा कर दी कि आत्माका भाग्य है। कोई लोग अधिक विचारमें उतरे तो यह कह दिया कि विधिने यह तकदीर लिखी है, इसे ही कर्म कहते हैं। किसीने कहा कि जीव जो करता है, वह कर्म है और उसीके अनुसार जीव फल पाता है। जो लोग कहते हैं कि जीव जो करता है, उसीके अनुसार फल भोगता है, यह बात उनकी सही भी है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जीव ऐसा क्यों करता है? कर्मनामक जैसे किसी परद्रव्यके माने बिना इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता है। कितने ही लोग किसी मृत प्राणीकी खोपड़ी उठाकर कह देते हैं कि देखो इसकी खोपड़ीमें क्या लिखा है? हड्डियोंमें प्रायः कुछ चिन्ह विशेष होते ही हैं, हरेक जगह कुछ अस्पष्ट निशान तो होते ही हैं, लोग उन्हीं चिन्होंको दिखाकर कह देते हैं कि देखो, यह लिखी है इसकी तकदीर। तो वह कर्म चीज क्या है, इस विषयको प्राचीन ऋषियोंकी युक्तियोंपर ध्यान देते हुए देखो। जीव एक चैतन्यमात्र वस्तु है; इसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श कुछ भी नहीं है। ज्ञान दर्शन मात्र यह अमूर्त आत्मा है। जगत्में ऐसे स्कन्ध सर्वत्र भरे हैं, जो आँखसे दिखाई नहीं दे सकते हैं, परन्तु हैं वे स्थूल। वे स्कन्ध जो कर्म रूप बन जाते हैं, उसका नाम है कार्माण वर्गणाएं। इस प्रकार दो भिन्न जातिके पदार्थ हैं। जब यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेषादि रूप कषाय करता है तो यहाँ ही जीवके एक क्षेत्रावगाहमें भरी हुई जो कार्माण वर्गणाएं हैं, उन वर्गणाओंमें प्रकृतिसे जीवको फल देनेकी शक्ति पैदा हो जाती है। जीव उन वर्गणाओं

के उदय कालमें क्रोधी, मानी, लोभी बन जाता है। जीवके साथ कुछ कार्माणवर्गणाएं बन्धरूपमें लगी हैं उन्हें कर्म कहते हैं, वह जीवसे भिन्न वस्तु है। जीवकी जो क्रिया है, परिणाम है, वह तो जीवसे उस कालमें अभिन्न है, परन्तु जो कर्म उसके साथ लग गये वे कर्म आत्मा से अलग हैं। कुछ ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीवके साथ वे कर्म जाते हैं और फल देने तक उसके साथ रहते ही हैं। उन कर्मोंकी बात कह रहे हैं कि वे कर्म भी जीवसे भिन्न नहीं हैं।

१५८. कषायोंके दूर करनेसे ही प्रभुताका मिलन—हे आत्मन्! जिस किसी प्रकार भी हो, जगतके पदार्थोंसे न्यारे क्रोध-मान-माया, लोभ, राग-द्वेष आदि जो जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं, ऐसे जानन देखनमात्र उस आत्माका अनुभव करो। संसारका झंझट मिट जायेगा और उस समाधिकी स्थितिमें परमात्माके दर्शन करोगे। मोहके रहते, विकल्प, चिन्ता शोकके रहते हुए परमात्माका दर्शन नहीं हो सकता है। सब विकल्पोंको छोड़कर अपने आत्माके अनुभवमें लगो, वहाँ परमात्माके दर्शन हैं। जिस परवस्तुके निमित्तसे यह जीव कर्म करता चला आया है, वह कर्म जीवका नहीं है, अतः उस कर्मसे व उसके विलापसे ममता छोड़ो। यह संसार माया जाल है, जो भी समागम मिले, वे प्यारे लगते हैं, इनका प्यार करोगे तो स्वाधीन आनन्द, आत्मीय आनन्द और परमात्माके दर्शन आदि सर्व सुख इससे वंचित रहेंगे। और मिली हुई विभूतिमें शरीरका राग न रहा हो तो परमात्माके दर्शन, आत्मीय दर्शन जैसे बड़े वैभव अन्तरंगमें मिलेंगे। फिर भी मोहियोंको कर्म किये विना नहीं रुचता है। एक भिखारी भीख माँगता फिरता है, उसकी तृष्णा कुछ ऐसी है कि पाँच दिन पहलेकी भिक्षामें मिली हुई सूखी रोटी कुटियामें जोड़े रखता है। भिक्षा माँगते-२ एक दिन एक सेठने कहा भाई, तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, तुझे ताजा भोजन करायेंगे। फिर भी उसे यकायक विश्वास नहीं होता है। वह सोचता है कि शायद यह सेठ न दे और मैं इन रोटियोंसे भी जाऊं। उसे यह विश्वास नहीं होता कि मैं बासी फेंककर ताजा प्राप्त करूं। ये जगतके मोही भी जिन पदार्थोंको अपना मानते आये हैं ज्ञानी गुरुके समझानेपर कि जो तुमने जोड़ रखा है, उससे ममता छोड़ो, तुझे अपूर्व आनन्द, परमात्म दर्शन कराया जायेगा। तू अपने आपमें परमात्मदर्शन करेगा, तू इन सब नश्वर पदार्थोंकी ममताको छोड़ दे, ये पदार्थ अनेकोंके द्वारा भोगे गये हैं, जो यह तुझे वैभव मिला है, यह अनेक आत्माओं का जूठन है, तू इन बासी जूटे भोगोंको छोड़ दे और अपने आत्मामें एक अलौकिक आनन्द पायेगा, फिर भी इस अनादि कालके भिखारीको सहसा विश्वास नहीं होता है और वह बाह्य पदार्थोंसे ममता जोड़े रहता है। जो घरके खाते-पीते लोग हैं, उन्हें तो सेठ जी की बातका विश्वास है। इसी तरह तार्किक ज्ञानीको भी विश्वास है कि ये ज्ञानी गुरु भी सत्य

कह रहे हैं कि तू इन जूठे भोगोंको छोड़ और तू ताजा भोजन कर। इस प्रकार कोई भिखारी भी धीरे-धीरे सिखायेमें आ सकता है। निकट एक मिथ्यादृष्टि भी आत्मशिक्षामें आ सकता है।

१५६. सत्यका अनुभवसे प्रत्यय करनेका अनुरोध—हे आत्मन्! राग, द्वेष, मोह और इनके आस्रव तथा कर्म भी तेरा नहीं है। तू इन सब पदार्थोंसे भिन्न चैतन्यमात्र वस्तु है। आँखों देखी बात असत्य हो सकती है, कानों सुनी बातपर तो कोई विश्वास ही नहीं करता, परन्तु अपने अनुभवकी बात कभी असत्य नहीं हो सकती है। आँखों देखी बातमें भी दम नहीं होता है। एक राजाका नौकर रातको प्रतिदिन राजाका पलंग बिछाया करता था। एक दिन नौकरके मनमें आया कि लेट करके तो देखे कि क्या आनन्द आता है? वह चादर तानकर ज्यों ही सोया कि उसको नींद लग गई। रातको रानी आई, उसने समझा कि महाराज साहब सो रहे होंगे, वह भी वहीं बराबरमें पलंग पर सो गई। थोड़ी देर बाद राजा आया। रानीको एक परपुरुषके साथ सोया देखकर उसकी आँखें क्रोधसे आग बबूला हो गईं। उसने सोचा कि मामला क्या है? यह तो जाने। राजाने रानीको जगाया रानी हकबकी सी हो गई। वह न समझ सकी मामला क्या है? राजाने नौकरको जगाया, नौकर जगा तो काँपता-काँपता गिड़गिड़ाता है। नौकरने सारी बात बताई कि महाराज, मैंने सोचा कि बिस्तरपर थोड़ा आराम करके देख लूँ कि मुझे नींद लग गई। राजाने अनुभव से जाना कि बात ऐसी ही है, और सत्य भी है। ये सब आँखों देखी बात तो है, जो अनुभव किये बिना असत्य सिद्ध हो जाती है। धन, मकान, रिश्ता, जायदाद ये सब असत्य हैं। जरा अनुभव करो, निर्णयमें अपने आप असत्य प्रतीत हो जायेगा। यह सब संसारके पदार्थ माया हैं, पर्याय हैं, अनित्य हैं। यह सब असत्य कैसे जाननेमें आयेगा? एतदर्थ पहले सत्य बातका पता लगाना होगा। क्योंकि जब सत्य बातका निर्णय हो जायेगा, तभी तो इस संसारको असत्य समझा जायेगा। सत्य बातके मालूम चलनेपर ही असत्य बातका निर्णय किया जा सकता है। जैसे—एक आपका नौकर बाजारसे कोई ॥) की चीज लाया और ॥।) के पैसे बताता है कि वस्तु ॥।) में आई है। किसी तरहसे आपको यह विश्वास हो कि यह चीज ॥) में ही आती है तो आप तभी जानेंगे कि यह झूठ बोल रहा है। भैया! एक सनातन अहेतुक अन्तस्तत्त्व आदिको भजनोंमें बोलनेसे तो समझमें नहीं आता है कि यह दुनियाँ झूठी है। झूठी है तो तभी समझमें आता है, जबकि सत्यको आपने खोज निकाला हो। जो सत्यको समझे बिना दुनियाको झूठी कहते हैं वे स्वयं झूठे हैं, क्यों कि मान तो रहा दुनियां को सत्य, किन्तु गा रहा कि दुनियाँ झूठी है और हम कहते हैं कि वह स्वयं झूठा है।

१६०. क्लेशकारणक कर्मसे आत्माका पार्थक्य—जिसके दलपर जिसको निमित्त पाकर यह जीव नाना नाच कर रहा है, वह कर्म भी जीवसे भिन्न हैं। कर्म जीवका कुछ नहीं हैं। ये कर्म संसारमें सर्वत्र भरे पड़े हैं। जव जीव कपाय करता तव उन्हें खींच लेता है अर्थात् (निमित्त रूपसे) है, कर्मका रूप कर लेता है और उन कर्म वर्गणाओंको अपने सुख दुःखका कारण वना लेता है। जव जीवको राग पैदा होता है, वह किसी वस्तुको अपना लेता है और अपने सुख दुःखका कारण वना लेता है। जव जीव कषाय करता है, तव वह कार्माण वर्गणाओंको अपना लेता है और कर्मोको अपने सुख दुःखका कारण वना लेता है। जव जीव राग करता है तो वह अपनी इष्ट अन्य वस्तुओंको अपना लेता है और उसे अपने सुख दुःखका कारण मान लेता है। यह भी आप जान रहे कि जिसे आप अपना लेते हैं, वह आनन्दका कारण तो वनता नहीं है, किसी न किसी रूपमें आकुलताका कारण वनता है। यदि आनन्द चाहता है तो परवस्तुको अपना मत मानो। यदि परवस्तुको अपनाया तो सब आपकी चेष्टाएँ वदल जायेंगी। जैसे किसी कुटुम्बमें केवल स्त्री पुरुष ही हैं। पुत्रका राग उठा, किसीको गोद लिया, कुछ दिन आकुलना महसूस नहीं हुई, परन्तु कुछ दिन वाद वह भी आकुलता अनुभव करने लगता है। उतनी तो आकुलता उसे होगी ही कि जितनी अन्य लड़के वालोंको होती है। कोई वालक हो तो उसे कोई चिन्ता नहीं होती है। उसका जीवन विद्यार्थी, पुरुषार्थीके रूपमें आनन्दके साथ बीतता है। आरामसे पढ़नेकी घुन है, पढ़ रहा है, विशुद्ध विशुद्ध विकल्पोंमें चित्त चल रहा है, आकुलता उससे कोसों दूर है। जव शादी हो गई, वह उसीमें खुशी मानता है। कुछ दिनों वाद दो हो जानेके कारण आकुलताएं वढ़ीं। जब बच्चे थे सब पर विश्वास करते थे, अव उनका किसीपर विश्वास होता ही नहीं है। उनका जीवन कलुषित वनने लग जाता है। देखो यह जीव दुःखमें पड़ा हुआ भी अपनेको आराममें मानता है।

१६१. दुःखोंका अन्तर्मथन—कुछ अन्तरंग दुःख तो ऐसे हैं कि जीव उनको प्रकट नहीं कर सकता है। कुछ दुःख ऐसे होते हैं, जो दूसरोंको दिखनेमें आ जाते हैं। बच्चे हुए, अनेक हुए, उनके पालन–पोषण रूप दुःख सामने मुंह फैलाये खड़ा है। कितना भी धन मिला हो, उनका गुजारा नहीं हो पाता है। देखो, बचपनमें उसकी जिंदगी कितने आराममें बीतती थी, अब उसके पग-पगपर दुःख है, पद-पदपर आपत्ति है। मार्ग कण्टकाकीर्ण है, अपने जीवनका कोई लक्ष्य नहीं वाँध पाता है। जो व्यक्ति जितने बड़े पदपर पहुंच जाता है, उसके उतने ही दुःख बढ़ जाते हैं। जब दुबारा चुनाव होता है, तब यह चिन्ता सवार हो जाती है, कहीं हार न जाये, नाक कट जायेगी, सारी इज्जत मिट्टीमें मिल जायेगी। यहाँ तक सोच बैठता है कि यदि इस चुनावमें न जीत पाया तो मर जाऊंगा, किसीको अपना

मुंह दिखा न पाऊंगा, पर्यायबुद्धिमें मरनेके सिवाय अन्य चारा ही क्या है ? कितना घृणित विचार कर बैठता है यह आत्मा ? अन्तरंगमें इच्छा है प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति या अन्य मंत्री या राज्यपाल आदि बननेकी, खड़े भी हैं चुनावमें, परन्तु वह कह देता है कि अब इस ओर जानेकी हमारी इच्छा नहीं है, मैं अब मंत्री आदि नहीं बनना चाहता हूं । उनको लगा रहता है कि कदाचित् हार गये तो लोगोंमें रहकर लोग यह न महसूस करें कि अमुक व्यक्ति हार गया है—वह ऐसा वातावरण बनाना चाहता है । सुख है कहाँ ? लौकिक सुखोंकी दृष्टिसे देखो तो भूमिपर अपनी रात बड़े आरामसे बिताने वाला कुम्हार भी सुखी है । सुख कहाँ इस दुःखमयी दुनियामें ?

कर्मके उदयसे प्राप्त हुई चीजमें सुखकी खोज करना, यह सफल होनेका जरा भी उपाय नहीं है । यह श्रेष्ठिवर कुन्दकुन्दाचार्य समझा रहे हैं, इन भोले भूले भटके जगतके भिखारियोंको । हे भिखारियों ! इस बासे और भूठे रूखे भोजनको छोड़ो, इससे तनिक तो मुँह मोड़ो, हम तुम्हें स्वाधीन और आत्मीय आनन्दको देने वाला ताजा भोजन खिलायेंगे । परन्तु यह अनादिका भिखारी उसीको अपूर्व मानता है, उसे ज्ञानियोंकी बातपर सहसा विश्वास नहीं होता है । कोई तर्कको जानने वाला (ज्ञानका भिखारी) आचार्यकी शरणमें जाता है और अनुकूल आचरण करता है, मोक्षमार्गके नाना उपाय करता है । तब वह जानता है कि ओह ! मैंने परमें उपयोग रखकर अनादिकालसे अपना जीवन यों ही विषय-वासनाओंमें बिता दिया । ये कर्मरूपी विषवृक्षके फल हैं । ये मेरे भोग अपनाये बिना ही निकल जाओ । मैं तो केवल चैतन्यमात्र तत्त्वका अनुभव करता हूं । मेरा समय स्वानुभवमें में जावे । यह कर्म मेरे कुछ नहीं हैं—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है ।

१६२. जीवकी नोकर्मसे विविक्तता—जीवके नोकर्म नहीं है । ईषत्कर्मको नोकर्म कहते हैं । कर्मके बाद यदि किसी अन्य निमित्तपर नम्बर आता है तो वह है शरीर । जीव के दुःखी होनेमें निमित्त है कर्म, और वह कर्म फल देवे, इसमें कारण बनता है शरीर । कल्पना करो कि जीवके साथ कर्म लगे हैं, शरीर नहीं हो तो फल कैसे मिलेगा ? शरीर फल देनेमें कर्मका सहायक है, अतः इसका नाम नोकर्म रखा । सभीके अपने-अपने न्यारे-न्यारे शरीर हैं और सभीको अपने शरीर द्वारा दुःख-सुखका अनुभव होता है । अभी आपके शरीरमें बुखार हो तो थर्मामीटर लगाकर आपके बुखारका अन्दाज लगाया जा सकता है, परन्तु आप उनके बुखारका अनुभव नहीं कर सकते हो । जो जिसके साथ विपदा लगी है वह उसके द्वारा सुख दुःखका अनुभव किया करता है । शरीरोंकी जाति देखो कितनी हैं ? एक जाति ऐसी भी है, जिसके आँख, नाक, कान, मुँह आदि कुछ भी नहीं हैं, उन्हें स्थावर जीव कहते हैं । उनमें पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और वनस्पतिके शरीर होते हैं । पन्ना, हीरा,

मोती, जवाहरात, सोना, चाँदी आदि सब पृथ्वी कायिक जीव हैं। दिखने वाली चीजें सभी जीवके शरीर है। यद्यपि बहुत-सी चीजे अब जीव नहीं हैं, लेकिन पहले थीं। जो भी पदार्थ तुम्हें दिखाई देते हैं, वह सब जीवका शरीर है, कोई मुर्दा है, कोई जिंदा। नोकर्मका ऐसा साम्राज्य है कि सर्वत्र नोकर्म ही नोकर्म नजर आ रहा है। यह नोकर्म भी जीव नहीं है। शरीरको जीव छोड़ देता है तब शरीर अलग रह जाता है और जीव अन्य शरीरको धारण कर लेता है। अरहंतदेवका शरीर अरहंत अवस्थाके बाद यहाँ ही उड़ जाता है, आत्मा उनका सिद्ध अवस्थामें पहुंच जाता है। शरीर जीव कभी नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर प्रकट अचेतन है, जीव प्रकट चेतन है, इनका स्वरूप परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२॥

१६३. वर्ग वर्गणा स्पर्द्धक आदिसे जीवकी विविक्तता—जीवके न तो वर्ग हैं, न वर्गणायें, न कोई स्पर्धक हैं, न अध्यात्म-स्थान हैं और न अनुभाग स्थान हैं। जीवके वर्ग नहीं हैं। ये जो कर्म बताये गये हैं, ये अनेक कार्माण परमाणुओंके समूह हैं। अब उन परमाणुओंमें कुछ ऐसा विभाग डाल दिया जाये जो बराबर-बराबरकी शक्तिके परमाणु हैं वे वर्ग हैं। जितने कर्म बाँधे, उनमें परमाणु बहुत हैं। जो कर्म बाँधे हैं, मानो उनमें १० नम्बरकी शक्तिसे लेकर १०० डिग्री तकके परमाणु आ जाते हैं। उन सबमें वर्ग वर्गणा आदिका विभाग है। वर्गके समूहका नाम है वर्गणाएं। इसके बाद स्पर्द्धक हो जाते हैं। ऐसे अनेक स्पर्द्धकोंके समूह कर्म कहलाते हैं। ये वर्ग, वर्गणाएं और स्पर्द्धक—इनमेंसे कुछ भी जीवके कुछ नहीं हैं। अध्यात्मस्थान भी जीवके नहीं हैं। आत्मामें उत्पन्न होने वाले जितने भी विभाव हैं, उनमेंसे जीवका कुछ भी नहीं है। जगतके पदार्थोंमें जो विश्वास रखता है कि मैं था, मैं हूं, मैं हूंगा—इनका फल है डण्डे। जैसे खाये बिना चैन नहीं पड़ती है अतः खालो, मगर यह मेरा है, इसके बिना तो गुजारा हो सकता है ना ? तो फिर मेरा है, ऐसा क्यों भूत लग गया। बस यही तो संसारका कारण है।

१६४. जीवके वर्गणादिका प्रतिषेध—जीवके वर्ग नहीं है। कर्मोंमें जो वर्ग होते हैं, वर्गणायें होती हैं, स्पर्धक होते हैं-ये सब कुछ मैं नहीं हूं। कर्मोंका जो पिण्ड है उससे छोटी वर्गणा उससे छोटा वर्ग ये सब मुझ जीवके नहीं हैं। यह तो बात प्रकट सिद्ध यों है कि यह इसका उपादान भी निराला है। अध्यवसान आदिक भाव तो जीव नहीं हैं, ऐसा कहनेमें यह आता है कि चूंकि ये कर्मोके उदयसे उत्पन्न हुये हैं, मेरे सहजस्वभावसे नहीं चल पड़े हैं। हाँ उपादान तो मैं हूं, लेकिन मेरे सहज स्वभावसे नहीं आये, इस कारण मैं नहीं हूं अध्यव-

सान, पर ये वर्गणा स्पर्धक कर्म ये तो प्रकट परपदार्थ हैं। पुद्गल इनका उपादान है और उनकी ये सब स्थितियाँ हैं। हालाँकि जैसे जीवके अध्यवसान होनेमें कर्म निमित्त होते हैं वैसे कर्मके कर्मत्व होनेमें जीव विभाव निमित्त हैं, पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी चूंकि सभी पदार्थ अपनी परिणमन धारामें रहा करते हैं, दूसरेके परिणमनको लेकर अपनी अवस्था नहीं बनाते हैं, इतनी स्वतंत्रता तो उनके निमित्तनैमित्तिक भावोंके प्रसंगमें भी बनी हुई है। ये वर्ग वर्गणा स्पर्धक प्रकट पर भिन्न हैं, ये जीवके नहीं हैं, जीवके अध्यात्मस्थान नहीं और अनुभाग स्थान नहीं। अध्यात्म स्थान वे कहलाते हैं कि आत्मामें जो विभाव उठे हैं, जो नाना विकास चल रहे हैं। अल्प महान आदिक भेदोंको लिए हुए वे सब साधन, वे सब विकास याने उतने ही रहना, वे परिणमन ही रहना, यह जीवका तत्त्व नहीं है, हुये जीवके ही परिणमन, लेकिन जीवका स्वभाव जीवका स्वतत्त्व, जीवका शाश्वत भाव स्वरूप नहीं है अतएव ये अध्यात्मस्थान भी जीवके नहीं हैं और अनुभाग स्थान ये कर्मके होते हैं। कर्मबंध होते समय ही कर्मकी स्थिति कर्मका अनुभाग बन जाती है। स्थिति तो कितने समय तक ये कर्म रहेंगे इसका नाम है और अनुभाग ये कर्म कितनी शक्तिसे फल देनेमें कारण होंगे, इसमें फलदान शक्ति कितनी पड़ी है, इस प्रकारके जो शक्तियोंके भेद हैं ये अनुभाग स्थान कहलाते हैं। अनुभाग स्थान कर्ममें है। कर्म जीव पृथक् पृथक् पदार्थ हैं। अनुभाग स्थान भी जीवके नहीं हैं।

१६५. ज्ञानीकी प्रत्यग्ज्योतिकी झांकी—भरतको कहते हैं कि घरमें रहते हुए वैराग्य हो गया। घरमें रहते हुए, राज्यको भोगते हुए भी उनके मनमें यह नहीं था कि यह मेरा है। एक जिज्ञासुने पूछा महाराज आप इतने ठाटबाटसे तो रहते हैं, फिर लोग आपको वैरागी क्यों कहते हैं? मन्त्रियोंने कहा हम समझाते है। एक तेल भरा कटोरा जिज्ञासुको दिया और कहा कि तुम पहरेदारोंके साथ जाकर राजमहलका एक एक विभाग खूब अच्छी तरह घूम आवो और तेलका कटोरा हाथमें लिये रखना, ध्यान रहे कि कटोरेमें से तेलकी एक भी बूंद जमीनपर न पड़ने पाये, नहीं तो शूट कर दिये जाओगे। अब वह जिज्ञासु पूरे राजमहलको देख रहा है, परन्तु दृष्टि है उस तेल भरे कटोरेपर। जब वह पूरा राजमहल घूम आया, मन्त्रियोंने पूछा तुमने क्या देखा? जिज्ञासुने कहा, महाराज, घूमा व देखा तो सर्वत्र, परन्तु देखा कुछ नहीं, क्योंकि दृष्टि इसपर थी कि कटोरेमें से कहीं तेलकी बूंद न गिर जाये। मन्त्री कहते हैं—इसी प्रकार महाराज भरत करते तो हैं राज्य, परन्तु दृष्टि रहती है आत्मस्वरूपपर। राज्य करते हुए भी वे इन सब बाह्य वैभवोंसे विरक्त हैं, केवल अन्तर्वैभव पर दृष्टि है। जैसे कोई कुटुम्बमें या दूसरेके घरमें कोई मर गया हो, घरपर वह रोटी भी खाता है, मगर उपयोग उस मृत प्राणीकी ओर ही जाता है। ऐसा तो कभी होता नहीं कि

भोजन कर रहा हो, उपयोग अन्यत्र होनेसे कानसे कौर देने लग जाये। इस भोजन करते हुए भी उसका चित्त भोजन करनेमें नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिकी भीतरी प्रतीति शुद्ध स्वभावपर रहती है, बाह्यमें वह समस्त कार्य करता है। जैसे मुनीम है। वह दूकानकी पूरी रक्षा करता है, मगर उसे मनमें प्रतीति यह है कि मेरा कुछ नही है, परन्तु करता है वैसा, जैसे उसीका सब कुछ हो। फिर ज्ञानीके ज्ञानमें ही क्यों सन्देह? उसकी प्रतीति आत्मामें ही है। माता जैसे बच्चेको "नाशगया, मरन जोग्गा, होते ही क्यों न मर गया था" आदि गाली देती है, परन्तु उसके मनमें उसके हितकी इच्छा रहती है। कुछ ऐसी ही प्रेरणा होती है कि करना कुछ और पड़ता है और चित्तमें कुछ और होता है। जिस वक्त ज्ञानी जीवको यह श्रद्धा हो जाती है कि मेरा वैभव मेरा गुण है, मेरा स्वामी मेरा आत्मा है, मेरा जनक मेरा आत्मा है, मेरा पुत्र मेरा आत्मा है, मेरा बन्धु मेरा ज्ञान है, मेरी स्त्री मेरी अनुभूति ही है, सर्व परिवार मेरा मेरेमें ही है, ऐसा जिसे प्रत्यय हो गया है, वह पुरुष सहज उदासीन हो जाता है।

१६६. ज्ञानानन्द प्रगट होनेपर विषयानन्दपरिहारकी अनिवार्यता—जो सुकौशल मुनि अभी खेल कूद रहे थे। थोड़ी देर बाद जब पिताके दर्शन हुए। माँने पिता (मुनि) को निकालनेका आदेश दिया, यह देख धाय रोने लगी। सुकौशलने सानुरोध धायसे रोनेका कारण पूछा। धाय कहती है कि बेटा, जो मुनि आये थे, ये तेरे पिता थे। तेरी माँने घोषणा कर रखी है कि यहाँपर कोई मुनि न आ पाये और जो आये उसे तत्काल भगा दिया जाये। यह सुनकर सुकौशलका मन विरक्त हो गया। लोगोंने बहुत समझाया कि तुम्हारी स्त्रीके अभी गर्भ है, उसको तिलक करके विरक्त हो जाना। परन्तु सुकौशल कह देता है कि गर्भमें ही मैं उसका राज्यतिलक करता हूं। और कहकर सुकौशल कुमारसे सुकौशल मुनि बन जाता है। जैसे आपका कोई मित्र है। यदि आपको मालूम चल जाये कि वह आपके प्रतिकूल षड्यंत्र रच रहा है तो आपका उसके प्रति मन खट्टा हो जाता है। यही हाल सम्यग्दृष्टिका है, उसका मन समस्त पदार्थोंसे विरक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि कहीं भी चला जावे, मगर वह अपनी आत्मकोठीको कभी नहीं भूलता है। उसको ऐसे आनन्दका अनुभव होता है कि जो आनन्द कहीं नहीं है, जिसका मन संसारसे विरक्त हो गया, फिर उसका मन संसारके भोगोंमें क्या लगेगा? जिसने एक बार ऊंचे आनन्दका अनुभव कर लिया है, वह कनिष्ठ आनन्दका अनुभव क्यों करना चाहेगा? रागद्वेष आदि मेरे कुछ नहीं हैं, मैं तो चैतन्यमात्र आत्मा हूं।

१६७. अलौकिक वैभव मिलनेपर लौकिक वैभवका विलगाव—ऊंचीसे ऊंची बातका जिस कालमें अनुभव किया, उसका स्मरण सदा आता ही है। सम्यग्दृष्टिको ऐसा विश्वास

प्रति समय बना रहता है कि आनन्द इस ही स्थितिमें है, आत्मा न वैष्णव है, न बनिया है, ब्राह्मण है, न ठाकुर है, न जैन ही है। वह तो जो है सो है। और जैसा वह है वैसा समझ में आता है। जिस किसीके समझमें यह आत्मा आ गया, समझो उसका कल्याण हो गया। मुझे इससे लाभ नहीं कि मैं दुनियांकी दृष्टिमें ब्राह्मण कहलाऊं या जैन कहलाऊं। मेरा लाभ, जैसा स्वरूपसे मैं हूं, उसे पहिचान जाऊं, इसमें है। इसके बाद मैं कुछ नहीं चाहता हूं। अपने आत्माको पहिचानने तक की देर है, जो होना होगा, वही होकर रहेगा। आत्मज्ञान तकका पुरुषार्थ किये जाओ, वह आत्मज्ञान सब विधियाँ लगायेगा। "आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।" बहुत काल तक आत्मज्ञानके सिवाय अन्य बात धारण न करो। एक राजा था। वह घूमने जा रहा था। तालाबके किनारेपर जब वह नहाने उतरा तो संयोगतः उसकी मुद्रिका तालाबमें गिर गई। और संयोगसे वह कमलके बीचमें आ गई। सायंकालका समय था, कमलके बीचमें वह भी मुँद गई। बहुत ढुंढवाया, नहीं मिली। राजा के मंत्रीगण एक अवधिज्ञानी मुनिके पास गये। उन्होंने बताया कि एक तालाबके कमलमें बन्द है। मंत्रियोंने वहाँ जाकर ढूंढ़ा, मिल गई। अब पुरोहितके मनमें आया कि मैं इस विद्याको सीख जाऊं तो बड़ा आनन्द रहे। मुनिके पास आया, सीखना प्रारम्भ किया। जब उसे आत्मज्ञान हो गया, अब उसका मन उससे अलग नहीं हुआ। उसने सोचा, मुझे तो उससे भी अच्छी चीज मिल गई है।

१६८. जैनी रीति स्वरूप परीक्षाकी स्वतन्त्रता—जैन शास्त्र कहते हैं कि चाहे जहाँ जाओ, सत्यका निर्णय स्वयं कर लेना। अन्य लोग तो कहते हैं कि 'न गच्छेज्जैन मन्दिरम्' इसका कारण यह है कि लोगों को यह भय है कि यह जैन मन्दिरमें जायेगा तो यह भी जैन हो जायेगा। जैनदर्शनमें आचार, वस्तुस्वरूप, भगवानस्वरूप, आत्मस्वरूप सबका वर्णन सुगम है और झट प्रतीतिमें आने वाली वस्तु स्वरूपके अनुकूल वर्णन है। उसको सुनकर वह इसका प्रत्यय प्रायः कर ही लेगा। अतएव उन्होंने ऐसी सूक्तियाँ गढ़ डाली हैं। जैन न्यायमें ऋषियोंने अन्य मतोंका भी वर्णन इस खूबीसे किया कि आप कहेंगे, बस यही ठीक है। किसी-किसी बातमें तो उन लोगोंसे भी अधिक तर्क दिया है। अन्य मतोंका प्रतिपादन भी जैन न्यायोंमें किया गया है। तुम्हारा अनुभव कहे तो उन बातोंको मानो। जैन शास्त्र कहते हैं कि अन्य शास्त्रोंको भी खूब देखो, जो सत्य प्रतीत हो, उसे स्वीकार करो। सत्य को ग्रहण करो, धर्मविशेषको नहीं। वस्तुका जो स्वरूप है, उसपर ही दृष्टि दो, उस स्वरूपमें शुद्ध आत्मा नजरमें आयेगा। आत्मामें जो भी भाव समझते आ रहे हैं वे औपाधिक हैं, पर्यायें है, अतः वे अध्यात्मस्थान भी आत्माके नहीं है। आत्मा ध्रुव है ये स्थान अध्रुव हैं। वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक तो प्रकट पुद्गल द्रव्य है ही। किन्तु इनके उदयादि अवस्थाको निमित्त पाकर जो अध्यात्मस्थान होते हैं वे भी आत्माके नहीं हैं अथवा वे

आत्मद्रव्य नहीं हैं। आत्मामें जो संयोगी भाव हैं व जो संयुक्त पदार्थ हैं उनसे पृथक् चैतन्य-मात्र निज सत्तामय अपने आपके परिचयसे मोक्षमार्ग प्रगट होता है। सर्वक्लेशोंसे मुक्ति पानेके लिये निज परमात्मतत्त्व जानना अनिवार्य आवश्यक है। जिसने अपने आपको जाना उसको ईश्वरके गुणगान करना तथा सिर रगड़ना लाभदायक है। अपने आपको जाने बिना सिर रगड़नेसे गूमटे ही हो जावेंगे। आत्माको जाननेसे ही ज्ञाता द्रष्टा बन सकता है।

१६६. स्ववृत्तिसे मुक्तिलाभ—जैसे रोटी बनाने वालेको शंका नहीं होती कि यह बनेगी अथवा नहीं, वैसे ही ज्ञानियोंको शंका नहीं होती कि मुक्ति मिलेगी या नहीं। उन्हें तो यह सूझता रहता है, भक्ति यही है, मुक्ति इसी रास्तेसे है, मैं पहुंचकर रहूंगा, वह दूर नहीं, मुझे जरूर मिलेगी क्योंकि मुक्ति कहीं अन्यत्र नहीं आत्मामें है, इस ही का शुद्ध विकास मुक्ति है। इसी तरह आत्मतत्त्वकी बात समझने वालेको सन्देह नहीं होता। उसे तो दृढ़ धारणा रहती है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मिलकर ही एक मोक्षका मार्ग है। तीर्थंकर मोक्ष नहीं देते, न शास्त्र देते हैं और न मुनि ही शिवदाता हैं। आत्माके द्वारा आत्मा ही आत्मा को मुक्ति देता है। एक घड़ेमें लड्डू भरे रखे थे। बन्दरने आकर हाथमें ३-४ लड्डू भर लिये। अब हाथ नहीं निकलता, तो निकाले कौन, जब वह उन्हें छोड़े तब हाथ निकले। इसी तरह यह जीव अपने ही कारणोंसे संसारमें भटक रहा है तथा उन कारणोंको छोड़कर अपने ही द्वारा छूट सकता है। प्रायः मनुष्य मिथ्याका अर्थ झूठ करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं, मिथ्या शब्द मिथ् धातुसे बना है मिथ अर्थात् दो का सम्बन्ध। तो जहाँ मिथ्या कहा जाय वहां दो का सम्बन्ध जानना चाहिए। परको अपना मानना यह हुआ मिथ्या, यह दृष्टि खराब हुई, जहाँ एक को ही माना जावे वह दृष्टि अच्छी। जैसे यह आत्मा अकेला ही सब कार्य करता है। तो भी परस्परके सम्बन्धको लगा कर जीव जाना करते हैं। आत्मतत्त्व जो है वह स्वसंवेदनसे जाना जाता है। बाह्यसे दृष्टि भिन्न रखो।

१७०. ध्रुवदृष्टिकी कल्याणरूपता—सर्व पदार्थ भिन्न हैं, उनसे मेरा कोई हित नहीं होता। क्रोधरूप मैं नहीं, मानरूप मैं नहीं, मायारूप मैं नहीं और न लोभरूप मैं हूँ। निजका ध्रुव जो स्वभाव है वह अखंड, चिदानन्दमयी, ज्ञाता द्रष्टा मैं हूं। ज्ञानरूप आत्मा मेरी अन्तः दैदीप्यमान हो रही है, स्वभावतः स्वभाव जाननेका उपाय देखो। आम छोटा रहनेपर काला रहता है, कुछ बढ़नेपर हरा हो जाता है, फिर पीला, लाल, रंगमें परिणत हो जाता है। इसमें आमका रूप बदला है, आम तो वही है जो पहले था और रूप सामान्य भी वहीं है। बदला कौन ? रूप। सो जो रूप नामक गुण प्रारम्भसे सदा है वह है रूप स्वभाव। यह तो आत्मस्वभाव जाननेके लिये दृष्टान्त है। अब आत्मामें देखो चैतन्य स्वभाव अनादि अनन्त है किन्तु प्रति समय ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगके परिणमन हो रहे हैं। यथासंभव

छद्मस्थोंके क्रमश: व केवलियोंके युगपत् । इसमें जो परिणाम रहा है वह तो है चैतन्य स्वभाव और जो उसकी परिणतियाँ हैं वे हैं पर्याय । चैतन्यस्वभाव ध्रुव है वह है आत्मस्वभाव । कहते हैं ना–आदमी बदल गया । यही आदमी पहले था, यही अब है । मनुष्य परिस्थितियों में पड़कर अन्य रूप हो गया है, न कि मनुष्य ही दूसरा हो गया है ? रूप गुण ध्रुव है । काला पीला, नीला, अध्रुव है । ज्ञान तो ध्रुव है, किन्तु उसकी दशायें अध्रुव हैं । ध्रुवकी दृष्टि कल्याणयुक्त है, अध्रुवकी अकल्याणयुक्त है ।

१७१. ध्रुवस्वभावके अपरिचयमें धर्मवीरतापर आश्चर्य—जिनके ध्रुव आत्मस्वभाव का परिचय नहीं वे इस बातपर अचरज करते हैं, साधु जंगलमें अकेले कैसे रहते होंगे, उन्हें भय नहीं सताता होगा । इस तरहकी कल्पनायें आत्मस्वरूपानभिज्ञ मनुष्य किया करते हैं । इस तरहके मनुष्योंको बुद्धिपूर्वक यथार्थ बात सोचना चाहिए कि साधु जंगलमें निरपेक्ष भाव का ध्यान करते हैं । जब वहाँ किसीकी अपेक्षा ही नहीं तो भय किस वस्तुका ? कपड़ा गीला था, धूलमें गिरनेसे धूल लग गई, सूख जानेपर धूल झर जाती है । वैसे ही कर्म कषायसे बंधे थे, कषाय दूर हुई, कर्मोंने विदा ले ली । स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा है, कुटुम्बीजन मेरे हैं, यह मेरे आश्रित रहते हैं, मैं इनका भरण पोषण करता हूं, ये मुझे सुख देते हैं, इस तरह की कल्पनासे अशुभ कर्म बंधेगा । भगवान आप त्रिलोकीनाथ हैं, संसारके तारक हैं, मैं अज्ञानी हूं, परपदार्थोंमें रमण कर रहा हूं, इससे भी शुभ कर्म बंधे । लेकिन जहाँ एक निर्विकल्प, निरपेक्ष ध्यान है वहाँ कर्म नहीं आते, मार्ग कर्मोंका अविरुद्ध हो जाता है । विकार सहित परिणाम करके कषाय बढ़ाकर निज स्वभावका प्राणी घात करते हैं । जितनी आत्मायें हैं, उनमें परमात्माका वास है लेकिन ऐसा नहीं कि परमात्मा छोटा या बड़ा किसी रूप हो और प्रत्येकमें जुदा-जुदा ठहरा होवे । तात्पर्य यह है प्रत्येक आत्मामें परमात्मा होने की शक्ति है । परमात्मा तो आकर तुम्हारी आत्मामें नहीं समा गया तुम्हारा ही स्वभाव परमात्मतत्त्व है ।

१७२. अपने परिणामके अनुसार अपना अनुभवन—यह जीव जिस तरहके परिणाम करता है. उस तरहके सुख दुख भोगता है । एक लड़का दूसरे लड़केको २० हाथ दूरसे चिढ़ाता है तो लड़का चिढ़ने लगता है, गाली वकता है, रोता है, क्रोध करके मारनेको झपटता है । लेकिन क्या चिढ़ाने वालेकी उंगली वहाँ गई, या जीभ, नाक, हाथ, पैर, वहाँ पहुंच गया । और देखो साथके अन्य लड़के नहीं चिढ़ते हैं, तो इसमें अपने ही परिणामोंके अनुसार चिढ़ाना और दुःख उठाना मा रखा है । देखो वे सभी वालक अपनी-अपनी योग्यतानुकूल अपना-अपना परिणमन कर रहे हैं । जगतके जीव जो भी सुखी होते हैं वे अपने ही भावसे सुखी होते हैं और अपने ही भावसे दुखी होते हैं । एक घरमें ६ आदमी हैं । उनमें दो

सुखी हैं तथा ४ दुखी हैं, तो उन चारको किसीने दुखी बनाया नहीं किन्तु उन्होंने ऐसा मान रखा है, इसलिए उन के परिणाम ही उन्हें दुःख देते है। रामचन्द्रजी ने क्या कम दुःख उठाये, कृष्णजी को आपत्तियोंका सामना करना पड़ा, भरत, बाहुबलिको दुःख उठाना पड़ा। ये सब पुण्यवान जीव थे। फिर दुखी क्यों? यथार्थमें असली परीक्षाकी कसौटी आपत्तियोंपरसे ही कसी जाती है, उनमें जो खरा उतर गया, विषादको पल्ले नहीं पड़ने दिया, इस तरहके जीव ने ही आत्मतत्वको समझनेमें सफलता पा ली।

१७३. अपने भावसे अपनी परिणति— मैं एक आत्मा हूं—इस तरह प्रतिभास जिसे हो गया, उसके आत्माका ध्यान करनेपर आत्मामें पूर्ण सुखकी झलक आ जाती है। प्रत्येक आत्मा न्यारा न्यारा है। किसीकी परिणति किसी अन्य आत्मामें नहीं मिलती। प्रत्येक प्राणी अन्यकी सेवा करनेमें तभी उद्यत होता है, जबकि उसे सेवाभावमें अन्तरङ्गसे सुखकी झलक होती है और सेवा बिना आपको दुखी पाता है। एक अध्यापक १० छात्रों को पढ़ाता है। १ बुद्धिमान निकलता है। क्या वह अध्यापकके पढ़ानेसे ज्यादा समझ लेता हैं, तथा बाकी मूर्ख रहते है तो क्या बाकी छात्रोंके हृदयमें पढ़ाना ठीक नहीं बैठता मास्टर का? उनमें अध्यापकने न तो एकको बुद्धिमान बना दिया है और न ९ को समझानेमें कमी की है, किन्तु बुद्धिमान छात्रकी ज्ञान योग्यता आत्मामें पहलेसे ही विद्यमान थी, वह ज्ञान कारण पाकर प्रस्फुटित हो गया। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानपर पर्दा पड़ा हुआ है, वह अपना समय आनेपर उस तरहकी अवस्थामें पा लेता है तथा ज्ञान विकसित हो जाता है। अन्तरङ्गसे ज्ञानका प्रस्फुटित होना स्वभाव है, वह बाहरसे आकर न मिला है और न मिल ही सकता है। अनुभवका स्थान सर्वोपरि है। संसारी प्रत्येक आत्मा अपने भावके अनुसार अपनी सृष्टि पाता है। अपने-अपने भावके अनुसार स्नेह करता है एवं अपने परि-णामोंके अनुसार द्वेष करता है। जिससे हम राग करते हैं, हो सकता है वह हमारी कुछ भी परवाह नहीं करता हो, भले हम उसके लिये प्राणपणसे हरदम तैयार रहें। द्वेष करनेपर भी, जिसपर हम द्वेप कर रहें हैं, वह आनन्दसे झूम रहा है, उसे द्वेष करने वालेसे कोई हानि नहीं हो रही। पर द्वेष करने वाला अपनेमें ही जल रहा है। पारलौकिक हानि तो है ही तथा द्वेषकर्ताको लौकिक हानि भी उठानी पड़ती है, पाचन शक्ति मन्द पड़ जाती है, चेहरा विवर्ण हो जाता है आदि। राग करनेपर भी अन्यका हित नहीं कर सकता। राग करनेसे यौवनको वृद्धावस्थासे नहीं बचा सकते और न वृद्धसे पुष्ट ही कर सकता हूं। हम जो कर सकते हैं वह अपने गुणोंका ही परिणमन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थका कर्ता अपनेको समझना यही संसारक्लेशकी खान है। इस मिथ्याबुद्धिसे बचकर अपनी रक्षा करें।

१७४. यथार्थताके परिचयसे उन्नतिकी ओर गति—आत्मतत्त्वका परिचय कर लेने वाले ज्ञानी आत्मावोंकी वृत्ति एकरूप होती है, किन्तु यदि उपाधियोंका उदय विशिष्ट आवे तो अन्तः श्रद्धा सत्य होने पर भी वृत्ति विचित्र हो जाती है। एक सेठके एक ३ वर्षका बालक था। सेठ मरणासन्न था। उसने पाँच प्रमुखोंको बुलाकर उन्हें जायदादका ट्रस्टी बना दिया और कह दिया कि जब बालक बालिग हो जाय तब जायदाद सौंप देना। एक दिन ठगने उसे सड़कपर अकेला खेलते हुए देखा और ठग उसे घर ले गया और ठगिनीको दे दिया। ठगिनीके पास बचपनसे ही वह लड़का रहता है। ठगनीके कहनेपर वह सब कार्य करता है। खेतकी रक्षा करता है, पशुओंकी देखभाल करता है। एक दिन वह लड़का अपने शहर पहुंचा। ट्रस्टियोंने समझाया कि तुम अपनी जायदाद संभालो। वह आश्चर्य करता रह गया। आखिर बोला कि हम ३ दिन बाद संभालेंगे। झौंपड़ीमें जाकर वह ठगनी से पूछता है कि सच सच बता दो मेरे माता पिता कौन हैं? ठगनीने सच २ कह दिया। तुम एक सेठके पुत्र हो जो कि गुजर चुके हैं। अब वह मानता है कि मेरे पिता वह थे जो गुजर चुके तथा ठगनीसे भी माँ कहे तो उस पर पूर्ण विश्वास नहीं करता। परवश होकर उसको ऐसा करना पड़ता है। इसी तरह कर्मों की पराधीनतासे परको अपना मान रहा है कर्मोकी पराधीनता भी जब जावे, जब परपदार्थोंसे मोह करना छोड़ दे। जब इस प्राणीको यह बोध हो जावे कि मैं अपने ही परिणमनसे जन्मता हूँ तथा मरता हूँ तब इसे निश्चय हो जावे, मैं ही पुत्र हूं, मैं ही अपना भाई हूं, मैं ही अपना पिता हूँ, मैं ही अपना कुटम्बी हूं तब वह यद्यपि अपने धनकी चोरोंसे रक्षा करता है। उदरपोषणके लिए न्याय-पूर्वक धन कमाता है, कुटुम्बी जनोंका निर्वाह करता है, दान देना, पूजन करना आदि नित्य कार्य भी करता है। यह सब होनेपर ही पदार्थोंको अपनेसे भिन्न अनुभव करता है, तथा इस फिराकमें रहता है, कब निजात्मानन्दको पान कर उसमें निमग्न हो जाऊं।

१७५. परीक्षित धर्मके ग्रहणमें लाभ—बालक, बालिकायें जहाँ पैदा होते हैं। उनमें वैसे ही संस्कार घर कर लेते हैं। तथा उनके माता पिता जिसको देव मानते हैं उसीको वह पूजने लगते हैं। भगवान क्यों है, कैसा है, यह जिज्ञासा व प्रतीति वे नहीं करते हैं। उन्हें जैसी धारणा शुरूमें जम गई उसीपर विश्वास करने लगते हैं, अनेकोंकी दृष्टिमें सब धर्म एकसे मालूम पड़ते हैं। उन्हें नमकके ढेले एवं रत्नमें अन्तर ही मालूम नहीं पड़ता। दूध गायका भी होता है, आकका भी, बड़का भी दूध, पर अभी तक ऐसा कोई देखनेमें नहीं आया कि जो आकका दूध पीता हो। गायका दूध सभी पीते हैं। इसी तरह धर्म तो अनेकोंका नाम है किन्तु उनकी असली परीक्षा करनी चाहिए। किससे हमारा हित हो सकता है, कौनसा धर्म

हमें संसाररूपी समुद्रसे पार कर देगा ? धर्म ध्रुवस्वभावका उपयोग है। जैसे वस्तुतः मनुष्य उसे कहना चाहिए जिसका स्वरूप सदैव एकसा रहे, सो तो आंखोंसे देखनेमें नहीं आता। कोई कभी बालक है, तो कभी युवा है, कभी वृद्ध है, यदि यह सब दशायें मनुष्य हैं तो दशा मिटनेपर मनुष्य मिट जाना चाहिए। सदैव एकसा रहे वह मनुष्य है। सो सदैव अवस्थायें एकसी रहती नहीं। इसलिए इन सब दशावोंमें रहने वाला एक आधार मनुष्य है। यदि मनुष्य जीव है तो मनुष्यकी अवस्था मिट जानेपर जीव मिट जाना चाहिए, आंखोंसे आत्म-निर्णय नहीं होता जब आत्माका ज्ञान होगा वह ज्ञानसे ही होगा। आत्मा भी अपनी समस्त पर्यायोंका आधारभूत एक द्रव्य है। बच्चे मिट्टीका भदूना बनाते हैं, वह थोड़े समयमें गिर जाता है या वही बच्चा गिरा देता है, अथवा दूसरे बच्चे उसे गिरा देते हैं, वह अधिक समय नहीं ठहरता। उसी तरह मनुष्य या अन्य प्राणीके द्वारा जो सृष्टि चलती है, वह अधिक समय नहीं ठहरती, कुछ समयमें वह नष्ट हो जाती है। मनुष्य निश्चय दृष्टिसे सामान्यतया एक रूप ही है। मैं विद्वान हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, मैं मूर्ख हूं, मैं मनुष्य हूं, मैं राजा हूं— इस तरहकी कल्पनायें अज्ञानी जीवोंमें उठा करती हैं।

१७६. आत्मीय अन्तर्मर्मके बोधसे भ्रमजालमुक्ति—एक आदमी एक साधुके पास पहुंचा और बोला साधु जी मुझे ऊंचा ज्ञान दो। साधु जी ने कहा "एकं ब्रह्मास्ति, द्वितीयं नास्ति" एक आत्मा है दूसरा कुछ नहीं है। इतनेपर उसे सन्तोष नहीं हुआ तो कहने लगा और अधिक बताइये। तब साधु जी ने कहा—नगरमें एक पंडित रहते हैं उनके पास जाकर अधिक ज्ञान सीखो। उस आदमीको मर्मकी बातपर विश्वास नहीं हुआ और पंडित जी के पास जाकर पढ़ने लगा तथा विद्यादानके बदलेमें पंडित जी की गायोंका गोबर उठाने लगा। इस तरह १२ वर्ष विद्या पढ़ते हो गये, अन्तमें बोला—पंडित जी 'विद्या पढ़नेकी मर्मकी बात तो बता दो'। तब उन्होंने कहा "एकं ब्रह्मास्ति द्वितीयं नास्ति"। तब फिर उस आदमीकी समझमें आया कि यह तो सबसे पहले ही साधु जी ने पढ़ा दिया था, १२ वर्ष गोबर व्यर्थमें ढोया। ज्ञानके बिना आत्मा घर घर दुखी है, कोई किसीके प्रतिकूल है तो दुखी है, कोई अनुकूल होनेपर भी दुखी है। यह आत्मा अजर अमर है, चैतन्ययुक्त है, इसपर विश्वास नहीं बैठता। आत्मा अनेक प्रकारका नहीं है, न कोई उपाधि उसमें है। भ्रम बुद्धिसे जीवका उपयोग परमें लग रहा है। कभी परिणाम दुकानमें, कभी घरमें, कभी स्त्री पुत्रोंकी रक्षामें, कभी राजकथामें, कभी भोजन कथामें——इस तरह मन कुछ न कुछ सोचा ही करता है। तथा मन जब वशमें हो जाता है तब परमात्माके दर्शन हो जाते हैं। सोचनेसे परमात्मा नहीं दिखेगा, सोचना बन्द करनेपर ईश्वरके दर्शन हो सकेंगे। मुसलमान भाई कहते हैं, दो फरिश्ते कंधेपर बैठे हैं यह फरिश्ते राग और द्वेष ही हैं तथा चार पहिरेदार इस मनुष्यके साथ लगे

हैं। ये पहिरेदार आहार, निद्रा, भय और मैथुन संज्ञायें ही हैं। इसी तरह यह जीव भ्रमसे संसारमें घूम रहा है।

१७७. सद्बोधसे बेशुधीका विनाश—एक आदमी जंगलमें जा रहा था। रास्तेमे देखता है, एक हाथीने बच्चेको सूँडसे पकड़कर मरोड़ डाला। वह आदमी हाथी द्वारा यह कृत्य देखते ही चिल्लाता है, अरे मेरा बच्चा मरा और बेहोश हो जाता है। वह बच्चा उसका नहीं था, अन्य मनुष्योंने जब यह देखा तो उसका खास बच्चा बुलाया गया। उसे देखते ही वह होशमें आ जाता है। यहाँपर उस आदमीको सुख बच्चा देखनेका नहीं हुआ, किन्तु उसे सुख इसका हुआ कि हाथीके द्वारा मरोड़ा गया बच्चा मेरा नहीं है, यह ज्ञान हुआ। इसी तरह जब तक परपदार्थोंमें अपनेकी ममत्व बुद्धि रहेगी तब तक उसी मनुष्यके समान बेहोशीका नशा जाल छाया रहेगा और जहाँ अपनेपनेकी बुद्धि दूर हुई आनन्दकी सहजोत्पत्ति समझो। ममता पिशाचिनीने कितनोंको नहीं डुबोया, तथा उसी ममत्वका गुटका खाते फिर रहे हैं। मोही जीवोंने इस तरह अनन्तानन्त भव बिता दिये, फिर भी ममत्व बुद्धि नहीं जाती।

१७८. अनुभवसे समस्यासमाधानकी सुगमता—भक्तिमें भाव लगे तो श्रेष्ठ है, बिना भावके छुटकारा नहीं। भक्तिकी ओर अन्तस्थल तक नहीं पहुंचे तो आत्मीक लाभ नहीं होने का। जब इस प्राणीके द्वारा निश्चय हो जाता है कि इन पदार्थोंसे मेरा निजी अहित हो रहा है, इनसे न आज तक कोई कार्य सिद्ध हुआ है और न आगे जाकर होयेगा, तब वह उन्हें तिलाञ्जलि देकर आत्महितके पथमें अग्रसर होता है। जिनका उत्तर कठिन है वह अनुभवसे सुगम हो जाता है। एक पुरुषकी दो स्त्रियाँ थीं। बड़ी स्त्रीके कोई लड़का नहीं था, छोटी स्त्रीके लड़का था। यह देखकर बड़ीको डाह पैदा हो गया। तब उसने अदालत में केस दायर कर दिया कि लड़का मेरा है। जब बड़ी स्त्रीके बयान लिये गये तो उसने कहा कि जो पतिकी जायदाद होती है, उसकी हकदार स्त्री हुआ करती है इसलिए लड़का मेरा है। छोटीसे पूछा गया तो उसने भी कहा लड़का मेरा है। जब दोनों अपना-अपना कहें तो राजाने एक उपाय सोच निकाला। राज्यके तलवार वाले सिपाहियोंको बुलाया गया और कहा, इस लड़केको काटकर इन दोनों स्त्रियोंको आधा-आधा दे दो। इसपर बड़ी स्त्री प्रसन्न हुई तथा छोटी चिल्लाकर बोली, महाराज पुत्र मेरा नहीं है, बड़ीका है उसीको दे दिया जावे। तब राजा यथार्थ बात समझ गया कि पुत्र छोटी स्त्रीका ही है, वह किसी भी हालतसे उसे जीवित देखनेमें सुखी है। इसलिए लड़का छोटी स्त्रीको दे दिया गया।

इसी तरह जो एक आत्मा है, उसका हल अपने अनुभवसे निकलेगा। खुदके अनुभव बिना, मात्र शास्त्रोंके सुननेसे उसका हल नहीं निकलेगा, दूसरोंके उपदेशसे भी नहीं निक-

लेगा। पूरा तो पड़ना अपनेसे। दुनियाभरके पदार्थोंको इकट्ठा करनेसे क्या मिलेगा ? मनुष्य भोजन करते हैं, पशु भी खाते हैं। किन्तु पशुओंको कलके संग्रहकी चिन्ता नहीं, उन्होंने खाया और चल दिये। पशुका मरनेपर प्रत्येक हिस्सा काम आता है। पशुका चमड़ा, हड्डी, माँस, सींग, गोबर, पेशाब, बाल आदि सभी कार्यमें आते हैं। मनुष्यकी जब तारीफ की जाती है तो पशु पक्षियोंसे उपमा दी जाती है। जैसे अमुक व्यक्ति शेरके समान बलवान है। तो शेर श्रेष्ठ ठहरा। उसकी नाक तोते के समान है, आँख हिरणके समान हैं, बाल सर्पके समान हैं, चाल हाथीके समान हैं, बोली कोयला के समान है आदि। इस तरह पशु पक्षियोंका स्थान श्रेष्ठ ठहरा। यदि मनुष्यमें एक धर्म नहीं है तो उससे पशु ही श्रेष्ठ हैं। धर्मके होनेसे ही मनुष्यका स्थान पशुओंसे ऊंचा हो सकता।

१७९. **व्यवहारशरण और परमार्थशरण**— परात्मवादी जिन कुतत्त्वोंको आत्मा मानता है वे कोई भी शरण नहीं हैं, शरण तो सहज निरपेक्ष सनातन आत्मस्वभावकी दृष्टि ही है। जब यह दृष्टि न हो तब इस दृष्टिके प्रसादसे जो परमोत्कृष्ट हो चुके हैं उनकी भक्ति है तथा जो इस मार्गमें लग रहे हैं उनकी भक्ति है एवं जो सद् वचन इस मार्गके वाचक हैं उनका अध्ययन मनन विनय है। चत्तारिदंडकमें जहाँ शरण बतलाया है, वहाँ पूर्वके तीन तो परपदार्थ हैं। धर्म निज तत्त्व है। अरहंत, सिद्ध, साधुकी जो भक्ति है, वह व्यवहार भक्ति है। उसकी बात अपनेमें उतारे तो लाभ है। अरहंतके जो गुण हैं मेरे गुण हैं, उनको प्राप्त करनेमें मैं समर्थ हूं। सिद्धका जो द्रव्य है वैसा मेरा है। सिद्धके जो गुण हैं वैसे मेरे है तथा सिद्धकी जो पर्याय है वैसी पर्याय पानेमें मैं समर्थ हूं, इस तरह वह सिद्धको शरण बना लेता। साधुका जो परिणमन है उसकी मैं भी शक्ति रखता हूं। धर्म भक्ति कहो या उपासना वह निश्चय भक्ति है। मोह, राग, द्वेषसे न्यारा जो परिणाम है वह धर्म है, वह धर्म आत्माका खजाना है, उसे कोई चुरानेमें समर्थ नहीं, चुगलखोर बदनाम नहीं कर सकते, मायाचारी उस आत्मतत्त्वको मायाजालमें नहीं फंसा सकते। व्यवहार-शरण लेकर पीछे व्यवहारशरण छोड़े तब आत्मबुद्धि पैदा होवे।

१८०. **धर्मके लक्षणोंका विश्लेषण**—धर्म पाँच तरहसे बताया है उत्तमक्षमादि दशलक्षणका नाम है। रत्नत्रयका नाम धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अप-रिग्रहका नाम धर्म है। वस्तुस्वभावो धम्मो अर्थात् वस्तुका जो स्वभाव है उसका नाम धर्म है तथा दया धारण करना इसका नाम धर्म है। दश लक्षण धर्ममें राग द्वेष मोहका अभाव कहा है। उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य प्रत्येकमें यह अच्छी तरह ज्ञात होता है। जब तक रागद्वेष मोहका सद्भावरहेगा तब तक दशधर्म नहीं ठहर सकते। सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रमें राग, द्वेष, मोह रहित परि-

णाम है। अहिंसामें यही बात है, विषय कषायका अभाव होगा तभी वह बन सकेगी। सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह भी रागद्वेष मोहसे रहित होगा। वस्तुका स्वभाव ही धर्ममय है अर्थात् आत्माका स्वभाव रागद्वेष मोहसे रहित है। जीवोंपर दया तभी की जायगी जब न मोह मिश्रित राग होगा और न द्वेष। आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है, शरीरको ही आत्मा माननेमें अनादि कालसे भूल की है और अब भी करनेसे नहीं चूका तो कोई हाथ पकड़ कर मुक्तिके पन्थमें नहीं लगा सकता। संयोग बुद्धि अर्थात् मिथ्या बुद्धिको लेकर जो परिणाम होता है वह अनन्तानुबन्धी कषाय है। मोही जीव शरीर, स्त्री, पुत्र, पौत्र, सुवर्ण, जमीन सभीको अपने मान रहा है, थोड़ा इसका भी तो अनुभव कर कि मैं ध्रुव ज्ञानस्वरूप हूं। मेरी बात अन्यने नहीं मानी, मेरे विचार नहीं अपनाये, मेरा अपमान कर दिया, निश्चयसे क्या यह तेरे हैं विचार तो कर। विचार कर तथा आत्मतत्त्वके मतलबकी बात गाँठमें बांध ले तो हठबुद्धि छूटते देर नहीं लगेगी। इस मनुष्यपर्यायमें ऐसा सोचते कि मेरी शान गिर गई, अवहेलना कर दी और वहाँसे कूच करने पर मनुष्यसे तिर्यंच हो गया तब शान रह जायेगी क्या? क्षणिक इज्जतके प्रलोभन को त्यागनेसे असली एवं स्थायी शान बना सकता है, जो आज तक प्राप्त नहीं हुई।

रागद्वेषरहित परिणाम धर्म है। मन्दिर आना धर्म तो तब है जब वहाँ राग द्वेषका अभाव होवे, वहां वैसी सामग्री उपस्थित है इसलिए धर्मका स्थान होनेसे परिणामोंकी निर्मलता कर सकता है। पूजा भी इसलिए की जाती है तथा राग द्वेष रहित अवस्था होने से उनकी सत्य स्थायी कीर्ति बन जाती है। गुरुओंकी सेवा भी रागद्वेष रहित उद्देश्यको लेकर की जानी चाहिए। संयम भी पल सकता है जब राग द्वेषका अभाव हो। इन्द्रिय संयममें रागका अभाव होगा तभी पल सकेगा तथा प्राणी संयमके होनेके लिए द्वेषका अभाव होना आवश्यक है। द्वेष तभी पैदा होता है, जब किसी विषयमें राग हो। दान धर्म क्यों कहलाता है इसलिए कि धनसे राग घट गया। उत्सव धर्मके इसलिए है कि राग द्वेष रहित होकर उपदेश सुनेंगे। शास्त्र सुनने इसलिए जाते हैं कि वहां राग द्वेषसे छूटनेकी कथा मिलेगी। रागद्वेषका चक्र अनादिसे चल रहा है तभी अनन्त संसारमें भटकना पड़ा है। संसार से छूटनेकी यदि कोई औषधि है तो राग, द्वेष, मोहका अभाव होना। धर्म भी इतना ही है कि रागद्वेष मोहका अभाव होना। राग, द्वेष, मोहसे दूर रहनेका उपाय रागद्वेष मोह रहित चिन्मात्र आत्मतत्त्वकी उपासना करना है। प्रिय आत्मन्! पर्यायबुद्धि छोड़ो। पर्याय जब जो होना होगा होगा उस अध्रुवतत्त्वका आलम्बन संसार ही बढ़ावेगा, अतः पर्यायमात्र अपने आपको न विचार कर चैतन्य प्रभुकी उपासना करो। संसारका जितना भी दुःख है उसका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। निर्धनताका दुःख क्यों सताता है कि शरीरमें आत्म-

बुद्धि है, आत्मा तो निर्धन नहीं है। सभी दुखोंका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। किसी सभामें अपमान हुआ, मेरी इज्जत गिर गई, इन सबका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। भूखका दुःख क्यों हुआ शरीर और आत्माका सम्बन्ध है, उसमें आत्मबुद्धि है। मेरा अमुक व्यक्ति चला गया, मेरा इष्ट वियोग हो गया, इन सबका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। इस तरहके भोले प्राणीको थोड़ा आत्माका भी अनुभव करके देखना चाहिए, मैं अखंड, चिद्रूप, चैतन्य पुञ्जका समूह हूं।

१८१. निर्भ्रान्तताका बल—अन्य व्यक्ति आश्चर्य करते हैं, जैन साधु एक बार खाकर कैसे रह जाते हैं? इसलिए कि उनकी शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं है। शरीरमें आत्मीयताका विचार नहीं मिलता तो शरीरका सहवास भी नहीं रहेगा कभी। जब तक आत्मामें से शरीर बुद्धिका भ्रम न निकल जावे तब तक शान्ति नहीं मिलेगी। मैं सेठ हूं, व्यापारी हूं, बड़ा आफिसर हूं अध्यापक हूं आदिके विकल्पजाल छोड़ दिये जावें तो कुछ सुखानुभव होवे। रागद्वेष आदि पर भाव हैं, रागद्वेष, मोहादि कर्मका निमित्त पाकर आते हैं। रागद्वेष में मतिको लगाना अशान्तिका कारण है। इनसे निवृत्त रहे तो शान्तिमें वृद्धि होगी। परवस्तुविषयक भावमें व परपदार्थमें शान्ति नहीं मिल सकती। इन्द्रियोंका व्यापार बन्द किया जाय तो शरीरमें आत्मबुद्धि दूर होवे। एक सुई दोनों तरफ नहीं सी सकती, उसी तरह उपयोग दोनों कार्य नहीं कर सकता, संसार भी बस जावे और मोक्ष भी मिल जावे। दानियोंके दानपर कंजूसोंको आश्चर्य होता है। ज्ञानियोंकी कृतियोंपर एवं विरागियोंके वैराग्यपर मोहियोंको आश्चर्य होता है। आलसियोंको सेवाभावियोंमें रह आश्चर्य होता है। कि इन्हें ऐसा क्या भूत सवार हो गया जो सदैव दूसरोंकी सेवा ही करते फिरते हैं। ममताके छोड़ने से और ज्ञानके बनाये रहनेसे दो लाभ हैं या तो मुक्ति मिलेगी या करोड़ गुनी संपत्ति मिलेगी। एक भिखारी ३–४ दिन की बासी सूखी रोटी लिये जा रहा है, उससे एक सेठने कहा इन रोटियों को तू फेंक दे तथा ताजी पूड़ी साग खा ले तो उसे विश्वास नहीं होगा। उसी तरह परद्रव्यके भिखारीको विश्वास नहीं होता कि निजमें स्वयं आनन्द है वह परद्रव्यके ममत्व परिणाम को छोड़कर स्वद्रव्यपर दृष्टि नहीं जमाता। यह जीव पशु हुआ, तो वहाँ देखो पशुओं को परिग्रह जोड़नेकी ममता नहीं होती है, उन्होंने खाया पिया और चल दिये। पर मनुष्य सदैव परिग्रह इकट्ठा करने की चिन्तामें सन्तप्त रहता है। किन्तु जिसकी दृष्टिमें शरीर भी अपना नहीं है वह क्या मकान आदिको अपना मान सकता है? जब शरीरमें आत्मबुद्धि हुई तो आत्मानुभवसे गिर गया। सब दुःखोंकी जड़ शरीरमें आत्मबुद्धि है।

१८२. शरीरसे आत्मबुद्धि हटानेका उपाय—शरीरसे आत्मबुद्धि हटनेका उपाय

क्या है ? मन, वचन और काय---ये ३ कारण लगे हैं। ये तीनों चंचल है, शरीर चंचल है उससे ज्यादा चंचल वचन है तथा वचनोंसे ज्यादा चंचल मन है। सबसे प्रथम शरीरके व्यापारको रोको, शरीरके व्यापारको रोकनेके बाद मूलवचनके व्यापारको रोको, दो तरहके होते हैं (१) बहिर्जल्प और (२) अन्तर्जल्प। बाहरी वार्तालापको वन्द करना बहिर्जल्पको रोकना हुआ। अन्त: शब्दरूप कल्पनाको मेटना अन्तर्जल्पका रोकना हो सकता है। जब बाह्य पदार्थोंको भिन्न मान उनसे रुचि हटावे। मनका व्यापार रोकनेके लिए परपदार्थोंको अहितकर मानना होगा। जब मनका व्यापार रुक गया तो संकल्प विकल्प चल ही नहीं सकता। ज्ञान तो परिणमन करता है। वह आत्माका परिणमन करता है। मैं ज्योतिमात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, शुद्धचैतन्य द्रव्य स्वरूप हूं। यह अनुभव तभी हो सकता है जब शरीरसे आत्मबुद्धि छूटे। कोई किसी की आत्मामें विघ्न कर ही नहीं सकता, क्योंकि बाह्य पदार्थों में मेरी आत्मा ही नहीं है इसलिए वह रुकावटके कारण नहीं हो सकते। आत्मा त्रिकाल अबाधित है, अखंड है, आनन्दमय है, चैतन्यमात्र है, अतएव बाहरी बाधा आ ही नहीं सकती। मानता है मुझे उक्त व्यक्ति ने विघ्न डाल दिया, यह मात्र सोच रखा है। यथार्थ में विघ्नकर्ता तू ही स्वयं है।

१८३. **परकी दृष्टिमें जीवनका अपव्यय**---परको अपराधी मान रखने की बुद्धि त्याग दे। कौन तेरा हाथ पकड़कर कहता है कि आत्मद्रव्यकी रक्षा मत करो। स्वयंकी ही भ्रम बुद्धिसे ही आत्माको भूलकर परपदार्थोंसे प्रीति कर रहा हूं। ताला डालकर भी तुझे बन्द कर देवें तो क्या किसीकी सामर्थ्य है जो आत्महितसे च्युत कर सके। अगर तुम स्वयं न चले तो दूसरेकी क्या सामर्थ्य है जो आगे बढ़ा सके। बुरा भी इसका कोई नहीं करता अच्छा भी कोई नहीं करता। जो शरीरमें आत्मबुद्धि करते हैं वे दुखोंके पात्र हैं। जब शरीरमें आत्माकी कल्पना हुई तब रिश्तेदारोंकी प्रतीति हुई और उन्हें अपना मानने लगा। यह मेरी नम्पत्ति है, मैं इसका संरक्षक हूं, इसके द्वारा मेरा कार्य चलता है यह भ्रम बुद्धि है। किसीने प्रशंसा नहीं की निन्दा कर दी, किसीने कहना नहीं माना तो तेरा क्या नुक्सान कर दिया ? निन्दा शरीरकी ही तो की, तेरी आत्माकी तो नहीं की क्योंकि लोगोंको शरीर ही दिखता है। यदि दुःख मिटाना है तो व्यापारमें ज्यादा ध्यान देनेकी अपेक्षा, मित्रोंसे ज्यादा परिचय बढ़ानेकी अपेक्षा, कुटुम्बियोंसे अधिक स्नेह करनेकी अपेक्षा उतने अधिक समय आत्मद्रव्यको जाना जाय। उस आत्माको जानने का एक ही उपाय है, शरीर, वचन, मनके व्यापारको रोका जाय। यहाँ वहाँकी बातोंपर ध्यान ही नहीं दिया जावे। परपदार्थोंमें जब तक रमा जायगा तब तक निज कार्यका विस्मरण ही रहेगा।

१८४. आत्मज्ञानके अभावमें बेसुधीकी दशा— यदि आत्मज्ञान नहीं है तो उसे सुप्त समझो। जब तक बड़े-बड़े राग नहीं आ पावें, इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, जराने नहीं घेरा है तब तक आत्मकल्याण करलो। सच्चा ज्ञान तो अपने अन्दर रहना चाहिए। कुपथ्य सेवनसे बीमारी बढ़ती है, बीमारीसे शरीर अशक्त हो जाता है। तब कुपथ्यसेवन छोड़नेमें हित है सच्चा ज्ञान हमेशा हृदयमें रहना चाहिए। केवल उपवास आदि क्रियाओंसे प्राणी संसारसे पार नहीं होता है। जितना छुटकारा है वह सब भीतरके भावसे होता है। ज्ञानी जीवको वार बार खानेका प्रयोजन नहीं है। ज्ञानकी कमाई सबसे मूल्यवान है। ज्ञानका ऐसा ही स्वभाव है, ज्ञानका ऐसा प्राकृतिक परिणाम है कि जितने कर्म करोड़ों जन्म अज्ञानोंके तप तपनेसे खिरेंगे वह ज्ञानीके एक क्षणमें खिर जाते हैं। जिन लड़के लड़कियोंकी सेवा करते हो। उनके पुण्यसे तुम्हें कमाना पड़ता है, वह आगे जाकर उनके कार्य आवेगा। कमाने वाला सोचता है हमारी स्त्री एवं पुत्रको थोड़ा भी परेशान न होना पडे, अतएव अपनी परवाह न करके जीजानसे धन कमानेमें परिश्रम करता है। आत्मज्ञानका अभाव है तो वह सोनेको ही सुख मान रहा है, सोनेको ही बाहरी चोर चुरा ले जाते है। जिससे आत्माका ज्ञान हो उसे हम जाग्रत अवस्थामें कहेंगे। कितना ही कोई किसीसे प्रेम करे तो क्या प्रेम करने वाला उसका धर्म निभा देगा तथा उसका फलप्राप्तिकर्ता वह होजायेगा? इसमें का भान जब तक शरीरमें है तब तक राग द्वेष आयेगा। इसका तो भान करो मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, मैं तो ज्ञान स्वरूप हूं। आत्मा कैसी विलक्षण है कि इसकी उपमा भी नहीं दी जाती है। जहाँ रागद्वेषकी सामग्री मौजूद हो उसकी उपमा दी जाती है। शत्रु माननेमें भी दुर्गति है। जगतके इन जीवोंने क्या मुझे देखा है, जब मेरी आत्मा अमूर्तिक है तो दूसरे क्या देखेंगे, मेरे तो कोई शत्रु मित्र नहीं है।

१८५. आत्मत्रैविध्यके अवगममें कर्तव्यका भान—जीवकी तीन दशायें होती हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। देह और जीवको एक मानने वाला बहिरात्मा है। देहसे भिन्न जो अपनी आत्माको जाने वह अन्तरात्मा है तथा जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं वह परमात्मा है। बहिरात्मापनेको छोड़नेसे लाभ है तथा अन्तरात्मा होकर परमात्माका ध्यान करना चाहिए। परमात्मा होनेका यही उपाय है। एक राजमहलमें साधु रहता था, उसीमें एक राजा रहता था। एक दिन साधु और राजा दोनोंकी मौत हो जाती है। तब जंगलमें यह समाचार किसी ऋषिराजके पास भेजा गया। तो ऋषिराजने कहा कि राजा स्वर्गमें गया है और साधु नरकमें गया, क्योंकि साधुको तो राजाकी संगति मिली और राजाको साधुकी संगति मिली। प्रश्न—सम्यग्दृष्टि यहाँके मनुष्यभवसे मरकर कहां उत्पन्न होंगे? उत्तर—सम्यक्त्वसहित मरण होनेपर कर्म-

भूमिका मनुष्य देवगतिमें जायगा या भोगभूमिया मनुष्य तिर्यञ्चमें। पर सम्यक्त्व रहित मरण होनेपर विदेह क्षेत्रमें जा सकता है, यह शास्त्रोंका नियम है। वहांसे दीक्षा धर मोक्ष भी जा सकता है।

जीवके कषाय भावको निमित्त पाकर कर्म प्रकृतियां बंधती हैं। वे कर्म प्रकृतियां आत्माकी नहीं हैं। तब शरीरके जो और अवयव हैं वे आत्माके कैसे हो सकते है ? वर्ग, वर्गणायें और स्कन्ध भी आत्माके नहीं हैं। इनका उपादान पुद्गल है। उसी तरह आत्मामें आने वाली तरङ्गें भी आत्मा की नहीं हैं। शुद्ध आत्मा परद्रव्योंसे रहित होता है। जिसने इस आत्मतत्त्वको समझा उन्हींके अनुभवमें वह आता है। अब आगे कहते हैं कि योग-स्थानादिक भी आत्माके नहीं हैं।

१८६. योगस्थानमें जीवस्वरूपत्वका प्रतिषेध—जीवके योग स्थान नहीं है। योग कहते हैं आत्मप्रदेश परिस्पंदको। आत्मप्रदेश परिस्पंद होता है मन वचन कायके परिस्पंदके निमित्तसे। तो मन, वचन, कायका निमित्त पाकर जो प्रदेश परिस्पंद होते हैं जीवमें उन परिस्पंदोंमें अनेक स्थान हैं। हलनचलनकी विधि ढंग मंदता तीव्रता आदिक कारणोंसे योगके अनेक स्थान होते हैं। जब प्रदेश परिस्पद भी मैं नहीं, मेरा स्वरूप नहीं तो योग-स्थान मेरा स्वरूप क्या होगा ? योगस्थान इस जीवका स्वरूप नहीं हैं। जीवका स्वरूप तो ऐसी बुद्धि बनानेमें विशदतया विदित होता है कि जिसका सर्वस्व सार चैतन्यशक्तिमें व्याप्त है उतना मैं जीव हूं, इससे अतिरिक्त अन्य सब भाव पौद्गलिक हैं, कुछ तो पुद्गल उपादान वाले हैं और कुछ पुद्गलके निमित्तसे आत्म-उपादानमें प्रकट हुए भाव हैं, वे सभीके सभी पौद्गलिक हैं।

१८७. बन्धस्थानमें व उदयस्थानमें जीवस्वरूपत्वका प्रतिषेध—जीवके बंधस्थान भी नहीं है। विभावपरिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म बंधते हैं उन बंधोंमें जो स्थान होते हैं अनेक प्रकृतियोंके रूपसे, उस ही जातिकी प्रकृतिके रूपसे जो बंध स्थान होते हैं वे पुद्गलके हैं, कर्मके हैं, वे मेरे नहीं हैं। ये प्रकट भिन्न पदार्थ हैं—जीव और कर्म। कर्मका कुछ भी परिणमन तो मेरा हो ही नहीं सकता और कर्मके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मेरे गुणों का प्रभावपरिणमन वह मेरा परिणमन तो है किन्तु उत्कृष्ट विशुद्ध तैयारीके साथ निरखा जा रहा है कि मैं अनादि अनन्त शाश्वत चित्स्वभावमात्र हूं, ऐसा ही निरखता रहूं अत: मैं यही चैतन्यशक्ति हूं, चित्स्वरूप हूं, मैं यह विभावपरिणमन भी नहीं। यह पौद्गलिक है। फिर कर्मोंके जो स्थान हैं बंधस्थान हैं वे तो मेरे होंगे ही क्या ? जीवके उदयस्थान भी नहीं। कर्मोंके उदयके स्थान ये तो कर्ममें पड़े हुए है। वे मेरेमें कहाँ ? उनके विपाकका निमित्त पाकर मुझमें जो प्रभाव होता, उदय होता, उनमें जो स्थान हैं वे तक भी मैं नहीं

हूं, जीवके उदयस्थान नहीं।

१८८. **मार्गणास्थानोंमें जीवस्वरूपत्वका प्रतिषेध**—मार्गणा स्थान भी कोई जीवके नहीं है। मार्गणाओंका बहुत बड़ा विस्तार है। चौदह प्रकारकी मार्गणायें होती हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक। इनके भी और भेद हैं, उन भेद प्रभेदोंके स्वरूपके परिज्ञानसे जीवके विभाव परिणमनोंका विस्तार ठीक समझमें आ जाता है। नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगतिकी बात तो स्पष्ट है, ये जीवके स्वरूप नहीं हैं। सिद्ध स्थितिके रूपमें भी जो परिणमन निरखा जा रहा है, है वह स्वाभाविक परिणमन, किन्तु कोई भेद ये जीवके स्वरूप नहीं हैं। सिद्ध स्थिति अथवा ५ वीं गति, स्थिति जीवके स्वभाव विकासमें आयी है। लेकिन जीवका स्वरूप कहोगे तो वह स्वरूप न बनेगा। स्वरूप होता है शाश्वत। सिद्ध दशा तो कर्मक्षयके बाद प्राप्त हुई है। तो ये मार्गणा स्थान भी जिनके भेद विभावरूप हैं और एक भेद इन मार्गणाओंमें स्वभावरूप भी आता है वे सब भी जीवके स्वरूप नहीं हैं। मार्गणा कहते हैं खोजको। खोज करनेमें जहाँ विभाव नहीं मिला उसे भी जाना जायगा तो यों मार्गणा स्थान कोई भी जीवके नहीं है। एकेन्द्रिय होना, दो इन्द्रिय होना, तीन-इन्द्रिय होना, चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय होना ये जीवके स्वरूप नहीं हैं, और कभी इन्द्रियसे रहित हो जाय जीव उसे भी यों निरखना कि यह इन्द्रियरहित है, तो इन्द्रियरहितपना भी जीवका स्वरूप नहीं है। जीवका स्वरूप तो जीवमें तादात्म्यरूपसे रह रहा है, वह है चैतन्य स्वरूप। इसी प्रकार अन्य सभी मार्गणा स्थानोंकी बात समझना। कोई भी मार्गणा स्थान जीवके नहीं है।

> जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
> णेव य उदयट्ठाना णमग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥

१८९. **योगस्थान बंधस्थान व उदयस्थानोंसे जीवकी विविक्तता**—जीवके योगस्थान कुछ भी नहीं है। आत्मामें योग है, आत्मामें कर्मके आनेका कारणभूत शक्ति है उसका नाम योग है। जितनी शक्ति है वह सब स्वाभाविक है। उसके परिणामोंमें कोई स्वाभाविक होता है, कोई वैभाविक होता है। वस्तुतः आत्मामें योगोंका भी भेद नहीं है। योगमात्रसे जो आस्रव है उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। कषाय सहित योग होनेको सांपरायिक आस्रव कहते हैं। आत्मा इन सबसे शून्य है। प्रकृतिबन्धनके स्थान, स्थतिबन्धके स्थान और प्रदेश-बन्धके स्थान ये जीवमें नहीं हैं। एक शुद्ध दर्पण है उसमें लाल, पीला, नीला, हराकी उपाधि नहीं है। इसी तरह इन बन्धोंके स्थान जड़ स्वभाव है वह आत्मामें नहीं है तथा उदयस्थान भी आत्मामें नहीं है। यद्यपि जीव उपादान वाले स्थान जीवमें हैं किन्तु औपा-

धिक स्थान स्वभावका विस्तार नहीं है। थोड़ी प्रकृतियोंका उदय हुआ, अधिक प्रकृतिका उदय हुआ, इनका उत्पत्ति स्थान न जीव है और न पुद्गल है। मन्द फल, तीव्र फल ये उदयस्थान भी जीवके नहीं हैं। उन फलोंमें जो उदय स्थान हैं वे जीवके नहीं हैं, वे तो सम्बन्ध पाकर हुए हैं।

१६०. गति इन्द्रिय काय मार्गणासे जीवकी विविक्तता—मार्गणास्थान जीवमें नहीं है। खोजनेके स्थान जीवके हुआ तो करते हैं किन्तु उसका कार्य नहीं। जीवकी मनुष्य गति तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति भी नहीं हैं। हालांकि जीव इनमें जा रहा है, किन्तु शुद्ध दृष्टिसे तो जीव इनमें नहीं है। कोई आदमी पहले बड़ा सदाचारी होवे, बादमें दुराचारी हो जाय, तो अन्य मनुष्य उससे कहते हैं तुम पहलेके नहीं रहे। लेकिन मनुष्य तो वही है जो पूर्वमें था वही अब है, ऐसे ही द्रव्यदृष्टिसे जीव शुद्ध है। कोई व्यक्ति सोना लाया, उसमें चौदह आने भर सोना है तथा २ आना भर अन्य धातु है। तो सोना खरीदने वाला कहता है, यह क्या पीतल ले आये। क्योंकि उसकी शुद्ध दृष्टि असली सोना खरीदने की है। अतएव वह दो आना अस्वर्णमिश्रित सोनेको भी पीतल कह देता है। सहजतत्त्व (चैतन्य) के अतिरिक्त सभी भाव या परिणमन अनात्मा है। शुद्ध जीवमें इन्द्रियोंकी भी कल्पना नहीं होती है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पांच इन्द्रिय संसारी जीवको कहते हैं। जीव तो शुद्ध चैतन्यमात्र है। योगी जंगलमें रहते हैं, लेकिन किसके बलपर, वे ध्यानके बलपर जंगलमें रहते हैं। उनका उत्तम उपयोग शुद्ध चैतन्यसे बात करता रहता है। कायमार्गणा भी जीवमें नहीं है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवमें नहीं है। कायरहित अवस्था भी जीवकी नहीं है। कर्मका निमित्त पाकर ये शरीरसहित हुए हैं। जीव तो वस्तुतः शरीररहित है। इसका तात्पर्य है कि जीव एक चैतन्य मात्र है, किन्तु अफसोस है कि अपने ही अज्ञान अपराधवश यह जीव इतना चक्करमें पड़ा है कि वह इन विकल्पजालोंसे निकल ही नहीं पाता है। यदि सर्व विकल्प छोड़कर शुद्ध चेतनाका अनुभय करें तो क्लेशमुक्त हो सकता है।

१६१. योग वेद कषाय व ज्ञान संयम दर्शन मार्गणासे जीवकी विविक्तता—योगमार्गणा भी जीवकी नहीं है। योग—मन, वचन, कायके प्रवर्तनसे होने वाले आत्मप्रदेश-परिस्पन्दको कहते हैं। इनका सम्बन्ध पाकर आत्मप्रदेश हिल जाते हैं। जिसके यही अनुभव रहता है कि मैं पुरुष हूं, मै स्त्री हूं, मैं बालक हूँ वह आत्मतत्त्वसे काफी दूर है, संसारके वशीभूत होकर वह ऐसा समझता है। आत्मा न पुरुष है और न स्त्री है, न नपुंसक लिग है, वह तो चैतन्य मात्र है। पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग भाव भी जीवके नहीं हैं। उपाधिको निमित्त पाकर भ्रमसे जीव अन्यको अपना मान रहा है। कषायमार्गणा—क्रोध, मान

माया, लोभ भी मेरे नहीं हैं। मेरे नहीं हैं तभी तो मैं इन्हें छोड़ सकता हूं। जब लोभ मेरा नहीं है तो जिन पदार्थोंको देखकर लोभ होता है, वे मेरे कैसे हो सकते हैं? छोटा मोटा ज्ञान भी मेरा नहीं। वह तो पैदा हुआ नष्ट हो गया। ज्ञानमार्गणा भी ८ प्रकारकी होती है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभङ्गावधिज्ञान। ये सब ज्ञानके परिणमन हैं, अतः क्षणिक हैं। केवलज्ञान भी क्षणवर्ती है, किन्तु एक केवलज्ञान पर्यायके बाद केवलज्ञान पर्याय ही होता है, अनन्तकाल तक केवलज्ञान पर्यायें होती चली जावेंगी, अतः नित्यका व्यवहार कर दिया जाता है। निश्चयतः जीव सनातन एक चिन्मात्र है, अतः ये ज्ञानमार्गणायें भी जीव नहीं हैं। संयम स्थान भी मेरा नहीं। हिंसा दया आत्माकी नहीं। इनसे रहित शुद्ध चैन्तयमात्र निरपेक्ष तत्व मेरा है हितकर तो उसकी दृष्टि है। किसीको उच्च पदाधिकारी बना दिया जावे और वह होशियार नहीं निकला तो कोई कहता है कैसे बुद्धूको उच्च पदाधिकारी बना दिया? यदि ज्ञानभावको तो सम्हाला नहीं और बाह्यसंयम धर लिया तो वास्तविकता नहीं आ जायगी। बाह्यसंयम तो है ही क्या, अन्तःसंयमस्थान भी जीवके नहीं है। दर्शनमार्गणा भी जीवकी नहीं है। दर्शन ४ तरहका होता है—(१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन। इन्द्रिय और मनके द्वारा जो ज्ञान हो उससे पहिले होनेवाले प्रतिभासको चक्षुदर्शन कहते हैं। बाकी चार इन्द्रियोंसे जो ज्ञान हो उससे पहिले होने वाले दर्शनको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञानसे पहले होनेवाले ज्ञानको अवधिदर्शन कहते हैं। केवलज्ञानके साथ होने वाले दर्शनको केवलदर्शन कहते हैं। दर्शनकी प्रवृत्ति जीवकी नहीं है तो चक्षुदर्शनादि कैसे जीवका हो सकता है?

१६२. लेश्यादिकमार्गणासे जीवकी विविक्तता—लेश्या ६ तरहकी होती है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। यह भी जीवकी नहीं है। इनके समझनेका एक दृष्टान्त है—एक आमका वृक्ष काफी आमोंसे लदा था। उसको देखकर कृष्णलेश्यावाला व्यक्ति कहता है, इसे जड़से काटकर आम खा लें सब। नीललेश्यावाला कहता है इसका तना काटकर आम तोड़ लेवें। कापोतलेश्यावाला कहता है, डालें काटकर फल तोड़ लेवें। पीतलेश्यावाला कहता है, टहनी तोड़कर फल खा लें। पद्मलेश्यावाला कहता है, पके पके आम तोड़ कर ही अपना काम निकाल लेवें और शुक्ललेश्यावाला कहता है, नीचे जो फल गिरे पड़े हैं उन्हींको खाकर सन्तुष्ट रहेंगे। ये सब भाव कर्मकी उपाधि पाकर हुए हैं। गति, इन्द्रियाँ भी दूसरोंसे मांगकर लिए हुए हैं। अन्यत्रसे आये अन्यत्र चले जावेंगे। संज्ञी, असंज्ञीपना भी जीवका स्वभाव नहीं है और न यह जीवमें भेद हैं। आहारक, अनाहारक भी जीवका भेद नहीं। यह जीव आहार ग्रहण करता ही नहीं, तब आहारक कैसे हो सकता है तथा अना-

हारक कहनेका भी अवकाश कहाँ ? स्पर्श आदिक भी तुम्हारी आत्माके नहीं है ! जो उपद्रव आत्मामें लग गया है उसीकी हम रक्षा करते हैं। वाह री बुद्धि दूसरेके पहरेदार बनकर रक्षा करता हुआ भी यह शरीर प्रसन्न होता है। यह सब जीवके नहीं, शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा है। यह कार्य मैंने किया, बनवाया अथवा इस तरह कहना-आपके दासने यह मन्दिर बनवाया है, यह सब जीवके स्वभाव नहीं हैं। जब कर्म ही जीवके नहीं है तो अन्य पदार्थ जीवके किस तरह हो सकते हैं ? अब आगे कहेंगे कि स्थितिबंधस्थान आदि भी जीवके नही हैं:–

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स णो संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणमा णो संजमलद्धिट्ठाणा वा ॥५४॥

१९३. स्थितिबंधस्थानादिसे जीवकी विविक्तता—स्थितिबंधस्थान जीवका नहीं। कम, ज्यादा समय तक कर्म रहें आत्मामें, यह भी स्वभाव जीवका नहीं। संक्लेश स्थान जीवका नहीं क्योंकि कर्मके तीव्रोदयको पाकर आत्मामें जो संक्लेश भाव होते हैं वह संक्लेश कहलाता है। यह संक्लेश उपाधि पाकर हुआ है। यद्यपि यह आत्मा ही का परिणमन है किन्तु औपाधिक है। विशुद्धिस्थान भी जीवके नहीं। पूजा करते हुए, धर्म करते हुए भी यह मेरा नहीं ऐसी प्रतीति करो। जो यह मानते हैं, यह मेरा है, उन्हें जरा जरासी बातपर गुस्सा आ जाता है। जिन्होंने यह सोचा मैंने कुछ नहीं किया उनके कषाय भाव रहता नहीं। जैसे संक्लेश और संक्लेशस्थान जीवके नहीं वैसे ही विशुद्धिस्थान विशुद्धि परिणाम भी जीवके नहीं। सेवा भावमें चित्त लगने लगा, शुद्धभाव होने लगे यह भी जीवके नहीं। जैसे कोई चला जा रहा है और उसे सुगन्ध दुर्गन्धका कोई ज्ञान नहीं होता, सुगन्धि भी हो तो उसे परवाह नहीं और दुर्गन्धि भी हो तो उसे परवाह नहीं तो वह वहाँ उसके ज्ञाता रहते ज्ञानी जीव संक्लेशके भी ज्ञाता हो जाते हैं और विशुद्धिके भी ज्ञाता हो जाते हैं। मन्दिरमें आना, स्वाध्याय करना, पूजन करना, उपदेश सुनना आदि बातें खेतको जोतना हुआ और जिन्हें मध्यमें बीज बोनेका ध्यान नहीं तो वैसे सदैव जोतते रहनेसे कोई लाभ नहीं। कोई आदमी नाव चलाता होवे वह कभी इस तरफ ले जावे और कभी उस तरफ ले जावे, लेकिन किनारेपर लगना जिसका उद्देश्य ही नहीं। वह क्या किनारेपर लगेगा ? धर्म तो मेरा उतना है जितने समय आत्मस्वभावपर दृष्टि है।

१९४. जीवोंकी स्वार्थनिरतता—मनुष्य क्या, सभी जीव वस्तुतः स्वार्थी हैं, सभी अपनी अपनी कषायका पोषण करते है। कोई किसीसे मित्रता रखता है, कोई किसीसे शत्रुता रखता है, यह कषायको बढ़ाने वाला कार्य हुआ। मैं और हम नामकी एक कथा है दो मित्र चले जा रहे थे। रास्तेमें चलते-चलते मित्रको एक रुपयेसे भरी थैली मिल गई। तब वह कहता है "मुझे तो एक थैली मिल गई"। तब दूसरा मित्र कहता है ऐसा मत

कहो। यह कहो "हमें थैली मिली अर्थात् दोनोंको एक थैली मिली। इतनेमें थैली वाले ने देख लिया और वह पकड़ा गया तो कहता है अब हम फंस गये। तब दूसरा बोला, यह न कहो कि हम फंस गये, पर यह कहो "मैं फंस गया"। इसीलिए कहा है "खीर को सोज महेरी को न्यारे"। अपना निजका कुछ उपकार करते नहीं। दूसरेका भी उपकार करते नहीं तथा गुणोंको दोष बतानेमें बड़े पटु होते हैं, इसीसे देशमें भाररूप कहलाते हैं।

१९५. संयमवृद्धिस्थानोंसे जीवकी विविक्तता—जीवके संयमलब्धिस्थान भी व्यवहार से होते हैं, निश्चयसे नहीं होते हैं। मुनिको कोल्हूमें पेरा जा रहा है, वह ऐसा सोचता है कि हे आत्मन्! तूने महाव्रत धारण किये हैं. मुनि होकर समता धारण करना चाहिए, शत्रुको शत्रु मत मान, कोई किसीका कुछ नहीं बिगाड़ता है। ऐसा सोचने वाला मुनि द्रव्य-लिंगी है मिथ्यात्वी है, पर इस पर्याय बुद्धिके विपरीत सोचकर कि मैं अमूर्त चैतन्यमात्र हूं, इस तरह सोचकर निर्विकल्प समाधिमें लीन हो जाय तो वह अनुकूल कार्य करना है। चैतन्यमात्र आत्माके भाव हैं, इसके अतिरिक्त आत्मामें कुछ विकार नहीं। मुनि होकर थोड़ी-थोड़ी बातपर क्रोध आता है, बादमें सोचता है मैं मुनि हूं, यह मुझे करने योग्य नहीं आदि विचारे तो समझना चाहिए उसकी दृष्टि केवल पर्यायपर है। मुखसे बोलना अन्य बात है, प्रतीतिमें न आना अन्य बात है। क्या मुनि यह नहीं कहेगा—मेरा कमंडल उठा लाना तथा शिष्योंको भी दंड देगा, उपदेश भी होगा किन्तु उनमें ममत्व परिणाम नहीं करेगा। शुभ भावरूप आत्मा की प्रतीति नहीं करता अतएव जीवमें संयम वृद्धि स्थान नहीं है।

१९६, आगे पीछेके ध्यानका विवेक—बुन्देलखण्डमें कटेरा नामका एक ग्राम है। वहाँपर एक काफी धनवान सेठ रहता था। राजा भी उसका आदर करता था। इतना सब होनेपर भी नमक, गुड़, तमाखू आदि पीठपर लादकर दो घन्टा गाँवोंमें बेचने जाया करता था, जिसे बंजी कहते हैं। उससे किसीने कहा—आप इतने अधिक धनवान होते हुए बंजी क्यों करते हो? तब कहता है आज हम सेठ हैं कल न रहें तो हमें दुखी तो नहीं होना पड़ेगा। जिनके विवेक नहीं ऐसे धनियोंके पापोदयमें बुरी हालत होती है। पहले ज्ञानमें आकर सोने की परवाह नहीं की, सोनेका गहना रखने भी नौकर जाये तथा सेठ जी को तोलनेकी फिक्र नहीं, तथा जब दिवाला निकला, खपरे भी गिनकर अपने हाथसे दिये। खैर, ज्ञानी जीव सोचता है, इन्द्रियोंका व्यापार बन्द करके शुद्धात्मानुभवको अपना विषय बनाऊं। ऐसा जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र वृत्तिको अपना नहीं मानता, वह परपदार्थोंको अपना कैसे मानेगा? ज्ञानी चैतन्य मात्र अपनी प्रतीति करता है।

१९७. स्वाध्यायसे लाभ—स्वाध्याय करते रहना परमकर्तव्य है। दुकानसे निवृत हुए स्वाध्यायमें लग गये। व्यापारी कार्य करते हुए जब भी ग्राहकोंसे पीछा छूटा तब स्वा-

ध्यानमें रत हो गये। ऐसी आदत बनाइये। श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। ज्ञानका यत्न अवश्य करो। एक सेठ और सेठानी थे। सेठानी प्रतिदिन शास्त्र सुनने जाया करती, पर सेठजी नहीं जाते। एक दिन सेठानी बोली—शास्त्र सुनने चला करो। सेठजी शास्त्र सुनने गये शास्त्रसभा खूब भरी थी अतएव सबसे पीछे जाकर बैठ गये। सेठजी को नींद आ गई, इतनेमें कुत्ता आया और टांग उठाकर मुँहपर पेशाब कर गया। मुंह खुला था। शास्त्रसभा समाप्त हुई तब सेठजी भी जल्दी उठे, उनका मुंह खारा हो रहा था। घर आकर सेठजी सेठानीसे बोले—आजकी शास्त्रसभा तो ख़ारी लगी। सेठानी बोली, फिरसे सुनने चलना। सेठानी जी ने एक गिलासमें शक्करका शर्बत तैयार कर लिया और साथमें लिये गई। सेठ जी शास्त्र सुनने गये, उन्हें फिरसे नींद आ गई, तब सेठानी जी ने मुंह खुलेमें शर्बतके गिलाससे कुछ शरबत डाल दिया। सेठ जी उठे जीभ फेरते हुए। सोचने लगे आज, कहेंगे कि आजकी शास्त्रसभा बड़ी मीठी लगी खुशीका पारावार न था। घर हर्षसे आकर उक्त समाचार कह दिया। अब तो रोज जानेकी इच्छा हुई। एक दिन वर्णन निकला—देवताओं की छाया नहीं पड़ती। उसी दिन उनके घर चोर डाकू घुस गये। सेठजी की नींद खुल गई और सोचने लगे शास्त्रमें तो सुना था देवोंकी छाया नहीं पड़ती, इनकी तो छाया है अतएव उन्हें भगा दिया। तो सोचा शास्त्र सुननेके प्रभावसे हमारी चोरी नहीं हो पाई। उसी तरह शास्त्र शुरूमें कठिन लगता है, बादमें मीठा लगता है, तथा उसके रसिक जन कर्म रूपी चोरोंको भी भगा देते हैं। यह है शास्त्र सुननेका, स्वाध्याय करनेका निजपर प्रभाव।

१९८. आत्माकी मौलिक विशुद्धता—आत्माका जन्म नहीं हुआ है, क्योंकि वह अमूर्तिक है। किसी भी आत्माका नाम नहीं है। कालाणुमें भी आत्माका कोई नहीं है। जाति मात्रकी अपेक्षा ब्रह्म है या आत्मा है। निश्चय तपसे जातिमें सभी एक समान आ जाते हैं। निश्चयसे उसका कोई नाम नहीं। जन्म मरण जितने भी होते हैं वह सब कर्म-कृत लीला है। प्रदेशोंमें परिणमना आदि आत्माका स्वभाव नहीं, आत्माका नाम नहीं, जिनका नाम नहीं उसमें किसका सहारा लेकर रागद्वेष किया जायेगा? जिसका नाम होगा उसमें इष्टानिष्टकी कल्पना हो जायगी। बौद्ध नामको कर्मका कारण मानते हैं। अगर उसका नाम कहो चैतन्य है, जीव है, आत्मा है तो उसका देखकर नाम बताया। प्राणोंके द्वारा जीता है इसलिये इसका नाम रख लिया। जब नाम नहीं तब यह बताओ किसका आत्मा पुरुष है, किसकी आत्मा स्त्री है? आत्मामें न पुरुषपना है और न स्त्रीपना है और न नपुँसकपना है। अस्मद् शब्द संस्कृतमें है तथा युष्मद् शब्द है—इन दोनोंके कोई लिंग नहीं। अस्मद् अर्थात् हम और युष्मद् अर्थात् तुम। अहम् मैं और त्वम् तू (तुम), यह मैं और तुम स्त्री व पुरुष अपने लिए व दूसरेके लिए समान तौरसे प्रयोग करेंगे। हिन्दीमें पुरुष एवं

स्त्री समान रूपसे अपने लिए मैं तथा दूसरेको तुम कहेंगे तथा अंग्रेजीमें भी 'आई' और 'यू' स्त्री एवं पुरुष दोनोंमें समान तौरसे चलता है। लेकिन स्त्री अपने लिये यह नहीं कहती "मैं यहाँ आया", वह सदैव 'आई' कहती है, तथा पुरुष यह भी नहीं कहेगा "मैं यहाँ आयी" वह अपने लिए 'आ गया' कहता है। देखो तो कैसा पर्यायगत संस्कार पड़ा। हिन्दीमें मैं के साथ क्रियामें फरक आ जाता है किन्तु मैं या तुममें लिंग नहीं। जब शब्दमें लिंग नहीं तो आत्मामें न पुरुषत्त्व है, न स्त्रीत्त्व है, न नपुंसकत्त्व ही है, वह तो चैतन्यमात्र है। ऐसे निर-पेक्ष स्वभाववाले आत्माका जो ज्ञान है वही नमस्कार करने योग्य है, वही दर्शन है, वही ज्ञान है और वही चारित्र है, आचार भी वही है। शुद्ध सामान्य चैतन्यकी दृष्टि जो आत्माका स्वभाव है वही शुद्ध है, उसमें क्रिया कारकका चिन्ह नहीं। वही एक परमज्ञान है। शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि हो गई वही चरित्र है।

मनुष्य संयोगको तड़फते हैं, लेकिन दुखका कारण संयोग है। अपने आपको जानो, आत्मामें रति करो। भ्रमसे रस्सीको सर्प मान लिया तो दुखी हो जाते हैं। उसी तरह अज्ञानी जन परपदार्थोंको अपना मान रहे हैं व दुखी हो रहे हैं। आत्मा युक्तियोंसे नहीं जाना जा सकता है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आत्मामें ही हैं, उन्हें खोजनेके लिए यहाँ वहाँ भटकनेकी जरूरत नहीं। शुद्ध चैतन्यमात्र आत्माका स्व-भाव है।

१६६. आत्मा तात्त्विक नमन—सबसे उत्तम नमस्कार है आत्मद्रव्यको नमस्कार करना। नमनेका अर्थ है झुकना, भैया! आत्माकी ओर झुको। अपना जो स्वरूप है, उसपर दृष्टि जानेसे राग नहीं उठता, क्योंकि रागद्वेषरहित उसका स्वरूप ही है। आत्मामें स्वरूप की दृष्टिसे समता होती है। भगवानका आश्रय लेनेसे भी राग हो जाता है और अन्य पदार्थोंकी तो कथा छोड़ो। तो सबसे ऊंचा तत्त्व है आत्मा और वही आत्माका स्वरूप है। अपने आपमें ठहरनेका नाम स्वास्थ्य है। योगका अर्थ अपने आपमें जुड़ जाना, उपयोगका अपने आपमें लगा देना, चित्तका रुकना और समता एक ही बात है। शुद्धोपयोगका अर्थ राग द्वेषसे रहित स्थिति है। शुद्ध चैतन्य निगाहमें है तो वहाँ समता है। जहाँ राग द्वेष मोह न हो वहाँ धर्म है। परमात्मापर एक दृष्टि है तो वहाँ राग उठेगा। पूर्ण निर्विकल्प ज्ञान हो गया तो वहाँ आत्मसाक्षात्कार हो गया। कमाईमें कमी आवे तो आवे, पर समता न छोड़ो। समस्त शास्त्रोंका सार समता है। समतासे कर्म जल जाते हैं। साम्यं शरणं। क्रोधादिके विषम उपस्थित होनेपर समता धारण करना, कोई किसीका स्नेही नहीं है। अकेले ही सुख है, दुःख है। "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जन्मदेशार्थे, आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत् ॥ कुलकी रक्षाके लिए एकको छोड़नेकी जरूर तपड़े तो छोड़ देवे। यदि गाँवकी रक्षा

होती हो एक कुलके छोड़नेसे तो उसे छोड़ देवे। यदि एक गाँवके छोड़नेसे देशकी रक्षा होती हो तो उसे छोड़ देवे। और अपने आत्मरक्षा कल्याणके लिए पृथ्वीको भी छोड़ देना चाहिए। जिनको यह आत्मतत्त्व प्यारा है या ज्ञात रहता है उन्हें मृत्यु अमृतके समान रहती है। जिन्हें परपदार्थमें आत्मबुद्धि है उन्हें ही सन्ताप होगा। सारी महिमा जो है वह आत्मस्वभावकी है। आत्मा जिस ओर निगाह देती है उसी तरहकी सृष्टि बनेगी। निर्मलतापर ध्यान देता है तो शुद्ध स्वरूप बनेगा।

२००. सत्य ज्ञानकी महिमा—एक बुढ़िया थी। उसके दो लड़के थे। उन दोनोंमें एकको कम दीखता था तथा दूसरेको पीला पीला दीखता था। दोनोंको सफेद मोती भस्म गायके दूधमें चांदीके गिलासमें देना वैद्य जी ने बताया। जब यह दवा दी, तो कम दीखने वालेने तो पी ली, उसका रोग अच्छा हो गया। दूसरेको दी तो कहे यह गायका पीला मूत्र है, यह हड़ताल है। यह कहकर दवा नहीं पी, इससे उसका पीलापनका रोग नहीं गया। चाहे ज्ञाता हो, होना चाहिए यथार्थ। सत्यज्ञानकी बड़ी महिमा है। क्रोधादि अचेतन भाव हैं, उनमें आत्मबुद्धि क्या करना, ज्ञान और दर्शन चैतन्य गुण युक्त हैं-बाकी गुण तो चेतनका काम नहीं करते। अभेदकी दृष्टिसे आत्मा चैतन्य है। मेरे लिए दूसरेका ज्ञान दर्शन अचेतन हैं। चेतन अचेतनका ज्ञान होना विवेक है। मेरा चेतन तो चैतन्य है और चैतन्यकी दृष्टि जहां है वह ज्ञान भी निश्चयसे चेतन है।

२०१. समयसारसर्जनकी भांकी—इस ग्रन्थका नाम समयसार है। समय माने आत्मा उसका जो सार वह समयसार है। सारतत्त्व त्रिकालवर्ती चैतन्यस्वरूप है। कुछ काल रहे, कुछ काल न रहे उसे सार नहीं कहते। परिणाम अनादि अनन्त नहीं है, ये घटते बढ़ते हैं। चैतन्य स्वभाव न घटता है और न बढ़ता है। ऐसे शुद्धतत्त्वका वर्णन करनेवाले भगवान कुन्दकुन्दाचार्य है। ये दक्षिण देशके रहनेवाले थे। इनका बड़ा महात्म्य था। ये जब पालनेमें भूलते थे उस समय इनकी मां भुलाते समय गीत गाती थी। शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरज्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि। संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां श्री कुन्दकुन्दजननीदमूचे। श्री कुन्दकुन्दकी मां कहती है हे कुन्दकुन्द! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसारकी मायासे रहित है। संसारका स्वप्न व इस मोह नींदको छोड़। केवल शुद्ध चैतन्यतत्त्वकी दृष्टिमें कोई क्लेश नहीं, कोई विपत्ति नहीं। शुद्ध चैतन्य तो मात्र नित्य ज्योति है।

णेव य जीव ट्ठाणा ण गुण ट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण हुएवे सव्वे पुग्गलदवस्स परिणामा ॥५५॥

२०२. जीवस्थानोंसे जीवकी विविक्तता—यहाँ तो जीवके जीव स्थान भी नहीं है। जीवसमास १४ होते हैं—(१) एकइन्द्रिय सूक्ष्म जीव, (२) एकेन्द्रियवादर जीव, (३) दो इन्द्रिय

जीव, (४) तीन इन्द्रिय जीव, (५) चार इन्द्रिय जीव, (६) पांच इन्द्रिय सैनी, (७) पांच इन्द्रिय असैनी। बादर जीव वह कहलाते हैं जो शरीर अन्य पदार्थोंसे टकरा सके या रुक सके अथवा बादरके उदयसे जो हो वह बादर शरीर हैं। एवं सूक्ष्म जीव जो शरीर अन्यके द्वारा नहीं रुकते उसे सूक्ष्म कहते हैं। अथवा सूक्ष्म नामकर्मका उदयसे जो शरीर हो वह सूक्ष्म शरीर है। ये सातों जीव पर्याप्त और अपर्याप्तकके भेदसे दो तरहके होते हैं। इस तरह १४ जीवसमास होते हैं। जीव जब तक शरीर बनने के पूर्व तक रहता है तब तक अपर्याप्त कहलाता है तथा जब शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है तो पर्याप्त कहलाता है। मनुष्य गति जीवके नहीं है। जीवका स्वभाव अनादिसे अनन्त काल तक सदा रहने वाला है। आत्मामें श्रद्धा और चरित्र गुण होते हैं। उनके विकारकी हीनाधिकतामें नाना स्थान होते हैं। भरत चक्रवर्ती जब दिग्विजय करके वृषभाचल पर्वतपर गये तो वहाँ नाम खोदनेको थोड़ी भी जगह नहीं मिली। तब वे सोचते हैं, इतने चक्रवर्ती हो गये हैं मैं अकेला थोड़ा ही हुआ हूं। तब वहाँ मान शिथिल हो जाता है और वे अनुभव करते हैं—खुदका प्रभु खुद यह स्वयं आत्मा है। गुणस्थान भी जीवके नहीं है। किसीका एक बच्चा था, वह तास खेलकर आया। तब किसी व्यक्तिने बच्चेकी माँ से शिकायत की—तेरा बच्चा तास खेलने गया था। उस समय उसकी माँ उत्तर देती है-मेरा बच्चा तास खेलना नहीं जानता, दूसरे लड़के ने अपने साथमें खिलाया सो वह खेला। यहां भी माँ अपने बच्चे को शुद्ध ही देखना चाहती है। जीवमें अन्य पदार्थका सम्बन्ध नहीं है।

२०३. **गुणस्थानोंसे जीवकी विविक्तता**—जीवके गुणस्थान भी नहीं हैं। गुणोंके स्थान अपूर्ण दृष्टिमें बनते हैं। जीव निश्चयतः परिपूर्ण है। जब मोहनीय कर्मको विशिष्ट प्रकृतिके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी दृष्टि करके देखा जाता है तो आत्मामें इन गुणस्थानोंकी प्रतिष्ठा है। सो न तो उदयादि जीवके हैं और न गुणस्थान ही जीवके हैं। दर्शन मोहके मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। दर्शनमोहके उदय उपशम क्षय क्षयोपशमके बिना सासादन सम्यक्त्व नामक गुणस्थान होता है। दर्शन मोहकी सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें (जो कि क्षयोपशमवत् मन्दानुभागरूप है) सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। दर्शन मोह व अनन्तानुबन्धी ४ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमके होनेपर व साथ ही अप्रत्याख्यानावरणके उदय होनेपर अविरतसम्यक्त्व गुण स्थान होता है। यदि अप्रत्याख्यानावरणका अनुदय व प्रत्याख्यानावरणका उदय हो तो देशविरत गुणस्थान होता है। यदि प्रत्याख्यानावरणका अनुदय हो तो संज्वलनके उदयमें सकलव्रत होता है। देखिये ये सब स्थान औपाधिक हैं। सबसे कठिन अनंतानुबंधी कषाय है। उसके लक्षणका दिग्दर्शन कीजिये। देखो धर्मकार्य आ पड़े तो उसमें भी खर्च न किया

जावे उसे अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं। मैं महान धर्मात्मा हूँ, इस तरहका अहङ्कार आना अनन्तानुबन्धी मान है। धर्म कार्य करते हुए मायाचारी आना अनन्तानुबन्धी माया है। कोई धार्मिक कार्य किया और उसमें कहना यह सब आपकी बदौलत है, या यह कार्य आपके दासने किया है इसमें भी कषाय छुपा हुआ है।

२०४. परके भोगनेके भ्रमका क्लेश—एक माता पिताके चार लड़के थे, चारों जवान थे। उनके ऊपर गरीबी आ गई। गरीबी काटनेका उपाय सोचा, तो पास ही गाँवमें उनकी मौसी रहती थी। उसके यहाँ जानेका सबने निश्चय किया और चारों मौसीके यहाँ चल दिये। मौसीके यहाँ जाकर बोले—मौसी मौसी हम आ गये। मौसी बोली अच्छे आये। क्या खाओगे? जो बनाओगी मौसी जी सो खावेंगे। तब मौसी ने कहा, मन्दिर जाओ नहाओ आदि चारों लड़के कपड़े उतारकर मौसीके घर रख गये थे। मौसीने सोचा भोजन बनाने की सामग्री तो है नहीं। इसलिए उन भाइयोंके कपड़ा लेकर गहने रखे तब भोज्य सामग्री लाई और भोजनमें बढ़िया बढ़िया माल बनाया। चारों भाई आये, उन्हें भोजन करनेको बैठाया। चारों भाई सोचें अच्छा माल मिला खानेको। मोसी कहे, खाते जाओ बेटा तुम्हारा ही तो माल है। भोजन करनेके बाद उठे तो कपड़े नहीं हैं पहननेको। पूछा मौसी कपड़े कहाँ रखे हैं? उत्तर मिला तुम्हें भोजन ही तो रखकर कराया है। ५०) रु० कर्जमें लिये तब भोजन बनाया था। तो देखो वे लड़के खा तो रहे थे अपना ही माल, किन्तु भ्रम वह कर रहे थे कि हम मौसीका माल खा रहे हैं। इसी तरह हम ज्ञानानन्दरूपी माल स्वयंका भोग रहे हैं, किन्तु मानते हैं परसे ज्ञान, आनन्द आया, बस इस ही का तो दुःख है।

२०५. आत्महितका साधन बना लेनेमें विवेक—आत्मामें उठने वाली तरङ्गें पुद्गल की हैं। रस गन्धादि पुद्गलकी तरङ्ग हैं। शरीर यहीं पड़ा रहेगा, जीव चल देगा। एक देश में ऐसी प्रथा थी किसी व्यक्तिको राजा चुन दिया जाता और ६ महीने राज चलाना पड़ता था। बादको उसे जंगलमें छोड़ दिया जाता। एक बुद्धिमान राजा था, उसने सोचा ६ महीने बाद दुर्गति होगी अतएव दुर्गतिसे बचनेका प्रबन्ध पहले ही क्यों न कर लूं। तो उसने राजा होनेकी ताकतसे ६ महीनेके भीतर जंगलमें आलीशान मकान बनवा लिया, जंगलमें नौकर चाकर भेज दिये, खेतीकी योजना करा दी, भोजन सामग्री, सोना, चाँदी, कपड़े, धनादि इच्छित पदार्थ भेज दिये। अब बतावो इस राज्यके छोड़नेके बाद भी क्या दुःख रहेगा? मनुष्य गति इसी तरह मिली है तथा इसका यही हाल है। इसमें इतने समय तक हम जो करना चाहें सो कर सकते हैं। बादमें सब ठाठ यहीं पड़ा रह जायेगा। जिन जीवोंने पुद्गलसे भिन्न आत्माको पहचाना उन्होंने निज कार्य सिद्ध कर लिया, अपना स्थान उत्तम बना लिया। अन्यथा यह वैभव कब किसको नहीं मिला, पर सच्चा आत्मलाभ नहीं

मिला।

२०६. मोहीपर पौद्गलिक प्रभाव—एक राजा था। वह मुनिके पास गया और पूछने लगा "मैं मरकर अगले भवमें कौन होऊंगा ? मुनि महाराजने कहा—तुम मरकर अपने ही संडासमें कीड़े होगे। तब वह राजा अपने पुत्रोंसे कह गया जिस समय मैं मरूं तो संडासमें कीड़ा होऊंगा सो तुम अमुक समयपर कीड़ेको मार डालना। राजा मरकर संडासमें कीड़ा पैदा हो जाता है। तब पुत्र मारनेको गये। मारनेके अवसरपर कीड़ा शीघ्र टट्टीमें घुस जाता है प्राण बचानेके लिये। इस मोही जीवका यह हाल है। नरक गतिके जीव मरना चाहते हैं पर बीचमें मरते नहीं। मनुष्य आदि जीव मरना नहीं चाहते सो वे बीचमें भी मर जाते हैं। यह पुद्गलका ठाठ है। आत्मामें जो क्रोधादिक भाव पैदा होते हैं वे जीवके नहीं हैं। जीवका तो एक शुद्ध चेतनास्वरूप है। किसीने किसीसे पूछा—आपका बड़ा लड़का कौन है, मझला कौन है और छोटा लड़का कौन है ? वही एक है बड़ा, मझला और छोटा। अर्थात् चेतनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिसमें मिलना और गलना पाया जावे उसे पुद्गल कहते हैं। ऐसे पुद्गलसे अमूर्त आत्माका तादात्म्य कैसे हो सकता है ? पुद्गलमें जीव एकमएक नहीं होता। आत्माका शुद्ध तत्त्व चेतना है। मैं एक चेतना मात्र हूं, यह भान हो जावे तब शुद्धपर दृष्टि जायगी।

ववहारेण दु एथे जीवस्स हवंति वण्णमादीआ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

२०७. चित्स्वरूपातिरिक्त सकल भावोंकी पुद्गलपरिणामरूपता—अपने आपके आत्माका स्वरूप ऐसी दृष्टि रखकर विचारना चाहिये कि मैं स्वयं केवल अपने ही में अपने ही सत्त्वसे हूं, मुझमें अन्य बात क्या आ सकती है ? इस तरह विचार जो करता है उसे जीवका स्वरूप विदित होता है और जीवके परिणमनको ही ध्यानमें रखकर देखे तो ये सब इस समय जीवके रूप बन ही रहे हैं। रागी, द्वेषी मोही आदि अनेक रूपोंमें यह जीव बन रहा है, इनको निरखनेसे कोई सिद्धि नहीं है, संसार कटता नहीं है। हाँ ये भी ज्ञेय हैं, जान लिये जायेंगे। कैसे बना, क्यों बना, क्या निमित्त है, जान लिया, पर चित्तमें हम किसे बसाये रहें जिससे कि हमारा हित बने ? तो जहाँ चित्तमें बसाये रहनेका प्रश्न आता है वहाँ ऐसा ही शुद्ध जीवस्वरूप बसाये रहना योग्य है जो सहज है, मेरे सत्त्व मात्रसे है, वह स्वरूप। वह स्वरूप है चैतन्यमात्र। उस चैतन्यमात्र जीवमें ये रूप, रस, गंध आदिक कोई बखेड़ा नहीं है। ज्ञानियोंने जब अपने स्वरूपका अनुभव किया तो जाना कि यह जीवस्वरूप नहीं है, यह आत्माकी शुद्ध अनुभूतिसे भिन्न है। चाहे वर्ण आदिक भाव हों जो कि पुद्गलाश्रित हैं, जिनका कि पुद्गल उपादान है और चाहे रागादिक भाव हों जो कि नैमित्तिक हैं, उपादान

जीव है, पर हैं वैभाविक। वे सारेके सारे भाव इस आत्मासे भिन्न ही हैं, इस कारण अंत-रङ्गमें तत्त्वदृष्टिसे जब मैं देखता हूं तो ये भाव मेरे विदित नहीं होते। मेरेमें तो एक सहज चैतन्यस्वरूप ही है। प्रश्न होता है कि जब वर्णादिक भाव मेरे जीवके नहीं हैं तो अन्य ग्रन्थोंमें क्यों बताया है? उसका उत्तर देते हैं।

शास्त्रोंमें वर्णादिक जीवके बतानेका व्यवहारनयसे कथन—जितने भी ये वर्णादिक भाव गुणस्थान पर्यन्त ये सब भाव जो जीवके है ऐसा बताया गया है, वह सब व्यवहारनयसे कहा गया है। निश्चयनयके सिद्धान्तमें तो ये कोई भी भाव जीवके नहीं हैं। व्यवहारनय और निश्चयनयका रूप देखिये। व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है, पर्यायको निरखने वाला, पर्यायदृष्टिसे भेददृष्टिसे, पर सम्पर्कदृष्टिसे जो बात विदित हो वह तो व्यवहारनयका काम है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होता है केवल द्रव्यकी दृष्टिसे, प्रकरणमें केवल जीवके स्वाभाविक भावोंका आश्रय करके जो उत्पन्न होता है वह निश्चयनय है। तो चूंकि व्यव-हारनय पर्यायाश्रित है सो जीवके जो औपाधिक भाव उत्पन्न हो रहे हैं उनका आश्रय करके ये भाव उठ रहे हैं। व्यवहारनय—यह किसीके भाव किसीमें जोड़ता है। यह व्यवहारनय का काम है। यों यद्यपि अटपट नहीं जोड़ देता, किन्तु तथापि कोई सम्बंध है, निमित्तनैमि-त्तिक भाव है, इतने मात्र भावको लेकर यह परके भावोंसे जुड़ता है, परन्तु निश्चयनय एक द्रव्यके स्वभावका आश्रय करके उठा तो परके भाव इस जोड़में नहीं जुड़े। अजीव जीव नहीं। तो यह कारण है कि वर्णादिक भाव सब व्यवहारनयसे जीवके कहे हैं, पर वह व्यव-हार भी युक्त नहीं, निश्चयनयके अनुसार। वस्तुका यथार्थ स्वरूप निश्चयनयसे बताया है। जहां निश्चयका प्रकरण है वहां भगवंत द्वारा जीवका यह स्वरूप बताया है। जिसमें ये गुणस्थान आदिक भाव नहीं हैं। क्यों नहीं हैं ये जीवके भाव?

२०८. वर्णादिकोंकी निश्चयसे प्रतिषेध्यता—वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त उन सब भावोंको जीवके बताना व्यवहारनय है। निश्चयनयके आशयमें तो वे सब कोई भी जीवके नहीं है। निश्चयसे जीवका वह स्वरूप है जो सहज निरपेक्ष स्वतःसिद्ध हो और परिणमनकी अपेक्षा भी परमार्थतः वह परिणमन है जिसकी स्वभावसे एकता हो। स्वभाव से एकतावाला परिणमन वही हो सकता है जो उपाधि सम्बन्ध बिना मात्र स्वभावसे ही परिणमन हो। किन्तु अभी जिनका वर्णन किया गया है उनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं कि वे प्रकट परद्रव्य रूप हैं और कुछ ऐसे हैं जीवकी शक्तिके परिणमन तो हैं लेकिन हैं औपाधिक। इन सबको जीवके यों कहे गये हैं कहीं कहीं कि एक क्षेत्रावगाह अथवा निमित्तनैमित्तिक भाव आदि कोई सम्बन्ध देखा जाता है। ये सम्बन्ध किसीके स्वरूपमें तो है नहीं किन्तु द्रव्य द्रव्यों में ऐसा नैकट्य अथवा अन्वयव्यतिरेक देखा जाता है अतः व्यवहारसे उन्हें कहे गये हैं।

२०९. पुद्गलोपादान व पुद्गलनिमित्तक सर्वभावोंसे जीवकी विविक्तता—अब इन उक्त सबमें जो जीवसे भिन्न परद्रव्य रूप हैं वे ये हैं वर्ण, गन्ध, स्पर्श, रस, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक व स्थिति बन्ध स्थान। ये सब दो किस्म के हैं जिनमेंसे भाव रूप तो जीवके परिणमन रूप पड़ते हैं और द्रव्य रूप पुद्गलके परिणमन रूप पड़ते हैं। वे कुछ ये है–प्रत्यय, अनुभागस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान व जीवस्थान। विभाव उन्हें कहते हैं जो कि हैं तो जीवके परिणमन, परन्तु हैं औपाधिक। वे ये हैं राग, द्वेष, मोह, अध्यात्मस्थान, योगस्थान, संक्लेशस्थान, विशोधिस्थान, संयमलब्धिस्थान व गुणस्थान। ये सब व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं, निश्चयनयके आशयसे वर्णको आदि लेकर गुण स्थान पर्यन्त ये सभी भाव जीवके नहीं हैं अर्थात् इनमेंसे कोई भी भाव जीवका नहीं है।

अब श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं जीवका वर्णादिकके साथ सम्बन्ध परमार्थसे नहीं है, निश्चयसे वर्णादिक जीवके नहीं हैं।

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेयव्वो।
णय हुंति तस्सताणि हु उवओगगुणाधिमो जम्हा ॥५७॥

२१०. दृष्टान्तपूर्वक देह और आत्माकी भिन्नताका वर्णन—जैसे पानी और दूध ये मिलकर एक तो नहीं हो गये, केवल दोनों एक जगह हैं, पर एक नहीं हैं। इसी तरह आत्मा और शरीर दोनों एक जगह हैं पर दोनों एक नहीं हुए हैं। शरीर सबका आत्मासे भिन्न है। क्योंकि सबमें असाधारण गुण हुआ करते हैं। असाधारण गुण उसे कहते हैं जिससे मुख्य पदार्थ जुदा किया जावे। जितने द्रव्य होते हैं वे अपना असाधारण गुण जरूर रखते हैं। जैसे आत्मामें चैतन्य स्वभावका होना तथा पुद्गल पिण्डमें एक गुण ऐसा है जो पुद्गलको छोड़कर अन्यत्र पाया ही नहीं जाता; वह गुण स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप मूर्तपना है। धर्मद्रव्यमें असाधारण गुण जीव पुद्गलोंको चलनेमें सहायक होना। अधर्म द्रव्यमें असाधारण गुण जीव पुद्गलोंको ठहरानेमें मदद करना है। आकाशका असाधारण गुण है–द्रव्योंको अवकाश देना। कालद्रव्यका असाधारण गुण परिणमन करना है। जैसे समय बीतनेपर संसारीसे मुक्त हो जाना, मिथ्यात्वसे सम्यक्त्व हो जाना, काल व्यतीत हुए बिना तो कुछ नहीं। पूंजीपर ब्याज भी समय बीतनेपर मिलता है। यहाँ जीव और देह एकस्थानमें हैं। जीवका गुण चेतना है और देहका असाधारण गुण स्पर्श रूप रस गन्धका होना है। दूध और पानी इन दोनोंके जुदे-जुदे लक्षण हैं। दूधकी पूर्ति पानी नहीं कर सकता और पानीकी पूर्ति दूध नहीं कर सकता। दूध और पानीके गुण इकट्ठे हो जायेंगे, पर एक न होंगे। आत्मा और शरीरके गुण इकट्ठे हो जायेंगे पर एक न होंगे।

२११. निश्चयसे वर्णादिक जीवके न होनेका कारण—जैसे दूध मिला पानी, उसमें दूध और पानी परस्पर अवगाहरूपसे हैं। एक गिलासमें बराबर-बराबर दूध और पानी डाल दिया जाय तो वहाँ यह भेद तो नहीं पड़ पाता कि गिलासके इतने हिस्सेमें तो पानी है और इतने हिस्सेमें दूध है। मगर जो पारखी लोग हैं वे दूधके स्वरूपको जानते हैं तो पानीके स्वरूप रूपमें जो न हो उससे अधिक कोई लक्षण रखता है उसे दूध मानते हैं। तो वहाँ वह तादात्म्य नहीं निरखता। तादात्म्य सम्बन्ध तो अग्नि और उष्णता है। तो जैसे निश्चयसे पानीमें दूध नहीं, पानी दूधमें नहीं है इसी तरह देहमें आत्मामें या रागादिक भावोंमें परस्पर भेद जिन्होंने जाना वे जानते हैं कि जीवके रागादिक भाव नहीं हैं। भले ही उन रागादिक भावोंसे मिला हुआ आत्मा है। जैसे वर्तमानमें अपनेको ही देख लें, क्या यह जुदा जुदा रख सकते हैं कि यह ज्ञानभाव है, यह रागभाव है ? एक समयमें एक पर्याय चल रही है और वह मिश्रित है। लेकिन ज्ञानका जब हम उपयोग करते हैं, यथार्थ ज्ञान करते हैं तो वहाँ प्रतीत हो जाता कि जहाँ उपयोग गुण पाया जा रहा। जो एक चैतन्यसे सम्बन्ध रखता सो जीव है और रागादिक भावोंमें चेतना नहीं है सो वह अजीव है। धन घर वैभव इनसे उपयोग हटावो और अपने आत्मामें लगो—यह तो एक मोटा उपदेश है, ऐसा तो करना, किन्तु यह भी करना होगा कि जो औदयिकभाव रागद्वेषादिक परिणाम हैं उनसे निराला एक ज्ञानमात्र जीव है सो इससे हटकर एक जीव स्वभावके उपयोगमें लगना। जब इन विभावोंमें और आत्माके स्वभावमें समझ बनाते हैं तो यह समझ स्पष्ट होती है कि इनसे आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। ये निश्चयसे वर्णादिक पुद्गल द्रव्य हैं, वे जीवके हैं। कहते हैं कि ये दो बातें न्यारी-न्यारी हैं। कोई कहे कि ये रागादिक जीवके नहीं और कोई शास्त्र कहते कि ये रागादिक जीव हैं तो यह तो विरोध वाली बात हो गयी। उत्तरमें कहते कि विरोध वाली बात नहीं है।

२१२. स्वरूपतः एकका दूसरे रूप होनेकी गुञ्जायशका अभाव—सुखमें और दुःखमें मोहीजन समता खो देते हैं। बड़े धर्मात्मा बने सो सोचते हैं आत्मापर बड़ी विपत्ति है, कर्मोंसे बन्धा है, पर यह नहीं सोचते कि आत्मा आत्माकी जगह है और शरीर शरीरकी जगह है। आत्मा परपदार्थके बारेमें एक ख्याल बनाता है, उन्हें अपने आधीन बनाये रखने का ही विचार रूप प्रयत्न करता रहता है, इससे आकुलता है। यहाँ यह निर्णय कर लेना चाहिए कि परपदार्थ कब तक आत्माके साथ रहकर सच्चा हित करेगा ? परपदार्थ आत्मा का कुछ नहीं है। दोनोंकी सत्ता जुदी-जुदी है। ये अनेक विकल्प जो परके बारेमें हो रहे हैं वह आत्माके साथी कब तक हैं ? क्या वह सुख देंगे या निराकुलता पैदा करेंगे ? रागद्वेष क्या हैं ? आत्मापर आपत्ति आगई हैं जो अनादि कालसे चल रही हैं। ज्ञान तो

अपना स्वभाव है। रास्तेमें कोई चीज मिलती हैं तो उसके बारेमें जानकारी करते हैं, यह क्या वस्तु है किसकी है ? देखा जाय तो अपनेको उससे मतलब क्या, परन्तु नहीं, जानकारीकी उत्सुकता बनी रहती है। प्रत्येककी सत्ता भिन्न भिन्न है। कोई किसीका परिणमन कर देता है क्या ? यथार्थ ज्ञान करनेका फल यह अवश्य है कि अज्ञाननिवृत्तिके कारण उपेक्षा भाव जागृत हो जाता है जिससे शान्तिकी धारा वह निकलती है। द्रव्य क्या वस्तु है, उसको जाना जावे। आत्मा द्रव्य है, आत्मामें अनन्त गुण हैं। आत्मामें जाननेकी विशेषता है, वह ज्ञान गुण है, रमण करनेकी विशेषता है वह चारित्र गुण है। आत्मामें सब गुणोंको संभालने की विशेषता है तो वह वीर्य गुण हो गया। अस्तित्त्व गुण साधारण है। आत्मामें पुद्गलमें भी अस्तित्त्व गुण है। जो अन्यमें भी पाया जावे उसे साधारण गुण कहते हैं एवं जो अन्यमें न पाया जावे उसे असाधारण गुण कहते हैं। जैसे चेतना गुण जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। परिणमनशीलता आदि साधारण गुण हुए ये सब द्रव्योंमें मिलेंगे। आत्माकी चेतना कर्म आदिमें नहीं पहुंच जायेगी। ज्ञान दर्शन गुण दूसरेमें नहीं पहुंचते। आत्माका गुण किसी दूसरे द्रव्य रूप नहीं बन जायगा। पुद्गलका गुण अन्य रूप नहीं बन जायेगा। यह अगुरुलघुत्व है, यह भी साधारण गुण है। जितनी जगह शरीर है उतनी जगह आत्मा है। आत्माका प्रदेशत्त्व गुण साधारण है। आत्मा समझमें आ सकता है। इसका नाम प्रमेयत्व गुण है। कुछ गुण ऐसे हैं जो अन्य द्रव्यमें नहीं पाये जाते व कुछ ऐसे हैं जो अन्य द्रव्यमें मिल जाते हैं। आत्मा कभी अन्य वस्तु रूप नहीं बनता है।

२१३. मिथ्या बोधमें क्लेशकी हेतुता—आत्मामें जितना गुण जो व्यक्त दीखता है, वह पर्याय दीखता है अथवा वस्तुतः पर्याय रूपसे द्रव्य जाना जाता है। जिस पुद्गलकी पर्याय है क्या वह आँखोंसे दिख जायगी? पर्यायोंका झमेला है। क्षणिक चीजमें जीवकी रुचि जा रही है वह रुचि आत्माका अहित करने वाली है। यदि वह रुचि छूट जावे और आत्मा की रुचि बन जावे तो सम्यक्त्व हो जाय। परकी संयोगबुद्धि रखना इसे मिथ्यात्व कहते हैं। संयोगमें जो सुख माना है उसका बादमें कितना दुःख होता है ? संयोगमें हर्ष मानने वालोंका वियोगमें नियमसे दुःख होता है। यह क्षणिक मेल हो गया है पर नियमसे यह मेरे नहीं हैं। कोई लोग ऐसे होते हैं जो स्त्रीके गुजर जानेपर दुःख मानते हैं। इसका कारण संयोग था। जिससे दुःख हुआ उसीका संयोग मोही मनुष्य फिर सोचता है। अगर अवस्था अच्छी हुई तो दूसरा विवाह करने की सोचता है। लोग मिर्च खाते हैं और चरपरी लगनेसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं फिर भी वह उसे पुनः भक्षण करता है। अनादि कालके अज्ञानके संस्कार जो चले आ रहे हैं उन्हें वह त्यागने में कठिनाई महसूस करता है। यहाँ

दूध पानी की बात बतलाई है, पर उन दोनोंमें ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है जैसा अग्निका उष्णतामें है। आत्माका उपयोग गुण आत्मामें है ऐसा अधिक रूपसे मालूम पड़ता है जैसा अग्निमें उष्णता। शरीर भी यह अपना नहीं रहेगा सो प्रत्यक्ष देखेंगे यह तो ठीक किन्तु वर्तमानमें भी अपना नहीं है।

२१४. व्यवहारकी सीमामें उपयोगिता—अभेद आत्माको समझनेके लिये भेदरूपसे भी पहिले समझना आवश्यक है। जीवस्थान चर्चाको पढ़नेमें १५ दिन तो उसमें मन नहीं लगता। उसके बाद ज्ञानकी लगन लग जावे तो जब भी साधर्मी भाइयोंसे वे पढ़नेवाले मिलेंगे तो अन्य कथाओंको छोड़ इस जीव स्थानकी चर्चा करेंगे, उसमें ही रस लेंगे और अन्य पदार्थकी चर्चा नीरस मालूम पड़ने लगती है। भेदरूपसे समझकर फिर निरपेक्ष तत्त्व समझो। निश्चयसे वर्णादिक पुद्गलमें हैं। आत्मामें रूप रस गन्ध स्पर्श नहीं हैं। जड़ व चेतनमें प्रकट अन्तर है। भेद विज्ञानके बलसे आत्मस्वरूपकी दृष्टिको जिन्होंने कर लिया है उन्हें ही सच्चा आनन्द आता है। लगन जब लग जाती है तो आत्माकी अमित शक्तिको समझनेमें देर नहीं होती। इन सबको सुनकर शिष्य प्रश्न करने लगे कि यह कैसे कहते हो कि जीवमें वर्णादिक नहीं हैं, फिर अन्य ग्रन्थोंमें जीवके औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर क्यों बताये हैं तथा देव, नारकी, मनुष्य तिर्यंचके भी शरीर पाये जाते हैं? यह सब भी तो वर्णन जैन सिद्धान्तमें है, इसके उत्तरमें यही बतावेंगे कि यह सब व्यवहारसे जीवके कहे गये हैं।

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो णय पंथी मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥
गंध रसफासरूवा देहो संठाणमाइया जेय।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

२१५. दृष्टान्तपूर्वक व्यवहारोपदेशविधिका निर्देश—जैसे किसी रास्तेमें लुटते हुए रास्तागीरोंको देखकर व्यवहारी लोकजन ऐसा कहते हैं कि यह रास्ता लूटता है, किन्तु वास्तवमें देखो तो कोई रास्ता लूट ही नहीं सकता। इसी तरह जीवके निवास क्षेत्रमें एक क्षेत्रावगाह स्थित कर्म और नोकर्मोंके वर्णको देखकर व्यवहारसे यह वर्ण जीवका है, ऐसा जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया (प्रणीत हुआ है)। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदिक जितने भी भाव हैं वे सब व्यवहारनयके आशयमें जीवके हैं ऐसा निश्चयतत्त्वज्ञ पुरुष व्यपदेश करते हैं।

२१६. सद्बोधसे ही सत्य सन्तोषका लाभ—अपना ज्ञान निर्मल हुए विना आत्मा का भान नहीं हो सकता और जीव राग-द्वेष करता है, ऐसी मिथ्या कल्पना ही आत्मामें न आवे तो भलाई है। दुनिया कहती है, भगवान सबको देखता है। जब अपना ज्ञान निर्मल होवे तो भगवानके ज्ञानको समझा जाय। क्या भिखारी करोड़पतिकी संपत्तिको जान सकता है? मलिनज्ञानमें भगवानका स्वरूप नहीं जाना जा सकता। ज्ञान सर्वदा जान सकता है ऐसी प्रतीति होनेपर रत्नोंका ढेर हमारी आत्माकी कौनसी वृद्धि कर सकता है? रत्नोंका ढेर वहाँ कुछ भी नहीं कर सकता। उसके लिए एकान्तमे बैठकर सोचे—मैंने नरजन्म पाया है वह किस लिए पाया है? भैया! प्रायः अपनी उमर जितनी बीत गई क्या अब उतनी बाकी रही है, जो समय बीत चुका उसमें कुछ करा क्या? इतनी आपत्ति मिली, दुःख मिले, औरोंके ताने मिलें, घृणा मिली। इससे क्या लाभ हो रहा है, तथा क्या लाभ होनेकी उम्मीद है? अब तक मैंने जो किया है, उसमें परिवारसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, समाजसे, मित्रोंसे कुछ मिला है क्या? कुटुम्बमें अनेक झंझटें आईं, फिर भी हम भूल जाते हैं। ऐसा कोई नहीं होगा जिसे स्त्रीसे दुःख न मिला हो। बाह्य वस्तुओंसे मोह तब तक नहीं छूट सकता जब तक असली आत्मामें आनन्दका विश्वास नहीं करेगा। परपदार्थोंमें सुख नहीं है, यह विश्वास जब आत्मामें जम जाय तब कहीं उनसे निवृत होवे। अन्तरङ्गमें आनन्दका आना और स्वात्मानुभूतिका होना यह दोनों एक साथ होते हैं। जिस आनन्दके आनेपर तीन लोक की विभूति भी तुच्छ मालूम होती है। ज्ञान वस्तुस्वरूपका होना चाहिये। जैसे भौतिक पदार्थों के जाननेमें उपयोग लगाते हैं, उसी तरह वस्तुके यथार्थस्वरूपको जाननेका उपाय करे तो वस्तुस्वरूपका ज्ञान हो सकता है। वस्तुस्वरूपका ज्ञान समझना कठिन नहीं। पहले यह जानना वस्तु कितनी होती है? जितना एक खंड है उतनी एक वस्तु है। आपका और हमारा जीव भिन्न-भिन्न है वह मिलकर एक नहीं हो सकता। वह अनादिसे भिन्न-भिन्न है। उसी तरह दो परमाणु मिलकर भी एकमेक नहीं हो सकते। पिण्ड रूप होनेपर जुदा जुदा है व प्रकट जुदा हो जावेगा। सत्ता न्यारी न्यारी है।

२१७. स्वयंका स्वयंमें करतब करनेका सामर्थ्य—देखिये पिता अपना परिणमन करता है, पुत्र अपना परिणमन करता है। झोंपड़ीमें जो आ गया उसे अपना मानने लगा। पाप एक व्यक्ति करता है उसका बाँटने वाला अन्य नहीं होता। अन्याय किया, उसका समर्थन किया, इससे उसने नया पाप और किया। प्रत्येक जीव पाप पुण्यादि स्वयं भोगते हैं। अन्यको सहारा बनाकर सुखी व्यर्थ मानते हैं। लौकिक सुख भी स्वयंसे होता है, पर सोचें तो वह सुख सदैव अपने अनुकूल भी रहता है या नहीं। स्त्री प्रेम, पुत्र प्रेम, धनसे प्रेम, मकानसे प्रेम इत्यादि पदार्थोंसे प्रेम करना ही कर्तव्य मान रखा है। पर यदि इनका आनन्द

नहीं मानते, इनमें ही नहीं पगे रहते तो हम करोड़गुना आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। जो इतने ज्ञानकी श्रेणी तक पहुंचे हुए हैं उनके अलौकिक सुखकी झलक मोहके नाशसे होती है। स्वतन्त्रसत्ता वाले तो है ही, अब भिन्न भिन्न पदार्थको समझ जावें कि चैतन्यमात्रको छोड़कर और सब जड़ पदार्थ है। जब ये भिन्न हैं तो मेरा क्या है इनमें ? भिन्न-भिन्न जान जानेपर मोह छूटेगा ही। कोई व्यक्ति कहे त्यागीसे, हमारे इस बच्चेको क्रोध छुड़ानेका नियम दिला दो, तो वह नहीं छोड़ सकता। क्रोध आनेपर मन्त्र पढ़ना, क्रोधके स्थानसे दूर बैठ जाना, किताब पढ़ने लगना, शीतल जल पी लेना, मिष्ट पदार्थको मुंहमें डाल लेना, गिनती गिनने लगना इत्यादि तो जबर्दस्ती भी किया जा सकता है। क्रोधका त्याग कैसे दिलाया जावे ? क्रोधसे मेरा ही नुकसान होता है, इसे मैं अपने पास क्यों आने दूं, क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है इत्यादि विचारों एवं आत्मा कार्योंके द्वारा उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

२१८. ज्ञानसे मोहक्लेशका अभाव—मोह छूटे तो ज्ञान करें यह कहकर ज्ञानमें लग जावे तब मोह छूटेगा ही। ज्ञानका आवरण हट जाय ज्ञान विशुद्ध हो गया तभी वह अनुभव करेगा। भगवानका गुणगान करनेसे पहले छोटे भगवान बने। निर्मल ज्ञान हो सो वह भगवान है। लौकिक आनन्दके लिए जो कुछ मिला है उसे तो छोड़े तथा सच्चे आनन्दके लिए प्रयत्न किया जाय। लाखों रुपया लगाकर कम्पनी खोली, पूर्वमें उनका नुकसान किया। आगे जाकर उनका लाभ मिलेगा ऐसी हिम्मत रखते हो या नहीं। असली जो हमारा स्वरूप है उसके अनुभव होनेपर बाह्य पदार्थका ममत्व होगा क्या ? जैसा विषयसुख मिला, इसी तरह निर्बाध यह सुख मिल सकता होता तो चलो वही धर्म था। स्त्री वृद्ध नहीं होवे, वह पहले जैसा ही भाव रखे रहे, बच्चा खिलाने योग्य ही बना रहे, जो इष्ट था वही बना रहे सो होता नहीं, इसी कारण ये आकुलताके कारण हैं, सदा स्वाधीन आनन्दमय स्थिति है वह निजकी है। वर्तमान स्थिति जो कुछ भी हो उसीमें हितका विचार करे, उसके इस विवेकके अनुसार कार्य बन भी सकता है अन्यथा नहीं। २००) माहकी आमदनी और बढ़ जावे, आगे और भाव बनेगा, बढ़िया साज समाज जुटानेकी इच्छा होगी। या जो दो वर्ष पश्चात् आत्मकल्याणके पथपर चलनेकी इच्छा थी, कदाचित् उतने समयमें मृत्यु हो गई या स्थिति गिर गई तब कौन सहायक होगा ? अपने-अपने पुण्यके अनुसार कार्य होगा। अपने कर्तव्यको निभाकर स्वतन्त्र तो बना जावे। आपकी जो आज स्थिति है उसीमें विभाग करके पुरुषार्थ करके परिणति संभाली जावे तो सुखी न हो, यह हो नहीं सकता। जीवनमें अन्य कार्य तो सदैव किये और अन्तिम कार्य यह करके देखें। इतना सब करके ज्ञानके लिये फकीर बन जावे, छात्र बन जावे, मुझे तो पढ़ना है। जो कर लेवे सो वीर है। चक्रवर्तियों

को वैभव छोड़ना पड़ा तब अपनी तो बात क्या ?

२१९. शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें विकल्पोंका अभाव— शुद्ध तत्त्वोंकी दृष्टि बहुविकल्पोंको उत्पन्न नहीं करती, इसलिए शुद्धतत्त्व पर दृष्टि जमाना चाहिए। वैदान्तिक लोग ब्रह्म व मायाको मानते हैं। बौद्ध लोग आत्माको क्षणिक मानते हैं या क्षणिक चित्तको मानते हैं। जबकि जैन सिद्धान्तने यह माना "व्यक्तिगत सत्तामें रहनेवाला जो सामान्य स्वरूप है वह शुद्ध तत्त्व है"। जैसे आत्मामें शुद्ध तत्त्वमें रहनेवाला ज्ञायक स्वरूप चेतनामात्र है, परमाणुओंमें रहनेवाला शुद्ध पुद्गल तत्त्व है। ऐसे शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें अन्य विकल्प नहीं होते। उस जीवके स्वरूपमें न क्षायिक भाव है न केवल ज्ञान है। जीवके किन्हीं पर्यायोंका कहना सामान्य दृष्टिमें नहीं आता, द्रव्य दृष्टिमें नहीं आता। अध्यात्म शास्त्रोंमें इसका जितना महत्त्व है वह सर्व वर्णनमें नहीं आता यदि नय दृष्टि, द्रष्टाकी शुद्धदृष्टि, सामान्य दृष्टि न लगाई जाय। किन्तु पर्यायोंपर दृष्टि न देना। मैं जो हूं वह है भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान। द्रव्यका द्रव्यत्व उतरता नहीं। पर्याय क्षणिक है वह ऊपरी अन्तर है। वे विराग यहाँ राग वितान। वे अत्यन्त विराग हैं, यहाँ रागका फैलाव चल रहा है। जीवमें न संयम है, न तप है, न व्रत है। संयम, तप, व्रतोंको अपना मान बैठे तो वह अपने कुछ नहीं। ज्ञानी जीवके चैतन्यस्वरूप अपने आपको अविशेषरूपसे अनुभव करनेमें विकल्प नहीं होते हैं। प्रमाणसे अपनेको सर्व प्रकार समझ जावे। समझनेके लिये एक वैज्ञानिक पद्धति व एक आध्यात्मिक पद्धति होती है। वैज्ञानिक पद्धतिमें तो हेय उपादेयकी चर्चा नहीं होती, केवल वस्तुका हर तरहसे ज्ञान करना मात्र लक्ष्य रहता है। आध्यात्मिक पद्धति वह है जिसमें परसे हटे निजात्मपर लग जावे। इसमें हेयोपादेयपर दृष्टि रहती है।

२२०. देहादिसे आत्माकी विविक्तता—जैसे पानी दूध मिले हुए हैं। एक गिलास में पानी और दूधका अवगाह हो गया, इतना हो जाने पर भी पानीका स्वरूप पानीमें है, दूधका स्वरूप दूधमें है। पानी और दूध मिल जाय तो किसीका यथार्थ स्वाद नहीं, फिर भी वह एकमें एक नहीं हुए हैं, दोनोंकी भिन्न-भिन्न दशा है, स्वरूप एक नहीं हुआ। क्षीर में क्षीरत्व है वह क्षीरमें व्याप्त है। सलिलका गुण सलिलत्वमें है। पानी और दूधका तादात्म्य नहीं हो सकता। अग्नि और उष्णतामें जैसे तादात्म्य है तैसे इसमें नहीं है। अग्निसे गर्मी कब हटेगी जब अग्नित्व हटेगा। एक क्षेत्रावगाही शरीरसे आत्मतत्व मिल रहा है। शरीरपर गुजरती है उस निमित्तक होनेवाली वेदनाका अनुभव आत्माको भी करना पड़ता है। आत्मा सब द्रव्योंसे जुदा नजर आता है। अग्नि उष्णताके समान शरीर और आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। जब कोई मर गया तब हम जानते हैं, इस शरीरमें आत्मा नहीं रहा, जीव नहीं रहा, चैतन्य नहीं रहा। जब शरीर जीवका नहीं तो शरीरके वर्णादिक जीवके

वैसे हो जावेंगे, यह नहीं कहते कि आत्मा ही शरीरमय था। यह तो हुआ जिनका शरीर उपादान नहीं है उनका कथन, किन्तु जो सुख दुःख आदि आत्मामें होते वह भी जीवके नहीं हैं। पुद्गलको निमित्त पाकर जीव सुख दुःख भोगता है निश्चयसे तो तरंग ही जीवके नहीं है शुद्धदृष्टि जीवको देखता है केवल रागादिक किसके हैं? जब एकदेश शुद्धदृष्टि है तब कहेंगे पुद्गलके हैं। शुद्धतत्त्वकी दृष्टि तब जानी जावे जब सोचे मैं शुद्ध तत्त्व हूँ।

२२१. परिणतिजातिका आधार अनुभूति—मैं पुरुष नहीं, मैं स्त्री नहीं, मैं धनी नहीं, मैं गरीब नहीं, मैं तो चेतना मात्र वस्तु हूं। इस प्रतीतिसे पुण्य भी बढ़ेगा, निर्जरा होगी, पापका क्षय होगा। यह प्रतीति छूट गई होवे तब समझो मैंने १२ वर्ष पूजन करके, स्वाध्याय करके भी कुछ नहीं पाया। मैं उपयोग गुण करके चेतना मात्र हूं। जो मेरे नहीं हैं उनमें मैं क्या रति करूं? जिसके ज्ञानमें ममता भरी है सो बुद्धू है। इस चेतना दृष्टिमें न भाव कर्मका सम्बन्ध देखा, न कर्म भावका सम्बन्ध देखा गया तब अपना मर्म पहिचाननेमें आया। अगर पर्यायरूप ही अनुभव किया कि अन्य भी ऐसा करते हैं तथा दादे परदादे करते आये हैं मैं भी ऐसा ही करूं तो अनादिकालसे जो पर्याय मिलती आ रही है उन्हें कौन आगे टाल देगा? यह है नवीन क्रान्ति एवं धर्मका पालन। किसीका नाम लेकर बुलाया तो जल्दी ख्याल उठता है, क्या है। क्योंकि वह अपने नामसे सजग रहता है, वह सदैव उस रूप नाम वाला मानता है। इसी तरह चेतना मात्रकी प्रतीति समायी रहे तो स्वात्मानुभव नजरमें आवे कि मैं तो चेतना मात्र आत्मतत्व हूं, ज्ञायकरूप हूं। यह धर्म है। तो ऐसे धर्मकी दृष्टि रखकर फिर देखो जगतमें कोई ऐसी जगह बता सकते हो जहां चेतना न हो। चेतनाके विचारनेमें सीमा नहीं आई, चेतनासे खाली कोई जगह नहीं, इसी बातको देखकर वेदान्तमें एक ब्रह्म उल्लिखित हुआ। चेतना मात्र ही प्रतीति हो तो वह है असली कमाई, ऐसा ज्ञानमात्र आत्माका अनुभव करना सो धर्म है। ज्ञान जिनका बढ़नेको होता है वह बारबार खाने पीनेमें समय व्यतीत नहीं करते। ज्ञानमात्र कार्यक्रम बन गया वही हुआ व्रत, तप संयम। फिर भी उन क्रियाओंमें अपनकी दृष्टि गई तो वह शुद्ध दृष्टि नहीं रही। यही शुद्ध दृष्टि सब सुखोंका बीज है। जिसे शुद्ध दृष्टि हुई तो वह गहने भी इतने अधिक नहीं पहनेगा, दूसरोंकी सेवा करनेमें अपने भले बुरेकी भावना लायगा।

२२२. व्यवहारकी अविरोधकताका उदाहरण—जैसे रास्तेमें कोई जा रहा, जिस रास्तेमें प्रायः चोर लूटते रहते हैं तो लोग कहते हैं कि सेठ जी कहां जा रहे हो? पता भी है कुछ, यह रास्ता लुट जाया करता है। तो भाई रास्ता कितनेका नाम हैं? एक नियत आकाशमें जो प्रदेशपंक्ति है उसका नाम रास्ता है। इस रास्तेको कोई लूटकर ले जा सकता है क्या घरपर? फिर क्यों कहते ऐसा कि यह रास्ता लूटता है? कुछ सम्बंध है, रास्तेमें

चलते हुए लोगोंको लुटा हुआ देखा, उनकी गठरी धन पैसा छुड़ाते देखा तो चूंकि उस रास्ते में वे जा रहे थे और लुटे तो उनके वहां निवास रहने मात्रसे उपचार करके कहा जाता है कि यह रास्ता लुट जाया करता है। तो यह व्यवहार कथन हुआ कि निश्चय कथन ? क्या वास्तवमें उस विशिष्ट आकाशसे प्रदेशरूप कोई रास्ता लुटा ?...नहीं। इसी तरह अनुभव में जब हम बंध पर्यायको निरखते हैं तो वहां कर्म है, नोकर्म है, उनमें रह रहा जीव और उनमें रहता हुआ, उनमें उपयोग देता हुआ जीव लुट रहा, बरवाद हो रहा। जब उन देहोंका विभावोंका आश्रय करके वर्ण आदिक देखे गए तो उपचारसे वे वर्णादिक जीवके ही कह दिये जाते है, पर निश्चयसे जीव तो अमूर्तस्वभावी है, उसमें उपयोग गुण विशेष है। सो उस जीवके कोई भी वर्ण नहीं है। वर्ण नहीं है इसके मायने और रूप भी नहीं है, रस भी नहीं, गंध भी नहीं; स्पर्शादिक भी नहीं। जितने भी ज्ञानके उपयोगी होनेसे जो जो भी वर्णन किये जाते हैं वे सब जीवके नहीं हैं, क्योंकि उनके साथ जीवका तादात्म्य रूप सम्बंध है। तो जीव वस्तुतः कैसा हुआ ? एक शुद्ध ज्ञानमात्र, सहज ज्ञानस्वरूप। इस विकासरूप भी नहीं। जो जान रहे इन परिणमनोंरूप भी नहीं, किन्तु इनका आधारभूत जो शक्तिमय चित्स्वरूप है तद्रूप जीव है।

२२३. जीवके कैवल्य स्वरूपके दर्शनका प्रभाव—जीवके कैवल्यस्वरूपको जब देखते हैं तो विदित होता है कि इससे बाहर तत्त्व कुछ नहीं है, वह तो चैतन्यस्वरूप है। ऐसे उस जीवके दर्शन करनेका नाम है सम्यग्दर्शन। जैसा स्वयं सहज स्वरूप है उसका अनुभव कर लेना और अनुभवके प्रसादसे फिर जो बात समा जाती है उसके समानेका नाम है सम्यग्दर्शन। जीवके धर्मपालनमें इस सम्यक्त्वने सब कुछ सहयोग किया, इसीने सबका सम्यक् रूप बना दिया है, इस कारण हर सम्भव प्रयत्नसे जीवके स्वरूपको जानें, इससे ही हम आप सबकी भलाईका रास्ता मिल सकेगा। इस प्रकरणमें जीवका ऐसा विशुद्ध स्वरूप बताया जा रहा है कि जिस स्वरूपपर दृष्टि होनेसे जिसको 'यह मैं हूं' ऐसा श्रद्धानपूर्वक जान लेनेसे संसारकी सर्व बाधायें दूर हो सकती हैं। जीवको दुःखका कारण तो केवल भ्रम है। अपने स्वरूपसे अतिरिक्त अन्य जो जो कुछ भी भाव हैं उनको सार मानकर उनमें जो लगाव लग रहा है उतना ही मात्र दुःखका कारण है। यदि बाह्य भावोंमें उपयोग न लगे और आत्माका जो सहज स्वरूप है उसकी ओर दृष्टि रहे तो ये सारी बाधायें दूर हो सकती हैं, वह स्वरूप क्या है ? तो पहिले बता दिया गया है कि जीवका स्वरूप केवल चैतन्यमात्र है। न तो ये रागद्वेषादिक स्वरूप हैं जीवके और न जो छुटपुट विकास चलते हैं वे विकास जीवके स्वरूप हैं, किन्तु जिसका सर्वस्वसार एक चैतन्यशक्तिमें व्याप्त हो गया है जीव तो उतना ही है। इसके वर्णादिक कुछ नहीं हैं। रूप, रस, गंध आदिक ये जीवके नहीं हैं, इस

प्रसंगमें शंकाकार कह रहा है कि—

२२४. जीवके सहजस्वरूपकी परिणमनोंसे विविक्तता—कर्मके उदयमें होने वाले संक्लेश परिणाम औदायिक होते हैं और कर्मके क्षयोपशमसे होने वाले क्षायोपशमिक परिणाम होते हैं। ये दोनों भी जीवके नहीं हैं। संयम जो होता है वह भी कषायके अभावसे होता है। किसी कषायके अभावमें जो चीज हुई है उसे कहनेमें दोष तो पहले ही बता दिया है कि यह कषायवान था। निर्मलताके तारम्यतासे संयमके स्थान वनते हैं। संयमके स्थान भी जीवके नहीं, गुण स्थानोंमें जीवका होना स्वभावसा है। किन्तु वह भी व्यवहारसे है, निश्चय से गुण स्थान भी जीवके नहीं है क्योंकि गुणस्थान भी कोई कर्मके उदयसे, कोई क्षयोपशम से, कोई क्षयसे होता है। १४ जीवसमास भी जीवके नहीं हैं। निश्चयसे जीव तो अमूर्तिक है। उपयोग गुण करके जीव अधिक है। उसमें संयम तक तो ऐसा नहीं है जो अनादि और अनंत तक होवे। करणानुयोगमें भी कहा गया है कि सिद्ध भगवान संयम असंयम संयम संयम तीनोंसे रहित हैं। अनुभागस्थान भी जीवके नहीं है। इनमें जीवका कोई तादात्म्य नहीं है। इससे जीवके नहीं है। केवल ज्ञान केवल दर्शन भी जीवके स्वभाव नहीं। सामायिकादि संयमके संकल्प जीवमें आते हैं वह जीवके नहीं क्योंकि वह पैदा होकर नष्ट हो जाते हैं। जो स्वभाव होता है वह जीवका है, अन्य दशायें कोई जीवकी नहीं। किसीने प्रश्न किया जीव का वर्णादिके साथ तादात्म्यपना क्यों नहीं ? उत्तर देते हैं।

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

२२५. जीवके वर्णादिमत्त्वके सम्बन्धमें शंका व समाधान—शंकाकार कहता है कि जब तक भव लगा है जीवके, संसारमें शरीर धारण कर रहा है तब तक तो संसार अवस्था में भी जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य मान लेना चाहिये। हाँ जब संसारसे छूट जायगा यह जीव, शरीररहित हो जायगा तब ये वर्णादिक कोई न रहेंगे, किन्तु जब तक संसार अवस्था है तब तक तो जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य सम्बंध मान लेना चाहिये। शंका तो उसकी है। पर शंका निर्मूल है। तादात्म्य सम्बंध वहाँ हुआ करता है जहाँ जिसकी सारी अवस्थाओंमें जो जिस रूपसे रह सकता है। और जिस किसी अवस्थामें जिस रूपसे नहीं रह सकते उसका तो तादात्म्य सम्बंध नहीं माना जाता है। यदि पुद्गलकी भाँति जैसे कि पुद्गलमें वर्णका तादात्म्य सम्बंध सदा है, चाहे इसकी कुछ भी पर्याय हो, स्कंधको छोड़-कर परमाणु भी बन जाय तो परमाणु अवस्थामें भी वर्णादिकका सम्बंध है, तो कहा जा जा सकता है कि पुद्गलके साथ वर्ण आदिकका तादात्म्य है, लेकिन यहाँ जीवमें तो संसार अवस्थामें जब तक कि शरीरके साथ सम्बंध है, किसी दृष्टिसे वर्णादिकसे साथ तादात्म्य

हो रहा है लेकिन मोक्ष अवस्थामें तो वर्णादिकके साथ किसी भी प्रकार सम्बंध नहीं है तो जीवका वर्णके साथ तादात्म्य नहीं माना जा सकता। संसार अवस्थामें भी रहकर यह जीव इतना फंसा हुआ, बंधा हुआ रहकर भी जीव कर्मके उदयमें नाना रागादिक विकार करता हुआ भी यह जीव जीवके स्वरूपपर जब दृष्टि देता है तो वर्णादिकरूप नहीं है, रागादिक रूप नहीं है। जैसे खूब खौलते हुए पानीमें भी जब पानीके स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो पानी गर्म नहीं है उसका ठंडा स्वभाव है। गर्म पानीमें भी जब स्वरूप अथवा स्वभाव पूछा जायगा तो हर एक कोई ठंडा ही कहेगा। तो संसार अवस्थामें यद्यपि जीवके साथ पुद्गल उपाधिका सम्बन्ध निरन्तर लग रहा है तो भी उसके साथ तादात्म्य नहीं है। यदि ऐसा ही दुराग्रह करोगे कि हम तो संसार अवस्थामें जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य ही मानेंगे तो फिर जीव अजीवमें भेद क्या रहा ?

२२६. अन्य भावसे जीवके तादात्म्यका अभाव—भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महाराज बतला रहे है कि यदि जीवके साथ वर्णादिकका तादात्म्य मान लोगे तो यह दोष होगा कि जीवके वर्णादिक होते तो संसारसे मुक्त होनेपर वर्णादिक रहना चाहिए, सो बात है नहीं। तब फिर लड़के बच्चे कैसे जीवके हो जायेंगे ? परिवारके लोग कुछ भी नहीं कह रहे कि तुम हमारे पीछे मूढ़ बन जाओ। जो सब अवस्थाओंमें जिस रूपसे व्यापक हो और जिस रूपका कभी भी त्रिकालमें सम्बन्ध न छूटे वह जीवका है। ऐसे सम्बन्धको तादात्म्य कहते हैं। संसार अवस्थामें तो वर्णादिक देखे जाते हैं, वास्तवमें तो सांसारिक अवस्थामें भी वर्णादिक जीवके नहीं है। व्यवहारतः भी वर्णाद्यात्मकता हर समय रहती हो सो बात नहीं है। जीवके साथ कर्मके संयोग नहीं हैं ऐसा कह सकते हो नहीं। यहाँ किसी भी समय देखलो कर्म नोकर्मका संयोग लगा है, सो संयोगसे भी जीवमें वर्णादिक नहीं हैं। वस्तुका स्वरूप जब समझा जाय, तब ज्ञात होगा कि प्रत्येक वस्तु एक अपने असाधारण गुणको लिए हुए है, असाधारण गुण अनादिसे अनन्त तक रहता है। यह जीव अपने लिए शरीरसे भिन्न सुखसे भी नहीं कहता। अग्निके साथ शरीर भस्म हो जायगा। अगर उसमें सारभूत बात होवे तो प्रेम करो। घृणा पैदा करने वाला मल मूत्र कफ नाकका लुआब, आँखोंका कीचड़ एवं कर्णका मैल निष्कासित होता रहता है। फिर ऐसे अपवित्र शरीरमें ममता क्यों ? नाक, कान, आँख चेहरेको देखकर अनुभव कर रहे—यही मैं हूं। शरीरसे भिन्न मैं आत्मा चेतना मात्र हूं ऐसा सोचें तो फिर ममता कैसे रहे ? जगमें बड़प्पन यही है कि स्वात्मानुभवकी प्रतीति हो जाय।

२२७. परिग्रहव्यामोहमें शान्तिकी असंभवता—जगतमें इस क्षणभंगुर शरीरकी झूठी इज्जत बढ़ा ली, ४ आदमियोंसे वाह २ करा लिया तो क्या वह स्थायी रहेगा ? योगी

शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं, आत्मज्योति बढ़ी तब बढ़े कहलाये। तीर्थंकरका पुण्य है कि देवियां गर्भमें आनेके ६ माह पूर्वसे माताकी सेवा करती हैं। जन्म समय देव भगवानका अभिषेक करते हैं। गृहस्थावस्थामें उतना बड़प्पन था। परिग्रहमें रह रहकर किसने सुगति पाई ? अपने अपने घरका खाकर किसने मुक्ति पाई ? अन्यका कष्ट न सहना पड़ा और मुक्त हो गये ऐसे उदाहरण विरले हैं। भरत चक्रवर्ती, बाहुबलि बिना अन्यका आहार लिये मुक्त हुए। "फांस तनकसी तनमें साले, चाहे लंगोटीकी दुख भाले॥" पैसेकी थोड़ी भी चाह दुःख देने वाली है। जैनधर्म तो यही कहता है जहां पूर्ण निष्कलंक परिणाम हो वहाँ आपा परका भास होता है, अन्य उपाय नहीं है। दुर्लभतासे मनुष्यजन्म पाया, तह धर्म साधनके लिए है उसमें राग द्वेष एवं प्रीतिकी बात क्या ? ये सब आत्मामें निज शुद्धस्वभावका घात कर रहे हैं। ये भाव सुहावने लगते हैं, पर उनका परिणामकटुक होता है। जरासा विकल्प भी धर्मसाधन नहीं होने देता। विकल्पसे न धर्म, न अर्थ और न ही पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, न पालन पोषण है, व्यर्थमें अपना घात करता है। बाहुबलिके मनमें यह बात बैठी थी, मैंने बड़े भाईका अपमान किया, लगता है बाहुबलि जी बहुत अच्छा सोच रहे थे। पर देखो, शुभ विकल्प हो चाहे अशुभ, वह मोक्षको रोकता है। धर्म कमानेका उद्देश्य तत्सम्बन्धी उपदेश है। धर्मकी चर्चा बड़े पुरुषसे करो यह भी तो विकल्प है। आत्मापर करुणा करो। जिस विकल्पमें पड़े उस घेरेसे मुक्त होनेकी कोशिश करो। ज्ञानी मोहको देखकर पश्चाताप करता है तो कुछ ठीक ही है, किन्तु मोही अन्यको देखकर कहे यह मोहमें कैसे दुखी हो रहे सो जंगलमें तो आग लगी और स्वयं डालपर बैठकर कहे वह जल गया, अरे वह जल गया, पर अपनी नहीं सोचता कि मैं भी जलूंगा—इसपर बुद्धि नहीं दौड़ती। दूसरेके दुःखको तो कहता है किन्तु अपनी मानो पूर्ण सुध ही भूल चुका। कैसा प्रताप है अज्ञानका, जो मुझमें बुद्धि है वह श्रेष्ठ बुद्धि है इससे अधिक नहीं सोचता। डेढ़ आँखका किस्सा हो रहा है। एक आँख अपनी देखकर दुनियाकी आधी आँख ही मानता है। अपनी वेदना मेटना चाहिए तब दूसरोंकी पीड़ा अनुभव किया जाय। ज्ञानी वह है जो अपने समान सबको समझे। सब प्राणियोंको चैतन्यमात्र देखे। चेतनामें द्रव्यदृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। व्यर्थ ही बाहर क्यों दौड़ा ? बाहर मैं क्या करूंगा, मैं अपनी क्रिया अन्तरङ्गमें ही तो करूंगा। जो मेरी सामर्थ्य में नहीं है ऐसा कार्य क्यों करूं ? जो कि भाव मनमें बन जाय उसका खेद करना चाहिए।

२२८. अहङ्कारकी दुःखमूलता—अभिमान दुःखका मूल है। जो मैंने किया वह ठीक किया, यह व्यर्थका व्यामोह है। जो कर्तव्यका अभिमान है वही दुःखकी निशानी है। शरीरको वृद्ध मत होने दो, शरीरको आत्मासे अलग मत होने दो, यह क्या अपनी शक्तिसे कर सकता है ? कुछ कर पाता नहीं केवल विकल्पका कर्ता हो रहा है। मनुष्य तीतर को लड़ा-

कर खुश होता है, कुत्ते, मनुष्योंको, पशुओंको लड़ाकर प्रसन्नताका अनुभव करता है। इसमें विकल्प करके पापके कर्ता हुए और कुछ कर सके नहीं। मेरा बाकी इसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। यह चैतन्य पिण्ड महामोह राजाके आधीन होकर दुःख उठा रहा है। मैं शुद्ध चेतना मात्र हूं, जानन मात्र हूं, ज्ञानमात्र हूं, प्रतिभास मात्र हूं। जितना जाननपन है वह तो मैं हूं इसके अतिरिक्त जो भी विकल्प है वह मैं नहीं हूं। यद्यपि विकल्प भी उपाधिवश आत्मामें हो रहे हैं तथापि मेरे स्वभावका विस्तार न होनेसे वे सब तरङ्गें मैं नहीं हूं। परिजानन मात्र ही वृत्ति रखी जावे तो निर्विकल्प आत्माका अनुभव हो लेवे। देहका मान भी न रहे, ऐसी भावनामें आत्माको शान्ति मिलेगी। परपदार्थोंको अपना माननेमें कर्म ही बधेंगे। अब आगे श्रीमत्कुंदकुंददेव यह कहते हैं—कि यदि कोई ऐसी ही हठ करे कि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य है ही तो इस दुरभिनिवेश होनेपर क्या अनिष्टापत्ति आती है—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति भण्णसे जदिहि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दुदे केई ॥६२॥

२२९. **जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य माननेपर अनिष्टापत्ति**—वर्णादिक ये समस्त भाव जीवके ही हैं अथवा जीव ही हैं, यदि ऐसा मानते हो तो तुम्हारे मतसे अब जीव और अजीवमें कोई भेद नहीं रह गया समझो। पहले कहीं कहा गया है कि संसार अवस्थामें कथंचित् तादात्म्यता है उसका भाव संयोग अपेक्षा मात्र है। वास्तवमें संसार अवस्था में भी जीवका वर्णादिसे कभी तादात्म्य नहीं हो सकता। यदि स्वरूपमें वर्णादिक हो जाय तो फिर उसका नाम जीव रखनेका प्रयोजन ही क्या रहा? पुद्गल ही न कह दिया जाय सीधा। सांसारिक अवस्थामें भी वर्णादिक भिन्न हैं, तथा मेरा आत्मा भिन्न है। अपने स्वरूपपर दृष्टि गई तो परपदार्थसे मोह हटेगा। ज्ञानी व मोहीमें कितना अन्तर है? बिल्ली एवं छिपकली जैसे जीवोंको मारकर भी भगाना चाहो तो वह कीड़ाको अपने मुंहसे नहीं छोड़ेंगे। हिरण जरा सी आहटमें घासको छोड़ देता है। ज्ञानी एवं मोही दोनों शरीरकी सेवा करते हैं, पर जिसने अन्तर समझ लिया वह ज्ञानी है। वर्णादिक तो गुण है वह नई दशा उत्पन्न करते हैं पुरानी दशा विलीन करते हैं। आविर्भाव तिरोभाव पर्यायसे हुआ वर्णादिक पुद्गलका अनुसरण करते हैं। वर्णादिकका तादात्म्य पुद्गलसे रहा। अगर कहा जाय वर्णादिक जीव का अनुसरण करते हैं तो जीवमें और पुद्गलमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। अन्तर नहीं रहने पर जीव भी नष्ट हो जायगा तथा जीवके नष्ट होनेपर ज्ञायकपना भी नहीं रहेगा। ज्ञायकता नष्ट होनेपर ज्ञेय भी नष्ट हो जायगा, लो सर्वनाश हो गया।

२३०. **ज्ञानीकी निःस्पृहताका बल**—अज्ञानी अपनेको गृहस्थमें फंसा हुआ पाकर निवृत्त होनेकी कोशिश नहीं करता, पर ज्ञानी सतर्क रहता है। मैं तो चेतना मात्र हूं, इस

तरहका आभास ज्ञानीको होता रहता है। बड़े अफसरके नीचे कार्य करने वाला नौकर उसके पास जाकर जी हजूरी करता है, काम भी पूर्ण करता है। पर यदि वह हृदयसे आफीसरका कार्य नहीं करना चाहता तथा उससे उसे घृणा है तो वह कार्य भी करते हुए नहीं करनेके बराबर है। "भरतदेश वैभवमें भरत चक्रवर्तीका वर्णन ठाटवाटका भी चल रहा है, साथमें वैराग्यका भी चल रहा है। ९६ हजार रानियों द्वारा भरतका बड़ा सन्मान किया जा रहा है, भरत भी रानियोंको प्रसन्न करनेमें नहीं चूकते, किन्तु टीस कुछ और ही वैराग्यकी लगी है।" सर्व भोग्य सामग्री मौजूद हैं पर वह उसमें सनते नहीं, यह सबसे बड़ी उनके जीवनकी विशेषता रही। विनाशीक वस्तुसे प्रेम क्या? रातके बाद दिन है दिनके बाद रात है किन्तु दिन भरकी थकावटसे ऊबनेपर रातके आरामका ख्याल रहता है किन्तु चित्तमें यह बसा है कि रातके बाद दिन तो आना है, वह आराममें क्या आसक्त होगा? जिसे रातमें अनेकों ख्यालसे दुःख रहता है और दिनमें कार्यव्याससे दुःख भूला रहता है सुखमें लग जाता है उसे यह ख्याल है कि दिनके बाद रात तो आनी है वह सुखमें क्या आसक्त होगा? ज्ञानी जीव जानता है सुख दुःख दोनों विनाशीक हैं, वह उनमें क्या लगेगा? लगे तो वह लगन भी तात्त्विक विचारोंके द्वारा रफूचक्कर हो जाती है।। सुख और दुःख दोनोंका जोड़ा है। दुःख ही निरन्तर बना रहे यह भी नहीं हो सकता, सुख भी निरन्तर नहीं टिकता। यह सांसारिक जीवोंका उदाहरण है। परपदार्थसे सुख मानने वाले संयोगमें तीव्र बुद्धि रखते हैं। लेकिन जब वियोग होता है तब उन्हें अति दुःख उठाना पड़ता है। आगे पीछेका ध्यान रखकर जो कार्य किया जाता है उसमें दुःख अधिक नहीं उठाना पड़ता।

२३१. हितभावना—जो लोग आत्माको नहीं मानते वे भी मरण समयमें अपने बारेमें कुछ तो सोचते हैं। चार्वाक जैसी बुद्धि रह जाय तो दुख नहीं होना चाहिए। मरते समय यह बुद्धि चार्वाकमें भी आ जाती है कि हाय अब मैं मरा, देख लो उसे दुःख सहन नहीं हो पा रहा। बच्चा कपड़ा सुखाते समय कहते हैं—तालका पानी तालमें जइयो कुआका पानी कुआमें जइयो मेरा कपड़ा सूख जइयो। इसी तरह चार्वाक लोग कहें कि पृथ्वीका शरीर पृथ्वीमें जावे, वायुका वायुमें, पानीका पानीमें, आकाशका आकाशमें और अग्निका अग्निमें, तो माने तो सही मरते समय तो उनके आत्मा नहीं है और दुःखोंसे नहीं छट-पटावें। क्रोध आनेके ५ मिनट पूर्व सोच लिया जावे इससे मेरी हानि होती है तो वह कारण ही उपस्थित न होवे। व्यवहारकी दृष्टि प्रबल होनेसे परमें आपा भूले हैं, निश्चय दृष्टिसे कोई भी पदार्थ अपना नहीं है तब वह हित क्या करेगा? वस्तुका विश्लेषण करते समय व्यव-हारनय भी विशेष उपयोगी होता है, पर आत्म साधनके लिए निश्चयनय ही कल्याणप्रद होता है। या ज्ञानके लिए निश्चयनय विज्ञानके लिए व्यवहारनय है। निश्चयनयकी दृष्टि

रखने वाले एवं निश्चयका कथन करने वालेने व्यवहारका आलम्बन न किया हो तो ऐसा कोई होवे तो बतावे। पहला अपना मार्ग तो व्यवहारके द्वारा सुगम कर लिया और दूसरों को निश्चयका उपदेश देने लगे। मैं ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्य मात्र हूं। अगर बाहरी विकल्प छूट जायें तो शान्ति मिलेगी। अगर परिग्रहका परिणाम कर लिया तो विकल्प उसीके अनुसारके बनेंगे। परिग्रहका प्रमाण करने वाला प्रभावमें नहीं जावेगा। परिग्रहका विकल्प छूट जाय तथा ज्ञान बढ़ा कर अपना समय ज्ञानवार्तामें बितावे बाकी समयमें यह उपाय करे कि खाली समयका उपयोग अच्छेमें होना चाहिए। रिटायर्ड हो जाने पर धन लानेकी तृष्णा छोड़कर आत्मकल्याणके लाभकी लगन होना चाहिए। पढ़नेसे निर्मलता आती है।

२३२. बुद्धिका उपयोग करनेका अनुरोध—प्राचीन ऋषियोंकी बात समझनेमें समय व्यतीत होना चाहिए। ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो प्रायः सभी भाइयोंमें विशेष विशेष है। जिस बुद्धिका उपयोग बड़ी-बड़ी कम्पनियोंकी व्यवस्थामें हो लेता है जैसे उत्तर रेलवे, दक्षिण रेल, पूर्व एवं पश्चिम रेलवे तथा सेन्ट्रल रेलवेका टिकिट किसी भी तरफसे खरीद लो तथा वह पैसा जिस स्थानका सफर होता है वहाँ पूर्णतया पहुंच जाता है उसी तरह जिस क्षयोपशममें इतनी बड़ी विशेषता है तब क्या वह निजका कार्य नहीं कर सकेगा? विशुद्ध चैतन्य मात्र जीव है किसी भी प्रकार जीव साक्षात् दिखते हैं, फिर उनका लोप करना कहाँ तक उचित है? जैसे पानीमें तेल मिलकर एकमेक रूप नहीं हो सकता उसी तरह चेतनमें पुद्गल नहीं मिलता, पुद्गलमें जीव नहीं मिलता। देहका स्त्री पुत्रादिमें कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है केवल ऐकान्तिक मोह है। हम तुम्हारे नहीं हैं, तुम हमारे नहीं यह स्पष्ट ज्ञात होते हुए हम उनमें व्यर्थमें मोह कर रहे हैं। घड़ी, मेज, कुर्सी आदि अपने अपने परिणमनसे कह रही हैं कि हम तुम्हारे नहीं हैं। मोही जीव अपनी ममतासे ही कहते हैं तुम हमारे हो। मरते समय तक भी कहते हैं हमारे हैं हमारे हैं। इतनेपर भी पदार्थ कहते हैं हम तुम्हारे नहीं हैं। इस तरह देहको और जीवको एक गिना तो अनेक आपत्तियाँ आ जावेंगी। मैं चेतना मात्र हूं इतनी बुद्धि रख लौकिक कार्य भी आ जावें तो मोह न करे। इनका सरल उपाय भेदविज्ञान है, यही बीजका कार्य करेगा। भेदविज्ञानीकी भावना तब तक भानी चाहिए जब तक स्वतन्त्र तौरसे स्वका अनुभव होने लगे।

२३३. गृहस्थ और मुनियोंमें अन्तर—गृहस्थ और मुनियोंमें क्या अन्तर है? गृहस्थकी धारा टूट-टूट जाती है। मुनिकी धारा समान प्रवाहित रहती है वह टूटती नहीं, कार्य दोनोंका चालू है, किन्तु उनका अन्तर निम्न उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। मेल व मालगाड़ी दोनों एक रास्तेसे जा रही हैं, लेकिन जब मेल गाड़ीकी सूचना २ या ४ स्टेशन पीछेसे भी मिल जाय तो मालगाड़ीको पड़ा रहना पड़ता है तथा अगली स्टेशन जब पारकर जाय मेल तब माल

को अवसर मिलता है। इसी तरहका अन्तर अश्रेणिगत मुनि और गृहस्थके कर्मोकी निर्जरा में व मोक्षमार्गमें रहता है। मुनिको संसारके भोग हेय हैं पर गृहस्थ उन्हें रुचिसे भोगता है। मुनि रूखे अलोने भोजनसे भी पेटके गड्ढेको भरकर सन्तुष्ट रहता है किन्तु गृहस्थ नई-नई सामग्री भोजनमें जुटानेपर भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता तथा ज्ञानी गृहस्थ संतुष्ट रहता। मुनिके तृष्णाग्नि शान्त हो जाती है किन्तु गृहस्थकी खाई नहीं भर पाती। मुनिकी कार्यव्यस्त प्रणाली प्रतिपल निर्जराका कारण हो सकती है। वहाँ गृहस्थ निर्जराके विषयमें अचेत जड़वत् रहता है, जब कभी उसके भी निर्जरा हो जाती है। गृहस्थ एवं मुनि दोनोंके लिए बारह भावनायें सदैव हितकारी हैं। यह बारह भावनायें मुक्तिमार्गका विचित्र पाथेय हैं।

२३४. शास्त्रनिरूपित हितार्थ सार ध्यातव्य—शास्त्रोंका सार जीव और पुद्गल को भिन्न समझ लेनेमें है इनसे में भिन्न हूं अतः इन किन्हीं भी परका मैं कुछ नहीं करता केवल इनका विषय करके मैं विपरीत अभिप्राय बना सकता, मोही केवल पुद्गल पर्यायोंको देखकर विपरीत मति बनाता है। उसे अन्यकी तो खबर ही नहीं, जीव जुदा है पुद्गल जुदा है यह तत्वका निचोड़ है। धर्म अधर्म काल द्रव्य भी हैं उन्हें देखकर विपरीत मती बनाता है यह क्यों नहीं कहा? जीवका जो अध्यवसाय हो रहा है वह पुद्गलको विषय बनाकर चल रहा है। धर्म द्रव्यको विषय करके कौन क्या सोचता है, उसी तरह अधर्म, आकाश और कालको विषय बनाकर भी कौन पुद्गलके समान रति करता है? धन वैभवको देखकर एवं विषयोंमें बाधक जो पदार्थ हैं उन्हें देखकर अच्छे बुरे परिणाम करेंगे। जीव और पुद्गलके इस भेदको जुदा-जुदा बताने वाले प्रथम तो रूपित्व और अरूपित्व दो मुख्य कारण हैं। पुद्गल में रूप रस गंध वर्ण है अतः देह एवं पुद्गल रूपी है, जीवमें यह नहीं पाये जाते अरूपी हैं। या यह जीवका असाधारण गुण नहीं है। धर्म अधर्म आकाश कालमें भी रूपी पना नहीं पाया जाता है। इस तरह यह रूपीपन पुद्गलमें है जीवमें नहीं, धर्मादिक द्रव्यमें नहीं। अतः रूपित्व अरूपित्वके बलपर वस्तुतः भेदविज्ञान नहीं होता है तब विशेषता वह देखी जावे जो पूर्ण अन्वयव्यतिरेक सहित हो, वह है चैतन्य भाव। जीवमें चैतन्य है, पुद्गलमें चैतन्य नहीं है। यहाँ आत्मद्रव्यकी जानकारी दो प्रकारसे की गई। एक विधि द्वारा एक निषेध द्वारा। जीवमें चैतन्य है किन्तु रूपित्व नहीं है। अन्य विषयोंकी तुलनामें भिन्न-भिन्न बताकर विधि एवं निषेध रूपसे आत्माका लक्षण कहा जाता है, इसी पर पूर्ण तत्वकी आधार-शिला टिकी है याने विधि निषेध द्वारा वस्तुकी व्यवस्था होती है।

२३५. जीवकी वर्णादिसे विविक्तता—वर्ण रूप आदिकका तो पुद्गलके साथ तादात्म्य यों है कि पुद्गलकी चाहे कितनी ही अवस्थायें हैं, वर्ण पुद्गलमें बराबर सम्बंध रखता है। इससे यदि उनके साथ वर्णका तादात्म्य मान लो तो ठीक है, जो पुद्गलका लक्षण है रूपा-

दिक के साथ जैसे तादात्म्य है वह पुद्गल है। यदि इसी प्रकार तादात्म्य मान लिया जीवके साथ, तो जीव और पुद्गलमें अब भेद क्या रहा ? अर्थात् जीवका अभाव हो गया। सब पुद्गल हैं! जो यह जानन देखनहार है यह जीव है, इसमें भी वर्णका तादात्म्य मान लिया, यह भी पुद्गल हो गया और पुद्गल तो पुद्गल था ही। स्थूलदृष्टिसे भी यह बात समझमें आती है कि जीव यदि वर्णात्मक होता, रूप, रस, गंध, स्पर्शादिकसे तन्मय होता, तो यह जाननेका काम कैसे कर सकता था ? जो मूर्त पदार्थ होता है, जिसमें रूप, रस, गंध आदिक होते हैं वे कभी भी जाननेका काम नहीं कर सकते। जानने वाला द्रव्य तो अमूर्त और केवल चैतन्यात्मक होता है। अपने आपको जब तक चित्स्वरूप न स्वीकार करेंगे तब तक आकुलतायें न टल सकेंगी।

२३६. ज्ञानमात्र अकिञ्चन आत्मतत्त्वकी चर्चा—है तो यह जीव अकिञ्चन, अपने स्वरूपके सिवाय इसमें और कुछ नहीं है। लेकिन मोहमें यह जीव अपने स्वरूपकी तो दृष्टि ही नहीं रख रहा, और सब कुछ इन बाह्यको ही सर्वस्वरूप मान रहा है। कितनी व्याकुलता, कैसी बेचैनी संसारी जीवोंको लगी है, ऐसी बड़ी व्याकुलता क्या इस जीवका काम था ? क्या इस जीवका स्वभाव था ? जीव तो चैतन्य स्वरूप है। उसमें आकुलताका क्या काम है ? लेकिन जो समर्थ होता है उसकी यदि बुद्धि बिगड़ जाय तो खोटे कामोंको भी बड़ी लगन और अधिकताके साथ कर सकता है। यह चैतन्य आत्मा प्रभु है, समर्थ है, इसकी बुद्धि बिगड़ गयी, अर्थात् स्वयंका क्या स्वरूप है—इसपर दृष्टि न रहकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि गड़ गयी, वहां चला गया है उपयोग तो इसकी बुद्धि भ्रान्त हो गयी। जो बात जैसी नहीं है उसे वैसा मान रहा है। भला बतलावो यह जीव किसी कुटुम्बका स्वामी है क्या ? वे जीव अलग हैं, यह अलग है ? उनका सत्त्व उनका स्वरूप चतुष्टय उनमें है, इसका इसमें है। कुटुम्बका यह किसी प्रकार स्वामी तो नहीं है, लेकिन कल्पनामें बसा है कि मैं अधिकारी हूं, इस कुटम्बका स्वामी हूं, ऐसी जो मिथ्या श्रद्धा बन गयी है उसके कारण यह दुःखी हो रहा है। भीतर ही कोई अपने उपयोगका पुरुषार्थ चलाये और यह अपना निर्णय बनाये कि मैं आत्मा तो उतना ही हूं जितना कि चैतन्यस्वभाव व्याप रहा है, मैं और कुछ नहीं हूं, ऐसी दृढ़ प्रतीति करके यहाँ ही कोई रम जाय तो उसे फिर बाधायें क्या ? कुछ भी बाधा नहीं है। बड़े बड़े चक्रवर्तियोंने, तीर्थंकर जैसे महापुरुषोंने बहुत बड़ी विभूति पानेके बाद भी सार उसमें कुछ नहीं समझा। प्रकट असार उन्हें दीखा। तब उन सब विभूतियोंका परित्याग करके अपने आपको अकिञ्चन अनुभव करनेमें लग गए थे और उसका प्रताप यह हुआ कि वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दके स्वामी हो गये।

२३७. प्रभुकी महिमाका कारण—हम प्रभुको पूजते क्यों हैं ? उनमें हम इन दो

महिमाओंको देख रहे हैं इसी कारण पूजते है। पहिली महिमा तो वीतरागता की है। यदि प्रभु रागी द्वेषी होते और कदाचित् समर्थ होते तो उनके सामर्थ्यकी वजहसे चाहे लोग हाथ जोड़ने लगते किन्तु हृदय कबूल न करता क्योंकि समझमें आ रहा कि इसके राग है। जैसे यहाँपर कोई समर्थ पुरुष है, राजा है, लोग जानते हैं कि इसके राग है, द्वेष है तो लोग प्रभूकी तरह राजाका आदर तो नहीं करते, किन्तु उनकी हाँ हजूरीमें पहुंचते हैं, तो लोग समर्थ होनेसे अपने आपके कार्यसे भले ही उनके दास हों, किन्तु राजाके प्रति उनका आकर्षण नहीं है। आकर्षण तो वीतरागताका है। प्रभुकी पहिली महिमा तो वीतरागताकी है और दूसरी महिमा परिपूर्ण ज्ञानप्रकाशकी है। प्रभुका ज्ञान परिपूर्ण है, दर्शन शक्ति आनन्दसे परिपूर्ण है। जिसे एक शब्दमें कहा गया—सर्वज्ञता। तो प्रभुकी ओर जो भक्तजन खिंचे चले आ रहे हैं उनकी महिमा इन दो बातोंसे है—वीतरागता और सर्वज्ञता। सो अपने आत्मामें भी देखिये तो राग होना मुझ आत्माका स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है। मेरा तो एक चैतन्यस्वरूप है। स्वच्छताके कारण ज्ञेयपदार्थ उसमें प्रतिबिम्बत हो जायें यह इसका स्वरूप है। राग विकार इस जीवके स्वरूप नहीं हैं। तो मैं विकाररहित स्वभाववाला हूं ना। हो विकार, लेकिन मेरे स्वभावमें स्वरूपमें विकार नहीं है। प्रभु अविकार प्रकट हो गए। तो मुझमें अविकार स्वभाव है। इस अविकार स्वभावके आलम्बनके प्रतापसे मुझमें भी अविकारता पूर्णतया प्रकट हो जायगी। अविकार रहनेमें ही आनन्द है। विकार तो अंधेरा है, विडम्बना है, इसीसे ही जीवकी मलिनता है और आकुलता है। अपने विकार रहित स्वच्छ ज्ञानस्वरूपका आदर किया जावे तो यह अविकार भाव प्रकट होगा। तो प्रभु में ये दो महिमायें हैं—निर्विकार रहना और परिपूर्ण विकास वाला होना। निर्विकारता जहाँ होती है वहाँ परिपूर्ण विकास हो जाता है।

२३८. धर्मार्थ करणीय यत्न—देखिये भैया! हमको कैसा यत्न करना है? मेरा परिपूर्ण विकास हो, ऐसी दृष्टि रखकर यत्न नहीं करना है किन्तु मेरेमें निर्विकारता हो, ये विकारभाव आवरण आदि सब दूर हो जायें, ऐसा लक्ष्य रखकर यत्न करना है, सो ये विकार हट जायें ऐसा भी हम उद्यम क्या कर सकेंगे? विकाररहित जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है उसका आलम्बन लेना है। हम आपके करनेके लिए केवल एक ही काम पड़ा है, जो मौलिक है, सत्य है। वह काम यही पड़ा कि मैं विकाररहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूपको जानता रहूं, और उसमें ही मैं हूं ऐसी प्रतीति बनाये रहूं, यही एक काम पड़ा है। इस ही महान कार्यको करनेके लिये हम वर्तमान कमजोरीकी अवस्थामें, गृहस्थावस्थामें प्रभु पूजा, स्वाध्याय, गुरु सत्संग, तपश्चरण आदिक प्रयोग किया करते हैं। उनका प्रयोजन एक मात्र इतना है कि मैं विकाररहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूपको जानता रहूँ। यह मैं हूं, तो एक इस

उपायसे कि विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूपका उपयोग बनाये रखना। विभाव और मलिनतायें दूर होती हैं आत्मामें जो परिपूर्ण विकास होनेको है वह हो जाता है। कार्य केवल एक किया जाना है। जैसे व्यवहारमें श्रद्धा केवल एक प्रभुकी ओर रखना है, १० प्रकारके प्रभुओंकी ओर नहीं। सभी मत वाले दृढ़तासे अपने एक प्रभुपर श्रद्धा रखना चाहते हैं। जो अनेक प्रभुवोंको बुलाते हैं उनके काम सिद्ध नहीं होते। प्रभुका लक्षण एक ही है—जो वीतराग हो सर्वज्ञ हो। दूसरे प्रकारके देवोंकी श्रद्धा न करना। जैसे यह व्यवहारकी वात है तो अध्यात्मयोगकी वात यह है कि विकाररहित विशुद्ध ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा करना। अन्य-अन्य रूपोंमे अपनी श्रद्धा न करना। कहीं रहना पड़े, कुछ स्थिति आ जाय, सभी परिस्थितियोंमें यह निरखना है कि मैं रागादिक विकाररहित शुद्ध चैतन्य स्वरूपमात्र हूं—ऐसी प्रतीति होगी तो इस ओर उपयोग रखनेका भाव होगा ही। यहाँ उपयोग रमेगा तो विकास भी होगा और रागादिक दोप भी टलते जायेंगे। केवल एक ही कार्य करना है, कर लें, यदि तो समझो कि मनुष्यभव पाना, श्रेष्ठ कुल पाना, सत्संग पाना आदि ये समस्त दुर्लभ समागम सफल हो जायेंगे। एक इतनी ही वात न कर पाये तो चाहे कितना ही कुछ पाया वह सब ढेला पत्थर है। उससे आत्माको मिलना कुछ नहीं है। विषयोंकी ओर आकांक्षायें होनेसे जीवन वेकार और बरवाद ही हो जायगा। इससे एक निर्णय बनायें कि मुझे जीवनमें विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूपके दर्शन करते रहना है, इससे हम इन संकटोंसे दूर रह सकते हैं।

२३९. जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्यके अभावका कथन—काला पीला नीला लाल सफेदपना, खट्टा मीठा कड़वा चरपरा कषायला रस तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध और हलका भारीपना आत्मामें नहीं है। पुद्गलमें ही वर्णादिकका योग है। व्यवहारिक दृष्टि बन्ध सहित होनेके कारण जीवको मूर्तिक कहा है। कारण कि जीव संसारमें देहसे भिन्न नहीं हुआ। औदारिक, वैक्रियक शरीर स्थूल है, यदि यह छूट गया तो और अन्य शरीर मिलनेमें २—१ समयका अन्तर है तो वहाँ भी तेजस कार्माण तो रहते ही हैं। मतलब यह है कि वर्णादिमान शरीरोंके साथ जीव संसार अवस्थामें निरन्तर रहता है अतएव व्यवहारसे वर्णादिमान् जीवको कह दिया जाय तो वह एक दृष्टि है। यदि जीवके साथ वर्णादिक तादात्म्य माननेका हठ ही किया जावे तो यह दोष आता ही है कि फिर जीव और अजीव में भेद ही नहीं रहा। इसका कारण यह है कि वर्णादिक भावक्रमसे अपने विकासको प्रकट करने व विलीन करनेकी पद्धति रहकर पुद्गल द्रव्यके साथ ही अपनी वर्तना रखते हैं, अतः वर्णादिका जिसके साथ तादात्म्य है वह पुद्गल द्रव्य है। इसी पद्धतिसे तादात्म्यपना होता है। परन्तु तुम मानते हो कि जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य है तो पुद्गलका ही लक्षण

जीवमें गया । लो अब पुद्गलसे भिन्न कोई जीव ही नहीं रहा । जिज्ञासुको जीवके वर्णादिकके बारेमें शंका हुई । तब उसका समाधान किया । जहाँ कहीं बताया भी है जीवके वर्णादि वह विरोध तो नहीं है किन्तु दृष्टि भेद है । केवल जीवका स्वरूप निहारनेपर वर्णादिक नहीं हैं, तथा संसार अवस्थामें देह और जीवका सम्बन्ध होनेपर दृष्टि देनेसे उपचारसे वर्णादिक हैं । व्यवहार इस तरहसे बन चुका कि रूप, रस, गन्ध, वर्ण जीवका साथ नहीं छोड़ते । तेजस एवं कार्माण एक समय मात्रको जीवका साथ नहीं छोड़ते । अन्य मतानुयायी भी सूक्ष्म शरीरको सदैव जीवका साथी मानते हैं । तेजस, कार्माणके द्वारा शरीरका निर्माण होता है । यह दो शरीर तो सदैव रहते ही हैं, तथा औदारिक या वैक्रियक शरीर भी कुछ समयका अन्तर होनेपर मिलते रहते हैं । संसारावस्थामें ही सही, किन्तु यह तो निश्चय कर लो कि यह जीवके ही हैं । यह एक जिज्ञासुका प्रश्न है । इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं:—

जदि संसारत्थाणं जीवाणंतुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवारुवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढ़मदी ।
णिव्वाणमुवगदोविय जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥

हे मूढ़मते ! यदि तुम्हारे आशयमें संसारी जीवोंके वर्णादिक होते हैं तो संसारी जीव रूपीपनेको प्राप्त हो गये । रूपीपनको प्राप्त तो पुद्गल द्रव्य है । अब रूपीपनको प्राप्त उस लक्षणसे जीव भी रूपी हो गया । अब तो आगे यह कहना पड़ेगा कि निर्वाणको प्राप्त होता हुआ भी पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हो गया । देखो — यदि संसारावस्थामें जीवके वर्णादिक हैं ही यह माना जाय तो यह दोष आयगा कि संसारी जीव रूपी ही हो गये और जो रूपी है वह पुद्गल है तो मुक्त होनेपर भी जीवके वर्णादिक कहना पड़ेगा । अथवा यों मानना होगा कि पुद्गल ही मोक्षको प्राप्त हो गया । संयोगमें सर्वस्व मानने वालोंके लिये जीवके वर्णादिक हैं । चाहे वे यह भी मानें कि मुक्तावस्थामें जीवके वर्णादिक नहीं हैं तो भी हठपूर्वक अथवा स्वरूपसे संयोग माननेसे जीव रूपी कहलाने लगा तथा जो जो रूपी होता है वह पुद्गल द्रव्य है । पुद्गलका जीवके साथ तादात्म्य माननेपर जीवके मुक्त होने पर पुद्गल ही मुक्त हो गया—यह सिद्ध हुआ । मोही जीवोंने शरीर, धन, पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब, मकान, जायदादको अपनी मान ली है । मोही जीवके अगर यह बात पैदा हो जाय कि शरीर भी अपना नहीं, मैंने व्यर्थमें शरीरको आत्मा मान लिया है । शरीरको अपना माननेसे रूपी मानते ही थे । कुछ ज्ञान होनेपर इस जीवको यह समझमें आया कि संसारावस्थामें ही जीव रूपी था । जीवका स्वभाव रूप, रस, गंध एवं वर्णसे रहित है । यह उसका

रंचमात्र भी नहीं है। जीवमें प्रधान तत्त्व चित्स्वरूप आत्मा है।

२४१. **जैनशासनकी विवेकी जगतको देन**—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग अन्य धर्मोंमें कहा है, तथा जैन धर्ममें भी कहा है तब इसमें ऐसी क्या विशेषता जो जैन धर्मको प्राणपणसे पालन करे तथा अन्य धर्मोंसे मनको हटा लेवे। अब अगर ऐसी बात है कि अन्य कोई विशेषता नहीं तो जिसका जहाँ मन चाहेगा उसे पालन करेगा। अन्य मनुष्य कहनेमें भी नहीं चूकते, वे तो सब धर्मोंको समान कहते हैं, उन्हें परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं, फिर भी भोले प्राणी तो सरल मार्गपर शीघ्र चल पड़ते हैं। कठिनाइयोंसे बचने वाला जीव सरलतासे जीवनयापन करनेमें खुश होकर सुख मानता है। वह सोचता है बन्धन जितने हटे उतना अच्छा, पर वहाँ इन सबकी मूलमें ही भूल हैं। ऐसे भोले जीव धर्मके स्वरूपको नहीं समझे। यथार्थमें वस्तुस्वरूपको यथार्थ जानना धर्म है। जैन धर्ममें वस्तुका स्वरूप यथार्थ दर्शाया है यही विशेषता है। तो जितने तत्त्व हैं वह सब सत् हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध है और स्वयं सत् है तथा प्रत्येक द्रव्य अविभाज्य है। पहले कुछ नहीं था और नया द्रव्य कहींसे पैदा हो जाय यह बात नहीं है, यह पूर्णतया भूलसे भरा रास्ता है। अगर ईश्वरने जगतको बनाया तो उसके बनानेके पहले क्या था? कोई कहेगा आकाश था, वह भी किसने बनाया वह कहते हैं। ईश्वरने इच्छा मात्रसे बनाया है, ईश्वरने ही अपने उपादानसे विकासित होकर जगतका निर्माण किया या अन्य पदार्थका उपादान बनकर जगतका निर्माण किया, तब तो सम्पूर्ण जगत ईश्वरमय हो गया। फिर चेतन अचेतन सभी वस्तुयें ईश्वरके स्वरूपके अनुरूप होना चाहिये। यदि इनका उपादान ईश्वर नहीं तो जिन तत्त्वोंसे सृष्टि की वे तत्त्व पहिलेसे ही थे, उनका विशेष रूप बना दिया होगा। अगर ऐसा कहोगे तो प्रत्येक वस्तुका स्वतःसिद्ध होना अनिवार्य हो गया, जबकि प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग है, सब द्रव्य स्वतःसिद्ध हैं, पर्यायको ही जो द्रव्य मानते हैं तब उसका पलटना नहीं होना चाहिए था, किन्तु प्रत्येक द्रव्य क्षण क्षणमें परिणमन कर रहे हैं। कोई द्रव्य किसी अन्यको निमित्त पाकर भी परिणामी हो जाय तो वह भी स्वतःसिद्ध हुआ। आत्मा स्वतःसिद्ध है, स्वतःपरिणामी है उनमें अन्यको सहायताकी जरूरत नहीं है। अतएव बनना, बिगड़ना और बना रहना तीनों बातें सिद्ध होती हैं।

२४२. **आत्माकी चिद्रूपताका प्रत्यय**—आप हम सब एक एक पदार्थ हैं, बनते, बिगड़ते और बने रहते हैं। मनुष्य बन गये, पशु बिगड़ गये, आत्मा वही बनी है। जो बनता है वह पर्याय बनती है तथा पूर्वकी पर्याय बिगड़ती है, जीव वही रहता है। आत्मा में वर्णादिक तादात्म्य नहीं होता है। जीव सदैव अजर अमर है। कर्म मूर्त हैं और आत्मा अमूर्त है। आत्माको छोड़कर कर्म अलग रहते नहीं हैं। किन्तु इस दृष्टिको छोड़ आत्माको

तत्वकी दृष्टिसे देखना चाहिए। दोनोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। एक समयको भी आत्मा रूपी नहीं बनता है। भूलसे भी मान बैठो तो स्वभावका कहना है, यह मैं कभी भी अन्य रूप नहीं होता। खेल तो देखो स्वभाव तो अन्य रूप बनता नहीं किन्तु मोही जीव अपने को रूपी मानता रहता है। यह तो वैसा है जैसा सभी ज्ञानी जान सकें। जैसे पुरुष कैसा है, क्या वह किसीका बाप है ? क्या वह किसीका पुत्र है ? वह तो जैसा है वैसे सभी जानेंगे। एक स्थानपर अनेक देशके आदमी इकट्ठे किये जायें वे जैसा इसे देखें सो सही, सब एकसा देखेंगे। और एक दूसरेका रिश्ता जानने या नाम जाननेको कोई भी कुछ नहीं बता सकेगा। जब तक उसको दूसरे व्यक्तिके द्वारा परिचय न मिल जावे। बात यह है कि अन्य बातें तो कल्पित हैं। नाटकमें किसी मनुष्यको राजा बना दिया जाय तो वह अपनेको वैसा ही अनुभव करने लगता है। जैन धर्ममें स्याद्वादका दर्शन है वही वस्तु स्वरूप है और वही अनेकान्तका निर्देशक है। जीव उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त होकर संसारमें रहता हुआ स्वभावमें अन्तर नहीं आता है। माँ अपने बच्चेको पीटती भी है किन्तु क्या उसके प्यार करनेके स्वभावमें अन्तर आता है ? नहीं, सद्गुणोंको लानेके लिये माँ बच्चेको ताड़ित करती है। वैसे ही आत्मा अनेक पर्यायोंमें भटककर तथा अनेक रूप धारण कर भी निज स्वभाव नहीं छोड़ता। स्वभाव हमारा सदासे रक्षा करता आया है, वह कभी भी अन्यरूप नहीं हुआ हमने पर्यायसे चाहे कुछ भी ऊधम किया। यह मोही परवस्तु रूप भी अपनेको मान बैठा था, वह परवस्तु रूप संसारावस्थामें भी नहीं है। पुद्गलको छोड़ अन्य द्रव्योंमें न पाया जाये वह तो रूपित्व है। जो जो रूपी है वह जानता नहीं। आत्मा सदा जानता है। वह संसारावस्था में स्वहितैषी है। चार्वाक अर्थात् सुन्दर लगने वाला वचन जिसका है या जिसकी वार्ता मन को मोहित कर लेवे उसके सिद्धान्तपर चलनेंको अधिक मात्रामें तैयार हो जावे तथा जब तक जिओ तब तक अन्याय करके भी मौज करो, क्योंकि यहाँ आत्माका अभाव मान लिया है। तब तो उन्हें परलोकसे कोई प्रयोजन नहीं रहा किन्तु जब चार्वाक भी मरते हैं तो वह पाँच तत्वोंसे यह नहीं कहते कि पृथ्वी पृथ्वीमें समावे, वायु वायुमें, अग्नि अग्निमें, जल जल में समावे। यह सब न होकर प्राणोंको बचानेके लाले पड़ते हैं। सब इन्द्रियोंको संयमित करके जो जो अनुभवमें आता है वह परमात्माका तत्त्व है। स्वानुभव ज्ञान और चारित्र दोनोंके द्वारा वह साध्य है। स्वानुभवका उपाय चारित्र है। इस चारित्रके द्वारा अन्तरङ्गकी बात साध्य है।

२४३. देहीको जीव माननेका ईषत् प्रयोजन––वर्णादिक जीवमें नहीं हैं, कल्पनासे मान लिया है। कल्पनासे कुछ भी मान लो–एक लाख रुपयेकी हवेली बनवाकर कहते हैं यह मेरी है। सफाई करने वाला भंगी भी उसे अपनी कहता है। यथार्थमें दोनोंकी नहीं।

कल्पनासे तीन लोकके राज्यको भी अपना कहो वह अपना नहीं, अपनी वह वस्तु है जो सदैव अपने पास रहे। कल्पनाकी थकान होनेपर गद्दे तकिये भी आराम नहीं देते। ज्ञानका आराम पानेपर कंकड़-पत्थर पर सोकर भी आराम मिलेगा। यह वार्ता चल रही है कि जीवके वर्णादिक नही हैं। मुक्तावस्थामें भी नहीं है। संसारावस्थामें भी वर्णादिक नहीं हैं। वर्णादिक तो पुद्गलमें पाये जाते हैं। क्योंकि वह रूप रस गंध वर्णसे सहित होता है। प्रश्न होता है एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय. चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तो जीव हैं तथा यह पर्याप्त व अपर्याप्त भी होते हैं। संसार दो तरहके होते हैं, (१) त्रस, (२) स्थावर। यह जीव है। मुख्य प्रश्न है? प्रकरण चल रहा है अध्यात्मका, चूंकि जीव तो एक चेतना मात्र है। जिस स्वरूप जीव है वह शुद्ध है, शरीरसे रहित है। शरीर उसका साथी नहीं तो उसको मारो काटो छेदो उसका अपराध क्या? इस पर उत्तर देते हैं यह नहीं कहना चाहिए, कारण जब तक जीव संसारावस्थामें रहता है तब तक शरीर नियमसे होगा, मुक्त होनेपर नहीं रहेगा। व्यवहारसे ये सब एकन्द्रियादिक जीव है। इनके विरोध, विराधकी प्रवृत्ति होनेपर अपराध होता ही है। यहाँ शुद्ध स्वरूपका वर्णन है इसलिये ऐसा कहा गया है कि निश्चय-नयसे चेतना मात्र जीव है। मारना काटना छेदनाकी चर्चा उठनेसे जीवकी द्रव्य हिंसा होगी, जो महान अनर्थ होनेपर घोर पापबंध अर्थात् दुर्गतिका कारण होगा।

२४४. **इन्द्रियरचना**—भैया एकेन्द्रियादिक तो जानते ही होंगे सब। एक त्यागी थे जो शास्त्र सभामें प्रश्न कर रहे थे कि जानते हो एक इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक कौन कौन होते हैं? प्रायः कई जगह शास्त्र सुनते जायेंगे और कहेंगे धन्य है महाराज स्वीकृतिरूप सिर हिलाते जायेंगे, कोई कहे समझमें आया कि नहीं तो हाँ के अतिरिक्त अन्य उत्तर नहीं देंगे। त्यागीजी ने पूछा पंच इन्द्रिय जीव किसे कहते हैं तो उत्तर मिला हाथीको क्योंकि उसके चार पैर होते है और पांचवी सूंड़ होती है। तथा चार इन्द्रिय? घोड़ेको क्योंकि उसके चार पैर होते हैं। सूंड़ नदारत है। तीन इन्द्रिय जीव? (तिपाई) के लिए जो दांयका अनाज उड़ाते समय काममें आती या गाय भैंस लगाते समय काम आती है। दो इन्द्रिय जीव हम हैं क्यों हम और हमारी स्त्री दोनों है लड़के बच्चे नहीं हैं, अतः दो इन्द्रिय हैं तथा एकइन्द्रिय जीव किसे कहते हैं। उत्तर मिला महाराज जी एक इन्द्रिय जीव आप हैं क्योंकि आप अकेले ही है। इस तरह कुछ श्रोता इसी धुनके होते हैं। खोजनेपर यहाँ वहाँ मिल जायेंगे। सही तरीकेसे एक इन्द्रिय जीव आदि इस तरह हैं—एकेन्द्रिय जीव जिसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय हो। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति (वृक्ष आदि)। दो इन्द्रिय जिसके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ हों। जैसे लट केंचुआ, कौड़ी शंख। तीन इन्द्रिय जिसके घ्राण व पूर्वकी दो इन्द्रियाँ हों। जैसे चिऊटी, चींटा विच्छू तिरूला। चार इन्द्रियाँ

जिसके पहिले तीन इन्द्रियके साथ चक्षु और हो जैसे भ्रमर, बर्र, मक्खी। पाँच इन्द्रिय पूर्व की चार इन्द्रियोंके अतिरिक्त कर्ण भी हो। जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी, सर्प आदि। इनकी बनावट क्रमसे है। शरीरमें या सभी जगह स्पर्शन इन्द्रिय, रसना, उसके बाद तथा उसके ऊपर घ्राण, बादमें चक्षु तथा उसके पश्चात् कर्णकी रचना है। इन इन्द्रिय वालोंके विषयमें शिष्यकी शंका थी ना उस पर कहा जा रहा है। कर्म सिद्धान्तकी प्रकृतियोंमें, एकेन्द्रिय प्रकृति, दो इन्द्रिय प्रकृति, तीन इन्द्रिय प्रकृति, चार इन्द्रिय प्रकृति, पर्याप्त प्रकृति और अपर्याप्त प्रकृतियाँ यह सब पौद्गलिक जड़से उत्पन्न हुई हैं फिर इन्हें जीव क्यों कहते हो ? शरीर है सो जीव नहीं है, अन्य पदार्थ क्या जीव हैं ? जीव चैतन्यशक्ति मात्र है।

२४५. अनेक अनुभूतियोंसे चित्स्वरूपकी झलक—जब विपत्ति आ पड़े तो अपनेको बचाओ अपना कार्य बनाओ यह भी है चैतन्य शक्तिकी एक झलक, वस्तुतः मलिन जीव अपना विषय कषायका ही भाव बना पाते अन्यको क्या करें ? काम, क्रोध, लोभ विकार जिसका प्रबल हो वह जीव क्या अन्य को मारेगा, पीटेगा ? कषाय पैदा हुई और उसमें वह गया इतना ही किये, कोई उपायसे विषय कषाय कम नहीं होती। बातूनी भेद विज्ञान से भी नहीं घटती। विषय कषाय तत्त्वके निर्णयसे पलायमान होते हैं। चोरोंने पशु चुरा लिये, सबेरा होने पर पशु भाग गये, चोर वैसे ही रह जाते हैं। उसी तरह विषय कषायोंने तत्त्वको चुरा लिया है। चोर किसी घरमें घुसा और उस घरमें अगर कोई बुढ़िया हुई तो उसके खाँसने से जैसे चोर भाग जाते हैं, उसी तरह तत्त्व ज्ञानसे सजग रहने वाले मनुष्यके पाससे विषय कषाय रूपी चोर आहट पाते ही रफूचक्कर हो जाते हैं। चोरोंको प्राण बचाने के लिए दरवाजा खोजना जरूरी हो जाता है, उसी प्रकार विषय कषायोंके विकारों के परमाणुओंको अपना स्थान अन्यत्र खोजनेकी आपत्ति आती है। अग्नि हाथपर रखनेसे अपना ही हाथ जलता है उसी तरह क्रोधसे अपना सर्वांग नुक्सान होता है। मान करने वालेका अपमान ही होता है तथा घमंडी माना जानेसे अन्य मनुष्य व्यवहार तक भी नहीं रखते। लोभी की दशा तो किसीसे छिपी ही नहीं, जो कि अपने धनका स्वयं न भोग कर सकता है और न दान दे सकता है तथा दूसरे ही उस पर ऐश करते हैं एवं लोकमें कंजूस, लोभी आदि उपनामोंसे पुकारा जाता है। मरते समय विषयोंके छोड़नेका दुःख होता है। नेतागिरी, इज्जत, कीर्ति आदि यहीं रही जा रही हैं, स्त्री पुत्र आदि कोई साथ नहीं दे पा रहा, इसका दुःखमात्र पल्ले पड़कर रह जाता है। स्वतन्त्रताका बोध हो जाय तो सोचे यहाँ से मरनेके पश्चात् अन्य स्थानपर अपना अनुभव करूंगा, परपदार्थ तो मेरे हैं नहीं उन्हें अपना मान कर मैं क्यों दुखित होऊं ? जो अपनेको मरनेका अनुभव न करे सो अमर, वृद्धावस्थाका अनुभव न करो सो अजर। जो अपनेको मनुष्य अनुभव करे सो मनुष्य और

मनुष्य अनुभव न करके निजस्वरूप भावना करे सो शुद्ध चैतन्यमात्र परमात्मा तत्त्व है।

२४६. **आन्तरिक टटोल**—यहाँ मुख्य बात यह चल रही है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक एवं पर्याप्त प्रकृति तथा अपर्याप्त प्रकृतिसे और जड़से जो रचा गया उसे चैतन्य कैसे कहते हो ? द्वन्द अर्थात् दो से जकड़ा गया ऐसे द्वन्दमें पड़े हुओंके लिये आचार्य की परम करुणा हुई है, अगर एक ही रहते तो सुखी रहते। दो का ही नाम संयोग है तथा जहाँ संयोग है वहाँ दुःख है। जो भी आकुलतामें है उसे समझना चाहिए यह परपदार्थसे ग्रस्त है या उसे अपना समझ लिया है। आसक्ति हुई तब द्वन्दमें पड़ गये। देखनेमें आया है अकेले स्त्री होनेपर वह कभी कभी सुखसे जीवन व्यतीत करती है किन्तु जब किसी बालकको गोद ले लेती है तो सारी जायदाद तक बर्बाद हो जाती है और रोटी तकको तरसना पड़ता है। इस द्वन्दमें जो पड़ा है वह द्वन्दमें है और इसमें जो नहीं है वह द्वन्दमें नहीं है। अन्यत्र भी कल्पना कितनी ऊंची है ? रावण को जीतनेके लिए रामचन्द्रजी जब गये तो साथमें बानरों की सेना ले गये। उन्होंने समुद्रको लाँघ लिया था उससे रहस्य निकालो। बानरों ने समुद्र लांघा ही था किन्तु यह तो नहीं जाना था कि इसकी तहमें कितने कितने श्रेष्ठ रत्न हैं। इसी तरह हम शास्त्रोंको पढ़ लिख गये पर यदि यह नहीं समझते कि इनमें कितना तत्वरूपी रत्न भरा है तो हम शास्त्रोंको लांघ मात्र गये, असली रहस्य उन्हींमें भरा रहा। तत्त्व जानने वालेको निन्दा एवं प्रतिकूलतासे घबड़ाहट नहीं होती। उन रत्नोंको अन्तश्चारित्रसे टटोले।

२४७. **संसारावस्थामें जीवको वर्णादिमय माननेकी शंका व समाधान**—शंकाकारके अभिप्रायसे यह बात कही गयी थी कि जीव संसार अवस्थामें तो वर्णादिमव हो जायगा, मुक्त अवस्थामें वर्णादिमय न रहेगा। यहाँ जीवके विशुद्ध स्वरूपका वर्णन करते समय एक ही जीव स्वीकार किया गया था जिसका सर्वस्व सार चैतन्यशक्तिसे व्याप्त है अर्थात् चित्स्वरूप मात्र। अनादि अनन्त सहज चैतन्यभाव इसको जीव कहा है। इसके अतिरिक्त जो भी परभाव हैं, परपदार्थ हैं वे सब अजीव हैं। चैतन्यभावसे अतिरिक्त जो रागादिक भाव हैं वे भी अजीव है, अर्थात् जीव नहीं हैं। तव जीवमें वर्णादिक तो क्या सम्भव होंगे ? इसपर शंकाकारने यह सम्मति दी कि जीवके वर्णादिक संसार अवस्थामें तो मान लो मुक्त अवस्था में मत मानो। उसके उत्तरमें कह रहे हैं कि यदि संसार अवस्थामें रहने वाले जीवोंके तुम्हारे अभिप्रायसे वर्णादिक मान लिये जायें तो इसका अर्थ कमसे कम इतना तो हो ही जायेगा कि संसारी जीव रूपी होते हैं। जब संसारी अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान लिया तो संसारी जीव तो रूपी बन गए और जो जो रूपी होते हैं वे कहलाते हैं पुद्गल। तो तुम्हारे लक्षणके अनुसार ये जीव पुद्गल द्रव्य कहलाते हैं।

संसारमें तो रहा पुद्गल और पुद्गलका मोक्ष हो गया सो बन गया जीव। कुछ ऐसी बात बन पड़ेगी। तब फिर उसका निर्वाण हुआ और वह जीव बन गया तो अर्थ क्या निकला कि अब यह पुद्गल जीवत्वको प्राप्त हो गया। जो जो कुछ रूपी माने गए हैं वे पुद्गल ही हैं। तो संसार अवस्थामें जीव रूपी मान लिया जाय तो संसारमें यह पुद्गल है और फिर पुद्गलको मोक्ष हुआ। साथ ही जिसका द्रव्यसे तादात्म्य सम्बंध होता वह तो द्रव्यसे कभी छूटता ही नहीं। तो मोक्ष क्या हुआ ? जीव नामका कोई पदार्थ ही नहीं रहा। तो जीवका मोक्ष ही क्या ? इससे मानना चाहिये कि वर्णादिक भाव जीवके नहीं हैं। यद्यपि इस संसार अवस्थामें कितनी विकट विडम्बना हो रही है, शरीरमें विकट बंधे है तभी तो शरीरसे निराला ज्ञानमात्र स्वरूप उपयोगमें रहे, भिन्न निराला दिखे और शरीरसे इसका कोई प्रतिबंध न रहे, यह सब हो कहाँ पा रहा इस समय ? शरीरका ऐसा विकट बन्धन है कि शरीरके साथ यह जीव चले, जीवके साथ शरीर चले। इतने विकट बन्धनमें भी जीवमें वर्णादिक नहीं लग सकते। यह सब निमित्तनैमित्तिक भावोंसे बन्धन पड़ गया, फिर भी जीवमें पुद्गलका गुण नहीं बसा।

२४८. चैतन्यस्वरूप आत्मप्रतीति करनेकी शिक्षा—इस प्रकरणसे हमें क्या शिक्षा मिलती कि हम अपनेको अचलित चैतन्यस्वरूप मानें। इसके हठी बनें, इसके आग्रही बनें। चाहे कितनी ही विकट परिस्थिति हो, मैं तो चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। आकुलतावोंका निर्माण कब होता है जब हम चैतन्यस्वरूप मात्र अपनी दृष्टिसे चिग जाते हैं। हूं मैं अकिञ्चन। मेरेमें मैं ही हूं, मेरेसे अतिरिक्त मेरेमें अन्य कुछ नहीं है, पर इस अकिञ्चनताको छोड़कर जब हम दृष्टिमें कुछ बनते हैं, बड़ी पोजीशन वाले, नाम वाले, जब हम बनते हैं बस वहाँ से क्लेश शुरू हो जाता है। आखिर जब भी निर्वाण होगा, जब भी परम शान्ति प्राप्त होगी तो इस ही उपायसे होगी। परको पर जानकर, निजको स्व समझकर परसे हटें और अपनेमें उपयुक्त होवें। यही उपाय जब भी बन पायगा तो हमारा निर्वाण निकट होगा। तब इसी दृष्टिसे चलें ना अपनेमें। एक दृढ़ निर्णय और संकल्पके साथ चलें तो हमें शान्ति प्राप्त होगी। शान्तिका उपाय किसी परपदार्थका संचय नहीं हो सकता। प्रथम तो परपदार्थोंके संचयकी बुद्धिमें अज्ञानता बसी है और अज्ञानतासे ही क्लेश होता है। फिर दूसरी बात यह है कि परसंचय इच्छानुकूल होता कब है ? ऐसा पुण्य किसीमें भी नहीं बताया गया कि जिस कालमें इच्छा हो उसी कालमें भोगोपभोग योग्य वस्तुकी प्राप्ति हो। क्योंकि यदि भोग उपभोग है तो उसकी इच्छा क्या ? इच्छा किसी बातकी तब ही होती है जब वह वस्तु न हो। हुयेकी इच्छा क्या ? तब इच्छाका स्वरूप ही यह कह रहा कि ऐसा पुण्यवान जगतमें कोई नहीं है जिसकी इच्छाकी तुरन्त पूर्ति हो जाय। बड़े-बड़े चक्रवर्ती पुण्यवान

तीर्थंकर जैसे महापुरुषोंके भी जिस कालमें इच्छा है उसी क्षणमें उसकी पूर्ति नहीं है। अगर इच्छाके विषयभूत पदार्थ हो तो तत्सम्बंधी इच्छा बन नहीं सकती। एक तो यह सिद्धान्तके अनुसार बात कही जा रही है और फिर इच्छाके बाद कितना-ही समय गुजर जाता तब उसकी पूर्ति होती है। तो दुःख मात्र इच्छा है। इच्छाका विनाश कैसे हो? इसका उपाय निकाला—चीजोंको छोड़कर भागना, त्यागना, यद्यपि यह भी एक सहायक है। इच्छाका नोकर्म न रहे तो इच्छाके बननेमें दिक्कत आती है। क्योंकि इच्छाके दूर करनेका यह मौलिक उपाय नहीं है। मौलिक उपाय क्या है? यह विदित हो जाय कि इच्छा तो मेरे स्वरूपमें है ही नही। यह तो विकार है, औपाधिक है। इच्छा बनेगी पर इच्छा मेरे स्वभावमें नही है। मै तो अपने स्वरूपमात्र हूं, अपने आपका-होना,-होते रहना, इतना ही मात्र हूं, इच्छारूप नहीं हूं। केवल एक चेतना चैतन्यप्रतिभास इतना ही मात्र मैं हूं। अविकार चैतन्यस्वभावकी प्रतीति होनेपर और इसको ही अपनानेपर जीवको इच्छा दूर करनेका मार्ग मिलता है। भीतरमें उपयोगकी श्रद्धामे यह बात जब ही बैठ जायगी कि मैं तो विकाररहित, इच्छारहित एक चैतन्य प्रतिभासमात्र हूं, तो इसको न यह इच्छा होगी कि लोग मुझे कुछ समझें, न इस जगतमें बड़ा बननेकी इच्छा होगी कि लोग मुझे कुछ बड़ा जान जायें। उसका तो यह भाव रहेगा कि जैसा यह मैं सहज हूं वैसा ही मैं अपने उपयोगमें रहा करूं इसके अतिरिक्त उसके मौलिक कोई चाह नहीं है। यों तो ज्ञानी पुरुष भी जब तक शरीरमें रह रहा है, गृहस्थीमें बस रहा है, भूख प्यासकी-बाधाओंमें चल रहा है तब तक वह कुछ इसकी ओर भी उपयोग देगा लेकिन श्रद्धामें यही बात समायी रहती है है कि मैं विकाररहित, क्षुधा आदिक दोषोसे रहित, शरीरसे रहित केवल चैतन्यमात्र हूँ।

२४६. निजकी प्रतीतिका बल—निजकी प्रतीतिमें इतना महान बल पड़ा है, उस ज्ञानीमें ऐसा साहस है कि मैं अनादिसे रुलता चला आया तो क्या भव-भवमें बंधे हुए कर्म मेरे साथ लगे हैं? जो ये सारेके सारे संकट एक ज्ञानमात्र दर्शनसे अनुभवसे कट जाते हैं। निर्लेपताका स्वभाव ज्ञानीमें आ जाता है। जैसे स्वर्ण कीचमें भी पड़ा हो तो सुवर्णका स्वभाव कीचड़को अंगेजता नही है अर्थात् स्वर्णमें जंग नही चढ़ती और लोहेमे कीचड़को अंगेजनेका स्वभाव पड़ा है। जरा सी शीतल हवा लगे, कुछ कारणकलाप जुटें कि जंग लग जाती है। तो ज्ञानी जीवमें तो परको अपनानेकी प्रकृति पड़ी है, और ज्ञानी जीवमें परसे दूर हटे रहनेका स्वभाव आ गया है। उसे तो यह लोक अपरिचित विदित होता है। वे ही मनुष्य, वे ही मित्र, वे ही कुटुम्बी जिनमें ये जन्मसे रच-पच रहे थे तब तो बड़ा परिचय मान रहे थे, उसी पुरुषको जब तत्त्वज्ञानका उदय होता है तो उसे ये सब अपरिचितसे लगने लगते है। कहाँ है मेरा कोई, कौन जीव मेरा है? क्या कर सकेगा कोई मेरा? वस्तु-

स्वरूप जब समझमें आया कि यह अभेद्य है, किसी वस्तुका गुण दूसरेमें नहीं पहुंचता, किसी की परिणति दूसरेमें नहीं पहुंचती, तब फिर क्या है ? यह मैं कृतार्थ हूं। मुझे परके करनेमें क्या रखा है ? परमें कुछ किया ही नहीं जा सकता। वैसे तो अनादिकालसे लेकर अब तक भी मैंने परमें कुछ नहीं किया, विकल्प मचता रहा, परको करनेका विकल्प तो करता रहा, पर किसी भी अन्य वस्तुको मैं कर नहीं कर सका। कैसे कर लें ? वस्तुस्वरूप तो अनादिसे ज्योंका त्यों सबमें व्यवस्थित है। तो जब भी ज्ञानका उदय होता है और इस ज्ञानके प्रयोग में, उपयोगमें विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता है तब उसे आत्मा ही प्रिय हो जाता है, अनात्मतत्त्वसे प्रेम नहीं जाता। तब इच्छा कैसे हो ? इच्छा न हुई तो बाधायें सब दूर हो गईं। तो ऐसे जीवका स्वरूप जिस ज्ञानीको अनुभूत हुआ है उसका यह निर्णय है कि रागादिक अध्यवसान भी मेरे नहीं हैं, तब वर्णादिक जिनका कि उपादान पुद्गल हैं वे मेरे कैसे हो सकते हैं ?

२५०. मोहमें इन्द्रिय अनिन्द्रियके दुरुपयोगकी प्रकृति—कुछ भाषाविद्वान लोग मानते हैं यह विश्व प्रकृतिसे रचा गया है। प्रकृतिसे अहंकार, अहंकारसे गण, गणसे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे पञ्चभूत। उनका प्रयोजन क्या है कि यह बताना कि दृश्यमान यह जीव नहीं है। पढ़ लिख कर अधिक ज्ञान बढ़ावें, समझने के साथ मनन करें। अज्ञानी पढ़ लिख कर भी दुःख सहकर भी उन्हींमें फिरसे पड़ जाता है। स्त्री मर गई तो दूसरी शादी करली, फिर भी दोनोंके रहने पर कुछ समय बाद दो में से एक कोई पहले मरणको प्राप्त होगा, उनमें से किसी एक को पहले रोना पड़ेगा। संयोग समागम का फल रोना ही है। ऐसेमें अपना हित नहीं सोचते तो फिर क्या किया जायेगा (अन्तरङ्ग पीड़ाके साथ सचेत करते हुए), शब्द बोलते तो वाक्य बना, वाक्योंके द्वारा एक दूसरेकी भाषा आपसमें समझने लगे। इस जीभसे सत्य वचन बोल लेवे या असत्य वचनोंका प्रयोग कर लेवे। जीभ तो एक ही है। हाथोंसे दान दे लेवे, जिनेन्द्रदेवकी अर्चना कर लेवे या इन्हीं हाथोंसे दूसरेको बांध लेवे। नाक तो व्यर्थकी वस्तु प्रतीत होती है। कितनोंकी तो नाकपर ही झगड़ा चल जाते तथा नाक शूल नकरो उसे हटानेको कोई मनुष्य तैयार हो जाते हैं। नाकके द्वारा सुगन्ध दुर्गन्धके विकल्प जालमें फंसकर कुछ कार्य करनेसे कर्तव्य विमुख हो जाता है। आंखसे सिनेमा, स्त्री पुत्र देख सकता है या शिमला गया तो वायसराय की कोठी देखली। और चाहे तो मन्दिर जावे वहाँ जिनबिम्ब आदिके दर्शन कर ले। कानोंके द्वारा या तो फड़कते हुए गाने सुन सकता है या तत्त्ववार्ता सुन सकता है। जिसके देखने सुनने, चखने, कहने, स्वाद लेने या देने लेनेमें मोह राग द्वेष है उसे कुछ भी अच्छा प्रतीत हुआ यह सब उन इन्द्रियोंका दुरुपयोग करना है। देव शास्त्र, गुरुकी सेवा करने, तत्त्व समझनेमें इन्हीं इन्द्रियोंको संलग्न

किया जाय तो सदुपयोग करना कह सकते हैं; और तात्त्विक बात तो यह है कि सर्वोत्तम तो इन्द्रियोंसे अतीत चैतन्यमात्र की दृष्टि है।

२५१. सुन्दरताकी पोल—जिन्हें कोई सुन्दर कहता है वे सब क्या हैं? सो सुन्दर शब्द स्वयं ही बता देता है। सुन्दर शब्दमें सु + उन्द + अर = सु प्रत्यय है उन्दीक्लेदने धातु है जो भले प्रकारसे तड़फा तड़फा कर दुःख पहुंचावे यह सुन्दर शब्द का अर्थ हुआ। इष्ट समागम मिलनेपर कहता है, बड़ी सुन्दर घड़ी है, मेज है, मकान है अर्थात् उन पदार्थोंके द्वारा खूब तड़फो। पदार्थको इष्ट अनिष्ट माने सुख दुःख होता। यह विकार स्वभावका विस्तार नहीं है। अपना जो चैतन्य है उसका अनुभव किया जाय। होगा वहाँ स्वभाव विस्तार निरुपद्रव तत्त्वको निश्चिन्त होकर अन्तरङ्गमें स्थान दिया जावे, जब तक चित्तमें विकार व विकल्प बहुलता नहीं होती तब तक तो साता व सौम्यता रहती और जब कोई विषयविकृत कल्पना जागी कि साता व सौम्यता विदा माँग लेती, किसी सभामें अगर फलानेचन्द को सभापति बनानेका प्रस्ताव किया जाय तो वह उस पदपर आसीन होकर अनुशासन करने के लिए अकड़ कर बैठेंगे या अति नम्रता दिखावेंगे, यह अन्तर अपने को सभापति माननेसे हुआ है। बच्चा छोटा होनेपर बड़ा होता है, शादी होती है, बाल बच्चों वाला होता है। यौवनमें धनादि कमानेमें दत्तचित्त रहता है। एक व्यक्ति शादीके पूर्व खेलते माँ से माँगकर खाते थे, माँ से उचित विनय करते एवं निर्भीक हो बात करते थे किन्तु शादी होनेपर लड़की वाली माँ के दामाद बन गये, तब खाते समय नहीं नहीं करेंगे भोज्य सामग्री लेने में, ढंगसे बैठेंगे, सीमित बात करेंगे। यह परिवर्तन कहांसे आ गया, पूर्वके रंग ढंग क्यों तबदील हो गये, यह सब विकल्पोंका खेल है। यह बात मनमें आ गई मैं दामाद हूँ वे अपने को कुछसे कुछ अनुभव करने लगते हैं। लेकिन परपदार्थके सुधार करनेका मैं क्या हकदार हूं अपना स्वका हित किया जाय तो संसारसमुद्रसे निकलनेका मार्ग मिले। अन्यथा अनादिकालसे भटकता हुआ मोक्षमार्ग को भूल रहा है। कविकी पंक्ति क्या ही रोचक है। "भ्रमते अनादि काल, भूलो शिव गैलवा"— क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारमें फंस कर मैं अपनी निज स्वरूपकी संपत्ति क्यों गमाऊं? अगर यह विचार पूर्ण रीतिसे बैठ जाय तो कौन जीव अपनेको विषयोंमें फंसाना अच्छा मानेगा?

प्रकरण यह चल रहा है, इन्द्रियाँ जो हैं उनका निर्माण जीवसे नहीं है किन्तु वे पुद्गलसे निर्मित हैं। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यन्त शरीर रचना अपने ही आधीन है। सर्प कुंडली बनाये जंगलमें पड़ा है, वही चलनेके लिए सीधा हो जाता है। तो यहाँ कर्ता कर्म करण वही सर्प हुआ। निश्चयसे कर्म और करण एक होते हैं। सर्पकी कुंडली सर्पके द्वारा ही बनी। पुद्गलसे जो बनेगा वह पुद्गल और जड़ ही रहेगा। जिसके द्वारा जो वस्तु

बनेगी वह उसी रूप रहेगी । सुवर्णके द्वारा बने गहने सुवर्ण ही रहेंगे, उनमें चांदीकी कल्पना नहीं की जा सकती । इसी तरह जीव स्थान हैं ।

एक्कं च दोण्णितिण्णिय चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
वादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदेहिं णिव्वत्ता जवट्ठाणाउ करण भूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गल मईहिं ताहि कत्वं भण्णदे जीवो ॥६६॥

२५२. पुद्गलप्रकृतिसे हुई रचनाओंकी पुद्गलमयता—चौदहके चौदह जीव समास की भी विभिन्न नाम कर्मकी प्रकृतियाँ हैं वादरनाम कर्म, सूक्ष्मनामकर्म, पर्याप्ति नामकर्म, जातिनामकर्म । इनके द्वारा पुद्गलकी रचना होती है, इनके द्वारा बना पुद्गल ही है । दूसरा कर्मोंका कार्य शरीर है । इसपर यह जीव इतना मुग्ध हो रहा है । पुराणों तकमें उनके रूप रंग, हावभाव आदिको लेकर शरीरका भी कितना विचित्र वर्णन जगह-जगह पर किया गया है ? यथार्थमें शरीर मैं नहीं हूं । यह जड़ है । शरीरसे पसीना आता है, बदबूसे युक्त रहता है तब भी इसे अनेक विलेपनोंसे सजाया जाता है । क्या आत्मामें भी पसीना आता है ? जीवमें तो यह वस्तु नहीं है । अथवा भैया शरीरको क्या अपवित्र कहें, अपवित्र तो सचमुच रागादि भाव हैं । जीवमें राग द्वेष मोहकी अपवित्रता नहीं होती तो औदारिक, वैक्रियक शरीर की वर्गणायें बड़ी अच्छी थीं, राग द्वेषसे युक्त जीव बना तो ग्रहणकी हुई वर्गणायें शरीर रूपवत बन गईं, शरीर आदि तो कालकृत हैं । मांस, हड्डी, चर्बी एवं शरीर की धातुएं क्या अपवित्र हैं ? पुद्गलमें इष्ट अनिष्टकी कल्पना करके पवित्र अपवित्र मान लिया है । इसमें सब राग द्वेषका नाता है । इसने ही सब मलियामेट कर दिया है तिसपर भी मोह नहीं छोड़ा जाता ।

२५३. मोह संतप्तका भी मोह छोड़नेमें अनुत्साह—एक वृद्ध पुरुष था, उसके नाती पोते बहुतसे थे । वह सब बुड्ढेको कोई मुक्का मारता, कोई मूंछ पटाता, कोई मलमूत्र भी ऊपर कर देता, अपशब्द कहते आदि । यह कृत्य प्रतिदिन चालू था । वहाँसे एक साधु निकला उसने ठहरकर वृद्धसे कहा क्यों रोते हो ? वृद्ध बोला बच्चे मारते पीटते, गाली बकते हैं । साधुने कहा, यह दुख तो अभी हाल मिट जायगा । वृद्ध बड़ा खुश होकर कहने लगा इससे और अधिक क्या चाहिए "सूर माँगे दो आंखें" । तब साधुजी ने कहा इन सबको छोड़कर हमारे साथ चल दो । इसपर वृद्ध उत्तर देता—साधुजी हमारे वह पोते हैं हम उनके बाबा हैं, मारते जरूर हैं दुःख होता है किन्तु हम उनके मुँहसे बाबा कहना सुनकर खुश भी तो होते हैं । वह हमारे पोते तो नहीं मिट जावेंगे । दूसरा उपाय बताओ । जीवको कितनी आपत्ति लगी है ? जो पदार्थ राग द्वेषका कारण बनता है उसीके प्रति यह अज्ञप्राणी आक-

षित होता है। धन इतना हो गया, इतना और चाहिए इस तरहके विकल्पजाल सदैव बुनता रहता है। इन परपदार्थोंसे न निजी हित सधता है और न बात बनती है। फिर भी उसी कीचड़में लिप्त होना चाहता है। भगवान महावीर स्वामीकी स्तुति करते समय महावीराष्टक में कहा है:—"महामोहातङ्कप्रशमनपराकस्मिकभिषग्। निरापेक्षो बन्धुर्विदितमहिमा मंगलकरः। शरण्यः साधूनां, भवभय भृतामुत्तमगुणो महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥" जो महामोहरूपी आतंकको नष्ट करनेमें आकस्मिक वैद्य हैं, भगवान् महावीर स्वामी एक आकस्मिक वैद्य हैं, निरापेक्षबन्धु है, भवभयधारी साधुवोंको एक शरण्य हैं ऐसे महावीर-स्वामी नेत्रपथगामी रहो। यहाँ प्रभुमें मोह उजाड़ने की विशेषता पहिले कही, वे थे बाल-ब्रह्मचारी याने कुमारवैरागी।

२५४. **कर्मविपाकका विचय**—कदाचित ज्ञान भी हो जाय तो भी मोहकी बात रह जाता है। कोई मौलिक अविरक्त मरते समय कहता है, तुम हमारे कुलकी लाज रखना। राग द्वेष रूपी मोह झटसे पिण्ड नहीं छुड़ाता, अपने आपको अनुभव भी करते हैं फिर भी कहते लाज रखना। परपदार्थको दुःखका कारण जाननेपर तथा अपनी सत्ता स्वतन्त्र अनुभव करनेपर भी परकी परिणतिसे अपना दुःखपरिणमन बनाते हैं। पहलेके भ्रमसे फिर भी भ्रमको प्राप्त होते है। साधु होकर उपशम श्रेणी चढ़कर वीतराग बनकर भी ११वें गुण स्थानमें पहुंच कर भी अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक मिथ्यादृष्टि रहता है। कहाँ ११वें गुण स्थानवर्ती और कहाँ अपन इन दोनोंकी असावधानीमें अन्तर देखो—वे हमसे बहुत उच्च हैं फिर भी हम और आप कितने पर्यायोंसे ऊंचे उठे हुए हैं। यहाँ कोई यह न सोचे कि हम तो धनी हैं, ज्ञानी है, व्रती हैं, हमें अपराध करनेपर भी कुछ सहूलियत मिल जावेगी। यहाँ धनवानोंको दंड मिलनेमें कुछ सहूलियत मिल जाती है। किन्तु क्या वह अधिक पापमय प्रवृत्ति भी करते रहें और उन्हें कम बन्ध होगा? यह नहीं हो सकता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अनादिकालीन है, इसकी बात सबपर एकसी गुजरती, अधिक अपराध करने वाला भी लोकमें तो वह अपराधी माना जानेसे दोषी सिद्ध हो चुका। व्यवहारमें लोक दंड कुछ होता रहे।

२५५. **करनीका फल**—एक जंगलमें फकीर रहता था। वहाँ एक सेठका लड़का सोने हीरा आदिके आभूषण पहने पहुंच गया। उस फकीर साधुकी नियत बिगड़ गई तो उसने लड़केके सब गहने उतार लिए और गला घोंटने लगा। तब बच्चा बोला—साधु जी इतना अन्याय मत करो। साधुने कहा—यहाँ कौन देखता है? तब लड़केने कहा, ये बुलबुले जो उठ रहे हैं पानीके वे तेरे पापकी बातको कह देंगे। साधु हंसने लगा तथा उसकी जीवन की लीला समाप्त कर दी। बड़े आदमीका लड़का होनेसे खोजबीन की गई। कहीं पता

नहीं चला। तब एक खुफिया पुलिस गुप्तचर सिपाही साधुके पास भक्ति दर्शाता हुआ रहने लगा। बड़ा विश्वास जमा लिया। १ वर्ष बाद पानी गिर रहा था और पानीमें बुलबुले उठ रहे थे। उन्हें देखकर साधुको हंसी आ गई तब गुप्तचरने पूछा—आपको हंसी किस कारणसे आ गई है? साधुने सोचा यह एक वर्षसे सेवा कर रहा है बड़ा भक्त है अतः कहनेमें क्या नुक्सान है? साधु ने लड़केको मारने का सर्व वृतान्त कह सुनाया। गुप्तचर ने सूचना पुलिसमें दे दी और साधु पकड़ा गया। कोई सोचे प्रच्छन्न पाप है कौन देखता है? कौन क्या कहेगा, यह सोचना निरर्थक है। क्योंकि सर्वप्रथम तो अपने पापोंको अपनी आत्मा ही देखती है। जो जैसा कर्म करेगा उसे फल नियमसे भोगना पड़ेगा। प्रायःकर प्रत्येक गांव में अपरिचित मनुष्य आदमी कहने लगते—यह फलाना गाँव है यहाँ फूंक फूंक कर पाँव रखना। मानों यह कह कर डराते हैं। यह संसार है इसमें विवेकपूर्ण कार्य करना। जैसी करनी की है उसके अनुसार परिणति बनेगी। आत्माको विकल्पका कारण निरर्थकमें बनाया है। बाह्यपदार्थका संग करना अशांतिका कारण है। यह तो संसार जुवारियोंका निवास है, पुण्यमें हर्ष व पापमें दुःखकी जीतहार है। जुआ खेलनेसे कोई जुआरी हटना चाहे तो दूसरे साथके जुआरी हटने नहीं देते, कहेंगे ऐसे खुदगर्जी हो जीत कर चले। कोई हार जाय तो कहेंगे बस इतना ही दम है सो खेलनेमें फिर जुटा देंगे। वहाँसे हारने व जीतने वाले दोनों नहीं आ पाते जब तक सब तरहसे बर्बाद नहीं हो जाते। प्रत्येक जीव जुवारी है। पुण्यमें जीतना मानता है, पापमें हारना मानता है। पुण्यके फलमें हर्ष और पापके फलमें विषाद करता है। सुख दुःख मानने वाला यह जीव ही है। किसीको मालूम हो जाय कि यहाँसे निकल भागना चाहिए फिर भी अन्य साथी रोक लेते हैं और यह अपने हितसे वंचित रहता है। चींटी चढ़ते चढ़ते छतके गिर गई तो चढ़ना निरर्थक रहा। धर्म करते करते अन्त मरण समयमें बिगड़ गये तब सब प्रयास प्रयोजनभूत नहीं हो पायेगा।

२५६. **कषायके शमनमें धर्मवृत्तिका जागरण**—गुरुवर्य श्रीमद् गणेशप्रसादजी वर्णी कथा सुनाया करते थे। दो भाई थे। उनमें छोटा भाई पूजन करे तथा बड़ा दुकान संभाले। छोटा भाई बड़े भाईसे कहता—तुम न पूजन करो, न अन्य धार्मिक कार्य। तब बड़े भाई ने उत्तर दिया—मेरे भी तो कुछ अच्छे परिणाम होंगे तभी तो तुम्हें पूजन करने की अनुमति दी है। छोटे भैयाके मरनेका समय आया तो बड़े भैयासे बोला ये नन्हें मुन्ने तुम्हारी गोदमें हैं तब बड़े भाईने कहा, अरे बेवकूफ! यही धर्म किया और बोला इस धनमें से जितना दान धर्म करना चाहे कर ले और चाहे सारा धन बच्चोंको लिख दे मैं तो एक कुटीमें ही रह जाऊंगा। इसपर छोटे भाई ने सोचा—धन दानके विकल्पमें क्यों पड़ूं? मेरा तो सच-

मुच आत्मा ही मात्र है। उसने ज्ञान संभाला और बड़े भाईसे समाधिमरणके द्वारा मनुष्य जन्म सफल किया। मोहके शमनमें यही बात रहती है। जो ज्ञानी है उनकी सब क्षणों धर्म में वृत्ति ही रहेगी। इन जड़ पदार्थोंकी रतिमें पांडवों कौरवों को क्या मिला ? राम, रावण के बारेमें आज यह भी नहीं मालूम कि कौनसी लंका थी, कौनसा दंडक बन आदि। संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि वियोगतः। किमन्यैरंगतोऽप्यंगी निःसंगो हि निवर्तते ॥ वियोग होने वालेके संयोगका निश्चय नहीं है। संयोगका वियोग नियमसे होता है। वियोग दुःख का कारण है। संयोगमें जो सुख मानते उसीमें दुःख है। ८ कर्मोका संयोग हो गया तो क्या मिला ? भोगभूमिमें पुरुष स्त्री एक साथ पैदा होते और आयु पर्यन्त भोग भोग कर मरते हैं। किन्तु उन्हें तीसरा स्वर्ग भी नहीं मिलता। दूसरे स्वर्गसे आगे भोगभूमियाँके जीव नहीं जा सकते। जहाँ वियोग है, क्लेश है, उस भूमिके मनुष्य भी दुःख पाते, भूख प्यास यह सब देहके संयोगसे होते हैं। अगर यह कर्म आत्मासे छूट जावें तो सुख ही सुख है। सुख दुःख और आनन्द तीन परणतियाँ हुआ करती है। सुखका अर्थ है इन्द्रियोंको सु माने सुहावना लगे तथा दुःखका अर्थ है यहाँ ख माने इन्द्रियोंको दुः याने बुरा, असुहावना लगे। ये दोनों विकार हैं, आकुलतारूप हैं। परन्तु आनन्द अनाकुलतारूप है। इसका अर्थ है आसमन्तात् ननन्दः आनन्दः। जो सब ओर से समृद्ध बनावे वह आनन्द है। मेरा आनन्द मेरी आत्मामें है। वीतराग प्रभुकी शरण मिल रही यह बड़ा अच्छा सौभाग्य है। पर इसकी रफ्तार बनाना है। यह विज्ञान को बढ़ा कर, रुचिपूर्वक चावसे एवं उत्तम वृत्तिसे धर्म करो।

२५७. आत्माका परमार्थ और व्यवहारस्वरूप—पर्याप्त, अपर्याप्त वादर सूक्ष्म **पुद्गलकी पर्यायें हैं।** यह शास्त्रोंमें कहा है। फिर भी वह भी शास्त्र है, यह भी शास्त्र है। यहाँ निरपेक्ष दृष्टिसे देखो वस्तुस्वरूपमें यहाँ वहाँकी बात न मिलाकर सही लक्षण कहो। एकका उपचार अन्यमें न करके वास्तविक बात बताओ। जीव आनन्दघन है, आनन्दका पुञ्ज है, अपनी शक्तियोंमें तन्मय वादर सूक्ष्मादि देह हैं, इनमें जीवकी संज्ञाका कहना उपचार है। जीवकी बात जीवमें है। पुद्गल और जीवका निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध है। एक अच्छे कुलका लड़का अच्छे आचार विचारसे रहता हुआ कभी कोई खोटी संगतिमें आ गया, तथा उसके बारेमें अनेक चर्चायें चलें तब भी उसके निजीबन्धु कहते हैं, इसमें उसका दोष नहीं है किन्तु अमुक व्यक्तिकी आदतें इसमें आ गई हैं। इसमें न राग है और न द्वेष, संगतिसे जीवमें यह विकार आ गया है। मैं कितना शक्तिशाली हूं, अलौकिक ज्ञानका पुञ्ज हूं, सिद्ध समान हूं। जैसे सिद्धका द्रव्य है, वैसा मेरा भी द्रव्य है। जिन उपायोंके द्वारा वह सिद्ध बने उन्हींसे मैं भी बन सकता हूं। परिणतियां निर्मल बनाऊं तो क्यों नहीं उस उत्कृष्ट

वे सब रास्ता भूल गये। रास्तेमें एक अंधा बैठा था। सिपाही अंधेसे पूछता है, क्यों रे अन्धे ! यहांसे कोई निकला है ? उसने कहा, सिपाही जी नहीं। इसके बाद मंत्री आया, उसने कहा ऐ सूरदास ! इस तरफसे कोई निकला है ? कहा हां, एक सिपाही निकला। दोनोंके बाद राजा आया तो कहता है–सूरदास जी ! यहांसे कोई निकला है ? वह कहता है हाँ राजा जी ! पहले सिपाही निकला था, बादमें मंत्री साहब। जब तीनों मिल गये तो कहा, वह तो अंधा था उसने कैसे बता दिया कि सिपाही व मंत्री निकले हैं। तीनोंने कहा अन्धेसे चलकर पूछना चाहिए। तब उससे कहा—सूरदास जी ! आपने हम तीनों को कैसे पहिचान लिया था ? तो सूरदासने बताया—जिस व्यक्ति ने क्योंरे अन्धे कहा था वह सिपाही था, क्योंकि सिपाहीकी जितनी योग्यता होती है वह उसी तरह बोलेगा। इसके बाद ऐ सूरदास कहने वाले मंत्री थे तथा सूरदास जी कहने वाला राजा था। तीनोंका अनुमान मैंने उनकी बोली बोलने से लगाया है। सफरमें जब एक दूसरेसे बात होती है तो सज्जन, दुर्जन, विद्वान, धनवान आदिका पता चल जाता है। अध्यात्मिक विकासके लिए बोली बड़ी प्रिय व्यवस्थित बोलना चाहिए।

२६१. **भाषाव्यवहार**—बोली जीवका गुण नहीं है। मैं भाषाका कर्ता नहीं, मैं केवल भाव ही कर सकता हूँ। मैं तो आत्मप्रदेश वाला हूं, आत्मा और शरीर एक जगह इकट्ठे हो रहे हैं। भाषा पुद्गलकी वर्गणायें हैं। मुंहमें वायुका संचार होते ही यथा स्थान जीभ, ओंठ, दाँत, तालु चलाने से अक्षर निकलते हैं, जो भाषारूप परिणम जाते हैं। यह मुँह हारमोनियमसे कम कार्य नहीं करता। एक विलायती बाजा आता है जिस का बटन दबाने से अपने अनुकूल भाषा निकाली जा सकती है। उसी तरह अपना जैसा भाव होगा वैसी बात मुंहसे निकलेगी। भावोंका बोलीमें केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। सबको मूल भावका अच्छा बनाना है। भाव अच्छा नहीं बनाया तो बोली अच्छी कैसे निकलेगी ? मनकी कषाय हटानेपर प्रिय वचन मुंहसे निकलेगा। व्यवहारमें भी अच्छा वचन बोलनेसे दूसरोंके द्वारा आदर पाता है। लोकमें परीक्षा भी वचनोंसे होती है। आध्यात्ममें भाव अच्छा बनाया जावे जिससे आत्मोन्नतिके पथपर सुलभतासे पहुंच जाओगे। निर्मल भाव बनानेके लिए किसी से कुछ ऋण नहीं लेना पड़ता, किन्तु वह आत्माकी एक आवाज होती है जो दूसरोंके लिए अपनी मुहर (शील) होती है। इस मुहरका प्रयोग करना वचन बोलने वालेपर निर्भर है। वह चाहे श्रेष्ठ मुहर स्थापित कर लेवे अपनी या भद्दी, प्रिय वचन सब जनोंके लिए अमृतका कार्य देते, जब कि कटु वचन जहरका कार्य करते हैं। जहर तो एक ही समय प्राण हरता है किन्तु खोटा वचन हमेशा खटकता रहता है। भव भव में वैर बाँध लेनेका कारण भी कटु वचन हो जाता है।

२६२. देहविविक्त अन्तस्तत्त्वके आश्रयमें कल्याणलाभ—जो यह देह नामकर्मकी प्रकृतिसे निर्मित हुआ है वह जीव नहीं है। उसी तरह शरीरसंस्थान, संहनन इत्यादि भी पुद्गलमय नाम प्रकृतिसे रचे गये हैं। इससे ये भी जीव नहीं है। जब जीव एक इस शरीरसे मुक्त होता है तो जो तैजस कार्माण सूक्ष्म शरीर है वह अन्य शरीरके ग्रहणका कारण बनता है। अपनेसे अतिरिक्त अन्य भावोंका रहना दुःख व क्लेश है। एक भ्रम ही क्लेश है। जैसे कहा करते हैं 'तिलकी ओट पहाड़'। एक तिलकी ओटमें पहाड़ न दिखे यह कैसे संभव हो सकता है? अगर चक्षुके गोलकमें रहने वाले रत्नके सामने तिल लगा दिया जाय तो पहाड़ नहीं दिखेगा। अज्ञानसे भी यही दशा हो रही है। यह मेरा, यह तेरा——इस तरह नाना बातोंके जाल बनाता है। किन्तु एक जो अपनेसे प्रयोजन है उसे स्मरण नहीं करता। अपनी-अपनी कषायोंके अनुसार जीव परिणम रहे हैं। मेरा कौन सुधार करेगा, इसे भूल चुका। इसका कोई साथी नहीं है। फिर क्यों परपदार्थोंकी ओर आकर्षित होकर भूल रहा है, मेरे लिए संसारसे चाहिए क्या? जिससे मेरा उपयोग मुझमें रमे यह जानकर उसीका आश्रय लेवे। फिर अन्य कोई मेरे बारेमें कुछ भी धारणा बनावे तो मेरी क्या हानि है? अपने आपका बल करके आत्माका आश्रय मिलेगा, कर्मोंको झड़ना ही पड़ेगा, मैं कर्मोंकी निर्जरा करूंगा, मुक्तिके समीप पहुंचूंगा जिसका यह निश्चय हो गया है वह उस तरह ज्ञानके दृढ़ कार्य भी करेगा। जो चक्षुओंसे प्रतीत हो रहा है वह मैं नहीं हूं इन इन्द्रियोंका ज्ञान इन्हीं इन्द्रियोंको नहीं हो पाता। अपनी ही आंख अपनी आंखको नहीं देख पाती, यही बात बाकीकी इन्द्रियोंमें है, अन्यको जानती रहेंगी। मामूली बातोंमें भी बहिर्मुखताका पाठ खेला जा रहा है। अतः बाहरी पदार्थोंमें बुद्धि शीघ्र दौड़ जाती है। इस समय अपनको सब ओरसे मोड़कर चित्त एकाग्र कर अपनेपर दृष्टि जमाई जावे तो भान होगा—मैं क्या हूं?

२६३. ज्ञानीकी ज्ञानदृष्टिकी आकांक्षा——मैं हूं जो परमात्मा है, इस प्रतीतिसे शांति आवेगी। जब तक परपदार्थोंसे रुचि है, लगन है तब तक भगवानका उपदेश है कि संसारसे नहीं छूट सकोगे। आत्मभगवानका आलम्बन मुक्तिका मार्ग है। इस तरहके भी मुनिराज हुए हैं जो तुषमात्र भिन्न मानकर अपने भेद ज्ञानके आलम्बनसे केवलज्ञानी बन गये। यह अमूल्य निधि अपने आप मिल गई किन्तु अपनी ओर झुकाव होना चाहिए। धन वैभव आदिसे क्लेश ही मिलेगा। कदाचित् आयु पूर्ण होनेपर देव हो गये तो वहां भी परपदार्थोंमें रुलना होगा। देवांगना मिली, अनेक भोगोपभोग सामग्री मिली तथा अ.नेसे वैभव युक्त देवोंको देखकर ईर्षाकी, अग्निमें जलता रहा, वहांसे भी कूंचकर जाना होगा। लेकिन एक निज ज्ञानस्वरूपको नहीं भूले। एक निजका आनन्द रहा तो सर्वश्रेष्ठ है। इसको छोड़

करोड़ोंकी संपत्ति भी मिली तो उस वैभवसे शान्ति तो आ नहीं सकती। किन्तु निज स्वरूप पर दृष्टि रहे तो दरिद्र होते हुए भी श्रेष्ठ है। सब संसारी जीव शरीरसे बंधे हुए हैं किन्तु अनुभव शरीर रूप नहीं होवे उसमें राग न रहे। ऐसा हे आत्मन्! भगवान सिद्धके समान बड़ी प्रभुता वाला, बड़ा साम्राज्य वाला अपनेको अन्य अन्य रूप अनुभव कर लेनेसे बन्धनमें पड़ा है। भगवानका नाम नहीं छूटे। मरण समयमें भी 'जिन' ऐसे दो अक्षरोंका स्मरण रहे। भगवान की उपासनामें जिनके स्वरूपका और निजके स्वरूपका स्मरण रहे, यह ज्ञानी जीव चाहता है। देह जीव नहीं है, देह पौद्गलिक है। जिसके द्वारा यह रचा जाता है वह उसी रूप होता है। सोने या लोहेसे बना पदार्थ उसी रूप होता, नाम प्रकृतियोंसे निर्मित यह देह उसी रूप जड़ होता। चांदीकी तलवारको सोने रूप देखते हैं क्या? यह सब नाम प्रकृतिसे रचा गया है। यह सब वर्णोंका समूह पुद्गलोंका एक मंडन है। यह पुद्गल है सो पुद्गल ही रहेगा। शरीर रूप रस गंध वर्णसे युक्त है वह आत्मा नहीं है। आत्मा पुद्गल से नहीं रचा है। आत्मा आत्मा है। शरीर माने बदमाश। यह अनेक कल्पनाजालोंको बिछा दुःखी होता है। मोही जीव अपने अधिष्ठित शरीरसे भारी मोह करता है, किन्तु निकट समयमें छोड़कर जाना होगा और शरीर यहीं जला दिया जायगा। आत्माको शरीरसे जुदा समझाते रहें यही तो एक मित्र है।

२६४. परमें इष्टत्व अनिष्टत्वका अभाव—दुनियावी मित्र तो ऐसे हैं कि जिसकी कषायसे मेल खा गया सो मित्र हो गये। एक लड़केका सिनेमा देखनेका भाव हुआ, पड़ौसी के लड़केको भी साथ लेकर दोनों हाथ मिलाकर बातें करते हुए पहुंचते हैं, यहां समान कषाय भाव था तो मित्र हो गये, किसीकी इच्छाके विपरीत चले तो शत्रु ही होगा तो मित्रता यह है जिसकी कषायसे कषाय मिल जाय। धर्ममें भी दूसरोंकी देखादेखी रहती है, मैं भी उसके समान धर्म करूं—यहाँ भी कषाय समान मिलाई गई। मेरा तो कोई मित्र है नहीं, यहाँ तो परिणतियोंने मित्र शत्रु बना डाला। अपनेसे विपरीत प्रतीत होने या कल्पना में शत्रु बन गया। शिकार खेलने वाले जंगलमें जावें और वहाँ साधु मिल जाय तो वहाँ

पत्तल परोसकर भोजन परोसा। तब वह व्यक्ति लड्डू उठाकर टोपसे कहे—ले टोप खाले, हे कमीज ले तू यह बर्फी खाले, पेन्ट ले तू भी खाले। यह देख दूसरे मनुष्योंने कहा, भाई यह क्या कर रहे हो? वह व्यक्ति कहता है आप लोगोंने जिसको आदर सत्कारसे बुलाया उसे खिला रहा हूं। आपने तो कपड़ोंका आदर किया है। मुझे तो आपने नहीं पूछा था, मैं तो कल भी यहांसे गुजरा था आप लोगोंने बात भी नहीं की। यहां भी भैया ऐसा हाल है। चैतन्य मात्र जीवकी खबर कौन लेता है? सब पूंछपांछ इन देहोंकी हो रही है। हां इतनी बात है कि जीवके रहते हुए देहोंकी हो रही सो वहां भी तो मनुष्यके होते हुये कपड़ोंकी पूंछ हो रही थी। खाली कपड़ोंको कौन ऐसा कहता? मैं अपनेपर क्यों प्रभाव रहने दूं यह सब कर्मकृत ठाठ है। मैं अपने आपको न इसमें फंसाऊ यही भाव निश्चयसे मित्र है। जिस जानकारीमें चल रहा हूं वह भी मेरा मित्र नहीं है, न मैं हूं। मैं एक अनादि अनन्त चेतना तत्त्व हूं। अपनेको उपयोगमें लगावे तो सब झगड़े मिट जावेंगे। यदि संग न भी छोड़ सके तो वास्तविकता तो जानता रहे। वहां भी अपनेको खेदके साथ कोई बोले तो विषाद होता है तो वह आगे भी बढ़ता है, मात्र शुष्क ज्ञानसे कुछ नहीं होगा। अन्य मतावलम्बियों ने कहा ईश्वरने ऐसा किया है। अपने यहां कहते चारित्रमोहनीयका फल है। घरमें रहना, मन्दिरमें आना, कुटुम्बियोंसे स्नेह करना, बोलना आदि आत्माका गुण नहीं है। भीतरके परिणामोंको तो स्वयं संभाल नहीं सकता दूसरोंका बाहरमें क्या हित करेगा?

२६५. जीव समासोंकी पुद्गलमयता—जब जीव केवल चित् शक्तिमात्र है तो क्या सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ कि एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीव वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त अपर्याप्त ये सबके सब पुद्गलमय प्रकृतिसे रचे हुए हैं। नामकर्मकी प्रकृतियों के भी ऐसे ही नाम हैं। एकेन्द्रिय आदिक ५ जाति नामकर्म हैं। वादरसूक्ष्म नाम के नामकर्म हैं। पर्याप्त अपर्याप्त नामक नामकर्म है। इसका विपाककाल आये, जब जीव इससे निवृत्त रचा गया तो ये समस्त जीवसमास पुद्गलमय प्रकृतियोंसे रचे गए हैं। ये जीव कैसे कहे जा सकते हैं? जो यह ढांचा दिख रहा है पंचेन्द्रिय जातिके रूपमें, यद्यपि जीवका सम्बन्ध है तब इन कर्म प्रकृतियोंके उदयमें ऐसी रचना हुई। लेकिन जहां जीवका स्वरूप ही चैतन्यशक्तिमात्र निरखा गया। उसकी दृष्टिमें तो यह सबका सब पुद्गलमय प्रकृतियोंसे रचा गया आना चाहिये। निर्णयके समय परस्परका सम्बन्ध सहयोग निमित्त-नैमित्तिक भाव सबका विवरण चला है, किन्तु जहां परमहितकी दृष्टिकी बड़ी तैयारी बन रही हो तो वह ऐसे निर्णयके बाद तैयारीमें आया है। अब इस समय चैतन्य शक्तिमात्र जीवस्वरूपको निरखकर सर्व उद्यमोंसे उस चित्स्वरूपमें समाये रहनेकी धुन बनाये हुए है। उसकी दृष्टिमें ये सब अजीव हैं। जिसे हम पहिले जीवरूपसे पहिचानते आये हैं और उस

प्रथम अवस्थामें उपाय भी यही है कि हम जान जायें कि यह एकेन्द्रिय जीव है, यह दोइन्द्रिय जीव है, यह तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदि जीव हैं, यह हम समझ जायें, यह ठीक है, किन्तु जीवमात्र, विशुद्ध जीव अपने ही सत्त्वके कारण सहज जैसा है वैसा ही दृष्टिमें ले करके जब देखते हैं तो ये सब मैं जीव नहीं हूं।

२६६. विशुद्ध अन्तर्दृष्टिसे अध्यात्मप्रवेशका उद्यम—यह ज्ञानी विशुद्ध अन्तर्दृष्टिसे अध्यात्मस्वरूपमें प्रवेश करना चाह रहा है। निश्चयसे कर्म और करण अभिन्न होते हैं। जो जिसके द्वारा किया गया वह वही है। स्वर्णसे बनता स्वर्णत्व। तो यह जीवस्थान वादर सूक्ष्म इन्द्रिय जाति पर्याप्त अपर्याप्त यह पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा किया गया है। सो ये सब पुद्गल है जीव नहीं। कैसा विशुद्ध उद्देश्य है? यदि ऐसी असाधारण तैयारी नहीं है आत्मस्वरूपमें बसनेकी, व्यवहारी हैं, वहां यह बात कहना कि ये सब अजीव हैं तो उससे वे ऐसी परिणति करेंगे कि मारो, पीटो, कतरो छेदो, क्या हैं? अजीव हैं सब। इनका क्या बिगाड़? तो बड़ी सावधानीके साथ यह समझना है यहां कि किस आशयमें ज्ञानीकी कैसी दृष्टि बन रही है जहां कि जीव स्वरूप बताया जा रहा है। अध्यात्ममें निर्विकल्परूपसे ठहरनेकी धुन है और वहां जीवस्वरूप निरख रहा है वह है एक चैतन्यशक्तिमात्र। तब उससे अतिरिक्त भिन्न जो जो कुछ हैं वे सब जीव नहीं हैं। तो वर्ण जीवके नहीं। तो सभी बातें लगा लीजिये, रस गंध आदिक, शरीर आकार संहनन आदिक ये सब पुद्गलमय नाम प्रकृतिसे रचे गए हैं सो पौद्गलिक हैं। आत्मा तो इन सबसे निराला विज्ञानघन है। जिसमें केवलज्ञान जानन ज़ानन ही स्वरूप पाया जाता है। जीव तो वह है, इस प्रकार यह ज्ञानी विशुद्ध जीव स्वरूपकी ओर आना चाह रहा है। उसके अतिरिक्त सबको अजीव कह कर उनसे हटकर आ रहा है।

२६७. ज्ञानमात्र अनुभवनका प्रथम उपाय—हम आप जीवोंके लिए स्वानुभव ही एक परम शरणभूत है। स्वानुभवका अर्थ है जैसा सहज यह मैं स्व हूं, स्वयं हूं उस प्रकारसे अपनेको अनुभवना सो स्वानुभव है। हम आप उपयोग स्वरूप हैं। कहीं न कहीं उपयोग चलता है। कहीं न कहीं उपयोग रम रहा है। वहां यह विवेक करना है कि यह उपयोग कहाँ रमायें कि जिससे अशान्ति न हो। जब विवेकपूर्वक इसका निर्णय करने चलेंगे तो एक मूल कुञ्जीसे यह निर्णय बन जायगा कि मेरा उपयोग यदि किसी अनुपयोगका विचार करेगा अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप नहीं है, मेरेसे विपरीत है, उसका यदि मैं चिन्तन करूंगा तो वहाँ मेल न बैठेगा। जाननेवाला हूं मैं ज्ञानस्वरूप और जाननेमें लगा दिया इसको किसी उन अज्ञान पदार्थोंमें, अज्ञान भावोंमें तो वहाँ इस जानने वालेका मेल नहीं बैठा। विपरीत जानने लगा तो वहाँ टिकाव नहीं बन सकता और पदपर अनेक कल्पनायें उठती हैं, उससे

अशान्ति रहती है। उद्यम यह करना है कि यह मैं उपयोग ज्ञानस्वरूप हूं, सो उस ज्ञान स्वरूप निजके स्वरूपको जाननेमें लगें। यह बात कैसे बनेगी? इसका सीधा उपाय तो यही है कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका जो स्वरूप है उसको सीधा जानने लग जायें। केवल जानन एक प्रतिभास जो कुछ भी है उसको जाननेमें लग जायें तो ज्ञानमात्र अनुभवनका यह सीधा उपाय है।

२६८. **ज्ञानमात्र अनुभवनका निकटवर्ती द्वितीय उपाय**—जो ज्ञानमात्र अनुभवनके सीधे उपायको कठिन समझें उनके लिए एक सरल उपाय यह भी है कि इतना तो अपना परिचय बना लें कि मुझमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। भीतर रहने वाला जो यह मैं हूं उस जाननहार चैतन्यका क्या स्वरूप है? एक प्रतिभास मात्र, जिसमें कोई तरंगें नहीं उठती, इष्ट अनिष्टकी कल्पनायें, रागादिकके कोई विकार नहीं चलते, ऐसा मैं केवल प्रतिभासमात्र हूं। वही ज्ञानका स्वरूप है। तो अब इस प्रतिभासमात्र ज्ञानके स्वरूपके जाननेमें लग जायें यह तो सीधा उपाय है ही, लेकिन इसे जो कठिन समझें उनके लिए एक उसके निकटवर्ती सरल उपाय यह है कि मैं अपनेको चिन्तन करने लगूं कि मैं अमूर्त हूं, मेरेमें रूप, रस, गंध, स्पर्शादिक नहीं। अमूर्त अन्य पदार्थोंमें एक आकाशका कुछ अंदाजा रहता है क्योंकि यह पोल जो कुछ यहाँ समझमें आ रहा है उतना स्पष्ट और कोई द्रव्य समझमें नहीं आता। यद्यपि वस्तुतः अमूर्त आकाश भी इन्द्रियगम्य नहीं है फिर भी अन्य अमूर्त पदार्थोंमें से आकाशके प्रति लोगों की ज्यादह समझ बन रही है। आकाशमें कहाँ हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श? तो आकाशकी भाँति रूपादिकसे रहित अमूर्त मैं आत्मा हूं। यह अमूर्त है इसी कारण इसमें किसीका लेप नहीं; इसमें कोई भिड़ा नहीं, केवल यह अमूर्त है। ऐसा अमूर्त स्वरूप यदि लगनके साथ ध्यानमें आये तो चूंकि अन्य विकल्प नहीं रहे, ऐसी स्थिति में अमूर्त मात्र निरखने के द्वारसे इस ज्ञानस्वरूप उपयोगको ज्ञानमात्र स्वके दर्शन करनेका अवसर मिल जायगा। और निकटवर्ती दूसरा उपाय यह है कि अपने को सच्चाईके साथ अमूर्त निर्लेप ध्यानमें लाइयेगा।

२६९. **ज्ञानमात्र अनुभवनका निकटवर्ती तृतीय उपाय**—निज अमूर्तत्वदर्शनका उपाय यदि कठिन प्रतीत हो तो तीसरा उपाय यह हो सकेगा कि समझ लेना कि विकल्प करते करते अब तक परेशान हो गए, थक गए, मिला जुला कुछ नहीं। ये बाह्य पुद्गल बाह्य ही है, इनका कोई अंश मेरेमें आया नहीं, इन परपदार्थोंसे मेरा कुछ बना नहीं, केवल इनका विकल्प करके अपनेको क्लेशमें डाला। थे सब निराले भिन्न। इनपर मेरा कुछ वश नहीं। मैं इनके बीच रहकर विकल्प करके केवल आकुलता पाता हूं। इतनी समझ बननेके बाद फिर भीतरमें ऐसा संकल्प और उत्साह बनायें कि किसी भी परद्रव्यसे

कुछ नहीं सोचना है। पर पर ही है, भिन्न है, उसमें आत्महित नहीं है। मुझे किसी भी परतत्त्वका चिन्तन नहीं करना है। जिसे तो मैं जान नहीं रहा, न समीप जान रहा, पर ये समस्त परपदार्थ मेरे लिए अनर्थके ही कारण बन रहे हैं, ऐसी मोटी समझके बल पर ऐसा आग्रह करें कि मुझे किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करना। यद्यपि कुछ न कुछ चिन्तन किये बिना रहा न जायगा। कुछ न कुछ आयेगा ही, लेकिन ये विकल्प बढ़ाने वाले विकल्पके हेतुभूत बाह्य अर्थ उपयोगमें न रहें, यह बात बन सकेगी। तो जब सब परका चिन्तन छोड़ दिया। बुद्धिपूर्वक कुछ भी विचार नहीं चल रहा तो ऐसी हालतमें चूंकि यह उपयोग ज्ञानस्वरूप है, यह आत्मतत्त्व ज्ञानमय है सो उपयोग इस ज्ञानमयका आश्रय छोड़कर तो रह सकेगा नहीं। उस स्थितिमें जब कि समस्त परका चिन्तन बन्द कर दिया है, ज्ञानमात्र स्वकी झलक वहाँ आयेगी। ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवनेका एक यह भी तरीका है।

२७०. ज्ञानमात्र अनुभवनका निकटवर्ती चतुर्थ उपाय--उक्त उपाय भी कठिन जंचे तो अब एक चौथे तरीकेपर चलकर देखना। जो आत्मा समस्त उपाधियों से रहित है, समस्त अवगुणोंसे तथा विकल्पोंसे रहित है, जिसका चैतन्यस्वरूप पूर्ण विकसित हो गया है ऐसे सिद्ध भगवानके स्वरूपका ध्यान करने लगें। अन्तः जो सिद्ध प्रभुका स्वरूप है आत्मामें, वही स्वरूप अरहंतका है। अरहंतके अन्तःस्वरूपका ध्यान करनेमें भी वही फल है जो सिद्ध प्रभुके स्वरूपके ध्यान करनेका फल है। हाँ थोड़ा अरहंत स्वरूपके विचारके समय बाह्य परिकरपर दृष्टि जायगी तो सिद्ध स्मरणके समान उत्कृष्टता न रह सकेगी, इसलिए बहिरङ्ग वैभवको ध्यानमें न रखकर प्रभुके अन्तरङ्ग विकासको ध्यानमें लीजिये। अहो! ज्ञानघन है प्रभु। ज्ञान ही ज्ञान जहाँ बर्त रहा है, उसके बीच अज्ञानका रंच अवकाश नहीं है। कैसा अनन्त आनन्दमय प्रभु हैं, जिनका उपयोग ज्ञानस्वरूपमें ही बना रहता है। त्रिकाल अनन्तकाल उस स्वरूपमें आकुलताका क्या काम है? जहां आकुलता नहीं वहां अनन्त आनन्द है। ऐसा अनन्त आनन्दमय, सिद्ध प्रभुका स्वरूप ध्यानमें लाइये। ज्ञान

अध्यात्म प्रयत्नके सिवाय कोई यत्न ऐसा नहीं है कि हम अपनेको शान्त अनुभव कर सकें। इसीका साधक है आकिञ्चन्यभाव। मेरे स्वरूपके सिवाय जहां अन्य कुछ भी नहीं है यह बात निरखनेका नाम है आकिञ्चन्यभाव। लोकमें इन समस्त पदार्थोंकी सत्ता अब तक बन रही है, यह इसी बलपर बन रही है कि किसी भी एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इनके परिणमन नहीं होते। कितना भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध हो, कहीं जंचता है कि प्रेरणारूप निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। उस दशा तकमें तो कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका प्रदेश गुण और परिणमन ग्रहण नहीं कर पाता। मान लो दो पहलवानोंकी कुश्ती हो रही है। तो उसमें तो बड़ी प्रेरणा चल रही है। हाथ पकड़कर, कमर पकड़कर एक दूसरेको घुमा दे, कैसी ही हलन चलन क्रिया करा दे, इससे और बढ़कर प्रेरणाका क्या उदाहरण होगा? अथवा कुम्हार जब घड़ा बनाता है तो मिट्टीपर कैसा दबाव डालता है, जहां चाहे मरोड़ देता है, उस चाकपर रखी हुई मिट्टीमें जिस जिस प्रकार का हाथका व्यापार करता उस उस प्रकारका आकार बन जाता है। प्रेरणाका इससे और बड़ा क्या उदाहरण हो, पर उस प्रेरणाकी दशामें भी कुम्हारके शरीरको यहां कुम्हार समझकर, वहां ही दृष्टि दें कि वह अपने हाथमें क्या कर रहा है? वह अपने हाथमें हाथका ही व्यापार कर रहा है। उसके हाथसे मिट्टी अलग है, हाथमें मिट्टी नहीं गई, मिट्टीमें हाथ नहीं गया। आप कहेंगे कि गीली मिट्टीमें हाथ तो धंस जाता है, धंस जावे, तब भी मिट्टीके कणमें हाथका प्रवेश नहीं है। यों कुम्हार शरीरमें कुम्हारकी चेष्टाको निरखनेपर यह समझ में आ जाता है कि ऐसी समझ वाली दशामें भी कुम्हारने अपने आपमें परिणमन किया, और वहां उस संयोगमें प्राप्त हुई मिट्टीने ऐसे प्रेरक निमित्तका सन्निधान पाकर अपनेमें अपना आकार बनाया। तो वस्तुका स्वरूप सूक्ष्मदृष्टिसे निरखनेपर स्वतंत्र विदित होता है। जिसको ऐसे वस्तुस्वरूपका परिचय हुआ है उस ज्ञानी पुरुषको अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करनेके लिए क्या करना है? इन उपायोंकी चर्चा चल रही है। हम जिस किसी भी प्रकार समस्त परसे निराला रागादिक भावोंसे भी निराला केवल ज्ञानमात्र अपनेको तक सकेंगे तो हम अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव तक सकेंगे।

२७२. ज्ञानमात्र अनुभवनका अनुरोध—हमने बहुत अनुभव किये, अनेक प्रकारके अनुभवन किये, लेकिन यह तो देखो कि उन अनुभवनोंसे हमें शान्ति मिली अथवा नहीं। नहीं मिली। एक बार अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवनेका यत्न तो करिये, ऐसा अनुभव होनेपर शान्ति अवश्य मिलेगी, इसमें तो कोई संदेह नहीं रहा कि अपनेको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभवें तो वहां विकल्प और अशान्ति नहीं है। इन उपायोंमें ही यह वस्तुस्वरूपकी स्वतंत्रताकी बात चल रही है। निर्णय यद्यपि अनेक दिये हैं पर हमको इस समय एक ज्ञानमात्र स्वरूप

के अनुभवनकी धुन लगी है, हम विविध निर्णयोंकी ओर उपयोग न लगावें। एक सामान्य निर्णयसे इतना ही समझकर कि मुझमें परसे कुछ यहां आता नहीं, मेरा परमें कुछ जाता नहीं, निमित्तनैमित्तिक सम्बंध यद्यपि बराबर है, इतनेपर भी प्रत्येक पदार्थके निज निज स्वरूपको निरखकर पहिचानेंगे कि किसी भी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ तादात्म्य नहीं है, सम्बंध नहीं है, इसी कारण अब तक लोकमें इन सब पदार्थोंकी बराबर सत्ता बनी हुई है। जब यहां अध्यात्महितके प्रकरणमें यह बात चल रही है कि आत्मा एक विज्ञानघन है तो फिर ये सारी बातें, ये पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव, सूक्ष्म जीव, वादर जीव, ये जो नाना प्रकारके जीव नजर आ रहे, यह क्या बात है ? उसके उत्तरमें यह गाथा आयी है।

२७३. विशुद्धानन्दके अनुभवसे आत्माभिमुखताकी परीक्षा—एकाकी आत्माकी ओर हम कितने झुक रहे हैं इसका चिन्ह यही है, जितने-जितने आत्मतत्त्वमें आते जायेंगे उतने-उतने बाहरी तत्त्वोंसे उपेक्षा करते जायेंगे। जिसमें चिन्ता नहीं उसका एक बार अनुभव हो पावे तथा यह अमृतका स्वाद यथाविधि बैठ जावे तब क्यों सदैव परपदार्थों की परिणमन की सोचा करूंगा या उनसे मेरा हित होता है इसे असत्य मानकर पुनः क्यों फंसूगा एवं रुलूंगा ? भैया कागजी सीख पर ही तो कोई गुण आ नहीं जायेगा। अभी देखो हिन्दुस्तान, पाकिस्तान बना। उस समय बेचारे पाकिस्तानी विदेशियोंके सिखाये बोल रहे, पाकिस्तानियोंको सीख सिखानेपर भी वह कब तक अपनी बात निभावेंगे। जब तक सिखाने वालोंका पूरा कब्जा नहीं होता तब तक कुछ पूछ भी रहे हैं। उसी तरह हम सिखाये पूत बन रहे हैं। स्तुति, पूजा न भक्ति, दान, स्वाध्याय, सामायिक सब सिखाये पूतकी बातें हैं। जो दूसरे करते आये उसे ही हम करते हैं। लेकिन हमारे अनुभवकी लाभकी बात हो तो उसे क्यों नहीं समझेंगे ? आत्मीय आनन्द अनुभवमें आ जावे तो वह भूलेगा नहीं, वह तो अपने अनुकूल ही कार्य करेगा। यह उद्यम करना जीवनमें उस आनन्दकी झलक है जो सिद्ध परमात्माको मिलता है। इस आनन्दके लिए उसे सबसे चित्त हटाना होगा। वो आनन्द पूजनमें भी नहीं मिलेगा जो मर्म की चीज भीतर उपयोगमें मिलेगी। इस लिए बाह्य पदार्थोंका समागम रुचिमें न बढ़ावें। सब कुछ किया और प्रवृत्ति विपरीत (उल्टी) ही रखी तो कैसे आत्माका कार्य सिद्ध होगा ? २४ घंटेमें १५ मिनट भी तो ऐसी चेष्टा करें जो सांसारिक कार्योंसे ऊब कर अपने मनकी स्थितिको एकाग्र करें। ऊबे हुए तो सभी हैं किन्तु ऊब चुकने से परपदार्थको चित्तमें नहीं लावे, उनसे कोई सुख नहीं है और न आज तक मिला है यह दृढ़ प्रतीति करे, झूठे विकल्पजालोंसे उनमें फंस रहा हूं यह अनुभव पूर्णतया हो जावे तो उस ज्योतिका अनुभव होगा जो ज्योति कभी नहीं जगी। यह बात बन जावे तो सब कुछ बन जावे, यही सबका सार है। जीवनका मधुर स्वाद जो कभी नहीं

मिला, तृष्णा अग्नि कभी शांत नहीं हुई। वह तृष्णा यहां आकर विराम (शान्ति) पावेगी। शम्।

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्तो ॥६७॥

२७४. व्यवहृत देहसम्बन्धकी उलझनोंसे आत्मवञ्चना—पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, वादर जीव इस प्रकार देहकी जीवसंज्ञा ग्रथोंमें कही है वह सव व्यवहारसे है ऐसा जिनेन्द्र देवकेके शासनमें कहा गया है। जो तुम्हें ये वर्णादिक दिख रहे हैं, वे जीवसे न्यारे हैं। चेतना युक्त जीव है, वह तो शरीरसे प्रकट भिन्न है किन्तु अनादिसे सम्बन्ध लगा होनेसे परमें आपा बुद्धि शीघ्र रुक जाती है। जब किसी व्यक्तिको सिरमें दर्द या और कोई असाध्य रोग हो जाय तो अनेक इलाजोंसे तथा और सब भाई स्त्री पुत्रादिकी सहानुभूतिसे भी अच्छा नहीं होता, तब यकायक विचार पैदा होता है "कोई भी पदार्थ किसीका सहायक नहीं। मेरी प्रत्येक जन्म संततिकी भूल मुझे परेशान कर रही है।" तब यह तथ्य भिदता है कि संसार असार है। आज तक अपने को आनन्दस्वरूप अनुभव नहीं किया। मुझे यहां करनेको क्या बाकी रह गया जिससे पुनः पुनः इन्हीं उलझनोंमें फंसता रहता हूं। ये उलझनें मुझे निकालती तो हैं नहीं। सोचता यह है, इस कार्य को, इस कार्य को करके अब अन्तिम सुखकी सांस पाऊंगा। किन्तु वह सुखकी सांस तो दूर रही, पहलेसे ज्यादा जाल और तैयार हो जाते हैं, जहां यह धुन सवार होती है। अब किस जालमें पहले जाऊं किसमें पहले जाऊं, इसीकी धुनमें इस विनाशीक शरीरको नष्ट होनेका साज सामान ही मौजूद है। अब तो आत्मिक कल्याणसे भी वंचित हो गये। इसी तरह प्रत्येक प्राणीका पदार्थका परिणमन तो हो होता ही रहेगा। मैं या तुम नहीं थे तब भी दुनियांके कार्य चालू थे और आगे नहीं भी रहेंगे तो भी चालू रहेंगे। लेकिन हम यह सोचें मेरे द्वारा यह कार्य हो रहा है, या होगा सो भ्रम है। कार्य तो अपनी आत्माका करना है जो कि ज्ञानमय है। परमें बुद्धि तो व्यवहारसे है।

२७५. एकेन्द्रियादिक भवोंमें जीवके व्यवहारका कारण—जैसे घड़ा मिट्टीका होता है, घी का घड़ा नहीं होता। जैसे मिट्टीसे घड़ा बनता है क्या उस प्रकार घी से घड़ा बनता है? नहीं बन सकता। जाड़ेके दिनोंमें कोई आकार बना भी दे तो उसका अर्थ क्या? कोई उसमें अर्थ क्रिया हो सकती है क्या? तो जैसे मिट्टीके घड़ेमें घी रखा रहता है तो लोग उस घड़ेका परकी प्रसिद्धिसे व्यवहार किया करते हैं। घीका घड़ा उठा लावो, पानीका लोटा ले आवो। तो जैसे किसी सम्बंधके कारण परप्रसिद्धिसे घी का घड़ा है ऐसा व्यवहार चलता है, इसी तरह वादर जीव, सूक्ष्मजीव, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय,

तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त अपर्याप्त ये सब हैं शरीरकी संज्ञायें, पर आगममें जो जीव संज्ञाके रूपसे बताया गया है उसमें थोड़ासा प्रयोजन है, थोड़ा-सा सम्बंध है तब परप्रसिद्धिसे अर्थात् शरीरकी प्रसिद्धिसे जीवकी प्रसिद्धि करायी जाती है। और उस समय तो खास करके जिसको जीवका स्वरूप समझाना है, जीवका स्वरूप जानता नहीं है तो उसको तो इस ही भाषाका सहारा लिया जायगा कि देखो जो ये एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं ना उनमें वास्तवमें जीव स्वरूप तो एक शुद्ध चैतन्य है। जीवस्वरूपके परमार्थ स्वरूपकी बात पीछे कही जा सकेगी, पर पहिले व्यवहार वाली बातका प्रयोग करना पड़ेगा। जैसे जिस बच्चेको समझ नहीं है कि यह मिट्टीका घड़ा है, वह शुरूसे ही सुनता आया घीका घड़ा तो उसे जब समझाने चलेंगे तो यहींसे प्रारम्भ करेंगे कि देखो जी जो यह घी का घड़ा है सो वास्तवमें घीका नहीं है, मिट्टीका है। इसमें घी भरा रहता है इस कारण कहने लगे। तो परमार्थ उपदेश देनेसे पहिले व्यवहारका प्रयोग करना पड़ता है। तो यह भी प्रयोजन र ा, उससे इन सब पर्यायोंमें जीवपनेका व्यवहार है। देखिये लक्ष्य समझना है, हमारे इस कथनका लक्ष्य क्या है? मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्व-रूप जीवको जानूं, उसमें ही रहूं और उस ही में रमकर आत्मकल्याण करूं, ऐसी इच्छा रखने वाले पुरुषोंको जीवका विशुद्ध स्वरूप जानना होगा। इसी लक्ष्यसे यहाँ जीवस्वरूप बताया है कि जिसका सर्वस्वसार चैतन्य शक्तिसे व्याप रहा है उतना ही मात्र मैं जीव हूं। ऐसा जाननेपर, यहाँ ही उपयोग टिकनेपर उसे स्वानुभव होगा, और स्वानुभवसे ही इस जीवकी रक्षा है। यही स्वानुभव सर्वसंकटोंसे उद्धार करने वाला है।

२७६. परमार्थके सम्बन्धमें उपचरित व्यवहारकी रेखा—एक बटलोईमें पानी भरा होनेसे उसे अग्निपर चढ़ा देते हैं, तो बटलोई गर्म हुई, उसीके सम्बन्धसे पानी गरम हो जाता है। यहाँ क्या आग बटलोईमें चली गई या पानीमें? अज्ञानी यही समझेगा आग पहुंच गई या आगकी पर्याय पहुंच गई? वहां तो केवल निमित्त पाकर बटलोई गर्म हुई और उसी अग्निके निमित्तसे पानी गर्म हो गया। कुकरमें भोजन पकाते हैं। पानी नीचे रहता है, उसके निमित्तसे ऊपरके सभी पात्र गर्म होकर भोजन तैयार हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ निमित्त पाकर ऐसा ही करता है। लाइट जलनेसे बिजलीका उजाला होता है। यहां उजाला क्या यह बिजलीका है? नहीं। वहां बिजलीका निमित्त पाकर अन्य स्कन्ध भी प्रकाशरूप हो गये। इस देहपर जो उजाला है वह देहका है, पुस्तकपर उजाला पुस्तकका है तथा अन्य पदार्थो परका उजाला उन्हींका है। केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। उसी तरह जीव, जीव ही है। शरीर, शरीर ही है। कहते हैं घीका घड़ा लाओ। किन्तु घड़ा मिट्टीका है। घी के निमित्तसे ऐसा व्यवहार होता है।

वादर सूक्ष्म शरीर भी जीव नहीं है। राग द्वेष भी जीव नहीं। राग द्वेषसे क्रोध, मान, माया, लोभ पैदा होते हैं जीवकी विकृत पर्याय पुद्गल और जीवके मिलनेसे बनती है। तीनों जगह (वादर, सूक्ष्म शरीर, और राग द्वेषमें) जीव नहीं है। उसके लिए ६८ वीं गाथा है। जो ये गुणस्थान मोहनीय कर्मके उदयस्वरूप हैं जिन्हें कि नित्य अचेतन कहा गया वे जीवस्वरूप कैसे हो सकते हैं ? ये गुणस्थान भी जीवके नहीं हैं।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचदेणा उत्ता ॥६८॥

२८०. गुणस्थानोंकी अचेतनरूपताका कथन—जो ये गुणस्थान मोहनीय कर्मके उदयस्वरूप हैं जिन्हें कि नित्य अचेतन कहा गया है वे जीव कैसे हो सकते हैं ? जो मोहनीय कर्मके उदयस्वरूप हैं, मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले हैं वह जीव नहीं हैं। इसमें राग द्वेष सब आ गये। तो वह जीवके नहीं है। वे कर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं। क्योंकि कर्म अचेतन हैं तब वह भी जीवके नहीं हैं। जानकारी उल्टी जगह लग रही हो तो उसे अचेतन कह देते हैं। चारित्रादि गुण तो अचेतक ही हैं। जो भाव चेतनको जाननेमें नहीं लगते वे सब भाव अचेतन हैं। सर्राफका भाव शुद्ध सोना खरीदनेका है, अगर वह ९० या ९५ टंच वालेको शुद्ध सोना मान ले तब तो खूब दुकान चल चुकी। अगर ९० टंचीको लेगा तो तो हिसाबसे दाम देगा या दो आना मैलमिश्रित १४ आना शुद्ध भी लेवे तो उसी भावके दाम देगा, क्योंकि उसकी रुचि शुद्ध सोना लेनेकी है। इसी तरह जिस ज्ञानी जीवको शुद्ध चेतनामें रुचि है, वह देखता है कि राग द्वेष मोह अचेतन हैं, इसलिए यह मेरे द्वारा ग्राह्य नहीं है। इन्होंने आज तक मेरा काफी अहित किया। अब इन्हें अपने पास नहीं फटकने दूंगा। तेरहवां संयोग केवली गुणस्थान है, उसमें मात्र केवलज्ञान व शुद्धताकी मात्र दृष्टि नहीं है तथा चौदहवां गुणस्थान भी मात्र केवलीकी दृष्टिसे नहीं बना। अन्यथा सिद्धोंको अयोगी गुणस्थान कह दो। शुद्ध तत्त्वमें जो रम रहा है व साथ ही अघातिया कर्मका संयोग है, उसे १४ वाँ गुणस्थान कहा है, इसी तरह जो शुद्ध हो तो गया किन्तु योग व अघातिया कर्मका सम्बन्ध है वह १३ वां है। कर्म प्रकृतिका विपाक होनेसे अचेतन माने गये थे सब। उदय साथमें चल रहे हैं। इसीसे इन सबको अचेतन कहा है। अरहंतदेवकी भक्ति जब करते हैं, उसमें इतना ही तो कहते हैं हे अरहंत भगवान ! आप समवशरण लक्ष्मीसे शोभायमान हो, देवाधिदेव हो, संसारी जीवोंको भवसमुद्रसे निकालनेके लिए जहाजके समान हो, आपका परमौदारिक शरीर है। ऐसा भी कहते कि आप नाभि राजाके पुत्र हो तथा भरत, बाहुबलिके पिता हो आदि। यह सब अचेतनका गुणगान है।

२८१. गुणस्थानोंकी अचेतनरूपताका विवरण—मोहनीय कर्मके उदयसे होने वाले

जितने भी परिणाम हैं अथवा मोह कर्मके निमित्तसे हुए जितने भी स्थान हैं वे सब भी अचेतन कहे जाते हैं। वे जीव नहीं हो सकते। जीवके साथ जो कर्म लगे हैं वे तो जीव हैं ही नहीं। जो शरीर लगा है वह भी जीव नहीं। जो रागादिक भाव हैं उनमें भी चैतन्य नहीं। वे भी जीव नहीं। अब यहाँ कहते हैं कि जितने भी गुणस्थानादिक अन्य स्थान हैं वे भी जीव नहीं है। मिथ्यात्व आदिक गुणस्थान पौद्गलिक मोह कर्म प्रकृतिके विपाकपूर्वक होनेसे नित्य अचेतन कहे गये है। यहाँ गुणस्थानमें आत्मविकास भी दिख रहा है और रुकावट आत्माकी वह भी चल रही है। तो इस वर्णनमें रुकावटपर दृष्टि देकर अजीव-तत्त्वकी बात समझना है। जो विकास है वह भी उस रुकावटके सम्बन्धसे यहां मुख्य कहा गया। जैसे कि जौ बोनेसे जौ पैदा होता है, गेहूं बोनेसे गेहूं पैदा होता है। उसका वह कार्य है। तो पुद्गल कर्मका जो कुछ भी प्रभाव है वह प्रभाव भी अचेतन है। एक यह कुञ्जी है शुद्ध जीवस्वरूपसे भिन्न अन्य तत्त्वको समझनेकी। जो पुद्गल उपादान वाले पदार्थ हैं वे प्रकट भिन्न हैं यह तो समझमें स्पष्ट है किन्तु आत्मामें भी जो प्रभाव जो परिणमन पौद्गलिक कर्मके उदयके निमित्तसे हुआ वह प्रभाव भी अचेतन है और उसमें युक्ति यह दी जा रही है कि यव पूर्वक यव ही होता है। इसी प्रकार पुद्गलकर्मके उदयपूर्वक जो भी बात होगी वह अचेतन होगी। इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंमें कर्मका प्रभाव पड़ा हुआ है। अतएव वे सब अचेतन कहे गए है, और गुणस्थानमें रहकर भी जो सम्यक्त्व सहित गुण-स्थान हैं उनमें रहकर भी जो रागादिकके गुणस्थान हैं उनमें जिन ज्ञानी पुरुषोंने आत्माका ध्यान किया, स्वरूप सोचा, भेदविज्ञान किया, ज्ञानमें उपयोग बनाया, उन्होंने तो परख लिया कि जो चैतन्यस्वभावसे व्याप्त है सो तो आत्मा है और उस चैतन्यस्वभावमें जो नहीं व्याप रहा, ऐसा जो कुछ भी तत्त्व है वह अचेतन है। इस तरह रागद्वेष मोह सभी इन परभावोंमें यह बात समझना चाहिये कि ये पुद्गलपूर्वक होते हैं, नित्य अचेतन हैं। इतना अंश निरखकर एक नियमसे अचेतनकी बात कही जा रही है। इससे यह सिद्ध है कि रागा-दिक भाव जीव नहीं हैं।

२८२. **जीवस्वरूप समझ लेनेपर मोहका अनवकाश**—तब फिर जीव कौन है? इस प्रकरणमें जीवस्वरूप वह कहा जा रहा है कि जिसका ध्यान करनेसे अध्यात्मयोग बनता है। सन्मुच ही ज्ञानमें उपयोगका समा लेना बन सकता है। यह जीव स्वरूपका वर्णन किया जा रहा है। ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही रहे ऐसा उपयोग बनानेके लिए जो कुछ समझना चाहिए उस जीवत्वकी बात कही जा रही है। तब फिर जीव कौन है? जीव वह है जो अनादिसे हो, अपने स्वरूपसे अचल हो, स्वसम्वेद्य हो। यह चैतन्यभाव अनादि है, स्वयंसिद्ध है, स्वतःसिद्ध है। चूंकि सत् है अतएव अनादिसिद्ध है। स्वभाव और

स्वभाववानमें अन्तर नहीं अतः एक ही बात है। उसे न स्वभाव कह सकते, न स्वभाववान क्योंकि एक वस्तुको समझने के लिए जब भेदव्यवहार करते हैं तो पहिला भेद यहांसे उठा—स्वभाव और स्वभाववान। इससे आत्मा अनादिकालसे है। आत्मामें जो चैतन्य-स्वभाव है वह भी अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। देखो—हम आप जी अनादिसे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। हम आपका वह स्वरूप है। जो अनादिसे है अनन्त काल तक रहेगा। ऐसे अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूपका इस जगतमें कोई कुछ लगता है क्या ? बेटा, माता, पिता, मित्र, बन्धु आदि ये एक दूसरे जीवके कुछ लगते हैं क्या ? ऐसी बात तो नहीं है। मेरा मैं हूं, मैं सत् हूं, चित् सत् हूं, अपने आपमें परिपूर्ण सत् हूं ऐसा जानकर स्वयं अनुभव कर लेंगे कि इसको मोह करनेका अवकाश कहाँ ?

२८३. मोहकी व्यर्थताका अवगम—हे आत्मन् ! क्यों व्यर्थ मोहभाव ला रहे, उससे तेरा कोई अर्थ कार्य नहीं होनेका, कोई अपना काम नहीं निकलनेका। मोह विकल्प करना ऐसे ही व्यर्थ है जैसे कि हम किसी भी दूसरोंको देखें कि लोकव्यवहारमें भी दूसरे कहलाते हैं उनपर मोह करें। जैसे वह व्यर्थ है, किन्हींकी धुन होती है, किन्हींसे स्नेह होता है। दूसरे बिरादरीके बालकसे ऐसा स्नेह जग जाता है कि जीवनभर उसे फिर अपना माने हुए रहता है। उसे पढ़ाया लिखाया, बड़ा किया, मेरा ही यह बालक है ऐसा माना। तो उस पालन पोषण करने वालेको अन्य लोग समझाते हैं कि भाई तुम क्यों इससे इतना मोह कर रहे ? व्यर्थका मोह है। जैसे कोई पुरुष कुत्तेसे बड़ा प्यार करते हैं। उसे चौबीसों घंटा साथ रखते, उसे अपने साथ ले जाते, उसके साथ साथ खुद चलते जाते, मोटरमें बैठाकर ले जाते, बड़ा प्यार उससे करते हैं, तो इतनी बड़ी टहल करने वाले पुरुषके प्रति जैसे हम आप लोगोंके चित्तमें यह बात बनती है कि देखो यह कैसा व्यर्थका मोह है, इससे इसे मिलेगा क्या ? न इस कुत्तेसे इसकी संतान चलती है, न कुलपरम्परा चलती है, न कोई यह सलाह दे सके, न सलाह ले सके, न कोई विपत्तिमें यह धीर बंधा सके। कुछ भी तो काम नहीं सरता है उस कुत्तेसे, लेकिन मोह उससे कितना बड़ा है कि उसे साथ लिए लिए फिरते हैं। तो उस कुत्तेके सम्बंधमें जैसे उसका व्यर्थ मोह है यों समझमें आता है इसी तरह लोकव्यवहारमें खुदके माने हुए बच्चेसे भी मोह करनेकी बात ऐसी ही व्यर्थ है। इससे क्या इस आत्माका संतान चलेगा ? आत्माका संतान है चैतन्य, चित्स्वरूप। क्या उस चित्स्वरूप का कुछ बनता है ? कुछ काम आयगा क्या ? बल्कि बहुत बहुत इसकी बरबादीका कारण बनता है। तो व्यर्थ है ना। तो जैसे व्यर्थ अन्यका मोह दिखता है वैसे ही यहाँ माने हुये कुटुम्बीजनोंका भी मोह व्यर्थका मोह है।

२८४. आत्मस्वरूपकी अचलितता—अपने स्वरूपको देखो

अचल है। जो मेरेमें स्वरूप है वह स्वरूप कभी चलित होगा क्या ? हम उसको न जानें, उससे हम अपरिचित रहें, और अपरिचित रहकर विपरीत विकल्प किया करें, यहाँ तक भी कर डालें कोई विकल्प कि मैं आत्मा ही नहीं हूं। आत्माका कुछ भान भी न रखें। देहको ही आत्मा समझकर अहंकारमें बना रहे, इतना भी कोई विपरीत भटका हुआ है फिर भी उस जीवका जो चैतन्यस्वरूप है वह क्या खिसक गया ? वह तो चलित नहीं होता। तो मैं वह हूं जो अचल हो। अपनी समझ पड़ जायगी तो भला हो जायगा। न समझ पड़ेगी तो संसारमें रुलेंगे। किन्तु स्वरूप तो सबका वही सदा रहता है, उस स्वरूपको हम समझना चाहें तो इन्द्रियोंसे तो नहीं समझ सकते। आँखें गड़ाकर देखें तो क्या आत्माका निज चैतन्य-स्वरूप ध्यानमें आयगा ? किसी भी इन्द्रियसे समझना चाहें तो वह समझा नहीं जा सकता। स्वसम्वेद्य है वह अर्थात् स्व ज्ञानसे ही वह जाना जाता है। आत्मासे ही आत्मा सम्वेद्य होता है। ऐसा जो चैतन्यमात्र है वह जीव है, इसकी जब दृष्टि बनती है तो बड़ी उत्कृष्टता से वह एकदम प्रकाशमान होता है, मैं वह हूं। ये रागादिक भाव, ये समस्त अन्य भाव ये मैं नहीं हूं।

२८५. सहज स्वभावकी प्रतीति बिना विकारोंको मूलतः नष्ट करनेकी अक्षमता— देखिये—जब तक इस सहज स्वभावकी प्रतीति नहीं होती कि यह मैं हूं तब तक वह विषय कषायोंको मूलतः दूर करनेमें समर्थ नही हो सकता। जिसको इस लोकव्यवहारसे न अपना सम्मान अनुभूत हो, न अपमान अनुभूत हो और न किसी परपदार्थकी परिणतिसे यह अपनेमें क्षोभ मचा सके ऐसी विशिष्टता उस आत्मामें जगती है, जिस आत्माने अपना स्वरूप सहज ज्ञानमात्र अंगीकार किया है, मैं तो यह हूं, मैं और कुछ हूं ही नहीं, इस मुझको लोग जानते ही नहीं। जो लोग क्रुद्ध हो रहे हैं, मुझे गालियाँ दे रहे हैं, कुछ विपरीत चल रहे हैं उन लोगोंने इस मुझ ज्ञानमात्र तत्त्वको जाना ही नहीं। वे मेरेको क्या कहेंगे ? मैं अनादि अनन्त अचल हूं, सुसम्वेद्य हूँ, इसे कोई जानता ही नहीं। तो अज्ञानी जन कुछ भी चेष्टा करें उस चेष्टासे मेरेको क्या होगा ? ज्ञानीजन भी चेष्टा करें तो उनकी चेष्टासे मेरेमें क्या होता है ? मैं परिपूर्ण स्वयं सत् पदार्थ हूं। मैं स्वयं जिस रुचिमें हूं उसके अनुसार बाह्य वृत्ति देखकर परिणति निरखकर मैं प्रभावित होता रहता हूँ, पर हुआ अपने ही परिणमनसे। यह मैं चैतन्यमात्र जीव हूं, इसमें रागादिक विकार नहीं हैं। जिस दृष्टिमें यह बात कही जा रही है उस दृष्टिको लक्ष्यमें लिए बिना, उसके अनुरूप अपनी बुद्धि किये बिना यह मर्म ज्ञात नहीं होता है। यों तो इस दृष्टिके अपरिचित जन शंकित रहेंगे। क्या कहा जा रहा है कि जीवमें रागादिक नहीं होते। रागादिक अजीव हैं, ये पुद्गल परिणामसे उत्पन्न हुए हैं आदिक जो जो भी कथन अभी निकले हैं वे सब अटपट लगेंगे। जब दृष्टि और लक्ष्य सही बन जायगा

कि मैं इसे देखकर सोच रहा हूं और ऐसा जानकर मेरेको करनेके लिए क्या काम रहता है ? जब यह बात ध्यानमें जंचे तो यह बात सहज ठीक मालूम होने लगती है।

२८६. जीवका निर्दोप स्वरूप——एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि पदार्थका स्वरूप वह कहा जाता है जिससे पदार्थ रचा हुआ है। पदार्थका असाधारण स्वरूप वह हुआ करता है कि जो स्वरूप उस ही पदार्थमें रहे, अन्यथा जो स्वरूप जितनेमें न रहेगा वह उतनेका स्वरूप कहलायेगा। जीवका स्वरूप क्या है ? कोई कहता है कि रागादिक जीवके स्वरूप हैं, क्योंकि रागादिकसे ही जीवका परिचय मिलता है। यह जीव है, यह बात समझमें बैठती है कि जब उसकी रागादिक चेष्टा समझमें आती है। देखिये ना——जो प्रेम करता है, द्वेष करता है, आकुलता, शान्ति, मौज आदिक मानता है वही तो जीव है। तो किन्हींकी दृष्टि में है कि ये रागादिक विकार जीव हैं। तो कोई पुरप इससे कुछ आगे बढ़ते हैं तो यह ध्यान में उनके आता कि जीवका स्वरूप अमूर्तपना है। जो अमूर्त है सो जीव है, जिसमें रूप रस गंध स्पर्श नहीं है। अन्य वादियोंमें भी यही बात मिलती है कि आत्मामें रूप रस गंध स्पर्श नहीं है। तो जो आत्मा अमूर्त है सो आत्मा। जिन्होंने जीवका लक्षण अमूर्तपना कहा है, किन्तु ये दोनों ही लक्षण जीवके सही नहीं हैं। रागादिक विकार जीवके स्वरूप स्थूल रूपसे तो यों नहीं हैं कि रागादिक विकार न भी हों तब भी जीव कोई होता है। जो मुक्त हो गए हैं, केवल हो गए हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माके कहाँ राग है, पर जीवत्व तो है। जीवस्वरूप तो नहीं मिटा, और सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो ये रागादिक जीवके स्वरूप नहीं हैं। जीवके प्राण नहीं हैं। जीवके सत्त्वके विकास नहीं है। स्वतः जो जीवमें सत्त्व जहाँ पाया जाता है अथवा जो असाधारण चैतन्यस्वभाव है उसके वृत्ति नहीं है, इस कारण रागादिक विकार जीव नहीं हैं तो जीव वह होगा जो अमूर्त हो, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। कहते हैं कि अमूर्तपना भी जीवका लक्षण नहीं है क्योंकि अमूर्तपना धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंमें भी पाया जाता है। जो अमूर्त हो सो जीव है ऐसा कहना तो युक्त नहीं, क्योंकि आकाश आदिक भी अमूर्त है, फिर जीव कहाँ ? जीवका स्वरूप स्वभाव अभी नहीं आया। तो अमूर्त कहनेमें तो व्याप्ति दोष है, रागादिक कहनेमें अव्याप्ति दोष है। जीवका शुद्ध लक्षण है चैतन्यभाव।

२८७. आत्महितकी अभिलाषा होनेपर सन्मार्ग पानेकी सुगमता—कुछ आत्महितकी बुद्धि जगे, अंतः कल्याणकी प्रेरणा बने, इस संसारमें भटककर मुझे क्या लेना है ? मैं क्या पा सकूंगा ? कुछ भी लाभ नहीं है। इस संसारसे इस जन्ममरणसे निवृत्त होनेमें ही मेरा भला है। ऐसो भीतरमें बुद्धि जगे और इन सब अजीवोंसे परभावोंसे उपेक्षा होकर जीवत्व के प्रति रुचि जगे तो यह आत्मा स्वयं अनुभव कर लेता है कि यह मैं जीव हूं, क्योंकि वह

स्वरूप तो स्वयं उल्लसित होता है। जैसे किसी स्रोतमें से पानी एकदम प्रकट होता है इसी प्रकार स्वयंमें से यह ज्ञानस्वरूप चैतन्यस्वरूप स्वयं प्रकट होता है, उस ज्ञानके उपयोगमें। जिसने शुद्ध संकल्पपूर्वक ऐसा अपना परिणमन किया है कि परसे अलग हटना और स्वमें रुचि करना उसे स्वयं ही प्रकट हो जाता है। तब यह पता पड़ता है— ओह वह सारा व्यर्थका नाच था। ऐसा दृष्टिमें आकर जब ध्यान होता है—ओह जो दुष्कर्म किये वे मिथ्या थे। जैसे प्रतिक्रमणमें पढ़ते हैं कि मेरे दुष्कृत मिथ्या होओ। तो वह केवल पढ़नेकी चीज नहीं है और न यों बिनती करनेसे दुष्कृत मिथ्या होते हैं किन्तु जिसे शुद्ध अन्तस्तत्त्व की दृष्टिमें यह भान होता है वह सब व्यर्थ था, मेरे स्वरूपसे बाह्य था, झूठ था, विपरीत था तो मेरा उपयोग अब ऐसा ही समझता रहे, इसीके मायने हैं कि वह दुष्कृत मिथ्या होवे। उन दुष्कृतोंसे उन स्वभावविरोधी परिणतियोंसे न्यारे रहकर मैं स्वयंके चैतन्यस्वरूपको पा लूं, इस प्रकार जो जीव जीव और अजीवकी संधिपर ज्ञानकी करोंच चलाता है, जैसे कि मिस्त्री लोग जानते हैं कि किसी काठको चीरनेमें यह है संधि काठ रूप, वह संधि कहीं बाहरसे नहीं आयी, काठमें ही काठके रूपमें से बन गयी। होता है ऐसा—आप बहुतसे काठोंमें यह पायेंगे कि एक धारा ऐसी बनी जो बिना टूटी हुई इस ओरसे चली और इस ओरसे गयी। आत्मामें सूक्ष्मदृष्टिसे विचारो तो चैतन्यभाव और विकारभाव। विकार भाव किसी बाह्य पदार्थके परिणमन रूप नहीं हैं, वे स्वयंके परिणमन हैं, चैतन्यभाव स्वयंका स्वभाव भाव हैं। अब यहांपर एक संधि निरखना है। वह संधि क्या है? जहाँ चैतन्यरस है वह जीव है, जहाँ चैतन्यरस नहीं, चेतना भाव नहीं वह अजीव। रागादिक भावोंमें रज्यमानता तो रहती है। वह राग रहनेकी जो वृत्ति है, उस वृत्तिमें ज्ञानभाव नहीं है। ज्ञानभाव वालेके बिना राग होता नहीं, तिस पर भी जो रागभाव है वह ज्ञानभाव नहीं है ऐसे बीच संधिमें ज्ञानकी करोंच चलायी जाय, और जब दो भाग हो जाते हैं वो वहाँ अपनेको अपनाया जाय यह हूं, मैं ज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप। यह अन्य मैं नहीं हूं।

२८८. शुद्ध जीवस्वरूपके परखकी प्रयोजकता—चैतन्यमात्र अपने आपके स्वरूपको जो मनुष्य परखता है उसकी दृष्टिमें यह बात आती है और तब यह ज्ञायकस्वभाव चैतन्यभाव उसके उपयोगमें बड़े वेगसे शोभायमान होता है। इस प्रभुताको पाने के लिए हम आपका उद्यम यहाँसे ही चले—मैं ज्ञानमात्र हूं, जो ज्ञान ज्ञानभाव है जाननस्वरूप वही मैं हूं ज्ञान मात्र। इस पर दृढ़ प्रतीति हो। मैं अन्य नहीं। लोग यदि निन्दा करते हैं, गाली देते हैं, विरुद्ध परिणमते हैं, इन सबके होते हुए यदि यहां विह्वल हो जाते हैं, क्षुब्ध हो जाते हैं तो समझना चाहिये कि मैं ज्ञानमात्र हूं। ऐसी दृढ़ प्रतीतिका बल छोड़े हुए हैं तब इतना उपयोग भटक रहा है। मैं विशुद्ध ज्ञानमात्र हूं—ऐसी दृढ़ प्रतीति रहे तो फिर क्षोभ आने

का क्या कारण ? हम आपमें इस प्रतीतिकी दृढ़ता बढ़नी चाहिये । मैं क्या हूं ? ऐसा प्रश्न तो उठता ही है । लोग खुले रूपमें पूछते भी हैं कि मैं क्या हूँ ? उसका उत्तर मात्र इतना है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूँ । जानन भावमें उपयोग बनाया तन्मात्र अपने को माना तो इस ज्ञानमात्र स्वरूपके परिचयसे वे सब बातें सहज हो जाती हैं जो आत्म-कल्याणके लिए जीवको करना चाहिये । जो चैतन्यभाव है सो मैं जीव हूँ और इन भावोंके अतिरिक्त रागादिक विकार शरीरादिक जो जो कुछ भी पर हैं, परभाव हैं वे सब मैं जीव नहीं हूँ । मैं जीव नहीं हूं, इसका अर्थ हुआ कि ये सब अजीव हैं । ये सब अजीव हैं इसका अर्थ है कि ये सब मैं जीव नहीं हूं । इस तरह अजीवसे हटकर जीवमें लगनेका प्रयोजन जीवके शुद्ध स्वरूपके जाननेका हुआ ।

२८६. शुद्ध आत्मस्वरूपकी भक्ति—प्रभुभक्ति आत्मस्वभावकी उपासनापूर्वक होती है तो वहां यह मुख्य भाव है कि हे भगवन ! आप शुद्ध चेतन स्वरूप हो । जितना आदर आत्मस्वरूपमें होगा उतनी ही भगवानकी उपासना यथार्थरूपमें करोगे । स्वयं अपने बारेमें कितनी कितनी बातें सोचते रहते हैं यह सब विकाररूप हैं । उनसे निजका कुछ भला नहीं होता है । दृष्टि शुद्ध चैतन्यपर जाना चाहिए । परका भान भी न होवे, इतना अपनेको शुद्ध देखें, निर्विकार देखें कि मुझमें किसीका प्रवेश ही नहीं है । इतना शुद्ध इतना न्यारा अनुभव करें । बाजारमें जिस तरह लिखा रहता है 'यहाँ शुद्ध दूध मिलता है' इसका मतलब यह न समझें कि यहाँ त्यागियोंके लिये शुद्ध दूध नहाकर निकाला जाता है या साफ मंजे बर्तनोंमें कुलीन आदमियों द्वारा ही स्पर्श किया जाता है । सो बात नहीं है । भाव केवल इतना है कि इस दूधमें पानीकी मिलावट नहीं है और मक्खन भी नहीं निकाला गया है । जिसे मख-नियाँ संपरेटा कहते हैं । इसी प्रकार शुद्ध आत्मा क्या ? जहाँ परकी मिलावट नहीं है और शुद्ध चैतन्य निकाला नहीं है । न यहाँ राग है, न द्वेष है और न मोह है । मैं यहाँ बन्धनमें क्यों पड़ा, अपने शुद्ध भावोंमें परकी मिलावट नहीं है । खुदका सार भी नहीं निकाला है । जो ज्ञानका सम्बन्ध है उस सारको भी नहीं निकाला है । मुझे परपदार्थसे सुख मिलेगा यह विश्वास नहीं है । मैं ज्ञानानन्दकरि परिपूर्ण हूं । वह तो मेरा स्वभाव ही है । जैसे अग्निकी उष्णता, अग्निमें अन्यत्रसे नहीं आती उसी तरह आत्मामें सुख भी अन्यत्रसे नहीं आता है ।

२६०. औपाधिक सुखोंकी आशाके परिहारमें समृद्धिलाभ—दूसरोंसे सुखकी आशा मत रखो तब स्वमें सुख रूप परिणमोगे ही । जैसे करोड़पति सेठके गुजर जानेसे लड़का नाबालिग होवे तो सरकार उसकी सब संपत्तिको कोर्ट कर लेती है । और प्रति माह उसके खर्चके लिए पाँच सौ रुपया भेज देती है । तो वह समझता है सरकार मुझपर बड़ी अनु-कम्पा कर रही है जो ५०० रु० माहवार भेज देती है । लेकिन उसे यह मालूम नहीं कि

हमारी करोड़ोंकी जायदाद सरकार अपने विभागोंमें लगाए हुए है, मैं उसके लाभसे वंचित हूं। यह सब नाबालिग होनेसे सोचता है। किन्तु जब बालिग हो जाता है तो कहता है यह तो इतनी मेरी संपत्ति है और कोर्टमें प्रार्थनापत्र भेजकर वह अपनी जायदाद वापिस ले लेता है और उसका इच्छानुकूल उपयोग करता है। कर्मोंने नाबालिग देखकर मिथ्यादृष्टि होनेसे आनन्दको कोर्ट कर लिया है। एवजमें पुण्यफलरूपमें सुख मिलने लगा। कर्म सरकारने सुख दिया तो बड़ा अच्छा मानते हैं। कहते हैं भाग्य जग गये—धन मिल गया, नौकरी मिल गई स्त्री बच्चेके संयोगपर ही मोही जीव खुश होने लगते है। यह नाबालिग इन्द्रियसुखोंके गुण गाता रहता है। जब बालिग हो जाय तो यह सम्यग्दृष्टि कर्मके विरुद्ध केस दायर करता है और कहता है जो तेरे उदयसे मिला है वह मुझे नहीं चाहिए, उसे वापिस ले जाओ। अपनी पैरवीमें जीत जाता है तब स्वात्मानन्दका धनी बन जाता है। यही उपाय तो किये है ज्ञानियोंने, सो अरहन्त सिद्ध बन गये हैं। उतना ही धन अपने पास है। फिर कर्मोंसे काटनेमें नाबालिग क्यों बन रहे हो ?

२९१. कर्मविपाकज भावोंकी अचेतनता—यह प्रकरण चल रहा है कर्मके उदयसे होने वाले जो भाव हैं वे अचेतन हैं क्योंकि अचेतन कर्मके उदयसे होते हैं। चेतन हितदृष्टि में एक ज्ञानोपयोगको माना है, यह ज्ञान अचेतनमें फंसकर अचेत होता है। चेतनमें रहकर सचेत (जाग्रत) रहता है। रागादि कर्मपूर्वक हैं। जो जिस पूर्वक हो वह वह ही हो जाता है। इसी प्रकारसे पुद्गलके विपाकसे पुद्गल ही होगा। कर्म भी एकान्त दृष्टिसे शुद्ध दीखता है। कर्मोंने संसारी जीवोंको जकड़ रखा है यह व्यवहार है और वे जकड़नेसे भी छूटना नहीं चाहते हैं। रागादि भाव जिस कर्मको निमित्त पाकर हुए हैं वह उसके हैं। ऐसे जीवको शुद्ध स्वभावमें देखनेका एक यह भी उपाय है कि निमित्तकी ओरसे होने वालेको निमित्तका ही जानकर उससे अपनेको पृथक देखो। पौद्गलिक जो कर्म प्रकृतियाँ हैं वे अचेतन हैं, रागादिकका कारण हैं। गुणस्थानोंको अचेतन कह दिया है। चेतनास्वरूपकी दृष्टिसे च्युत होकर जो भी भाव हैं उन सबको अचेतन कहा है। क्यों कहा है ? चेतनस्वरूपसे जो भिन्न है उसे आत्मद्रव्य माने वह अचेतन हैं। इससे अचेतन राग ही नहीं हैं, द्वेष, मोह कर्म, शरीर, वर्ग, वर्गणायें, स्पर्धक यह सब अचेतन है। आत्मामें होनेवाले उदयके स्थान, मार्गणारूपसे जो देखे जाते व संयमके स्थान ये सब पुद्गलपूर्वक होते हैं इससे अचेतन हैं।

२९२. सारभूत तत्त्वज्ञान—कोई भी विकार मेरे नहीं हैं, इन सबसे मैं भिन्न हूं। यह सब गन्दगी है, विडम्बना है ऐसा जानना बड़ा सारभूत तत्त्व ज्ञान है। यह मनमें जम जाय कि रागादिक पुद्गलपूर्वक हैं इसलिए यह सब उसके नाटक है। मैं चेतनस्वरूप आत्मा हूं यह अनुभव हो जाय तो इन बातोंसे पिण्ड छूट जाय कि मेरी बात गिर गई, मेरी निन्दा हो

गई, मेरी पोजीशन गिर गई, हमारा अपमान एवं सम्मान हो गया। हमारी जानकारी जो चल रही है वह भी अचेतन है। स्वभावके अतिरिक्त सब अचेतन हैं। स्वभावकी जो दृष्टि करे सो चेतना है। जीव कितनी जगहमें भ्रमण कर रहा। जो जो जानकारी अन्य विद्याओं में लग रही वह भी मेरी नहीं, तब क्या रहा? अन्य न मेरी कोई वस्तु है, अन्य न मेरा तत्त्व है। धन वैभव कुटुम्ब मेरा नहीं पुद्गल ही सर्वत्र नाचता है, यह दृष्टि कैसे आई जब जीवको अत्यन्त शुद्ध देखा। अन्य अन्य जितनी बातें पैदा हुईं वह सब पौद्गलिक हैं। अशुद्ध निश्चयसे रागादिक रागादिमय आत्माके हैं, शुद्ध निश्चयसे आत्माके नहीं हैं। शुद्ध जीवको शुद्ध ही निहारना; दर्पणके सामने लाल खिलौना रख लेनेसे दर्पण ही लाल प्रतिभासित होने लगता है। कहो वह प्रतिबिम्ब किसका है? दर्पणका कहनेसे अन्यका नहीं रहा तो फिर दर्पणमें सदा रहना चाहिये। दर्पणको शुद्ध ही देखें तो कहेंगे, वह छाया खिलौना की है। इसी तरह राग विकार आदि पुद्गलके ही हैं। रागादिक पर हैं जीवको पूर्ण शुद्ध ही देख रहे हैं यहाँ। जो अनादि है, अचल है, अनन्त है, ज्ञायक स्वरूप है वह मैं हूं। पुद्गल और जीव मिलते हुए भी एक स्वभावरूप हो जाय सो बात नहीं है। यह स्वसंवेद्य है। जीव अपने द्वारा ही जानने योग्य है। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्णसे कोशिश करे तो वहाँ व्यापार नहीं चलता है। वह स्वयं स्वभावसे जानता है। जीभ जीभका स्वाद नहीं जानती। हाथ स्वयं हाथकी गर्मीको नहीं जानता है। जब बाहर भी यही व्यवस्था है तो बतावो आत्मा इन्द्रियोंके द्वारा जाननेमें नहीं आता, इसमें क्या संदेह है? सब वृत्तियाँ समाप्त हो जावें कुछ भी न रहे तो आत्मस्वभाव समझमें आ जायगा।

२६३. रागचेष्टाका समाचार—जो वस्तु अच्छी लगी उसको मित्र मान लिया तथा जो अच्छी न लगी उसे शत्रु मान लिया तो प्रतीत होना चाहिए कि विषय कषाय हमारे शत्रु हैं, तुम्हें जो अच्छा लगे उसकी बलि दे दो। लेकिन हो रहा सब विपरीत है। जैसे कि कुम्हार कुम्हारिनीसे न जीते सो गधीके कान मड़ोरे। कुम्हार था वह स्त्रीसे नहीं जीत पाया तो गधी बंधी थी पासमें, सो उसको मार दिया। देखा जाता है बहुत-सी माताओं को गुस्सा आता है तो कारण तो कुछ और होता है किन्तु बच्चोंको पीट देती हैं। यथार्थमें रागको बलि करना चाहिये किन्तु विषय कषायोंको नहीं छोड़ सके सो पशुओंको बलि करने लग गये। विषय कषायोंको मारे तो बलि है। जिससे आत्मस्वभाव समझमें आ जावे। महादेव दि० जैन मुनि ही तो थे। ११ अंग ६ पूर्वके पाठी थे। उस समय उनका बड़ा प्रभाव था। सभी आकर तत्त्वोपदेश सुनते थे, आत्मज्ञान प्राप्त करते थे। जब उन्हें दशवाँ पूर्व सिद्ध होनेको आया तो अनेक देवता आकर उनसे विनय करके बोले, आप जो कहो सो करें, उनके चरणोंमें सभी कुछ समर्पण करनेको तत्पर हो गये। बस वहाँ वे स्वसे च्युत हो

गये तो इतने स्नेहमें आ गये कि पर्वत राजाकी पुत्री पार्वतीसे विवाह कर लिया। देवता लोग एवं देवियाँ उनकी सेवामें उपस्थित हुई थीं, इससे रागसे द्रवीभूत होकर रागमें गये।

२९४. **सहज परमात्मतत्त्वकी अन्तःप्रकाशमानता**—स्वभाव अचल है। सुवर्णमें अन्य कुछ भी पदार्थ मिला हो तो भी सुवर्ण अपने स्वभावको नहीं छोड़ता। जमीनपर लोहे की कीलोंके साथ अन्य कुछ भी पड़ा रहा तो चुम्बक लोहेको ही ग्रहण करता है। चेतनाका कहना है हम स्वभावकी तरफसे कभी नहीं बदलेंगे तुम भले बदल जाओ। चेतनके पास आओ तो इसका सदैव उपयोग करो व लाभ लो, ऐसा जो चेतन है वह अपने स्वरूपमें प्रतिभासमान हो रहा है। जीवका काम ज्ञानमात्र है। जीव सदा अपने आपमें प्रकाशमान है। यह शरीर जीव नहीं है। जो कि दर्पणमें शरीरको देखकर फूले नहीं समाते, बार बार देखते श्रृंगार करते; क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक लगाते हैं, क्या विपरीत कार्य है। देह तो यह अचेतन है। एक समय एक राजा जीव समझमें नहीं आनेसे दुखी थे, क्योंकि जीव उनकी आँखोंसे नहीं दिखता था। वह घोड़ेपर सवार होकर पुरोहितके पास पहुंचे और बोले तुम हमें दो मिनटमें जीव दिखाओ। पुरोहितने कहा जो आज्ञा सरकार। किन्तु एक शर्त है आपको हमारे सब कसूर माफ करना होंगे। हाँ, कर देंगे। तब पुरोहितने हंटर राजासे लेकर राजामें ही ३-४ हंटर जमा दिए। तब राजा दुःखी होकर चिल्लाने लगा और हे भगवन बड़ी वेदना है, यह कह उठा। तब पुरोहितने बताया जिसे दुःख अनुभव हुआ वह जीव है तथा जिसे पुकारा है वह परमात्मा है। स्वभावमें एकाग्र होकर देखो तो वह स्वयं सबको ज्ञात हो जायगा। स्वभावमें रमण करने वालेका नाम परमात्मा है, वह भी अपनेमें देखता है।

२९५. **आकांक्ष्य एक तत्त्व**—यदि किसीसे कुछ माँगना है तो वह चीज मांगो जो बार बार न मांगना पड़े। अगर धन माँगा तो इज्जत चाहिए, कार्योंमें विजय चाहिए और अनेक आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। जिस चीजके प्राप्त होनेपर पुनः न माँगना पड़े उसकी इच्छा तो सबको होगी। पहले तो यह देखो यह कैसे मिल जाती है. एक निजकी रुचिसे? एकने देवता सिद्ध किया तो देवताने कहा, बोल तुझे जो माँगना हो सो माँग ले। वह घर पहुँचा और पितासे कहा 'मुझे देवता सिद्ध हो गया सो वरदान देनेको कहा है' इसलिये क्या मांगा जाय? पिता ने धन माँगनेको कहा। माँके पास पहुंचा तो बोली आँखें खुल जावें मेरी। इसके बाद स्त्रीके पास पहुंचा तो बोली पुत्र माँग लेना। अब वह चिन्तामें पड़ गया क्या माँगा जाय? अंतिम युक्ति सूझ निकाली, सुबुद्धि आ गई तो देवतासे कहता है 'हमारी माँ पोतेको सुवर्ण थालमें भोजन करते देखे। इससे उसके तीनों कार्य एक बातमें सिद्ध हो गये। इसी तरह भगवानसे एक बात मांग लो, सब आ जावेंगे। चैतन्यस्वभावका दर्शन,

आलम्बन लो। सब चीजें आ जायेंगी। चैतन्य स्वभावकी दृष्टि बनाई तो पाप कर्मकी निर्जरा होगी तथा जब तक भव है पुण्य कर्म आवेगा। अन्तमें मुक्ति होगी। जहां परिणमन परके आलम्बन रूप है वहां विकल्प बनेंगे। किन्तु जहाँ कोई विकल्प नहीं है वहां पूर्ण स्वभावकी सिद्धि होती है। जहां विकल्प नहीं छूटे, वहां परपदार्थ होनेसे स्त्री, बच्चोंको गहने आभूषणोंकी चिन्ता रहती है। लेकिन ठोस वस्तु देरसे प्राप्त होती है, प्राप्त हो तो फिर यह स्थाई रहती है। वह ही मेरा स्वभाव है विकल्प स्वयं अचेतन है क्योंकि विपाकपूर्वक होता है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं सबसे विविक्त हूं। बच्चे आपसमें घोड़े बनकर खेलने लगते हैं। उनकी चेष्टायें भी उसी तरहकी होने लगती हैं। सिरसे सिर भिड़ा कर लड़ने की भी कोशिश करते हैं। उनकी मान्यता उस समय घोड़ा जैसी हो जाती है। इसी तरह जीवोंकी प्रतीति होने लगे कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, कई बार मुंहसे उच्चारण करे, जितना बने तब कहें—'मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे न्यारा हूं यह असली मंत्र है। इसको बार बार अधिक कहनेपर माननेपर सुख ही मिलेगा। परपदार्थोंसे रुचि हटेगी। अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवने लगेगा।

२९६. जीवका निर्दोष लक्षण—जीवका सही लक्षण क्या है, इसका वर्णन करते हैं। क्या जीव उसे कहते है जो वर्णसे सहित हो ? या जो वर्णसे रहित हो उसे कहते है ? क्या जो मूर्तिक है उसे जीव कहते है ? या जो अमूर्तिक है उसे जीव कहते हैं या जो राग सहित हो, आदि बातें सामने रखकर उत्तर दो। इन सबमें ही जीव नहीं है, जो वर्णादिक कर सहित हैं उनमें तीन कालमें भी जीवत्व नहीं आ सकता। वर्णादिक कर रहित जीव मानो तो इसमें अतिव्याप्तिदोष है। इसलिए यह लक्षण भी ठीक नहीं है। क्योंकि वर्णादिकसे रहित धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल द्रव्य भी पाये जाते हैं। मूर्तिक द्रव्य भी जीव नहीं है क्योंकि यहाँ असंभव दोष आता है। अमूर्तिक द्रव्य भी जीव नहीं है क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य भी अमूर्तिक हैं। जीवका लक्षण रागादिक कहो, सो यह इसलिए ठीक नही है कि कुछ जीवोंमें रागादिक है और कुछ में नहीं हैं। इसमें कोई जीवका लक्षण नहीं है, वहाँ अव्याप्ति दोष है। तब जीवका लक्षण क्या है ? चेतना जीवका लक्षण है। चैतन्य सब जीवोंमें है। जीवका स्वभाव ही चैतन्य है। इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असंभव दोष नहीं है। जीवोंमें प्रतीति बैठी रहती है कि मैं जैन, अजैन, सेठ, निर्धन, विद्वान, मूर्ख त्यागी, ब्रह्मचारी हूं। चेतना मात्र हूं उसकी खबर नहीं है। मैं जैन हूं और चैतन्यकी खबर नहीं है तो यही पर्यायबुद्धि है, मिथ्या बुद्धि है। जिसमें चेतना हो वह जीव है। जीव लक्षणसे ऐसा ज्ञानी जीव अनुभव करते हैं। अनुभव, चिन्तवन, बोली, वाणी, रागद्वेष, ख्याल, विचार, मोह, ये सब भी अजीव है। यह

सब क्षणिक-क्षणिक चीजें बताई हैं। जीव नित्य है और विचार अनित्य है, ख्याल अनित्य है। फिर वह सब जीव कैसे हो जावेगा तथा जो ग्रन्थोंकी जानकारी हो रही है, वह भी अजीव है। शुद्ध चैतन्यमात्र जीव है।

२९७. मोहके अस्त होनेपर संचेतनकी संभवता—दूसरेका चैतन्य हमारे लिए जीव है या अजीव? अजीव है। क्योंकि हमारा जीवत्व हममें है। सिद्धोंका जीवत्व सिद्धोंमें है। सत्त्व और चैतन्य सबका भिन्न-भिन्न है। निजको निज कब जाना जाता है, जब परको पर जाना जाता है। यह बात जब समझमें आती है तब मनमें उल्लास होता है। छोटी छोटी बातोंमें उल्लास होता है। इसी तरह अपने स्वरूपका परिज्ञान हो तथा सही रमण हो जाय तो उसका तो कहना ही क्या है? अनादिकालका जो मोह लग रहा है सो जीव अनेक नाच नचता है। जीव चेतना मात्र है—यह कब अनुभव होता है, मोहमें तो होता नहीं। दतिया रियासतमें एक घटना हुई। राजा हाथीपर बैठा कहीं जा रहा था। वहाँ एक कोल्ही शराब पिये हुए था तो कहता ओ रे रजुआ तू हाथी बेचेगा। राजाको यह बात खटकी कि इस साधारण आदमीकी इतनी ताकत। राजा उसे खत्म करनेको तैयार हो गया। तब मंत्री बोला, न्याय यहां न करके राज दरबारमें करना। राज दरबारमें वह मनुष्य बुलाया गया। कोल्ही डरता डरता राजाके समीप आया। राजा बोले, क्यों तू मेरा हाथी खरीदेगा? कोल्ही बोला आप कैसी उल्टी सीधी (बिना सिर पैर की) बात कर रहे हो? फिरसे राजा ने कहा 'मेरा हाथी खरीदेगा'। तब कोल्ही कहता है 'राजा साहब आप नशा तो नहीं किये हैं'। मंत्रीजी बोले, हाथी यह नहीं खरीद रहा था, इसका नशा खरीद रहा था। तब कहीं राजा सन्तुष्ट हुआ।

२९८. अभिमानका कारण परसम्पर्क—यह मनुष्य अभिमान नहीं कर रहा है, इसका पैसा अभिमान कर रहा है। हितोपदेशमें एक कथा आती है। एक संन्यासी था उनका सत्तू प्रतिदिन एक बड़ा मोटा चूहा खा जावे तो संन्यासीने सत्तूको खूंटीपर टांग दिया। वह कूद कूदकर वहांसे भी खा जावे। चूहा खूब मस्त हो चुका था। यह बात संन्यासीको विदित हुई। संन्यासीने सोचा यह रहता कहां है, देखा भाला, जिस बिलमें रहता था उसे खोदा वहां धन निकला, निकाल लिया। कुछ दिनोंमें वही चूहा निकला तो शरीरसे काफी दुबला पतला हो चुका था। तब संन्यासी सोचता है कि इसका अर्थ निकल चुका है इसी कारण दुर्बल हो गया है। इसके अंग मात्र रह गये हैं। इसी तरह यह जीव नहीं नच रहा है, विषय कषायोंमें मदोन्मत्त होकर ही नृत्य कर रहा है। आश्चर्य है कि यह मोह क्रिया किस प्रकारसे नचा रही है? इसकी श्रेष्ठ औषधि भेदविज्ञान है, शुद्ध दृष्टि जहां है वहीं शुद्ध चैतन्यका अनुभव है। मोहीके २४ घंटा यह अनुभव रहता है मैं मनुष्य हूं, मैं

स्त्री हूं। इसके विपरीत सोचें कि मैं कहां इस तरहका हूं, शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूं। यही बार बार अनुभव आ जावे। कहां मेरा मकान है, कहां मेरा परिग्रह है, कहां मेरे बन्धु जन का, मित्रोंका समागम लगा है ? मैं केवल एक हूं। ऐसा यह चैतन्यका स्वरूप निराला है। स्वरूप तो अचल है। यह अविवेक व पुद्गल नचता तो नचो। महान अविवेकके नाट्यमें भी यह नहीं नच रहा है किन्तु नाचते हुए जीवमें महामोहका जीवन नच रहा है, विकार नच रहा है, उसीकी यह महिमा है। निरपेक्ष स्वभावभर देखो तो यह बात ज्ञानमें आ जावे- वर्णादिमान जो पुद्गल हैं वही नचते हैं। देह चलता है उसके विकार होते हैं, मैं तो एक शुद्ध जीव हूं। मैं कैसा अच्छा हूं इत्यादि विकल्प पुद्गलके विकार हैं।

२९९. आत्माकी शुद्ध चैतन्यधातुरूपता—मेरा तो स्वरूप शुद्ध चैतन्य धातु है। एक संस्कृत क्रियामें धातु होती है। तथा दूसरी सोना, चांदी, पीतल ताम्बा आदिको धातु कहते हैं। सोना आदिके अनेक जेवरात रूपक बन जाते हैं। संस्कृतमें धातुओंसे अनेक शब्द बन जाते हैं। प्रत्यय विकार आदि धातु पर ही जमते हैं। उसी तरह जीवको पर्यायोंके स्रोत होनेसे चैतन्य धातु कहते हैं। हां मर्मकी इतनी बात है कि स्रोतको देखे तो विकार न हो। अपने बारेमें इतनी शुद्ध निर्मलता लावे तो कुछ भान होता है। जो अधिक पढ़ लेते हैं कहते हैं, वे अभी तो हम कुछ नहीं जानते। तथा जो थोड़ासा ही पढ़े होते हैं, वह अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। तथा जहां आत्मकार्यमें पहचान लिया जाता है वहां ज्ञानी सोचता है मेरी सारी जिन्दगी अज्ञानमें गई। पूजा, भक्ति, तीर्थ यात्रा जो भी कार्य किया वह आत्मबोध बिना किये तो स ब अज्ञानमें किये। किन्तु रूढ़िपर चलने वाले अपनेको बड़ा धर्मात्मा कहते हैं। ज्ञाता दृष्टा रहने के अतिरिक्त जो भी बातें हैं वे सब उन्मत्त चेष्टायें हैं। जाननमात्र हूं—यह स्मरण कल्याणकारी है। रुड़कीमें शास्त्र प्रवचन करनेपर ५० आदमी जैन आवें तो १०० अजैन आवें। कुछ दिन प्रवचन सुनती सुनती एक पढ़ी लिखी अजैन महिला अवसर पाकर मन्दिरमें हमारे पास आई और बोली एक दुःख मुझे ज्यादा बना रहता है कि यह कैसे अनुभवमें आवे कि मैं स्त्री नहीं हूं ? इससे उदास बनी रहती हूं। भैया ! जानते तो सभी लोग हैं आत्मा चैतन्यमात्र है। हमने उसे समझाया—तुम अपने लिये स्त्रीपनेके एवं पुरुषपनेसे विकल्पसे रहित शुद्ध चैतन्यपनेकी निराली ही रटन लगाओ तथा अभ्यास करो तो तुम्हें कोई दुःख नहीं होगा। मूल बात—शरीरसे ही अपनेको भिन्न समझो। शरीरकी वजहसे वेदपनाका नियम नहीं रहा और स्त्री और पुरुप का अनुभव करना कार्यकारी नहीं है। देखो स्त्री और पुरुप दोनों अपने लिए 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं। कोई स्त्री अपनेको गुरु गुरुरानीकी तरह मैं म्यानी नहीं कहती। तुम शब्दका भी दोनोंको समान प्रयोग होता है। इसमें भी कोई तुम तुमानी नहीं कहता। मैं मैं और तुम

तुम इसमें कहाँ वेद आया ? मैं में वहाँ लिंग है, वहाँ चिन्ह है ? ज्ञान ही शरीर है, ढाँचा है ऐसा ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है। इस प्रकार ज्ञानरूपी करोंतीसे अज्ञानके टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिये। भेदविज्ञानरूपी छेनी ही कर्मभेदकी सफलताका कारण है।

३००. बाह्यक्रिया करके भी अन्तःक्रियाकी श्रद्धासे अच्युति—'गले पड़े बजाय सरे' देहातोंमें स्वांग करते समय किसीके गलेमें ढोल डाल दिया जाये मगर वह बजावे नहीं तो बुद्धू समझा जाता है। किन्तु बजाना न जाननेपर भी ठोकने लग जाय तो आदमी खुश हो जाते हैं और मजाकपनेका नाम होकर विनोद बन जाता है। इसी तरह गृहस्थी, दुकानदारी, नेतागिरी आदि गले पड़ी है तो उस निरपेक्ष भावसे करता हुआ भी नहीं करनेके समान है। क्योंकि 'गले पड़े बजाय सरे'। परमेष्ठी जैसा कार्य करना मेरा कर्तव्य है। जो परमेष्ठी देवोंने किया वह मेरा करनेका कार्य है। ज्ञानरूपी छेनीके द्वारा जीव और अजीवके भेद हो गये तभी ज्ञाता बन गये। तब वह ज्योति प्रकट होती है कि सारे विश्वमें व्याप्त होकर प्रकाशमान हो जाती है। हम कम ज्ञानी हैं कुछ भी स्फूर्ति नहीं है। यह सब पर्यायबुद्धिने कर दिया है। यह जीव अपराध कर रहा है यह पर्यायबुद्धि हीका संस्कार है। चीज कुछ है, मोही मानता कुछ है। भेदविज्ञानके द्वारा आत्मामें अन्तर्मुहूर्त भी ठहर जाय तो ऐसी ज्योति प्रकट हो कि सारे विश्वमें फैल जावे, परपदार्थकी आसक्ति आत्मकल्याण नहीं होने देती। मैं कुछ कर लूं, कुछ करूंगा या करता था यह आशा संयम नहीं होने देती। संयम सुखका बीज है।

३०१. समाधिभावकी शरण्यता—समाधिमरण सबका सार है। यदि मरण नहीं जैसा चाहे वह वैसा प्रयत्न कर लेवे, थोड़ा आरम्भ संभला तो दुःख ही हाथ लगेगा। जो परिग्रहसे मनुष्यगति मिल सकती है, अधिक आरम्भ परिग्रह नरकका कारण है, छल कपट तिर्यंच गतिमें भ्रमायेगा। सरल परिणाम होना देवगतिका कारण है। उमास्वामीके सूत्र हितके लिये अमृत देनेको समर्थ हैं। अपने स्वरूपकी आराधना करो। कितने ही को मरते समय देख रहे हैं कि जो जितना भी धन कमाता है उसके साथ कुछ भी नहीं जाता। जिन्हें संयोगमें बुद्धि रहती है उन्हें मरणमें अधिक दुःख रहता है। किन्तु जो भेदविज्ञान पूर्ण जीवन बिताते हैं वे अच्छा सुख पाते हैं। यहाँ कुटुम्ब रूपी वृक्षपर संसारी प्राणियोंका समागम हुआ है। प्रातः होते ही अपना नीड़ छोड़कर चल देंगे। यही दशा हम सबकी होगी। फिर भी न चेतें तो इससे अधिक कौन अज्ञानी है ? जैसे सफर करते समय रास्तेमें २-४ मुसाफिर मिल जाते हैं तो मिलजुलकर अपने सुख दुःखकी बात कर लेते हैं, उसी तरह यहाँ मुसाफिर मिल गये हैं, कुछ समय दुःखके स्वप्न देखेंगे, फिर मुसाफिर अपने गन्तव्य स्थानपर चले जावेंगे। यही दशा हमारी है। हम स्वयं मुसाफिर हैं। पूछने लगते हैं आपका भैया कितने वर्षका हो

गया ? तो वहांसे उत्तर मिलता है ८ वर्षका हो गया। कहना तो चाहिये ८ साल मर चुका या ८ साल बीत गए किन्तु परिपाटी विपरीत चल रही है। इसी तरह अन्यमें पूछनेपर कहता ४० सालका हो गया। कहना यह चाहिए ४० साल बीत गये, मर गये, २० वर्षका जीवन और बचा अन्दाजन। इन दृष्टियोंसे उम्रकी बात किया करें, इसमें यथार्थता ज्ञानमें रहेगी तब प्रतीति व शान्ति सच्ची होगी।

३०२. पर्यायबुद्धिमें सकल अहित—यह पर्याय वह दशा है जिसमें बचपन, यौवन एवं वृद्धावस्था सम्बन्धी अनेक दुःख हैं। इसमें क्रोध, विषय, इच्छा, द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या आदि न जाने कितने कितने विकार होते रहते हैं? फिरंगी मन इच्छा करते ही इनमें शीघ्र चला जाता है और गोही उनमें संलग्न हो जाते हैं। इनमें जो प्राणी आत्मदृष्टिकी बुद्धि रखता है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए। मिथ्यादृष्टि शब्दमें मिथ धातु है अर्थात् संयोग होना। मिथ्या बुद्धि वालेको मिथ्यात्व कहा जाता है। पदार्थ अलग-अलग हैं, उनमें संयोगपना साबित करना तथा पर्यायमें आत्मबुद्धि रखना यह मिथ्यात्व है। जो स्वमें स्थित है वह स्वसमय है तथा जो परमें लगे हैं उन्हें अपना समझ रहे हैं वह पर-समय हैं। आत्माके स्वभावको प्राप्त होवे सो स्वसमय और पर्यायको प्राप्त होने वाला पर-समय है। आत्माके स्वभावको प्राप्त होना एवं उसीमें रमण करनेका अभ्यास करना, क्योंकि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं। उसी स्वभावकी आराधना करो यही आत्माका स्वकार्य है। जब आत्माके स्वभावमें समर्थ हुए तब भी कभी कभी भ्रमबुद्धिसे पर में आसक्त हो जाता है तो उसे जब चेत आता है यकायक संभलकर सोचता है, मैं कहां अनर्थमें जा रहा हूं। दो आदमियोंने धोबीके यहां चादरें धुलनेको डालीं। उनमेंसे धोबीके घर एक व्यक्ति जाता है और चादर मांग लाता है, उसे यही ज्ञात है कि यह मेरी चादर है। इसलिए वह चादर लाकर पैर पसारकर चादर ओढ़कर सो जाता है। इतनेमें दूसरा व्यक्ति चादर लेने धोबीके घर जाता है तथा उसकी चादर नहीं मिलती है और पता चलता है पहला व्यक्ति ले गया है, तो वह दौड़ा दौड़ा पहले व्यक्तिके पास आकर और चादरका खूंट पकड़कर खींचकर कहता है कि यह चादर मेरी है। अब दोनों कहते मेरी है। तब दूसरे आदमीने अपने पहिचानके निशान बताकर उसे समाधान कराया और चादर ले ली। इसी तरह प्रत्येक प्राणी सोचे यह मेरी पर्याय पर है, इसे क्यों भ्रमबुद्धिसे अपनी मानूं ? दूसरेके द्वारा ज्ञानके सही निशान बतानेपर पर्यायसे ममत्व बुद्धि हटाकर स्वात्मबुद्धिपर दृष्टि लगाने की कोशिश करे तब इस संसाररूपी जालसे निकल सकता है अन्यथा भ्रमबुद्धिसे सोता रहने से दूसरा आकर परेशान करेगा, वह शान्ति नहीं लेने देगा।

३०३. सदुपदेशके लाभका आभार—अनेक भव धारण किये सभीकी गफलतें मैंने

भोगी अब जैनधर्मरूपी अमूल्य रत्नका उपदेश मिला है इसे मैं क्यों न स्वयंका अंग बनाऊं ? अनुभव करें मैं नित्य हूं, अविनाशी हूं चैतन्यमय हूं, सच्चे दुखका भोक्ता हूं। अपने स्वभावमें रुचि होवे और परमें नहीं जावे इसीके लिए स्वाध्याय है तत्त्वज्ञान है। पहले सुन लिया था कि कोई ब्रह्म ही दुनियामें एक तत्त्व है तब अपनेको बाहर करके बाहरमें उपयोग लगाता था। अब जान लिया ज्ञानमात्र तत्त्व है, संपूर्ण समस्यायें हल हो गईं। इसी तरह सब अन्य अन्य हैं। जिसे अनेकान्त दृष्टि प्राप्त हो गई, उसे जो परिग्रह लग रहे थे वह जहरके तुल्य प्रतीत होने लगे। पदार्थके विपरीत चिन्तवनसे आकुलता आकुलता ही होती है। यह देह भी मेरी नहीं तो बेकार ममकार क्यों करूं ? मैं तो आत्मामात्र हूं। बड़े-बड़े त्यागी कठिनसे कठिन परीषह सहन कर लेते हैं, उन्हें उनसे कष्टका अनुभव नहीं होता। उन्हें इतनी चिन्ता नहीं कि मैंने इतना धर्म नहीं कर पाया, इतना और कर लूं, यह भाव नहीं रहता है। उसे यह ज्ञात रहता है, मैं आत्मस्वभावमात्र हूं। मैं २-४ वर्ष और जी लूं तथा धर्म कर लूं यह भी दृष्टि नहीं रहती, रहती है केवल आत्मदृष्टि। मकान दूसरा बदलना है। देखो, आत्मस्वभावकी दृष्टि न छूटे, अधिक जिन्दा रहे तो भी क्या और मरणको भी प्राप्त हो गये तो क्या ? आत्मस्वभावपरसे दृष्टि नहीं हटे तो सर्वत्र अच्छा है तथा आत्मस्वभावपर दृष्टि नहीं है तो अधिक जिन्दा रहनेसे भी क्या और जल्दी मरनेसे भी क्या लाभ ? आत्मस्वभाव दृष्टिसे रहित होकर अनेक शरीररूपी कोठोंमें भी रहकर मृतके समान है। अनेक कमरोंमें से प्रदीप्त होता हुआ भी एक रत्न वही एक स्वरूप है। अनेक पदार्थोंमें अविचलित आत्मा द्रव्य है उसे एक ही प्रकारसे देखो। इस चौकीको शास्त्रप्रयोजनसे देखो, नीली पीली, सफेदसे क्या मतलब ? पुत्र अपने ढंगसे पिताको देखता है, पिता अपने ढंगसे पुत्रको देखता है। इसी तरह आत्मा तो एक ही है, पर्यायें अनेक धारण कर रहा है। कल्याणार्थी आत्मस्वभावकी दृष्टि रखता है। पर्यायोंमें मुख्यता न रखकर चैतन्यस्वभाव नजरमें आवे ऐसी दृष्टि करो। अनेक स्थानोंमें गया यह जरूर किन्तु आत्माका एक अविचलित स्वभाव है, उसके अनुरूप चलना यही आत्माका व्यवहार है। वह ज्ञाता द्रष्टा है प्रतीतिमें जिसके चैतन्यमात्र है। ज्ञेयाकार हो गया तब भी स्वरूप चेतना मात्र है। जो जैसा है वही बोधमें आया, इसीको स्वीकार किया है। अगर आपका मन किसी काममें न लगे तथा केवल पूर्ण विश्रामसे बैठ जावे तो आप उत्कृष्ट दानी हैं। जिस ज्ञानी जीवकी आत्मस्वभावमें दृष्टि हो गई वह कार्य करते हुए न करनेके समान है।

२०४. निर्मोहताकी श्रेष्ठता—मोक्षमार्गमें स्थित निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। किन्तु मोह सहित मुनिश्रेष्ठ नहीं है। तुलना करनेसे भी क्या लाभ है ? अपनी परिणतिसे ही तो लाभ होगा। ज्ञानी अपने कर्तव्योंको निभाता हुआ चलता है। साधुओं, पण्डितों, मन्दिरों, तीर्थ

यात्रा, व्यापार, गृहस्थी सभीका ध्यान रखता है, फिर भी अपने परिणामोंके अनुकूल परिणमन कर रहा है। प्रतिकूल बात हो गई, कोई गाली गलोज बक गया, कुछ भी कर गया तो उसे कोई बात लगती नहीं है। उसे अन्य बातोंसे प्रयोजन नहीं है। अगर वह अपनेको मनुष्य प्रतीत करे तो धन कमानेका मोह रखेगा, वोटें लेगा, कीर्ति बढ़ानेके कार्य करेगा आदि। पर ज्ञानी जीव इनसे व्यवहार नहीं करता। किसी साधुसे कोई कहे हमें किताब चाहिए तो कहेगा। 'लो यह है' वह यह नहीं सोचेगा, यह मुझे भेंटमें मिली, मेरा नाम पड़ा है, तुम्हें नहीं देता हूं। किताब देकर पुनः आत्मस्वभावदृष्टिमें लग जायगा। साधुओंका परपदार्थमें लगाव मोह नहीं रहता। शरीरसे नग्न होनेका प्रयोजन ही यह है तुम सब बातों से नग्न हो जाओ। वह अन्य बातोंसे प्रेम नहीं करता। जिसे अपने आत्मस्वभाव की खबर हुई है वह रागादिको भूल जाता है, परसे उदासीन हो जाता है। उदासीन = उत् + आसीन = उत्कृष्ट पदमें, समाधिमें रत होने वाला जिसमें निष्पक्षता, निर्मलता, विरक्तता है उस पदमें स्थिर रहना। जो कहते हैं यह घरसे उदासीन है, उन्हें यह न कहकर आत्मामें उदासीन है घरसे विरक्त है ऐसा कहना चाहिये अर्थात् आत्मा में उत्कृष्टपदसे बैठा है यह उदासीनका अर्थ है। किन्तु रूढ़ि अर्थ हो जानेसे शब्द अन्य अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं।

३०५. प्रतिबोधसे ही सुव्यवस्था—परद्रव्योंको अपना अपना कर दुःखकी संतति बढ़ाते जा रहे है लोग। जितने परपदार्थपर दृष्टियां हैं उतनी ही व्याकुलतायें हैं। लेकिन जिसने समस्त परद्रव्योंसे संगति हटा दी उसे आत्मतुष्टि ही प्रतीत होती है। जिस बच्चे को अपना बढ़िया खिलौना मिल जाय तो वह दूसरेके खिलौनेको क्यों रोवेगा? इसी तरह जिसकी निजमें संगति हो गई उसने सब कुछ पा लिया। कभी-कभी एक दूसरेकी बुराई करते समय कहा जाता है तुम मन्दिर नहीं जाते, शास्त्र नहीं पढ़ते, पूजन नहीं करते। किन्तु हमारे इस कहनेसे क्या लाभ निकलता है? मन्दिर, शास्त्र पूजन आदि उसके मनमें नहीं समाये हैं, उसे मन्दिर आदिसे बढ़िया अन्य कार्य जंच रहे है तभी तो वह ऐसा कर रहा है। मन्दिर वगैरहकी बात उसे जँचे, गले उतरे, रुचि बढ़े तभी तो वह इच्छा करेगा। मेरे विचारमें इन कार्योंमें जबर्दस्ती न करके धर्मके मुख्य सिद्धान्त समझाये जावें, उस सम्बन्धी उपदेश दिया जावे, महापुरुषोंके जीवनचरित्रको जो धर्ममें लगनेका कारण है बताया जावे तो हो सकता है वह अपनी भूल स्वीकार कर लेवे और रास्तेपर आ जावे। नहीं तो जबर्दस्ती करनेका फल यह भी हो सकता है उसके मनमें धर्मकार्योंमें घृणाकी भावना घर कर लेवे तथा उनसे सदैवको निवृत्ति पा लेवे। मैं एक ऐसे पुरुषको जानता हूँ जिससे छात्रावस्थामें कहा गया तुम्हें मन्दिर जाना होगा। इस सुपरिन्टिडेन्टकी ताड़नासे वह नियमसा ही ले चुके कि कभी भी मन्दिर नहीं जाऊंगा। जबर्दस्ती करके मन्दिर

पहुंचानेपर वह मन्दिर न जाकर होटल आदिमें चाय पीवेगा और आजावेगा। इसलिए अच्छे उदाहरणों द्वारा समझा कर कार्यमें प्रवृत्त करना श्रेयकर है। इससे रात्रिभोजन, अभक्ष्य भक्षण आदि न करनेके नियम तक जीवनमें निभा सकता है। अजैन लोग रात्रिभोजन न करने, अभक्ष्यभक्षण न करने जैसे बड़े बड़े नियम ले लेते हैं। तो क्या वह डंडाके डरसे लेते हैं? नहीं, उनके जीवनमें यह भावना जाग्रत हो जाती है 'मैं किस धरातलपर जा रहा हूं व क्या करना कर्तव्य है?

३०६. आत्मविद्याका महत्त्व—जितने मन्दिर है उतनी पाठशालायें होनी चाहिएं। जो मन्दिर बनावे उससे कह दिया जावे कि साथमें पाठशाला भी बनवाओ तो मन्दिर बनाना अति श्रेष्ठ है। मुसलमानोंमें यह होता है जितनी उनकी मसजिदें है प्रायः उतने उनके स्कूल चलते हैं। जिस मुहल्लामें जितने बालक होवें वे उस पाठशालामें आकर पढ़ें, ज्ञानार्जन करें। जिसको अपने स्वभावका बोध हो जाता है वह परको छोड़ देता है और परम उदासीनताको धर लेता है। मोही किसी न किसीको सहारा मान रहे हैं, परद्रव्योंको अपनानेसे। बच्चोंको देखो कोई माँ के संस्कार द्वारा धर्मकार्योंमें प्रवृत्त हो जाता है, कोई पिताका साथ करके या अन्य भाई, मित्र एवं ग्रामके किसी विशेष व्यक्तिसे प्रभावित होकर आत्मकल्याण सम्बन्धी कार्य करनेकी प्रकृति डाल लेता है। संगतिका प्रभाव होता है। यदि कोई आत्मस्वभावकी संगति करे तो उसे क्या मिलेगा, जो मिलेगा वह वर्णनातीत है। स्वकी संगति ही स्वसमय कहलाती है। स्वभाव बननेसे ही लाभ है। चक्रवर्ती, नारायण, कामदेव आदिके श्रेष्ठपद मिल गये, यह कमानेसे नहीं मिल गये, उन्होंने पूर्वभवमें धर्म किया था उसका प्रताप रहा कि इच्छित भोग चरणोंमें आ पड़ते है। आत्मस्वभावकी भावना करे तो क्या मिलना दुर्लभ रहेगा? न किंचिदपि दुर्लभं विद्यते।

३०७. धर्ममय अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका संदेश—धर्मका फल तो निराकुलता, शान्ति व मुक्ति है। पुण्यका फल ऐहिक सुख है। पापका फल दुःख है। इनमें से ऐहिक सुख व दुःख दोनों आकुलतासे परिपूर्ण हैं। इनका निमित्तभूत पाप व पुण्यकर्म भी पौद्-गलिक, अज्ञानमय परपदार्थ है। पुण्य, पाप कर्मका निमित्तभूत पुण्यभाव व पापभाव दोनों पराश्रयज भाव हैं। केवल धर्मभाव ही स्वाश्रयज है। स्वके पड़ौसमें, समीपमें रहने वाले कौन कौन पर-भाव है, उनका इस अजीवाधिकारमें संकेत करके उनका निषेध किया है। उन पर-भावोंके आश्रयसे धर्मभाव नहीं हो सकता। धर्मभावके बिना आत्माकी सिद्धि, समृद्धि नहीं हो सकती है। अतः इन सब पर-भावोंकी दृष्टि त्याग करके एक अखंड, सनातन शाश्वत ध्रुव परमपारिणामिक भावमय ध्रुव चैतन्यस्वभावी स्वका अनुभव करो।

॥ॐ शुद्धं चिदस्मि॥

समयसार-प्रवचन चतुर्थ पुस्तक

३०८. **परसें अन्यका अकर्तृत्व**—जीव और अजीव इन दोनोंका अनादिसें सम्बन्ध चला आ रहा है। जीवकी विविध दशायें बन रही हैं अजीवका संसर्ग पाकर। इसपर भी जीवका अजीव कुछ नहीं कर रहा और अजीवका जीव कुछ नहीं कर रहा। जो परका परमें कर्तृत्व मानते हैं वे संयोगदृष्टि वाले मिथ्याबुद्धि है और जो परको परका कर्ता नहीं मानते वे सम्यक्बुद्धि वाले है। नाटक चल रहा है। कर्ता कर्म जीव अजीव ऐसा मोह लिए चले आ रहे थे। ऐसा हुआ नहीं कि जीवने अजीवकी परिणति की हो और अजीवने जीव की परिणति की हो। अनादि कालसे दोनोंकी अवस्थायें चली आ रही हैं। ज्ञानी जीव इन दोनोंमें भेद करता है जबकि अज्ञानी यह मानता है कि क्रोध आदि मेरे करनेके काम हैं। कर्म भी मेरे नहीं, क्रोधादिक भी मेरे कार्य नहीं। मैं तो एक स्वभावमात्र हूं, कार्य कारण से रहित हूं। न मैं किसीके द्वारा किया जाता हूं, न किसीका करता हूं। ज्ञानी तो इस तरह चैतन्यस्वभावकी दृष्टि लाता है। यह कर्ता कर्मकी संतान चली आ रही थी वह समाप्त हो जाती है। कौन किसका क्या करनेवाला है? बडे-बड़े पुण्यवान् जीव हुए। रामचन्द्र और सीताकी बड़ी महिमा थी, सबके द्वारा आदरणीय थे, किन्तु धोबियोंके द्वारा सीता व रामकी हंसी उड़ाये जानेपर कि सीता बहुत बड़ी बन रही है, रावणके घरमें रह आई, क्या शुद्ध ही रही होगी? फिर भी रामने सोताको घरमें रख लिया। तब रामचन्द्रजीको बाध्य होना पड़ा कि सीताको जंगलमें छोड़ आओ। ये सब क्या हैं? अपनी-अपनी कषायके खेल, कोई किसीका नहीं करता है। वस्तु ऐसी गढ़में बैठी है कि कोई इसका खण्ड नहीं कर सकता। अगर जीवका कर्मसे इस प्रकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं होता तो कर्म जीवको रागादिक रूप करते ही रहते। क्योंकि अपने अधिकार और वृद्धिको कौन छोड़ देता है या खत्म करना चाहता है? यह जीव रागादिक कर्मको करता ही रहता है, यह बात नहीं है। कर्ता कर्मके अभ्यास खत्म हुए तो उपाधिकी बात खत्म हो जाती है, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं रहता है। ऐसा शुद्ध अनुभव करनेमें दोनों श्रद्धायें काम कर रही हैं। देखो निश्चयसे जीवका किसी अन्य पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जीव ही जिस किसी प्रकार रूप परिणमता है वहाँ भी परमशुद्धनिश्चयनयसे देखो तो जीव चित्स्वभावमात्र शुद्ध है। व्यवहारसे देखो तो जीवका विभाव कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहा है, वहाँ परमार्थतः जीव चित्स्वभावमात्र शुद्ध है। एक दूसरेको कर्ता कर्म माननेपर शुद्ध अनुभव नहीं किया जाता है। हाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बंधका खंडन और कर्ता कर्म भावका मंडन नहीं बन सकता

है। वस्तुस्वरूप जाने बिना जीव द्रव्यान्तरोंमें कर्ता कर्म मान लेनेसे विवश है। अन्य मतोंमें तो कहते हैं—ईश्वरकी सेवा करते जाओ तो वह मनचाहा फल देगा। तो यहाँ कह दें कर्म की उपासना करते जाओ वह मुक्ति दिला देगा। स्वरूप ज्ञान बिना दोनों जगह ऐसी बात बन ही गई है। हम आपको निमित्त पाकर कह रहे हैं, किन्तु दोनोंकी एक परिणति नहीं है। दोनोंकी जुदी व्यवस्था है। मैं अपनेमें स्वतः परिपूर्ण हूं। मैं अपना ही परिणमन करने वाला हूं। मैं किसीका कर्ता नहीं हूं। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध बात आना वह मोहकी लीला है। इस मोहका विजय अपने आपको जीतनेसे होगा। अपने आपका विजयस्वरूप सत्तामात्र आत्मतत्त्वके परिज्ञानसे ही होगा।

३०९. अन्योऽन्य सम्बन्धका भ्रम—दो स्वाध्यायप्रेमी थे। वे दोनों बैठकर खूब स्वाध्याय किया करते थे। उन दोनोंमें यह तय हुआ—अगर एक मर जाय तथा देव हो जाय तो यहाँ दूसरेको समझाने आ जाना। दो में से एकका प्राणान्त हो गया और जाकर देव हो गया। वह वहाँसे अपने स्वाध्यायप्रेमीको समझाने आ गया तथा कहता है—तुम कहाँ विषय कषायमें लग रहे हो, यह सब दुःख देने वाले हैं, छोड़ो इन्हें। तब वह साथी उत्तर देता है—"हमें तो बड़ा सुख है, स्त्री आज्ञाकारिणी है, पुत्र विनय करता है"। देव बोला—"यह तुम्हारा झूठा भ्रम है, कोई किसीसे न स्नेह करता है, न कहीं साथ देता है, न उपकार करता है। अगर तुम्हें यह जानना हो तो कल बहाना बनाकर कह देना, मुझे पेटमें दर्द हो रहा है और व्याकुल होकर लेट जाना।" उसने ऐसा ही किया। अब सभी वैद्य डाक्टर, हकीम आये, सबने अपने अपने नुस्खा आजमाये, घर वालोंने यथाशक्ति सेवा की, पूरा पड़ौस वालोंने भी हमदर्दी करी, इतनेपर भी वह कहे पेट दर्द व सिर दर्द ठीक नहीं होता। तब यह देव गारन्टेड वैद्यका भेष बनाकर फिरने लगा। तब उसे देखकर उसके घरके आदमियों ने बुलाया जिसके सिरमें दर्द हो रहा था। वैद्यने आकर पानी मंगाया और उसमें भस्म डालकर बोला—इसे कोई घर वाला पीले। सब लोग चकित हो गये कि बात क्या है? दर्द तो है इसे और दवा पीनेको कह रहे हैं? सबने कहा कि वैद्य जी यह आप क्या कह रहे हैं? जिसे दर्द है उसीको पिलानेसे तो आराम होगा। तब वैद्य बोला कि इस दवामें इस प्रकारका प्रभाव है कि इसको पीनेसे पीने वालेकी तो मृत्यु हो जायगी तथा इसका सिर दर्द अच्छा हो जायगा। स्त्रीसे कहा, तुम पी लो तो मनमें वह बोली 'इस पुत्रका सुख कौन भोगेगा" तथा पितासे कहा तो वह मनमें उत्तर देता है "इतना जो धन वैभव मेरे पास है इसका भोग कौन करेगा?" यह दोनोंने कहकर दवा पीनेकी बात टाल दी। अगर और भी मनुष्य चाहें तो करके देख लेवें, मुंहसे कहते तो रहेंगे किन्तु पीयेगा कोई नहीं। यह सब देखकर देव डाक्टर ही बोला, मैं ही पिये लेता हूं इस दवाको। तब तो उस घर वालोंने देव

डाक्टरकी बड़ी प्रशंसा की—आप बड़े दयालु हो, धन्य हो जो कि औषधि दान देकर मेरे पुत्र (स्त्रीकी अपेक्षा पति) के प्राणोंकी रक्षा कर रहे हो। वह दवा उस देवने पी ली तो रोगी चंगा हो गया। यह सब घर वालोंका न   देखकर स्वाध्यायप्रेमी देवका साथी घरसे विरक्त होकर मनमें बोला, संसारमें कोई किसीका नहीं है, सब स्वार्थके नाते हैं, मैं इनमें व्यर्थ ही मोह कर रहा हूं। अब मुझे अपना आत्महित करना ही श्रेयस्कर है। जब तक मैं घरवालों, कुटुम्बवालोंको भोगोपभोगकी सामग्री पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध करने लायक हूं तब तक प्यार करने वाले बहुत मिल जावेंगे, इनमें भी कोई जो मेरे उत्कर्षको देखकर प्रसन्न नहीं होगा। वह अन्दर ही अन्दर ईर्षभाव रखकर द्वेष करता रहेगा, सब द्रव्यस्वरूप सत्तामात्र है। इस तरह उसने निश्चय किया व निश्चय करके वह आत्महितमें जुट गया।

३१०. **किसीकी परिणतिकी किसी अन्यमें पहुँचनेकी अशक्यता**—एकका मोह भी दूसरेमें नहीं पहुंचता, केवल अपनी-अपनी कल्पनायें गूंथते रहते हैं। यहाँ राग द्वेषकी संतति होनेसे कर्मबन्धोंको गूंथते रहते हैं। करने योग्य वही कार्य है जो आत्महितको करे। प्रत्येक जीव अपनी ही सत्तासे भरपूर है। परपदार्थसे किसीका लगाव नहीं है। सुखके बारेमें सोचना, समागमसंगमको ही सब कुछ समझना; धन, मकान, गाय, भैंसे, दासी, दास आदिको जुटानेका ही प्रयत्न करना यह सब आपत्तियाँ हैं, विडम्बनायें हैं। आत्मतत्त्व के बारेमें ही जिसकी रुचि है बाकी सबसे हेय दृष्टि है तो उसको अपनी स्थिति ज्ञात हो जावेगी। प्रत्येक जीव अपना-अपना ही कर्ता है। केवल अपना हित कर सकता है। केवल को माननेसे केवल हो जाता है और संयोगको माननेसे संयोग ही लगा रहेगा। अगर दो एकका ही संयोग हो और वह बना रहे तो श्रेष्ठ है। लेकिन एक संयोग समाप्त हुआ, दूसरा संयोग लग गया। आँखोंके सामने ही पिता बना रहता है और पुत्र गुजर जाता है। तब दूसरे पुत्रके मिलनेका संयोग हुआ तो इच्छा करने लगता है। उन संयोगोंमें अपार दुःख है। इन सबका उपाय यह है कि रागकी परिणतिको छोड़कर निज स्थान जो मोक्ष स्वरूप है उसमें पहुंच जाऊं। राग पर्यायको छोड़ना चाहिए। कोई केवल अपनेसे तो राग कर ही नहीं सकता। वस्तुतः परमें भी कोई राग करता नहीं है। क्या विचित्र दशा हो रही है, फिर भी जो यह कहते हैं—परमें राग करते हो उसे छोड़ो, यह सब कहना मात्र हैं। पर्यायमें राग करते थे सो पर्यायका राग छोड़ दो, यही सच्चा त्याग है। यही त्याग मोक्षमार्ग है। जिसे भी शान्त होना होगा, करना यही पड़ेगा। पर तो परकी जगह है, किन्तु परको विषय बनाकर राग करते थे। परमें तुम्हारा कुछ नहीं रखा है; अपनेमें ही विभावको ग्रहण कर रखा है उसे छोड़ना चाहिए। सब सचाईके इच्छुक हैं, सब अपनी भलाई चाहते हैं, सब अतुल एवं अनुपम आनन्दको चाहते हैं। जो यह चाहता है तो उसे

स्वस्वरूपका ही अनुकरण करना चाहिए। चेतन दिखती है ज्ञानीको चैतन्यबलसे, जिसपर चल कर अरहन्त सिद्ध बनेगा। मैं कब अरहन्त सिद्ध बनूं मैं कब ऐसा बनूं, कब अष्टकर्म रूपी कलंक नष्ट हो पाते हैं? यही भावना अरहन्त बननेका आदि उपाय है। लोकमें कोई किसीका कितना भी प्रेमी हो, कोई किसीका सहायक नहीं है। अपने-अपने पूर्वभवके पुण्यसे उत्तम-उत्तम सामग्रियाँ भोग रहे हैं।

३११. **लौकिक वैभव स्वोपार्जित कर्मोंका फल**—एक राजा ने अपने मंत्रीको घोड़ा खरीदने भेजा सबसे बढ़िया घोड़ा एक सेठके पास था। मंत्री वहां पहुंचा। बोला—राजा साहबको घोड़ा चाहिए। तो सेठने दे दिया। मंत्रीने कहा—कितने रुपयाका है? तब उसने (सेठने) कहा, कुछ रुपया नहीं लेता हूँ, मेरी ओरसे भेंट कर देना, मेरा अमुक नाम है। तब राजा ने लिख भेजा तुम्हें जब कभी आपत्ति आवे तो हमें खबर भेज देना। दैवयोगसे सेठ अत्यन्त गरीब हो गया। वह राजाके यहाँ गया। तब राजाने उसे २० बकरियाँ गुजारा चलाने को दे दीं। रोज राजा पूछे—आज कितनी बकरियाँ रह गईं तो कभी कहे आज २ घट गईं, आज बीसमें से तीन या चार घट गईं, कभी कहे देखा तीन भी बढ़ गईं, किन्तु २० के भीतर रहीं। इस तरह क्रम चलता रहा, कुछ अन्तर नहीं आया। कुछ दिनों बाद सेठने कहा—२५ हो गई तथा और कुछ दिन बादमें ३० हो गईं। तब राजा कहता—अब हमारे पाससे १ लाख रुपया ले जाओ और इच्छित व्यापार करके काम चलाओ। तब सेठने कहा, यह रुपया पहले ही क्यों नहीं दे दिया? ८ महीने से तो मैं परेशान हो रहा हूं तब आपने मेरे लिए २० बकरियाँ देकर इमदाद की। राजाने उत्तरमें कहा—"मैंने तुम्हारी किस्मतकी परीक्षा ली थी, अगर उस समय कुछ भी दे देता तो तुम्हारी उन्नति नहीं होनी थी। जब तक तुमने कम कम बताई तो उस समय और भी देनेसे नष्ट हो जाता। अब तेरी किस्मत जाग गई सो लेजा"। सेठके मनमें आया जब किस्मत जाग गई तो मैं ही स्वयं क्यों प्रयत्न न करूं। इस लिए राजासे कुछ भी रुपया नहीं लिया। तब कुछ उद्यम किया और फिरसे सेठ पहले जैसा ही धनवान् हो गया।

३१२. **हमारी त्रुटिसे हमारी विपरिणतिका उद्भव**—ज्ञानकी जागृति हो जाने पर श्रद्धा चारित्रके साथ-साथ चलती है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। हम चौकी पर बैठे हैं तो चौकीको सहायक बना लिया, निमित्त तो अपने स्वरूप में है, हम अपने स्वरूपमें है। स्वदृष्टि न होनेसे अपनेको प्रत्येक प्राणी पराधीन मानता है। मुझे क्या किसीने बनाया है या मेरा काम किया है? कोई मेरा काम करेगा—यह भ्रम मात्र है। कोई किसीका क्या कार्य करेगा? अपने-अपने भाग्यके अनुसार प्रत्येक जीव फल को भोगते हैं, अपनी अपनी परिणतिके अनुसार प्रत्येक फल भोगते हैं। यह जो सुख दुःख

आदि संकट जीवको लग रहे हैं वे सब भ्रमसे लग रहे हैं। देखो जीव तो स्वरसतः चैतन्य-मात्र है, उसमें उपाधिवश विभाव होते हैं, उनमें व निज स्वभावमें जिसे भेद नहीं दीखता, वही सब यातनाओंका पात्र होता है। इसी विषयको युक्तिसहित श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि।
अण्णाणी तावदु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहादिसु वट्टं तस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥

३१३. स्वभावमात्र निजमें व विभावमें अन्तर न समझनेका फल—जब तक यह जीव आत्मा और आश्रव—इन दोनोंमें स्वरूप भेदको नहीं समझता है तब तक यह जीव अज्ञानी है और इसी कारण यह जीव क्रोध आदिमें वर्तता है। क्रोध आदिमें वर्तते हुए उस जीवके कर्मका संचय होता है। इस प्रकार सर्वद्रष्टा परमात्मप्रभुने जीवका बन्धन बताया है। जीवको जितना ही क्लेश है वह सब बुद्धिके विकल्पका क्लेश है। यह समझता है कि मैं परद्रव्यका कुछ कर देता हूं। यह कर्तृत्वबुद्धिकी ही भूल है। यह रागमें सोचता है है कि मैं पिता हूं, अतः बेटेका कुछ कर देता हूं। बेटा सोचता पिताका मैं कुछ कर देता हूं। प्रत्येक सब अपने स्वभावरूप हैं तो कौन किसका क्या कर देता है? जगके जीवों की यह मान्यता अकेले ही हो रही है। एक ही विचार इतना अटल बैठा हुआ है कि मैं किसीका कुछ कर देता हूँ। अगर हम नहीं होते यह तरक्की नहीं कर पाते आदि, इस अभि-प्रायने निज आत्मज्ञानसे भी वंचित रखा। दूसरा कोई किसीका कर्ता नहीं है। अपने अपने पुण्यके अनुसार सभीको अनुकूल या प्रतिकूल सामग्रियाँ मिली हैं। यह तो भ्रम बुद्धि मात्र है कि मैं नहीं होता तो इनका क्या होता? अब भी ऐसे देखे जाते हैं कि किसी किसी लड़के के माता एवं पिता दोनों खतम हो जाते हैं तथा कुटुम्बी भी सहायता नहीं करते, तब भी वह पढ़ने लिखनेमें पद प्राप्त करने तथा धन कमानेमें अच्छी तरक्की पा जाते हैं। यह सब उनका ही पुण्य नहीं है तो क्या है? यह स्वयं कभी-कभी दूसरोंका उपकार सोचते हुए भी नहीं कर पाता। यह दयनीय स्थितिमें पड़ा रहता है तथा सन्तान होनहार होकर पिता एवं अन्य कुटुम्बीजनोंका विधिवत् भरण—पोषण करने लगता है। कोई भी हो वह लौकिक फैलाव उतना ही कर सकता है जितना इसका पुण्य कर्म साथमें है।

३१४. परके अकर्तृत्वपर एक दृष्टान्त—एक सेठके चार लड़के थे। उनमें सबसे बड़ा कमाने वाला था तथा बाकीके सब खाने वाले थे। उसमें सबसे छोटा जुआरी था। सझला लड़का अन्धा था और मंजला लड़का पुजारी अर्थात् भक्तिमें ही समय अधिक देने वाला था। तथा माता-पिता भी खाने वाले ही थे। यह सब देखकर बड़े लड़केकी स्त्री

कहती रहती-केवल आप ही कमाते और ये दुनियाके सब खाते, न्यारे हो जावो सब कमाई अपनी रहेगी। आप क्यों परेशान होते रहते कमानेमें ? कहते-कहते बहुत दिन हो गये। एक दिन बड़ेकी पत्नी आग्रहपूर्वक बोली—अब तो न्यारे हो जाओ तो अच्छा है, आखिर बड़ा पुत्र पिताके पास गया और बोला, पिताजी—'हम न्यारे होना चाहते हैं'। पिता उसके अन्तरङ्गकी बात समझ गये, तो बोले—अच्छा बेटा हो जाना, लेकिन ऐसा करो एक बार तीर्थयात्रा सब सम्मिलितमें कर लो। अब सब आदमी घरसे तीर्थयात्राको निकल गये। रास्तेमें एक शहरके पास डेरा डाला। पिताने बड़े लड़केको १०) में अच्छीसे अच्छी भोजन सामग्री लानेको कहा, किन्तु इतनेमें सामग्री आना दुर्लभ थी, अतः बड़े लड़केने १०) में कुछ सौदा खरीदकर बेच दिया तो १०) के १२) हो गये। तब १२) की भोजन सामग्री लाया और सबको खिलाया। दूसरे दिन छोटे जुआरी लड़केको १०) में भोजन सामग्री लानेको दिये। तो 'जिसका जो स्वभाव जाय न जी से, नीम न मीठो होय खायो गुड़ घी से'। कहावतके अनुसार रास्तेमें जुआ हो रहा था, मौका पाकर १०) ही दावपर लगा दिये। उसके भाग्यसे १०) के २०) मिल गये। वह २०) में भोजन सामग्री लाया। सबने उपभोग किया।

देखो देवने अनेक सामग्रियाँ प्रदान की हैं। अब हमने सबकी तकदीरकी परीक्षा कर ली है, तुम्हें न्यारा होना मंजूर है या इकट्ठे रहकर कार्य करना। उसे (बड़े पुत्रको) अब तो अपने कहनेका बड़ा पश्चात्ताप हुआ तथा वह बोला--मैं सबमें सम्मिलित ही रहना चाहता हूं, मेरी पूर्वोक्त बातको क्षमा करें।

३१५. सबकी अपनी-अपनी भवितव्यतासे परिणति—दुकानमें नौकर लगा है वहाँ भी उसका भाग सहारा दे रहा है। पुत्र अपने भाग्यसे खाता है, स्त्रीको अपने पुण्यसे उत्तम घर, वर, सुवर्ण, चांदी एवं अन्य सामग्रियाँ मिलती हैं। पति सोचे मैंने इसको सब कुछ कमाकर जोड़ा है, यह सोचना एवं कहना निरर्थक बकरीके गलेके थनोंके समान है। एक व्यक्ति मेट्रिक पास होकर तथा २ वर्ष ओवरसियर (इंजीनियर) का कोर्स पढ़कर ५५०) वेतन तथा अतिरिक्त आमदनी भी पाता है और वही दूसरा व्यक्ति इन्टर, बी. ए. या शास्त्री आदि होकर ६०) तक की नौकरी करके परमुखापेक्षी रहकर जीवन बिताता है। एक व्यक्ति ऐसा भी होता है जो राजा महाराजाओंके यहाँ गोद लिया जाकर स्वयं उस पदको सुशोभित करता है तथा उसीका भाई जैसे तैसे घरुखर्च चलाता है। यही हाल प्रत्येक प्राणी मात्रका है, तब ऐसा सोचकर कोई विचारे कि पुण्य सम्बन्धी शुभ कार्य क्यों नहीं किये जावें जो कि इस भवमें न सही, अन्य भवोंमें जन सुख सामग्रियोंके पानेके अधिकारी हो जावेंगे तो भैया ! यह भी अज्ञान है। तुम तो तत्त्वज्ञानके रसिक बनो। आत्मरसिक बननेपर भी जो प्रवृत्ति होती है वह शुभ होनेसे पुण्यका कारण होती है। उसके फलमें वैभव मिलते हैं। यदि वैभवोंमें रुचि हो जायगी तो पुण्यकी भेंट भी कठिन हो जायगी। मैं किसीका कुछ कर देता हूं, यह भाव तुम्हें ही दुःखका कारण रहेगा। अनेकोंने चाहा यह कार्य ऐसा ही हो जाय, किन्तु मिलने वालोंको ही सफलता मिली है, अन्योंको नहीं भी मिली। ज्ञानी जीव सोचता है--बाहरी पदार्थका परिणमन बाह्यमें हो रहा है और अन्तरङ्गकी परिणतिका अन्तरङ्गमें हो रहा है। यह सब पाकर अज्ञानी रूपादिवान पदार्थमें संलग्न हो जाता है और ज्ञानी हुआ तो संभल जाता है। प्रत्येक प्राणीको अकेला ही परिणमन करना होता है, कोई भी साथ नहीं जाता। इसलिए निज आत्माका ही अनुभव किया जाय। इसके अतिरिक्त सब पर हैं, अहित हैं। बाह्य पदार्थपर की हुई दृष्टि सब पर है। चाहिए यह अभीसे हमारा प्रयोजन अच्छा बने, खोटा भाव क्षण भरके लिए भी क्यों पास फ़टकने देवें। अपने इस आत्मप्रतीतिकी पद्धति आवे तो सुगति है। बाह्य परिग्रहसे सुगति नहीं है।

३१६. मोहीजनोंकी अशुभ वृत्तिकी प्रकृतिका दिग्दर्शन—एक कथानक आता है। नारदने संसारकी सैर करनेकी सोची तो सबसे पहले नरकमें गया तो वहाँ खड़े होनेको भी जगह नहीं मिली। तब स्वर्गमें गया, वहां विष्णुसे बोला नारद 'तुम बड़े अन्यायी हो जो

कि नरकमें बिल्कुल स्थान खाली नहीं छोड़ा और यहाँ सब साफ मैदान है। तो विष्णुने कहा—जो भी आना चाहे उसे स्वर्गमें ले आओ, यहाँ काफी जगह है। नारदने मध्यलोकमें आकर एक वृद्ध पुरुषसे कहा कि तुम स्वर्गमें चलो तो उसने चलनेकी अपेक्षा गालियां दीं, यही हाल युवाओं व अन्यने किया। किसीको भी मरना पसन्द नहीं हुआ। तब मन्दिरके पास आकर बोला—जो स्वर्ग हमारे साथ चलना चाहे चले। तब एक लड़का बोला, चलो मैं तैयार हूं। थोड़ी देर बाद कहता ठहरो एक बात याद आ गई। अभी अभी मेरी सगाई हुई है अतः विवाह करके दो वर्ष बाद चलेंगे। दो वर्ष बाद नारद लेने आया तो बोला, अभी-अभी बच्चा पैदा हुआ है उसे बड़ा हो जाने दो, कुछ ५–७ वर्ष बाद चलूंगा, ५–७ वर्ष बाद नारद फिर आया तो कहने लगा, लड़केको पढ़ लिखकर बी. ए., एम. ए. हो जाने दो, फिर चलेंगे। लड़का पढ़ चुका तब नारद जी फिर आये कहा चलो स्वर्गको, तो उत्तर देता है 'लड़का कुपूत निकला, अब जो मैंने धन कमाया है उसे रखावेगा कौन? खूब कमाया रखाया बादमें मर कर सर्प हुआ। तो वहां भी नारद लेने आया तो फण फुला कर कहता है—हूं, धन तो हम ही रखावेंगे। इससे सिद्ध होता है स्वर्गमें भी कोई आना नहीं चाहता, क्योंकि कहा है 'मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता,' सो मरने पर स्वर्ग मिलेगा। मरना किसी भी मोहीको इष्ट नहीं है। कथानकका तात्पर्य यह है कि अच्छे कर्मोंसे स्वर्ग मिलता है और वस्तुका स्वरूप विचारनेसे मोक्षमार्गमें लगते हैं। मोक्षमार्गके लिए भावोंके अतिरिक्त और करना क्या है, घरमें २–४ आदमी होवें तो तप कर लेवें, तुम भी मोक्षमार्गमें लगो और हम भी मोक्षमार्गमें लगें, जिससे अगले भव (जन्म) सुधरें। इसके अलावा इज्जत चाहना, धन चाहना निस्सार है। संसारके सब पदार्थ नगण्य हैं। इसलिए इनमें विश्वास कैसे करें? उत्तम भाव यद्यपि कठिन है, किन्तु उनका फल आनन्द-प्रद है।

३१७. अपने भवितव्यकी अपनेपर निर्भरता—उदयभानुके बहिनोई वज्रभानुकी शादी हो गई। १० दिन बाद उदयभानु बहिनकी लिवाने गया तो १० दिनमें इतना मोह हो गया कि पत्नीके पीछे पीछे यह वज्रभानु भी चल दिया। चलते चलते जंगलमें पहुंचे। वहाँ एक साधु नग्न ध्यानमुद्रामें मग्न थे। वज्रभानुने देखते ही सोचा, हाय! मैं कितना दुखी हूं, कितनी आकुलतामें पड़ा हूं और ये साधु कितने निराकुल हैं? उसे एकदम वैराग्य हो गया और साधुको एक चित्तसे देखने लगा। साले उदयभानुने मजाक की, क्या तुम मुनि होना चाहते हो तो वज्रभानुने कहा कि हाँ तुमने मनकी बात कही, अगर मैं मुनि हो जाऊंगा तो क्या तुम भी हो जाओगे? साला तो समझ ही रहा था कि यह थोड़े ही मुनि वगैरह हो सकता है, अतः चटसे कह दिया—हाँ और श्री वज्रभानु शीघ्र मुनि हो गया, साथ ही उदय-

भानु भी मुनि हो गया। पति व साला कैसे विरक्त हुए यह सब देखकर चकित रह गये, वाह! इतना बड़ा मोह बदल गया है। अब इन्हें कोई विकल्प नहीं। इस घटनाका उसपर असर पड़ा। वज्रभानुकी स्त्री यह नाटक देखकर दंग रह गई। उसने भी वैराग्ययुक्त चित्त बनाया। कहां इन विषयभोगोंका मोह और कहाँ इस वैराग्ययुक्त आत्माका भावनमस्कार, कितना अन्तर है? पवनञ्जयको तो सगाई होनेपर भी ३ दिन सह्य नहीं हुये थे। आजकल भी कोई घरसे बाहर निकले तो जेबमें से पोस्टकार्ड निकाला और लिख दिया 'चिन्ता नहीं करना' हम गाड़ीमें बैठ गये। फिर लिखेंगे, अब धर्मशालामें ठहर गये। और इन्हें देखो। जब स्वस्वरूपका आनन्द आ गया तो फिर क्यों लोभमें पड़ रहे कि अभी कुछ और कर लेने दो। कई मनुष्य कहते, समय नहीं मिलता २४ घंटेमें ६ घंटा तो न्यायानुकूल निकलता है किन्तु ६ घंटे नहीं सही, ३ घंटा ही निकाला जाय। समय मिलनेपर भी मनुष्य तास, टी पार्टी, घूमनेके रमबोट खेलने, गप्पें हांकनेमें खो देते है। ३ घंटा धर्ममें समय देनेसे सन्तोष तो रहेगा, नहीं तो बड़ी अवस्थामें पछतावा हाथ रह जायगा कि कुछ नहीं कर पाया। यह सोचकर व्यर्थ समय न खोकर तत्त्वचर्चामें समय लगावे। आत्माका क्या हित है, तथा दूसरेका भी पारलौकिक हित हो सके वह कार्य करे। शुरू शुरूमें १० दिन अभ्यास करके देखे, बादमें धर्मकार्य जीवनके मुख्य अङ्ग बना लेवे। धन कमानेके बराबर कठिनाई भी तो धर्ममें नहीं है। धर्ममें प्रीति जोड़ना चाहिए।

३१८. **कर्ताकर्मकी समस्या सुलझानेकी अत्यावश्यकता**—विकल्पोंका संकट मेटनेके लिए कर्ता कर्म विषयक समस्याका सुलझा लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। जब तक यह जीव कर्ता कर्म भावोंके यथार्थ रहस्यको नहीं जानता तब तक इसकी दृष्टि परसे हट नहीं सकती। कर्ता कर्म परमार्थसे वही एक पदार्थ होता है, निश्चयसे किसीने क्या किया? खुद में अपना परिणमन। तो एक दूसरेका निमित्त होता है यह कथन व्यवहारसे है। और उस ही दृष्टिको मुख्य करके कहना कि एकने दूसरेको यों कर दिया—वह व्यवहार कथन है। उस व्यवहारके कथनमें भी यदि सच्चाई जानते रहें तो व्यवहार है अन्यथा अज्ञान है और मिथ्यात्व है। किसीने घीका घड़ा कह दिया तो समझाने वालेके चित्तमें यह समझ रहती कि यह घड़ा तो मिट्टीका ही है, इसमें घी पड़ा है। तो घी का घड़ा कहना व्यवहार है। और कोई इस मर्मको न जाने और ऐसी ही समझ रखे कि जैसे पीतलका घड़ा होता, ताम्बेका होता ऐसे ही घी का घड़ा होता होगा। तो उसका यह कथन झूठ है। व्यवहारमें भी सच्चाईका बोध रहता है। सच्चाईके बोध विना भी व्यवहार नहीं, वह तो अज्ञान है और मिथ्या है। कर्ता कर्मपना वस्तुतः उस एक चैतन्यमें होता है। जैसे एक अंगुली है, यह सीधी है, इसे टेढ़ी कर दिया तो पूछेंगे कि किसने टेढ़ी की और किसको टेढ़ी की? तो

जैसे यहाँ यह उत्तर मिलेगा कि अंगुली ने ही टेढ़ी की और अपनेको टेढ़ी की, ऐस अंगुलीको टेढ़ी करते समय इस अंगुलीके सम्पर्कमें कोई सूत या सींक वगैरह आया हो तो वह भी टेढ़ा हो जायगा। इतने पर भी अंगुलीने सींकको टेढ़ा किया—यह कथन व्यवहारसे है निश्चय से नहीं है। क्योंकि एक द्रव्यकी बात उसही में नहीं देखी गयी, सम्बन्ध बनाया गया दूसरे का। तो ऐसे ही जब अपने आत्माके बारेमें सोचा जाता है कि यह मैं आत्मा करता क्या हूं तो इस दृष्टिसे देखना है कि मैं आत्मा कितना हूं और वह कर क्या सकता है ? मैं आत्मा कितना हूं, क्या हूं— यह बात जीवजीवाधिकारमें बहुत अच्छी तरहसे समझा दिया है। जिसका सारांश यह है कि यह मैं उतना हूं कि मेरा सर्वस्वसार जितनेमें व्याप्त है। कितने में व्याप्त है ? चैतन्य शक्तिमें। तो चित्स्वरूपमात्र मैं हूँ। लाग लपेट रहित शुद्ध आत्मतत्त्व का स्वरूप यह है चैतन्यस्वरूपमात्र। उस स्वरूप दृष्टिमें परिणमन नहीं निरखा जा रहा, इस कारण वहाँ कर्ता कर्मकी बात भी कही नहीं जा सकती। किन्तु कोई भी पदार्थ परिणमन शून्य नहीं हो सकता। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होना पदार्थका स्वरूप है। सो भले ही हम आत्मपदार्थमें स्वभावदृष्टिको निरखकर एक चित्स्वरूपमात्र निरख रहे हैं। यह हमारी एक परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि है, फिर भी यह चित्स्वरूपमात्र जो आत्मतत्त्व है वह उत्पाद व्यय कर ही रहा है। तो इसका जो कुछ उत्पाद होता है, आत्मामें जो कुछ परिणमन होता है वह परिणमन तो है आत्माका कर्म और उसके करने वाला यही आत्मा कहलाता है कर्ता। कर्ता कर्मको हम निश्चयसे जो कुछ समझते हैं उसको इन शब्दोंमें भी कह सकते हैं कि परिणमने वाला और परिणमन इनमें जो परिणमने वाला है वह तो है कर्ता और जो परिणमन है वह है कर्म।

३१९. **कर्ता कर्म शब्द कहनेकी आवश्यकताका कारण**—यदि कर्ता कर्म ये शब्द ही न होते और परिणमने वाला व परिणमन इन शब्दोंसे ही सारे प्रयोग किये जाते तो यह विषय समझनेमें निःसन्देह स्पष्ट आता। जहाँ निमित्तनैमित्तिक भावकी भी बात बतलानी पड़ती वहाँ यों कहा जा सकता था कि अमुक द्रव्यका निमित्त पाकर अमुक इस प्रकार परिणम रहा है, बात बहुत स्पष्ट जंच जाती है इस शब्दमें कहनेका व्यवहार होता तब। कोई जिज्ञासा करे कि फिर क्यों न इन्हीं शब्दोंमें व्यवहार चले ? परिणमन वाला और परिणमन—इतने ही शब्दसे सारी बात बतायी जाती तो बड़ा अच्छा था। करना कर्ता, कर्म इन शब्दोंको रखा ही क्यों गया है ? इनका प्रयोग न करके परिणमनका प्रयोग रखना और उस प्रयोगमें भी निमित्तनैमित्तिक भावकी भी बात खूब बतायी जा सकती थी। कर्मोंके उदयका निमित्त मात्र पाकर यह जीव स्वयं अपने में रागादिकरूप परिणम रहा है। ऐसा कहनेमें निमित्तकी बात आ गयी ना ? तो इन शब्दोंमें न कहकर कर्ता कर्मके

प्रयोग क्यों बनाये गए ? समाधानमें यों कह लीजिये कि बनाये क्या गए कर्ता कर्मके प्रयोग, करने पड़े प्रयोग। कारण यह है कि जो परमार्थ कर्ता कर्मस्वरूपको समझता है उसे तो समझाना ही क्या है ? जो परमार्थ भेदके निरखने वाले ज्ञानी संत हैं उनको तो समझाना ही नहीं है। समझाना है अज्ञानी जीवोंको। जो अज्ञानी जीव कर्ता कर्मके व्यवहारमें अटके हुए हैं उन्होंने तो बिना परिणमने वाला व परिणमन यह शब्द भी न सुन रखा हो अथवा सुना भी हो तो उनका प्रयोग भी नहीं होता है। जिन जीवोंको परपदार्थोंमें करनेका आशय पड़ा है, अनादिकालसे कर्ताकर्मबुद्धि लगी है, मैं मकानको करता हूं, दुकानको करता हूं, शरीरको करता हूं, मित्रोंको करता हूं, पुत्रोंको पढ़ाता हूं, इतनोंको पालता हूं आदि, तो समझाना उनको है। और उनको उनकी ही भाषामें समझाना है तभी वे समझ सकेंगे। वे जिस प्रकार समझाये समझ सकें उसी प्रकारके शब्दोंका तो प्रयोग किया जायेगा। तो जो करनेके आशयमें लगे हैं उन्हें करनेके शब्दप्रयोगसे ही समझाया जा सकता है कि भाई जो तुम्हारा यह आशय है कि मैं परपदार्थोंको करता हूं सो तुम परपदार्थोंको कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि तुम्हारा सत्त्व तुम्हारेमें भी परिपूर्ण है, परका सत्त्व उस परमें परिपूर्ण है। तुम्हारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, तुम्हारी कोई चीज, तुम्हारी शक्ति गुण, तुम्हारी परिणति कुछ भी बात तुममें से निकलकर दूसरेमें नहीं पहुंच सकती। खूब विचार लो, यदि एक पदार्थकी शक्ति गुण परिणति दूसरे पदार्थमें पहुंचती होती तो इसके मायने यह हैं कि वह पदार्थ खाली हो गया। उसकी शक्ति तो दूसरेमें पहुंच रही है तो यह कम हो गया और वह बढ़ गया। जिसमें एककी शक्ति परिणति पहुंची वह वजनदार हो गयी। इस तरह वह भी करता हो गया। सारे पदार्थ करते होंगे कि एककी कोई पर्याय दूसरेमें पहुंच जाती है तो लो अस्तित्वमें ही खतरा हो गया। किसी पदार्थका अस्तित्व भी न बन सका। तो ये पदार्थ जो वर्तमान हैं उनका अस्तित्व बना रहनेका यही तो कारण है। जब किसी भी पदार्थका गुण पर्याय आदिक कुछ भी अन्यमें नहीं पहुंचता तब फिर तुम परके कर्ता कैसे कहला सकते हो ? और भी देखो जिस परको करनेका तुम ख्याल बना रहे हो उस पदार्थ में वैसा होनेका सामर्थ्य है या नहीं ? यदि उसमें वैसा होनेकी सामर्थ्य है तो वह अपनी सामर्थ्यसे वैसा हो रहा है। उसमें इसने क्या किया ? यदि उसमें उस प्रकार बननेका सामर्थ्य नहीं है तो तुम क्या, अनन्त पदार्थ जीव मिलकर उसपर कुछ जो चलें तो वह उस प्रकार बन नहीं सकता, तो तुम निमित्त तो हो किसी-किसी पदार्थके परिणमनमें। आश्रय तो बनते हो, पर तुम करने वाले अपनेके ही हो, दूसरेके नहीं। यह बात समझायी जाती है अज्ञानी जीवोंको। तब करने शब्दका प्रयोग करना पड़ रहा है।

३२०. कर्ताकर्मविषयक मर्मका परिचायक शब्दसन्दर्भ—यहाँ विशुद्ध शब्द संदर्भ

यह रहता कि परिणमने वाले और परिणमन। प्रत्येक पदार्थ परिणमनका स्वभाव रखता है, प्रतिक्षण परिणमता रहता है, उसका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। तो जो उसका परिणमन है वह तो है कर्म और जो परिणमने वाला है वह है कर्ता। जब हम ऐसे इन बाहरी पदार्थोंमें निरखते रहेंगे, घटित करते रहेंगे तो हमारा अभ्यास बनेगा वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपका परिज्ञान करनेका। जैसे अज्ञानीजन बाहरी पदार्थोंके सम्पर्कमें ऐसा समझ रहे हैं कि अमुकने देखो अमुकको ऐसा कर दिया। तो ऐसी अनेक घटनाओंमें ज्ञानी पुरुष इस तरह से भी निहार सकते है, आप हम इस तरहसे भी देख सकते हैं कि देखो इस तरह परिणमा तो यहाँपर इसका यह निमित्त मिल गया। तो यों निमित्तनैमित्तिक भाव अंगीकार करते हुए परिणमने वाले पदार्थमें परिणमनका और उसके कर्तापनका सम्बंध समझते हुए परिज्ञान करनेका अभ्यास किया। अपने आपमें भी मैं अपनेको ही करता हूं, इस प्रकारके स्पष्ट बोध का कारण बना है। मैं आत्मा भावात्मक हूं। चैतन्यभाव, ज्ञानभाव, दर्शनभाव आदि ऐसे भावस्वरूप यह मैं आत्मा क्या करता रहता हूं ? इसमें हाथ पैर मूर्तिकता तो है नहीं जो परका स्पर्श भी कर ले। यह तो अपने भावस्वरूपमें भावरूपसे रहा करता है। तो यह भाव स्वरूप आत्मा अपने उस भावका ही करने वाला है। अज्ञानी जन विकल्पात्मक परके सम्बंध का आशय रखने वाले विकल्प किया करते हैं और ज्ञानी जीव अपने ज्ञानमय भावोंको करता रहता है। वह भी व्यवहारमें बहुत-सी बातें कहता है पर यथार्थ प्रतीतिसे विचलित नहीं होता।

३२१. व्यवहारस्तवनके मर्मका परिचय होनेपर व्यवहारस्तवनमें व्यवहारत्व—स्तवनोंको लोग पढ़ा करते हैं—द्रोपदीका चीर बढ़ायो, सीतापति कमल रचायो। और मान लो महावीर स्वामीकी स्तुति कर रहे हों, महावीर चालिसा आदिकमें, उसमें भी ऐसा लिखा हो कि हे प्रभो ! आपने द्रोपदीका चीर बढ़ाया, और इसको कोई यों सत्य समझ ले तो भला बतलावो द्रोपदी तो पहिले हुई, महावीर स्वामी तो अब हुये, तो यह उसका चीर बढ़ाने कैसे पहुंच गए ? अथवा मान लो उस समय नेमिनाथ भगवान थे, सो उनकी स्तुतिमें कहा जा रहा है द्रोपदीका चीर बढ़ायो, तो वे नेमिनाथ भगवान अपना आसन छोड़कर अपने अध्यात्म ज्ञानानन्दरस अमृतको छोड़कर विकल्पोंमें वहाँ पहुंचे हैं क्या ? और वहाँ चीर बढ़ाया है क्या ? उससे पहिलेके भगवानोंकी स्तुतिमें इसे लगायें तो वे अनन्त चतुष्टयके धनी वीतराग विशुद्ध सर्वज्ञ अपने उस उत्कृष्ट स्वसमयको छोड़कर यहाँ द्रोपदीका चीर बढ़ाने आये थे। तो ऐसे स्तवनोंको यदि कोई ठीक भाव समझकर कर रहा है कि भक्त पुरुष प्रभुकी भक्ति करते हैं और प्रभुभक्तिमें पुण्य रस उमड़ता है, पापरस घटता है। उस पुण्यबंधमें ऐसा अतिशय हो जाता है कि चीर बढ़ जाय, अग्निका जल हो जाय। तो ये सब इस तरहसे हुआ करते है, ऐसा सही बोध रखते हुए कोई भक्तिमें यों भी पढ़ने लगे तो उसके लिए दोष

न आयगा। जो इस यथार्थ रहस्यको नहीं जानता और सीधा ही यों समझता है कि जैसे किसी महिलाने रोटी बनाया, किसी पुरुषने कोई पुस्तक लिखी, इसी तरह भगवानने आकर द्रौपदीका चीर बढ़ा दिया तो उसका भाव सही नहीं है।

३२२. निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्य समझनेका ज्ञानबल—निमित्तनैमित्तिक भावका विरोध इस डरसे करना कि वस्तुकी स्वतंत्रता कहीं नष्ट न हो जाय। तो यह उनके ज्ञानकी कमजोरीसे भय उत्पन्न हुआ। जगतमें निमित्तनैमित्तिक भाव व्यवस्थित है। जिस प्रकार जो होनेको है सो उस ही निमित्तनैमित्तिक विधिमें होता है अन्यथा यह संसार घटित ही न हो सकेगा। यह जीव क्यों नाना परिणमनोंमें आ गया है? जीवके स्वरूपमें तो यह बात नहीं पड़ी। क्यों इससे विपरीत विचित्र परिणमन चल रहे हैं? तो समझना पड़ेगा कि यह निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था है। तो उनका विरोध करना बुद्धिमानी नहीं है, लेकिन निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी प्रत्येक पदार्थ केवल अपने परिणमनसे ही परिणमता है, किसी निमित्तभूत आश्रयभूत दूसरे पदार्थका कुछ ग्रहण करके नहीं परिणमता। ऐसी स्वतंत्रता जान लेना बुद्धिमानी है। निमित्तनैमित्तिक भाव समझकर भी वस्तुस्वातंत्र्यको समझने वाला ज्ञान एक प्रबल ज्ञान है।

३२३. कर्ताकर्म भावका अर्थ—यहां कर्ता कर्म अधिकारमें यह बताया जा रहा है कि परमार्थतः किसी भी वस्तुका किसी अन्य वस्तुमें तादात्म्य सम्बंध नहीं है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ स्वयं स्वतः परिपूर्ण सत् है। जो इस मर्मको नहीं जानता है और इसके विपरीत परभावोंमें परतत्त्वोंमें यह मैं हूं, इनमें तादात्म्यरूप मैं हूं, एक हूं, यों अभेदभावमें जिसका एकीकरण है वह पुरुष परको करनेका, परमें ठहरनेका, परभावोंमें रहनेका, परसे अपनी उन्नति माननेका विकल्प रखेगा ही, और यह विकल्प मिथ्या है, कार्यकारी नहीं है, याने जैसे सोचा कि मैं अमुक पदार्थको यों कर दूं तो क्या इस भावसे वह पदार्थ उस रूप परिणम जाता है? नहीं। तो फिर ये विकल्प मिथ्या हुये, अर्थ क्रियाकारी न रहे। जैसे ५० मन बोझसे लदी हुई गाड़ीको दो बैल खींचे लिए जा रहे हैं और गाड़ीके पीछे दो चार बच्चे लग जाते हैं, उसको ढकेलते हैं तो उस चलती हुई गाड़ीको ढकेलते हुए वे बच्चे सोच रहे हैं कि मेरे चलानेसे गाड़ी चल रही है, बड़े खुश हो रहे हैं। कहीं वे बैल खड़े हो जायें तो वे बालक बड़ा जोर लगाते हैं, कल्पनायें करते हैं, दुःखी होते हैं तो वे समझ रहे थे तब कि मैं गाड़ीको चला रहा हूं, सो अब जब गाड़ी नहीं चल रही है तो वे दुःखी हो रहे हैं। ये सारी बातें होती जा रही हैं हमारे वातावरणमें, हमारे सम्पर्कमें, जो जो कुछ यह सब चल रहा है चल रहा है। हम आश्रयभूत भी हैं। जैसे दुकान चलती हो, घरका काम चल रहा हो, जो भी व्यवहार चल रहा हो, उन समस्त प्रसंगोंमें यदि यह बुद्धि रखी जाय कि यहाँ

भी मैं कर क्या कर रहा हूं किसी दूसरेका ? दूसरे लोग अपने परिणमनसे परिणमते जाते हैं; किन्हीं प्रसंगोंमें मेरा परिणमन, मेरा व्यवसाय चलना परिणमना आश्रय पड़ जाय, इतनी बात तो है पर मैं उन्हें कर कुछ नहीं रहा। ऐसी बुद्धि व्यवस्थित रहे और अब तो अनुकूल परिणमन चल रहा, अतः कोई समस्या नहीं मान रहा। जब अनुकूल परिणमन नहीं चलता तो अज्ञानीजन समस्या मानते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव समस्या नहीं मानते। वे जानते हैं कि जब अनुकूल कुछ परिणमन हो रहा था उस समय भी मैं परका कुछ नहीं कर रहा था और वह बात आज बिल्कुल सही समझमें आ गयी। जिस बातको मैं पहिले समझ रहा था अब तो वह प्रमाण उसके लिए आया है सीधा डटकर। उसमें तो खुशी होती है कि जो मैं जान रहा था सो देखो ना, यह बात स्पष्ट और हो गयी। मेरे सोचनेसे, मेरे भावोंसे परपदार्थका कुछ नहीं बनता।

३२४. कर्ताकर्म भावके यथार्थ परिचयका प्रभाव--परमार्थ भूत कर्ता कर्मके भावको समझनेसे क्या प्रभाव पड़ता है अपने आपपर तो देखिये। मैं ज्ञानरूप हूँ, ज्ञानमय मुझमें भेद नहीं, यह अलग तत्त्व नहीं, ऐसा निरखनेपर ज्ञानमें यह आत्मा ठहरता है ना ? और जब यह ज्ञानमें ठहर गया तो ऐसा जो कुछ ज्ञान परिणमन हो रहा वह स्वभावभूत बात है। तो उसका निषेध किया ही नहीं जा सकता। तो वहां क्या प्रभाव बन रहा कि वह जान रहा है, ज्ञाता हो रहा है। ज्ञानमें रहता हुआ वह निराकुल परिणमन चल रहा है। अब जैसे कि अज्ञानी जन आत्मामें और रागादिक विकारोंमें विशेषता नहीं जान रहे, मैं हूँ, चेतन हूं, रागादिक विकार हैं क्षणिक औपाधिक, परभाव, यों जब भेद नहीं जानता तो जैसे ज्ञानी ज्ञान और आत्मामें भेद न जाननेसे ज्ञानमें निःशंक रह रहा था तो यह अज्ञानी रागादिक विकारोंमें और आत्मामें भेद न जाननेसे यह विकारोंमें निःशंक ठहर रहा है। तो यद्यपि ऐसा न करना चाहिये। ये रागादिक भाव परभाव हैं किन्तु इसे तो पता नहीं है, उसे तो स्वभावरूप मान रहा है। जब वह क्रोध करता है, राग करता, द्वेष करता, मोह करता, क्षोभ मचाता, बेचैनीमें रहता, बरबाद हो जाता यह प्रभाव होता है परमें कर्तृत्वका आशय रखनेसे। जिन्हें शान्ति चाहिये, निर्विकल्प दशा चाहिये, उनको कर्ता कर्मके मर्मका निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। परमार्थ दृष्टिसे मैं चैतन्यभावात्मक पदार्थ हूं और द्रव्यत्वके नातेसे निरन्तर परिणमता रहता हूं, सो जो परिणमन है वह तो मेरा कर्म है और जो यह मैं परिणमने वाला हूं सो यह मै कर्ता हूं। मैं किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं हूं। इस प्रकारका निश्चय निर्णय रखने वाले पुरुष का परकर्तृत्वके आशयसे रहित होनेके कारण परिणमन अनुकूल समाधान रूप रहा करते हैं और इस समाधान रूपमें वे अपनेको कृतार्थ तृप्त अनुभव करते रहते हैं।

दे दी और इसने सादा दाल और रोटी ही बनाई तो समाज वाले जीमकर कहते हैं "यह इन तीनोंसे चालाक निकला। यह सबसे बड़ा है। सो इसने सब जायदाद रख ली होगी, जिमाने में इतना चुस्त निकला" अब बताइये सबको खुश करना चाहे तो कौन कर सकता है? किस किसने त्यागी, पंडित, समाजसेवक, मुखिया पंचों आदिको खुशकर पाया है और कौन कर सकता है और उनको खुश करने से क्या लाभ मिलेगा तथा आत्महितमें बिरादरी वालों एवं घर वालोंसे लाभ भी क्या मिलेगा?

३२६. स्वार्थपरताका एक दृष्टान्त—कितनी भी किसी की सेवा कर लो लौकिक लोग मौज तकके साथी हैं। एक सेठके ४ लड़के थे, ५ लाखकी जायदाद थी। सबको एक एक लाख बांट दिया। अपना धन भी एक लाखका उसने पाया। उस सेठने अपना धन भीतोंमें चिनवा दिया। कुछ समय बाद वह अत्यन्त बीमार पड़ गया, मुंह बोलना बन्द हो गया, सुन सब लेता था। अन्तमें पंच लोग आये तो कहा -क्या दान करना चाहते हो वह कर दो। तुम्हारा यह अन्तिम समय है तो सेठ मुंहसे बोल नहीं पाये, हाथोंसे इशारा बतावे जो इनमें है अर्थात् भीतोंमें है वह सब दानमें लगा दो। सेठके लड़कोंसे इशारेका मतलब पूछा तो क्या कहें वे लड़के कि जो धन था वह मकान बनानेमें लगा दिया, अब कुछ नहीं बचा, ऐसा कहना है पिता जी का। सेठ सब सुन रहा है उसकी भावना यह है कि एक लाख रुपये पुण्य कार्यमें खर्च करना है, किन्तु वह विवश है, वह सब कृत्य देखकर दुःखी हो रहा है। अतएव सर्व बात भूलकर यह उद्देश्य बना लेवे—मैं शान्ति पानेके लिए क्या करूं? मुझे आखिर क्या करना है? दुःख देने वाली क्या चीजें है? घर कुटुम्ब यह तो पर चीजें हैं, रागद्वेषके बलपर यह टिकती हैं। यह निर्णय कर लो दुःख रूप होनेसे हटाकर अपना उपयोग अपने ही में लगावें।

३३०. आलम्ब्य तत्त्वकी गवेषणा--जब तक परपदार्थोंका व अपनी आत्माका अन्तर नहीं जाना जाता तब तक दुःख है और रागादिकमें लगाव है। अज्ञानी रागादिकमें अभेद समझता है तथा ज्ञानी जीव मानता है—रागादिक नष्ट होने वाले हैं, रागादिकके भाव भी नष्ट होने वाले हैं, फिर मैं क्यों उन्हींका सेवन करता रहूं। ज्ञानी ज्ञानमें तन्मय हो रहा है। ज्ञान ही है आत्मा जिसका ऐसा मैं हूं? ज्ञानी सोचता है जो पदार्थ अलग हो जाते हैं उनमें लगावमें दुःख रहता है तथा जो अपनेमें मिलकर रहता है उसमें जो सुख है वह ज्ञान ही है। जिसका वियोग संभव नहीं उसमें सुख है तथा जिसका संयोग होकर वियोग हुआ उसमें दुःख ही है। क्रोध, मान, माया, लोभसे आकुलताएँ ही बढ़ती हैं। ऐसा तत्त्व कौनसा है जिससे आत्मद्रव्य समझमें आवे, वह है चैतन्यभाव। आत्मद्रव्यके स्वरूपको समझकर जीवत्व तत्त्वपर अडिग होना चाहिए। रागादिक तो छूट जाते है,

किन्तु ज्ञान साथ रहता है, उसका आराधन किया जावे। आत्मस्वभावका आराधन, सतत अभ्यास किया जाय तब वह आनन्द अकथनीय रहेगा। इसके विपरीत जिसमें बनावट है उसमें दुःख है और वह बनावटी भेष बन्धका ही कारण है। रागादिक सहज छूट जावें तो तत्त्व ज्ञान जाग्रत होवे। अरहन्त सिद्धके समान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान-घनमय आत्माकी क्या दशा है? हम अन्य धनोंके पीछे पड़ रहे हैं, जो दुःखके कारण हैं। अपनी ज्ञाननिधि को भूल चुके हैं जिससे दूसरेका आसरा लेनेकी आशा करते रहते हैं। किन्तु एक आत्माका ही शरण तो लिया जावे फिर क्या आनन्द नहीं आता है? मोहका प्रबल अन्धकार छाया है तो कुछ भी नहीं सूझता है। हमारे साथ कुछ भी नहीं जाना है, फिर भी दूसरोंको अपना-अपना बनाते रहते हैं, कहते रहते हैं।

२३१. सूत न कपास जुलाहेसे लट्ठमलट्ठा—जुलाहा और ग्वाला दोनों साथ कहीं जा रहे थे।। रास्तेमें एक बढ़िया मैदान मिला। जुलाहा बोला, अगर यह जमीन हमें मिल जावे तो बिनौले बुवा दूंगा, इसमें बढ़िया कपास पैदा होगा। इतनेमें ग्वाला कहता है, नहीं जी यह जमीन हमें मिल जावे तो भैंसे चराऊंगा जिनसे अच्छा दूध निकलेगा। इतनेमें जुलाहा कहता है—तू भैंसें कैसे चरावेगा? इसमें तो मैं बिनौले बोऊंगा जिससे कपास होगा। ग्वालेने कहा—हूं, बिनौले कैसे बोवेगा, भैंसे चरेंगी इसमें तो। तब जुलाहेने यों ही हाथके इशारोंसे बिनौला बो दिये, तब ग्वाला भी कहता है देख मेरी भैंस यह चरने गई, कुछ यह चरने लगी हैं, छोटे पत्थरोंको दिखाकर फेंककर बताकर दिखाया। इतनेमें जुलाहाने रोषमें आकर लट्ठ उठाया तो ग्वाला भी लट्ठ लेकर तैयार हो गया, दोनोंमें मारपीट होने लगी। जहाँ न किसीको जमीन मिली है और न किसीका अधिकार है, फिर भी मोहकी विचित्र लीला देखो—मरने मारनेको तत्पर हो जाते हैं। इसी तरह हम आत्माका सर्वस्व खोकर स्त्री, पुत्र, पति, धन, कुटुम्बी जमीन, मकान आदिके लिए अनेक दुःख उठा रहे हैं और कहते हैं—यह हमारा है, यह हमारा है। मुझे कोई जीव या अन्य पदार्थ थोड़ी भी शान्ति देनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर भी उनके पीछे बर्बाद हो रहे हैं तथा पदार्थ चिल्ला-चिल्लाकर (स्पष्ट भिन्न परिणमन बताकर) कहते हैं—हममें मोह न करो, हम तुम्हारे नहीं हैं। यह जीव तब भी कहता तुम हमारे ही तो हो, नष्ट भी हो जावे तो कहता वह हमारे पति थे या स्त्री थी। वे बड़े नामी, धनी थे गहरी दृष्टि लगाकर, एकाग्र होकर सोचो तो इस शरीर में केवल चेतनामात्र अपनी है, शरीर पिण्ड यहीं रह जायगा, जिसे जला दिया जावेगा तब मोह क्यों करें? चैतन्यमात्र अनुभव करनेकी कला सीख जावें तो परपदार्थकी आसक्ति घटी तो विकल्पजाल भी छूट जावेंगे। ज्ञानकी जो ऐसी मुख्य बात है उसमें संलग्न होना चाहिए, वह नष्ट नहीं होता, वह तो आनन्दका हेतु है या स्रोत (झरना) है।

३३२. संयोगसिद्ध सम्बन्धकी अनुपयोग्यता——रागादिकका संयोगसिद्ध सम्बन्ध है। इसके दो अर्थ हैं। रागादिक क्या पहले नहीं था और क्या अब मिट जायगा ? हाँ रागादिक पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा, लेकिन वर्तमानमें अभी है। क्योंकि राग क्षणमात्र रहता है पुनः वियुक्त हो जाता है। आत्मद्रव्य तो भिन्न है। आत्मा और कर्म दोनोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे जो परिणाम हुआ है यह संयोगसिद्ध कर्म है। मैं रागादिक कर्ता नही और रागादिक मेरा भी कुछ नहीं बनाते। जब तक भेद विज्ञान नहीं जगता तब तक अज्ञानी उन्हें अपना मानता रहता है। अपने पुत्रमें, मकानमें, स्त्रीमें तो सभी उपयोग लगाते हैं चाहे वह विरुद्ध चलने वाले क्यों न हों। अपनी फटी, पुरानी मैली कुटी भी प्रिय लगती है, किन्तु दूसरेकी नई भी हो तो उसे क्या मतलब ? उसका क्या कार्य सिद्ध होने का ? जिसे अपनी नहीं जानता उससे प्रीति नहीं करता है। तो रागादिकको सोचे यह मेरे नहीं हैं, मैं इनमें क्यों प्रीति करूं, क्यों उलझूं ? भला क्रोध तो स्वयंका सत्यानाश कर रहा है, हम सबको वे अपने इशारेपर नचाना चाहते हैं। वह नहीं नचें किन्तु हम तो कर्म बांध ही चुके। शुद्ध चैतन्यमात्र तत्त्व मैं हूं, यह अनुभवमें आनेपर विकल्प छूट जाते हैं तभी संवर निर्जरा तत्त्व प्रगट होते हैं, नाच तभी समाप्त होनेको होता है।

३३३. श्रद्धापर निःशंक प्रवर्तन दिशाकी निर्भरता——यह आत्मा अथवा ज्ञानी आत्मा तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध वाले आत्मा और ज्ञानमें अविशेष होनेसे भेद नही देखता हुआ निःशङ्क होकर आत्मरूपसे ज्ञानमें वर्तता है और ज्ञानमें आत्मरूपसे वर्तता हुआ वह जानता ही है, क्योंकि जानना तो स्वभावभूत क्रिया है उसका तो प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। देखो— ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा व ज्ञान भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं और जबसे यह सत् पदार्थ है तभीसे ज्ञान है अथवा ज्ञान व आत्माका भेद वस्तुत्व समझने के लिये गुणगुणी भेद करके बताया गया है। अब जो एक बात है उसमें अपने एकत्वकी भावनासे ज्ञानी तो जानन रूप बर्तता ही है। यह तो सत्य पद्धति है। परन्तु अज्ञानीकी बात तो देखो—वह संयोग-सिद्ध-सम्बन्ध वाले आत्मा व क्रोधादिक आस्रवमें स्वयं अज्ञानसे विशेष को न जानता हुआ जब व जब तक भेद (अन्तर) नहीं देखता है तब व तब तक निःशङ्क होता हुआ क्रोधादिकमें आत्मरूपसे बर्तता है और उन क्रोधादिक आस्रवोंमें आत्मरूपसे बर्तता हुआ यह अज्ञानी जीव यद्यपि वे क्रोधादिक आस्रव परभावभूत होनेसे प्रतिषिद्ध है तथापि स्वभावभूतपनेका अभ्यास होनेसे क्रोध करता है, राग करता है, मोह करता है। देखो— आत्मामें क्रोधादिक आस्रव अनादिसे नहीं हैं, एक क्षण आते हैं, दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं। इस कारण इन आस्रवोंका आत्मामें संयोगसम्बन्ध बताया है। अनादि परम्परासे आस्रव होते आये हैं ऐसा है, किन्तु ऐसा यहाँ नही देखना। इसका कारण यह है कि परम्परा तो

व्यक्तियोंकी निरन्तरताका नाम है। इसके अतिरिक्त परम्परा अन्य कुछ नहीं। ये क्रोधादिक परभाव हैं, इसी कारण प्रतिषिद्ध हैं, हेय हैं, किन्तु अज्ञानी उन्हें ही अपना स्वभाव समझता अथवा स्व ही मानता इस कारण अज्ञानी इन आस्रवोंमें ही बर्तता रहता है। सो देखो यह आत्मा ज्ञान होने रूप अपनी सहज उदासीन अवस्थाको त्याग कर अज्ञानरूप होनेमें ही व्यापार करता हुआ प्रतिभास होता है। लो, बस यही तो कर्तापन है, ऐसा व्यापारी आत्मा कर्ता है। और ज्ञानरूप वापरने से भिन्न और किये गये रूपसे अन्तरमें उठने वाला जो क्रोधादिक विभाव है वही तो कर्म है। इस प्रकार यह कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति अनादिसे अज्ञानजन्य हो रही है।

३३४. बन्धन और विभाव परम्पराकी अनादिता—आत्मा तो इस प्रकारसे, स्वयं अज्ञानसे, कर्ताकर्मभावसे क्रोधादिकमें बर्त रहा है। इसी क्रोधादि प्रवृत्तिके परिणामको निमित्त मात्र पाकर स्वयं ही परिणमते हुए पुद्गल कर्म संचयको प्राप्त हो जाता है। बस यहीं जो जीव व पुद्गल कर्मका परस्पर अवगाहरूप जो सम्बन्ध हो गया वही तो बन्ध है। देखो यहाँ आस्रव व कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। इस स्थलमें इतरेतराश्रय दोषकी शङ्का नहीं करना चाहिये कि जब क्रोधादिक आस्रव हो तब कर्मबन्ध हो और बद्धकर्मका जब उदय हो तब क्रोधादिक आस्रव हो। फिर सबसे पहिले क्या हो और कैसे हो? सो भैया, ऐसे इतरेतराश्रय दोषकी शङ्का न करना, क्योंकि ये आस्रव भी अनेक हैं और कर्म भी अनेक हैं और ये सब एक सन्तान रूपसे अर्थात् नैरन्तर्यरूपसे चले आ रहे हैं। इस तरह अनादि परम्परासे बीजवृक्षवत् निमित्तनैमित्तिक भाव चला आ रहा है। अत: इतरेतराश्रय दोष नहीं होता। यह बात यथार्थ है कि जीव पुद्गलका परस्पर अवगाहलक्षणक बन्ध है और यही बन्ध अज्ञानका निमित्त बनता है। यही अज्ञान कर्ता कर्मकी प्रवृत्तिमें निमित्त बनता है। जितना भी कर्मबन्ध होता है वह कर्ता कर्म बुद्धिसे होता है। वहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है—कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति कब मिट जायगी? उत्तरमें ग्रन्थकारने ७१ वीं गाथा दी है—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

३३५. आत्मा और आस्रवमें अन्तर जान लेनेका परिणाम—जब यह जीव आत्मा और आस्रवमें भेद जान लेता है, इसमें कर्मवाच्यके शब्द दिये हैं। जब इस जीवके द्वारा आत्मा और कर्मका भेद जाना जाता है तो बंध नहीं होता है। सबके अनुभवमें आई हुई बात है, जब परपदार्थमें आकर्षण होगा तो बन्ध होगा ही। जब आत्माका यथार्थस्वरूप जान लिया जावे कि सब पदार्थ स्वतन्त्र हैं, सब पूर्ण हैं। यह यथार्थ बात जान लेनेके कारण ज्ञात होगा कि आत्मा अपने कर्मका कर्ता तो जरूर है, किन्तु आत्मा इसका कर्ता

परपदार्थको निमित्त पाकर होता है। स्वभावतः कर्ता नही है। उपाधिमें रहनेसे ही विकार है। कहीं आत्माका ऐसा स्वभाव नहीं है, भेदज्ञानी हुआ कि बन्ध रुका। अशुद्ध निश्चयनय यह कहता है—मैं रागादिकका कर्ता हूं। एक देश शुद्ध निश्चयनयके द्वारा रागादिकका कर्ता नहीं है, ये रागादि पौद्गलिक है। अशुद्ध निश्चयनयमें जीव भाव कर्मोका कर्ता है। आत्मा के रागादिक शुद्ध निश्चयनयसे नहीं है, क्योंकि वह पौद्गलिक है।

शुद्ध निश्चयनयसे आत्माको शुद्ध देखनेकी दृष्टि है और व्यवहारनय से रागादिको निमित्तभव देखने की दृष्टि है। इसमें ज्ञानी ऊपरी अन्तरसे जानने की कोशिश करता है। एक देश शुद्ध निश्चयनयसे तो आत्माका मुख्य लक्ष्य रखा जाता है। व्यवहारकी बातका आत्मामें लगाव नहीं रखता। यहाँ दो बातें है, इनमें महान् अन्तर है। आत्मा रागादिकका कर्ता नहीं है, यह बात प्रतीतिमें आवे तो बन्ध नहीं होवे। स्वभाव-द्रष्टा रागसे कितना उदासीन हो जाता है? जो अपना परिणमन चल रहा है, उससे भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि परिणमन क्षणिक है, नष्ट होने वाले है, यह प्रतीति होनेपर निर्जरा, शान्ति, निराकुलता होने लगती है। वर्तमान परिणमन जो है उसका मैं कर्ता नहीं हूं। आत्माका स्वभाव निर्लिप्त होना है। ज्ञानकी भी बात करो। अमुक इस तरहका, अमुक इस तरहका इस समालोचनामें कोई विशेष लाभ नहीं होनेका। हमारी यहाँ की सम्पूर्ण बातें बुद्धिमानीरहित, व्यवहारकी हो रही है, असत्य एवं मिथ्या है, इस तरह चित्तमें प्रतीति हो तो कितनी ही विपत्तियाँ मिट जावेंगी। अपनी परिणतिमें स्वबुद्धि नही होना इतनी ही विशेष महत्त्वकी बात है। रस्सीमें सर्पका भ्रम कर रखा है, तभी तक घबड़ाहट है। रस्सीको रस्सी समझ लेनेपर सारे सन्देह चूर हो जाते हैं। इसके बाद कोई कहे थोड़े घबड़ालो, डर जाओ, देखकर भाग जाओ या सर्प नाम कहकर कहे ये सांप है तो भी अब आपके कृत्यको असत्य मानकर विपरीत ही मखौल उड़ा देगा। इसी तरह जब पर-पदार्थोका व आत्माका स्वरूप समझ जावेगा तो उससे कहो परपदार्थ कितने सुहावने लगते हैं, इनका भोग तुम्हारी यश, कार्य सफलतामें वृद्धि कर देगा तो भी वह उन्हें मिथ्या मान-कर आत्मतत्त्वपर ही अटल रहेगा। कर्ताकर्मबुद्धि समाप्त हो तो बन्ध न हो। कर्ताकर्म तभी समाप्त होगा जब अपनेमें और रागादिकमें अन्तर जान लिया जावेगा।

३३६. **कर्ताकर्मप्रवृत्तिके हटावका अवसर**—इस जीवकी जो परपदार्थोके सम्बन्धमें कर्ता कर्मबुद्धि रहती है—मैं अमुकको करने वाला हूं, बस इस बुद्धिसे इसके कर्मोका बन्धन होता है और जन्म मरण करना पड़ता है। कर्ता कर्मकी प्रवृत्तिका हटाव कब होता है, इस बातको इस गाथामें कहा है। जब यह जीव अपने आत्माके स्वरूपमें और रागादिक विकार के आस्रवके स्वरूपमें भेद जान लेता है, बस उस कालसे इसके बन्ध नही होता। बंधका

मूल कारण है आत्मामें जो औपाधिक रागादिक विकार उत्पन्न होते है उनको यह आत्मा अपने विभावरूपसे अंगीकार कर ले। यह मैं हूं—यों कलुषित परिणामोंको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण इसके कर्मोका बन्ध होता है। जिस कालमें इसको यथार्थ ज्ञान हो जाता है–यह मैं हूँ एक शुद्ध ज्ञानमात्र और रागादिक विकार होते हैं उपाधिका निमित्त पाकर, ये कलुषित भाव है। इनमें अन्तर ज्यों ही जानता है त्यों ही बंधसे हट जाता है। जैसे किसीसे प्रीति हो तो तत्सम्बंधी विचारसे आकुलता रहती है और ज्यों ही यह बोध हुआ कि यह मेरा कुछ नहीं है त्यों ही तत्सम्बंधी आकुलता हट जाती है। इसी तरह समझिये कि रागादिक विकारोमें जब तक आत्मबुद्धि रहती है, यह मैं हूं—इस प्रकारका ख्याल रहता है तव तक तो इसको बन्धन है, क्लेश है, जन्ममरण है। और जिस कालमें इसको यह बोध हो जाता है कि मै तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूं बस उस काल बंध नहीं होता। ऐसा ज्ञान हो जानेपर भी जब तक संयम नहीं होता तब तक आस्रव और बंध चलते तो है पर वे संसारके कारण न होनेसे उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। सबसे बड़ा काम तो संसारकी जड़ काटनेका है। संसारकी जड़ है मिथ्यात्व। मिथ्यात्वभावको नष्ट करनेका काम सबसे बड़ा भारी पुरुषार्थ है। ज्ञानी सोचता है कि वस्तुस्वभावमात्र होता है। जिस पदार्थका जो स्वभाव है उस स्वभावमात्र ही वस्तुका अस्तित्व है। स्वभावके मायने क्या हैं? स्वका होना। स्व क्या है? ज्ञान। ज्ञानके होनेका नाम ही आत्मा है। मैं क्या हूँ? जो ज्ञान वर्त रहा है, जो ज्ञानभाव है, ज्ञानस्वभाव है वह मैं आत्मा हूँ और जो क्रोधादिक वर्त रहे हैं वे क्रोधादिक मैं नहीं हूं।

२३७. स्वरूप और विकारमें अन्तरका दर्शन—जैसे दर्पणमें कोई फोटो आ जाती है सामनेकी चीजकी, तो वहाँ यह अन्तर देखा जा सकता है कि जो फोटोका परिणमन है वह तो दर्पण नहीं है और जो स्वच्छता है, वह दर्पण है। यद्यपि फोटोका परिणमन भी दर्पण में होता है, लेकिन दर्पणका स्वरूप स्वच्छता है। छाया तो औपाधिक वात है। इसी प्रकार आत्मामें रागादिक परिणमन हुए हैं, किन्तु आत्माका स्वरूप और स्वभाव रागादिक रूप परिणमनका नहीं है, वह तो औपाधिक भाव है। तो उसमेंसे यह छाँटना कि जो ज्ञानका होना है वह तो हूं मैं आत्मा और इसके अतिरिक्त जो विकार चल रहे हैं वे विकार आस्रव, वे मैं नहीं हूं, क्योंकि ज्ञानमें और विकारमें स्वयं स्वरूपभेद है। ज्ञानका जो होना है वह तो ज्ञानमें ही पाया जाता है और क्रोधादिकका जो होना है वह क्रोधादिकमें ही पाया जाता है। ज्ञानमें ज्ञान ही नजर आता है, विकारमें विकार ही नजर आता है। जो विकारका होना है उसमें ज्ञानका होना रंच नहीं है। जो ज्ञानका होना है उसमें विकारका होना रंच नहीं है। तो विकारमें और ज्ञानमें एक वस्तुपना नहीं है, अर्थात् एक स्वरूप नहीं है। ऐसा

जब आत्मामें और विकारमें भेद दृष्टगत होता है तो इसका बंध रुक जाता है। जो बंध अनादिकालसे बराबर चला आ रहा था, अज्ञानसे हो रहा था, जैसे मिथ्यात्वका बंध, अनन्तानुबंधी कषायका बंध, ये अनादिसे निरन्तर होते चले आ रहे थे, एक भेदविज्ञान बिना, तो जहां ही यह भेदविज्ञान होता है, अपने स्वरूपका परिग्रहण होता है, वह अनादिकालसे अज्ञानजन्य जो कर्ता कर्मकी प्रकृति चली आ रही थी वह दूर हो जाती है। जब स्वरूपभेद नहीं विदित है तो यह जीव परमें कर्तृत्वका आशय रखता है और जहाँ भेद जान लिया कि ये परपदार्थ निराले हैं, मैं निराला हूं बस उसी समयसे इसके कर्ताकर्मकी बुद्धि दूर होती है और ज्यों ही कर्ता कर्मकी बुद्धि दूर हुई त्यों ही पुद्गल कर्मका बंध भी दूर हो जाता है। इससे यह जानो कि ज्ञानमात्रसे बन्धका निरोध होता है।

३३८. कर्मबन्धनिरोधके लिये ज्ञानदृष्टिका कर्तव्य—भैया ! हम चाहते तो यह हैं कि कर्मोंका बन्ध रुक जाय, सबके चित्तकी यही आवाज है कि कर्म दुःखदायी हैं, कर्मोंका बन्ध खतम हो जाय, पर खतम होनेका उपाय यहाँ ज्ञान करना बताया है। जब तपश्चरण संयम भी कर रहे हैं तो वहाँ भी जो बन्ध निरोध है वह शरीर चेष्टावोंके कारण नहीं, किन्तु ज्ञानभावके कारण है। जहाँ वान भली भाँति अपने आपके स्वरूपके जाननेमें लग गया तो समझिये कि उसका बंध निरोध हो गया। तो ज्ञान सम्यग्ज्ञान भेदज्ञान बनानेकी आवश्यकता है। यदि धर्म पालन करना है तो मूलमें चाहिये भेदविज्ञान। अब ध्यानमें लाइयेगा कि हम अपने ज्ञानके लिए कितना उद्यम करते हैं और विकल्पोंमें हम कितना समय लगाते हैं ? तो मालूम होता है कि भेदविज्ञानके लिए हमारा कोई यत्न नहीं चल रहा, अब अपना दिमाग बदल लेना चाहिये। यदि संसारके दुःखोंसे छूटना है तो कर्मबन्धसे दूर होना चाहिये। कर्मबन्धसे दूर होना है तो कर्ता कर्मकी बुद्धि मिटा देना चाहिये। कर्ता कर्मकी बुद्धि मिटा देना है, अर्थात् मैं किसी परपदार्थका करने वाला नहीं हूं, केवल अपनेमें अपने भावरूप परिणमता रहता हूं, यों यथार्थ समझकर परमें कर्ताकी बुद्धि मिटाना है तो सम्यग्ज्ञान करना चाहिये। तो देखिये—मोक्षकी प्राप्ति ज्ञानसे होगी। उस ज्ञानमें हमें अपना बहुत यत्न करना चाहिये। अब यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि ज्ञानमात्रसे बंधका निषेध कैसे हो जाता है ? स्व और परद्रव्यके स्वरूपका सही ज्ञान कर लिया, इतने मात्रसे बन्ध कैसे रुक जाता है ? उसके उत्तरमें कहते हैं—

३३९. आत्मा अनात्मामें अन्तरज्ञायक ज्ञानमात्र तत्त्वकी मेढ़—घर या लड़केका कोई कर्ता नहीं होता है। जब तक भीतरमें मोहबुद्धि लगी है तब तक यह मोही उन्हें अपना मानकर लिप्त हो रहा है। मेरा इष्ट वियोग हो गया तो मानो दुनिया ही छिन गई। यह ममत्व परिणाम अपना अनर्थ करने वाला है। यह वोध कैसे हो ? वस्तु स्वभाव मात्र है अर्थात् स्व = अपनेमें, भवन = होना, अपनेमें स्थित होना, बाहरी पदार्थोंसे मुख

मोड़ना, ऐसे स्वभाववृत्तिका आधार तथा स्वज्ञानमात्र है। इसके अतिरिक्त आत्मा किसी पदार्थमें संलग्न नहीं है, ज्ञानमात्र है। इसके अतिरिक्त क्रोध रागद्वेष मोह ममत्व आत्मा नहीं हैं। ज्ञानका होना ही आत्मा है। पास पासमें खेत हों, उनमें अन्तर करना हो तो मेढ़ मध्यमें लगा लेवे तो वह अन्तर प्रदर्शित कर देगी। जीव और अजीव एकसे हो रहे हैं उनका फरक जानने के लिए बीचमें एक मेंढ़ लगा देवे। जितना ज्ञान मात्र है उतना आत्मा है बाकी अनात्मा है तो ज्ञानकी मेढ़ लगा देना चाहिए। स्वभाव व विभावका अन्तर करना है तो समता या ज्ञान मात्र वर्तना कर लेवे। ज्ञानमात्र तो आत्मा है उसमें राग या क्रोध की आवश्यकता नहीं है। उपाधिका विकार पाकर जो हमारे भाव हो रहे है वह मैं नहीं हूं। सोनेमें ताम्बा आदि मिश्रित करनेसे जो विकार आ गया है, उसे सर्राफ पसन्द नहीं करता है क्योंकि उसकी दृष्टि शुद्ध सोना खरीदनेकी है। विकार सहित नहीं खरीदना चाहता, उसमें शुद्ध सुवर्ण तो है लेकिन उसमें जो भैल है उसपर उपादेयकी दृष्टि नहीं लगाता। जाननमात्र जो है वह मैं हूं, बाकी मैं नहीं हूं। क्योंकि वह चेतन नहीं है। कहाँ से वैराग्य आता है, अपने रागादिकसे वैराग्य आता है तथा मोहादि पाकर बाह्य पदार्थसे यदि वैराग्य आता है तो वह कुछ ही समय तो बाह्य भेष निभा पाता है, अन्तमें वह न यहाँका रहता और न वहाँका रहता है। ज्ञानी को बाह्य पदार्थका संयोग भी रहे तो भी वह नहीं फिसलता है। किन्हीं अन्य रागोंके कारण वैराग्य आयेगा, यह बात जंचती नहीं। धन वैभव आदिमें बड़ा होकर वैराग्य आवे, यह कैसे हो सकता है? स्वतः दुःखके साधन जुटाये फिर वैराग्यको सोचा जाय, यह संसारसुभटों को ही नसीब हो सकता है। कदाचित् ऐसा भी होता है कि वैराग्य किसी हेतुसे हुआ पश्चात् तत्त्वज्ञान हेतुक हो जावे।

३४०. **परनिरपेक्षतामें निःशल्यता**—एक नगरमें दो भाई रहते थे। बड़ा भाई भवदेव और छोटा भाई भावदेव था। भवदेव सांसारिक झंझटोंको देखकर विरक्त हो गया। अन्य मुनि महाराजके दर्शन कर उसे अन्तरङ्गसे बड़ा हर्ष हुआ, हर्ष विभोर होकर वह भी मुनि हो गया। मुनि अवस्थामें कितने ही दिन व्यतीत हो गये। इसका काफी ज्ञान बढ़ गया, जिससे यह सब मुनियोंमें विशिष्ट मुनि माना जाता था। भावदेवकी कुछ समय बाद शादी हुई। भावदेव रोज भोजनके पहले मुनियोंको आहार देनेकी प्रतीक्षामें दरवाजे पर खड़ा होकर प्रतीक्षा किया करता था। शादी हुई ही थी कि उसी दिन पड़गाहने के लिए खड़ा था। सौभाग्यसे भवदेव मुनिराज आहारके लिए निकले थे, भावदेवने उन्हें पड़गा लिया। आहार देनेके बाद भावदेव भवदेवमुनि महाराजको जंगलमें पहुंचाने गया। भवदेव मुनिराजने रास्तेमें भावदेवको लौट जानेके लिए नहीं कहा और न भावदेवने ही लौटनेकी आज्ञा मांगी। मुनियोंके संघमें पहुंचा, वहाँ भवदेव मुनिराजका काफी आदर किया गया।

यह भावदेव देख ही रहा था। अब उसके मनमें आया--अगर मैं ऐसा ही लौट गया तो बड़े भाई भवदेव मुनिका अपमान करना जैसा होगा। उसके मनमें संसारके पदार्थोंसे वैराग्य कथंचित् हो गया। अब तो पारस पत्थरके संसर्गसे लोहा भी सुवर्ण होने वाला है। भावदेवसे नहीं रहा गया और उसने वहीं संघमें मुनि दीक्षा ग्रहण करली। अब तो तपस्यामें लीन हैं और कुछ भी वहाँ विकारोंको स्थान नहीं है। ४–५ वर्ष व्यतीत होने पर, भवदेव मुनिराज के मनमें आया। भावदेवकी बहू अकेली घरमें होगी, वह धर्म ध्यानमें सावधान है या नहीं, यह विचार कर चले तो देखते क्या हैं कि जहां शयनकक्ष, अतिथिगृह, विश्रामगृह आदि थे, वे चैत्यालय, स्वाध्यायशाला, सामायिक देनेका स्थान आदिमें परिवर्तित कर दिये गये। देखिए स्त्रीने कर क्या दिया था? क्या इसके पहले किसी ने उसको कुछ लिख भेजा था या उपदेश देने आया था? जैसा कि वर्तमानमें वर्षो उपदेश सुनते, शास्त्र पढ़ते है, कुछ तो विद्वान् तक होते है, फिर भी ज्ञान जागृत नहीं होता। अभक्ष्य भक्षण एवं बाजारका खान पान नहीं छोड़ते। लेकिन उस विदुषी महिलाके प्रति यह कुछ नहीं किया गया था। संस्कार ही उसके कुछ और थे, जो जेठ भवदेवके मुनि होने तथा पतिके भी मुनि होनेपर जागृत हो गये थे। भावदेव चैत्यालयमें पहुंचे, वहां पर एक स्त्री बैठी थी जो भावदेवकी पत्नी थी। उसे भावदेव ने तो पहले देखा नहीं था, अतएव भावदेवने आकर कहा–'भावदेवका मकान यही है, वह स्त्रीको छोड़कर चला गया था, वह कैसे होगी, किस तरह जीवन व्यतीत करती है, धर्मको जीवनमें पूर्णतया पाल रही है या नहीं, कहीं वह आत्मकल्याणसे विचलित तो नहीं हो रही है? यह सुन वह बैठी हुई स्त्री बोली–भावदेवकी पत्नी मैं ही हूँ। महाराज जी, आप मोह छोड़ दो। तब मुनिराज भावदेव कहते हैं—मुझे शल्य हो गई थी कि कहीं धर्मका समागम नहीं मिला होगा तो बड़ी दुखी होगी। इतना कहकर वह फिरसे अपनी तपस्यामें लीन हो गये। धर्मकी शरण बिना संपत्ति आदि कोई कामके नहीं। घरमें रहते हुए भी धर्मभाव आया, आत्मप्रतीति जागृत हुई, आत्मरुचि पैदा हुई एवं आत्मस्थितिमें सावधान हुए तो सब कार्यकारी है। मैं इतना ही हूं, इसमें परका प्रवेश नहीं है। मैं ही क्यों न परपदार्थोंसे मोह हटा लूं तो हित है। यहाँ याने निर्मोह भावमें बन्ध नहीं होता है। आत्मा अपने अन्तर परिणमनमें निमग्न रहता है।

३४१. हितलाभकी प्रयोगसाध्यता—वर्तमान जो रागादिक चल रहे हैं उनपर हमला किया जावे तो आत्मप्रतीतिमें सहायता मिले। राग होते हैं, मिटते जाते हैं। खुद पैदा होकर मरते हैं, मर जाते हैं और मरनेसे पहले दुःखोंका बीज बो जाते है। इसी तरह हमारा ख्याल बना रहता है। रागमें रहते हुए यह भी ख्याल तो पैदा होवे कि हमें करना क्या है? कष्ट होता तभी तो प्रतीति आती है कि मैं सबसे भिन्न हूं। अवसर पाकर पूर्व

संगको छोड़ देवे तथा ज्ञान रुचि है तो कोई कष्ट नहीं है। ज्ञान रुचि तभी जागृत होती है जब ज्ञानमात्रका चमत्कार समझमें आता है। इसके लिए आत्मानुभव समझमें आना चाहिए। अनुभव क्या ? आनन्द परिणमन है। उस अनुभवके द्वारा शुद्धवस्तुकी महिमा जानी जाती है। स्वात्मा क्या है, स्वपर ग्राहक शक्तिका पुञ्ज मैं हूं। ज्ञानकी अद्भुत महिमा है, इस जाननेसे कितने ही क्लेश विपदायें कट जावेंगी। बातें बनाने मात्रसे काम नहीं चलता। एक गाँवसे बाबू साहब देहली जाने लगे तो पड़ौसकी स्त्रियाँ निकलकर कहती हैं। मेरे बच्चे को एक मोटर, कोई कहती हवाई जहाज लेते आना आदि। कुछ देर बाद एक वृद्ध स्त्री दो पैसे लेकर आती और कहती हमारे बेटेको एक मिट्टीका खिलौना लेते आना। तो वह बाबू जी कहते हैं 'मां बेटा तो तुम्हारा ही खेलेगा और जो दूसरी बातें बनाकर चली गईं उनके नहीं खेल सकते। ज्ञानकी बात ही बात कर जानेमें आत्मीय आनन्द नहीं प्राप्त होगा। आत्मीय आनन्द तो उन्हें ही प्राप्त होगा जो वस्तुत्वके परिज्ञानसे आत्मस्वरूपकी उपलब्धि कर लेते हैं। अकेले बैठ जावें तो बुद्धि क्यों चलित होवे, तब तो सोचें हम तो चैतन्यमात्र वस्तु हैं, इसकी जड़ मजबूत बना लेना चाहिए। आत्मानुभवके लिए खूब सोचो, अन्य सब क्षणिक मामला है। जितना हो सके कल्याणके पथपर पग बढ़ाते जाओ। मंजिल आने तक थकना अपना काम नहीं है। मंजिल भी आ जावे तो मदमें होकर होशहवाश न भूल जावें। यह मंजिल सच्ची शान्तिप्रदायिनी सिद्ध होगी। अनेक जगह सुख पानेके लिए माथा टेका, वरदान मांगे, मनोनुकूल पदार्थ चढ़ाये, कुदेवोंके संसर्गसे भी नहीं चूके, लेकिन अब भवितव्यसे जैन धर्मकी शरण मिली है तो इस शरणको मोक्ष पानेके पूर्व तक नहीं छोड़ूंगा---यही दृढ़ श्रद्धान कल्याणकारी है।

३४२. निरपेक्ष निर्विरोध अविकार स्वतत्त्वकी उपासनाकी उत्कृष्टता---मैं शुद्ध चेतना मात्र वस्तु हूँ। रागादिकको निमित्त पाकर मोहादिरूप परिणमन कर रहा हूं। मैं ध्रुव हूं, रागादि अध्रुव हैं, रागादि आकुलताके साधन हैं, मैं अनाकुल स्वभाव हूं। जो ज्ञानका होना है वह रागादिकका होना नहीं है और रागादिक होना है वह ज्ञानका होना नहीं है। यह अन्तर जानने पर पुद्गल कर्म स्वयं रुक जाते हैं। वैराग्य न पदार्थसे होता है और न रागसे होता है। तत्त्वज्ञान ही वैराग्यका मूल है। मोही क्यों दुःखी है ? मोहियोंको असलमें पर्याय से राग है। पर्यायसे राग है--यहां भी अपनी पर्यायकी प्रधानता रही। एक राजा शत्रुसे युद्ध करनेके लिए जा रहा था। रास्तेमें दिगम्बर जैन मुनिराज मिले। राजाने भक्तिसे वंदना की और पासमें ही जाकर बैठ गया। और मुनि महाराजजीसे उपदेश देनेकी प्रार्थना की। महाराजजी उपदेश दे रहे थे कि इतनेमें राजाने शत्रुकी आहट पाई तो संभलकर बैठ गया तथा दूरसे देखा तो तलवारपर हाथ पहुंच गया एवं जब पास आती शत्रु सेना देखी तब

तलवार लेकर खड़ा हो गया। यह सब देख मुनिराज बोले, राजन् यह क्या कर रहे हो? राजा बोला 'जैसे जैसे शत्रुकी सेना पास आती जा रही है आक्रमण करनेके लिए, वैसे वैसे हमारा गुस्सा तेज होता जा रहा है। मुनि महाराज जी ने समझाया तुम ठीक करते हो, यदि शत्रुके पास होनेपर गुस्सा करते हो। शत्रु पासमें आनेपर मारनेका उपाय करना चाहिए। मगर देखो तो तुम्हारा शत्रु तुम्हारे पास आ चुका है, उसको भी तो मारनेका उपाय करो। राजा बोला, वह शत्रु कौनसा है? मुनिराज बोले—तुम दूसरेको शत्रु मान रहे हो। यही तुम्हारी मान्यता शत्रु है, इस कषायरूपी शत्रुसे युद्ध करो। जगत्में अनन्ते जीव हैं, जिसपर कल्पना कर ली उसे अपना शत्रु मान लिया है, तथा जिसमें शत्रुताके भाव हैं उसीके प्रति मित्रताके भाव बनाये जावें तो खुद ही मित्र हो जाते हैं। जो एकके लिए शत्रु है वही दूसरेके लिये मित्र है। इसलिए अपने-अपने परिणामोंमें ही शत्रुपना और मित्र-पना विद्यमान है। विकल्प निरर्थक करके अनन्ते भावोंका घात कर रहे हो। यह उपदेश सुन राजाने उसी समय विषयकषायोंका दमन करनेके लिए तथा निजस्वरूप प्राप्त करनेके लिए कपड़े छोड़कर वहीं मुनि दीक्षा ली और वह ध्यानमें अवस्थित हो गया। शत्रुकी सेना पासमें आकर राजाको ध्यानावस्थित देखकर सोचने लगी, कितने समता परिणाम हैं? यह सब देख शान्त हो गये और मुनिराजोंकी वंदना करके वापिस चले गये।

३४३. दृढ़तर ज्ञानोपासनाके बिना संस्कार बदले जानेकी अशक्यता—देखो तो भैया! आत्मा परमात्मस्वरूप है, यह तो परमब्रह्म है। अपने गुणों द्वारा बढ़कर उत्कृष्ट पदमें स्थित होनेका इसका स्वभाव है। लेकिन हम कितने अनर्थ कर रहे हैं, बाहर कुछ भी नहीं है, खुदकी कल्पनायें करके विडम्बना बना रहे हैं। आधा मिनटको भी विचारोंकी चक्की नहीं छोड़ना चाहते हैं। बिरलोंको छोड़कर विचारोंकी चक्की खत्म नहीं होती। सैकड़ों तो अनेक संपत्तियाँ छोड़कर आत्मकल्याणके पथमें लग गये, किन्तु मोही जीव यहीं भ्रमण करते रहते हैं। संस्कार जीवनपर बड़ी अमिट छाप डाले रहते है कि उन्हें अच्छा समागम पाकर भी बदलनेमें दुःख जैसा अनुभव होता है। एक मालीकी लड़की और धीमरकी लड़कीकी आपसमें गाढ़ मित्रता थी। मालीकी लड़कीकी शादी शहरमें हो गई और धीमरकी लड़कीकी गांवमें। अब जो धीमरकी लड़की की शादी हुई थी वह लड़की टोकनीमें मछलियां बेचने ले गई और बेचकर जब वापिस आई तो रात्रि हो गई, मनमें आया मालिन सहेलीसे मिलती जाऊं। रात्रि होनेसे मालिनने रात्रि वहीं बितानेको कहा, वह रह गई। तब मालिनने सोनेको पलंग बिछा दिया और उसपर कपड़ोंके ऊपर बढ़िया बढ़िया फूलोंकी कलियां बिछा दीं। जब धीमरनी सोनेको गई तो उसको नींद नहीं आई। तो मालिनने कहा—नींद क्यों नहीं आती? उत्तरमें धीमरनी कहती—क्या करूं, यह क्या बिछा दिया,

इसकी बदबूसे नींद आना मुश्किल हो रहा है। तब सब फूल हटा लिए गये। फिर भी कहती है इन कपड़ोंकी बदबू तो गई ही नहीं, मैं तो मरी जाती हूं बदबूसे। इसलिए सिराने मछलियों वाला टोकना रख दे जिससे नींद आ जायगी। टोकनाके पानीसे छींटे लगानेसे बादमें उसकी सुगंधिसे नींद आई। इस मोही जीवमें कैसी वान पड़ी है कि स्वच्छ ज्ञा से भरा आत्मा फिर भी परपदार्थोंसे मोह नहीं छोड़ता। कितना वैभवयुक्त, सर्वद्रव्योंमें सारभूत है यह और इसमें कैसे भाव हो रहे हैं जिसमें अपने ज्ञानका घात कर रहे हैं।

३४४. वर्तमान अवसरकी उपयोगिता—जो अवसर गया वह अवसर फिरसे आवेगा, यह सोचना ही भ्रमसे पूर्ण है। मनुष्य देह, स्वस्थ्य शरीर, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता पाई, फिर भी यहाँ आत्मसाधन नहीं कर पाया तो फिर कहां करोगे? इस जीवका अनादिगृह निगोद है। वहांसे कठिनाईसे निकला तो स्थावर हुआ। स्थावर इसलिए है कि निगोद वनस्पतिका भेद है। वनस्पति साधारण और प्रत्येकके भेदसे दो तरहका होता है। निगोदिया जीव साधारणवनस्पतिकाय होता है। वहांसे निकलकर यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकायिक एवं प्रत्येकवनस्पति कायिक स्थावर हो सकता है। स्थावरसे द्वीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ तथा नारकी देव आदि हुआ। इन सबमें मनुष्य जन्म दुर्लभ है। पं० दौलतरामजीने छहढालामें क्या ही उत्तम कहा है—'बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रहो। अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो॥ इन अवस्थाओंमें ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका और बुढ़ापा अधमरेके समान हो जाता है। अन्त समय आनेपर ज्ञान करनेकी सोची, जब कि चारों ओरसे शक्तिहीन हो जाता है। धर्मकी शिक्षा तो बचपनमें दे देना चाहिए। वह बड़े तक नहीं जाती। जिन्होंने शिक्षा पाई वे ऊंचे ऊंचे ओहदोंपर काम करते हुए भी उनके धर्मके संस्कार बने रहते है। जैसे मिश्रीलाल जी गंगवाल अर्थमंत्री होते हुए भी बिना दर्शनके भोजन नहीं करते। सरकारी काम भी अधिक होनेपर या प्रवासमें रहनेपर भी दर्शनका समय निकाल लेते हैं।

३४५. विवेकमें अभ्युदय—हम विद्याभ्यास करते हुए अभी भी अपने लिए बच्चा समझें। जब बस्ता हाथमें लिया तबसे विकारोंमें कमी आना शुरू हो जाती है। तत्वज्ञान पढ़ने जा रहे हैं तो सुखकी झलक अवश्य आती होगी। महात्मा गांधीने चरखासे स्वराज्य लिया, तो इसके यह तात्पर्य नहीं कि २) या ४) का चरखा, जिसे ४ घंटे चलाया तो इतने समयमें चार आनेका कार्य होगा तो उससे आजादी ली। आजादी चरखेसे नहीं ली, किन्तु चरखा कातनेमें बड़ी सावधानी रखना पड़ती है। तब गरीबोंका ध्यान आनेपर भावोंमें परिवर्तन करके उनके प्रति उदारताका बर्ताव किया गया। मोक्षमार्गमें प्रवेश पानेके के लिए यह भी ऐसा ही उपाय करता है। भाव निर्मल होते ही स्त्री और पुरुष भी छोटे

बच्चा बच्चीसे रहते हैं। यह विद्या अभ्यास करना, शास्त्र अध्ययन करना मोक्षका मार्ग सुगम बनाता है। अनेक कठिनाइयां दूरसे ही भाग जाती हैं। जब चित्त आत्मामें लगेगा तभी तो विकल्प रुकेंगे। विनती अगर रटी हुई है तो इतना भी स्मरण नहीं रहता कि क्या कह गये? सोच समझ कर बोलनेसे उत्तम विचार शक्ति पैदा होती है। जिस तरह रास्तेमें मिले मुसाफिरोंसे प्रेम बढ़ाया और छूट गया, उसी तरह घरके कुटुम्बी हैं। उनसे स्नेह करनेसे अन्तमें पश्चात्ताप ही होता है। मैं ध्रुव हूं, रागादिक अध्रुव हैं। हममें एक तरहकी हठ छोड़नेका माद्दा आजाय तो स्त्री पुत्रको अपना समझनेका हठ त्याग देंगे। पर्यायमें आत्मबुद्धि करनेसे हठ पैदा हो रही है, इसीसे मोक्षमार्गकी हानि हो रही है एवं तत्त्वज्ञान हठ छोड़नेसे ही आता है। विभावमें अन्तर जानना यह मैं नहीं हूं, मैं तो एक चेतनामात्र हूं, पर्यायोंसे उपेक्षा घटे तो पुद्गलोंका आना रुकेगा। रागादिकका घटना ज्ञानका आना है। जो भी रागादिककी हालत है वह अन्धकार है। अतएव सब दोषोंसे हटनेका और आत्मविकासका यही मूल कारण है कि परको अपना नहीं माने। क्रोध मैं नहीं हूँ, मान मैं नहीं हूँ, मायाचारी करना भी मेरा स्वभाव नहीं है लोभ भी मैं नहीं हूँ। इन सबने मेरी पग-पग पर बरबादी ही की है। कषायोंके साथ रागद्वेष घट जावें तो हठ नहीं हो सकता। यह न हो और कोई भी मुझे गाली दे जावे, कुछ बोल जावे तो धन्य भाग्य समझना चाहिए। अमुक-अमुक व्यक्तिके मिलने से जैसे हर्ष होता है उसी तरह गाली, कठोर वचन वैराग्यका कारण होना चाहिए सधर्मीजन तिरस्कार भी करे, हेला देवे तो वह विशेष निर्जराका कारण होता है। अनुकूल अनुकूल चलनेपर तो सभीको हित व सुख निकलता है, किन्तु प्रतिकूल चलने वाला मिले तो अच्छा अवसर आया समझना चाहिए। क्योंकि वह हमें दुःख देगा, दोष निकालेगा तो उनसे डरनेकी क्या बात, वहां तो भेदविज्ञान छैनी चलाना चाहिए, जो आत्मतत्त्वको भिन्न-भिन्न दर्शा देवे।

३४६. जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ—एक शहरमें चौमासा हुआ था तो वहां धैर्यशिक्षण पानेका हमें अच्छा मौका मिला था। जिससे लाभ ही हुआ, नुक्सान कुछ नहीं। वहाँ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज को भी आलोचकोंने नहीं छोड़ा। वहां तेरहपन्थी, बीसपन्थी, गुमानपन्थी और गोबरपन्थी है। जो एक पार्टी किसी त्यागीका मुकाम करे तो तीन पार्टियोंको खिलाफ रहना वहाँका यह नियम है। मेरे लिए आदमी छुप छुप करके देखें, हमें ज्ञात तो नहीं था कि बड़े-बड़े आदमी पीछे पड़े हैं। हम समयपर प्रवचन कर देवें। किसीकी निन्दा नहीं करना, दोष नहीं कहना। भैया, बीस दिन बाद विरुद्ध पार्टीकी संख्या तो तिगुनी भी हो गई थी। काफी दिन हो गये, अन्तमें जो विरोधमें थे वे पासमें आकर १०-१५ मिनट बैठें और प्रसन्नताके दो आंसू डालकर चले जावें।

यदि कोई आपत्ति आवे तो दुःख सहने, पीड़ा सहनेका यही मूल है कि शान्त भाव धारण किया जावे तथा सोचे यह दिन निकलते तो हैं अभी, इनसे क्या घबड़ाना चाहिए। हिम्मत है तो भगवान्का सपूत है। हिम्मत हार जावे तो आत्माको तत्त्वज्ञानसे पोषण करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्नशील रहनेसे अवसर आत्मकल्याणका मिल ही जाता है। 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ'।

३४७. अन्तर्ज्ञानसे बन्धनिरोध—देखो भैया! जगत्में ६ प्रकारके द्रव्य हैं, जिनमें जीवजातिके द्रव्य अनन्तानन्त है, पुद्गलजातिके द्रव्य भी अनन्तानन्त हैं। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश द्रव्य एक है, कालजातिके द्रव्य असंख्यात है। उन सब द्रव्योंमें अपने अपने अगुरुलघु गुणोंकी षट्स्थानपतित वृद्धि हानियोंमें परिणमन निरन्तर चल रहा है वह है अर्थपर्याय। सो ये सब द्रव्य हैं और उनके अर्थपर्याय निरन्तर होते हैं। ऐसी बात सब ही द्रव्योंमें चल रही है। अब इसके बादकी बात यह है कि जीव और पुद्गल ये दो जातिके द्रव्य ऐसे हैं कि ये अपनी योग्यताके अनुकूल पर–उपाधिको निमित्त पाकर विभावरूप परिणम जाते हैं। सो यह विभावपरिणमन मौलिक अर्थपर्यायमें तत्क्षण ही घुल मिलकर एकरूप हो जाती है। यहां वर्तनामें यद्यपि यह नहीं है कि किसी जीवमें भीतर स्वभावपर्याय अर्थात् अर्थपर्याय चल रही है और ऊपर विभावपर्याय चल रही है तो भी बुद्धिसे यह विवेचित हो जाता है कि जीवमें जीव ही की पर्याय याने अर्थपर्याय ऐसी है और औपाधिक पर्याय यह है। ऐसी भेददृष्टि करके इसरूप मनन करना चाहिये कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, मेरी क्रिया जानना है, क्रोधादि पुद्गल परिणाम हैं, इनकी क्रिया क्रुध्यता है। ज्ञानमें क्रोध नहीं, क्रोधमें ज्ञान नहीं। मुझमें क्रोध नहीं, क्रोधमें मैं नहीं। वस्तु स्वभावमात्र होती है। स्वभावका अर्थ है स्वका भवन अर्थात् स्वका होना। इस कारण ज्ञानका होना ही आत्मा कहलाता है और क्रोधादिका होना क्रोधादि कहलाता है। अब समझ लो–जो ज्ञानका होना है वह क्रोधादिका होना नहीं है। इसी कारण जैसा कि ज्ञान के होनेमें ज्ञान होता हुआ प्रतिभात होता है वैसा क्रोधादिका होना प्रतिभात नहीं होता है। इसी प्रकार इस ओर भी समझ लो—जो क्रोधादिका होना है वह ज्ञानका होना नहीं है। इसी कारण जैसा कि क्रोधादिके होनेमें क्रोधादिक होता हुआ प्रतिभात होता है वैसा ज्ञान नहीं प्रतिभात होता है। इस तरह आत्मा और क्रोधादिक इनमें एक वस्तुपना नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा और आस्रवमें विशेष लक्षण दीखने से जिस समय ही यह जीव उनमें भेद जानता है, उसी समय इसके अनादि परम्परावाली भी अज्ञानजन्य कर्ता-कर्म प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके निवृत्त हो जाने पर अज्ञाननिमित्तक पुद्गलद्रव्यकर्मका बन्ध भी निवृत्त हो जाता है। ऐसी बात हो जानेमे यही बात असंदिग्ध

सिद्ध है कि ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध होता है।

३४८. रागके अभावमें ही क्लेशका अभाव——रागादिक परिणाम ही क्लेश है जिन्हें दुःखसे बचना है उन्हें यह भाव रखना चाहिए हमें रागसे बचना है। राग ही दुःख है। आदिनाथ भगवानके पास कितना वैभव था ? सब तीर्थंकरोंमें से वृषभदेवके लिए अन्य धर्म वालोंने भी अपना अवतार माना। उनके वैभवको सुनकर हम आज भी दांतों तले अंगुली दबाये बिना नहीं रहेंगे। आदिनाथ भगवानके १०१ पुत्र थे और २ पुत्रियाँ थीं। वह उन्हें क्यासे क्या शिक्षा देते थे, जिसके प्रभावसे ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियोंने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। इन्द्र हाथ जोडे सामने खड़ा रहता था और देवता लोग बच्चे बनकर भगवानका मन बहलाया करते थे। वृषभदेवने जब तत्त्वको अपनाया (उपयोगमें लिया; तो यही सोचा था कि सम्पूर्ण संग (परपदार्थ) दुःखका कारण है। जीव पैदा होते मरते हैं। पुनः अगली-अगली गतियोंमें दुःख ही भोगा करते हैं। एक निज सहज चित्स्वभावकी अनुभूति ही आत्माका शरण है। अन्य सब कुछ निकट हो तो भी वह अपनेसे अत्यन्त दूर है। अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चित्स्वभावकी कारणतासे उपादेय (उपेय) आनन्द ही परमकल्याण है, जगमगाहट ही परमकल्याण है। इस पुण्यके ठाठमें भी क्या सुख है ? नीलाञ्जनाका विनाशीक नृत्य देखकर विरक्त हो गये और मुनि होकर ध्यानमें अडिग हुये मौन धारण कर चुके। हम लोगोंकी विचित्रता— थोड़ासा पुण्य पाकर परपदार्थोंमें रत हो रहे हैं, दूसरोंको कष्ट देनेमें भी नहीं चूकते। असत्य, अन्यायका व्यवहार अपने अंग बना लिए हैं, मानो यही सर्वस्व होवें। ज्ञानी जीव रागको बढ़ाने वाले विषयकषायोंसे निवृत्त होता है। यही उसका माहात्म्य है। अगर कोई किसीके प्रति कपट करता है, समय आनेपर वह प्रकट हो जाता है तो लोग उससे प्रेम न बढ़ाकर दूर हटनेका ही प्रयत्न करते हैं। रागके ही वशीभूत होकर परमें आपा मान फूला नहीं समा रहा। इतना गाढ़ राग कि पत्नी साथमें न हो तो भोजन नहीं करते। मौका भी पड़ा तो खेदखिन्न मनसे कर लिया। यह है गाढ़ रागकी पहिचान। लेकिन इसी जीवको जिस दिन वस्तुका यथार्थस्वरूप समझमें आ जाता है, उस दिन वह उन सबको तिलांजलि देकर आत्मामें रमण करने लगता है।

जब यह आत्मा आत्मस्वरूप और आस्रव—इन दोनोंका भेद जान जाता है तब इसके अज्ञानजन्य व अनादिपरम्परासे चली आई हुई कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। कर्तृकर्मत्वबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर तन्निमित्तक होने वाला पुद्गल कर्मका बन्ध भी निवृत्त होता है। ऐसी यथार्थता जानकर अपने ज्ञानमें यह प्रसिद्ध कर लो कि ज्ञानमात्रभावसे ही बन्धका निरोध होता है। ज्ञानमात्र भावसे ही बन्धका निरोध कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न हो तो उसके समाधानमें श्रीमत्कुन्दकुन्ददेवकी यह गाथा पर्याप्त है:——

णादूण आसवाणं असुचित्तं विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणंतिय तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ।।७२।।

३४९. ज्ञानसे अभीष्टकी सिद्धि—आस्रवोंकी अशुचिता व विपरीतपना जानकर तथा यह भी मानकर कि आस्रव तो दुःखके ही कारण हैं, यह ज्ञानी जीव आस्रवोंसे निवृत्ति कर लेता है। यह शरीर महा अपवित्र है। इसमें कैसे प्रेम किया जाय? जलके अन्दर जैसे कोई होवे तो जल मैला रहता है, उसी तरह आत्माके अन्दर राग महान् अपवित्र बैठा हुआ है यह अशुचि रोग त्यागने योग्य है। आत्मा ज्ञानसे पूर्णतया पवित्र है, इससे सर्वसिद्धि प्राप्त की जा सकती है। एक मुसाफिर कहींसे चला, सोचा, थकावट एवं गर्मी दूर करनेके लिए वृक्ष मिल जावे, सौभाग्यसे वृक्ष मिल गया। वह कल्पवृक्ष था, किन्तु उसे ज्ञान नहीं था। उसने वहाँ इच्छा की, हवा चल जावे तो हवा चलना शुरू हो गई। बादमें सोचा पानी पीनेको मिल जाय, तो गिलासमें पानी पीनेको आ गया। फिर सोचा फल खानेको मिल जावें तो इच्छित फल खानेको मिल गये। सोचा क्या बात है इसमें, कहीं भूत तो नहीं रहता यहां? यह विचारनेपर भूत सामने आ गया, फिर विचारा कहीं यह खा न लेवे, तब भूतने खा लिया। यह एक कहानी है। आत्मामें कितनी शक्ति है कि जैसी जैसी दृष्टि करे वैसी सृष्टि बनती जाती है। कुन्दकुन्दाचार्य प्रभुका उपदेश है— रागादिकसे निवृत्ति करना है तो अन्तःप्रकाशमान इस आत्माको निरखें। इसमें किसी परपदार्थका मिश्रण नहीं है। रागसे आत्मस्वभावमें अन्तर हो गया। कहता है मैं तो बेटों वाला हूं, उन्हें कैसे छोड़ दूं, यही लघुता है, यह बड़प्पनको नष्ट कर देगा। यह आस्रव विपरीत भावमय है। आत्मस्वभाव चैतन्य है। रागादिक जड़ हैं, सूक्ष्म प्रज्ञा छैनीके द्वारा भेदबुद्धिसे स्वभाव और विभावको जुदा जुदा कर रहा है। यह बात ज्ञानस्वभावमें आती है कि मैं सर्वांग विज्ञानघन हूं, यह अन्तर जाने तो रागादिकसे दूर होता है। 'त्वरितं किं कर्तव्यम्? विदुषा संसारसंततिच्छेदः। जल्दी क्या करना चाहिए? विद्वान्को संसारसंततिका छेदन कर देना चाहिए। संसारसंतति रागद्वेष हैं इन्हें दूर कर देना चाहिए। बाह्य प्रसंगमें आत्मा शान्तिपथका गामी नहीं बन सकता। जिससे जितना आत्मकल्याण करते बने, कर लेवे। रत्न लुट रहे है, इन्हें लूट सको तो लूट लो।

३५०. अपवित्र विकारभावसे पृथक् पवित्र ज्ञानभावके विवेकका फल—जिस काल में यह जीव यह जानता है कि मेरा तो ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, किन्तु ये रागादिक विकार अपवित्र हैं। मेरा स्वरूप तो पवित्र है। केवल जाननहार रहे, ज्ञानप्रकाश बढ़े। उस जाननमें मैं रहूँ, ऐसा मेरा पवित्र स्वरूप है, किन्तु रागादिक विकार अपवित्र हैं।

जैसे पानीमें काई। पानीका स्वरूप तो पवित्र है, काईका स्वरूप अपवित्र है। इसी तरह इस आत्मामें रागादिक विकार हैं। आत्माका स्वरूप तो पवित्र है, ज्ञानमात्र है और रागादिक विकार अपवित्र हैं। जहाँ यह जाना कि मैं तो रागादिक विकारोंसे निराला शुद्ध ज्ञानमात्र हूं तो ज्ञानका ग्रहण हुआ, ज्ञानमें रमनेको उद्यत हुआ, ज्ञानमें रम रहे। अब रागादिक विकारोंकी पकड़ कैसे हो? और रागादिक विकारोंकी पकड़ नहीं है तो बन्धन नहीं है। बन्धन नाम तो बंध जानेका है, उससे अब छुल नहीं सकते। तो जो अनन्तानुबंधीका बन्धन है, संसारमें रुलने वाला कर्मोका बन्धन है, अज्ञानका बन्धन है, बन्धन वह है। जहाँ आत्मा के स्वरूपमें और रागादिक विकारोंमें अन्तर जान लिया गया वहाँ फिर बन्धन काहेका? ज्यों ही यह जीव जानता है कि मैं आत्मा तो चेतन हूं, चेतक हूं, जाननहार हूं, प्रतिभास करने वाला हूं; और ये आस्रव रागादिक विकार ये उनके रूप हैं। यह ज्ञानके द्वारा चेतनेमें आया करता है, इसमें चेतना नहीं पड़ी है। रागद्वेष क्रोधादिक भाव इनमें चेतनेका गुण नहीं है। ये स्वयं ज्ञानके द्वारा चेते जाते हैं तब इनका अनुभव होता है। तभी तो कोई पुरुष यदि स्वानुभवमें लग जाय तो उसके फिर कषायें नही रहतीं। जिस ज्ञानीका उपयोग ज्ञानमय निज स्वरूपके जाननेमें लग गया उसके उपयोगमें अब कषायें नहीं आ रहीं। और देखिये—कषायोंका उदय चल रहा और कषायोंका परिणमन भी आत्मामें चल रहा है, पर उपयोगमें उनको नहीं ले रहा, इसलिए उन कषायोंका उसे अनुभवन नहीं होता। और जब उनका अनुभवन नहीं होता तो उस कालमें अत्यन्त मंद बंध होता है जो बन्धकी गिनतीमें नहीं है।

३५१. विपरीत प्रकृतिक विकारोंसे भिन्न अन्तस्तत्त्वके परिचयका प्रभाव—ये विकार स्वयं चेतने वाले नहीं हैं, स्वयं समझ नहीं रखते। ये जड़स्वरूप हैं, ये ज्ञानके द्वारा चेतनेमें आते है, ये मेरे आत्मासे विपरीत स्वभाव वाले हैं। परन्तु यह मैं भगवान आत्मा सदा ही ज्ञानस्वरूप हूं, स्वयं चेतने वाला हूं, मैं अपने स्वभावके अनुरूप हूं, एक चैतन्यस्वभावरूप हूं। मुझमें और विकारमें तो बड़ा अन्तर है। ऐसा जब आत्मस्वरूपका और उपयोगका अन्तर समझमें आता है उस कालमें बंध रुक जाता है। मैं ज्ञानमात्र हूं, मैं ज्ञानमात्र हूं इस अनुभवमें बहुत बड़ी करामात है। बन्ध समाप्त हो, कष्ट दूर हो, आत्माका विकास हो। वहीं तो अपना स्वरूप स्पष्ट है जिसकी भावना की जा रही है। तो देखो—ज्ञानमात्रमें ही बन्ध रुक गया या नहीं? संयम तपश्चरण व्रत उपवास आदिक किए जाते हैं ज्ञानोपयोग में बाधा डालने वाले विषय कषायोंको दूर करनेके लिए। वहाँ भी तत्वतः जानन ज्ञानमात्र का चलता है। केवल जानना जाननका रहता है उससे बंध निरोध हो रहा है। जभी यह जीव जानता है कि ये विकार तो आकुलताके कारण है, दुःखके हेतु हैं, देख लो जो भी

राग उत्पन्न होता है वह दुःखको प्रकरण करता हुआ होता है। किसी भी सम्बंधका राग हो, कभी परमेष्ठीका भी राग होता तो प्रभुका राग एक शुभ राग है और बहुतसे खोटे रागोंको हटा देने वाला है, इस कारणसे बहुतसे क्लेश उसके टल गए। लेकिन रागभावके स्वरूपके नाते जितने अंशमें उसके रागभाव है उतने अंशमें वहाँ भी कोई आकुलता है। तत्त्वतः देखो–यावन्मात्र राग है वह आकुलताको उत्पन्न करने वाला है। सो विकार मैं नहीं। मैं तो एक भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव हूं जिसमें आकुलताका कार्य पड़ा ही नहीं है। मैं दुःखका कारणभूत नहीं हूं। दुःखके मायने तो ये रागादिक विकार हैं। तो जैसे ही विकारमें और आत्मामें यह विशेष दिखने में आता है आत्मा अपने स्वरूप और रागादिक विकारोंमें भेद जान लेता है उसी समय आत्मा क्रोधादिक विकारोंसे दूर हो जाता है।

३५२. विशुद्ध ज्ञानमें आस्रवनिवृत्तिकी अवश्यंभाविता—यह मैं नहीं हूं, जिसके प्रति यह बोध होगा उससे तो यह हट ही जायेगा। लगेगा कैसे ? किसीमें लगनेका कारण है उसे आपा मानना। अज्ञानी जीव विकारमें परपदार्थोंमें आपा मानता है इसलिए वह परमें लगा रहता है। ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभावमें आपा मानता है इसलिए वह ज्ञानमें लगा रहता है। लगनेका कारण यह है कि उसे आत्मारूप मान लेना। ज्ञानी ज्ञानमें रमता है, अज्ञानी विकल्पमें रमता है, क्योंकि ज्ञानीने तो निजको निज जाना और अज्ञानीने परको निज जाना। तो परमें लगाव तभी तक है जब तक उसमें आत्मबुद्धि है कि यह मैं हूं। ज्यों ही परको पर जान लेता है त्यों ही परसे हट जाता है। यह बात बिलकुल निश्चित है। यदि वास्तवमें समझ रखा है कि क्रोधादिक कषायें मैं नहीं हूं तो नियमसे यह क्रोधादिक कषायोंसे हटा हुआ रहेगा। गुस्सा जो हो रही है यह मेरा स्वरूप ही नहीं है। ऐसा बोध हो तो गुस्सामें कमी आयगी कि नहीं ? आयगी ? उससे हटाव भी रहेगा। यदि हटाव नहीं रहता है, उसमें लगाव रहता है तो समझना चाहिये कि परमार्थसे मेरे भेदविज्ञान अभी नहीं बना। तब यह नियम है ना कि ज्ञान हो तो क्रोधादिकसे हटाव होता ही है। तो क्रोधादिकको हटानेका अविनाभावी जो ज्ञान है उस ज्ञानसे अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध रुक ही जाता है, इसमें रंच सन्देह नहीं। ज्ञानसे आस्रव क्यों दूर होता है ? यों दूर हो जाता है कि आत्मामें जो रागद्वेषके भाव उठ रहे हैं उनमें और आत्माका जो मूल स्वरूप है ज्ञान उसमें इसे जो भेदज्ञान हुआ है कि यह मैं नहीं हूं।

३५३. ज्ञानमय भेदविज्ञान होनेपर विकारनिवृत्तिकी अनिवार्यता—देखिये यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप है या अज्ञानरूप। अज्ञानरूप नहीं, क्योंकि रागादिक स्वयं अज्ञानरूप हैं। और रागादिकमें और आत्माके स्वरूपमें जो भेदविज्ञान होता है वह अज्ञान है। वह अज्ञान है तो इसके मायने वह विकार है। उसकी तो चर्चा ही नहीं कर रहे हैं। आत्मामें और

विकारमें जो भेद नजर आता है, रागादिक अशुचि हैं, मैं आत्मा पवित्र हूं, स्वयंके स्वरूप रूप हूं। जब भेदविज्ञान होता है तो देख लो, आस्रवके विकारमें लग लगकर ज्ञान बनता है या विकारोंसे हटता हुआ यह ज्ञान बनता है ? विकारोंमें लगता हुआ नहीं बनता, फिर वह भेदविज्ञान ही क्या ? और हटता हुआ रहता है तो इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे बंधका निर्णय होता है। देखिये—कितनी सुगम स्वाधीन कल्याणकी बात है कि सारा उपद्रव ज्ञानभावसे टल जाता है। यह बताया गया है—निजमें और परमें भेदविज्ञान करके निजके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान बनाये रहना यह समस्त विपत्तियोंके टालनेकी कुञ्जी है। हम शान्तिके लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। व्यापार करना, धन सम्पदा जोड़ना आदिक शान्तिका कारण समझा तो उसमें डटकर लग जाते हैं। शान्तिका जो कारण समझा उसमें यह जीव लगता है, पर शान्तिका कारण हो तब तो उसमें लगनेसे शान्ति मिले। पर हो तो अशान्तिका कारण और मान लिया शान्तिका कारण तो अपना कुछ मान लेनेसे कहीं वस्तुस्वरूपमें फर्क तो न आ जायगा। शान्तिका कारण केवल शुद्ध निज ज्ञानकी दृष्टि है, शान्तिके लिए प्रयत्न तो बहुत करते है पर भीतरमें निर्णय ठीक नहीं रख रहे हैं। शान्तिके विचारसे हम धर्म भी करते हैं—मंदिर आना, पूजा करना, स्वाध्याय करना, जाप देना, पर इतना करके भी यदि शान्ति प्राप्त नहीं हो रही है तो समझना चाहिये कि हमने सही ढंगसे धर्म नहीं किया है। धर्म यह ज्ञानमात्र है। अपने आपके स्वरूपका यथार्थ भान रखना सो ज्ञानभाव है और ज्ञानभावसे ये कर्म रुकते हैं, शान्तिकी प्राप्ति होती है।

३५४. सम्यक् ज्ञानके अर्जनके लिये अनुरोध—सम्यक् ज्ञानके लिए हम क्या उद्यम कर रहे हैं सो विचारना चाहिये। ये तन, मन, धन, वचन सारेके सारे विषयभोगोंके लिए या कुटुम्ब पालनके लिए या अपने नाम इज्जतके लिए तो खर्च करनेमें उत्साही रहते हैं, और ज्ञानभाव मुझे प्राप्त हो, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, इसके लिए तन, मन, धन, वचनके लगानेका उत्साह नहीं और मुफ्तमें बिना ही कुछ खर्च किये, बिना ही कुछ श्रम किये यदि कुछ मिलता है ज्ञानलाभ तो भी उसमे रुचि नहीं है। तो सोचना है यह कि इस तरहसे गाड़ी कब तक ढिकलेगी ? मरे फिर जन्म लिया, फिर मरे फिर जन्म लिया, इस तरह मरने और जन्मनेकी परम्परा ही बनी रही तो आत्माका पूरा कैसे पड़ेगा ? हम यहाँ जरा जरा सी बातोंमें घबड़ाने लगते हैं, मगर सोचो तो सही, यह संसार ही सारा दुःखमय है, यहाँ सुख कहाँ ? कोई लोग सुख मान रहे हैं तो कुछ दिन मान लें, जब तक इष्ट संयोग है, कुछ ढंगके मौजके साधन हैं तो मान लें सुख, लेकिन वे दिन भी गुजरेंगे और फिर खोटे दिन देखनेको मिलेंगे। सबके साथ ये बातें दिखती हैं। कोई सोचे कि मैं तो बहुत बड़ा धनी हूं मेरेको कभी दुःखका प्रसंग आ ही नहीं सकता। कोई सोचे कि मैं ऐसा विद्वान् हूं,

मेरेको दुःखका प्रसंग कभी आ ही नहीं सकता, कोई सोचे कि मैं बड़ा बलवान हूं, मेरेमें अनेक सैनिकोंको संहार देनेकी ताकत है, मेरेको खोटे दिन आ ही नहीं सकते, दुःख आ ही नहीं सकता, तो यह सब सोचना भ्रम है। कोई बहुत बड़ा पुरुष है, धनिक है, उसे इष्ट वियोग हो गया तो वह इतना अशान्त हो जाता कि गरीबोंसे भी अधिक कष्ट उसे बीच बीच में प्राप्त होता रहता। तो यह संसार दुःखमय है। कदाचित सुखके भी दिन हों, बड़े अच्छे ठाठ समागम भी हों तो भी उनमें आसक्त न होना, उनपर विश्वास न रखना, उनके विषय में यह सोचना कि ये सब धोखारूप हैं, थोड़े समयको ये मिले हुए हैं, अन्तमें इनका वियोग अवश्य होगा। इनमें आसक्त होना ठीक नहीं। यदि हम थोड़े-थोड़ेसे दुःखोंमें घबड़ा जायें तो फिर धर्मका पालन हम क्या करेंगे ? हमें तो ऐसा धीर बनना है कि दुःख भी आये तो सोचें कि क्या दुःख आया ? कुछ भी नहीं, इससे कई गुने दुःख अनेक जीवोंके लगे हुए हैं, और हमको तो एक ऐसा साधन मिला है, जैन शासन मिला है जिसमें शुद्ध ज्ञानकी चर्चा है, जिसको दृष्टिमें लेनेसे यह जीवन सफल बनता है। मैं तो बहुत अच्छे साधनमें हूं। ज्ञानकी बातमें उपयोग लगाये रहें, ज्ञानकी चर्चामें अपनेको लगाये रहें तो इससे बड़ी समृद्धि प्राप्त होती है।

२५५. **स्वहितका एक ज्ञानमय ही मार्ग**—भैया ! यह निर्णय कर लो कि सच्चा ज्ञान उत्पन्न होनेसे कर्मबन्ध रुकता है, जन्ममरणकी परम्परा बन्द होती है, हम शान्त सुखी हो जाते हैं। इससे सम्यग्ज्ञान पैदा करनेका यत्न करना सबसे महान और मुख्य कार्य है, अन्य कार्योंमें विश्वास न रखें कि मैं धनके कारण बड़ा होऊँगा, मैं इज्जतसे बड़ा बनूंगा। किसी भी परसे कुछ आशा नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूं—ऐसा जो बारबार अनुभव करता है उसका अज्ञानभावसे हटाव अपने आप हो जाता है। तो विकार हटें, कर्मबन्ध हटें इसका उपाय है उन विकारोंसे अपनेको निराला समझ लेना। ये रागद्वेष अचेतन हैं, मैं आत्मा ज्ञानदर्शनमयी चेतन हूँ। ऐसा अपने आपके स्वरूपमें और परके स्वरूपमें जो हमने निर्णय किया है उस निर्णयके फलमें परसे हटें और अपने आपमें लगें तो इस उपायसे आत्माको शान्ति मिल सकती है। जब ज्ञानसे ही हमारे सारे काम बनने हैं, फिर ज्ञानमें प्रमाद न करें। २४ घंटेके समयमें दो घंटेका समय ही ज्ञानके अर्जनमें लगा दिया जाय, ज्ञानमें लगा दिया जाय तो आत्माका सदाके लिए भला हो जायगा। खूब वस्तुका स्वरूप सीखें, आत्मा क्या है, उसके गुणपर्यायें सब कुछ जानें और उस जाननेके फलमें एक भेदविज्ञान कर लें कि मैं सबसे निराला ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मा हूं। ऐसा जब सही ज्ञान बनता है, रागादिक विपरीत हैं, मैं ज्ञानस्वरूप हूं उसी समय इनसे हटाव हो जाता है और कर्मोंका बंध रुक जाता है।

३५६. **विषय कषायोंसे चित्त हटानेमें ही लाभ**—अब तो विषय कषायोंसे चित्त हटाना होगा। यह तो पागलपनका काम है कि इन्द्रियोंके पोषणमें ही लगे रहे। इन्हें सच्चे सुख माननेकी काफी भूल की, जिससे उन्हींमें लगे रहे। परके संगमें सुख माना, अन्तमें रोना पड़ा। यह विषय साधन प्रवृत्तियाँ लग रही सस्ती, किन्तु अन्तमें महंगी पड़ेंगी। मनुष्य जैसी करनी करता है वैसे दुःख भोगता है। जिस दुर्गन्धको मनुष्य छूना नहीं चाहते वह गधोंपर लादी जाती है। हम भी तो वैसे जीव हो सकते हैं तब गन्दगी लादें और हन्टर खावें तो कुछ पुण्य पाप प्रतीतिमें आवे। अरे तब भी क्या प्रतीति आवेगी? उस भवमें, उसी पर्याय में आसक्त हो जावेंगे। विषय कषायोंमें आसक्त रहे तो उन्हीं जैसी पर्याय मिलेगी। राग रंगमें ही मस्त रहे तो यहाँ भी तो दारुण दुःख भोगना पड़ता है। अत्यधिक उपस्थेन्द्रिय चालनसे मनुष्य यहींपर खाट पकड़ लेता है, अन्य भवमें तो क्या होगा सो यही जाने। ब्रह्मचर्यसे रहे तो क्या बिगड़ता है? खाता ही खाता चला जावे तो १०–१५ दिन केवल मूंगकी दालके पानीपर रहनेकी नौबत आ जाती है। सभी भोगोंकी ऐसी ही बात है। भोगकी अधिकतासे भोगकी योग्यता भी नष्ट हो जाती है। तत्त्वज्ञान ऐसी वस्तु है जहाँ हार नहीं है। जितना-जितना अभ्यास किया जावे इसका उतना-उतना ज्ञान निर्मल होगा। खाने के लिए थोड़े ही जी रहे हैं, किन्तु जीनेके लिए खाना पड़ता है। ऐसे भी गृहस्थ हैं जो कि उन्हें जो भी भोजन मिला रूखा सूखा उसमें सन्तोष करते हैं। पंचेन्द्रियोंके दास बहुत तो रहे, अब उन्हें काबूमें किया जाय, फिर जीवनका कुछ आनन्द-उपभोग किया जाय। अन्यथा विषय कितने ही भोगते जाओ आखिरमें उन्हें छोड़ना तो पड़ेगा। अगर सबेरे कम भोजन करोगे तो शामको भूख उत्तम लगेगी। अगर अधिक भोजन एवं गरिष्ठ खानेकी प्रवृत्ति बनी रही तो १० व १५ दिन भी कुछ खानेको नहीं दिया जाता और वैद्यकी निगरानी लंघन करनेके पश्चात् मूंगकी दालका पानी दिया जाता है। इतर बेचने वालोंकी नाक भी महर हो जाती है, उन्हें सुगन्धका भी ज्ञान नहीं होता। इन विषयोंके अत्यधिक होनेपर इनका स्वाद ज्ञान होना भी मन्द पड़ जाता है। इन विषयोंसे मुख मोड़ा तो सुखकी अनुभूति अभी मिलेगी, संस्कारवश अगले भवोंमें भी मिलेगी। एक अपने प्रभुके आधीन होकर रहो तो सुख मिलेगा।

३५७. **निर्दयको आत्मदेवका आशीर्वाद**—एक साधुके पास चूहा रहता था। साधु मन्त्रवादी थे। चूहेको बिल्ली पकड़ने लगी तो साधु बोले—'विडालो भव' तब चूहा बिल्ली हो गया। बिल्ली को भी कुत्ता पकड़ने लगा तो कहा 'श्वान् भव'। कुत्तेको सिंह पकड़ने लगा तो कहा 'सिंहो भव'। अब तो मूषकराज आशीर्वाद पाते पाते शेर हो गये। अब शेरको जोरसे भूख लगी थी। मनमें आया साधु महाराज अच्छे बैठे हैं, इन्हींको खाकर बुभुक्षा

शान्त की जाय। साधुने यह देखा तो आशीर्वाद दे दिया कि 'पुनर्मूषको भव' चूहा हो गये। देखो जिस सत्पुरुषके आशीर्वादसे चूहा सिंह बना, सिंह उसी सत्पुरुषपर हमला करने चला। फल क्या हुआ फिरसे चूहा बना। सोचो, जिस प्रभुके प्रसादसे मनुष्य बने और उसी प्रभुपर हमला करने चले। हमला विषयकषायोंका जबर्दस्त किया जा रहा है, तब फिर यह आत्मा दुर्गतिके दुःख भोगे, इसमें क्या सन्देह है? जितने कलात्मक ढंगसे विषयोंका सेवन पशु भी नहीं कर सकते, उतने के वर्तमान के साधन मनुष्य ने खोज निकाले हैं। पशु समयपर खावेगा, समयपर मैथुन करेगा, किन्तु प्रायः मनुष्य पशुओंसे बदतर निकला कि प्रकृतिके नियम भंग करके उक्त कार्य किये जाते हैं। पेट भरा होगा, तब भी मनुष्यके लेटरबोक्समें दो पैसेकी पकौड़ीको जगह मिल ही जाती है। इतनी प्रबल मनुष्य देह पाकर इन्द्रियसंयम नहीं बढ़ाया, दयावृत्ति नहीं की तो इस प्रभुका आशीर्वाद मिल जायेगा, 'पुनः निगोदो भव' निगोदिया जीव हो जाओ।

३५८. ज्ञान और वैराग्यकी संभालमें ही शकुनरूपता—परपदार्थमें रति उत्पन्न न होवे, मोह न होवे, ऐसी भावना मनमें लाना चाहिए। अन्य व्यवसायोंके नाट्य भरपूर देखे, अब भी उनसे मुँह मोड़नेका अभ्यास करें तो कुछ शान्ति मिलती या नहीं? नियमसे शान्ति मिलेगी। छहढालामें कहा है—जिन परमपैनी सुबुध छैनी, डार अन्तर भेदिया। वर्णादि अरु रागादि तें निज भावको न्यारा किया॥ यह बुद्धि जगे, यह दृष्टि आवे, मैं तो शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु हूं। चैतन्य स्वभावके नजदीक वास कर लिया; वहीं रहेंगे। रागादिक इससे विपरीत हैं वहाँ मैं नहीं फटकूंगा, वह जड़ हैं अन्यके द्वारा जाननेमें आते हैं। मैं तो स्वयं चेतनघन हूं। मोह, राग, प्रीति, द्वेष, इच्छा, भव, घृणा, इन्द्रिय भोग करना मेरा काम नहीं। बाहरी पदार्थ अनुकूल चलें या प्रतिकूल उनसे कितना भी राग बढ़ाओ तो क्या, नहीं बढ़ाओ तो क्या? जगत् तो ऐसा ही रहेगा। इसमें बुद्धि लगाने से क्या मिलेगा? तीव्र कषायसे कषाय मिल गई, दोस्ती हो गई। धार्मिक प्रेम ही तो धर्मीजनके मित्र बन गये। जब अपनी कषायके अनुकूल दूसरेकी कषाय नहीं मिलती तब वह उसको शत्रु मानने लगता है चाहे वह दूसरा बड़ा ही धार्मिक हो। किसी शिकारी को साधु पुरुष मिल जाय, तब देखो वह मन ही मन कितनी गालियाँ सुनाता है, क्योंकि उसने अपने लिए साधु महाराजको साधक न समझकर बाधक माना है, अपने कामके लिये असगुन माना है। शकुन शास्त्रमें बताया है अगर मुर्दा मिले तो शकुन है। जिसमें वैराग्य बढ़े, तत्त्वकी बात मिले वही तो शकुन होता है। भरा घड़ा शकुन माना है। मिट्टी और पानी का संयोग किन्तु शकुन कैसा? जिस बर्तनमें पानी समरस छलकता हुआ निर्मल भरा है उसी तरह आत्मामें समता भरी है तो इस विचारका उदाहरण हुआ तो लो घट शकुन

हो गया। गायको चूसता हुआ बछड़ा मिल जावे तो शकुन कहा है, इतना शकुन कि रास्ते में व्यापारको जाते मिल जावे तो लक्ष्मीका लाभ होवे। तो धर्ममें पग पग पर बताया है 'धर्मी सो गो बच्छ प्रीति सम' गौ बछड़े से कुछ मांगती नहीं है, किन्तु वह स्वभावसे प्रेम करती, चांटती चूमती है। उसी तरह लौकिक कार्योंकी आशा न करके धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा शुश्रूषा विनय आदर सत्कार करना चाहिए। यह अन्तरङ्ग धर्मकी बातोंको लौकिक क्रियायों पर घटित कर लिया। जिससे बाहरी बातें सगुन बनीं। उसमें अपनेको सर्वांग लगा देवे तो यही उपाय भवजालसे छूटनेका सच्चा सार बन जावे। तभी जीवनमें अन्य कार्योंकी सफलता है। यदि इन सगुनोंको देखकर तत्त्वज्ञान व वैराग्यकी दृष्टि हो तब तो सगुन है अन्यथा कुछ नहीं।

३५६. तात्त्विक ज्ञानसे बन्धनिरोध—कर्मोंके बन्धका निरोध ज्ञानसे याने स्वयंसे होता है। इसके लिए युक्तियोंकी जरूरत अगर है तो वे भी ज्ञानसे होंगी। ऐसा कहनेमें कहीं व्यवहार-वृत्तिका लोप नहीं हुआ। जिसकी ज्ञानमय दशा हो गई है वह रागरहित हो सकता है और जो रागको ही सब कुछ मान रहा है वह रागसहित ज्ञानमें हो सकता है। तत्त्व जागनेपर भी कुछ काल तक उसकी ये प्रवृत्तियाँ होंगी। लेकिन खोटी प्रवृत्तियोंसे बच सकेगा ज्ञानी, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, अति परिग्रहमें नहीं उलझेगा वह। जैसे जैसे ज्ञान में उत्कृष्टता आयेगी, वैसे वैसे उस पदके अनुसार रागवृत्तियां भी मन्द होकर चलेंगी। इससे मुक्तिके निकट होता जायगा। भेदविज्ञानसे घबड़ाहट मिटती है, सच्चे ज्ञानसे घबड़ाहट मिटती है। रस्सीको सर्प जानकर घबड़ाहट पैदा हुई थी, जब उसे रस्सीका ज्ञान हुआ तब रस्सी ही जाननेसे खत्म हो गई घबड़ाहट, अब किसीको समझाना भी नहीं पड़ा। तत्त्वज्ञान नहीं है तो हजार समझाने वाले भी खड़े रहें फिर भी नहीं समझेगा। तत्त्वज्ञानमें लगने वाला शान्ति पाता ही है। जो तत्त्वज्ञानी नहीं वे शान्तिसे काफी दूर रहते हैं। सच्चा ज्ञान भेद-विज्ञान है, इसके बिना आत्मकल्याणमें अग्रसर होना असंभव है। इसका फल यह है कि निजमें अभेद हो जावे। ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध होता है। यह भगवान् आत्मा अत्यन्त पवित्र है। रागादिक विपरीत मार्गपर ले जाने वाले हैं, वह याने रागादिकपर चेत्य हैं और मैं चेतक हूं स्वयं। क्या सभी रागादिक भाव दुःखके कारण हैं? वस्तुतः सभी रागादिक भाव दुःखके कारण हैं। इनका स्वभाव आकुलता पैदा करनेका है। अशुभ राग दुःख का कारण है और शुभ राग सुखका कारण है। यह सुख भी तो आकुलता है। कभी ऐसा होता है, भक्ति, पूजन आदिसे ओतप्रोत होकर अशुभराग कटता है तथा विषय कषायें मन्द पड़ जाती हैं। उनका वहाँ राग नहीं रहता, जिससे पुण्योपार्जन करता है। जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध चल रहा है तथा जितने अंशोंमें वैराग्य है, उतने

अंशोंमें मोक्ष मार्ग मिल रहा है। एवं जितना विषयकषाय मोहका सेवन किया उतने अंशोंमें दुःख ही है। बचपनमें दिन बड़े सुखसे बीतते हैं, निर्विकारता रहती थी। जबसे शादी हुई तबसे वह सुख शान्ति विलीन हो गई। उसका स्थान रागने, कमानेने, परिवारकी चिन्ताने खींच लिया। अगर दुःख किसी प्रकारका है तो समझो उसे किसी प्रकारका राग है। अनेक तरहकी रोमाञ्चक कहानी आदि जो पढ़ते हैं, जिनमें कोई अपना प्राणान्त कर लेता है, कोई किसी कारणसे दुःखी, कोई किसीसे दुःखी, इन सबका कारण राग ही है। जितना राग है एतावन्मात्र दुःख है।

३६०. ज्ञानस्वरूप आत्मदेवपर भ्रमकी विपदा—इस भगवान् आत्माको स्वभावसे देखो तो क्या यह दुःखी है? अगर स्वभाव ही दुःखका कारण बन जावे तो शान्ति कभी उपलब्ध ही नहीं हो सकती। मैं अगर रागादिक छोड़ दूं तो यह शुद्धस्वरूप बन सकता है, पर्यायमें अन्तर जाननेपर सिद्धोंके सुखका भान कर सकता है। रास्तेमें कोई चला जा रहा है और वहींपर किसी जानवरके द्वारा कोई बच्चा ढकेल दिया जाय तथा उसे भ्रम हो जाय कि यह मेरा बच्चा है, तब देखो क्या दशा होती है? और जब पास पहुंच जाता है और देखता है यह मेरा बच्चा नहीं है तभी राग खत्म हो जाता है। सीताने जब तक समझा राम मेरे हैं तब तक उनका पीछा जंगलमें भी नहीं छोड़ा, किन्तु जब आत्मरुचि जागृत हुई तो कोई भी क्लेश रामके वियोगका नहीं हुआ और राम मना-मनाकर विवश हो गये। सुकमाल स्त्रीको छोड़कर कैसे बनमें चले गये होंगे तथा गीदड़ीके दुःख कैसे सहन किये होंगे? मोहियोंको इसपर आश्चर्य होता है। जैसे दानियोंके द्वारा लाखों रुपया दान दिये जानेपर कंजूसोंको आश्चर्य व दुःख होता है। सच तो यह है कि ज्ञानीका परिचय ज्ञानीको हो सकता है और ज्ञानीकी प्रशंसा भी ज्ञानी ही कर सकता है। जिसको तत्त्वज्ञान हो गया उसका अन्य अर्थमें चित्त ही नहीं रमता। इस आत्मारामसे अन्यका क्या सम्बन्ध है? ऐसा उपाय किया जावे जिससे मोह ममता हट जावें। स्वमें रमण करना है, इसकी इसे खबर ही नहीं। मोह भाव कैसे हटे? इसके लिए ज्ञानियोंकी संगति करो, शास्त्र पढ़नेमें मन लगाओ। मुझ में ठहरा हुआ मोह ही मेरा असली शत्रु है, इसकी कुछ सुध भी नहीं है। दुःख हो रहा है, इसमें बुद्धि खूब रमाता है, परको शत्रु मान रखा है, इसीसे विकल्पमें लगा रहता है। कैसे कैसे मोहभाव इस जीवको सता रहे हैं?

३६१. परमार्थजागरणका अनुरोध—'अवधू क्या सोता इस मठमें' पानीके किनारे पर कुटीर बना लेवे, वह कौनसे पानीके थपेड़ेमें बह जायगी, इसका भी इसे कुछ पता है? बड़े बड़े हट्टे कट्टे लड़केको आँखोंसे मरते देखा, फिर भी हम जिन्दा ही हैं। इतनेपर भी अपनेपर तरस नहीं आता। देखो—कुछ तो गर्भमें ही खत्म हो जाते हैं, कुछ बचपनमें चल

बसते हैं। यह सब मोहलीला आंखोंसे देख रहे है, तब भी हम जीनेकी आशा करके कार्य करनेमें, विषय कषाय करनेमें मस्त हैं। कइयोंके सुना जाता है, उस दिन हम मरने ही वाले थे, मरते मरते बच गये तो अब तो जितना हित अधिकसे अधिक किया जाय सो करना चाहिए। तत्त्वज्ञानकी ओर जितनी रुचि बढ़ाई जावे उतनी कल्याणकारी है। आत्मस्वभाव की ओर ध्यान हो, उसमें चित्त लगे तो आत्मस्वभाव प्रकट होवे। यह भगवान आत्मा सच्चा सुखका भोक्ता है, परमें तिल तुषमात्र भी सुख नहीं है। क्रोधादि विभाव परिणति मेरे नहीं, यह विश्वास पूर्णतया हो जाय तब तत्त्वज्ञानकी ओर अग्रसर होगा। अगर कोई मनुष्य एकदम दौड़ता जा रहा होवे और उससे कहे 'रुक जाओ' तो उसको एकदम खड़ा होनेमें कुछ विलम्ब लगेगा। उसी तरह रेलकी जंजीर खींचनेमें रेल भी कुछ मिनट सेकंड बाद खड़ी होगी। लेकिन यह बात आत्मस्वभावमें नहीं है। जब आत्मस्वभावको जाने और राग से लौटे, तब उसी समय भेदविज्ञान जग जावेगा।

३६२. सुध और वेसुधीका पता—अपने घरका सबको पता है। उसी तरह यह मानव अपना-अपना राग एवं द्वेष तथा मोहको भी जानता है कि मैं कितने साफ रास्तेसे जा रहा हूं ? जहाँ न किसी प्रकारके काँटे कंकड़ हों और न चोर डाकुओंका डर होवे। वहाँसे ही तो जाना चाहिये भैया ! जब हम जानते है कि मोह एवं रागरूपी शत्रु कुछ न कुछ हमेशा चुरा ले जाते रहे है तब कौन इनमें फंसेगा ? मोहियों, मूढ़ों, मिथ्यादृष्टियों एवं परसमयवालों को पता ही नहीं कि हम क्या कर रहे है ? दो बातें अन्तरङ्गके भावको प्रकट कर देती है-(१) स्वप्न और (२) सामायिक। जैसा परिणाम रहता है वैसा ही दिखने लगता है स्वप्नमें। सामायिकमें भी जैसे जैसे संस्कार पूर्वमें रहते है, वह ध्यानमें झलकने लगते हैं। कोई कहते हैं कि १० जगह चित्त दौड़ाने की अपेक्षा १ दुकान आदिमें केन्द्रित कर देना अच्छा है, किन्तु नहीं, संस्कार तो बाधक है, अगर खाने खानेमें भी चित्त रहे तो अन्य स्थानोंमें चित्त दौड़ने से बचा, यह भी सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि जो संस्कारमें राग बाँध रखा है वह संसारको बढ़ाने वाला है। सामायिकमें तो साफ यह प्रकट होता है कि संभल जाओ, रास्तेमें लग जाओ, सामायिक तो हितके लिये है। जब जाननेमें आवेगा हममें यह दोष है तभी तो निवृत्त होओगे। गलती समझमें आ गई तो भेदविज्ञान जागृत हो गया अन्यथा नहीं हुआ। शिथिलता नहीं है तो आगे धर्ममें रुचि जागृत हो जायगी। उत्तरोत्तर विषय कषायें घटनी जावेंगी। जैनधर्मको पाकर अगर पहलेके सालोंसे कुछ अन्तर आया तो कहेंगे भगवानकी आज्ञामें रहा। अगर रागादिकसे निवृत्ति नहीं है तो समझना पारमार्थिकका ज्ञान नहीं हुआ। यह मूल्यवान समय पासमें है, इसका सदुपयोग करो। रागको आज्ञा दो कि यह तुम्हारा स्थान नही है, यहाँ तत्त्वज्ञान ही स्थान पा सकता

है। ऐसा ज्ञान बन जावे तो सब विकल्प हट जावें।

३६३. विकासप्रगतिकी श्रद्धामूलता—किसी व्यक्तिके हाथमें हथकड़ी पड़ी है और उसे अनुमान हो जावे—लुहार आवेगा और इसे छेनीसे काटेगा तब वह थोड़े सुखकी सांस लेने लगेगा, किन्तु स्वतंत्र तो तभी होगा जब कटे, अगर विश्वास नहीं तो दुःख ही भोगता रहेगा। लेकिन यहाँ तो भाव ही सम्यग्दर्शन है, भाव ही सम्यग्ज्ञान है और भाव ही सम्यक् चारित्र है। काटने वाला लुहार है और जानने वाला कैदी है। जानने से बन्ध नहीं कटेगा, किन्तु जब लुहार छेनीपर हथौड़ाकी ठोकर मारेगा तब वह बेड़ी कटेगी। ऐसी ही चारित्रकी विशेषता है, किन्तु यहाँ तो सब साधन स्वयं ही हैं। कहा भी है—'पर द्रव्यनितै भिन्न आपमें, रुचि सम्यक्त्व भला है। आपरूपको जान पनो सो, सम्यक् ज्ञान कला है॥ आपरूपमें लीन भये, थिर सम्यक् चारित सोई'। आत्मस्वरूपमें उपयोग बना रहे, अभेद दृष्टिसे आत्माका एक स्वभाव है, चित्स्वभाव है। उसमें स्थिरता हुई, वह सम्यक् चारित्र है। ज्ञानके स्वरूपमें उपयोगको लगाना चाहिए, यही उद्धारका उपाय है और कुछ नहीं है और कुछ न कहीं मिलेगा। ऐसे जानने वालेके भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य एवं द्रव्य, गुण, पर्याय बराबर चल रहा है, किसीका कहीं लोप नहीं हुआ है, फिर भी ज्ञानोपयोगीका विषय शुद्ध ज्ञानाकार है। ज्ञानमें उपयोग लगाने वालेको उपद्रव आते ही रहते हैं, उनको दूर करनेका उपाय तत्त्वज्ञान है। भूख, प्यास भी सता रही होवे तो तत्त्वज्ञानके सामने उसकी इच्छा मर जाती है। तत्त्वज्ञानसे अन्य कार्योंकी इच्छा न करके आत्मा में रमण करे तो निर्बलता हट जायगी। ज्ञान है तो अनापशनाप कार्य नहीं करेगा, यही धर्मका लक्षण हो गया। कषाय शान्त होनेपर निवृत्तिमें बढ़ता है। निवृत्तिमें बढ़ा और जो प्रवृत्ति शेष रही, यही तो श्रावक धर्म है।

३६४. ज्ञानकी आस्रवनिवृत्तिशीलता—अनुभवियोंने बताया है तत्त्वज्ञान बढ़े तो आनन्दकी उत्पत्ति होगी। ज्ञानके बिना सुखसे नहीं रह सकता। लोकमें भी तो देखो ज्ञानके बिना कमाई नहीं कर सकता। सब ज्ञानकी महिमा है। ज्ञानकी महिमा बढ़ावें, उसीसे आगे बढ़ सकते हैं—'ज्ञान समान न आन जगत्में सुखको कारण'। यह परमामृत, जन्मजरामृत्युरोगनिवारण"। प्रकरण यह है कि कर्मोंके बन्धनका निरोध ज्ञानमात्रसे होता है। इसकी सिद्धि में यह कहा गया था—जब आत्मामें और आस्रवमें भेदज्ञान हो जाता है तो आस्रवसे जीव निवृत्त हो जाता है। इसी बातको दूसरी प्रकारसे सिद्ध करते हैं। जिज्ञासुने इच्छा प्रकट की, यह तो मैंने जाना किन्तु यह जो भेद-विज्ञान हुआ है, वह ज्ञान है या अज्ञान? अगर कहो अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवमें अभेद ज्ञान हो रहा था, वह एक अज्ञान ही हो रहा था, अज्ञानसे परिणमन कर रहा था। तथा यह भी अज्ञान बन गया तो भेद क्या

रहा ? कुछ भी नहीं । अर्थात् भेदविज्ञान ही क्या है ? पहले विकल्पमें बताया है तो भेदविज्ञान और उसे मान लिया है अज्ञानरूपसे । आत्मा आस्रवका एक रूप मान लिया था, वह भी अज्ञान था, अब भेदविज्ञान भी अज्ञान रहा तो ऐसे भेदविज्ञानसे कोई सिद्धि नहीं है । कोई कहेंगे कि भेदविज्ञान ज्ञानरूप है तो यह बतलाओ वह ज्ञान आस्रवोंसे लौट रहा है या लग रहा है ? आप कहो आस्रवमें लग रहा है तो जड़ता तो अज्ञान थी ही, अब वह भेदविज्ञान भी आस्रवमें लग रहा है । आस्रव अज्ञान है और जो आस्रवमें लग जावे वह ज्ञान कैसे हो सकता है ? उसे भी अज्ञान रूप मान ही लिया तो भेद ही क्या रहा ? यदि कहो भेदविज्ञान ज्ञानरूप है और आस्रवोंसे लौट रहा है तब कहें अब ठिकानेपर आया है। ज्ञानसे बन्धका निरोध हो गया । यह निरोध ज्ञानमात्रसे है । हम लोग इतनी सामर्थ्य वाले नहीं कि परपदार्थोंकी भी सोचते रहें और ज्ञानको जानते रहें । हम लोग सर्वज्ञ या विशिष्ट स्वच्छ तो हैं नही कि सबको एक साथ जानते रहें व राग न आवे । परपदार्थमें उपयोग देते हैं तो उसीमें लग जाता है । अत: अधिक ज्ञान करके बाह्यमें दृष्टि न जावे, यह प्रयत्न किया जाय । किसीने उपवास किया और बाजारमेंसे निकलनेपर हलवाईकी दुकान मिली और वहाँ हलुआ, रसगुल्ले देखकर उनका विकल्प न हो, गन्ध आनेपर भी निर्विकल्पता रहे, यह कुछ अशक्य हो जाता है, यह तो हमारी दशा है और कहें सर्वज्ञ विश्वको जानता है, हम भी जिस किसीको जानते रहें, फिर भी उपयोग आत्मध्यानसे नहीं हटे । यह कहना सूरजको दीपक दिखाना है ।

३६५. परका उपयोग न करने और उपेक्षाभाव करनेका महत्त्व—मेरी समझमें किसी का ख्याल मत करो । जिस ज्ञानका विषय परपदार्थ नहीं होता, उसका विषय स्वयं आत्मा होता है । परमें विकल्प नहीं जायगा तो स्वयंको तो जानेगा । भेदविज्ञान करो तो अब यहाँ उसीमें हमेशा थोड़े ही मन लगा रहेगा । भेदविज्ञान करनेका भी तो यह लाभ है कि आत्मा के लक्ष्यपर आ जावें । थोड़े भी ज्ञानमात्रसे बन्ध निरोध होता है । यहाँ देख लो कितने क्रियाकाण्डके अभिप्राय है ? उन्हें आत्मा सोचे—यह सब क्रिया जड़की है या आत्माकी ? उनसे क्या बन्ध निरोध होगा ? कर्म आ रहे है और जहाँ ज्ञानज्योति जगी तथा स्वभाव विभावका अन्तर समझमें आया तो कर्म निरोध नहीं होता है। ऊपरी बातों से कर्मो का निरोध नहीं होता है। विषय कषायों के आक्रमण हो रहे हैं। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता कि उनसे बचे रहें। कभी कभी तो यह विकट रूप धारण कर लेते हैं, मनुष्यको व्याकुल कर देते हैं, उसे एक विषयकी पूर्तिके लिए अन्य विषयोंका विस्मरण तक हो जाता है। इतनेपर भी मान रहे हैं हम सुखी हैं। लौकिक सुख से सन्तोष कर लेते हैं और संसारमें फंसे रहते है। वृद्धपुरुष कहे हमें ममता नहीं, बच्चों

लड़के पोते सब मौजमें हैं। अगर ममता नहीं होती तो उनपर दृष्टि ही क्यों जाती ? विवेक हो जाय तो ज्ञात होगा कितने-कितने आक्रमण चौबीस घंटे सताते रहते हैं। उनसे बचा जाय तो श्रेष्ठ है अन्यथा झूंठ। विषय कषायोंमें लगे रहते हैं, फंसे रहते हैं, उसका विषाद भी नहीं होता इस मोहीको। अगर कारणवश सबसे निवृत्त न हो सके तब भी धर्मकार्योंमें योग्य समय निकालकर कार्य किया जाय तो वह भी लाभदायक है। अवकाश होनेपर ज्ञान-चर्यामें, स्वाध्यायमें रत हो गये। अकेले ही रहे तो ममताके आयतनको छोड़कर समताके आयतनमें आ गये। ये दुर्लभ क्षण बीतते चले जा रहे हैं जो वापिस नहीं आनेके। सोला किया, पूजा करली तो इतना अभिमान है कि कोई स्पर्श कर लेवे तो देख लो या किसी की नियत पूजन सामग्रीमें से अन्य ने पूजन कर ली, तब तो मन्दिरको ही सिरपर उठा लेंगे। कषायभाव धर्म नहीं है। कर्तव्यका भान होवे तो हो लिया तब सन्तोष, द्रव्यमेंसे पूजन अन्य कर गया, वह भी तो हमारे निमित्तसे पुण्यका भागी बना, मैं क्यों अपने परिणामोंको कषायान्वित करूं ? यह सौभाग्य है वह भी धर्मरुचि जागृत करके कर्तव्यसे नहीं चूका। यह न सोचकर लड़ाइयाँ शुरू हो जाती हैं। एक वह ज्ञानी जीव है जिसे आत्माकी सुधि है। भक्ति पूजा वह ज्ञानी जीव भी करता है, किन्तु ज्ञानी अज्ञानी दोनोंमें महान् अन्तर है। ज्ञानी समतारूपी अमृतको चखनेकी धुनिमें रहता है, जबकि अज्ञानी विषमतामें ही रुलता फिरता है। ज्ञानी आत्मारामको धर्म ही शरण है। भगवान् आत्मा धर्ममूर्ति है, शरीर भगवान् नहीं। शुद्ध चैतन्य भगवान् है। जो धर्म मुझे करना है वह मैं यहाँ मन्दिर में शास्त्र स्वाध्यायमें सीख रहा हूं। उनके गुण भी वह गाता है। उनके गुणगान करता है वह अपने ही गुण गा रहा है। उपासनामें भगवान् के निकट पहुंचनेको प्रयत्नशील है।

३६६. भ्रमपरिहारी ज्ञानसे ही लाभकी आशा—जो लोग क्रियानय (क्रियाकांड) में सने हैं, वह क्रियानय अज्ञानका अंश है। चर्चा करते जाते, ज्ञान सीखते जाते कि आत्मा शरीरसे भिन्न है, किन्तु लौटते नहीं। वह भी ज्ञानका कहो या अज्ञानका अंश है। वह विचार ज्ञानमय नहीं है। सुआ अर्थात् तोताको पढ़ाया, यहांसे भागना मत, भाग जावे तो चुगने की जगहपर बैठना मत। बैठ भी जावे तो वहाँके दाने चुगना नहीं। चुगनेको भी जावे तो नलिनी को पकड़े मत रहना, छोड़कर जल्दी भाग जाना। एक दिन उस पिंजड़ेसे भाग गया, सब गाता जाय और नलिनी पकड़ कर लटक गया और उसको छोड़े नहीं, जिस कारणसे बन्ध गया। यही दशा हम संसारी प्राणियों की हो रही है। ज्ञाननय अथवा शुष्क ज्ञान ऐसा ही होता है। अन्तरङ्ग की बात है तो वह यथार्थमें ज्ञानका अंश है। जहां सबसे निवृत्त हुआ हो वह भेदज्ञान है। वही सच्चा ज्ञान है। रस्सीमें सर्प मानने से दुखी है। रस्सीका ही ज्ञान होते ही घवड़ाहटका दुःख दूर हो जाता है। हाँ, ज्ञान होने पर भी

धड़कन थोड़ी बनी रहती है, वह भी मिटने वाली है। रागादिक से भिन्न है आत्मा—यह ज्ञान भी कर ले और उसीकी वाञ्छा भी करता रहे, यह कैसे बन सकता है ? परपदार्थको छोड़ देवे किन्तु परसंग परिणति बना लेवे तो यह भी तो मोह अज्ञान है।

३६७. पर और परभावकी अविश्वास्यता व विविक्तता—परपरिणतिको छोड़ता हुआ, भेदवादको खण्डन करता हुआ यह भेदविज्ञान प्रकट होता है। जो अनेक विकल्प बनते रहते हैं उनको समाप्त कर देवे, ऐसा जो ज्ञान है वह निराला ही है। पुण्यपापको पाकर उससे हर्ष मत करो, विलखो भी मत। ऐसा ज्ञानमें आने से वह ज्ञान कहीं प्रकट हो जावे तो वहाँ कर्ता कर्मको अवकाश कहाँ कि कोई हमारा कुछ कर देता है। मोही जीव यही सोच रहा है—अमुकने हमारा यह कार्य कर दिया। मोहमें ऐसी ही परिणति होती है। कर्ताकर्मकी मान्यता न हो तो कर्मबन्धन कहाँसे हो ? जितने अंशमें दृढ़ता है उतनी तो तज्जन्य वीतरागता है। वह स्वभावमें अभेद ज्ञान है। मैं शरीर, मोह, राग द्वेषादि रूप नहीं हूं। क्योंकि उपाधिका संयोग पाकर यह हुए हैं। औपाधिक भाव मेरे नहीं है। रागादिक दिन रात बेचैन करते है। उनमें उपयोग न रहकर ज्ञाता द्रष्टा रहे। सर्वथा भले न हो सके ये रागादि। भैया दूसरोंके रागादिकी बात देखकर भी अपना निर्णय कर लो और हो भी सकता है। जैसी औरके मोहको देखकर हंसी आ जाती है, उसी प्रकार अगर खुदका राग बन रहा हो तो उसपर भी हंसी आ जानी चाहिए। दूसरोंकी गलतियोंको देखकर हंसी उड़ा देते हैं। उसी तरह स्वयं अपनी गलतीकी मजाक उड़ाना चाहिए। सोचे मैं कितना मूर्ख बना यहाँ वहां घूम र ा हूं, परपदार्थोंमें रमण कर रहा हूं। मेरी शान्ति तो मुझमें ही वास कर रही है। परको क्यों अपना बनाता फिरता हूं, जिन्होंने सदैव मुझे धोखा ही दिया है, इन परपदार्थोंका अब भी विश्वास करूं ?

३६८. आस्रवोंसे उपयोग हटानेसे ही हितकी संभावना—इससे क्या फायदा कि दूसरोंको उपदेश देवें और अपन स्वयं कुमार्गपर चलते रहें, सतर्क होनेकी जरूरत ही न समझें। 'परोपदेशे पण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्'। इन अशुचि आस्रवोंसे उपयोगको हटावो, ये कलुषतारूपसे ही उपलभ्यमान होते हैं। जैसे कि जलमें शेवाल कलुषतारूपसे ही है, वहाँ जल तो अत्यन्त शुचि है, अशुचि तो वह शेवाल ही है। वैसे जीवमें जो आस्रवभाव होते हैं वे तो कलुषतारूपमें ही होते हैं, किन्तु वहाँ भगवान् आत्मा तो चिन्मात्र है वह अत्यन्त पवित्र है, अपवित्र तो वह आस्रवभाव ही है। और भी देखो—जलका स्वभाव तो जल-स्वरूप ही है, जल जैसे गुणका है, किन्तु शेवाल जलसे विपरीतभाव वाला है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव तो नित्य ही विज्ञानघन स्वभाव है और इसी कारण स्वयं ज्ञायक है, स्वतः चेतक है, अपने ही स्वभाव वाला है, परन्तु आस्रवभाव आत्मासे विपरीत स्वभाव वाला है,

जड़ स्वभावी है, आस्रवसे परतन्त्र जो ज्ञानभाव उसके द्वारा चेत्य है, वह चेतनेका रंच भी भाव नहीं रखता। ऐसे विपरीत भावमें क्यों उपयोग लगाते हो ? और भी देखो—ये आस्रव दुःखके ही कारण हैं, क्योंकि इनका कार्य यही है कि आकुलता उत्पन्न करना, किसी भी प्रकारका आस्रव देख लो—अनाकुलताका कारण तो होता ही नहीं। तभी तो ये आस्रव कुछ न कुछ कार्य कराते ही रहते, कुछ न कुछ खटपट कराते ही रहते, इनमें शान्ति नहीं. किन्तु भगवान् आत्मा नित्य ही अनाकुलता स्वभाववाला है, कृतकृत्य है, किसी कार्यको ही नहीं करता, परम आनन्दस्वभाव वाला है, और निरन्तर असीम ज्ञाता द्रष्टा रहे, ऐसे अनुपम परिणमनके स्वभावसे पूर्ण है, वह दुःखका कारण नहीं, आनन्दमय है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवभावमें विशेष लक्षणको देखनेसे जो महात्मा आत्मा और आस्रवमें भेद जानता है, जब ही जानता है, तब ही वह क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्त हो जाता है।

२६९. स्वपथपर आनेका अनुरोध—दूसरेके रागद्वेषको देखकर कहते हैं—कैसी मूर्खता कर रहा है, कैसी बेवकूफी कर रहा है ? किसीकी बड़ी, किसीकी छोटी गलती होती है। अपनी गलतीपर खेद करता है, रोता चीखता है। लेकिन गलतियोंपर खेद खिन्न होते रहनेसे भी लाभ नहीं; लेकिन आगे न करे, संभल जावे, थोड़े खेदखिन्नसे प्रायश्चितसे चुका; अब व्यर्थमें अपनी आत्मामें संक्लेश करता है। यह सोचकर ज्ञानसे रास्तेपर आ जावे। राग तो क्षणिक है वह अभी चला जावेगा। मैं तो नित्य हूं, उसका मेरा स्थायी साथ नहीं रहनेका—यह विचार कर उससे उपेक्षा वृत्ति धारण कर ली जाय। रागादिक भाव होते ही सोचे—मैं क्या कर रहा हूं ? कहाँ जा रहा हूं ? मेरा क्या वर्तव्य है ? मनमें आते ही विषय कषाय भोगने लगता है तो आगेका खोटा रास्ता बना लेता है और बद्ध पुण्यको खत्म करने लगता है। शुभोपयोगसे पुण्य होता है, अशुभोपयोगसे पाप होता है। जिसे यह दोनों समान हो जावें उसका मोक्षमार्ग चलता है। स्वभावपर दृष्टि जमना चाहिए। ऐसी ज्योति जागृत हो जावे—वही सच्चा ज्ञान चिर साथी हो जावे तो परपदार्थोंसे मोहके बन्धन टूट जावेंगे। यह अरूपी, निष्कलंक आत्मा सदैव ध्यान करने योग्य है। वही उपादेय है। ऐसा समझकर अन्यमें नहीं रचना चाहिए। यदि कोई आस्रवमें रच रहा है, आस्रवोंसे निवृत्त नहीं होता है तो समझना चाहिये कि उसे अभी पारमार्थिक भेदविज्ञान सिद्ध नहीं हुआ। इस तरह जब कि पारमार्थिक भेदविज्ञानका व क्रोधादि आस्रवकी निवृत्तिका अविनाभाव है तो आस्रवकी निवृत्तिके अविनाभावी इस पारमार्थिक ज्ञानसे ही अज्ञानजन्य कर्मके बन्धका निरोध हुआ, यह ही तो सिद्ध हुआ। अतः यही निश्चय करो कि ज्ञानसे बन्धनिरोध होता है।

२७०. परपरिणतिके त्यागके अर्थ चिन्तन—और भी देखो—यह जो आत्मा व

आस्रव सम्वन्धी भेदविज्ञान है वह अज्ञानरूप है या ज्ञानरूप है। यदि अज्ञानरूप है तो आस्रव भी अज्ञानरूप है और यह भेदविज्ञान भी अज्ञानरूप माना, फिर फरक ही क्या रहा ? यदि ज्ञानरूप है यह भेदविज्ञान तो वतावो कि यह ज्ञान आस्रवमें प्रवृत्त है कि आस्रवसे निवृत्त है। यदि प्रवृत्त है तो भी आस्रवमें व भेदविज्ञानमें कुछ फर्क नहीं रहा, नामके लिये ज्ञान कह दो या हठ करके कह दो तो उससे क्या सिद्धि है ? यदि आस्रवोंसे निवृत्त है वह भेदविज्ञान तो बस यही सुनिर्णय मनमें धरो कि ज्ञानसे ही वन्धका निरोध होता है। तब स्वयं ही समझ लो कि क्रियाकाण्डका आशय क्या अज्ञाननय नहीं है ? है, तब क्रियानय कैसे मोक्ष मार्ग हो सकता है ? तथा ऐसा भेदज्ञान मानो जो कि आस्रवोंसे निवृत्त नहीं होता, तव तो वह ज्ञान ही नहीं है। यदि उसे भी हठसे "ज्ञान ही" ऐसा एकान्त करो तो वह ज्ञाननय भी अज्ञाननाश ही हुआ, वह भी कैसे मोक्षमार्ग हो सकता है ? अतः भैया ! परपरिणतिका तो त्याग करो और भेदवादों को खण्डित करो तब जो अखण्ड अनुपम ज्ञान उदित होगा, उससे ही कल्याण होगा, उससे ही कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति मिटेगी, उससे ही पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध मिटेगा, उससे ही कर्मनिर्जरा होगी, वही मोक्ष का कारण होगा। जीवोंपर जो आपत्ति है वह विकार भावोंकी है। वह न कोई निर्धनता की हुआ करती है और न अन्य पदार्थोंकी हुआ करती है। वह केवल विकारकी है, झूठी कल्पनाकी है और है असत् विचारकी। रागके द्वारा समझ लिया यह मेरा है। सब पदार्थ भिन्न हैं इसकी तो कल्पना ही भूल चुका। पदार्थोंको अपने मानो तो भी वह अपने नहीं, नहीं मानो तो अपने नहीं। जिन्होने इष्ट रूपसे समझा उन्हें रागने परेशान कर दिया। तथा जो अन्य आत्मामें ज्ञाता द्रष्टा हैं उन्हें आनन्द हो रहा है। यह विकार कैसे हटे, क्या उपाय है, जिस उपायसे यह आत्मा आस्रवसे हट जावे उसका उपाय दिखाते हैं--

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥

३७१. एकत्वज्ञानामृत—इसमें यह भावना वताई है, आत्माके प्रति क्या सोचना चाहिए, जिससे कि रागादिक रुक जायें। यह बात इस गाथामें कही है। मैं एक हूँ। प्रत्येक पदार्थ एक है। इसमें कोई विशेषता नहीं है। अपने बारेमें नहीं माना मैं एक हूं और न परके बारेमें इस मोहीने माना कि यह भी प्रत्यक् एक है। दूसरोंका मैं सहायक हूं और दूसरे मेरे सहायक हैं—यह सोचकर दुःखमें पड़ा ही रहा। मैं एकाकी हूँ, इसका अनुभव कभी नहीं किया। मैं एक चैतन्यभाव हूं। जो देख सकने वालोंके लिए प्रत्यक्ष हूं। कुछ चित्र होते हैं जि पर प्राकृतिक दृश्य बना रहता है, उस दृश्यमें वृक्ष, पत्ते आदि उत्कीर्ण रहते हैं। उसमें पत्तोंपर कबूतर, चिड़िया, तोता आदि भी बने रहते हैं। यह जंगलका चित्र है,

इसमें मनुष्यों आदिके चित्र बनाये नहीं जाते, किन्तु वृक्षादि इस तरह बनाये जाते हैं कि अनेक चित्र छुटी हुई जगहमें दिखते हैं। परखने वाला शीघ्र बता देता है, मनुष्य, चिड़िया, बन्दर आदिका यह स्थान है। अजानकार आदमीसे पूछा जाय तो वह कह देता है इसमें चिड़िया आदिका स्थान नहीं दिखता है। जिसने समझा वह दूसरा कह देगा अमुक स्थान इस चित्रमें मनुष्यादिका है, उसे वह स्पष्ट दीखता है। इसी तरह एक बार जिनका आत्मा अनुभवमें, पहिचानमें आ गया, परिचयमें आ गया उनके लिए वह प्रत्यक्षके समान है। जब इच्छा हुई, भाव हुए तब इन्द्रियोंके व्यापारको बन्द करके जब चाहे अपने आपको देखता है, उसका उपयोग करता है। मैं एक हूं। इसके अनुभवमें क्या ही कलात्मक बात बन रही है, वैसा उस अनुभवमें बर्त रहा है। स्वाभाविक आनन्द उत्पन्न करने वाला मैं एक हूं—इसी भावनाको सदैव भाता रहता है। भावोंमें भी इसका अधिक महत्त्व है। तासोंमें भी खेलने वाले जानते हैं, सब पत्तों एवं बादशाहसे भी प्रधान पत्ता इक्का माना जाता है। जिसके पास इक्का आ गया उसे बड़ी भारी जीतनेकी दृढ़ता हो जाती है। एकका अर्थ ही यह है, सार ही यह है कि जो अपने आपको दिखा वह एक सारभूत मैं ही हूं, वही मुझे श्रेष्ठ है तथा वही हितकारक है एवं कल्याणका बीज है। बस यह अपने अनुभवमें आया, तब स्वतन्त्र अपनेको समझ सकता है। जब तक अकेला हूं-यह भाव नहीं जमता तब तक सन्तोष तो होता नहीं। कहीं भी दृष्टि दौड़ानेकी इच्छा करता है। यह मेरे बहिनोई, यह मेरे चाचा जी, यह विकल्प करता ही रहता है। लेकिन हम जिन्हें इतना मान रहे हैं वह कुछ भी न पूछे हमें। ये सन्तोष एवं आनन्दके कारण नहीं हैं। जब सोचे, मैं एक हूं, यह मेरी आत्मा उपादान है, मुझे ग्राह्य है, वह अक्षुण्ण है, अविनाशी हैं, अखण्ड है। आत्माके खण्ड भेद होना संभव नहीं, उसका छेदन नहीं किया जा सकता, उसे तोड़ा फोड़ा नहीं जा सकता। ऐसा निर्विकल्प अखण्ड आत्मा है, स्वस्वरूप ज्योतिमें स्थित है शुद्ध चेतनामात्र वस्तु है। सब विकल्प छोड़कर आत्मध्यानमें स्थित हो जाय तो वहाँ शरीरका भी मान नहीं रहता। जब इष्ट वियोग हो जाय तब कितने ही समझाने वाले हों, वह तब तक सन्तोषका आलम्बन नहीं करता, जब तक यह बात मनमें न बैठ जाय कि मैं अकेला हूं, यह भान होनेपर कोई दुःख नहीं रहता। जिसके बाद कोई दुःख न हो तब परमसन्तोष आता है। यह बात आये बिना सन्तोष या आनन्द नहीं होता।

२७२. ज्ञानीके स्वके अस्तित्वका निश्चय—यह मैं आत्मा एक हूं, ऐसा विचार करनेसे पूर्व, पहिले यह तो निर्णय कर लेना चाहिये कि मैं हूं। मैं हूँ यदि इसका ही निर्णय न हो सका तो फिर किसके बारेमें चिन्तन किया जायगा? मैं हूं, यह अहंप्रत्यय द्वारा वेद्य है। मैं मैं ऐसा ज्ञान जिसमें हो रहा है, मैं मैं यह जिसके प्रति कहा जा रहा है वह ही तो

मैं हूं। सभी जीव अपनेमें मैंका अनुभव करते है। जो वचनोंसे बोल सकता है वह वचनों द्वारा जाहिर करता है कि मैं मैं। जो नहीं बोल सकता वह अपनी ही कल्पनामें मैं का अनुभव करता है। यह मैं हूं, जो भी पदार्थ होते हैं वे द्रव्य गुण पर्यायात्मक होते हैं। पदार्थ है तो उसकी अवस्थायें भी चलती हैं। पदार्थोंकी नवीन अवस्थाको कहते है उत्पाद होना और पुरानी अवस्थाको कहते हैं व्यय होना। दोनों अवस्थाओंमें जो रहता है याने जिसमें दोनों अवस्थायें होती है उसे ध्रौव्य कहते हैं। तो आत्मा भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। आत्मा कोई सद्भूत वस्तु है। उसमें जो नवीन अवस्थायें होती हैं वे तो है उत्पाद, पुरानी अवस्थायें व्यय हुईं और ये दोनों अवस्थायें जिसकी हुई हैं वह है ध्रौव्य। तो मैं हूं यह निर्णय किया जा रहा है। जो भी वस्तु होती है वह अनन्त गुणोंका पिण्ड होती है अथवा कैसी वस्तु है उसको समझनेके लिए भेद करके उसमें अनन्त गुण किये जा सकते हैं। मैं आत्मा हूं, कैसा हूं, यह समझना है तो उसमें विशेषण कहा जायगा ना ? मैं ज्ञान-वाला हूं, दर्शन वाला हूं, आनन्दस्वरूप हूं, ये सब विशेषण उसमें बताये जाते हैं। विशेषण कुछ अलगसे चिपके हुए नहीं होते, किन्तु वे विशेषण ही स्वयं कैसे हैं इसको बतानेके लिए एक भेदकथन है। तो मैं हूं और अनन्त गुणोंकर तन्मय हूं और मुझमें प्रतिसमय मेरी कुछ न कुछ परिणति होती रहती है।

३७३. स्वकी अखण्डताका निश्चय—यह मैं उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप आत्मा जो ज्ञानियोंको स्पष्ट व्यक्त है, प्रत्यक्षभूत है, अखण्ड है। प्रत्येक वस्तु अखण्ड होती है, किसी भी वस्तुके दो टुकड़े नहीं हो सकते। जैसे यहाँ चटाई सींक आदिकके टुकड़े हो जाते ना, वे एक चीज नहीं हैं। अनेक परमाणुवोंके पिण्ड हैं, इसलिए वे अलग-अलग हो सकते हैं। एक हो तो उसके खण्ड नहीं हो सकते। मैं आत्मा एक हूं, अखण्ड हूं, प्रदेशोंकी अपेक्षा भी खण्ड नहीं और अन्यकी अपेक्षा भी खण्ड नहीं। जैसे सीक तोड़ दी तो इसे कहेंगे कि प्रदेशका खण्ड कर दिया। तो ऐसा खंड परमाणुमें तो नहीं हो सकता। एक परमाणुका खंड हो जाय, आधा अलग रहे, आधा अलग रहे तो वस्तुका प्रदेशकी अपेक्षा खण्ड नहीं। तो जब वस्तुतः कालकी अपेक्षा भी खण्ड नही, अर्थात् कोई पदार्थ किसी भी रूप परिणाम रहा है वह परिणमन एक है एक समयमें, इस समझके लिए उस एक परिणमनको भेद करके नानारूपमें समझें, यह तो समझनेकी बात है। प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक समय एक परिणमन होता है। पदार्थ जैसे प्रदेशकी अपेक्षा अखण्ड है ऐसे ही वस्तु परिणमनकी अपेक्षा भी अखण्ड है। इसी तरह वस्तु भावकी अपेक्षा भी अखण्ड है। वस्तुमें स्वभाव होता है, क्या उस स्वभावके भी खण्ड किए जा सकते है ? स्वभावके खण्ड किए जानेपर उन्हें गुण कहा करते हैं। तो वस्तुतः आत्मामें ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, आनन्दगुण ऐसे अनेक गुण भरे

हों सो बात नहीं, किन्तु आत्मा स्वयं ऐसे अलौकिक स्वभाव वाला है, चैतन्यस्वभावमात्र है कि उसको जब हम समझाने चले तो इन गुणोंका नाम लेकर समझा पाते हैं। आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, ऐसा हम समझाते हैं, पर अलग-अलग ऐसी बातें आत्मामें बसी हों सो नहीं। आत्मा तो एक स्वभावरूप है। उसको हम समझानेके लिए भेद करते हैं तो आत्मा प्रदेशोंसे भी अखण्ड है, कालसे भी अखण्ड है, भावसे भी अखण्ड है, और इसी कारण द्रव्यसे भी अखण्ड है। ऐसा यह मैं आत्मा अनन्त हूं, उसका अन्त नहीं, विनाश नहीं अथवा जिस स्वभावकी सीमा नहीं ऐसा अलौकिक चैतन्यमात्र मैं जीव हूं, ज्योतिस्वरूप प्रतिभासमात्र हूं। सबसे पहिले यह समझे कोई कि मैं हूं तो उसमें फिर दिखेगा कि इस मुझमें क्या क्या है, मेरा क्या स्वरूप है? इसलिए पहिले अपने अस्तित्वका निर्णय करना जरूरी है।

३७४. स्वकी एकस्वरूपताका निश्चय—मैं हूं और वह मैं कैसा हूं, एक स्वभावरूप हूं, चैतन्यस्वभावमात्र हूं। उस स्वभावमें खण्ड नहीं है। जो ज्ञान हमारा हो रहा है यहाँ अभी चौकीको जाना, चटाईको जाना, पुस्तक जाना। जो भिन्न-भिन्न ज्ञान हो रहे हैं यह ज्ञान ज्ञानस्वभाव नहीं, यह तो एक विशेष परिस्थितिमें उस ज्ञानस्वभावका यों परिणमन चल रहा है। सो परिणमन तो भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न हुआ करता है। यह जो हमारा ज्ञान बन रहा है, नाना पदार्थोंका जानना, थोड़ा छुटपुट जानना या कैसा ही जानना, यह जानना मेरा स्वभाव नहीं। यह जानना तो हमारा परिणमन है। मेरा जो ज्ञानस्वभाव है वह तो एक रूप है। मेरा जो चैतन्यस्वरूप है वह तो एक स्वरूप है। मैं अपने अनादि अनन्त काल तक सदाके लिए सदासे एक चैतन्यस्वभावरूप रहा आया हूं। ऐसा यह मैं आत्मा एक विज्ञानघन स्वभावरूप हूं। मैं नाना नहीं हूं। जीवको दुःख किस बातका लगा है कि यह जीव अपनेको नानारूप मानता है। मैं अमुक चन्द हूं, अमुक लाल हूँ, अमुक परिवारका हूँ, अमुक पोजीशनका हूं, अमुक परिचय वाला हूं, ऐसा जो अपनेको नाना रूप माना जा रहा है उससे क्लेश उत्पन्न होता है। जब मैं लड़कोंका बाप हूं तो बापका जैसा चिन्तन करना चाहिये, जैसी कल्पना करना चाहिए वैसा उसको करना पड़ेगा क्योंकि उसने अपनेको नाना रूप सोच रखा है। मैं अमुक नेता हूं, अमुक पोजीशनका हूँ ऐसा मैं सोचूँगा तो मुझे उसके योग्य विकल्प करना पड़ेगा। और जब यह सोचता है जीव कि मैं तो एक ज्ञानघन स्वभावरूप हूं, केवल प्रतिभास मात्र, चैतन्यमात्र हूँ तो अब मुझे क्या करना चाहिये? केवल चेतना चाहिये, केवल ज्ञाता दृष्टा रहना चाहिये। सो यों रह लेता है वहाँ क्लेश नहीं है। अपनेको एक स्वभाव रूप माननेपर क्लेश नहीं है। जहां नाना कल्पनायें करता है अपने बारेमें वहाँ इसे क्लेश उठा करता है। मैं एक हूँ।

३७५. निजस्वरूपके उपयोगमें रागादिकका निरोध--देखो विचार तो चलता ही है यहाँ हमेशा। सोचे विना कोई रहता नहीं है और सोच विचारके विकल्पोंकी घुड़दौड़ भी इतनी तेज है कि दिलको जरा भी चैन नहीं लेने देता। ये विचार-विकल्प जब बढ़ते हैं तब और तो क्या दिलकी बीमारी तक हो जाती है। तो इस विचार-विकल्प की घुड़दौड़में यह जीव परेशान है। क्यों यह घुड़दौड़ बन गयी, क्यों ये विकल्प इतने विस्तारमें बन गए कि मैंने अपनेको नाना स्वरूप माना ? मैं अमुक कामका मैनेजर हूं तो उस तरहके विकल्प चलने ही चाहियें, चला करेंगे ही। मैं पढ़ा लिखा विद्वान् हूं ऐसा सोचे तो उस विद्वत्ताके माफिक पोजीशनकी कल्पना चलनी ही चाहिये, क्योंकि अपनेको भिन्न-भिन्नरूप सोच रखा है ना तो नानारूप सोचनेमें इस जीवको आकुलता लग रही है। नाना न सोचे अपने को, केवल एक ज्ञानघन स्वभाव माने तो वहाँ कोई आकुलता नहीं। एक विज्ञानघन मानने पर मेरे लिए मेरा बाहरमें कुछ नहीं रहा। जगतके ये सब जीव एक ज्ञानघन हैं, वैसे ही ये घरके लोग हैं। अब इसकी दृष्टिमें सब जीव एक समान हो गए। उनमें से कुछ लोगों को माना कि ये मेरे हैं, कुछको माना कि ये गैर हैं, अब यह कल्पना न उठेगी। जो जीव अपनेको शुद्ध एक ज्ञानघन मान रहा है उसके फिर कल्पनायें नहीं जगतीं। इसी प्रकार यह मैं आत्मा एक हूँ, अनादिसे अनन्त काल तक एक हूं। परिणतिमें आये हुए इन नानारूपोंसे उपेक्षा हो जाय, इनको आत्मारूपसे अंगीकार न करें और एक निर्विकल्प अखण्ड चैतन्य-स्वभावमात्र जो ज्ञानदर्शन परिणमनोंका भी स्रोतभूत है तन्मात्र अपनेको निरखें तो ये रागादिक भाव ये आस्रव भाव आ सकेंगे। ये रुक जायेंगे तो यों समझें अब कि मैं हूं और एक हूँ।

३७६. स्वकी शुद्धताका निर्णय--यह मैं एक कैसा हूँ ? शुद्ध हूं। शुद्धका अर्थ होता है परके लगाव लपेटसे रहित हूं। मैं हूं। जो हूं सो ही हूं। मैं किसी दूसरे रूप नहीं हूं, सबसे निराला हूं। यह पौद्गलिक ठाठबाट समागम घर परिवार धन आदिक इनसे मैं निराला हूँ, यह देह शरीर जो जड़ है, यह हाड़ मांस आदिकका पिण्ड जो पौद्गलिक है इनसे मैं निराला हूं मैं तो एक चैतन्यस्वभावमात्र हूं, देहरूप नहीं हूं। आत्मामें भी जो रागा-दिक विकार उठते हैं उन रागादिक परिणमनोंसे भी न्यारा हूँ, रागद्वेषादिक भाव जड़ हैं, अचेतन हैं। ये स्वयं अपनेको चेत पाते नहीं, ज्ञानके द्वारा ही ये चेतनेमें आते हैं। मैं इन रागादिक विकारोंसे भी निराला हूं और मुझमें जो विकल्प उठते हैं, विचार चलते हैं, कल्पनायें चलती हैं, छुटपुट ज्ञान होता रहता है, इससे भी मैं निराला चैतन्यस्वभावमात्र हूं, मैं अनादि अनन्त हूं, यह ज्ञान, छुटपुट विचार यह अनादि अनन्त कहाँ है ? कोई होता है और मिट जाता है, तो मैं इन विचारविकल्पोंसे भी निराला हूं। मैं क्या करता हूँ अपने

अन्दर ? तो निश्चयसे देखनेपर विदित होता है कि मैं हूँ और अपनेमें अपने परिणमनको किया करता हूँ, अपने ही द्वारा करता हूं और उन परिणमनोंको अपने लिए ही करता हूं। जिस प्रकार भी मैं परिणम रहा हूं इन परिणमनोंका प्रयोजन दूसरा न भोगेगा। उससे जो कुछ भी हासिल होता है वह मुझको ही हासिल होता है। मैं (उपयोगपरिणमन) अपने ही द्रव्यसे पदार्थसे निकलकर बन रहा हूं। ये पर्यायें इस आत्मद्रव्यसे ही तो उत्पन्न होती हैं, इसलिए मैं ही उपादान हूं। मेरेसे बाहर कहीं और कुछ नहीं है। मैं अपने आपमें हूं, बात निश्चयसे यों देखना है लेकिन वस्तुत: यह कारक भेद भी नहीं है मुझमें। मैं जो हूं सो हूं, उसमें परिणमनके भेद निरखना—कैसे परिणमा ? किसके लिए परिणमा ? किसमें परिणमा, यह भेद कहाँ रखा ? वह परिणमन भी अलग कहाँ रखा ? तो इस कारकसमूहकी प्रक्रिया भी नहीं है मुझमें, ऐसा मैं शुद्ध हूं। मैं हूं, एक हूं और शुद्ध हूं, सबसे निराला मैं जो हूं सो ही हूँ ऐसा निर्णय किया ज्ञानीने। ऐसा निर्णय करने वाले ज्ञानीके रागादिक विकार कहांसे उत्पन्न होंगे ? वे आस्रवसे हट जाते हैं। जो अपने आत्माके इस अन्तरङ्ग स्वरूप तक पहुंचता है उसके कषाय कहांसे जगें ? वह इष्ट अनिष्ट बुद्धि कहाँसे रखेगा ? फिर ये आस्रव उसके दूर हो जाते हैं।

३७७. स्वकी निर्ममताका निर्णय और रागादिके अस्वामिताका दृष्टान्त— यहाँ तक ज्ञानीने निर्णय किया कि मैं हूं, एक हूँ और शुद्ध हूँ। अब वह मैं एक शुद्ध कैसा हूँ ? इसका और भी विवरण करते हैं। मैं निर्मम हूँ, ममतारहित हूँ। जो ममतापरिणाम मेरेमें उत्पन्न होते हैं वे मेरे नहीं हैं। यहाँ ममतापरिणामके कहनेसे सभी परिणमनोंको ग्रहण कर लेना। मैं रागरहित हूँ, द्वेषरहित हूँ, विषयकषायरहित हूँ, इच्छारहित हूँ, सर्वविकारों रहित हूँ, क्योंकि ये जो विकार उत्पन्न होते हैं ये अन्य उपाधिका निमित्त पाकर होते हैं इसलिए इनका सम्बंध पुद्गल है। इन रागादिक विकारोंका सम्बंध मैं नहीं हूँ। जिसके आदेशमें चले कोई वह उसका स्वामी है। जैसे दर्पणके सामने हाथ कर दिया तो हाथकी छाया दर्पणमें आ गयी। हाथ हटाया तो छाया भी हट गयी, हाथ आगे किया तो छाया आ गयी। तो देखो छायाका होना और हटना यह विशेषता इस हाथपर निर्भर है। हाथके हटाते ही छाया गायब और हाथ सामने करते ही छाया आ गयी, और यदि कोई एकदम जल्दी हाथको दर्पणके सामने लाये और हटाये तो वहाँ भी उस ही तरह परिणमन चलता है। तो इस सम्बंधसे यह समझमें आ रहा कि उस छायाका स्वामी हाथ है। देखिये यह सब अन्तर्बोधकी बात चल रही है। यद्यपि छाया दर्पणका परिणमन है। दर्पणकी स्वच्छता तिरोहित होकर वहाँ छायारूप परिणम गया है, पर उसमें निमित्त है हाथ और ऐसा निमित्त है कि जिसको हिलाकर परीक्षा करके देखनेसे यह विदित होता कि यह छाया तो हाथ

होनेके कारण है। सामने हाथ आया तो छाया आयी और हाथ हटा तो छाया मिट गई तो जैसे वहाँ एक शुद्ध दृष्टिमें यह कहा जा सकता है कि छायाका स्वामी हाथ है, दर्प नहीं। देखिये यह भी एक शुद्ध दृष्टि है। जिसे हम व्यवहार कहते हैं वह व्यवहारकी बा भी लक्ष्य शुद्ध होनेपर शुद्ध दृष्टिका विषय बन जाता है। वैसे परिभाषाकी दृष्टिसे छा हाथकी कहना व्यवहारकथन है, छाया दर्पणकी कहना निश्चयकथन है। जो परिणाम जैसा बन रहा है, उसका जो उपादान है उसका परिणमन बताना सो यह निश्चयकथ है, और जिसका निमित्त पाकर परिणमन होता है उसका कहना व्यवहारकथन है। ऐस कहनेमें एक एकत्व दृष्टिकी बात आयी, लेकिन जब इस एकत्वसे भी और गहरी एकत्व दृ करने लगते हैं अर्थात् दर्पणको ऐसी शुद्ध स्वच्छता निरखना जो इसका स्वभाव है तन्मा ही निरखना तो उस स्वभावमें छाया कहाँ ? अरे जो छाया यहाँ आ रही है तो इसक सम्बंध हाथसे है। हाथ आदिकके न रहनेपर छाया रहती नहीं, इसलिए छायाका स्वामि उपाधि है हाथ है, दर्पण नहीं है। स्वभावमें प्रवेश करनेकी धुन वाला ज्ञानी इस शुद्ध दृष्टि से देख रहा है कि छायाका स्वामी हस्तादिक है, यह भी शुद्धनयका विषय होता है। आशय के अनुसार नयकी रचना होती है।

३७८. रागादिके अस्वामित्वका निर्णय—अब आत्मामें देखो ये रागादिक विकार निश्चयनयसे आत्माके हैं, व्यवहारनयसे कर्मके हैं। यहाँ निश्चयनय स्वाश्रित होकर यह तक रहा है कि ये परिणामन किसके हैं ? और चूंकि जीवके परिणमन हैं, उसमें आप कर्मोंकी बात जोड़ रहे हैं, उस निमित्तसे सम्बन्ध कर रहे हैं तो यह व्यवहारकी बात है। तो रागादिक विकारके स्वामी कर्म हैं यह कथन व्यवहार है, लेकिन जब हमारा लक्ष्य अत्यन्त विशुद्ध होता है, हम अपने स्वरूपको केवल चिन्मात्र निरखना चाहते हैं तो वहाँ यह दिखता है कि इसमें ये रागादिक विकार होते ही नहीं हैं। ये रागादिक विकार हुए हैं तो इनका सम्बन्ध कर्मोदयसे है। कर्मोदय हुआ, विकार आया, कर्मोदय हटा विकार हटा। जैसे हम उस दर्पणमें छायाका हिलना, डुलना, मिटना, आना जल्दी-जल्दी देख रहे हैं इसी तरह ये रागादिक विकार जो होते हैं तो मोटे रूपसे ऐसा मानना पड़ता है कि एक रागभाव मेरा एक आध मिनटमें बन पाता है लेकिन परिणामन प्रत्येक पदार्थमें एक समयमें एक होता है, प्रति समय हमारे एक एक समयमें रागपरिणमन चल रहा है और इस विवेचक दृष्टिसे देखा जाय तो पहिले समयका रागपरिणामन मिटा, दूसरे समय का राग परिणमन हुआ किन्तु छद्मस्थ अवस्थामें एक एक समयवर्ती रागपरिणमनका अनुभव नहीं किया जा सकता, क्योंकि छद्मस्थोंका ज्ञान अन्तर्मुहूर्तमें उपयोगी बन पाता, उसकी जानकारी बना पाता, इस कारण असंख्याते समयका जो रागपरिणामन है वह

समुदित कल्पनामें होकर अनुभवमें आता है। लेकिन वस्तुत्व दृष्टिसे तो प्रत्येक समयका परिणमन एक एक न्यारा-न्यारा है। तो रागपरिणमन भी एक एक समयमें एक एक चल रहा है। तो कर्मोदय भी उस उस कालमें एक एक समयमें एक एक निषेकका रहा है, तो जैसे वह एक निषेक आया तो विकार हुआ, दूसरे क्षण न आया तो वह विकार न रहा। दूसरे क्षण आया दूसरा निषेक। तो वहाँ दूसरा रागभाव आया। तो जैसे यहाँ हाथको तेजी से हिलानेमें उस छायाका आना मिटना नजर आता है ऐसे ही आत्मामें प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न कर्मनिषेकोंका भिन्न-भिन्न रागादिक परिणमन चल रहा है। तो ऐसा निरखनेपर यह समझमें आया कि इन रागादिक विकारोंका स्वामी कर्म है, जीव नहीं है। यही बात पहिले व्यवहारकी बताई थी, किन्तु अत्यन्त विशुद्ध आशय होने पर यही बात अब शुद्धनयकी बन बैठी। इसी कारण ग्रन्थोंमें कहीं कहीं यह बताया गया है कि रागादिक विकार शुद्धनयसे पौद्गलिक हैं। तो यों यह मैं रागादिक विकारोंका स्वामी नहीं हूं अतएव निर्ममत्व हूं, मैं रागरहित हूं, द्वेषरहित हूँ, सर्वविकारोंसे परे हूँ। मैं तो एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। इस प्रकार ज्ञानी संतने अपना चिन्तन किया।

३७९. स्वकी ज्ञानदर्शनसमग्रताका निश्चय—मैं हूँ, एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, अब वह मै एक कैसे हूँ? इसका और विशेष वर्णन करते है कि मैं ज्ञान दर्शनसे युक्त हूँ। मै ज्ञान दर्शन समग्र हूँ अर्थात् मेरा समग्र वैभव सर्वस्व सार ज्ञानदर्शनरूप है। मैं चेतन हूँ, चेतता हूँ, प्रतिभास करता हूँ, तो देखिये प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। जैसे मनुष्य मनुष्य सामान्य हुआ, बचपनसे बूढ़ेपन तक वह मनुष्य वही वही कहलाता है। वह दूसरा नहीं बन गया। वह तो हुआ मनुष्यसामान्य और बच्चा हुआ, अब जवान हुआ, अब बूढ़ा हुआ, इस तरह जो उसमें परिणमन चले वह हुआ विशेषमनुष्य। प्रत्येक पदार्थ सामान्यरूप और विशेषरूप उभयात्मक होता है। तो जब मैं चेत रहा हूं, चैतन्यस्वरूप हूँ तो वह चेतना भी सामान्यरूप और विशेषरूप होती है। सामान्यस्वरूप तो वह है जब चेतन अपने चेतनको ही चेत रहा है, सामान्य प्रतिभास हो रहा है। जहाँ विकल्प नहीं उठते हैं ऐसे प्रतिभासको कहते हैं दर्शन और जब यह चेतना बहिर्मुखरूपसे प्रकाशमें आती है तो इसे कहते हैं ज्ञान। जिसमें वस्तुका आकार भेदस्वरूप व्यक्तित्व ज्ञानमें आता है वह सब है ज्ञान। तो मुझमें ज्ञान और दर्शन ये सर्वस्वसार अनादि अनन्त पडे हुए हैं। मैं ज्ञानदर्शन-रूप हूँ। मैं और रूप नहीं हूँ, ऐसा मानने वाले ज्ञानीके रागादिक विकार नहीं आया करते हैं, उन आस्रवोंका निरोध हो जाता है।

३८०. ज्ञानीका स्वमें स्थित होनेका दृढ़ संकल्प—आत्मस्वरूपका निर्णय करके ज्ञानी इस संकल्पमें आता है कि मैं तो अब इस ही शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थित होता हूँ, इसमें

ही मैं अपने चित्तको अनुरक्त करता हूँ। समस्त भावोंका क्षय करता हूं। इन आस्रव भावों का, इन रागादिक विकारोंका अभाव करता हूं परेशानी तो रागद्वेषकी है ना जीवको? ये रागादिक दूर हों तो परेशानियां भी दूर हों। ये रागद्वेष दूर कैसे हों? कुछ अन्य प्रकारकी कल्पनाओंसे ये दूर नहीं हो सकते हैं। ये सब कषायभाव हैं। ये रागद्वेष तो निज ज्ञानस्वभावका, एकत्वका आश्रय किये जानेसे दूर हो सकते हैं। उस आत्माके एकत्व भावका इस गाथामें वर्णन किया है। मैं हूँ, एक हूँ, शुद्ध हूँ, रागद्वेषादिक विकार रहित हूँ, ज्ञानदर्शन स्वभावसे परिपूर्ण हूँ। जो पुरुष अपनेको एकरूप मानेगा उसे आकुलता नहीं होती और जो नाना रूपसे अपनेको मानता है उसे विकल्प होते हैं, आकुलतायें होती हैं। तो जिसे विकल्प मेटना है उसे यह प्रयत्न करना चाहिये कि मैं अपने उस मूल चैतन्यस्वभावपर पहुंच लूं और उसे उपयोगमें पकड़कर रहूँ कि मैं तो एक चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ। इस स्वभावमें जो ठहरेगा, इसमें जो उपयोग रखेगा वह रागादिक विकारोंका क्षय कर देगा। रागादिक विकार दूर हुये कि समझो मैं कृतार्थ हो गया, शान्त हो गया। आत्मशान्तिके लिए दो काम करने हैं—यद्यपि बात एक ही है और एक ही समयमें ये दो बातें होती हैं, मगर दो बातें कौन सी करना है? एक तो रागादिक विकारोंसे हटना और दूसरी बात ज्ञानमात्र निज स्वभावमें लगना, दो काम करनेको पड़े हैं। तो ये काम कैसे बनेंगे? उसका इस गाथामें उत्तर दिया गया है।

३८१. **लोकेषणाविष**—मोही चाहता है कि मैं घर भरमें श्रेष्ठ समझा जाऊं, लोगोंमें अच्छा माना जाऊं। इसीके लिए दुनियां मरती है। किसी किसीके मरने के बाद भी मनुष्य कहते हैं—'नाम कर गया, इसे मरना नहीं समझना चाहिये'। जिन्दामें भी तो कहते ही हैं—अमुक व्यक्तिने अच्छा यश कमाया, जगह-जगह नामवरी है, उनके कामको क्या पूछना, जग जाहिर है। यश मिल गया, सन्तोष हो गया। लेकिन यह सब कुछ करते हुए भी आत्माकी खबर ही नहीं है। यश लोलुपतासे आत्माको क्या शान्ति एवं शक्ति मिली? जैसे लोलुपताकी भी तृप्ति नहीं है, आगे आगे इच्छायें बढ़ती ही जाती हैं। मगर होता क्या है? देखो भैया! साहित्यकार कहते हैं:— कीर्ति आज तक कुंआरी ही है, उसका विवाह ही नहीं हुआ। सो सच है—यह अनादि कालसे कुमारी है और अनन्तकाल तक ही कुमारी बनी रहेगी। कारण जो कीर्ति चाहता है उसे कीर्ति नहीं चाहती है तथा जिसे कीर्ति चाहती है वह कीर्तिको नहीं चाहता है। लेकिन यश तो गालियां पानेमें है। किसीने अगर दो गालियां दे दीं तो समझो प्रशंसा कर दी। देखो ना—यशकी बातमें कोई यही तो कहता है कि इस व्यक्तिने बहुतसा धन जोड़ लिया, हवेलियां बना लीं, दान दे दिया, पाठशाला खोल दी, लड़के बच्चे होशियार कर दिये, यह सब कहना गालियाँ तो हैं। मानो यह कह रहे हैं

लोग कि यह इतना मोही है कि इसके कर्तृत्वबुद्धि है, ये परमें लग रहे हैं। इसमें आत्माकी निन्दा ही हुई है, तथा आत्माको गालियां हैं। फिर इसके लिये भी कोई भी खोजनेपर ऐसा नहीं मिलेगा जिसकी सभी प्रशंसा ही करते हों। अगर ७५ प्रशंसा करने वाले हैं तो २५ निन्दा करने वाले भी मिलेंगे। मनुष्य चाहता क्या है? सबकी सब कीर्ति मुझे मिल जाय तथा सबमें फैलती चली जाय। यह संभव नहीं क्योंकि पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या २९ अंक प्रमाण (क्रमसे २९ अंक लिखनेपर जो पढ़ा जाय वह प्रमाण) है। यह कीर्ति सब मनुष्योंमें होना असंभव है, क्योंकि कीर्ति अगर सबकी होगी तो उसका कहने वाला कौन होगा? तथा वह भी हीनाधिक होगी तो जिसकी हीन कीर्ति होगी, वह उसके लिए निन्दाका विषय बन गया। सब जीव अनन्तानन्त हैं, उनमें कीर्ति बन जाय तब ही तो कहना कीर्ति हुई है।

३८२. कीर्ति और निन्दाकी उपेक्षासे ही शान्तिकी शक्यता—बड़े दिल वाले कभी निन्दासे नहीं घबराते। महात्मा गांधीकी प्रसिद्धि काफी थी, किन्तु उनकी निन्दा करने वाले भी थे, यहाँ तक कि प्राणोंको हनन करके सांस ली निन्दकने। अभी भी निन्दा करने वाले मिल जावेंगे। यह सबपर घटित हो रही है। एक भी ऐसा व्यक्ति बताओ जिसकी निन्दा नहीं हुई हो। अपन औरोंकी बात क्या, भगवान् महावीर और आदिनाथकी भी निन्दा करनेसे बाज नहीं आये कोई कोई। हां, अगर निन्दक सामने नहीं आता है तो पीठ पीछे तो करता ही है। ऐसा कोई भी नहीं हुआ है जिसकी निन्दा नहीं हुई हो। निन्दा घट बढ़ जरूर हुई होगी, निन्दा करने वाले सब जगह मिलेंगे। किसीकी पीठ पीछे होती, हमारी सामने हो गई, अन्तर क्या है? वह कीर्ति भी यावत् चन्द्रदिवाकर रहें तो चलो सोच लो कीर्ति हुई, अर्थात् जब तक पृथ्वीपर सूरज चन्द्रमा हैं तब तक विस्तृत रहना चाहिए। सो एक भी तो बताओ जिसकी कीर्ति रही हो। रही भी तो कितनोंमें? खास खासमें। जिन्होंने जब कभी गा लिया। उस कीर्तिकी क्या वाञ्छा है जो सब क्षेत्रोंमें नहीं चल सकती है। यह चाह एकत्वकी भावनामें बाधा पहुंचाने वाली है। यह कीर्तिकी मंसा तो भिखारी तकमें रहती है और वह उसको चाहता है। अगर कोई भिखारी ४ पैसा ज्यादा मांगनेमें पटु निकला तो उसकी भी बढ़ाई होती है और वह इतनेमें खुश होता है। छोटे बच्चोंमें भी यह गर्व रहता है। अगर वह दूसरोंकी अपेक्षा पढ़ने लिखनेमें होशियार हुआ या खेलने, गाने, अच्छे कपड़े पहननेमें पटु हुआ तो घमंड करेगा, औरोंपर रोब जनावेगा, तनाव रखेगा। यह बातें उत्पन्न क्यों होती है आत्माकी भावनाके बिना। यह जीव अकेला ही जन्मता, मरता है, सुख दुःख भोगता है, पाप पुण्यका फल पाता है। घर, कुटुम्बी, वैभव आदिकी तो बात क्या, शरीर भी साथ नहीं जाता है, एक अकेला ही जाने वाला है। सब यहीं छोड़ जावेगा। फिर इस क्षणभंगुर वैभवपर इतराना कहाँकी बुद्धिमानी है? भैया! यह सब

तो दुःखके कारण हैं, इन भंवरोंमें क्यों फंस रहे हो ? ये बुरी तरहसे झकझोरा देकर घुमावेगीं और नीचे ले जावेंगी, जहाँ कि बेहाल होकर चिल्लाना मात्र हाथ रह जाएगा। यह विचार कर, मैं एक हूं, इस भावनामें रत हो जाओ। जैसे तुम्हारे पुत्र कितने है ? एक है। वही बड़ा, वही मंजला एवं छोटा है। उसमें नाना विकल्प नहीं उठते हैं। सब विकल्प सामने आये और विलय गये। नानापन जहाँ आ गया वहाँ विकल्प उठते ही है। मोही एकमें ही विकल्प उठाता है। वह अपने सिरपर अनेक चिन्तायें सवार कर लेता है।

३८३. एकत्वभावनाकी हितरूपता—मैं ज्ञानघन स्वरूप हूँ। ऐसा मैं अनादिसे अनन्त तक नित्य उदित हूं। कोई देखे या नहीं देखे। एकत्वभावनाका १२ भावनाओंमें बड़ा चमत्कार है तथा वह प्रिय भी मालूम होती है। विरक्ति जब आती है तब एकपनेकी भावना भाता है। कविवर दौलतराम जी ने छहढालामें दर्शाया है— शुभ अशुभ कर्म फल जेते, भोगे सब एक हि तेते। सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथके हैं भीरी॥ इसके पढ़ने से व तत्त्वकी बात सोचने से रोमांच खड़े हो जाते है। अपना मूलकेन्द्र आत्मबिन्दु पर पहुंचनेका प्रयास जागृत हो जाता है। ओह, मैं कहाँ भ्रमण कर रहा था ? अब तक अपना घर नहीं संभाला, पराये घरोंमें चक्कर लगाता फिर रहा हूँ। इसीसे मुझे पराये घरमें अपमान एवं ठोकरें सहना पड़ीं। मेरा निज घर तो ज्ञान घनसे परिपूर्ण है जिसे पहिचान कर सब इच्छायें समाप्त हो जाती हैं। निश्चयसे ज्ञानी यह भावना भा रहा है- मैं एक हूँ। इन लोगोंके बीचमें मैं अकेला पड़ गया। इसका मतलब यह नहीं है, किन्तु द्रव्य कर्म नोकर्मके बीच मैं शुद्ध चैतन्यमात्र एक हूँ। जो एक को चाहता है उसे सर्वस्व मिल जाता है। एक समय एक राजा शत्रु राजासे लड़ाई करने चला गया। सबसे खूब मुस्तैदी के साथ युद्ध किया और उसमें विजयी हो गया। तब वह राजा वहांसे पत्र लिखता है, जिस रानीको जो मंगाना हो वह लिख भेजें। सभी जुदे जुदे पत्र लिखती हैं। कोई रानी लिखती बढ़िया साड़ी लेते आना, कोई लिखती अमुक गहना आभूषण लेते आना, कोई लिखती मोटर, हवाई जहाज, घड़ी, चूड़ियां आदि, किन्तु सबसे छोटी रानी लिखती है पत्रमें 'एक'। सभी पत्र राजाके पास आते हैं, राजा उन्हें पढ़ता है—किसी पर कुछ लिखा तो किसी पर कुछ वस्तु। लेकिन छोटी रानीका पत्र देखा तो उसमें केवल "एक" शब्द लिखा था। मंत्री को बताया पत्र। मंत्री बोला, इसमें एकका मतलब है वह आपको छोड़ और किसी की वाञ्छा नहीं कर रही है। राजा गये, सबको मुंहमांगी चीज भेज दी और 'एक' लिखने वालीके यहां राजा स्वयं पहुंचे। राजा जिसके यहां पहुंचा उसके पास राज्य, वैभव, सब आ गया और वह उसका हो गया। कितनी अच्छी चीज है एक आत्माकी भावना करना, इसका रहस्य एकत्वानुभवीको ज्ञात है। आत्माका उपयोग

कर सबमें घर किये हुए है। इस साज शृङ्गारमें कैसे कैसे भीतरी भाव रहते होंगे? यह आसक्तिके भाव नहीं हैं तो क्या? अन्यथा सादा रहन, सहन क्या शरीरकी स्वाभाविक आभा प्रकट नहीं करता? आसक्तिमें अपनेको डाल दिया और अनेक परेशानियां, दुःख संकट, मोह सिरपर ले लिया। इससे भवितव्य क्या बनेगा, उसे स्वयं तो सोच क्या सकता, तथा दूसरेकी समालोचना किसी किसी को आगे ही इन कार्योंमें बढ़नेको प्रेरित करती हैं। फिर 'मरता क्या नहीं करता' वाले लोगोंकी भी तो कमी नहीं। उन्हें तो अपना ही भूत सवार रहता है और उसकी पूर्तिके लिए 'जो होगा सो देखा जायगा' के किंकर्तव्यसे नहीं चूकते। भगवान् सुबुद्धि प्रदान करें। थोड़ी सी मददसे दीन दुखियोंके दुःख मेटनेमें सहायक बन सकते। साधर्मी भाइयोंकी दैनिक जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओंकी पूर्ति की जा सकती है। अगर वह निरर्थक खर्च होने वाले साज शृङ्गार आदि सामग्रीमें से बचत करके सहायता करनेका निश्चय करें। इस विनश्वर शरीरका कुछ भी नहीं विगड़नेका, केवल झूठी कल्पनाओंके पुलने चक्करमें डाल दिया। नहाने धोनेके पश्चात् एवं पावडर आदि लगाने पर भी शरीरसे वह पसीना निकलता है जो कि खुदको भी पसन्द नहीं आता। बदबू ही पसीनेमें आती है। इस प्रकारकी देहके प्रति रुचि लाना, उसी उसीको प्राप्त करके फंसना ही है अर्थात् अनादि संसारके स्थानपर अनन्त संसार दुःखरूप ही मिलता रहे, यही होना है। एक दृष्टि यह भी है जिससे देहसें बद्ध होते हुए भी सुख अनुभव किया जा सकता है।

३८६. शुद्धत्वकी अदृष्टिमें अशुद्धताका आदर व विवूचन—शरीर और कर्मोका एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध हो रहा है। उससे यह निवृत्त नहीं हो पाता। अपनेमें राग द्वेष मोह कर्तापनके भाव विकल्प बन रहे हैं, वह भी अशुद्धता है। एक अनादि अनन्त निश्चल स्वलक्षणमात्र मानना शुद्ध है। समस्तकारक प्रक्रिया चक्रसे यह आत्मद्रव्य उत्तीर्ण है। एक अशुद्ध या शुद्ध निश्चयकी दृष्टिमें यह बात आ रही थी—आत्मा अपने लिए करता है, किन्तु इस प्रक्रिया जगत्से जो शून्य है शुद्ध है वह परम शुद्ध है। रागादिकसे व रागादिक विषयों से भी इतना लोभ, जिनको पाकर मोही अपना अहोभाग्य समझता है। अज्ञानियों द्वारा रागभरी व अपनी कषायके अनुरूप बातें सुनकर भी तो इसमें अच्छा समझता है। जो अपने लिये जिसको अधिक प्रेमवाला मानता है वह कल्याणकी दृष्टिसे शत्रु है। कौन किसका शत्रु, कौन किसका मित्र है? अपने ही भावसे मित्र है एवं शत्रु है। ध्वजा (झंडा) स्वयं उड़ उड़कर उलझती है और तीव्रगतिसे सुलझती है। आत्मा अपने आप अनादिसे इसी संसारमें उलझा हुआ है तथा अपने आप ही सुलझेगा। संसारका सब समागम सब ऐसा ही है। इसमें सार कुछ नहीं मिलेगा। यहाँ रहना चाहो तो रह लो और जाना चाहो यहाँसे तो निकल भागो। जैसे किसी दुकानपर सौदा पसन्द नहीं आया तो दुकान मालिक स्पष्ट कह

देता है—यहाँ तो ऐसा ही मिलेगा, जाँचमें आवे तो खरीद लो अन्यथा छोड़ दो। भैया ! इस संसारमें तो ठोकर ही मिलेगी। ठोकरें खानेको ही सारा माल सजा हुआ है। बोले और विवूचनमें पड़े।

३८७. बोले सो फंसे—एक साधु था। उनके पास एक राजा आया। साधु ध्यान में मग्न था। राजा आकर बैठ गये। ध्यान खुलने पर साधु बोला, राजन् क्या चाहते हो ? राजाने उत्तर दिया 'एक बच्चा पैदा हो जाय'। साधुने कहा, जाओ हो जायगा। राजा संतुष्ट होकर चला गया। किन्तु साधुने देखा इस समय तो कोई भी नहीं मर रहा जिसे रानीके उदरमें भेज सकूं, तब सोचा किसीको नहीं भेजता तो बात खण्डित होती है, इसलिए खुद जाकर राजाके यहाँ जन्म लेना चाहिए। साधुने मरकर वहीं जन्म लिया। गर्भमें अनेक प्रकारके दुःख सहे। वह सोचता है मैं बोला सो इस तरहके दुःख उठा रहा हूं। अब संकल्प करता हूं कभी भी मुंह नहीं खोलूंगा। अब रानीके उदरसे बच्चा पैदा हुआ तो वह मुंहसे न बोले, यह समाचार राजाके पास गया। राजाने सुनकर मिनादी करा दी कि जो हमारे राजकुमारको मुंह बोलना बता देगा या सिखा देगा उसे इच्छित इनाम दिया जायगा। राजकुमार १२ वर्षका हो गया। वह एक दिन घूमने गया। जंगलमें एक चिड़ीमार मिला, जो कि जालमें चिड़िया न फंसनेके कारण निराश होकर जाल समेटने लगा। इतनेमें एक चिड़िया बोल उठी तो फिरसे जाल बिछा दिया, उसमें चिड़िया फंस गई। तब राजकुमारसे न रहा गया और अपनेको समझानेकी अपेक्षा चिड़ियासे कहने लगा कि 'बोलेसे फंसे'। यह चिड़ीमारने सुनकर जाल तो वहीं छोड़ा और वह दौड़ता हुआ गया तथा राजासे ये सब कहा राजाने प्रसन्न होकर पाँच गाँव इनाममें देनेको कहे। बादमें राजकुमार घर आया तो वह वहाँ आकर मुंहसे नहीं बोला, पूर्ववत् गूंगा रहा। राजाको क्षोभ आया कि पहले तो हमारा पुत्र मुंहसे नहीं बोल पाता, और उसपर भी हमारी हंसी चिड़ीमार उड़ावें। यह राजाको कैसे सह्य हो सकता था ? अतएव राजाने चिड़ीमारको फांसी दे देनेका हुक्म दिया।

चिड़ीमारको फाँसी दी जानेसे पूर्व पूछा गया—तुम्हें इस समय जिससे मिलना हो, जो कुछ खाना पीना हो वह कह दो। उत्तरमें चिड़ीमारने कहा, मैं केवल दो मिनट राजकुमारसे मिलना चाहता हूँ। राजाने कहा–दो नहीं, तुम पाँच मिनट मिल सकते हो। वह चिड़ीमार राजकुमारके पास जाकर बोला 'मुझे फाँसी लगनेका दुःख नहीं है, किन्तु दुःख इसका है कि मैं झूठा सिद्ध हो रहा हूँ। इसलिए मेहरबानी करके कमसे कम उतनी ही बात कह दो जितनी बात तुमने बागमें कही थी। इससे राजाको मेरी सच्ची बातकी प्रतीति हो जायगी। तब राजकुमारने सभामें ही शुरुसे कथा सुनाई। मैं साधु था। मेरे पास ये राजा आये, इन्होंने कहा कि मेरे बच्चा हो जाये। मैंने कह दिया। मैं राजाको

बच्चा होनेको कह चुका था, जिसकी विपत्ति मुझे स्वयं भोगना पड़ी, अतएव 'बोलेसे फंसे' विचारकर चुप (मौन) रहता हूँ, चिड़िया बोली सो चिड़िया फंसी। इसी बोलनेसे चिड़ीमार के लिए फांसीका हुक्म हुआ। राजाने सब भेद जानकर चिड़ीमारकी फांसीका हुक्म रद्द कर दिया तथा राजा सत्य बातपर प्रसन्न हुआ एवं अपने सन्देही विचारके कृत्यपर पश्चात्ताप किया। "जो बोले सो फंसे" यह बात सत्य है। जगत्के तो यह सब दिखावटीरूप हैं। किस नगर, गांव, घरको अपना नहीं माना, किस परिवार वालेको अपना नहीं माना, किस धनको अपना नहीं माना ? भैया ! किसी वैभव एवं पत्थरोंपर नहीं इतराना। इनका क्या विश्वास? आज मिला कल छोड़ दिया। फिरसे नया अपना मान लिया। यह सन्तति चली ही आ रही है। यथार्थमें इनमें कोई सार नहीं है। कोई विकल्प न हो तो आत्मस्वरूपको देख सकेगा जिसके प्रतापसे जीव शुद्ध बनता है।

३८८. **सृष्टिमें दृष्टिका सहयोग**—जैसी दृष्टि होगी वैसी सृष्टि (परम्परा) चलेगी। जो स्वयं दोषोंसे भरा है उसे अपनी दृष्टिमें औरोंके गुण नजर नहीं आकर दोष ही नजर आवेंगे। वहाँ जो भी विचार आवेगा वह दोषवृत्तिसे पूर्ण ही तो उठेगा। इसके विरुद्ध जो स्वयं गुणवान् है, गुणग्रहण करनेकी ही जिसकी दृष्टि है उसमें गुणोंकी वृत्ति ही तो उठेगी। शोकमग्न व्यक्तिको कोई भी हंसने वाला प्रसन्न नजर नहीं आवेगा। सुखी मनुष्य दुःखीको भी देखेगा तो वह कुछ न कुछ सुखकी नजरसे ही देखेगा। जो रागादिकमें सना हुआ है वह बाह्यमें ही दृष्टि रखता है तथा जो ज्ञानी जीव है वह प्राणियोंको उसी स्वरूपसे देखता है। कैसा तो इस जीवका स्वरूप है और कैसी वृत्ति उठ रही है ? अशुद्धको निरखा तो अशुद्ध और शुद्धको निरखा (निहारा) तो शुद्ध बन गया। मेरे लिए परवस्तु शुद्ध नहीं है, क्योंकि परकी जो दृष्टि है वह शुद्धताकी दृष्टि नहीं है। परम + आत्मा = परमात्माके शुद्ध स्वरूपको देखा जाय तो वह स्वरूपसे शुद्ध है, इससे अपनी भी शुद्ध दृष्टि जागृत हो जायगी। अगर इस तरहकी बात नहीं होती तो कोई अटक जरूर है। नहीं तो परमात्मतत्त्व वस्तुका शीघ्र ज्ञान कर लेता। हम वर्तमान पर्यायमें शुद्ध जीव हैं नहीं। फिर कैसे शुद्ध देखें ? यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर यह है कि द्रव्यदृष्टिसे जो शुद्धता देखी जाती है उसके लिये कहा जाता है कि इसका अवलम्बन किया जाय। सकल कर्मचक्रकी प्रक्रियामें उत्तीर्ण निर्मल अनुभूतिमात्र होनेसे मैं शुद्ध हूं, उसका आलम्बन किया जाय। निष्कलंक, निष्तरङ्ग, अनुपम चैतन्यमें भेददृष्टिसे अभिन्न कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, घटित होते हैं। इनसे भी रहित होवे तब निर्विकल्प शुद्ध होवे। यह विकल्प रागादिकमें में जोड़ते हैं। मोहीको अपना पुत्र तो राजा भैया लगता ही है। स्त्रीके बारेमें सोचेंगे तो मेरी सी स्त्री अन्य किसीकी नहीं होगी, यह प्रीतिका विषय होता है। अपनी जीर्णशीर्ण

कुटी जिसकी ईंटें भी निवल रही हों, उसे तो यह अच्छी ही कहेगा। जहाँ ममत्व पहुंचा वहाँ अपना कहने लगता है। प्रीतिको ही स्वभाव बना रहे हैं। सम्यग्दृष्टिको भी प्रीति करना पड़ती है। अगर वह उन्हें निजत्वकी दृष्टिसे देख लेवे तो अज्ञानी मोही ही हो गया। जैसा कि सटोरे घसीटे मान बैठे हैं। अतः यह विश्वास आ जाना चाहिए कि प्रीति करेगे तो संसारके दु.ख ही बढ़ाना है। यह बात मनमें यथार्थ जम गई तो दर्शन, पूजन, भक्ति सफल बन गई। नहीं तो पूजन भक्ति, सत्संगति, स्वाध्याय आदिसे क्या पाया ?

३८६. स्वरूपद्रष्टाका विवेक—हेय उपादेयका विकल्प भी न होना, सर्व विकल्पोंसे परे होना ही सर्वश्रेष्ठ है, ऐसी स्वभावदृष्टि उपादेय है। यद्यपि वह दृष्टि स्वयं पर्याय है जो कि उपादेय है तथापि उस पर्यायकी दृष्टि हेय है वह स्वभावदृष्टि रूप पर्याय तो हितकर है। गृहस्थके सागार उपासक और श्रावक यह तीन भी नाम हैं। जो घरमें रहे वह गृहस्थ तथा घर वाला सागार। श्रावक वह जो सत्य धर्म सुने व सुनावे, धर्मसे प्रीति रखने वाला कहलाता है। उपासक वह जो निष्परिग्रहसे प्रीति करे तथा बाह्य आभ्यन्तरसे, विषय कषायोंसे विरक्त होता है। मैं शुद्ध हूँ निर्ममत्व हूं, यह भावना ही, यही ज्ञानीका हर समय का सुस्वाद भोजन है। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ। शुद्धके सम्बन्धमें बताया है कि वह केवल आत्म-स्वरूपके सम्बन्धमें भावना करता है। मैं ममता रहित हूं। देहसे, रागसे, मोहसे, लोभसे रहित हूँ। शरीर भी मेरा नहीं है इत्यादि बातें बहुत आईं, किन्तु यहां उन सबको भी दूर कर रहा हूं। क्योंकि इन भावनाओंका स्वामी भी मैं नहीं हूं। मेरेमें जो तरंग उठ रही हैं, वह भी मैं नहीं हूं। मैं चाहूँ कि ये रागद्वेष जा रहे हैं, एक समय तो रागद्वेषको रोक लूं, वह भी नहीं रुकता जिसके होनेपर हो और जिसके न होनेपर नहीं हो, वह उसका स्वामी हो सकता है। वह क्या है ? पुद्गल है। जिसका स्वामी पुद्गल कर्म है ऐसे क्रोधादिक क्या आत्माके हो सकते हैं ? यह कर्म प्रकृतिके होनेपर होते हैं और नहीं होनेपर नहीं होते हैं तो पुद्गल स्वामी कहलाया तथा जीवके होनेपर क्रोधादिक हों और जीवके न होनेपर नहीं हों तो जीवको स्वामी समझें ? सो जीव तो हमेशा रहता है किन्तु राग कहाँ रह पाते, इसी कारण रागादिकका स्वामी आत्मा नहीं रह सकता। क्रोधादिक पौद्गलिक हैं, मैं उन रूप कैसे हो सकता हूं ? रागका स्वामी मैं नहीं हूं। रागका स्वामी पुद्गल कर्मको कहा है। भोजन करनेका फल है उदरपूर्ति हो जाय, उसमें पुद्गल निमित्त है। लेकिन भोजनको निमित्त पाकर यह रागादिक जीवसे हुए हैं। रागादिकका अधिकरण जीव हुआ। यह देखा, राग जीवके अतिरिक्त और कहीं नहीं होता। सो तो अशुद्ध निश्चयनयका विषय है। यहाँ कह रहे रागका स्वामी पुद्गल है, फिर भी रागादिक अशुद्ध हैं, सो अशुद्ध निश्चयसे स्वामी कौन ? जिसके ऐसे रागादिक भाव हैं। मैं विकार भाव नहीं हूं तथा राग वाला नहीं हूं।

"द्वयोर्भिन्नप्रदेशयोः एकसत्तानुपपत्तेः।" दोनोंका भिन्न स्वरूप है, दोनोंका भिन्न आधार है तथा दोनोंका भिन्न अस्तित्व है। इसलिए दोनोंका ऐक्य नहीं बनता। मैं ममतारहित हूं

२६०. विभावके स्वामित्वका निर्णय—जो भी कलह हो जाते हैं वह अपने ही विकारके होते हैं। अपना ही राग, द्वेष, क्रोध उत्पन्न हो गया तब उनमें लगे। क्रोधमें कब लगें जब वह सुहाता है। सुहावेगा कब? जब यह श्रद्धा है कि मैं इनका स्वामी हूँ या मैं क्रोधादि स्वरूप ही हूँ। क्रोधको अपने से भिन्न एवं पर समझकर जब स्वरूपास्तित्वसे देखता हूँ तथा निरपेक्षस्वभावको अपनाता हूँ, तब प्रतीत होता है कि मैं इनका स्वामी नहीं हूँ। मेजपर आइना रखा है तथा उसके सामने गुलदस्ता रख दिया गया; जिससे गुलदस्तेका प्रतिबिम्ब आइनामें झलकने लगा। अब उसका स्वामी कौन है? अगर यह कहते हैं कि उसका स्वामी दर्पण है तो वह तो सदा रहता है तथा गुलदस्ता कहने पर वह स्वयंकी गुण पर्यायोंका स्वामी है। तब ऐसी दशामें कौन स्वामी ठहरता है? यहाँ न दर्पणको स्वामी कहा जा सकता है और न गुलदस्ताको ही। तो इन रागादिक का कोई भी स्वामी नहीं ठहरा। रागादिक ऐसे लावारिस हैं कि जिनका स्वामी न आत्मा होता है और न शरीर ही होता है। सड़कपर देखा होगा, लड़के बच्चे घूमते रहते हैं। अगर वह तांगा, साइकिल, रिक्सा आदिके सामने अचानक आ जाता है, तो उनके चालक कहते हैं-क्या अपने माँ बापका तू फालतू है, जो कि इसके नीचे मरनेके लिए आना चाहता है। उसका भाव यही है कि तेरा उसी तरह रागादिक लावारिस है, जैसे कि दर्पण एवं गुलदस्ते में दोनों कोई प्रतिबिम्ब का स्वामी नहीं हो सका। इसमें कुछ बात तो जरूर है, जो एक दृष्टिसे दर्पण स्वामी लगता है तथा एक दृष्टिसे गुलदस्ता स्वामी लगता है। दर्पण जब दूसरे पदार्थके आकाररूप परिणमन करता है तब दर्पण स्वामी मालूम पड़ता है। दर्पण तो पहले था अब भी है। इसलिये दर्पण स्वामी नहीं, जिसके सन्निधान होनेपर प्रतिबिम्ब हो और न होने पर न हो, वह गुल दस्ता है न। सो गुलदस्ता स्वामी हो गया। यहाँ चार विकल्प हो गये, दर्पण स्वामी है, गुलदस्ता स्वामी है, दोनों स्वामी हैं, दोनों स्वामी नहीं हैं। इन चारों बातोंमें दर्पणको शुद्ध जाना जा सकता है। रागादिक हुए तो राग, कर्म और आत्माके बीच है तो क्या रागादिक का स्वामी आत्मा है या रागादिकका स्वामी कर्म है? रागादिकका स्वामी आत्मा नहीं है तथा कर्म भी नहीं है। जब जिसके मां बापका ही निश्चय नहीं हो पाया तो रागका निश्चय स्थान होना तो असंभव है। स्वरसतः मैं रागादि रहित हूँ। अशुद्धनिश्चयसे रागादिका स्वामी आत्मा है। एकदेश शुद्धनिश्चयसे देखा तो रागादिका स्वामी कर्म है। परमशुद्धनयसे देखा तो कर्म नहीं है, तब न आत्मा है स्वामी और विवक्षितकदेश शुद्धनिश्चयसे आत्मा स्वामी नहीं तो कर्म है, यह

फलित निकाला।

३६१. रागादिकसे आत्माकी भिन्नताका निर्णय—रागादि तो हमेशा रहेंगे नहीं कर्मविपाक भी वह नहीं रहता। तब रागादिका स्वामी कर्म हुआ। रागका स्वामी आत्मा होता तो आत्मा तो सदैव रहता है इसलिए रागको सदैव रहना चाहिए था। तथा कर्मको राग होता तो उन्हें सदैव रहना चाहिए। सो कर्म भी स्थायी नहीं रहते और न राग स्थायी रहता। इस लिए किसीका भी सम्बन्ध नहीं बनता है। हां, अन्वयव्यतिरेकभावसे देखो तो रागका स्वामी कर्म है, क्योंकि कर्मके उदय होनेपर ही रागादिक होते हैं और कर्मके उदय न होने पर रागादिक नहीं होते अथवा रागका स्वामी मैं नहीं हूँ, रागका स्वामी पुद्गल कर्म नहीं है, तथा रागका स्वामी अन्य कोई दूसरा नहीं है। आत्मा ही इस रूप परिणाम रहा है, जहां निमित्तकी दृष्टि छोड़ो वहां रागादिका भी अभाव बन जायगा। रागका उपादानसे सम्बन्ध न करे और न रागका निमित्तसे सम्बन्ध करे। कुछ लोग कहते हैं प्रकृतिस्वामी कर्म कहो या प्रकृति कहो एक ही बात है। लग रहा ना ऐसा कि रागादि को करने वाली प्रकृति है, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक रागादिका प्रकृतिके साथ है। सो यह सही बात है कि रागादिका स्वामी प्रकृति है। परन्तु प्रकृतिको रागादिका सर्वथा स्वामी बताना यही मिथ्या है अर्थात् रागादिका उपादान भी वही है और रागादिका निमित्त भी वही है, यह बात अलीक है। रागादिक होते हैं आत्माके अधिकरणमें, फिर भी रागादि आत्माके स्वभाव कतई नहीं हैं और न स्वरसतः इनका प्रादुर्भाव है।

३६२. आत्माकी निर्ममतता—मैं ममतारहित हूँ; राग, मोह, ममता, लोभ, द्वेष आदि मेरे नहीं हैं। मैं इन सबसे विभक्त एक चैतन्यमात्र हूँ। उसके अनुभवसे जो आनन्द होगा वह भगवान्‌की जातिका होगा। मैं आत्मा हूँ। यह आत्मा अनादिसे अनन्त तक रहने वाला है। इसमें जो परिणमन होते हैं वे होते हैं। उनमें मैं क्या करता हूँ, अगर किसीका कोई बिछुड़ जाता है उस समय समझाने के लिए बाहरके आदमी आते हैं, और अनेक-अनेक तरहसे समझाते हैं। तब सम्बोधित समझने वाला व्यक्ति भी कहने लगता है 'हमारा नहीं था, हमें तो मुंह दिखानेको आया था, शत्रु होगा तभी तो दुःख देकर गुजर गया।' पहले से यह बात अनुभवमें नहीं आई, जब अपने पाससे बिछुड़ गया, तब अक्ल ठिकाने आई। यह मेरा नहीं है, यह मेरा नहीं है, इस तरह की खबर शुरूसे ही करता रहे तो उसका फल अभीसे मिलना शुरू हो जाता है। मनुष्य सोचते है कि मेरा समाधिमरण अच्छा हो जावे, यही इच्छा है। लेकिन समाधि जिन्दा रहते हुए करना चाहिए, वह लाभ-दायक होगी। समाधिका मतलब मरणको प्राप्त होना नहीं है। समाधि अर्थात् समता परिणाम धारण करना। जब तक जिन्दा है तब तक तो समाधि कर लें। जब तक विवेक

है, शरीरमें, वचनोंमें बल है उस समय तक क्यों न समाधिका आश्रय लिया जाय ? मरते समय तो कितना क्या बन सकेगा, इसका क्या विश्वास है ? जीवितावस्थामें कहे मेरा नहीं है, न मेरा सांसारिक पदार्थ था तथा न आगे होगा। यदि रागादि भाव मेरे होते तो सदैव साथ रहते। रागादि आत्माके नहीं हैं और हो जाते हैं आत्मामें। बड़ा कठिन काम है, इसमें मत बह जाओ। ज्ञानके संस्कार सम्यक्त्वीके बार-बार अभ्याससे होते हैं। यह तत्त्व उपलब्ध हो सकता है सतत प्रयत्नसे। यह मेरा नहीं है, मैं इनका नहीं हूं। वृथा मोहमें अभी तक पड़ा रहा, यह कुछ भी तो निहार लो। जैसा इस समय हो सकता है वह आगे भी प्रगट हो सकता है तथा जो अभी नहीं हुआ वह आगे भी कैसे होगा, इसमें सन्देह है।

३६३. आत्महितके ध्येयसे धर्मपालन—धर्म करना चाहिये अर्थात् अतुल शान्तिका भण्डार लूटना चाहिये। यह दूसरोंपर ऐहसान डालनेके लिए नहीं है कि मैं धर्म करता हूँ, धर्मात्मा हूं, मेरी पूजा करो, मुझे सिरपर बैठाओ अन्यथा तुम्हें शाप दे देंगे। यह धर्मका लक्ष्य नहीं है और न इन ऊपरी बातोंको प्रयोगमें लानेसे धर्म ही कह सकते हैं। धर्म दूसरे पर दबाव डालनेको नहीं कहता, न ऐहसान करनेके लिए, वह तो स्वयंकी वस्तु है। निष्काम होकर करो। कुछ न कुछ अन्तः क्रिया करते ही रहो। 'वत्थुसहावो धम्मो' के अनुसार आत्माका गुण शान्तियुक्त, क्षमामय है। अतएव दया भाव धारण करो। अन्यके अपराधोंपर क्षमा भाव धारण करो तो महत्त्व है अन्यथा निरपराधीपर तो क्षमा है ही। परोपकार वृत्ति शान्तिमें सहायक होगी। जितना परिग्रह घटे उतनी ही दुनियांकी झंझटें घटें। हे आत्मन् ! अभी तुम अनेक पूर्व संस्कारोंसे मलिन हो। अब भी निठल्ले अचेत रहे तब तुम्हें कौन सहारा देगा तथा निठल्लेपनमें अनेक विकार भाव आकर सतावेंगे। उनसे बचना है तो निरपेक्ष जो आत्माका स्वभाव है उसका आश्रय लो, उसीमें उपयोग बनाये रहो। अगर उपयोगमें भी दृष्टि एकाग्र न हो सकी तो परमात्माका ध्यान करो। यहाँ भी न जमो तो लोगोंकी सेवा करो। कमसे कम विषय कषायोंकी प्रबलता तो रुकेगी। वह आक्रमण करने वाले शत्रु हैं। विषय कषाय पूजन, भक्ति, उपवास, संयम, क्षमा, पूज्य पुरुषोंके गुणोंका अनुकरण करनेसे विषय कषाय शान्त होंगे और निष्काम आत्माकी झांकी मिल जायगी। निर्वाञ्छित होकर शुभ कार्य करना चाहिए। यह इसीलिए है कि विषय कषाय न सतावें, किन्तु जितनेमें आत्मतत्त्व है उतनेमें मोक्षमार्ग है, बाकीमें कर्म बन्ध है। धन, मकान, कुटुम्बी आदि मेरे नहीं हैं, यह तो विकल्प होना ही नहीं, किन्तु जो गुजर रही है उन विषय कषाय शत्रुओंका दमन जरूरी है। यह तो कुछ सोचो 'न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी' विषय कषायका आलम्बन हटा, तब मेरा है, यह मेरा शत्रु है या मित्र है, सब विचार खतम हो जावेंगे।

३६४. मोहीका परमें सगाईका भ्रम—मनुष्य कहते सगाई हो गई ! सगाई शब्द स्वकाई से बना है। स्व अर्थात् अपना मानने लगना। सगाईके पहले कोई बात नहीं थी। सगाई हुई और पुत्री मानने लगी मेरा वह मकान सास ससुर धन कुटुम्ब आदि हैं तथा सास मानने लगी मेरा दामाद, समधिन आदि एवं लड़के की माँ पुत्रवधु मानने लगी. इतना धन पैसा आयेगा आदि। यह सब दुनियाँ भरके बखेड़े सगाई होते ही शुरू हो गये। कल्पना पिशाचिनी क्यासे क्या नहीं कर डालती ? दो का सम्बन्ध होने जा रहा है, लेकिन लड़की तथा लड़के वालों दोनोंको चिन्ता लग गई। मकानमें मैं रहता हूं। इसलिए उसे मैं अपना मानता हूं। कारणवश गिरवी रख दिया तथा १५ वर्ष पर बेचना पड़ा, ऋण देने वालेका हो जायगा। समय पूर्ण होने पर उठा नहीं सके तो सोचा मेरा मकान गया और दुखी हो गया। फिर भी कहता है, वह मेरा मकान था तथा ऋण देने वाला व्यक्ति मनसूबे बनाने लगता है यह मकान मेरा हो जायेगा। अभी सौंपा भी नहीं गया तो भी कल्पना कर लेता है मेरा मकान होवेगा या है। इसी प्रकार परद्रव्यमें मैं हूं, मेरा है, मेरा था, मेरा होगा—ये कल्पनायें करके दिन रात दुखी होता रहता है। कल्पनासे ही दुःख हो रहा है। बाह्य वस्तुसे वस्तुतः सुख दुःख होने की व्यवस्था नहीं। यदि बाह्य वस्तुसे सुख हो या बाह्य वस्तुसे दुःख हो तब तो यह खूब पौष्टिक औषधियाँ एवं पौष्टिक भोजन करता रहे जिससे आगे तक सदैव जीता रहे, लेकिन ऐसा हो नहीं पाता है। मोही तो यह सब मैं हूँ और अमुक मेरा है के चक्करसे ग्रस्त है। देखा बकरा मैं मैं कहता है और मैंना मैं ना कहती है, तब दोनोंकी क्या दशायें होती हैं ? जो परको अपना बनाने को सोचता है वही दुखी होता है।

३६५. अहङ्कारका परिणाम—एक लड़का बड़ा नटखट था। वह शहरमें गया, वहाँ शाम हो गई तो धुनियाके घर जाकर कहता है—माताजी, माताजी मुझे घरमें ठहर जाने दो। धुनिया था नहीं उसकी स्त्री थी, उसने नाम पूछा तो कहता है 'तू ही तो था'। पास में बनियाकी दुकान थी, बनियाकी दुकानपरसे खूब मालताल उधार लाया तथा नाम बताया बनियेको 'मैं था'। बादमें वह लड़का माल खा पीकर और गन्दगी फैलाकर चला गया। जब धुनिया आया तो उसने स्त्रीसे इसका कारण पूछा कि यहाँ कौन ठहरा था तो वह बोली 'तू ही तो था'। तो स्त्रीको खूब पीटा, इतनेमें बनिया आकर कहता कि इसे न मारो वह तो 'मैं था'। तब धुनियाने कहा, चल तू ही आ जा और बनिया भी खूब पिटा। मैं हूँ, मेरा था और तू है तथा तेरा था—ऐसी जिसके पास रटन लगी है, वह छूटने वाला नहीं है। उसके लिए तो तू हो आ जा की मार पड़ेगी। एक बार भी निज अनुभव समझमें आ जावे तब यह ममत्व परिणाम हट सकता है। अनेकों उदाहरण कह रहे हैं—परको अपना मानने

वालोंने अनेक दुःख उठाये हैं और उठा रहे हैं। यह हमें अवसर है कि उन्हें देखकर चेत जावें। चेतनके लिए इस भव मरणसे पहले चेतना (सावधान होना) ही जरूरी है।

३६६. आस्रवनिवृत्तिके लिये तत्त्वचिन्तन--यहाँ ज्ञानी किस विधिसे आस्रवोंसे हट जाता है यह दिखाया जा रहा है; वह अपने आपको इस तरह चेतता है—यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त चिन्मात्र ज्योति हूं, अनाद्यनन्त नित्य उदित विज्ञानघनस्वभाव होनेसे एक हूं, मैं स्वकीय चैतन्यात्मक हूं। यह मैं आत्मा समस्त कारकसमूहकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण (परे) हूं, निर्मल अनुभूतिमात्र होनेसे शुद्ध हूं, मुझमें कुछ भी द्वन्द नहीं है। यह मैं आत्मा क्रोधादि विश्वरूपताके स्वामी रूपसे कभी परिणम ही नहीं सकता हूं, क्योंकि क्रोधादि विभावोंका अन्वयव्यतिरेक पुद्गल कर्मके साथ है, अतः उन विभावोंका स्वामी पुद्गल है। जब क्रोधका स्वामी मैं हूं ही नहीं, तब मैं निष्क्रोध हूं, जब मानका स्वामी मैं हूं ही नहीं तब मैं निर्मान हूं, जब मैं लोभका स्वामी हूँ ही नहीं तब मैं निर्लोभ हूं, जब मैं ममताका स्वामी हूं ही नहीं तब मैं निर्ममत्व हूं। अथवा जब क्रोधादिवैश्वरूपका मैं स्वामी ही नहीं, तब वे सब विभाव मेरे नहीं हैं, अतः निर्ममत्व हूं याने निर्ममत (ममतारहित) हूं। फिर हूं कैसा ? मैं चैतन्यमात्र तेज हूं और चैतन्यमात्र तेज वस्तुस्वभावसे ही सामान्यविशेषात्मक है, जो उसकी सामान्यात्मकता हैं वह दर्शन है, जो उसकी विशेषात्मकता है वह ज्ञान है। अतः दर्शन ज्ञानात्मक हूँ अथवा दर्शनज्ञानसमग्र हूं याने दर्शन ज्ञान ही हैं समग्र सर्वस्व जिसका ऐसा मैं हूं। सो कहनेकी ही बात नहीं, आकाशादिकी तरह एक पारमार्थिक वस्तु विशेष हूं। तब लो, अब मैं इस समय इस ही आत्मामें समस्त परद्रव्योंकी प्रवृत्तिकी निवृत्ति द्वारा निश्चल ठहरता हुआ, समस्त परद्रव्योंके निमित्तसे होने वाली विशेष चेतनकी चंचल तरङ्गों के निरोधसे इस ही मुझको चेतता हुआ, अपने अज्ञानसे अपनेमें उठने वाले इन सारे विभावों को मैं दूर करता हूं, क्षपित करता हूं। इस प्रकार आत्मामें निश्चय करके यह ज्ञानी आत्मा तुरंत ही समस्त विकल्पोंका वमन करके अकल्पित, अचलित अपने आपका आलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन रसात्मक होता हुआ आस्रवोंसे निवृत्त हो जाता है।

३६१. आस्रवनिवृत्तिके अर्थ चार भावनायें—रागादिकसे निवृत्त होनेके लिए ज्ञानी कैसी भावना करता है ? उसमें चार प्रकारकी भावनायें मुख्य है--(१) एक मैं हूं। असाधारण गुणात्मक हूं। आनन्द घन हूं। आत्मभावना करनेसे अन्यका आलम्बन न होनेसे वह पराश्रितता छूट जाती है। (२) सर्व द्रव्योंसे विविक्त याने शुद्ध अपने ही स्वभावमें तन्मय हूं। मैं किसीको करता नहीं, किसीके द्वारा मैं किया नहीं गया। मैं किसीका नहीं हूं, इस प्रक्रिया से भी रहित मैं शुद्ध हूं। मैं निर्ममत्व हूँ। मकान, स्त्री, कुटुम्बी जनोंकी तो बात ही क्या, जो परिणमन चल रहे है वह भी मेरे नहीं हैं, उनसे मैं परे हूं। (३) मै ममता आदि सर्व

विभावोंसे रहित हूं, मात्र चित्प्रकाशमय हूं। (४) 'णाण दसण समग्गो' मैं ज्ञान दर्शन कर समग्र हूं अर्थात् ज्ञान दर्शन स्वरूप ही मेरा सर्वस्व है, किसी असाधारण गुण रूप हूं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें असाधारणपन न हो। मुझमें कोई असाधारणपन तो अवश्य है, जिस कारण परसे विविक्त हूं। आत्मा कहो या चैतन्य कहो दोनों एक ही चीज हैं भाव भाववान् है। आत्मा सामान्यविशेषात्मक है तो चैतन्य भी सामान्यविशेषात्मक है। तो चैतन्य का कार्य भी चित् सामान्यविशेषात्मक है। उसमें सामान्य परिणति है दर्शन, और विशेष परिणति है ज्ञान, दर्शन सामान्य प्रतिभासात्मक है व ज्ञान प्रतिभासविशेषात्मक है। तो ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्य है, चैतन्यस्वरूप आत्मा है और आत्मा मैं हूं। इसलिए मैं ज्ञान-दर्शन कर युक्त हूं।

३९८. **मुक्त्युपायमें ज्ञानीकी भावना**--ज्ञानी भावना भा रहा है। संसारी जीवन में अब तक फसा हुआ हूं। जहाँ भी मैं पहुंचा, वहाँ मैंने अपने को उसी पर्यायरूप अनुभव कर लिया था। उसका ही शेष आक्रमण अब तक भी है। जो बीतती है वह तो जुदा है। अहो इस भावको अपना कैसे मान लिया जो कि अपने पास सदैव नहीं रहता ? अन्तरङ्गमें आत्माका भान होता है, यह भावोंकी निर्मलतासे प्रतीत होता है। अभी कोई मनुष्य परमार्थ तत्त्वकी दृष्टि देकर इस भावनामें रत हो जाय, मैं चैतन्यमात्र हूं, ज्ञाता द्रष्टा हूं तो इसकी प्रतीति होनेसे अन्तरङ्गमें वैसा ही अनुभव करने लगता है। हो सकता है बाहरमें क्या बीतती है ? जो पढ़ा है उसे सोच समझकर अन्तरङ्गमें उतारता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, चैतन्यस्वरूप हूं। यह भाव बन जाय तो उस ध्यानके कालमें वह मनुष्य नहीं है। उस ध्यानके समयमें जो ऊपर बीतती है उसका विशेष परिणाम नहीं निकलता अर्थात् बाहरके बीतनेसे अन्तःपरिणाम नहीं निकलता। ज्ञानी सोच रहा है—मैं शुद्ध चेतनामय वस्तु हूं, विज्ञानघन हूं। ऐसे अनुभवके समय कितनी कितनी गन्दगियाँ निकल गई, उनका विस्तार बना लेवें तो कहना असंभव है। पण्डित भी मैं नहीं रहा। त्यागीपनका भी भाव नहीं रहा। देह मेरी नहीं है। मकान कुटुम्बी, पुत्र, स्त्री कोई भी मेरा नहीं है। शुद्ध चैतन्य मात्र अनुभवमें बाह्य संयोगका भान उसके ध्यानमें नहीं है। जैसा स्वरूपास्तित्व अपने आपमें है वह ही दृष्ट है। बाहरी संयोगका कोई ध्यान नहीं है। यह क्रिया चल रही है। कब क्या होने वाला है, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं रहा। जब जो होना हो सो होवे। सब निमित्तोंसे छूटनेका यही उपाय है। परसे तो विरक्त हो जावे और निजमें उदासीन हो जावे। अर्थात् निजमें उत्कृष्ट तत्त्वमें आसीन हो जावे। दूसरोंके प्रतिसे खोटा भाव हट जाना यह विरक्तिका कारण है तथा अपनेमें स्वयं अपने लिए आत्मामें उच्चभाव होना यह उदासीपन है। उदासीन अर्थात् उत्कृष्टताके साथ आत्मामें ठहर जावे। ज्ञानीके परमें

विरक्ति होती है जब कि अज्ञानीके परमें ठहरना होता है। ज्ञानी खुदका आलम्बन ले उसीमें परिणमता रहता है। खुदने खुदको ही किया, अतएव स्वरूपको देखो तो स्वयंको किया, अपने लिए ही परिणमा। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह सब किसके लिए किये हैं? सब अपने लिए किए हैं। पाप, पुण्य, धर्म, संयम, व्रत, नियम, उपवास सब अपने लिए किये हैं। क्रोधके प्रयोजनका फल अपने पर ही आया, दूसरेपर नहीं आया। दूसरेपर को पूर्व बाँधे हुए कर्मका फल मिला। मैंने अपनेको किया। घमंड करके जो क्रोध किया वह अपने लिए ही किया तथा उसे देखकर औरोंको भी क्षोभ हुआ, वह भी तो क्रोधीके खोटे परिणमनको देखकर हुआ है, वह उनका है। उनको अन्य अन्य कल्पनायें हुई हैं तब क्षोभ पैदा हुआ है। जो भी परिणति होती है उसका संप्रदान अर्थात् जिसको फल मिला है वह वही है। केवल मैं भाव बनाता हूं और कुछ नहीं कर पाता। एक अणुमात्रका भी तो उपकार या बुरा कुछ नहीं कर पाता। दूसरेको कर्ता मान लिया है इसीसे रुलते आ रहे है।

३६६. दुर्गतिमय संसारमें प्राप्त सत्समागमसे लाभ लेनेका अनुरोध—आज तो हम कुछ पुण्योदयसे उत्तम गति एवं स्थानपर है। इसके पहले दूसरोंके दुखोंको देख हम अपना भी तो अनुमान कर सकते है। इसी तरहके दुःख हमने भी सहन करे होंगे, किस गतिमें जाकर कैसे दुःख भोगे होंगे, यह सब अनुमानसे परख सकते हैं। हाँ निगोदसे अभी नहीं निकले हों तो कीड़े, मकोड़े, गधे, सूकर आदि जो भी हम देखते हैं वह हम भी तो हुए होंगे। या इसी गफलतमें पड़े रहे तो आगे जाकर फिरसे निम्न श्रेणीकी गतिमें पहुंच सकते हैं। इस पावन कल्याणमय धर्मको पाकर यह चिदानन्दमयी अतुल स्वरूप वाला आत्मा कर्मोंके आधीन होकर दुखोंसे जकड़ा फिर रहा है। जिन भवोंसे छूटकर यह आया है उन्हींमें प्रीति करनेसे लाभ हासिल नहीं होगा। जो यह शरीर है एवं अन्य पदार्थ हैं वह मैं नहीं हूँ, किन्तु जिस देहमें रहा उसको सर्वस्व माना मोहने, नही तो पहलेसे आत्माने स्वरूपकी सावधानी की होती तो सिद्धोंकी पंक्तियोंमें होता। पर्यायोंमें खूब भ्रमण किया, लेकिन उनसे क्या लाभ उठाया? रहा पूर्ववत् कोराका कोरा। कितनी पर्यायोंमे यह सनकर नहीं निकला, किन्तु किसीको भी तो अपनी नहीं बना पाई और वही एकका एक रहा। अन्य कुछ भी नहीं बन पाया। हम मनुष्यरूप बनकर आये हैं तो कैसे-कैसे दिन बिता रहे हैं? उन्हें स्वयं ही नहीं जान पाते। जो दिन निकल गये उनकी तो चर्चा ही क्या और जो नहीं निकले वह कितने जल्दी निकल जावेंगे, इसकी भी तो कल्पना क्या? दिन जाते देर नहीं लगती। यह जो शरीरका संयोग हुआ हे, उससे निकलनेका प्रयत्न करनेसे स्वयंका लक्ष्य सिद्ध हो सकता है। कर्म नोकर्मकी स्थिति भेदकर शुद्ध परिणतिमें आनेका सिद्ध भगवान्के सुखका संकेत है,

किन्तु अन्तरङ्ग आवाजसे यह प्रोग्राम बन जावे कि मुझे सिद्ध होना है और कुछ नहीं करना है।

४००. निजकार्यके लिये दृढ़संकल्प होनेकी अत्यावश्यकता—दुनियांके अनेक काम मेरे द्वारा हो चुके हैं लेकिन वे काम मुझे कोई स्थायी सुख सन्तोष न दे सके। ३४३ घन राजूमें कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जिसमें जन्म धारण नहीं किया हो। इस तरहका कोई भी परमाणु बाकी नहीं बचा जो मेरे भोगनेमें न आया हो। किस वस्तुको अपनी अनादि कालसे नहीं मानी है। परवस्तुमें रमना, परको अपनी समझना—यह चक्र सदैवसे चला आ रहा है। यह उद्दंडता आज ही आ गई हो सो नहीं है, यह तो अनादि कालसे चली आ रही है। अब तो यह कार्यक्रम बनाना चाहिए कि सिद्ध कैसे हो सकते हैं? सारे विकल्प छोड़कर अन्तरमें यह भावना रहे, कर्मकालिमाको हटनेमें देरी नहीं है, केवल स्वभावनाका आश्रय कार्यकारी है। इस भावनासे संयुक्त रहे कि सर्वांग शुद्ध चिदानन्दघनमय हूँ। आत्मा का स्वभाव समझनेके लिए ज्ञानपूर्ण आत्माको समझना होगा। यह सुननेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल ऊपरी बातें हो रही हों। मूलवस्तु कुछ भी न हो। जैसे उपन्यास होते हैं। उनमें ठोस बात कुछ नहीं रहती है, केवल पात्रोंका वितण्डावाद लेकर कथानक गढ़ लिया जाता है। यह बात इस कथानकमें नहीं है। यह शुद्ध आत्माके स्वरूपका दिग्दर्शन है, जो इसमें डुबकी लगावेगा, वह उस शीतल आपूर आनन्दको न पावे, यह असंभव है। जिस तरह आकाश आदि पदार्थ वास्तविक लगते हैं, उसी तरह यह आत्मा है। आकाशमें पदार्थोंका अवगाहन व्यवहारतः है, निश्चयसे आकाशके गुणोंका अवगाह है, उसी तरह आत्मामें ज्ञान दर्शन अभिन्न स्थान पाते हैं। वह आत्मा भी एक वस्तु (चेतन द्रव्य) है। मैं चेतन हूँ, आकाश अचेतन है। अब तो मैं आत्मामें निश्चल ठहरूंगा। ज्ञानी इसी रसमें आपूर्ण हो जाता है। मनुष्य जैसा सांसारिक बातोंमें विचारता हैं, वैसा प्रयत्न करके कटिबद्ध हो कार्य करता है तथा सफलता हस्तगत करता है। कार्य अपने विचारके अनुसार ही होता है। अपनी आत्माकी भावना बार-बार तो विचारिये, फिर क्या अचिन्त्य प्रभाव नहीं पड़ता है? आत्मस्वरूपकी भावना हो सकती है, उसके लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा।

४०१. आत्मोत्थानकी सुगमता एवं अवश्यकरणीयता—देखा होगा बड़े बड़े कार्य, युद्धमें विजय पा लेना, वोट लेकर विधानसभा आदिके सदस्य बन जाना—यह सब प्रयत्न पूर्वक धीरे धीरे होते हैं। जिसका निश्चय भी नहीं, सफल न भी हों, वोट लेनेके लिए कबसे नेतागिरीके संस्कार जमे होते हैं। जब समाजमें १०—५ वर्षसे या अधिकसे प्रभाव हो तो अपना प्रचार सफल होता है, उसमें धन, मानसिक शारीरिक बल अभी जुटाना पड़ते हैं। कोई बिना योग्यताके घर बैठे थोड़ी बन जाते हैं सदस्य या किसी किसी विभागके मंत्री

आदि। जब यह कार्य हो सकते हैं तो उन सबसे सरल यह आत्मस्वरूपकी स्थिति पाना है। अपनेको प्रयत्न करके निर्विकल्प समाधिरूप बना सकता है। अन्य कार्योंमें इच्छित पैसा खर्च करना पड़ता है, वर्षो दिमाग लड़ाना पड़ता है, तब भी वह अशान्तिका वातावरण पल्ले पड़ता है। जिसके लिए कभी किसीके द्वारा अच्छे बने तो किसी अन्य या उसी के द्वारा बुरे भी बन जाते है। वोटोंके लिए ही हाथ जोड़ना, सौगन्ध लेना आदि झंझटें हैं, और शून्य आनेपर दुखी होते हैं। लेकिन आत्माके विषयमें जितना भी करोगे उतना सुख पाओगे। कितना महान् अन्तर है? आत्मसम्बन्धी कार्यमें असफलता नहीं मिलनेकी। जो भी स्वरूपभावना करो उसका फल तुरन्त ले लो। यहाँ न देर है और न अन्धेर है, न है सन्देहकी गुंजायश। अन्य कार्योंमें दुनिया भरकी आकुलतायें लगी रहती हैं, किन्तु यहाँ उनको हटाने का प्रयत्न रहता है। अनादिकालसे आत्मामें उपाधियाँ एवं मलिन जाति के संस्कार लगे हुए हैं। इसीसे कल्याण करनेमें बाधा आ रही है। कभी कभी घरमें बड़ा कठिन, शक्तिसे ज्यादा कार्य प्रतीत होता है, दुनियाभरका बखेड़ा पड़ा रहता है। तब काम करने वाला सोचता है, इस कार्यको करनेके लिए कोई दूसरा नहीं आजायगा, करना तो हमींको होगा। यह देख कर उस कार्यके करनेमें तत्पर हो जाता है। उसी तरह आत्मा का कार्य जो पड़ा हुआ है वह स्वयंको करना होगा, उसमें दूसरा कोई रत्ती भर भी सहायता नहीं देगा। हम व्यर्थमें परमुखापेक्षी बने फिरते हैं, दूसरेकी राह जोहते हैं, हमारी अन्य सहायता कर जावे, बोझका गट्ठा उठा जावे तो वजन हल्का हो जायेगा। भैया! सारे विकल्प छोड़कर आत्माकी प्रतीति करो, उसमें तन्मय हो जाओ। तब शान्तिका द्वार बन्द नहीं रह सकता। आज अनेक मलिनतायें एवं संकट हैं तो भी हटाना है। जैसे मकान गिर पड़ने पर स्वयंको ही कार्य कराना या करना पड़ता है। लेकिन आत्माका कार्य तो स्वयं किया जायगा। हाँ दूसरोंका आश्रय लिया जा सकता है, शास्त्रस्वाध्याय, सदुपदेशादिका।

४०२. आत्महितमें लगनेके दृढ़ निश्चयका अवसर—अब तो भेदविज्ञानके द्वारा मलिनतायें हटाना ही जरूरी है। अनेक भव धारण कर करके बहुतसे कार्य किये। इस जीवनमें भी जितने वर्ष शुरूके निकल गये सो ठीक है, अब जो बाकी १०, २०, ४० वर्ष की आशा है वह पूरे वर्ष इस आत्मकार्यके लिए दे देवें। अब कुछ भी कार्य करना बाकी तो नहीं रहा। यह निश्चय धारणा मनमें बैठ जावे। असंख्यात या संख्यात वर्षोंके बंधे कर्म अब सत्तामें हैं, उन्हें हटानेके लिए ही तो सुअवसर हाथ लगा है। क्या इसे भी लकड़हारे के समान पुनः समुद्रसे फेंक देंगे? जरा शान्तिपूर्वक, शान्त दिलसे सोचो तो, तुम्हीं अपनेसे पूछो तो कि भैया! अब भी गफलत तुम्हें सह्य है। अगर नहीं तो अनादिकी कर्मजन्य

मलिनता एवं तज्जन्य उपाधिको दूर करनेके लिए १० वर्ष तो दे दे। तब सोचें हाँ हमने कुछ पानेकी शक्ति हासिल कर ली है। सड़ी, गली बातोंके लिए १०, १५, २० वर्ष तक दे दिये जाते हैं। जैसे एम. ए. एवं बैरिस्टरी पास करनेमें शुरूसे १२, १५ वर्षसे भी अधिक लग सकते हैं तब कहीं वह घमंड भरा, मनुष्योंसे सम्पर्क हटाने वाला २५०), ५००) या १०००) माहका पदका लाभ मिलता है और उसीमें बिक जाते हैं और कुछ नहीं सूझता। अपने उच्चाधिकारीको खुश करनेकी ही नियत रहती है। इस एक भवको आत्मकल्याणमें लगानेका दृढ़ निश्चय कर लिया जावे, धैर्यसे कार्य लिया जावे तो जो निधि नहीं मिली वह मिलना चाहिए। आओ हम सब मिलकर निश्चय कर लेवें और कौन कितना आगे बढ़ सकता है, इसकी होड़ लगा देवें। कर्तव्य पथपर चलते रहे तो हमारा प्रयत्न कभी भी असफल नहीं होगा। बाह्य कार्योंमें तो असफलता आँखों देखे मिलती रहती है, किन्तु इस अन्तरंगके कार्यमें असफलता नहीं मिलेगी और न कभी मिली है।

४०३. अमूर्तचित्स्वभावकी उपासनामें क्लेशका अभाव—मैं यद्यपि रूप रस गन्ध वर्णसे रहित हूं, तो भी शून्य नहीं हूं, किन्तु वास्तविक कुछ हूं। अब जो यह मैंने अपने आपको समझा, जिसे स्वानुभव प्रत्यक्षसे निरखा वह ही मैं हूं। अन्त विकल्पोंके बिना अपने आपकी स्थिति पानेसे जो देखा, अब मैं इस ही आत्मामें निश्चल ठहरता हूं और सर्व विभावोंका क्षय करता हूं। उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति, पूर्व पर्यायके क्षयका कारण है। आज मैं अपने स्वरूपको ध्यानमें लाऊं तो विषय कषायके जो परिणाम हैं वह ठहर नहीं सकते। नाना विकल्पोंने जहाँ देखो वहाँ अहित ही किया है। शारीरिक बल और आत्मिक बलमें महान् अन्तर है। शारीरिक बलसे शान्ति नहीं मिल सकती, किन्तु आत्मबलसे नियमसे शान्ति मिल सकती है। आत्मबल वह विशेष शक्ति है, जहाँ न क्षोभ है, न किसी तरहका दुःख है, वहाँ न किसीके अनुकूल, प्रतिकूल चलनेकी प्रवृत्ति है। वहाँ केवल स्वानुभवगम्य आनन्द है। जिस तरह पानीमें शक्कर या नमक सर्वांग रहता है, उसी तरह आत्मामें शान्ति पूर्णतया रहती है; किसी तरहके विकल्पोंको स्थान नहीं रह जाता। किसी प्रकारके विषय-कषायमें प्रवृत्ति न झुके, ऐसा मुझे आत्मबलमें अपने आप होता है। आत्मबल बिना विषय कषायरूपी कुपथमें शीघ्र पैर बढ़ा सकता है। क्षणिक सुखके स्वादमें क्यासे क्या आपत्ति लग जाती है? इन विषयकषायोंके स्वादोंमें आसक्ति रखना अहितका ही कारण है। कुछ मनके सुखसे इसका पूरा क्या पड़ेगा? पूर्ण संकल्प करके आत्माका अनुभव कर। परिवार जनोंके क्षणिक प्रेममें सुख शान्ति नहीं है, वह तो उल्टी व्याकुलताका ही कारण है। वह सब स्थायी रहने वाले नहीं हैं। विचार भी अस्थिर हैं तब वह तो स्थायी रह कैसे सकते हैं? शान्ति और सन्तोष इसीमें है कि निरपेक्ष आत्माका आलम्बन लिया जाय। परपदार्थ

से कोई शान्ति मिलनेकी नहीं। वह शान्ति तो आत्मामें समाई हुई है। जिसे थोड़ा प्रयत्न करके प्राप्त कर सकते हैं। यह प्राणी एक परमाणु या परपदार्थसे कुछ भी तो नहीं कर पाता, किंचित् भी तो यह परसे ले पाता नहीं, न दूसरेको कुछ कर सकता हैं। आत्मज्ञानके विना सव कार्य निरर्थक हैं।

४०४. ज्ञानदर्शनात्मक संचेतनका प्रभाव—अपनेको यथार्थ पहिचाने तो ज्ञात होगा कि मैं ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूं, सवसे भिन्न हूँ। विज्ञानघन मेरा स्वभाव है। यह दृष्टि वनाता हुआ ज्ञानमें ही निश्चल ठहरता है। अव समस्त विभावोंको क्षय करता हुआ द्रुतगतिसे लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। सिद्धि तो नियमसे होगी, देर जरूर हो जावे, किन्तु उसे तो यह दीखता है, मुक्ति मेरे सामने है। अगर कोई मनुष्य पानीमें डूव जावे तथा निकलनेमें उसे विलम्व हो रहा है तो उस समय तैराक कहता है—घवड़ावो मत, अभी वचाता हूं। वह तैराक डूवा लगाकर उसको निकालनेका प्रयत्न करता है। तैराकको अपनी शक्ति पर विश्वास है, अतः निःसंकोच उसमें उतर पड़ता है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपनी शक्तिपर विश्वास कर दृढ़तासे सोच रहा है कि मैं अभी कर्मोंका क्षय करता हूं। वह ज्ञानी आत्म-समुद्रमें गोते लगाने लगता है। मैं किस कारणसे दुःख उठा रहा हूं, भव सुधरनेका अन्तिम उपाय क्या है? इसका हल वह अपने आत्मज्ञानसे करता है या तत्त्व भी सर्वसे प्रवृत्ति त्यागनेसे ठहर रहा है। जव तक सम्वन्ध वुद्धि है तव तक परपदार्थोंको प्रिय मान रहा है। लेकिन आत्मज्ञानकी जागृति हुई तो देहसे एवं परपदार्थोंसे भी ममत्व छूट जाता है। ममत्व दूर हो जानेसे समस्त विकारोंका क्षय होता है। वह आत्माको चेतता हुआ कर्मोंको क्षय करता है, जिसके आत्मस्वभावको पुष्ट करनेकी ही वाञ्छा है। रागद्वेषादि विकारोंने इसे विह्वल कर डाला है। उनकी तरफ जरा भी लक्ष्य नहीं रखना चाहता। वह तो ज्ञान-दर्शनको चेतता हुआ सर्वविभावोंको हटाता है।

४०५. अपनी असमर्थताका कारण परावलम्बन—यह जीव निजके चेतनेमें अपनेको असमर्थ क्यों पा रहा है? कारण, इसमें अनेक चंचल कल्लोलें उठ रही हैं, जिससे यह पग पग पर डिग जाता है। हम अगर उनका विरोध कर सकें तो चेत सकते हैं। वह उन्हींमें क्यों बार बार जा रहा है? परद्रव्योंके निमित्तसे चेतन्यकी कल्लोलें हुईं। परद्रव्यों में उपयोग नहीं लगाऊं तो यह कल्लोलें अपने आप विलीन (समाप्त) हो जावेंगी। यथा सत्य बातका ही आग्रह करें और मुझे किसीका विचार नहीं करना, इस सत्य बातका उपाय, आत्मबल पर दृढ़ विश्वास लाना है। परसे अपना स्वरूप क्या बनेगा? केवल राग बनेगा और उसमें सफल नहीं हो सके तो द्वेषकी पैदायश हो जायगी। राग परद्रव्यके आलम्बनसे बनता है। वह आलम्बन छोड़ दिया तब फिर किस पद्धतिसे राग बननेको समर्थ रह जाता? राग न बने, इसके लिए समस्त परद्रव्योंका आलम्बन छोड़ दो। रागका दृष्टिगोचर

निमित्तसे नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है, यह बाह्य निमित्त तो आश्रय होकर आता है, जिससे एक प्राकृतिक बात होती है। जैसे अग्निपर पानी बटलोईमें रखकर चढ़ाया तो पानी गरम हो जाता है। अगर कोई चाहे कि जलती हुई अग्निपर बटलोई रखी है और उससे कोई कहे कि २ मिनट ठहर जाओ. इमें ठंडा पानी निकाल लेने दो, तुम गरम मत होओ तो यह बात असंभव है। वह तो अपने तापमान अनुसार गरम होगा ही। वहाँ जो निमित्त-नैमित्तिक स्थितिमें होता है वह तो निमित्तकी बात कहलाई। कोई प्रिय चित्र देखकर या अनुकूल प्रतिकूल मनुष्यको देखकर रागादि करता है तो वहाँ उसे वह आश्रय मिलता है, लेकिन उससे प्रेरणा नहीं मिलती है। और आश्रयभूत वस्तु पाकर रागादिका होना जरूरी नहीं है। आश्रयभूत नोकर्म है, परद्रव्योंका आश्रय छोड़ दे तो कर्मफल नहीं दे पायगा। किसी परद्रव्यका विचार न करे, इससे चेतनकी जो चंचल कल्लोलें हैं, उनको दूर करता हुआ आत्मा स्वाभाविक कार्य करता है। अपने आप जो विभाव उठ रहे उन्हें दूर करता है।

४०६. हितकारिणी दृष्टिसे अपनी निर्णयता—निर्णय करनेकी दो दृष्टियाँ हुआ करती हैं। उपाधि संयोगको देखकर प्रभावों, विभावोंको समझना या विश्लेषणात्मक तरीके से पदार्थका जानना यह एक दृष्टि होती है, दूसरे निरपेक्ष तत्त्वको देखकर ही जानना। जब मैं आधार दृष्टिसे देखता हूं तो प्रतीत होता है राग द्वेष मुझमें ही उठे हैं, कर्ममें नहीं उठे हैं। अगर रागद्वेष कर्ममें उठते तो कर्मको दुःखी होना पड़ता। वह तो अज्ञानसे मुझमें ही उठ रहे हैं, निमित्तकी ओरसे देखा व रागद्वेषकी भावना की तो वह उत्पन्न हो गये। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध विकल्प किया और दुखी हुए। सोचने लगे—मुझसे अमुक पदार्थ बिछुड़ा जा रहा है और अमुक दुःखदायक संयोग हो गया है, तभी तो भ्रम दूर करनेके लिये अरहन्त सिद्धकी प्रायोजनता बताई है। मैं परको ऐसा बना दूंगा, उसका यह हित कर दूंगा तथा अमुकका अनिष्ट कर दूंगा आदि खोटे चिन्तन पूर्वमें स्वयं को ही दुखी करते हैं। यह वस्तुस्वरूपके विरुद्ध बात है या नहीं? यह भगवत्स्वरूप आत्मा रागद्वेषके वशीभूत हो संसारकी वृद्धि करता रहता है अर्थात् अपने भवोंको ही बढ़ाता रहता है। बाह्यमें कुछ बना दूं—यही विचार सताते रहते हैं। रागका यह स्पर्श ही नहीं कर पाता। स्त्री पुत्रादिकों के विकल्पोंने आत्माका घात किया है। कभी गोष्ठीमें जानेकी सोचता, कभी चंचलाको अपना सर्वस्व समझता है। कभी अर्थोपार्जनमें सारा समय देकर बेसुध पड़ा रहता, कभी मकानकी रक्षा, आश्रितोंकी रक्षा आदि ही सोचा करता है। कभी इज्जत बढ़ानेकी फिक्रमें रहता है। यह जितने भी कारण हैं वे सब आत्माका घात ही करते हैं। आत्माका थोड़ा भी सुधार करना चाहते हो तो आत्मबलके बढ़ानेकी कोशिश करनी

चाहिए। यह कैसी विचित्रता है, स्त्री पुत्रसे प्यार कर लिया, धनको एकत्रित कर लिया भाई बान्धवोंसे कभी राग कर लिया और कभी द्वेष कर लिया, प्रेमपूर्वक बोल लिया सिनेमा आदिको देखकर चक्षुरिन्द्रियका विषय पूर्ण कर लिया, मधुर गानोंमें सर्वस्व भूल गया। खाने पीनेके पदार्थोंसे लोलुपता पूर्ण करनेकी सोचता है। यह सब पहलेका चला आया हुआ ढर्रा है, जो दुःखके सिवाय और कुछ नहीं दे सकता। इन सब कार्योंके करनेसे कभी भी तृष्णा शान्त हुई है, न आज ही हो जायगी। इन कार्योंसे आत्मा की उन्नति क्या होती है, सो बताओ। भाइयों! क्रान्ति तो उसमें है जिसमें पुरानी बात बदल कर कुछ नयापन लाया जावे। इसीका नाम क्रान्ति है, जो सोचा विचारा था वह भी मेरा नहीं था। अब कुछ भवितव्य अच्छा बना है; जिससे आत्मकल्याणकी बात मिली है, अपने आपकी बात उपलब्ध हुई है। इस समय जो विचार रहा हूं, अब उसी तत्त्वको बढ़ानेकी चेष्टा करूंगा। राग द्वेषको नहीं बढ़ने दूंगा। विभाव जो स्वयंका अहित कर रहे हैं उनका क्षय करूंगा—ऐसा ज्ञानी विचारता है, तब उसकी क्या विशुद्ध दशा नहीं होती है?

४०७. **जीवका मुग्ध व्याहार**—जहाज जब भंवरमें फंस जाता है तब अनेक चक्कर लगाता है। निकलनेमें कठिनाई होती है, किन्तु जब पानीकी भंवरने अपने स्थानको छोड़ा तभी जहाज एकदम ऊपर आ जाता है। अनादि कालसे यह प्राणी परपदार्थोंके आश्रय होने वाले विकल्पोंकी भंवरमें फंसा है, परमें ही महत्त्व मानता था, कलह करता था, छीना-झपटी करता था, भोगके पदार्थोंपर अपना अधिकार जमाता था। इस तरह घूमता ही चला आ रहा है। परको सर्वस्व मानकर बेसुध हो रहा है। अब वीतराग महर्षियोंके उपदेशका सहारा मिला है। यह सहारा परके उपदेशसे निजका उद्धारकर्ता है। आचार्योंकी निर्मल वाणी विरले भाग्यवान् पुरुषको ही मिलती है। आज जो इस पर्याय समागममें आर्षवाक्य मिला है वह अमूल्य है। उसका वर्णन नहीं कर सकते। यह जन्म मरण, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग तो होते ही रहते हैं। क्या था मेरा, कुछ भी तो नहीं था। पूर्वमें धनी था, आज धन कम रह गया तो मेरा क्या चला गया? इसमें तो संतोष ही बढ़ना चाहिए। जितना कम रहा उतनी चिन्तायें हटीं। यह मायामयी मनुष्य कषायके वशीभूत हो दो बातें प्रेमकी भी कह दे तो मेरा पूरा क्या पड़ गया इससे? लौकिक जन दो बातें निन्दाकी भी कह लेवें इससे मेरा क्या गिरना है? इन कार्योंसे मुझमें कोई बाधा नहीं आती है। अज्ञानसे सारी भावनायें बन रही हैं। अज्ञानने सारा चित्रण किया है। इन विभावोंको नष्ट करना ही श्रेयस्कर है।

४०८. ज्ञानसे आस्रवनिवृत्ति—अब यह अज्ञानकी भंवरसे इस तरह तेज निकलता है जिस तरह जहाज वेगसे रास्ता पाकर निकलता है। बहुत जल्दी यह आत्मा सर्व आस्रवों से दूर होता है। सर्व विकल्प जिसने वमन कर दिये हैं और तत्त्व ज्ञानरूपी तेजसे सर्व-विकल्पोंका उन्मूलन कर दिया है, वह अब अपने आपमें मोहरहित अवस्थाका अनुभव करता है। वह फिरसे विकल्पोंको ग्रहण नहीं करना चाहता। सन्तोषकी लहर उसका साथ दे रही है। इन विकल्पोंको छोड़नेमें हिम्मतसे कार्य लेता है। बादमें शान्ति और सन्तोषका अनुभव करता है। विकारोंका वमन कर देनेसे राग नहीं रहता और अनुपम शान्तिका अनुभव होता है। सर्वविकल्प वमन कर दिये ऐसा ज्ञानी अकल्पित आत्माका अनुभव करता है। जो मन इन्द्रियोंके द्वारा नहीं समझा जाता, ऐसा तत्त्व लक्ष्यमें पाता है। आत्मतत्त्वके अनुभवकी वर्तनाके समय मनका काम नहीं रहता, ऐसा अकल्पित अविचलत, विज्ञानघन होता हुआ आस्रवोंसे दूर होता है। ज्ञानी जीव अपनी-अपनी भावनाओंके बलपर निवृत्त हो जाता है। वह अपने आप आस्रवोंसे दूर हो जाता है। पूज्याचार्य महाराज ने गाथामें स्पष्ट कह दिया है—जो भावना करेगा वह सुख शान्तिका अनुभव करेगा। तथा ज्ञानका उत्पन्न होना और आस्रवोंका दूर होना यह दोनों एक साथ हो जावेंगे। जिस तरह दीपक के द्वारा प्रकाशका होना और अन्धकारका हटना साथ साथ पाये जाते हैं उसी तरह ज्ञानका होना और आस्रवका हटना होता है। दोनोंका एक समय है। 'आस्रव दुःखकार घनेरे। बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे ॥' बुद्धिमानी इसीमें है कि आस्रवको हटाया जाय जो सदैव से अति दुःख देते आ रहे हैं। आस्रव हटते हैं ज्ञानसे। सो ज्ञान व आस्रव निवृत्तिका काल एक ही है। कैसे ज्ञान व आस्रव निवृत्तिका काल एक है यह प्रकट करते हैं—

जीवणिवद्धाएए अधुव अणिच्चा तह ग असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलात्तिय णादूण णिवत्तये तेहिं ॥७४॥

४०९. ज्ञान और आस्रवनिवृत्ति—इस ७४ वीं गाथामें भगवान् कुन्दकुन्द कहते हैं—यह जो आस्रव हैं वह जीव निबद्ध है, जीवमें बंध गये हैं। अध्रुव हैं अर्थात् नष्ट होने वाले हैं, अशरण हैं, घटने बढ़ने वाले हैं, अनित्य हैं, स्थायी नहीं हैं, दुःख हैं, दुःखोंके फल है। ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्त होता है। ज्ञान और रागका रुकना दोनों का समान काल कैसे है? भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य महाराजने सीधा कहा है—ऐसे रागको दुःखदाई जानकर उनसे निवृत्त हो जाता है। उसीको अमृतचन्द्राचार्य सजधज कर कहते हैं। ज्ञान और आस्रव दोनोंमें एक साथ क्या कार्य होता है? आस्रव तो निवृत्त होता है और ज्ञान युक्त होता है। यह बात कुन्दकुन्दाचार्य महाराजके हृदयमें थी, उसे ही अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट शब्दोंमें रख दिया है। मनुष्य तो पढ़ते पढ़ते थक जावें किन्तु उन्हें कहने

एवं लिखनेमें थकावट नहीं थी। ज्ञानी जीवको ज्ञानसे प्रेम होता है। यही कारण है कि आत्माके पृष्ठोंको वह पढ़ते गये, लिखते गये, किन्तु वह ऊबे नहीं।

४१०. विकारसे हटने और स्वभावमें लगनेकी विधि—किन्हीं भी दो बातोंके प्रसंग में एकसे हटना एकमें लगना यह कब होता है कि उन दोनोंमें अन्तर मालूम पड़े और जिससे हटना है उसकी असारता मालूम हो और जिसमें लगना उसका सारपना मालूम हो तो असारसे हटकर सारमें लगना होता है। जैसे चावल सोधे जाते हैं तो कूड़ा कंकड़ को हटाना और चावलको ही ग्र ण करना—यह बात उसके ही तो बनती है जिसके चित्तमें चावल और अचावलका याने कूड़ा कंकड़का अन्तर मालूम है, यह चावल है और यह चावलसे भिन्न चीज है। साथ ही यह भी विदित है कि यह कूड़ा अत्यन्त भिन्न असार चीज है और चावल सारभूत है। तो इसी प्रकार यहाँ सामने दो बातें आयी हैं—ज्ञान-स्वभाव और रागादिक विकार। इन रागादिक विकारों से हटना है और ज्ञानस्वभावमें लगना है तो इसका उपाय यही है कि पहिले तो इन दोनोंका अन्तर जान लिया जाय कि रागादिकका तो ऐसा स्वरूप है, ऐमी आदत है और ज्ञानस्वभावका ऐसा स्वरूप है और इसकी ऐसी महिमा है। इस अन्तरके जाननेके साथ ही यह बुद्धि आयेगी कि यह असार है और यह सारभूत है। बस इतना ज्ञान होते ही ज्ञानी असारसे हट जाता है और सारमें लग जाता है। इसलिये उन्हीं दोनोंका स्वरूप बतला रहे हैं।

४११. विकारकी अस्वरूपता व ज्ञानस्वभावकी स्वरूपसर्वस्वता—ज्ञानस्वभाव तो जीवका स्वरूप है और रागादिक विकार जीवमें निबद्ध होते हैं। जैसे एक दर्पणमें हाथकी छाया आ रही है तो वहाँ जैसे अन्तर समझा जाता है कि स्वच्छता तो दर्पणका स्वरूप है और छाया यह दर्पणमें निबद्ध है। निबद्धका अर्थ है कि स्वभावमें न था किन्तु उपाधि पाकर निमित्त पाकर जुड़ गया, बंध गया इसको कहते है निबद्ध। इसी प्रकार ज्ञानस्वभाव तो जीवका स्वरूप है, ज्ञानस्वभावसे ही रचा हुआ यह जीव है। हम जीवके स्वरूपको समझना चाहें तो केवल ज्ञान ज्ञान ही निरखें, जानप्रकाश उतना ही देखें तो इसमें जीवका स्वरूप ध्यानमें आयेगा। तो ज्ञानस्वभाव तो जीवका स्वरूप है, सहज भाव है और उसके रागादिक विकार ये जीवमें निबद्ध हैं, औपाधिक हैं, आये हुये हैं। यह दोनोंमें अन्तर है। सो जो निबद्ध चीज होती है वह बिगाड़के लिए होती है। जो स्वभाव होता है वह पदार्थ का अस्तित्व रखनेके लिए और उसे पवित्र रखनेके लिए होता है। जैसे पलासके पेड़में कभी लाख लग जाती है तो पलासके पेड़में लाख निबद्ध हुई है। पलासके निजके स्वभाव जैसी बात नहीं है। तो वह लाख लगकर क्या काम करती है ? उस पेड़को सुखा देती है। वह पेड़ धीरे-धीरे ठूठ हो जाता है, तो इसी प्रकार ये रागादिक भाव मुझ आत्मामें लग

गए, निबद्ध हो गए तो क्या हालत होगी अब कि ये रागादिक विकार मुझे बरबाद करेंगे, ठूठ बना देंगे, जड़सा बना देंगे अर्थात् आत्माकी सुध न लेने देंगे। तो ऐसी तो इन रागादिक विकारोंकी आदत है किन्तु ज्ञानस्वभाव यह मेरा स्वरूप है। जब भी इस ज्ञानस्वभाव पर हमारी दृष्टि पहुंचती है तो हम उसमें पनपते हैं, पुसते हैं, आनन्दित होते हैं। ऐसा ज्ञानस्वभावमें और रागादिक विकारमें अन्तर है। और इसके साथ ही रागादिक विकार असार हैं और ज्ञानस्वभाव ही एक शरणभूत सारतत्त्व है। ऐसा ज्ञान होते ही ज्ञानी रागादिक विकारोंसे तो हटता है और अपने ज्ञानस्वभावमें लगता है।

४१२. विकारकी अध्रुवता व ज्ञानस्वभावकी शाश्वतता—ये रागादिक विकार अध्रुव हैं, क्षणिक हैं, रागादिक विकारोंका वेग घटता बढ़ता भी है परन्तु यह चैतन्यस्वरूप मात्र यह मैं जीव ध्रुव हूं। जो मेरा स्वरूप है, चैतन्यस्वभाव है वह एक रूप रहता है। उसमें घटने बढ़नेका भी काम नहीं है और न कभी मिटनेका काम है। तो ये रागादिक विकार मिटते हैं, घटते बढ़ते हैं किन्तु यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व एक रूप रहता हूं। न घटता हूं, न बढ़ता हूं ऐसा जब ज्ञानस्वभावमें रागादिक विकारोंमें अन्तर ज्ञात होता है और साथ ही रागादिक की असारता ज्ञात होती है, इन रागादिक विकारोंसे मेरेको क्या लाभ है? ये औपाधिक भाव हैं, आये हुए हैं, क्षणिक हैं, ये तो आकर मिट जायेंगे किन्तु इन रागादिक विकारोंमें मैं यदि लीन हो जाऊँगा, इन्हें ग्रहण करूंगा तो मेरी बरबादी की परम्परा हो जायगी। ये रागादिक तो एक क्षण आये दूसरे क्षण मिटते हैं। हाँ यह बात जरूर है उन रागादिकोंमें हम बुद्धि लगाये हैं। इसलिए एक राग मिटा तो दूसरा राग आया, वह राग मिटा तो तीसरा आया। राग आता रहता है किन्तु वह राग है क्षणिक तो क्षणिक रागमें अध्रुव रागमें क्या अपना सम्पर्क करना? मैं एक ज्ञानस्वभाव हूं और ध्रुव हूं। यह ही ध्यानमें आये तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। क्योंकि जो ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, जिसका कभी वियोग सम्भव नहीं है उसका यदि सहारा लेते हैं, उसका उपयोग रखते हैं तो उसमें कोई बाधा नहीं। यह चूंकि जानने वाला भी ज्ञान है और उस जाननका विषय भी यह ज्ञानभाव बन रहा है अतएव एकता आ जानेसे इसको निर्विकल्पता आती है। इस तरह ज्ञान रागादिक विकारोंसे हटकर ज्ञानस्वभावमें लगता है। ज्ञानी विचार करता है कि ये रागादिक विकार जिसकी शरण मोहीजन ग्रहण करते हैं ये खुद अशरण हैं। जो राग हो वह होकर मिटनेके लिए ही होता है। अनुभव करके देख लीजिये। भीतरमें जिस प्रकारका प्रीति परिणाम होता है—वह प्रीति परिणाम उत्पन्न होकर मिटनेके लिए होता है। तो जो स्वयं अशरण है उसकी शरण गहने से फायदा क्या? यह ज्ञानस्वभाव मेरा स्वरूप स्वयं शरणभूत है, यह कहीं मिटनेका नहीं

है, सदा रहता है और इस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होनेपर आत्माको शान्ति प्राप्त होती है, एक विशुद्ध आनन्द जगता है। इसलिए ज्ञानस्वभाव तो स्वयं शरणभूत है और ये रागादिक विकार स्वयं अशरण है। ये उत्पन्न होते हैं और तुरन्त मिटते हैं। इनकी रक्षा करनेमें कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार जब अपने सहज गुप्त चैतन्यस्वभावको शरण माना और रागादिक विकारोंको स्वयं असहाय अशरण समझा तो अशरणसे हटकर शरणभूत गुप्त निज चैतन्यस्वभावमें दृष्टि जम जाती है।

४१३. अनित्यमें नित्यत्वके भ्रमसे क्लेश—प्रकरण यह चल रहा है कि वह कौन सा उपाय है जिससे यह आत्मा रागादिक भावोंसे हट जाय, अशान्तिसे दूर हो जाय, शान्तिसे मिलन हो जाय ऐसा कौनसा उपाय है? उस उपायका यह वर्णन चल रहा है। वह उपाय है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। यथार्थ रूप से किसी विषयका सही ज्ञान हुआ हो तो वहाँ आकुलता नहीं जगती है। ये जगतके पदार्थ अनित्य हैं, विनाशीक हैं और इससे विपरीत कोई समझे कि जो मुझे घर मिला है, जो मुझे समागम मिला है, जो मुझे वैभव मिला है यह तो मिटनेका नहीं, मिटता है औरोंका, ऐसी श्रद्धा बनी है मोहियोंको। चाहे वचनोंसे अपने वैभवके प्रति कह डालें कि वैभव तो विनाशीक है, जो मिला है नष्ट हो जायगा, लेकिन श्रद्धापूर्वक वे यों ही नहीं कह रहे। दूसरेके वैभवके प्रति तो वे यह श्रद्धा बना लेते कि इनको जो वैभव मिला है वह तो मिटेगा। यह मरेगा तो मिटेगा या इसके जीवनकालमें ही मिट सके। मेरे समागम सदा रहेंगे तो अनित्य पदार्थोंमें जब नित्यकी श्रद्धा की जा रही है कि ये मेरे समागम सदा मेरे पास रहेंगे, बस इससे आकुलता बन जाती है, क्योंकि जैसी श्रद्धा है वैसी तो बात है नहीं। जब समागम मिटनेका समय आया करता है तो जिन्होंने उन अनित्य चीजोंको नित्य माना था वे बड़े दुःखी होते है और जिन्होंने पहिलेसे ही समझ रखा है कि जितने भी समागम हैं वे सब अनित्य हैं, मिटने वाले हैं, और वे जब मिटनेको आते हैं, मिटते हैं तो उस समय वे खुश होकर जानते हैं—लो यह बात तो मैं पहिलेसे ही जान रहा था। जो जान रहा था सो ही तो हुआ इसमें कोई अनहोनी बात तो नहीं हुई है। यों सम्यक् बोध होनेपर उसको निराकुलता रहती है।

४१४. अशरणमें शरणके भ्रमसे क्लेश—जैसे मान रखा है कि मेरा भाई बड़ा आज्ञाकारी है, मेरी स्त्री, मेरा पति, मेरा पुत्र, मेरा परिवार मित्रजन ये बहुत मुझे मानते हैं, इनका मुझे बड़ा शरण है, ऐसी जब बुद्धि बना रखी है और हैं सब अशरण, मैं भी अशरण। मैं अशरण हूं, मेरे लिए कोई दूसरा शरण सहाय नहीं है, यदि कोई पूछता है मुझे तो खुदका ही पुण्योदय है इस वजहसे कुछ पूछताछ हो रही है। जब खुदके ही पल्ले

पुण्य न हो तो फिर पूछने वाला कौन ? तो यह जीव दूसरेसे शरण प्राप्त नहीं करता है, यह स्वयं अशरण है और मान ले कि मेरेको तो यह शरण है, मेरा भाई, मेरे अन्य मित्र-जन ये सब शरण हैं। जब कभी दुःख आता है, मरणकाल आता है अथवा शारीरिक वेदना आती है तो उस समय कोई शरण बन नहीं रहा। शरण तो वे सब भले-भले समयके कहलाते थे। जब विपदा आती है तब तो कोई शरण नजर नहीं आता। उस समय यह विह्वल होता है। उस श्रद्धाके कारण पहिले समझ रखा था कि मेरे ये सब हैं, इनका मैं स्वामी हूँ, ये मेरे लिए शरणभूत हैं, इनके रहनेसे मुझे कभी कोई कष्ट नहीं हो सकता है पर बात सारी झूठ निकली सो वह उस समय दुःखी होगा और जो पहिलेसे यह समझ रखे हुए हो कि मेरे लिए कोई दूसरा शरणभूत नहीं है, यह मैं अकेला ही हूँ ऐसा जब अपने आपके प्रति समझे तो विपदा आनेपर, मरण काल आनेपर उस श्रद्धाके कारण तो दुःख न होगा क्योंकि श्रद्धा मिथ्या नहीं है। मैं स्वयं शरणभूत हूं, मेरा आत्मा मेरा स्वरूप मेरेको शरण है। मैं इसको साथ लिये हुए हूं, इसको मैं देख रहा हूं, इसके साथ ही मैं जा रहा हूं। जो मेरा है वह सब मेरे साथ है। जो मेरा नहीं है वह पहिले भी मेरा न था। इस तरह सम्यग्ज्ञान करके यह प्रसन्न रहता है और जिसने परसे शरण मान रखा था वह विपत्तिके समयमें दुःखी होता है। प्रयोजन यह है कि जो जैसी बात है उसके विपरीत ज्ञान रखा तो उसमें आकुलता जगती है और जो बात जैसी सही है वैसा ज्ञान बनाया तो उसको आकुलता नहीं जगती।

४१५. असारमें सारत्वके भ्रमसे क्लेश——भैया ! चाहे कितनी ही गरीब परिस्थितिमें हों कितने ही संकट हों, यदि ज्ञान है तो भीतरमें विह्वलता नहीं है। जैसे संसार समागम है तो सारा असार। इसमें सारका नाम नहीं है। चाहे बड़ी समृद्धियाँ भी हो जायें, बड़े राजपाट भी सामने आ जायें, बड़ा लौकिक ऐश्वर्य भी बना रहे लेकिन वह सारभूत नहीं है, वह सब स्वप्न सम है। केवल एक कल्पनाके पुल हैं। जैसे कि कोई मायामयी पुल हो तो उसपर चला तो नहीं जाता, इसी तरह ये सारे कल्पनाके पुल हैं। इनपर भी कोई बात नहीं की जा सकती है। तो ये सब असार हैं, संसारसमागम हैं, सब दुःखमय विकल्पजालके कारण, विकल्पों से होती है आकुलता तो है तो यों सारा असार, पर यहाँ का समागम जिसे सारभूत लग रहा है, इनसे ही तो मेरा बड़प्पन है, इनसे ही तो मेरा सुख है, शान है— इस प्रकार इन असार दुःखमय समागमोंसे जो अपनी शान समझता है, अपनेको सारका मिलना समझता है उसको पद-पद पर दुःख होता है, क्योंकि असार चीजोंसे असार ही बात बनेगी। तो पाला तो पड़ रहा है असारसे, पद-पदपर असारताकी घटनायें चल रही हैं और मान रहा है यह सार तो उसे कष्ट होगा ही। जैसे मानलो कोई

धनिक सेठ किसी अपराधमें जेल पहुंच गया। थर्ड क्लासकी जेल मिली तो वहां जो सिपाही हैं वे अन्य कैदियोंकी भाँति चक्की पीसने आदिके काम उस सेठसे भी लेंगे। अब वह सेठ मनमें तो यह सोचे हुए है कि मैं तो एक सेठ हूं, मेरा तो ऐसा ठाठ है, मेरे पास तो ऐसा वैभव है। तो यह सोचने के कारण उन चक्की पीसने आदिक कार्योंके करते समय वह बड़ा दुःखी होता है, बड़ा कष्ट मा ता है। नो किसी एक गरीब कैदीको दया आयी। था वह जानकार। तो सेठसे कहता है कि सेठ जी, तुम क्यों यहाँ इतना रोते हो? हम लोग इतने सब कैदी हैं वे तो सब प्रसन्न रहते है, हंसते हैं, तुम तो जबसे यहाँ आये तबसे रोते ही रोते रहते हो। तो सेठ जी कहते हैं कि तुम सब लोग भी तो हमारे विषयमें जानते हो कि यह कैसे सेठ हैं। तो कैदी कहता है कि यह तो बतलावो कि तुम इस समय रह कहां रहे हो? जेलमें। जेलमें होता क्या है? अपराधका दण्ड भोगना। तो तुम रह तो रहे हो जेलमें और स्वप्ने देख रहे हो ससुराल जैसे तो यह कैसे हो सकता है? तो सेठ जी की समझमें झट आ गया कि अरे यह तो जेल है, यहाँ ऐसा करना ही पड़ता है। लो इतनी समझ बनाते ही सेठके सारे क्लेश कम हो गए। तो हम किसी वस्तुस्वरूपके विपरीत जब अपनी जानकारी बनाते है तो वहाँ क्लेश होता है। जहाँ विशुद्ध वस्तुस्वरूपके अनुकूल जानकारी बना रहे हैं तो वहां शान्ति रहती है।

४१६. विकारोंकी दुःखरूपता व ज्ञानस्वरूपकी आनन्दमयता—अध्यात्म योगकी साधनामें लगने वाले ज्ञानी रागादिक विकारोंसे हटनेके लिए, ज्ञानस्वभावमें लगनेके लिए ज्ञानस्वरूपका और विकारका अन्तर समझ रहा है और असारसे हटकर सारमें आनेका प्रयास कर रहा है। यह ज्ञानी चिन्तन कर रहा है कि ये रागादिक विकार दुःखस्वरूप हैं, किन्तु ज्ञानस्वरूप आनन्दमय है। जरा गहराईसे विचार करके निरखो, अन्तर्दृष्टि बनाकर भीतर निरीक्षण करो तो यह बात तुरन्त सत्य विदित हो जायगी। जब कभी किसी प्रकार का राग विकार उठता है उसी समय यह जीव दुःखमय अपने को अनुभव करता है। राग का स्वरूप ही ऐसा है कि वह दुःख परिणतिको उत्पन्न करता हुआ ही प्रकट होता है। रागका स्वरूप ही ऐसा है। कौनसा राग ऐसा है जो आकुलताको उत्पन्न नहीं करता। और अनाकुलताको उत्पन्न कर दे, है क्या कोई राग ऐसा? धन वैभवका राग, इज्जत प्रतिष्ठाका राग, मित्रजनोंका राग। यह तो सब जान रहे हैं कि इस रागमें अशान्ति बसी हुई है और जब मिथ्याभाव लगा है तो जिन रागोंके कारण अशान्ति बन रही है उन्हीं रागोंमें यह जीव बसता है, खुश हो होकर उन्हीं रागोंको ग्रहण करता है। तो जैसे खूनका दाग खूनसे धुलता नहीं है इसी प्रकार रागसे उत्पन्न हुआ क्लेश रागसे मिटता नहीं है। पर मोही जीवोंको उपाय यही सूझता है, जिस रागको करनेके कारण दुःख हुआ उसी

रागको करके दुःख मेटना चाहते हैं। तो यह राग दुःखस्वरूप है। जब प्रभुकी भक्तिमें लगे हों, प्रभुके स्वरूपके द्रष्टा हों, चित्तमें किसी भी पदार्थका विकल्प भार न सता रहा हो, कहीं राग न बन रहा हो तो प्रभुभक्तिमें या आत्मस्वरूपकी चर्चामें, ज्ञानके निरखनेमें आप कितना आनन्दित रहते हैं? ऐसे आनन्दके समय यदि किसी कारण कहींसे कोई राग उठ बैठा तो आनन्द खतम हो जाता है। फिर उस रागकी वेदनाका अनुभव चल रहा है। तो राग दुःखरूप है। जब पुष्पडालको वारिसेण महाराजसे मुनि दीक्षा मिली तो उस समय तो स्त्रीका विकल्प न था। उस समय तो साधुताके विचार थे, वैराग्य भाव था। पर मुनि दीक्षा लेनेके वाद कर्मोदय आया और स्त्रीकी याद सताने लगी। मैं स्त्रीसे बिना कहे ही वारिसेण महाराजको पहुँचानेके लिए जंगलमें आया और यहां मुनि दीक्षा ले ली। मुझे पता नहीं कि वह क्या करती होगी, कैसे रह रही होगी? लो पुष्पडाल मुनिको जैसे ही इच्छा हुई वैसे ही बाधायें भी सताने लगीं, आकुलता होने लगी, दुःखरूप अनुभव होने लगा। आखिर वारिसेण मुनिने परममित्रताका व्यवहार किया और उपायसे स्त्रीविषयक राग उसका दूर कर दिया। पर यहां यह देखना है कि राग उत्पन्न होते ही दुःख होने लगता है।

४१७. रागादिक विकारोंकी व्यर्थता व अनर्थता, किन्तु ज्ञानस्वभावकी सर्वस्वता— अनुभव आप कर रहे होंगे कि जिस-जिस वस्तुका राग आता है बस राग आते ही दुःख होने लगता है। और राग व्यर्थकी चीज है और यह दुःख भी व्यर्थकी चीज है। जिस पदार्थका राग किया जा रहा है उस पदार्थसे सम्बंध क्या है? कैसा आत्माका स्वरूप है? क्या वह मेरे लिए शरणभूत है? क्या वह मेरे कर्मोंको काट देगा? क्या वह वस्तु मुझे मुक्तिमें पहुंचा देगी? अरे मेरा दु.ख मिटानेमें कोई दूसरा समर्थ नहीं है। तब चेतन अथवा अचेतन किसी भी पदार्थका राग करना व्यर्थ हुआ ना। ऐसे व्यर्थ अनर्थक रागको उत्पन्न करके दुःखका ही अनुभव होता है। तो राग दुःखस्वरूप है, किन्तु यह ज्ञानस्वरूप आत्मा तो चूँकि अनाकुलस्वभाव रूप है, तो यह जीव, यह मैं आत्मतत्त्व स्वयं आनन्दरूप हूं, दु.ख रूप नहीं हूँ। यह आत्मतत्त्व (स्वतत्त्व) और परतत्त्व ये दोनों सामने रखे हैं ज्ञानीके और उनके स्वरूपको निरख रहा है कि ये रागादिक भाव परतत्त्व तो आकुलताका स्वभाव रखे हुये हैं और यह मैं ज्ञानस्वरूप अनाकुलताका स्वभाव रखे हुए हूँ। बतलावो केवल जानने में कहाँ क्लेश है? किसी पदार्थको हम मात्र जानते रहें तो जाननेमें कहीं श्रम भी लगा क्या? कष्ट भी हुआ क्या? जानना तो स्वरूप है, स्वभाव है। स्वतंत्रतासे आनन्दका अनुभव किया जाता है जाननेमें। तो ज्ञानस्वभाव तो अनाकूल है अतएव अदुःखरूप है, पर रागादिक विकार ये आकुलताका स्वभाव लिए हुए हैं। रागके स्वरूपमें ही आकुलता पड़ी

हुई है। बल्कि एक दृष्टिसे देखो तो आकुलतावोंके पिण्डका ही नाम रागद्वेष है। रागमें होता क्या ? क्या बतावोगे आप ? रागमें क्या पाया ? रागमें क्या मिला ? रागमें क्या रहा ? सिवाय आकुलताके, क्षोभके आप उसका और स्वरूप क्या बतावोगे ? निरन्तर क्षुब्ध होता है। यह रागकी प्रकृति है। तो ऐसा स्वभाव विपरीत रागादिक विकारोंसे हटना और ज्ञानस्वरूपमें लगना—ये दोनों बातें एक साथ हो रही है और इस ज्ञानके होते ही तुरन्त होने लगता है।

४१८. **विकारोंसे दुःखपरम्परा और ज्ञानदृष्टिसे आनन्दपरम्परा**—ज्ञानी जीवका इन रागादिक विकारोंके सम्बंधमें एक अन्तिम चिन्तन और कर रहा है। ये रागादिक विकार दुःख फल वाले हैं याने जब राग हो रहा है तब तो दुःख हो रहा है सो ठीक ही है। उस समय तो आकुलतामें पड़े ही हैं, स्वभाव ही रागका है, पर राग करनेके फलमे भविष्यकाल में भी दुःख प्राप्त होगा। वर्तमानमें भी यह राग दुःखरूप है और इसके फलमें भविष्यमें भी दुःख पाते रहेंगे ऐसा यह रागका स्वरूप है। विवरणके साथ इसे निरखेंगे तो यह विदित होगा। रागभाव करते हैं तो उस समय तो हम क्षुब्ध होते ही हैं पर उस दुःख-मय, क्षोभमय, राग परिणामके होनेके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बन्धन होता है और जब उन कर्मोंका उदयकाल आयगा तो उस समय फिर राग होगा, दुःख होगा। तो वर्तमान रागसे वर्तमानमें भी कष्ट हो रहा है और भविष्यकालमें भी हम कष्टमें पड़ेंगे, फसेंगे, रहेंगे, ऐसा है यह रागस्वरूप। किन्तु यह मैं ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व दुःख फल देने वाला नहीं है। जिस कालमें हम ज्ञानस्वरूपपर दृष्टि दे रहे हैं उस कालमें हम आनन्दमय हैं और इस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिके फलमें भविष्यकालमें भी इस आनन्दकी परम्परा रहेगी तो यह ज्ञान-भाव यह आत्मस्वरूप वर्तमानमें भी आनन्दमय है और इसकी दृष्टिसे भविष्यकाल भी आनन्दमय रहेगा। यों रागादिक विकारोंमें और आत्मस्वरूपमें अत्यन्त अन्तर है। यह अन्तर तब विदित होता है जब सम्यग्ज्ञानका उदय होता है। उस ही कालमें कर्मविपाक शिथिल हो जाते हैं, राग तो जीवमें चल रहा है और ये रागादिक विकार चलते है १० वें गुणस्थान तक, किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको सम्यग्ज्ञानका प्रकाश मिला है, आत्मस्वभाव की दृष्टि मिली है और उससे निर्णय बना लेते हैं। चैतन्यशक्तिके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे सब अजीव हैं, परभाव हैं, अहितरूप हैं, वे मैं नहीं हूँ। ऐसा जब सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है तो उस समय यह आत्मा उन रागादिक विकारोंसे पूर्ण हट जाता है और इसी हटावकी परम्परामें रहनेसे रागादिक विकार बिल्कुल भी दूर हो जाते हैं। निर्णय एक रखिये--जितने भी दुःख हो रहे हैं वे रागभावके कारण हो रहे हैं। कोई दूसरा मुझे दुःख देने वाला नहीं है। दूसरोंकी अनुकूल प्रवृत्ति, प्रतिकूल प्रवृत्ति यह मुझमें सम्पदा और

विपदा उत्पन्न नहीं करती, किन्तु उसका विशुद्ध निर्णय निर्मलता, प्रसन्नता, वीतरागता मेरे में सम्पदाको उत्पन्न करते हैं और मेरे रागभाव, कलुषभाव मिथ्याभावसे मुझको परेशान कर रहे हैं। तब एक ही उपाय हमारे सामने है कि हम वस्तुस्वरूपका अभ्यास करें और उस स्वरूपपर अपनी दृढ़ श्रद्धा रखें तो हम इस दुःखसे दूर होंगे और आनन्दमय निज आत्मस्वरूपमें प्रवेश करेंगे। इस उपायसे यह ज्ञानी जीव उन आस्रवोंसे दूर होता है और अपने ज्ञानस्वरूपमें रमता है। ये दोनों बातें उसके एक साथ हो जाती हैं।

४१९. निवृत्ति होनेमें असारताके ज्ञानका सहयोग—निवृत्त होनेमें दो बातें हुआ करती हैं—जो निवृत्त होवे वह और जिससे निवृत्त हुआ जावे एक वह। या इस तरह समझा जाय, जो अहितकारी जानकर वहांसे लौटे तथा दूसरा वह जिसके पासमें था वह लौटा। छोटे बच्चे प्रायः ७–८ वर्षके जो होते हैं, उनके पास माँ गोदके बच्चेको खिलाने को दे देवे तो कुछ समय खिलाकर, पुनः उसका माता पिता जैसा प्रेम तो रहता नहीं। अतएव गोदके बच्चेको नाखूनोंसे चोंट लेता है, जिससे कि वह रोने लगता है। यह देखकर माँ स्वयं उसको खिलानेके लिए उठा लेती है। दो मित्र हैं, उनमें मौका पाकर मनमुटाव हो जावे तो पुनः पूर्ववत् मैत्री नहीं रहती, केवल ऊपरी दिखावापन रह जाता है। कपट जब तक मालूम नहीं होता तब तक भले यह मैत्रीका कार्य चलता रहे। इसी तरह जब विकल्पोंका अहितपन ज्ञात हो जाता है, फिर विकल्पोंसे निवृत्ति होने ही लगती है। ज्ञानी ने जो प्रयत्न किया है वह उससे नहीं लौट सकता। ज्ञानी आत्माके सर्वप्रदेशोंमें एक अनुभूति इस तरहकी हुई है जिसने अन्तरङ्ग एवं बाहरमें आह्लादित कर दिया। वह अन्य समागमोंको नीरस अहितकारी मानता है, उनमें अब क्षण भरको भी प्रेम नहीं करना चाहता। जैसे अगर किसीपर दुःख बीत जावे तो उसे खाना पीना सब नीरस मालूम होने लगता है तथा जिसे अत्यधिक सुख होवे उसे भी खाना पीना एवं अन्य सर्वकार्य नीरस मालूम पड़ते हैं, उसी तरह आत्मानुभवका जिन्हें आनन्द मिला है उन्हें लोक सङ्ग नीरस मालूम होने लगता है। पं० टोडरमलजीका उदाहरण जागृत करनेके लिए काफी है। वह जीवकांड कर्मकांडकी टीका कर रहे थे। माँ उन्हें अलोना भोजन बना कर खिला देवे, किन्तु उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं कि मैं कैसा भोजन खा रहा हूं? ६ माह बाद जब टीका पूर्ण हुई तो माँ से बोले, मां आज भोजनमें नमक नहीं है। ध्यानकी एकाग्रतामें सर्वविकल्प हट जाते हैं।

४२०. असारभावोंसे उपेक्षित ज्ञानीकी अन्तवृत्ति—ज्ञानीको तो केवल यह अनुभूति रुचती है 'तीन भुवनमें सार वीतराग विज्ञानता' इसके अतिरिक्त उसे और किसी भी पदार्थ में सुख नहीं है। उसे निर्विकल्प अनुभूतिका अनुभव हुआ है। अतएव सहज व कोशिश

करके आस्रवको हटाता है और ज्ञानको बढ़ाता है। आस्रव जीवनिबद्ध हैं अर्थात् गले पड़े हैं। उन्हें हटानेमें ही ज्ञानी प्रयत्नशील है। ज्ञानीको स्वभावके अतिरिक्त और कुछ नहीं रुचता। अन्य सब उसके लिए अहित हैं। उन आस्रवोंको इस तरह देखता है, यह निबद्ध हैं। निबद्ध जो होता है वह घातक होता है। जैसे वृक्षपें लाख निबद्ध हो जावे। अगर किसी स्त्रीका पति अपनी स्त्रीसे यह सुन लेवे 'यह मेरे गले पड़ गये' तो उसी समयसे स्त्रीके प्रति क्या भाव बन जायेंगे, सो सोच सकते हैं। तथा स्त्री भी पतिके मुखसे सुन लेवे कि 'यह मेरे साथ बंध गई या गले पड़ गई, तो उसके भी उपेक्षा वृत्तिके भाव हो जावेंगे। पिताको यह पता चले कि पुत्र कहता कि 'यह गले पड़ गया' इनकी और जैसे तैसे अटर करना पड़ती है या पुत्र पिताकी बात जान जावे 'क्या मूर्ख लड़का है' गले पड़ना सोचना है तो उन लोगोंके भी अन्तरङ्गसे भाव टूट जावेंगे। यही सम्बन्ध मित्र या अन्यके विषयमें समझो। गले पड़ गये, जो अहितकर हों, दुःखके हेतु हों, उन्हें कहते हैं गले पड़ गये। लाख ढाकके वृक्षमें काफी लगती है। वह पेड़को सुखा कर ही रहती है। इसी तरह आस्रव जीवके साथ लग गये है। ऐसा कोई आस्रव नहीं जो हटायेसे हटाया नहीं जा सकता। यह आस्रव तो घातक है और जीवनिबद्ध है। आस्रवोके कारण यह मरा पिसा जा रहा है। मैं अविरोध स्वभाव वाला हूं। किसी भी द्रव्यका स्वभाव उसके घातके लिए नहीं होता है। यदि स्वभाव ही विरोधक होता तब फिर स्वभाव और द्रव्य आज तक रह कैसे गये? ये तो अनादि अनन्तसे चले आ रहे हैं। मैं अविरुद्ध स्वभाव वाला हूं। रागादिक विरुद्ध स्वभाव वाले है। यह मुझमें बाधा डालने वाले हैं। मैं इनकी लीला को भी नहीं समझ पा रहा हूं, इनके बारेमें कुछ विचार स्थिर बना नहीं पाते कि लो ये मिट जाते हैं। इनसे कौन प्रेम करता है? मोही। ज्ञानी तो ज्ञाता द्रष्टा रहता है। कोई आदमी अगर दिल्ली जा रहा है और मध्यमें झांसी, ग्वालियर जैसा अच्छा साफ सुथरा स्टेशन देख उतर जावे तो उसका दिल्ली पहुंचना असंभव है। इसी तरह अगर कोई इन्हीं पर्यायोंमें मोह कर लेवे तो वह उन्हींका होकर रह जायगा। ज्ञानी जीव उनसे राग नहीं करता है। वह अपनी परणतिका ज्ञाता द्रष्टा रहता है।

४२१. रागादिसे निवृत्त होनेकी ज्ञानीकी अन्तर्भावना—आस्रव तो आते हैं और चले जाते हैं। जो आता है वह जाता जरूर है। लेकिन जो जायगा वह लौटकर आयगा या नहीं, यह कोई नियम नहीं। आस्रव जो आये हैं वह रहनेके लिए नहीं आये हैं, उनको जाते देखकर मोही जीव कहता है, रह जाओ। ज्ञानी जीव सोचता है—यह आस्रव जा रहे हैं, यह जरूर जावें। हमें इनकी कोई जरूरत नहीं है। अगर कोई धनाढ्य व्यक्ति बीमार हो जावे। उसकी सेवामें डाक्टर, कुटुम्बी, स्त्री, पुत्र, नौकर चाकर सभी खड़े हैं।

बढ़ियासे बढ़िया पलंग एवं उसपर पलंगपोष बिछा है जिस पर शयन कर रहा है। सभी प्रेमसे बोल रहे हैं। उत्तमसे उत्तम फलोंका रस एवं अन्य सामग्री मिल रही है। फिर भी आप उससे पूछो कि क्या आप इसी तरह लेटकर रहना चाहते हो ? तो कभी भी हाँ नहीं भरेगा। इतना सब कुछ होते हुए यह उस बीमारीसे छूटनेके लिए शीघ्र व्याकुल है। आत्मा अपने भगवत्स्वरूपको समझनेके प्रयासमें है। वह सोचता है, रागादि हमेशा ही घात करते हैं। रागादि घटने बढ़ने वाले हैं, किन्तु मेरा स्वभाव नहीं घटता बढ़ता है। चैतन्यस्वभाव अध्रुव है। ऐसा मित्र बड़ा खतरनाक होता है जो क्षण भरमें रुष्ट हो जावे और क्षण भर में पुष्ट हो जावे। यह रागादि क्षणमें रुष्ट पुष्ट होने वाले मित्र हैं। यह एक स्थान पर नहीं रहते है।

४२२. आत्मज्ञान बिना परिस्थितियोंकी आकुल्योत्पादकता—कोई मनुष्य अति सदाचारसे रहे, साहससे रहे, सोचे सदाचार नीतिसे कभी च्युत नहीं होऊंगा। इसमें जितना सन्तोष मिलेगा वह हजार वर्षों तक कमाई करनेपर भी नहीं मिलेगा, परंतु आत्मज्ञान बिना जितनी भी परिस्थितियां हैं वह आकुलता पैदा करने वाली हैं। रागादिका परिवार खराब है। प्राय: बच्चे औरोंको छकानेके लिए टूटी खाट पर चद्दर आदि बिछाकर मनुष्योंसे बैठनेका आग्रह करते हैं। वह अपनी आवभगत और आदर जानकर मौजसे बैठता है। बैठते ही सिर और पैर इकट्ठे हो जाते हैं तथा धड़ामसे चारों कोने चित्त गिर पड़ता है। यही हम जैसे मोही जीवोंकी दशा हो रही है। मोहकी मौजमें विषय बड़े अच्छे-अच्छे लुभावने रूप सामने लेकर आते हैं। उनका भोग किया और जाकर धड़ामसे गिरे और घायल हो गये। तब पंगु होनेसे कुछ भी करना नहीं सूझता है। रसनाविषय भी धोखा है। मुंह का चबाया हुआ कौर स्वयं आंखोंको प्रिय नहीं लगता है। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रियके भोग हमें धोखा दे रहे है। घाटी नीचे माटी है। कई मनुष्योंको सिनेमा देखनेकी आदत लग जाती है, वह प्रतिदिन सिनेमा देखते हैं। पैसा बर्बाद करते हैं, आंखोंकी ज्योति बिगाड़ते हैं, समय खर्च करते हैं। इसपर भी सीखते क्या हैं ? कैसे प्रीति करना, चोरी करना, दूसरोंको अपने जालमें फंसाना, अनेक तरहके शृंगार बनाना, दूसरोंको मारनेकी कला प्राप्त करना इत्यादि जितने भी कार्य हैं सब दुर्गुण बढ़ाने वाले है। शायद है किसी एकाध गुण की शिक्षा मिलती हो। बनाने वालोंने कुछ शिक्षाकी दृष्टिसे भी निर्माण किया हो, लेकिन वहां भी लक्ष्य यही रहता होगा जिससे पैसा अधिक खिंच सके, इस तरहके विषयको उपस्थित करें। इन्द्रिय विषयोंकी कथायें खूब सुनीं जिससे संसार चक्रकी कीली पर ही घूमता रहता है। अनन्त परिवर्तन कर डाले। इसकी इच्छायें होती हैं—सारे विश्वपर एक छत्र राज्य हो जाय, किन्तु छोटी स्थितिके संकोचसे अधिक उधेड़बुन नहीं कर पाता है बाहर।

४२३. ज्ञानीका अन्तरुद्यमन——यही जीव अगर आत्माको चेतन समझता होता तो वहीं आत्मभावना करके निर्जरा कर लेता। कर्मका प्रेरा होकर शान्त नहीं रह पाता। इन बली कर्मोंके विषयोंकी जीतनेकी जो हिम्मत करेगा, रागको छोड़ देगा और समाधि परिणाम लावेगा, वह अकथनीय आनन्दका स्रोत प्राप्त करेगा। सुनते समयमें आनन्द नहीं है, किन्तु जो शुद्ध परिणतिका यत्न १ मिनट्को भी बनावेगा, तब उसी समय आत्मामें सच्चे सुखकी एक लहर मिल जावेगी। सर्वइन्द्रिय ग्रामको संयमित करके एक आत्मामें विश्रामसे रहे। उस समय परमात्माका स्वरूप दृष्टिमें झलक सकता है, यह इन्द्रियोंके विषयोंकी खोजमें नहीं मिलनेका वह आँखें बन्द करके परसे उपेक्षा करके अपने स्वरूपको पा सकेगा। यह ज्ञानी जीव उसीकी तैयारीमें है। अध्रुवसे क्या नाता है ? जैसे शीतज्वर हो जावे तो उसके आवेशमें कुछ बढ़ता है। फिर वह मिट जाता है। ज्वर (बुखार) तो नियमसे मिटेगा, मोही व्यर्थमें घबराते हैं। वह तो अनित्य है। रागादिक तो मरने पर भी नहीं मिटते। बुखार तो मिट ही जायेगा, चाहे जिन्दामें मिट ले या मरने पर मिट जायेगा। निगोदिया जीव जिसका अंगुलके असंख्यातवें भागमात्र शरीर है तथा एकेन्द्रिय जीव यह तो विशेषवृत्ति कर क्या सकते हैं ? लेकिन हम पंचेन्द्रिय मनुष्योंने क्या वृत्ति बना रखी है कि जो भी विषय सामने आया उसीमें फंस गये। दुःख मोहका ही है, हमारा कितना ही घात हो गया तब भी रागके पीछे पड़े हैं। जो कि चारित्र गुणका विकार है। आत्माका उपयोग ज्ञान दर्शन मात्र है। राग उपयोगको पकड़ रहा था, उपयोग रागको। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव राग नहीं करता है। वह जिस जातिका राग करता है वह स्वानुभवमें भी होता है, किन्तु अब उपयोग रागको नहीं पकड़ता। कोई किसीके साथ आश्रित हो और वह उपेक्षा कर जावे, तो आश्रित जनका कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। 'बड़ी मार करतार की, दिलसे दिया उतार' मार पीट भी लेवें तो कोई बात नहीं, लेकिन दिलसे उतार दिया यह सबसे बड़ी मार है। स्वानुभवने दिलसे रागको उतार दिया है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदय होनेपर भी ज्ञानीके राग आदि उपयोग दिलसे उतरते गये। इन भोगोंमें प्यार करनेसे दुःखकी बढ़ोतरी ही है। सुखकी अनुभूति लवलेशमात्र भी नहीं है। सब कुछ जानकर भी अगर इन्हींमें राचे रहे तो दुःखसागर बढ़ता ही जायगा। जो कि आत्माका स्वभाव नहीं है। इन भोगोंसे अभी विकल नहीं हुए तो फिर कब अवसर हाथ आयगा ? कल्याणका मार्ग खुला पड़ा है, चलने वाले अपना पाथेय लेकर चल देवें और मार्गमें उसका आनन्दसे उपभोग कर लें।

४२४, भेदविज्ञानियोंकी अन्तर्वृत्ति—चैतन्य प्रभुके स्वभावमें जो औपाधिक भाव आ पड़े हैं उनका यहाँ कुछ दिग्दर्शन है कि ये जीवके प्राणोंमें पड़ गये हैं, अध्रुव हैं, अनित्य

हैं किन्तु यह जीव अपने अविरोधी स्वभाव वाला है, ध्रुव है और नित्य है। इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। ये रागादि भाव अशरण हैं, ये होते हैं और होकर अवश्य मिट जाते हैं। एक क्षण हुए और पुनः मिट जाते हैं। इनका कोई सहाय नहीं है। उपाधिके बलपर जीवित थे। जिस समय यह राग उदयमें होकर छूटता है उस क्षण इन्हें कोई रोक नहीं सकता। परिवारके लोग राग छोड़ते समय बहुत प्रयत्न करते हैं कि इसमें राग आ जावे। लेकिन जब ज्ञान जागृत हो गया फिर उससे हटानेको कोई समर्थ नहीं। सुदर्शन सेठ अविकारी था, उसमें सदाचार की महान् शक्ति थी। उसमें आगे बढ़कर सुदर्शन सेठने अपूर्व आनन्द पाया था। जिस कारणसे रानीके प्रसंगमें भी सुदर्शन सेठ अविकृत रहा। रानीने उसके प्रति अनेक प्रेम लीलायें करीं, किन्तु वह सब निष्फल रहीं। यह आत्मा ज्ञानके प्रसादमें बड़ेसे बड़े संकट टाल सकता है। उसे झूठा शीलका दोष लगाया गया, रानीकी जब चेष्टायें सफल नहीं हुईं, तब उसने उसे व्यभिचारी सिद्ध करनेके लिये झूठा कलंक लगाया, जिस कारणसे उसे फांसीकी सजा दी गई। लेकिन उसके प्रभावसे फाँसीकी चीज फूलोंकी शैया हो गई। सिंहासनपर बैठा मिला सबको वह। आत्मज्ञानमें सब दुनियाँ नीरस मालूम पड़ने लगती है। आत्मज्ञानके लिए योगी सर्व परिग्रहका त्याग कर नग्नावस्थामें नीची ऊंची जमीन पर सोता है। न उसे कंकर पत्थरोंका भय है और न विषैले जीव जन्तुओंका ही डर रहता है। वह उठते, बैठने, भोजन करते, लेटते आदि समयमें भी आत्मध्यानकी भावनासे ओतप्रोत रहता है। ज्ञानी जीव स्त्री पुत्रोंकी खबर लेते हुए भी अलिप्त बना रहता है। यह सब आत्मानुभवकका प्रभाव है। यह रागादि स्वयं अशरण हैं, मिटने वाले हैं।

४२५. तत्त्वज्ञानियोंकी पावनता—जिसके दिलमें तत्त्वज्ञानकी बात समा गई वह बड़ा पवित्र है। उसके आचरण मनुष्योंको आश्चर्यमें डाल देते हैं तथा उसे स्वयं प्रेरणा देते हैं। अंजन चोर जिसका सारा जीवन चोरीमें बीता। अनन्तमतीका अनेक अपहरण कार्य होनेपर भी वह शीलसे नहीं डिगी, यह सब आत्मज्ञानका ही प्रभाव है। अब भी बहुतसे लोग जो आत्मज्ञानके जानकार नहीं हैं, गरीबीसे जीवन-यापन करते हैं। दूसरोंके दुःखको अपना जैसा महसूस करते हैं। सदैव दूसरोंके हितकी उन्हें चिन्ता रहती है, किन्तु बातोंमें असत्यता नहीं लाते हैं। न्यायपूर्वक धन कमाते हैं तो उनमें कोई आत्मबल ही तो होगा। धनसे कोई शान्ति मिले उसकी अपेक्षा सदाचारमें महत्ता है। वह कहांसे आवेगा ? उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं हैं। उसका उपाय अति सरल है। हमपर जो उपद्रव आ रहे हैं उन्हें हटानेका प्रयत्न किया जावे। जहाँ आचरण, बोलचाल, आचार विचार उच्च रहेंगे वहाँ परमात्माका वास आत्मामें रहता है। मैं परमात्माके सदृश निर्मल हूं। यह जो पर-उपा-

धियां लगी हुई हैं, यह मेरी नहीं हैं। जब आत्मस्वभावका अनुभव होने लगता है तब अन्यत्र मन नहीं ठहरता है। आस्रवोंको मरनेसे बचाने वाला कोई नहीं है। जैसे किसी कषायकी पूर्तिके समय नष्ट होनेसे कोई नहीं बचा सकता। जैसे पेट भर चुकनेपर भूख कोई भी नहीं ला सकता। वह कथा गई सो गई। काम पूर्तिके समय वीर्यक्षरणसे कोई नहीं रोक सकता, वह असहाय है। वैसे ही इन आस्रवोंको रोकनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। क्रोध जब पैदा होता है उस समय हाथ पैर थर्राने लगते हैं, अटपटे शब्द बोलने लगता है, झूठ सत्य बोलनेका ध्यान नहीं रहता है, आंखें लाल हो जाती हैं। इतनेपर उसे कोई समझाने लगा तो क्रोध कम होने लगनेपर सोचता है—मेरा क्रोध कम क्यों हो रहा है? अतः पुनः लानेकी चेष्टा करता है। लेकिन यह आस्रव स्थायी रहते नहीं हैं।

४९६. विशद अन्तर्ज्ञानियोंकी अविचलता—जम्बूस्वामी केवली निबद्ध केवलियोंमें से अन्तिम केवली हैं। वैसे तो बिल्कुल अन्तिम केवली वही नहीं हैं और भी केवली हुए है। एकके बाद, एकके बाद इस तरह जो केवली हुए हैं, उनमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामी हुए हैं। स्फुट भी हुए हैं उनमें सबसे अन्तिम श्रीधर हुए हैं। उनका निर्वाण स्थल कहाँ पर है, यह पहलेसे तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु खोज करनेपर ज्ञात हुआ है। बुन्देलखण्डमें कटनी दमोहके पास कुण्डलपुर नामक नगर है। वहाँ एक विशालमूर्ति है, जिसे महावीरस्वामीके नामसे कहते हैं, किन्तु उसपर कोई चिन्ह नहीं है। वह १०–११ फुटकी पद्मासन मनोज्ञ मूर्ति है। प्रथम युद्धके समय राजा छत्रसाल थे। जब वह युद्ध करते करते हारने लगे तो वहाँ कुण्डलपुरमें उस मूर्तिकी विनयसे नत होकर भक्ति स्तुति की। इसके प्रतापसे उस राजाको विजय शीघ्र प्राप्त हुई और जैनधर्मकी प्रभावना वृद्धिको प्राप्त हुई। अन्तिम केवली श्रीधर की निर्वाण भूमि दमोह के पासका कुण्डलपुर माना गया। जम्बू स्वामी निबद्धकेवलियोंमें अन्तिम केवली हैं। जम्बू स्वामी घरमें बैठे हुए हैं। उन्हें आठ रानियां घेरे बैठी हैं। विवाहका दूसरा दिन था। रात्रिके समय वह धर्म कथा कहने लगे। रानियाँ उसके विरुद्ध रागवर्द्धक व भोगोंमें ही रहनेकी प्रेरणा देने वाली कथा कहने लगीं। जिस धर्मके प्रति रुचि ही नहीं उसके बारेमें वह क्या वर्णन करेंगी? रानियाँ कथा सुनना चाहती हैं, उन्होंने आग्रह किया जम्बूस्वामीसे। जम्बूस्वामीने फिर स्वीकार कर लिया, फिर वैराग्यकथा की। रानियोंकी अनुकूल भोग सम्बन्धी कथा चल रही है। पर क्या जम्बूस्वामी अपने लक्ष्यसे विचलित हुए थे? क्षणभर को भी उनके मनमें खोटे संस्कार पैदा नहीं हुए। मनुष्य दिन भर कमानेमें खोते हैं और रात्रिको भी नींद नहीं आई तो व्यापार के ही स्वप्न देख रहे हैं। उसीकी उपासना कर रहे हैं, किन्तु निजके अन्दर प्रभु बैठा है उसकी उपासना नहीं कर पाते।

४२७. मालिन्यको हटानेकी आवश्यकता—मोहमें प्राणी अपनी गन्दगीको गन्दगी नहीं समझ रहे हैं। अनेकों दशलक्षण निकल गये, दीवालियाँ, क्षमावणियाँ, अष्टान्हिका, रत्नत्रय जीवनमें सदैव प्रतिवर्ष निकलते जाते हैं। फिर भी हम अपनेको कहाँ पाते हैं? उन्हीं लड़ाई झगड़ामें फंसे हुए, विषय कषायोंके चिन्तवनमें, ईर्षा द्वेषकी भंवरमें, मोहसे ग्रस्त ही बने हुए हैं। भाई भाईका अहित करनेसे भी नहीं चूकते। किन्तु थोड़ी दृष्टि पसार कर देखें तो हम भाईको ही क्यों घृणाकी दृष्टिसे देखें, जबकि देशमें ही अन्यको विद्यावैभव एवं धनवैभव, कुटुम्बवैभवसे सम्पन्न पाते हैं। तब तो हम अगर भाईका भी उपकार कर सकें तो वह कुछ तुम्हारे यशमें भी वृद्धि ही लायेगा। श्रद्धा यह होनी चाहिए कि विषय कषायोंका मुलम्मा आकर चिपक गया है, उसे अन्तरङ्गकी निर्मलतासे, तत्त्व विवेक रूपी साबुनसे धो डालें। इस मैल ने अनादिसे धोखा दिया है। बड़े मोहक रूप यह विषय सामने उपस्थित होते फिर रहे हैं। सर्वांग झकझोर कर गड्ढेमें धक्का दे देते हैं, जहाँ कि बाहरी सहायकोंकी सहायता भी काम नहीं आती है। जिस रूपको देखकर मन ही मन पुलाव बाँधे जाते हैं। अगर वही रूपकी एक पड़त चमड़ी बदल दी जाय तब देखने की भी इच्छा नहीं करेंगे। इन विषय भोगोंको कोई तार्किक बाह्य नमस्कारसे स्मित ही कर्तव्य-पथ पर चल देता है, उसीका जीवन सफल है। धर्म निर्विकल्प समाधिका नाम है, जिससे वह शान्तिका इच्छुक, न कि बाहरी चमक दमकमें उलझाने वाला होता है। इन विषय-भोगोंकी अग्नि-रूपी चाह ने जिनमन्दिरमें और न आत्ममन्दिरमें शीतलता आने दी है। जो धर्मविमुख हैं उन्हें बाहरी दबाव काम नहीं दे पा रहा, किन्तु माँ बाप तथा मित्रों एवं अन्य आपसी वालोंके संस्कार तथा उससे विरक्त करने वाला साहित्य काम दे सकता है। अन्तरङ्ग की प्रेरणा ही इनकी जननी है।

४२८. मोहियोंकी मौजका परिणाम—जो शान्तिका इच्छुक है उसे रागद्वेषमें बुद्धि घुमानेकी जरूरत नहीं। अपने प्रति सच्ची दया यही है। सबसे क्षमा पाकर, अन्तर्वृत्तिसे क्षमा पाकर आत्मामें ही रमण करके देखे। यह अवसर पुण्य पुरुषको ही हस्तगत होता है। अपना उज्ज्वलताका उदाहरण पेशकर भाई बान्धवों एवं कुटुम्बीजनों तथा साधर्मी भाइयोंको चकित कर देवें, जिससे वह स्वयं अपनेपर पश्चात्ताप कर निर्मोहताकी बढ़नमें अग्रसर होवें। किन्तु यहां तो प्रायः मोहियों मोहियोंका परस्पर व्यवहार है सो असत्य प्रशंसामें समय जाता है। कथानक है 'परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपं अहो ध्वनिः'। एक दूसरेकी प्रशंसा करते हैं कि तुम्हारा रूप अच्छा है तो तुम्हारी ध्वनि (स्वर) अच्छा है। ऊंटका विवाह हो रहा था। गधोंको गीत गानेको बुलाया गया। गधे कहते ऊंटसे 'आपका रूप बड़ा ही सुहावना है' तथा गधोंकी चिल्ल पों सुनकर ऊंट कहता 'आपका पंचम स्वर किसे मोहित नहीं कर लेता है'

इसी तरह हम मोही जीव ऊँटवी, गधोंकी तरह इन मोहक पदार्थोंकी दिल खोलकर प्रशंसा करते हैं तथा एक दूसरे अपनेको कृतार्थ मान लेते हैं। यहां तक देखा जाता है भूखसे पीड़ित अन्दरकी तड़फनसे आकुलित मनुष्यके सामने जो धनाढ्य वैभवशाली होंगे वे देंगे उसको एक पैसा नहीं, किन्तु वह अपनी प्रशंसा उस व्यक्तिके सामने करके उसके दु:खकी सीमाको और बढ़ा देते हैं, शान्तिमें बाधक बनते हैं। जिसे वह पदार्थ मिलनेके नहीं उसे वह तड़फनेका आह्वान देते हैं। मोही जीव इन्हीं आयोजनोंसे सन्तोषकी सांस लेते हैं। यह मोहियोंका परस्परका नाता है। अगर गरीबका निमन्त्रण भी कर लिया तो फटे, पुराने मैले कपड़े देखकर उसका आदर ही नहीं कर सकते। वहाँ तो सूट कोट टोप नेकटाईको आदर मिलता है।

४२९. मोहमें कुसाधनोंका आमन्त्रण—इन नातोंके बारेमें सोचा जावे, तो इनका सम्बन्ध क्या आत्मासे है? तब फिर मैं क्यों मोहभाव करके इनसे प्रेम करूं? मेरा तो किसी ने निमन्त्रण ही नहीं किया; न मुझे प्रेमपूर्वक आदर सहित बुलाया ही है, आप ही यहाँ पैदा हो गया; आमन्त्रण, निमन्त्रण एवं आदरसे धन, रूपादिको बुलाते हैं। आमन्त्रण रूप रंग, हाव भाव, ठाट बाठ, चटक मटक फैशन चलते पुर्जोको, धनकी लीलाको, कपड़ों की मोहकता को, शरीरके पावडर, काजल, अञ्जन, मिस्सी, तेल इत्र, सुवर्ण जेवरातों, बटनोंको, क्षण विध्वंशी शरीरको, घिनावने विषय कषाय भोगोंकी पुष्टि को दिया जाता है। आमन्त्रण स्वीकार कर लेनेपर निमन्त्रण वचन वर्गणाओंको, मिथ्या रूपराशिको, संसारमें फंसाने वाली तकरारको, दु:ख बढ़ाने वाली कल्लोलों को, बदलेमें समान पुष्टि चाहने वालेको तथा आमन्त्रणसे युक्त दुर्गुणोंको (निमन्त्रण) दिया जाता है। फिर उक्त गुणोंसे युक्त मीठी, भीनी, विषयोंमें रिझाने वाली बोलीसे युक्त, शरीरको मत्त कर देने के लिए, पथभ्रष्टका संकेत कर आदरसे बुलाते हैं। कोई विज्ञ सोच सकेगा कि यहां क्या आत्माको बुलाया है? हो सकता है कोई बिरले-ज्ञानी पुरुषकी आत्मा इन सब झरोखोंमें से स्वभाव दीप्तिकी एक मन्द किरण लिए ताक रही हो। वह इस नाटकको सस्मित हो अनुभव कर रहा हो, अपने मोहपर धिक्कार रहा हो। इन व्यर्थकी झंझटोंसे ऊब कर निकलने को तत्पर हो रहा हो। उसे तो इनसे संकेत मिल चुका, वह तो अपने पथको संभालनेकी बाट जोहता जोहता सर्वसे निवृत्त होकर ध्यानाग्निमें कर्मेन्धन को जलाता है। उस योगी आत्माको नमस्कार है।

४३०. आत्मपोषणमें ही वास्तविक सन्मान—मैं जान सकता हूं क्या? यहां चेतन आत्माका क्या सम्मान किया है? यह दु:ख कैसे मिटें? जब रागादि भावोंसे अपनी भिन्नता अनुभव करली जाय। यह रागादि अशरण हैं। शरण क्या है? यह सहज चैतन्य शक्ति जीवको स्वयं शरण है। देखा होगा अगर छोटा बच्चा पालथी लगाके हाथ पर

हाथ रख कर तथा मुंह चलाती हुई दशामें बैठ जावे तो वह बड़ा सुहावना प्रतीत होगा। बच्चा तो वही ऊधम मचाने वाला है, किन्तु यहाँ क्यों अधिक प्रिय लगा? यहाँ शान्तिकी, ज्ञानकी, आडम्बररहित शक्तिकी उपासना है, इससे वह चैतन्यमूर्ति रुचिकर प्रतीत हुई जो कि आत्माका स्वभाव है। तब फिर वास्तविक आत्मचिन्तवन सहित आत्मा का स्पर्श हो जाय तो सुख झलक जायगा। यह रागादिमें मोहसे प्रेम करता है। दर्पणमें कैसा भी चित्र आ जाय तो डरता नहीं, क्योंकि वह रागको भिन्न मान रहा है। उसी तरह रागादिको स्वभाव नहीं जानकर उनसे निवृत्त होता है। तत्त्वज्ञान होनेपर ममत्व परिणाम हटते हैं, धन वैभव कुटुम्बी जनोंसे राग घटता है तथा अपनेको ज्ञानानन्दमय परिपूर्ण मानता है। रागादि जब भी आते हैं तब दिलपर क्षोभ ही कर जाते हैं। इनका स्वभाव आकुलता लाना है, दुःखरूप है। जब अकेले थे तब सुखी थे, किन्तु संयोग जहाँ हुआ वहाँ दुःख ही बढ़ा। तत्त्वज्ञानमें बुद्धि लगनेपर राग इस तरह भाग जाता है जिस तरह गरुड़ (मोर) को देखकर सर्प भाग जाता है। पूर्व समय बच्चोंको गुरुओंके सहारे जंगलमें छोड़ देते थे और वहाँ भिक्षावृत्तिसे भोजन लाते, जिसे गुरु एवं शिष्य दोनों करते थे। वह क्षुल्लक जैसी दिनचर्या बिताते थे। ब्रह्मचर्याश्रमके बाद इच्छा हुई तो शादी करा ली और नियमित समय तक गृहस्थाश्रममें रहे। शादीके समय तेल उपटना किया जाता था। वह इसलिये कि जंगलमें रहते रहते जो धूल धूसरित शरीर हो गया उसे मैलरहित कर दिया जाय। किन्तु अब तो दिनमें दो-तीन बार साबुन लगाकर नहाते तो यहाँ उपटने की क्या जरूरत रह जाती है? बच्चेका व्यवस्थित जीवन शुरूसे ही बन जाता था।

४३१. जगतकी दुःखरूपता—अन्तमें सीखना यही है कि संसारमें कोई किसीका रक्षक नहीं है। जिन्दगी भर धर्म नहीं किया और मरण समय कहने लगे 'राजा राणा छत्रपति हाथिनके असवार। मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार॥' जीवनके अन्य क्षण जो निकल चुके उनमें भी इनका संयोग मिलाया जाता तो आज अनुपम ही रस आता। मृत शरीरका दाह संस्कार करते समय यह नहीं सोचता कि इस शरीरमें भी इसी तरह अग्नि लग जायगी और वह चिता सांय सांय करके भस्मसात् हो जायगी। यह सोचकर इस शरीरसे जितना भी आत्मकल्याण सम्बन्धी लाभ ले लिया जाय वह अन्तमें मधुर फल का देने वाला होगा। भारत जो शान्तिप्रिय अहिंसक देश माना जाता है, फिर भी यहाँ ७५ प्रतिशत मांसाहारी मिलेंगे। मनुष्य कहते मुर्गी बकरे मरने पर भी बढ़ते ही जाते हैं। भैया! ठीक ही तो है यह, जिन्होंने उन्हें मारा और वे मर कर मुर्गी बकरे हो गये तो वह संख्या क्यों घटे? जैसा उनके प्रति किया जायगा उससे दारुण दुःख उन्हें भोगना पड़ेंगे। अभी समय होते हुए सतर्क नहीं हुए तो माँस-लोलुपी जीवोंकी दशा क्या होगी,

इसे वह स्वयं अनुभव कर सकते हैं। इन मिलने वाली इन्द्रियोंका यह दुरुपयोग कितना भयावना दृश्य है ?

४३२. संकटमुक्तिमें अन्तर्ज्ञानका सहयोग—यहां आस्रव और जीव इसमें अन्तर दिखा रहे हैं। राग और जीव इन दोनोंका अन्तर दर्शनीय है। राग दुःख रूप है, आत्मा चैतन्य है। राग द्वेष कभी घटते हैं और कभी बढ़ते हैं। राग दुःख रूप ही हैं यह बात नहीं है, किन्तु दुःख ही है फल जिनका ऐसे बन रहे हैं। रागद्वेष किया और दुःख हुआ और आगामी कालमें भी दुःखके बीज बन जाते हैं। कर्म बन्धका कारण यही है। जीवका स्वभाव कर्म बन्ध करनेका नहीं है, किन्तु विभावोंके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है। मैं तो चैतन्यस्वभावी हूं—यह समझनेपर कर्मका उदय शिथिल हो जाता है। कोई दुकानमें साझेदार है, उसमें एक बेईमानी करके लाभ अपनी तरफ खींच लेता है और हानि दोनोंमें प्रकट कर देता है। यह कपट जब मालूम पड़ जाता है तब उसमेंसे छूटनेके दो उपाय हैं—(१) एक तो यह कि अपना भी हाथ बढ़ा कर मित्रतापूर्वक घाटे की रकम पूर्ण करके जुदा हो जावे या दूसरा उपाय जितना घाटा हुआ है उसकी परवाह न करके इकदम साझेमें से फैसला तय करके न्यारा हो जावे। तब वह अपना स्वतन्त्र कारोबार कर सकता है अथवा इन दोनोंको छोड़कर तीसरी तरह यह सोच सकता है— आया था सो गया और गया सो चले जाने दो, उसका पश्चात्ताप ही क्या करना ? खेद करनेसे लाभ क्या मिलना है ? केवल कर्मोंका बंध ही होगा। कर्मोंके उदयका डर दो बाधाओंसे होता है—(१) मेरा कहीं प्राण हरण न हो जावे। (२) निर्धनता न हो जाये, जिससे अधिक दुःख उठाना पड़ेगा। लेकिन ज्ञानी जीव इन दोनोंका स्वागत करता है। वह तो भावना करता है—मैं अपने ज्ञान स्वभावमें परिपूर्ण हूँ प्राण अगर जाते हैं तो चले जावें। निर्धनता मेरे आत्मस्वभावमें कोई बाधा नहीं दे सकती है। निर्धन होनेका डर हटा देता है। वह इन दोनों बातोंको स्वीकार कर लेवे याने मरण आता है आवो, निर्धनता आती है आवो तो कर्म क्या करेंगे ? लेकिन अज्ञानी जीव निर्धनताको ही मरण मान लेवे और जिस किसी तरह भी जी कर कार्य चलाने को जीवन मान लेवे तो इसमें उसी की भूल है। रागादिक आते हैं पर उनमें नहीं लगे तो कर्मविपाक कम ही तो होगा। दूसरे आगामी कालमें कुछ नहीं बिगड़ेगा। सूर्यके सामने बादल आ जानेसे दिशायें मैली थीं। बादलोंके हट जानेपर दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं। इस अज्ञानीको कर्मविपाकोंने बेकार कर दिया, हिताहितका विवेक भुला दिया तथा जिस तरह बादलोंकी घनघोर घटा हटनेसे दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं, उसी तरह कर्मविपाकके दूर होने पर चैतन्य प्रभुका प्रकाश होता है। जैसे जैसे ज्ञानस्वभाव प्रकट होता जाता है वैसे वैसे आस्रवोंसे छुटकारा होता जाता है। कोई एकान्तमें

दैठे और यह बात अनुभवमें लावे तो कर्मोका वटना जरूरी है। इसीसे परिणामोंमें निर्मलता आती है। अन्तरङ्गमें यह अनुभव ही साध्य है।

४३३. अनुभवशून्य ज्ञानकी निःसारता—शास्त्रोंके शब्द मात्रको देखकर उन्हींके स्पर्शमें रहे तो मुक्तिमार्ग नहीं होनेका। कोई धनके कारण अपनेको बड़ा मानता है, कोई शब्दज्ञानसे अपनेको बड़ा मानता है। लेकिन जो आनन्द आत्मस्वभावमें है वह अनुभवसे ही आता है। बिना अनुभवके बाह्य शब्दाडम्बर शून्यज्ञानके सदृश है। एक गुरुजी थे। उनके एक लड़की थी। लड़की बड़ी होनेपर सगाई विवाहकी चिन्ता हुई। गुरुजीके पास एक शिष्य पढ़ता था। उन्होंने उसीको विद्वान् समझकर अपनी लड़कीकी शादी उसके साथ कर दी। वह ग्रन्थ निकालकर प्रत्येक शंकाका समाधान करता था। उसकी पत्नी अत्यधिक खूबसूरत थी। उसने पढ़ा था 'भार्या रूपवती शत्रुः' अर्थात् रूप वाली स्त्री शत्रु है। वह भाव तो न समझा कि स्त्री रूपवान् हो और उसका चित्त चलायमान हो जाय तो वह शत्रुके समान है। उसने अर्थ लगाया, रूपवान् स्त्री शत्रु है। इसपर काफी विचार करता रहा। तब उस शिष्यने अपनी स्त्रीकी नाक काट ली। जब गुरुजीने देखा यह तो अधिक उद्दंड मालूम पड़ता है। अतएव गुरुजीने उसे घरसे निकाल दिया तो साथमें वह ३-४ नीति ग्रन्थ साथमें लेता गया। एक जगह बैठकर सोचे क्या करना चाहिए ? तब ग्रन्थ खोलकर देखा तो उसमें पढ़ा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'। जिस रास्तेसे महाजन जावें उसपर ही चलना चाहिए। तो वहुतसे आदमी मुर्दा लिए जा रहे थे। उन्हींके पीछे लग गया। सभी आदमी तो मुर्दा जलाकर चले गये, यह रह गया अकेला श्मशानमें। इसे भूख लगी जोरसे, भोजन साथमें लिए था।। ग्रन्थ निकालकर देखा तो उसमें पढ़ा 'बन्धुभिः सह भोक्तव्यम्' भोजन मित्रोंके साथ करना चाहिए। सोचा मित्र किसे कहते हैं ? ग्रन्थ निकालकर देखें तो उसमें लिखा था 'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' मरघटमें और कचहरियोंमें जो साथ देवे वह मित्र है। यहाँ वहाँ मित्रकी तलाश की, कोई नहीं दीखा। इतनेमें एक खेतमें चरता हुआ गधा दिख गया, बस अब तो मित्र मिल गया। जाकर उसे पकड़ लाया और कहा, मित्र ! तुम बड़े भाग्यसे मिले हो और तोलियाके ऊपर सव भोजन रख दिया. दोनोंने मिलकर खाया। अब शिष्यने सोचा, इस गधेने वड़ा उपकार किया, वदलेमें इसका क्या सत्कार करना चाहिए ? क्योंकि ग्रन्थके विरुद्ध तो चल नहीं सकते थे। इसलिए उपकार करनेके लिए देखें। ग्रन्थमें क्या लिखा है ? खोलकर देखा 'बन्धुं धर्मेण योजयेत्' वन्धुको धर्मके साथ जोड़ देना चाहिए। अब सोचा धर्म किसे कहते हैं, फिर पुस्तकमें देखा तो लिखा था 'धर्मस्य त्वरिता गतिः' धर्मकी जल्दी चलनेकी गति होती है। अब तो जो जल्दी चलने वाला हो वह उसे चाहिए। अब क्या था, एक ऊंट जल्दी-बस जल्दी चला जा रहा

था, बड़े प्रसन्न हुए और सोचा, मिल गया धर्म। विद्वान् शिष्य गया और उसे पकड़ लाया। ऊंटको बैठा दिया और ऊंटके गलेसे गधेका गला बांध दिया। इन्होंने मित्रका उपकार चुका दिया और चल दिये वहांसे। अब दोनों उठे और चल पड़े। गधे और ऊंटका साथ देख लोग खिलखिला पड़े। क्या कहना इनकी विद्वत्ताको, जो कि गधेकी आफतमें जान डाल दी।

४३४. तत्त्वलाभकी प्रयोगसाध्यता——क्रियाको करें तो वह बात (गुण विशेष) हममें उतर सकती है। बिना आचरणमें लानेके कहें राग भिन्न है, ज्ञान भिन्न है—इस कहने मात्रसे कुछ लाभ नहीं निकलेगा। स्थिरचित्त हो दुनियाँका मोह हटावे और अपने आपको देखे, उसे आनन्द मिलेगा तथा ज्ञाता द्रष्टा स्वतन्त्र विचारकर सर्वविचारोंको बन्द करके मन वचन कायको स्थिर कर शान्तमुद्रामें स्थिर रहनेका प्रयत्न करनेसे शान्तिका दर्शन होगा। इतना भी न होवे तो यह पूर्ण निश्चय हो जावे कि मैं जुदा हूँ। कोई साथ नहीं जायगा, हमें अपनी आत्माके ध्यानको छोड़कर अन्यसे प्रयोजन नहीं रहा। इस तरह विश्रामसे बैठ जावे, जिसे पढ़े लिखे भी ढूंढना चाहते हैं वह सहज मिल जावेगा। एक स्कूलमें एक मास्टर थे। जिन्हें कई विषयोंमें से तैरना सिखानेका विषय दिया गया। मास्टरजी छात्रोंको कक्षा में खूब उपदेश देवें, तैरते समय पहले पानीमें उतरना चाहिए, वहाँ पर शुरूमें पानीके ऊपर सधने जैसा अभ्यासके साथ ही हाथोंसे पानी सामनेसे पीछेको काटना चाहिए तथा पैर भी फड़फड़ाना चाहिए व पानीपरसे आगे बढ़ते जाना चाहिए। यह मास्टर जी सब शब्दोंसे ही समझा रहे हैं। प्रतिदिन छात्रोंको इस तरह खूब पढ़ावें, छात्रोंको भी यह तैरनेकी क्रिया मालूम हो गई। अब छात्रोंकी परीक्षाका नियत दिन आया। नदीके किनारे मास्टरजी व छात्रगण आये। सबको एक पंक्तिमें खड़ा कर दिया और कहा एक दो तीन कहने पर, तीन सुनते ही पानीमें गिर कर तैरना शुरू कर देना। तीन कहते ही छात्र कूद पड़े। वह सब छात्र इसके पहले पानीमें तैरना सीखे नहीं थे। सबके सब डूबने लगे। मास्टर तो केवल यह देखकर आश्चर्यचकित हो रहा था कि मैंने इतना पढ़ाया और ये फेल हो रहे हैं। वहीं पर मल्लाह बैठा था, उसने शीघ्र पानीमें उतर कर सभी को पानीमें से निकाला और जान बचाई। मल्लाह ने कहा, 'यह तुमने कैसा अविवेकपूर्ण कार्य किया था? उत्तरमें मास्टर बोला, लड़के फेल हो गये, उन सभीको तैरनेकी बता दी गई जो कि उनसे सुन लो। भैया! कहने एवं सुनने मात्रसे कार्य नहीं चलेगा, जब तक प्रयोगात्मक क्रिया नहीं सिखा दी जावे। इसी तरह आत्माका आनन्द आत्मामें ही है उसके लिए सर्वविकल्पजाल छोड़कर स्वयंमें लीन होना होगा, विशुद्धभाव बनाना होंगे। वे निर्मल भाव संयोगोंपर दृष्टि रखने से नहीं बन सकते।

४३५. अशुभ क्रियासे हटनेकी अत्यावश्यकता—खोटे मार्गपर चलनेसे दुःख स्वयं उठा रहे हैं। शुरूके संस्कार खोटे भी हो सकते हैं, उन्हें शास्त्रज्ञानसे उज्ज्वल कर लेना चाहिए। भव भवमें संयोग पाने से दुःख ही उठा रहे हैं। छिपुकिलियों को देखकर दया आती है, कहाँ तो यह आत्मा स्वयंका प्रभु है और कहाँ यह परजीवोंको पकड़-पकड़ कर उदरमें विलीन करता जाता है, इसके विकल्प बना रहा है। यह दशा कभी अपनी भी हुई होगी। मद्य, मांस, मन्दिराका प्रसंग यहाँ नहीं है। खोटे व्यसनोंकी यहाँ प्रथा नहीं है। उत्तमोत्तम सत्सङ्ग समय-समय पर मिलते रहते हैं। देखो—उत्तम धर्म पानेके लिए जुदा यत्नकरना नहीं पड़ा। धार्मिक वातावरण एवं धर्मको धारण करनेकी योग्यता मिल गई है। उससे लाभ लेकर ही जीवन उच्च स्तरका कहला सकता है। लौकिक जीवन उच्चस्तरका नहीं कहला सकता। जिसका संयोग हुआ है उसका विछोह तो नियमसे होगा। सदा किस का साथ रहा? संयोग करनेके लिए किस-किस तरहके पाप नहीं करना पड़ते हैं। यदि पापसे सफलता भी मिल गई तो उस संयोगका अनन्तगुणा दुःख भोगना पड़ेगा। जैसे चोरी से परद्रव्य हरण करना, दूसरेकी स्त्री पुत्रीसे स्पर्श करना, दूसरेके प्राणोंका घात करना आदि। इस तरहकी स्थितियाँ न आवें जब तक अज्ञान अवस्थामें भी पड़े हैं तब तक भी यह ध्यान रखना। किसके लिए बताने दिखाने को जरूरतसे ज्यादा मोहभाव कर अपनेको सजाऊं संभालूं? सोचो तो स्वानुभव ज्ञान द्वारा हो साध्य नहीं है, किन्तु चारित्र द्वारा भी साध्य है। छोटा बच्चा ४५ दिन बाद मन्दिर जाता है। वहाँ माँ बच्चे की तरफसे अष्टमूलगुण धारण करती है अर्थात् बचपनकी अवस्थामें माँ भी बच्चेको अभक्ष भक्षण न करावे। बादमें ८, १० वर्षकी उम्रमें बच्चेके द्वारा स्वयं त्याग करा दिये जाते हैं। रागको अपना न समझ कर गृहस्थीमें सीमित विषयभोगोंको स्थान दिया जावे भोगविरक्ति परिणाम के साथ-साथ।

४३६. आस्रवभावकी अविश्वास्यताके आशयका फल—देखो ये आस्रवभाव विश्वास्य नहीं हैं। ये जीवमें वेधकर जीवका घात कर रहे हैं। जैसे लाख वृक्षमें वेधकर वृक्षका घात करता है। जीव स्वयं जीवका नाश करे, ऐसा विरुद्धस्वभाव नहीं रखता, सो आत्मा को आत्मा ही स्वयं विश्वास्य है। देखो—ये आस्रवभाव नित्य नहीं हैं, शीतदाहज्वरके आवेशकी तरह क्रमसे बढ़ता रहता है, पहिली डिगरियोंमें न रहकर अन्य डिगरियोंमें हो जाता है, अटपट खटपट करनेको अन्य अन्य आस्रवोंको रखकर सरपट हो जाता है। इसमें प्रीति मत करो, अनित्य प्रीतिका पात्र नहीं होता। नित्य तो यह विज्ञानघनस्वभाव आत्मा ही है, इसमें ही रति करो। देखो—ये आस्रव भाव शरणभूत नहीं हैं, ये स्वयं ही अपने खुदको नहीं बचा सकते। वीर्यपातके क्षणमें नष्ट होने वाले कठिन कामसंस्कारकी तरह

उदयकालमें मर मिटते हैं वे। शरण तो सहज चैतन्यशक्तिमय स्वयं गुप्त यह आत्मा ही है। इस आत्माकी ही शरण गहो। देखो—ये आस्रव नित्य ही आकुलस्वभावी होनेसे दुःख के ही कारण हैं। अदुःखरूप अर्थात् आनन्दमय तो अनाकुलस्वभावी यह आत्मा ही स्वयं है। देखो—ये आस्रव दुःखफल वाले हैं क्योंकि ये उन पुद्गल परिणमनोंके कारणभूत है जो भविष्यमें आकुलताके उत्पादक हैं। परन्तु यह भगवान् आत्मा अदुःखफल ही है क्योंकि आत्मा स्वयं किसी भी पुद्गलका, पुद्गल परिणामका हेतु नहीं है। ऐसा चिन्तवन करनेके अनन्तर ही कर्मविपाक शिथिल हो जाता है, स्वभावविकासका निरर्गल प्रसार हो जाता है, सहजचिच्छक्ति ही स्वयं विकासमें विजृम्भमाण हो जाती है; सो उस ज्ञानीका जैसे-जैसे विज्ञानघन स्वभाव विकसित होता है वैसे वैसे यह आस्रवोंसे निवृत्त होता है और तब तक आस्रवोंसे निवृत्त होता है जब तक विज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो जाता है। इस तरह देखो—ज्ञानका व आस्रवनिवृत्तिका समान काल ही है। यह आत्मा ज्ञानी हो गया, पर वह कैसे लक्ष्यमें आवे—इस जिज्ञासुके प्रश्नके उत्तरमें कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य ताहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

४३९. अकर्तृत्वके परिचयमें ज्ञानित्व—कर्मके परिणमनको और नोकर्मके परिणमनको आत्मा नहीं करता है। ऐसा जो प्रतीतिपूर्वक जानता है वह आत्मा ज्ञानी है। और भी जितने प्रसंग आवें—दुकान, मकान, गृहस्थी, धनवैभव आदिको भी यह आत्मा नहीं करता। आत्माका जिससे व्याप्यव्यापक भाव हो उसीको यह आत्मा कर सकता है, अन्य किसीको नहीं कर सकता है। द्रव्य पर्यायको करता है, उससे आगे नहीं कर सकता। यह व्यवस्था दो कारणोंसे हो रही है। द्रव्य स्वयं परिणाम रहा है, क्योंकि द्रव्यमें द्रव्यत्व गुण है। उसका स्वभाव ही यही है कि वह प्रतिसमय परिणमता रहता है। उसमें विभावरूप परिणमन की शक्ति नहीं है। एक द्रव्य ही अपने स्वभावमें परिणमता रहता है। जीव और पुद्गलोंमें परिणमन करने की शक्ति है। जैसा इनका निमित्त हो वैसी उपादानमें विशेषता आती है। जगत् चलता है, चलता रहे, इसे ईश्वरने नहीं बनाया और न यह सोचना कि कर्म, आत्मा, पर्याय, द्रव्य आदिकी व्यवस्था ईश्वरके द्वारा चलती हो। जो द्रव्य है वह स्वयं परिणमता है तथा उसके सन्निधानमें व्यवस्था स्वतः चलती रहती है। एक दृष्टिसे आत्मामें जो विभाव रागद्वेष, सुख, दुःख होते हैं उन्हें भी आत्मा नहीं करता है। एक दृष्टि से आत्मा रागद्वेष करता भी है। रागद्वेषके साथ कर्मका व्याप्यव्यापकपना है, इससे कर्म रागादि करता है अन्यथा याने कर्म बिना रागादि नहीं होते, अतः कर्मसे राग है। आत्मा नहीं करता है। आत्मा शुद्धका शुद्ध देखा जा सकता है, विभावोंसे प्रयोजन हटने पर।

परद्रव्योंका सम्बन्ध आत्मा नहीं करता है। आत्मा कर्ता नहीं है। वह चैतन्यस्वभावरूप अखण्ड रहता है। वह केवल निज स्वभावका कर्ता है, परद्रव्योंके परिणमनका कर्ता नहीं है। अज्ञानमें आकुलता तथा दुःख क्यों होता है? अज्ञान उसे कहते हैं जिसमें एकके साथ दूसरेका सम्वन्ध मान कर कर्ताबुद्धि मानली जाती है। जितने भी क्लेश हैं वे परद्रव्यके कर्तापनसे हो रहे हैं। किसी की भी कहानी सुनो—यह अमुकका भाई है, मित्र है, पुत्र है, मैं इसे बनाता हूं, खिलाता हूँ, कमाता हूं—यही कल्पना सबके कार्य कर रही है। अमुक का कर्ता हूं। रागको भी कह सकते, किन्तु राग हुआ क्यों? परद्रव्यको स्वामी माना जिससे राग हुआ। राग है अतएव दुःख है अथवा परद्रव्यमें कर्ताबुद्धि है इससे राग है। दुःख मिटानेके सम्बन्धमें बाह्यका समागम करके दुःख ही बढ़ेगा, किन्तु शान्ति तभी मिलेगी जब अपनेमें उपयोग होगा। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों ही दुःख बढ़ाते वाले हैं। जिनेन्द्र भगवान्का यही उपदेश या आज्ञा है—इन विषय कषायोंको टाल दिया जाय। भगवान्के स्वरूपको समझनेका तथा आत्मामें शान्ति लानेके लिए सतत तत्त्वोंका अभ्यास करना पड़ेगा।

४३८. ज्ञानीके अन्तरङ्ग कर्म बहिरंग कर्म व देहके अकर्तृत्वका परिज्ञान—यह आत्मा ज्ञानी बन गया है। यह लक्ष्यमें कब आता है? दूसरेके लक्ष्यमें आये अथवा न आये किन्तु खुदके लक्ष्यमें तो आना ही चाहिये कि मेरा अज्ञानभाव दूर हो गया और इस प्रकाश में आया। कैसे यह लक्ष्यमें आता है, इसकी बात इस गाथामें कही गई है। देखो ऐसा जानता है ज्ञानी आत्मा कि न तो यह कर्मोंके परिणामको करता है और न नोकर्मके परिणामको करता है ऐसा जो यथार्थ जानता है वह ज्ञानी कहा जाता है। जिस पुरुषके लक्ष्य में यह बात बसी है कि मैं आत्मा तो ज्ञानमात्र हूं, नामरहित हूँ, अकिञ्चन हूँ, शुद्ध हूँ अर्थात् सबसे निराला हूं मेरा सत्त्व किसी भी सत्त्वके साझेमें नहीं है। परिपूर्ण सत हूं अतः मेरा जो कुछ परिणमन होता है वह मुझमें ही होता है, मैं किसी अन्यके परिणामको नहीं कर सकता हूं। कर्ममें जो कर्मत्व अवस्था होती है मैं उसको भी नहीं करता और कर्मके उदयके निमित्तसे जो अन्तरङ्गमें मोह रागद्वेष सुख दुःखादिक परभाव उठते हैं उनको भी मैं नहीं करता हूँ, यद्यपि निश्चय नयकी दृष्टिसे मेरेमें जो परिणमन होता है उसका मैं करने वाला हूं तथापि जब स्वभाव दृष्टिकी रुचिसे कहा जा रहा तो ज्ञातापुरुष अपने अकर्ता स्वभावको निरख रहा है, निष्काम शाश्वत चैतन्यस्वभावको देख रहा है, उसमें कहाँ है परभाव व परपरिणाम। तो जो पुरुष यहां तक निरखते हैं कि जैसे दर्पणमें छाया प्रतिबिम्बित होती है तो उस छाया प्रतिबिम्बपर उस दर्पणका अधिकार नहीं, वह जब चाहे आवे जब चाहे न आये। दर्पण तो छायाका आधार है। उपाधि सामने हुई तो छाया

आ गई और हाथको हटाया तो छाया मिट गई। कितना जल्दी छायाका होना मिटना मालूम हो रहा है ? अब इसमें वह दर्पण बेचारा क्या करे ? यह तो उसकी स्वच्छताके कारण अधिकरण बन रहा है। इसी प्रकार रागद्वेषादिक भाव जो उत्पन्न होते हैं उनको आत्मस्वभावके तीव्र रुचिया पुरुष यह निरखते हैं कि ये कलुषतायें यदि मेरेमें उत्पन्न होती हैं तो मैं क्या करूं, इनका तो मैं ज्ञानभावके कारण अधिकरण बना रहा हूं पर इनका होना न होना यह उपाधिके सद्भाव और अभावपर निर्भर हो रहा है। अतः ये भी पुद्गलके परिणाम हैं, ऐसा निर्णय रखकर जो यह जान रहे हैं कि रागद्वेषादिक सुख दुःख आदिक रूपसे अन्तरङ्गमें उठने वाले जो कर्मोंके परिणाम हैं उन्हें और शरीरादिक रूपसे उठने वाले जो बाहरके नोकर्मके परिणाम हैं उन सबका परमार्थसे यह मैं कर्ता नहीं हूं क्योंकि पुद्गलके परिणामका पुद्गलसे ही व्याप्यव्यापक भाव है।

४३६. अध्यात्मप्रवेशके निरूपणोंमें दृष्टिकी सावधानीका महत्त्व—रागद्वेष सुख दुःखादिके परिणाम हैं, इस कथन प्रसंगमें दृष्टिकी बड़ी सावधानी रखनी है अन्यथा जरा दृष्टि गड़बड़ करते ही यह कितना विरुद्ध सा जंचने लगता है ? अरे आत्मामें उठने वाले रागद्वेषादिक परिणामोंमें व्याप्यव्यापकता कर्मके साथ बतायी जा रही है। जब एक निश्चयनय यह बतलाता है कि आत्मामें जो रागादिक परिणमन हुए हैं वे व्याप्य हैं, आत्मा वहाँ व्यापक है, तब उसके मुकाबलेमें शुद्ध आशय रखने वाला ज्ञानी यों समझ रहा है कि रागादिक विकारोंका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पुद्गल कर्मके साथ है। दोनों विचारोंमें पथभ्रष्टता नहीं है, आत्मकल्याणकी रुचि होनेपर स्पष्ट विदित होता है कि दोनों कथनोंसे स्वभावीकी दृष्टि रखे रहते हैं। ज्ञानी सब कहते हैं कि रागादिक परिणामोंका करनेवाला जीव है और यह है निश्चयदृष्टिका कथन। अशुद्ध एक पदार्थ की दृष्टि होने को अशुद्ध निश्चय कहते हैं। वहाँ यह बात घट रही है, ऐसा घटानेका प्रयोजन इस ज्ञानी का है कि कोई भी सत् पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी अन्य सत्में सत्पदार्थको नहीं डालता। ऐसे ही निरालापन अपने आपको देखना है उस प्रसंगकी यह बात है। और यह बात कि आत्मामें जो रागादिक विकार उत्पन्न होते हैं वे भी पुद्गलके परिणाम हैं। पुद्गलका इन रागादिक परिणामोंके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है। भला उन वर्णो के साथ शरीरका पुद्गलका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध कहा जाय तो वहाँ संदेह नहीं होता। परन्तु कर्मोदयके निमित्तसे हुए रागादिक विकारोंमें कर्मका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध बताना इसमें कुछ सन्देह सा लगता है लेकिन एक विशुद्ध लक्ष्य करनेकी कला आ जाय तो यह उसे विरुद्ध नहीं जंचता है। यहां यह ज्ञानी आत्माको निर्लेप विशुद्ध स्वरूपमें देख रहा है, अतः उसे प्रतीत हो रहा है कि इन समस्त रागादिक विकारोंका सम्बन्ध तो कर्मसे है और

इनका कर्ता है पुद्गल द्रव्य। देखिये—शुद्ध दृष्टिके प्रयोजनसे यह कथन है और शुद्ध दृष्टिके प्रयोजनमें ही वह कथन था। जहां यह बताया गया कि जीव अन्य पदार्थोंका कर्ता नहीं, अजीव जीवका कर्ता नहीं, पुद्गल कर्म जीवके भावोंका कर्ता नहीं, जीवके भाव पुद्गल कर्मके कर्ता नहीं, यह भी बताया जाता है और निश्चयनयके प्रसंगमें इसका भी इस कल्याणार्थीपर उचित प्रभाव पड़ता है और जब यह बताया जा रहा है कि जीवमें उठने वाले रागादिक विकारोंका कर्ता जीव नहीं है तो इसमें स्वभाव दृष्टिके प्रसंग उस कर्मके उदयके निमित्तसे हुए हैं, अतएव उनका कर्ता कर्म है, जीव तो उनका अधिकरण मात्र है ऐसी दृष्टिसे यह चर्चा चल रही है।

४४०. दर्पणके दृष्टान्तसे विकार व कर्ममें व्याप्यव्यापक भावका निर्देश—पुद्गल द्रव्य कर्ता वह स्वतंत्र व्यापक है और स्वयं व्याप्यमान हैं ये विकार, ये वर्णादिक भाव। सो पुद्गल परिणामका और आत्माका व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। ऐसा इस ज्ञानी पुरुष ने स्वभाव और विभावका एक वैमनस्य बनाया मनमोटाव बनाया कि जीवका उससे सम्बन्ध ही नहीं बता रहे हैं, उसके साथ सम्बन्ध है तो कर्मका है। इस बातको समझनेके लिए दर्पणके दृष्टान्तसे बहुतसी बातें हम ले सकेंगे। जैसे दर्पणमें हाथकी छायाका आना, वह तुरन्त हटता तुरन्त मिट जाता। ऐसी छाया हाथके आते ही आ गयी। यों हाथका जैसा व्यापार हम करें उस प्रकारसे वहाँ परिणमन चल रहा है। ओहो यह दर्पण तो उस छायाका अधिकरण है और यह सब छाया तो इस उपाधि हाथके इशारोंको मान रही है। उपाधिके होने पर हो, न होने पर न हो, ऐसा अन्वयव्यतिरेक चल रहा है। यह व्याप्यव्यापक बन रहा है इस दृष्टिसे ये सभी आत्मा उन विकारभावोंमें व्यापक नहीं है, ये तो अस्तित्वमें हैं अपने स्वरूपमें है। यों कर्ता कर्मत्व सिद्ध न होनेपर जान रहा है ज्ञानी कि इनका कर्ता आत्मा नहीं है। इस धन वैभवका, इस दुकान मकान आदिकका आत्मा कर्ता नहीं है, यह बात तो स्पष्ट आयी। इस देहका इस देहकी जवानी बुढ़ापा आदिक की अवस्थाओंका, इस देहके किसी भी परिणमन का यह जीव कर्ता नहीं है। इस जीवके साथ बंधे हुए जो कर्म हैं ज्ञानावरण आदिक उन कर्मोंका भी कर्ता यह मैं नहीं हूं। यह ठीक ही है। और इन कर्मोंके उदयके निमित्तसे जो कुछ यहां बात घटी। रागादिक विकार उठे, उनका भी मैं कर्ता नहीं हूं। 'मैं' किसको माना गया है ऐसा समझे बिना इन तथ्योंका मर्म नहीं पाया जाता है।

वस्तुत्वदृष्टिमें आत्माकी परिणति का कथन—जो पुरुष ऐसा जानते हैं कि यह आत्मा कर्मोंके परिणाम को, नोकर्मोंके परिणामको नहीं करता, ऐसा जो जानता है उसे ज्ञानी कहते हैं। हो क्या रहा है परमार्थसे ? पुद्गलके परिणामका ज्ञान, पुद्गल

निमित्तक उत्पन्न हुए रागादिक विकारोंका ज्ञान और जिनको उदयसे हुए हैं वे पुद्गल परिणाम इनका व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। स्वभावदृष्टि निर्लेप देखनेसे पुष्ट हुआ करती है तब आत्मा और आत्माके परिणाममें व्याप्यव्यापक भाव बसा हुआ है। लो यहाँ और जरा गहराईसे उतर कर देखो स्थूल रूपसे तो यों दीखा कि आत्मा आत्माके परिणाममें व्यापक है कर्मादिकमें नहीं, लेकिन रागादिक विकार जो कि एक शुद्ध चैतन्यकी पवित्र दृष्टि में कर्मके परिणाम माने गए हैं वहाँ उन परिणामोंसे आत्मपरिणाम न लेना और इस आशयमें यह आत्मा अपने आपके स्वभावपरिणमन अगुरुलघु गुणके कारण होने वाले वस्तुस्वरूपके नाते जो परिणमन हैं वह परिणमन है वस्तु परिणाम आत्मपरिणाम, उस आत्मपरिणामके साथ इस आत्माका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है। अथवा इन रागादिक विकारोंका जो परिज्ञान होता है जानन, उसके साथ इस आत्माका सम्बन्ध है। सो उस ज्ञानको तो जानता है पर पुद्गलके परिणामको नहीं जानता। ऐसा जो अत्यन्त विविक्त निराला बनकर ज्ञानी होकर जानता है वह ज्ञानी कहलाता है। उसका परिणमन क्या, इसकी समझ जैसी-जैसी दृष्टि विशुद्ध होती जाती है वैसे ही वैसे अन्त:मलिनताओंको दूर करता जाता है। ज्ञाताने पुद्गलका परिणाम जाना, पुद्गलका परिणाम न जाना, पुद्गल के परिणामके सम्बन्धमें अपने ज्ञानका परिणमन किया, ऐसा होनेपर कहीं ज्ञाताका पुद्गलपरिणामके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध न मान लेना। जाननेमें आया तब अन्तरंग मे उठे हुए रागादिक पुद्गल परिणाम या बहिरङ्गमें उठे हुए रस वर्ण गंधादिक परिणाम, इस परिणामके निमित्तसे जो ज्ञान होता है, इन परिणामोंके सम्बन्धमें इस ज्ञाताने जो अपना ज्ञान किया है उस ज्ञानके साथ यह ज्ञाता व्याप्त हो रहा है। यह तो सम्बन्ध बन रहा है पर पुद्गलके परिणामको, अन्तरंग परिणामको, रागादिक विकारको और बहिरंग आत्मामें कर्मोंके जो भी स्पर्श रस गंध आदिक की स्थिति बन रही है उन परिणामोंको भी नहीं करता और बाह्यमें पड़े हुए इन अनेक पदार्थोंको भी नहीं करता। यह तो ज्ञानमें व्याप्त है।

४४१. ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्माकी ज्ञानमें व्याप्यव्यापकता—आत्मा है ज्ञानस्वरूप सो यह ज्ञानमें व्यापक बनता है। किसी अन्य बाह्य तत्त्वमें व्यापक नहीं बनता। व्याप्य-व्यापक भाव आत्मामें होता है जो नित्य तादात्म्य है, उसमें नित्य व्याप्यव्यापक भाव है, सदा है, नि:संदेह है और जो ऐसा क्षणिक तादात्म्य सम्बंध रखते है, जैसी पर्याय हुई तो जब हुई तब तो तादात्म्य है, पर मिट गई, दूर हो गयी, आत्माके साथ सदा तो न रही तो ऐसा तादात्म्य न होकर भी वर्तमान तादात्म्यके सम्बंधसे उनका वह व्याप्यव्यापक भाव कहा जा रहा है। तो व्याप्यव्यापक भाव बताना वह उसमें व्याप रहा,

वह उसमें एकमेक हो रहा, इस प्रकारका सम्बंध बताता यह वर्तमान परिणामके साथ तो कमजोर है और शाश्वत स्वभावके साथ यह दृढ़ है, तो जिसके साथ तादात्म्य है उसके साथ व्याप्यव्यापक भाव है। इस सूत्रका इस वाक्यका हम जितना आशय ले करके अर्थ लगायेंगे हमें वहां उतने अर्थ मिलेंगे। रागादिकके साथ भी तो आत्माका तादात्म्य सम्बंध है लेकिन इसका अर्थ जो क्षणिक तादात्म्य माननेकी दृष्टिसे होता है वह है। जब निरखें कि आत्माका तो सहज स्वभावसे तादात्म्य है तो उसका फल जो अनाकुलता हुई वह एक अकेले अलग ढंगसे हुई। तो यों तादात्म्यसे रहने वाले भावमें व्याप्यव्यापकता है। जहां तादात्म्य नहीं है उनमें व्याप्यव्यापक सम्बंध नहीं तब फिर कर्ता कर्म क्या बतलाते हो? ऐसे बड़े विवेकके प्रचंड तेजसे जब अज्ञान अंधकार दूर होता है तब यह जीव ज्ञानी बनता है और कर्तृत्वस्वरूप आशयसे रहित हो जाता है।

४४२. आत्मासे बाहर आत्माके परिणमनकी अशक्यता––मैं मैं हूं और परिणमता रहता हूँ–यह बात तो मोटी है, इसका अर्थ जितने समय जुड़ जाता है वह सब प्रयोजनवश आत्मव्यवहार है। आत्माका हित मोटे शब्दोंमें तो यह कहा जाता कि अनाकुलतामें है, क्योंकि हम आकुलता चाहते नहीं, आकुलताका अभाव चाहते हैं, पर इससे बात एकदम ऐसी स्पष्ट विदित नहीं हो सकती है कि वहां ज्ञानानुभूति बने, एक निर्विकल्पता बने तब कहना चाहिए कि आत्महित जैसा आत्माका सहज स्वभाव है उस रूप उपयोग बनानेमें है। क्या है स्वभाव आत्माका? जाने, देखे, निराकुल रहे। अपना देवता अपना प्रभु तो अपने आपके ही अन्दर मौजूद है जिसकी हम आप पूजा करते हैं। उसका महत्त्व नहीं आंक रहे, उसकी सत्ताका ध्यान नहीं कर रहे, उसमें रुचि नहीं बना रहे तो इन बाह्य परिकरोंमें ये मोही अपनी रुचि बनाते हैं और इस परम रुचिके कारण ये आकुलित रहते हैं। कहां हित मिला? सब जगह ढूंढ आये, आत्माका हित मिला अपने आपमें ही। यह बात स्वाधीन है, अपने आपमें विचार करना यह बात स्वाधीन है। एक सहज ज्ञानमात्र नामरहित अकिञ्चन चैतन्य तत्त्वका प्रतिभास करना यह जीवके कल्याणके लिए बात है। तब कहां जाना, क्या करना, यह सब बात अपनेको निरखकर समाधानरूप हो जाती हैं। किसी परकी आशा रखनेमें ठीक है क्योंकि वह पर मेरे अनुकूल बन जाय सो मेरे कारणसे, मेरी वजहसे, मेरी किसी क्रियाको करे ऐसा नहीं होता। तो जब कुछ मेरे अनुकूल रह नहीं सकता तो कुछ मेरी बात देख वेखकर दुःख होता है, यह तो आत्महितकी बात है, जिसके हृदयमें घर कर जाय उसका भला है। ऐसा ज्ञानी पुरुष फिर लोकेषणासे रहित हो जाता है। लोकमें क्या चाहना और किसे चाहना? इन अज्ञानी मोही संसारमें रुलने वाले अपने अपने कर्मोदयवश यहाँ भेजे हुए पुरुषोंसे हम कुछ चाहने लगें, उनमें मेरी कीर्ति हो, वे लोग मेरा

नाम गावें, मेरी इज्जत करें, ये तो सब मूढ़ता भरी बातें हैं। इनमें रखा क्या है? पर द्रव्योंके समूहसे। यही बात संसार शरीर भागोंसे विरक्त होनेपर गले उतरती है, सही विदित होती है और संसार शरीर, भोगोंसे विरक्त न होनेपर यह सब क्या कहा जा रहा है इसमें तो मन ही नहीं लगता, और दूसरी चर्चा छेड़नी चाहिये। यह बात चित्तमें नहीं जमती। यहाँ हम आपको और कुछ न रुचे, अपने बारेमें अपना जो सहज ज्ञानमात्र स्वरूप है वह रुचे, उसपर हमारी अधिक दृष्टि जाय, उसमें हम रमें, यह तो मेरे लिए भलेकी बात है और बाह्य पदार्थोंकी रुचि होना, संसार शरीर भोगोंकी आकांक्षायें होना इनमें ही मौज मानना, यह कोई आत्महितकी बात नहीं है। ऐसा सब कुछ अपना सही उद्यम बनानेके लिए कर्ता कर्म भावमें यह निर्णय किया जा रहा है कि मैं किसे करता हूँ? मैं घर, धन आदिकका कर्ता नहीं हूँ, इसे तो सब लोग मान जायेंगे कुछ बतानेसे और यह मैं देहको नहीं करता, शरीरको नहीं करता।

४४३. **विशुद्ध जीवस्वरूपके परिचयमें जीवके परिणमनका निर्णय**—देखिये—निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इतना गहरा चल रहा है जीवका और देहके साथ जीवके परिणामके निमित्तसे देहके परिणाम देहकी परिणतिके निमित्तसे जीव क्या-क्या हो रहा है? उस देहमें कैसा बंधा है, एक क्षेत्रावगाह है, एकके चले दूसरा चल बैठे, इतना तो एक संश्लेष है, फिर भी स्वभावदृष्टिका रुचिया ज्ञानी संत पुरुष यह भेद निरख रहा है कि मैं किसे करता हूं? मैं देहादिक नहीं करता। मैं बँधे हुए कर्मोंकी परिणतियोंको नहीं करता, उन कर्मोंके उदयके परिणामोंसे जो मुझमें रागादिक विभाव विकार उत्पन्न होते हैं उनको भी मैं नहीं करता। जब सहज स्वभावरूप हम जीवको मान लेते हैं तो फिर अन्य सारी बातें बिल्कुल व्यर्थ दिखती हैं। यह कर्ता कर्म अधिकार जीवजीवाधिकारके बाद ही कहा गया है। जैसे कोई किसी कथनका ताव होता है और उस तावके सिलसिलेमें बात कही जाती है तो उसका प्रभाव होता है, उसकी सफलता होती है। इस प्रकार कर्ता कर्म अधिकार बतानेसे पहिले एक ताव बनाया गया है। मैं क्या हूं क्या नहीं हूं—जब इस निर्णयसे यह बहुत स्पष्ट हो गया कि मैं सहज ज्ञानमात्र हूँ तो इस निर्णयके वाद फिर कर्ता कर्मकी बात कहनेसे इसके उत्कृष्ट मर्मकी बात ध्यानमें आ जाती है। यह मैं इन रागादिक विकारोंको नहीं करता। तो फिर कौन करता? उत्तर यदि पूछना ही चाहते हो इसका विकल्प नहीं है कि इसका उत्तर ढूँढ़ने जाय, तो फिर इसको कौन करता? उसे तो इनसे ह और अपने अन्तःस्वरूपमें लगनेकी धुन है। इसमें देख रहा है ज्ञानी कि मैं इन रागा विकारोंका कर्ता नहीं हूँ। यह सब उस दृष्टिको लेकर सुनना है जिस दृष्टिमें रहकर जीव जीवका स्वरूप कहा गया है। जो वह सहज ज्ञाता है, ज्ञानस्वभाव है चिन्मात्र सो मैं ज

हूं ऐसा तो सम्बन्ध किया, अपने आत्मके स्वरूपका उपयोग बताया और फिर विकार जो कि अन्तःकर्मके परिणाम हैं बाह्य पदार्थोंमें कर्ता कर्मकी बुद्धि करना सो यह पूर्व कहे गए प्रकरणसे यह एक विरोधी प्रकरण है। कर्ताकर्माधिकारमें तथा जीवजीवाधिकारमें बताये गये जीवस्वरूपको जीव समझकर समझना।

४४४. **विदेहभावनामें सन्मार्गका सुगम यत्न**—मनुष्य वैसे बड़े-बड़े कार्य कर डालते हैं जिसमें नाम पानेकी भूख रहती है। लौकिक कार्य विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदिके समयोंको छोड़कर धार्मिक कार्योंमें भी इस नामके पानेकी बू भरी हुई है। कुछ स्थानोंपर तो सिंघई पदवी मिलने की अपेक्षा करके गजरथ चलाया जाता है। अलौकिक शान्ति का भण्डार तो यह आत्मा है। स्पर्श रस गन्ध वर्णके साथ कर्ता कर्मपनेका निषेध करना पड़ेगा। साता, असाता यह भी मेरे द्वारा नहीं की जाती है। शरीर, कर्म, राग, द्वेष, मोह, लोभ आदि सभीमें कर्ता कर्मकी बुद्धि हटाना पड़ेगी। शारीरिक परिणमनके साथ आत्माका व्याप्यव्यापकपना नहीं है। जिसके होनेपर नियमसे हो और जिसके न होनेपर न हो, इस तरहका सम्बन्ध व्याप्यव्यापक भाव है। जैसे वृक्षके न होनेपर नीम नहीं होता तथा वृक्षके होनेपर नीम आम आदि कुछ भी हो सकता है। जहाँ जैसा कार्य पड़े वहाँ वैसा समझना चाहिए। कहीं तादात्म्य रूपसे रहे तो व्यापक है। शरीरका भी परिणमन होता रहता है, उसमें स्पर्श, रूप, रस, गन्ध बदल गया तो इनके बदलनेके साथ ही व्याप्यव्यापकपना है। क्योंकि अब उस दशाको सुधारनेकी भी चिन्ता न की जाय तो आत्माका कोई नुकसान नहीं है। रूपादि बदलनेका कारण शरीर ही तो हुआ, स्वरूपदृष्टिसे शरीर जड़ है, आत्मा चैतन्यमात्र है। चैतन्य आत्मामें जड़ शरीर मिल कैसे सकता है? शुद्ध सोनेमें खोटा मिल नहीं सकता, उसे सोनेमें से हटाकर दूर कर दिया जाता है। आत्मा जुदी है और शरीर जुदा है, इस तरहका बोध होता है। लेकिन अनादि कालसे इस तरहके कार्य करते आये जिससे इस शरीरका सम्बन्ध नहीं छूट सका। सच पूछा जाय तो धर्म करना है तो निश्चय यही होना चाहिए कि शरीरसे छूटनेका यत्न करना है। इन शरीरोंसे कब छूट पाऊं, इस भावनाको लेकर धर्म मार्गपर आरूढ़ हो जाना चाहिद। सर्वथा शरीरसे छूटूं इस युक्तिका नाम धर्म है। सर्व ऐबों की जड़ शरीर है। घमंड आवेगा तो सोचेगा मैं बलवान् हूँ, धनवान् हूं, फिर मैं अपना अपमान क्यों सहन कर लूं? यह सब शरीरमें ममत्व होनेका कारण है।

४४५. **शुद्ध चित्स्वरूपकी दृष्टिमें अन्तःप्रकाश**—जब केवल दृष्टि चैतन्यपर रहती है, तो सोचता है शरीरको तो यहीं नष्ट हो जाना है। मेरी आत्माका क्या विगाड़ किसने कर दिया जो दूसरेको बुरा भला कहूं। आत्माका तो कोई कुछ नुकसान कर ही नहीं सकता। यह निज तत्त्व लक्ष्यमें रहे तो परसे आपाबुद्धि हटे। इस नष्ट होनेवाले शरीरके

द्वारा आत्माका जितना लाभ लिया जा सके उसे प्राप्त कर लेवें। स्वामी रामतीर्थ आदि सनातन धर्म मानने वालोंमें हो गये हैं। वह जिसको भी देखें तो राम समझकर देखते थे। अगर गाय है तो राम, कुत्ता है तो राम, चूहा, बिल्ली, गधा, मनुष्य, वानर, पशु पक्षी जिसे भी वह देखें उसे राम समझकर ही देखते थे। मनुष्य, स्त्री, वृक्ष, नदी, पर्वत, मकान कुछ भी हो सभीमें रामकी ही कल्पना प्रधान रहती थी। वह ज्ञानी माने जाते थे। लेकिन यहां तबसे ज्ञानीपन शुरू होता है जबसे चैतन्य प्रभु आत्माके दर्शन होवें। चैतन्य कहो या भगवान् कहो, सभीकी आत्मायें भगवानके समान हैं। दुखी कोढ़ी, अपाहज आदमीको भी देखकर यह भान हो जावे वह आत्मा भी चैतन्य प्रभु है सब आत्मामें ज्ञानवान् हैं, चैतन्यस्वरूप का वास है। सबमें ही चैतन्य प्रभु दीखे। दीखेगा उसीको जिसे अपने चैतन्यकी खबर है, उसे दूसरेके चैतन्यकी खबर भी रहेगी। खुदकी दृष्टिमें पर्याय बुद्धि बैठी हुई है। द्रव्यदृष्टि से आत्माको जब देखा जायगा तब वह समझमें आवेगी। पर्यायदृष्टिसे शुद्ध आत्माकी खबर नहीं ली जा सकती। जो चौबीस घंटा पर्यायमें ही बह रहे हैं उन्हें वही पर्याय ही तो नजर आवेगी। जिसमें जैसी गन्दगी होगी उसे वही तो नजर आवेगी। इसके अतिरिक्त वह अपने को और क्या अनुभव करेगा? चन्दनकी सुगन्ध उसमें तो रहती है जो दूसरोंको भी सुगन्धित करता रहता है। द्रव्यदृष्टि जिन्हें रुचिकर है वह बाहरकी भी खबर लेगा तो उसी द्रव्यदृष्टिसे। द्रव्यदृष्टिसे क्या क्या चमत्कार सामने आते हैं? उन्हें वही ज्ञाता द्रष्टा जान सकता है। अगर शुद्ध चैतन्यस्वरूप सोचा तब फिर किसपर कलह करें, किससे लड़ाई झगड़ा करें? क्रोध मान माया लोभ मत्सर डाहद्वेष आदिकी जो भी वासनायें हैं, वह सब विलीन हो जाती हैं। जब तक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध इस तरहका लगा है तब तक उन्हें हटानेमें कुछ विलम्ब लगता है। जिस तरह कोई व्यक्ति शराब पिये होवे तो वह गाली भी दे डालता है और जो सुनता है तो उनमें से कुछ बुरा भी नहीं मानते, क्योंकि वह जानते हैं कि गालियाँ यह नहीं बक रहा है, किन्तु मद्यमें बेहोश होकर बक रहा है। पागल समझकर वहाँसे रुचि हटा लेगा।

४४६. **ज्ञानीकी शुद्ध चैतन्य देखनेकी प्रकृति**—शुद्धदृष्टि वाला सब जीवोंमें चैतन्य-चैतन्य तत्त्व निरख रहा है। यह निरपराध हंस परमात्मा समान है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे बन्धनमें पड़ा है। द्रव्यके स्वरूपमें अपराध नहीं है। मदिराका नशा तथा उपाधि के हट जानेपर शुद्ध चैतन्यमें अव्यवस्था नहीं होती है। यह सब उपाधि (परद्रव्य) की गड़बड़ी चल रही है। व्यवहारसे उपाधि सबमें व्याप गई है और द्रव्यसे शुद्ध बैठा है, पर्यायसे अशुद्ध है। किन्तु ज्ञानी भेदविज्ञानरूपी प्रज्ञासे भेद कर सकता है, शुद्ध चैतन्यतत्त्व को निरख सकता है। प्रति समय द्रव्य पर्यायसे ही परिणमता है। जो त्रैकालिक है वह द्रव्य

है तथा उसका लक्षण सत् है एवं द्रव्यका कभी विनाश नहीं होता है। वह द्रव्य और पर्याय करके जुदा जुदा समझा जा सकता है। द्रव्यको पर्यायके द्वारा जानता है तथा पर्यायसे निवृत्त हो जाता है। जैसे लड़के खेलनेके लिए आधे आधे मित्रोंको लेते हैं, उनमें वे अपने नाम विशेष रखकर आते हैं और एक एक तरफका प्रधान लड़का एक एक समय दो में से एक माफिक लड़का मांग लेता है और जो उसके पक्षका मिल जाता है उसे वह प्रेमसे गले लगाता है एवं अपनी ओर खींच लेता है और मिलकर खेलते हैं। १० छात्र एक टोलीमें होनेपर वह सब एक ही भावके बन जायेंगे और यदि प्रतिपक्ष न हो तो खेलेगा कौन ? हमारी विजयके कारण वह दशों लड़के बनेंगे। इस खेलसे उन्हें उपयोग तत्परता आयी तथा सबका स्वरूप जुदा जुदा है। इसी तरह द्रव्य स्थायी है और पर्याय क्षणिक है। यह जाननेपर द्रव्यको संकेत पहुंचेगा। ऐसी बात जिन जीवोंमें बनी है उन्हें द्रव्य ही नजर आयेगा। जैसे शुरूमें एक दिगम्बर जैन साधु मिल जाय तो उसे नमस्कार ही करेगा। एक मुनि क्रोधसे भरे हुए ईर्यापथसे नहीं चल रहे तो वह उन्हें नमस्कार नहीं करेगा और बादमें सोचेगा यह भगवान् आत्मा इस मुनि अवस्थाको पाकर भी प्रमादपूर्ण वृत्ति कर रहा है। वह चैतन्य भगवान्‌को दृष्टिमें लायेगा तथा उसकी विशेषतायें सोचेगा। साधु लोग प्रत्येक जीवपर दया करते हैं, करुणा भाव रखते हैं। किन्तु मोही जीव मूर्खतावश यद्वा तद्वा (मनचाही) प्रवृत्ति कर रहे हैं। पुन: सोचेगा में कहाँ कुपथपर जा रहा हूँ, मैंने अभी तक अपना भी कितना कल्याण किया है जो कि परके छिद्रान्वेषण करता रहता हूं। इस तरह सोचनेमें अपना स्पर्श जरूर है, वही कल्याणकारी है। आत्मस्पर्श स्वयंमें होकर स्वयंको अति लाभदायक है।

४४७. मोहरोग और उसके विनाशकक्ष—सबसे बड़ा रोग यह लगा है जिसे पर्याय बुद्धि कहें या मिथ्याबुद्धि कहें कि शरीरादिको अपना मान रखा है। उनसे निवृत्त होनेमें विलम्ब कर रहा है। इस शरीरको जो नित संभाला जाता है वह जल जायगा और खाक बन जायगा तथा कुछ भी नहीं रह जायगा। फिर भी अज्ञान बुद्धिसे दूसरोंको तुच्छ मान रहे हैं तथा अपने लिए घमंडमें सर्वसे श्रेष्ठ मान रहे हैं। इससे आगेके लिए दु:खके बीज बो रहे हैं। ज्ञानी कौन है ? जिसे परके प्रति, परभावोंके प्रति आत्मबुद्धि नहीं है। वह भावना करता हूं, मैं एक शुद्ध चिद्रूप ज्ञानानन्दघनमय हूं। मैं अपने द्रव्य गुण परिणमनके कारण रहता हूं, अन्यका कर्ता नहीं हूं। कर्ता तो स्वरूपास्तित्वका हूं। जगत्‌के प्राणी कितने छोटे या बड़े हैं, कौन क्या करता है ? यह ज्ञानमें बाधा नहीं डालता है। शुद्ध चिदानन्दमयका ध्यान ही संसारसे पार करनेका उपाय है। जैसे-जैसे रागसे दूर होता है वैसे वैसे ही ज्ञाता द्रष्टा होता जाता है यह चेतन। यह पहली श्रेणी है। दूसरी श्रेणीमें जैसे-जैसे विज्ञानघन

अनुभव करने लगता है तथा आस्रव दूर होते जाते हैं। दोनों ओरसे विज्ञानघन कब तक नहीं बनता है, जब तक आस्रवोंसे निवृत्त नहीं होता है। आस्रवोंसे निवृत्त जब तक नहीं होता तब तक विज्ञानघन नहीं बनता। विज्ञानघन स्वयं होना तथा रागादिसे निवृत्त होना यह उत्पाद व्ययसे वर्णन है। यह पूरा उत्पाद व्यय एक दूसरेके पूर्ण तक होते चले जाते हैं। रागादिसे दूर होना तथा ज्ञानका होना—ये दोनों एक ही समय हैं। जिस तरह जब प्रकाश हुआ तब अन्धकार भी उसी समय विलीन हो गया। ज्ञानमें ही ऐसा स्वभाव है कि वही विकसित हो, वही रागादिसे निवृत्त हो। काम भी वहां एक ही है, विधि व प्रतिषेधसे जानने की पद्धतिमें द्वैत है। वस्तुतः तो वस्तुका वही कार्य कहलाता है जो पर-उपाधिके बिना जैसा स्वरसतः हो सकता हो, होवे।

४४८. जीवके अकर्तृत्वका निर्णय—जीवका कर्तृत्व मोह, राग, द्वेष आदि प्रकृतिके प्रति तो है ही नहीं, क्योंकि द्रव्य ही पृथक्-पृथक् हैं, प्रकृतियाँ जड़द्रव्य है, जीव चेतनद्रव्य है। किन्तु मोह, राग, द्वेषादि प्रकृतिके निमित्तसे जीवास्तिकायमें जो मोह, राग, द्वेष विभाव उठते हैं उनके प्रति भी जीवका कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि वे विभाव जीवमें स्वरसतः उत्पन्न नहीं हुए। परमार्थसे प्रकृतियोंका कर्तृत्व तो पुद्गलमें है, क्योंकि वे पुद्गलपरिणाम हैं तथा मोहादि विभावोंका कर्तृत्व भी पुद्गलमें है, क्योंकि मोहादि विभाव भी पुद्गलके परिणाम हैं। प्रकृतियोंका व पुद्गलोंका तो व्याप्यव्यापक भाव है, क्योंकि प्रकृतियोंमें पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है। उस स्वतन्त्र व्यापकके द्वारा व्याप्यमान हैं और वही कर्मत्वेन क्रियमाण है। इसी प्रकार मोहादिक विभावोंका व पुद्गलोंका भी बहिर्व्याप्यव्यापक भाव है, सत्ता पृथक्-पृथक् हैं अत एव बहिः हैं, परन्तु अन्वयव्यतिरेकके कारण व्याप्यव्यापक भाव तो है ही और इस प्रकारका व्यापक भी स्वतन्त्रतया व्यापक है। उस व्यापकके द्वारा व्याप्यमान मोहादिक विभाव हैं और वही कर्मत्वेन क्रियमाण हैं। अब नोकर्म अर्थात् शरीर व विस्रसोपचयकी बात देखो—नोकर्मका परिणाम तो बाहर उठता हुआ प्रकटसा ही है। वह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, संस्थान, सूक्ष्मता, स्थूलता आदि रूपसे समझमें आ ही रहा है। सो इस नोकर्मके परिणामका भी पुद्गल द्रव्यके साथ व्याप्यव्यापक भाव है। इनमें पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक है सो "स्वतन्त्रः कर्ता" के अनुसार कर्ता है। यह कर्ता स्वतन्त्र व्यापकके द्वारा व्याप्यमान नोकर्मका परिणाम है, वही कर्मत्वेन क्रियमाण है। इस तरह उन सबमें आत्मा चूंकि व्यापक नहीं है, अतः आत्मा उनका कर्ता नहीं है और न वे आत्माके कर्म हैं। इस कारण आत्मा मोहादिक अन्तरङ्ग परिणामोंको, प्रकृतिरूप कर्मोंको, शरीर परिणामोंको नहीं करता है।

४४९. कर्म और नोकर्मके परिणामका ज्ञातृत्व—आत्मा कर्म नोकर्मके परिणामोंका

ज्ञाता होता है, क्योंकि कर्म नोकर्मके परिणामोंके ज्ञानके साथ, जो कि आत्मपरिणामरूप है, व्याप्य-व्यापक भाव है, अतः आत्मा परिणामज्ञानको करता है। साथ ही यह समझना कि उन ज्ञानपरिणामोंके साथ पुद्गलका व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है सो परिणाम ज्ञानका कर्ता पुद्गल नहीं हो सकता। इस प्रकार जो अत्यन्त विविक्त पदार्थोंका विविक्तस्वरूप जानता है वह अत्यन्त विविक्त ज्ञानीभूत होता हुआ ज्ञानी होता है। इससे यह बात स्पष्ट प्रतीत करना कि ज्ञाता और ज्ञेयका ज्ञेय-ज्ञायक व्यवहार सम्बन्ध है तो भी चाहे पुद्गल-परिणामविषयक ज्ञान हो ज्ञानमात्र सब ज्ञाताके व्याप्य हैं—अथवा और गम्भीरतासे सोचो तो व्याप्यव्यापकपना तदात्मामें होता है। अब व्याप्यव्यापकपना त्रिकाल तदात्मामें देखो तो ज्ञानस्वभाव अथवा चिदात्मा शुद्ध अर्थपर्यायमें व्यापक है, अतः चिदात्मा शुद्ध अर्थपर्यायका कर्ता है। अहो, देखो तो आत्मा किस रूप है और मोह उपाधिवश क्या क्या कल्पना तरङ्गें इसमें उठा ली हैं। सच पूछो तो आत्मा कर्तृत्वसे शून्य है। भूयमान तत्त्वोंका कर्ता ही क्या ? ज्ञान तो भूयमान तत्त्व है। अतः आत्माको अकर्ता निरखो। जीव पुद्गलकर्मको जानता है। ऐसे जाननेवाले जीवके पुद्गलकर्मके साथ कर्ताकर्म क्या होता है अथवा क्या नहीं होता है, इस आशंकाके समाधानमें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

४५०. ज्ञानीका पुद्गलकर्मज्ञातृत्व—ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको जानता है, फिर भी निश्चयसे वह न तो परद्रव्यकी पर्यायोंमें परिणमता है, न परद्रव्यकी पर्यायोंको ग्रहण करता है और न परद्रव्यकी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। जब न परमें परिणमन है, न ग्रहण है, न उत्पाद है, फिर कर्ता कर्मभाव कैसे हो सकता है ? जो परस्परमें व्याप्य-व्यापक होते हैं, उनमें कर्ता कर्म निश्चयसे माना गया है। जिनमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है उनमें कर्ताकर्मपना नहीं माना गया है। घड़ा और मिट्टी इन दोनोंका व्याप्य-व्यापक संबंध है। इन दोनोंका कर्ता कर्म मिट्टी है। घड़ेका कर्ता कुम्भकार नहीं है किन्तु मिट्टी ही है। लेकिन व्यवहारमें कहते हैं कुम्हारने घड़ा बनाया है। निश्चयसे घड़ेका कर्ता कुम्हार नहीं, क्योंकि कुम्हार जुदा है तथा घड़ेका द्रव्य जुदा है। क्योंकि घड़ेका और कुम्हारका व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। अन्तरंगसे कुम्हार और घड़ा व्याप्यव्यापक नहीं है, बाहर से व्याप्यव्यापकपना होनेसे कुम्हार घड़ेका कर्ता माना जा सकता है। कुम्हार व्यापक है। उस परिणामको करने वाला कुम्हार है। इसी व्याप्य-व्यापकपने से लोगोंको प्रतीति है कि कुम्हार नहीं रहेगा तो घड़ा नहीं बनेगा। अन्तपनेसे मिट्टीमें कुम्हारका व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। लड़के भी इस चीजको जानते हैं। अगर किसी लड़केको पुस्तक मिले

और मास्टरके पास जमा करानेपर मास्टर पूछता है—यह पुस्तक किसकी है तो यही उत्तर देते हैं या विश्वास करते हैं कि पुस्तक कागजकी है। इतना ज्ञान तो उन्हें भी है कि पुस्तक का व कागजका वहाँ व्याप्य-व्यापकपना है। लड़केका पुस्तकके साथ व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। अन्तर्व्याप्य-व्यापक भाव है उसी पर्यायके साथ और बाकी बाहिरी व्याप्य-व्यापक भाव है निमित्तके साथ। जितने पुद्गल द्रव्य हैं उनका कर्ता आत्मा नहीं है। पुद्गलोंका कर्ताकर्म पुद्गल द्रव्य ही है। इस आत्माका कर्ता अन्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है। आत्मा स्वयंका कर्ता है। आत्माका पुद्गलके साथ कर्ता कर्म क्या है? दिखने वाली यह चटाई, पुस्तक, मेज, पंखा आदि हैं, उनका पुद्गलके द्वारा ही परिणमन होता रहता है, वह स्वयं उसका कर्ता है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि यह तो शरीरके परिणमन हैं। इनका कर्ता शरीर ही तो हुआ, *जिनमें पर्यायोंका व्यापार रहता है वही कर्ता है। जिनमें अन्तर्व्याप्य व्यापक* रहता है उनका परिणमन कैसे होता है? जो कुछ कर्म परमाणुओंमें है, वही कर्ता कर्म आदि है।

४५१. पुद्गलकर्मके प्रकार—ये पुद्गल कर्म नाना प्रकारके हैं। प्रथम तो पुद्गल कर्मके दो भेद हैं--घातियाकर्म और अघातियाकर्म। जो जीवके गुणोंको घाते सो घातिया कर्म है और जो जीवके गुणोंको तो न घातें, पर जीवके गुणोंको घातने वाले कर्मोंके होनेमें मदद दें सो हैं अघातिया। घातियाके चार भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। अघातियाके चार भेद वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। ज्ञानावरणके ५ भेद-मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। दर्शनावरणके ९ भेद—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शना-वरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि। मोहनीयके २८ भेद—तीन तो दर्शनमोहनीय-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति तथा २५ चारित्र मोहनीय-अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद। अन्तरायके ५ भेद-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय वीर्यान्तराय। अघातिया कर्मोंमें वेदनीयके दो भेद--साता वेदनीय, असाता वेदनीय। आयुकर्मके ४ भेद– नरकआयु, तिर्यञ्चआयु, मनुष्य-आयु और देव आयु। ये चार आयुके जो नाम कहे हैं उनसे उमर अर्थ न लेना किन्तु नरक नामकी आयु। नरक आयुकी जो स्थिति होगी वह स्थिति बंधमें आयगी, इसे कहते हैं प्रकृति बन्ध। और तभी तो जो सहसा लोग यों कह देते हैं कि आयु तो टल जाती है गति नहीं टलती, ऐसा कहना ठीक नहीं। यों ठीक है कि गति तो टल जायगी पर आयु न

टलेगी। यहाँ आयुका अर्थ प्रकृति आयु लेना। आयुकी स्थिति तो कम बढ़ हो जाय पर जिस नामकी आयु बाँधी उस आयुका परिवर्तन नहीं होता। नामकर्मकी गति जाति आदिक भेदसे ९३ भेद हैं—नाम कर्मके उदयमें शरीरकी रचनायें होती हैं और शरीरसे सम्बधित जितनी प्रकारकी निष्पत्तियाँ हैं उतने ही उसके कारणभूत कर्म हैं और उसी प्रकारसे ये नाम हैं। गोत्र नामके दो भेद हैं—उच्च गोत्र और नीचगोत्र। इस प्रकार प्रकृतिबंधकी अपेक्षा ये भेद हैं पर इसमें जो स्थितियाँ पड़ती हैं उन स्थितियोंकी दृष्टिसे देखें तो इनके और भी असंख्याते भेद हो जाते हैं। फिर इन्हींमें फलदानशक्तिकी दृष्टिसे देखो, अनुभागकी अपेक्षा देखो तो फिर इनके और भी अनन्त भेद हो जाते हैं। यों अनेक प्रकारके कर्म पाये जाते हैं।

४५२. पुद्गलकर्मके सम्बन्धमें ज्ञानीका ज्ञान—ज्ञानी पुरुष जानता है कि उनमें ये आत्मा न तो परिणमते हैं, न उन्हें ग्रहण करते हैं और न उनमें उत्पन्न होते हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका कर्म वही स्वयं हो जाता है। कर्ममें होता क्या है? वह भी एक शाश्वत पदार्थ है तथा प्रतिक्षण एक एक पर्यायमें आता रहता है। तो मानो वह शाश्वत पदार्थ उन पर्यायोंसे परिणाम कर रहता है। कर्ममें और होता क्या है कि पदार्थ अपने आपमें तभी तक अपने स्वभावको छोड़कर विकाररूप परिणाम जाता है तो वहाँ पर होता क्या कि वही पदार्थ विकारी बना, उसमें ही विकार्यत्व आया। तीसरी बात क्या होती है कि वह पदार्थ अपनी पर्यायोंसे रचा हुआ होता है। तो यों पुद्गल द्रव्यका कर्म पुद्गल द्रव्यका परिणाम है तो वही उसमें व्यापक है, उसही रूपसे वह पुद्गल परिणमता है। उन्हें यह जीव जानता तो है पर उनमें व्यापक बनकर उनमें तादात्म्य होकर नहीं रहता। अर्थात् पुद्गल के परिणमनको नहीं यह जीव ग्रहण करता। पुद्गलकर्म वर्गणाओंमें उसकी अवस्थायें आती रहती हैं, जीवमें नहीं आतीं। जीव उन्हें पायेगा कैसे? और न यह जीव उन रूपसे परिणमता है, न उस रूपसे उत्पन्न होता है। तो पुद्गलके साथ ज्ञानी जीवका कर्ता कर्म भाव नहीं है। वे पुद्गल अपनेमें हैं, अपनेमें आते हैं, अपनेमें परिणमते हैं, उत्पन्न होते हैं। यह जीव अपनेमें रहता है। पुद्गलके साथ जीवका कर्ता कर्म भाव नहीं है।

४५३. विभावोंके कर्तृत्वका कारण—रागद्वेषादि पुद्गलके विभाव हैं। विभावों का कर्तृत्व यद्यपि अपेक्षावश उपादान और निमित्त दोनोंके साथ ठीक बैठता है तथापि एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे देखो तो ये पुद्गलके परिणाम हैं। कुछ बिगड़ जानेपर कहते हैं ये तुम्हारे लड़केके कारनामे हैं। परिणाम उपादानके साथ और निमित्तके साथ भी चलते हैं। रागादिको जानकर श्रद्धा करे ये मेरे नहीं हैं। मैं क्या करूं? जैसे कर्म नाच नचाते है वैसे नाच नचते हैं। शुद्ध निश्चयनयसे रागादिक पौद्गलिक हैं। मगर प्रयोजन कहाँ क्या

लेना चाहिए ? मैं रागादिसे रहित हूं। रागादि मेरे आश्रित नहीं हैं। वे कहीं ज्ञेय बन जाते हैं तब ठीक बैठते हैं। रागादि आत्माके परिणाम नहीं, कर्मके नहीं हैं, यह भी किस लिए कहा, यह देखना चाहिए। रागादि आत्माके हैं। लेकिन वे व्यय होने वाले हैं। मैं स्वभावके बलपर इन रागादिको दूर कर दूंगा। अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें रागादि आत्माके हैं। रागादिके अशुद्ध निश्चयमें कोई दूसरा पदार्थ ध्यानमें नहीं रहता। सो पर का आश्रय छोड़ देनेसे रागादि नहीं रहेंगे। कुत्ता मालिकके दमपर दूसरे कुत्तेको या बाहर के व्यक्तिके लिए भौंकता रहता है। अगर उस दमपर नहीं भौंकता तो बाहरकी लाठी देखकर चुप बैठ जाता, किन्तु वह बराबर कर्तव्यपरायण रहता है। रागका स्वरूप जो कहा जायगा वह उसको छोड़कर कहाँ जायगा ? जैसे कहते पुत्रमें प्रीति है, धनमें स्त्रीमें बगीचेमें रति है। राग स्वयं निष्पन्न है। ज्ञान स्वयंको विषय करके अनाकुल ही है। राग परको विषय करके ही होगा, स्वयंके विषयसे राग नहीं होगा। परको विषय करके, परके होनेसे परिणमन रागको उत्पन्न करता हुआ ही होगा। ज्ञानीको अशुद्ध निश्चय मिला तो ज्ञानी एकत्वके द्वारसे शुद्ध तत्त्वको विषय करेगा। परपदार्थ निरखा ही नहीं जा रहा तो राग और आत्मा जुदा होकर, राग खत्म हो जायगा। बल चाहिए कहीं भी कूद लेवे। अगर शुरूमें ही कमजोर हुए तो जहाँ भी गये वहीं स्खलित हो जाओगे। हर जगह शुद्ध ही देखे, तब कहीं भी कूद लो चोट नहीं आयेगी। निमित्त, उपादान दोनोंका वर्णन आचार्योंने किया है। पुद्गलका परिणमन व्याप्य-व्यापक है। रागद्वेषादि आत्मामें हैं वे पुद्गलके परिणाम हैं। उनका पुद्गलोंके साथ बहिः व्याप्य-व्यापक भाव लगा है सो पुद्गलों को कर्ता बनाया जा रहा है।

४५४. निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी अन्योन्य अकर्तृत्व—पुद्गलके परिणमन रागद्वेषादिके निमित्तकेसे होने वाले भाव हैं। द्रव्यकर्म प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग बन्ध इनकी रचना पुद्गलके द्वारा होती है और वह पुद्गल स्पर्श रस गंध वर्णसे सहित पाया जाता है। जैसे मिट्टी और घड़ेका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। आत्मामें रागका व्याप्य-व्यापकपना है। ज्ञेय तत्त्वको निमित्तके साथ जोड़ने पर भी, रागादिक आत्मामें नहीं मिलते। आत्मामें जो होवे सो आत्मा तथा कर्मके साथ हुए या कर्मोंके निमित्तसे रागादिक हुए हैं इसलिए उन रागादिको कर्मोंके पास ही भेज दो। रागादिका कर्ता पुद्गल ही है आत्मा नहीं है क्योंकि आत्मामें रागका व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। इनका कर्ता पुद्गल परिणाम है, आत्मा नहीं है क्योंकि इन तीनोंके साथ व्याप्य व्यापक है। आत्माका ज्ञान कर रहे हो तो विचारके साथ व्याप्य-व्यापकपना है ! सिगड़ी जलाई और उसपर बटलोई के आधारपर पानी गर्म करनेको रख दिया तो क्या हम निश्चयसे गर्म पानीके कर्ता हैं ?

यह पानी इतना गर्म है यह ज्ञान है, उसके साथ व्याप्य-व्यापकपना है, किन्तु कर्मके साथ नहीं है। राग हो रहा है, ऐसे ज्ञानका आत्माके साथ व्याप्य-व्यापक भाव है। वह रागका मर्म कर्मके पास लाये हैं। रागके ज्ञानका मैं कर्ता हूँ पर रागका कर्ता नहीं हूँ। जिस तरह मैं लड़ाई देख रहा हूँ उसका कर्ता हूँ किन्तु लड़ाईका कर्ता नहीं हूं। थर्मामीटरसे बुखार देखा जा रहा है तो उस बुखारकी डिग्रीको जाननेका कर्ता हूँ किन्तु बुखारका कर्ता नहीं हूँ। किसी भी उपायसे जाननेपर रागका कर्ता नहीं हूँ। अनेक उपायोंसे जाननेपर राग का कर्ता सिद्ध नहीं हुआ। पुद्गल ही इनका कर्ता है। जिन-जिन विषयोंका अज्ञान बसाया है उनका कर्ता हूँ। मैं अन्य कार्यका कर्ता नहीं हूँ। जो मनुष्य सोचते हैं मैंने अमुकका पालन पोषण किया, मैंने धन कमाया, मैंने उन्हें बैरिस्टरी पास कराई, विद्वान् बनाया आदि यह जो अहंकार परवस्तुके विषयमें चलते हैं वह अहंकार दुःखकारी है। यह कार्य मैंने किया, सामायिक दी, पूजनकी, दान दिया, भोजन किया, अन्यकी रक्षाकी आदि बोलने पर कर्ता नहीं होते। कर्ता सोचनेसे होते हैं। अथवा सोचनेसे नहीं होते, भ्रममें मान लेते हैं। यथा कौआके कोसने पर पशु मरणको प्राप्त नहीं होते। सोचते हुएमें हो भी जाय तो भी परिणमन नहीं किया। बात बने तो कर्ता नहीं और नहीं भी बने तो कर्ता नहीं। विचारनेसे ही विकल्पमें कर्ता होते हैं।

४५५. प्रत्येक पदार्थके स्वयंका स्वयंमें कर्तृत्व—खोटा विचारनेसे अशुभ परिणमन होगा तथा शुभ विचारोंसे शुभ परिणमन होगा तथा शुद्ध परिणामोंसे, आत्मज्ञानसे खुदका शुद्ध परिणमन होगा। जो करेगा सो स्वयं प्राप्त करेगा। इन पुद्गल परिणामोंका कर्ता आत्मा नहीं है, यह प्रतीतिमें बैठ जाय तो यह संसारकी बीमारीका अमोघ इलाज है जो कि कभी भी असफल नहीं होने वाला है। प्रतीतिकी जितनी सामर्थ्य है उतना रोग मिटेगा। पुद्गलके परिणामका जो ज्ञान हुआ उसका व्याप्यव्यापकपना आत्माके साथ है। जिस तरह घड़ेका और कुम्हारका व्याप्यव्यापकपना नहीं है। पुद्गलका ज्ञानके साथ कर्ता कर्मपना नहीं है। पुद्गलके परिणमनके साथ पुद्गलका कर्ताकर्मपना है। अतः पुद्गलका आत्मा कर्ता नहीं, किन्तु पुद्गलका पुद्गलकर्म है। पुद्गलकर्मसम्बन्धी ज्ञान होता है। इस लिए पुद्गलपरिणामज्ञानका आत्मद्रव्य ही कर्ता है। यही स्वतन्त्र आत्मद्रव्यमें व्यापक है। कुछ ज्ञेयाकार जरूर होना चाहिए। जानना तो ज्ञेयाकार स्वरूप है। ज्ञानसे रहित ज्ञान बर्तना नहीं कर सकता। ज्ञानमें व्यापक आत्मा है। तुम परद्रव्यके कर्ता नहीं हो, उसमें जो हो रहा है उसका ज्ञान आत्मामें है। अमुक कार्य कर रहे—इस प्रकारके संवेदनविषयक ज्ञानके कर्ता हम हैं। महिलायें रोटी बनाती हैं, किन्तु उस रोटीकी कर्ता वे नहीं हैं। वहाँ

केवल भाव कर रहा है। रोटी इस तरह बनाना, आटा गूंदना, इस तरहके माल उठाना, रोटी बेलना, तवे पर रखना आदि इस तरहके भाव मात्र बनाते हैं तब वहाँ वे सब कार्यरूप में परिणत हो जाते हैं। निमित्तनैमित्तिक भाव है, कर्ताकर्मपना नहीं। आत्माने भाव किया तथा इच्छा हुई. इच्छाके अनुकूल अन्दरसे वायु चली, हाथ, पैर आदि चले, उसी बीचमें जो वस्तु आई उसके अनुसार परिणमन हुआ तथा वह कार्य रूपमें परिणत हो गया। रोटी जलनेपर भावमें ज्ञात हो जाता है कि यह कार्य हो चुका, यह ज्ञान बराबर चल रहा है। रोटी खानेपर पेट भर गया तो अफरनेके ज्ञानका कर्ता हुआ। लेकिन पेटमें मिठाई पड़ी है तब भी आत्मा अछूता है, शरीरके लिए हलुआ खीर पूड़ी दो तो उसे प्रयोजन नहीं और सूखी रोटी दो तो उसे प्रयोजन नहीं है। वह तो विकल्पका कर्ता रहेगा या शुद्ध ज्ञानका कर्ता। यह आत्मा निश्चयसे शरीरसम्बन्धसे भी अछूता है।

४५६. परमात्मत्वकी प्राप्ति वस्तुस्वातन्त्र्यपरिचयका फल—हे भगवन् जिस पदको आपने पाया, उस पदको मैं कैसे पाऊँगा ? यही भावना ज्ञानीमें घर करे हुए है। ज्ञानीको सेवा करनेका भाव भी यही रहता है. जिस तरहके परमपदमें स्थित आप हैं उस तरहका मैं भी शीघ्र होनेका इच्छुक हूं। इच्छुक रहने वाले को उसी रूप कार्य करना आवश्यक है। परमात्मस्वरूप बननेके लिए उसी तरहकी प्रवृत्ति आवश्यक है। जीवन तो सदैव रहेगा; किन्तु मनुष्यभवकी दुर्लभता प्रत्येक जगह खटकती है तो फिर ढील करने की जरूरत नहीं। समयकी माँग यदि होती है तो यही समय है अन्य नहीं मिलेगा। रत्न खोनेपर पुनः मिलना असंभव नहीं तो दुर्लभ ही है। इस भवको सफल करनेके लिये वस्तुस्वातन्त्र्यका परिज्ञान करना आवश्यक है। किसी द्रव्यका किसी अन्यकी पर्यायोंके साथ व्याप्यव्यापक भावपना नहीं होता है, इसी कारण कोई द्रव्य किसी पर्यायका कर्ता नहीं है। दूसरे द्रव्यों का जो ज्ञान किया जाता है तथा पर्यायोंका, उस ज्ञानका कर्ता तो आत्मा है, किन्तु उन पुद्गल परिणामोंका कर्ता आत्मा नहीं है। जो भी पर्याय होती है उसमें वही द्रव्य स्वतन्त्रतया व्यापक होता है और उस द्रव्यमें जो स्वयं व्याप्यमान जो परिणति है वह उसका कार्य है। दूसरा उसका कर्ता कर्म नहीं है। जगत्में जितना भी क्लेश है वह सब कर्ता कर्म बुद्धिसे है। परपदार्थोंमें निजत्व बुद्धि करना अज्ञान है। अज्ञानवश अपनी कल्पनायें बनाकर उनके प्रति कर्ता कर्मके भाव बनाता है और फिर आकुलित होता रहता है एवं आकुलित होता चला आया है। इच्छाके प्रतिकूल बात चलनेपर दूसरेके दोष देखा करता है, किन्तु अन्तरंगके प्रभुको नही देखता है। परके दोष देखनेसे शान्ति नहीं मिलती है। जिन्होंने शान्ति पाई है उन्होंने आत्माके बलपर ही पाई है। आत्माके पास रहना ही शान्ति पाने का उपाय है तथा परद्रव्यसे छूटनेका भी यही आधार है। यह बनाव तब होगा जब पदार्थों

की स्वतन्त्र प्रतीति हो। किसीका परिणमन अन्य कोई नहीं कर सकता। जगत्के जितने पदार्थ हैं उनके स्वतन्त्र परिणमन चल रहे हैं, वह उन्हींमें हैं। उनसे अपना कोई हित अहित नहीं होता है। फिर भी बाह्यमें कितनी चाह लगी हुई है इसका पार नहीं है। जिन्होंने चाहोंको मिटा दिया वह परमेष्ठी कहलाये तथा जो इन चाहोंको नहीं मिटा सके वह यहीं फंसे रहे।

४५७. बाह्ययोग स्वपरिणामार्जित कर्मफल—कुछ पदार्थ प्राप्त कर इष्टानिष्ट बुद्धि बनाये रहे तथा दूसरेके अपराधोंको ही विचारते रहे, वह स्वयंका भला करने में फिसल रहा है। जो भी दुःखी है वह अपने परिणामनसे दुःखी है। किसीके द्वारा यह न दुखी हो सकता है और न सुखी होता है। अकृतपुण्यका पुण्यकर्मके उदयसे राजाके यहाँ जन्म हुआ, वहाँ जन्मसे ही आपत्तियाँ आईं, अनेक दुःख भोगे। बादमें बड़ा होकर राज्यसिंहासनारूढ़ होने के योग्य होता है, परन्तु लोगोंने व मन्त्रियोंने कहा कि जबसे इसका जन्म हुआ तबसे सब दुखी हो गये, देशमें आपत्तियाँ छा गईं, देशके लोगोंने उनसे प्रार्थना की देशसे जुदा होनेके लिए। वह राजपुत्र माताके साथ घरसे निकल जाता है। उसके साथमें गठरीमें रत्न बाँधे गये तो आग हो गये तथा श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भोज्य सामग्री रखी गई, वह भी कोयलाके रूपमें परिणत हो जाती है। जहाँ देखो वहाँ पाप कर्मके उदयसे दुःख ही दुःख भोगना पड़े। पापकी लीला ही विचित्र है, कोई सोचे पापका कार्य तो कर लूं, कोई देखता नहीं है, तथा आगेकी आगे देख लेंगे। तब भी पाप करने वालेकी आत्मा देख रही है जब मालूम है कि अनेक दुःख भोगना पड़ते हैं। यह शिक्षा दूसरोंके दुःख देखकर क्यों नहीं ले ली जाती? राजपुत्र अनेक कष्ट सहकर रहता है। श्रीपालका पुण्य कर्मका उदय था। जिसे जन्मसे ही अनेक सुख व लाड़ मिला। कुछ बड़ा होनेपर कुष्ठी हो गया। फिर क्या हुआ सो आप जानते हैं। पापका फल कैसा होता है? पश्चात् पुण्योदय आया, कुष्ट मिटा संपत्ति मिली। धवल सेठने मारनेमें कसर नहीं रखी, समुद्रमें गिरा दिया उसे। वह तैर कर पार हुआ, वहाँ भी आधा राज्य व राजकन्या मिली। चारुदत्त सेठको पुण्योदयमें जन्म से ही अनेक प्रकारकी सुख सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। बड़े होनेपर सम्पूर्ण धन वेश्याके यहाँ देकर खो देते हैं। वेश्या पाखानेमें उन्हें ढकेल देती है, वहाँसे भी निकल आते हैं। बादमें धन कमाने जाते हैं तो इच्छित धनकी प्राप्ति होती है, औरों पर संकट आकर जहाज डूब जाते हैं। लेकिन यह कुशलतासे रत्न द्वीपमें पहुंच कर वैभवके साथ निकल आते हैं तथा आगे जानेपर स्त्रीरत्नकी प्राप्ति आदि अनेक सुख मिलते हैं।

४५८. बाह्ययोगकी अस्वायत्तता—बाह्ययोग पुण्य पाप कर्माधीन हैं, किन्तु एक शुद्ध निर्विकल्प तत्त्व मोक्षका कारण है, तब धर्ममार्गमें चलते हुए रागवश उपार्जित पुण्यसे

सुख सामग्रियाँ मिलना तो गेहूंके भूसेके समान हैं। निर्विकल्प समाधि निजका सुख है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है—यह समझमें आना चाहिए। धन वैभव, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बन्धु सब माया है। इनके मोहमें जितने फंसे, उतने दुःख ही उठाने पड़े। इष्ट अनिष्ट सामग्रियाँ समय समयपर मिलती रहती हैं। अभी-अभी करीब १ जुलाई ५८ का उदाहरण है कि हृषीकेषमें जैनमन्दिरके अन्दर एक धर्मात्मा सेठ जी जो कि सामायिकमें बैठा था। किसी क्रूर चित्त वाले दुष्ट व्यक्तिने आकर उनकी हत्या कर दी तथा यहांका एक किस्सा ज्ञात हुआ। एक घरसे नौकर १०—११ हजारका जेवरात ले भागा। इस तरह अनेकों कष्ट उठाना यह भी किसी पूर्वभवके पापकर्मके उदय होंगे। अनेक संकटोंको आँखों के सामने देखकर भी सोचे 'मैं सुखकी स्थिति बना लूंगा' यह कैसे संभव है? अगर कल का भी विश्वास हो जावे तो यह जीव मरे ही नहीं। क्योंकि कल सदैव आता रहेगा और नई नई आशायें नई नई तरंगें लाता रहेगा। यह सब कितनी विषम स्थिति है? यह सोचते-सोचते ही सम्पूर्ण काल व्यतीत हो जाता है तथा इसके मन्दपुण्यमें ही मृत्यु हो जाती है।

४५६. त्यागमें वैभव—भैया! इतनी बड़ी योग्यता पाकर भी परपदार्थोमें ही फंसे रहे, विषयकषायोंका ही सेवन श्रेष्ठ माना, उनसे निवृत्त नहीं हुआ तो फिर क्या स्थिति होगी, इसको कौन क्या कह सकता है? सर्व परिग्रह से निवृत्त होकर श्रेष्ठ पदको प्राप्त करनेकी कोशिश की और वह कोशिश शब्द मात्रमें ही रह गई अथवा मध्यमें ही फिसल गये तो वह कल्याणप्रद मार्ग समझा नहीं गया। इसकी अपेक्षा अपनेमें ही का सन्तोष पान सुखप्रद प्रतीत होता है। इस अज्ञ प्राणीके मोह भावकी विचित्रता है कि अनेकों निश्चय करने पर मध्यमें ही विफल हो जाते हैं। अपने मनका सदुपयोग निर्विकल्प तत्त्व समझने में है। विकल्पजालोंने मेरे तापको खूब बढ़ाया, परकी संपत्ति देख लालायित हुआ। सोचा मैं भी इस सामग्रीका स्वामी होता तो मेरा क्या प्रभाव रहता व सुखी होता। किन्तु सब व्यर्थकी लीलायें समझमें नहीं आतीं। यह क्या रहस्य है? क्यों इनमें बुद्धि अभी तक लगी हुई है? इस मोहबुद्धिका नाश तब होता है, जब वस्तुतत्त्व ज्ञेय होता है। कंजूस करोड़पतिका वैभव किस कामका? वैभवशाली तो वह थे जिनके ९६ हजार रानियां, करोड़ों अरबोंकी बात क्या छह खण्ड पृथ्वी पर एकछत्र शासन, फिर भी वह उसमें से मनमाना दान देकर सर्वसे मोह भाव छोड़कर कल्याण-पथका राही होता है। चक्रवर्ती जब पूजन करता है तब वह किमिच्छक दान देता है। जिसका तात्पर्य होता है जिसकी जो इच्छा हो वह पूर्ण कर दी जाती है। किसी ने २ गाँव, किसी ने ४, ६, १० गाँव आदि जो भी मांगा वह उसे मिल जाते हैं। अन्तमें उस चकित करने वाले वैभवको छोड़कर

दिगम्बर दीक्षा धारण करते हैं। आजके मानवको क्या वैभवशाली कहें कि उसे जो मिला उसीमें सन गया तथा छोड़नेका नाम भी नहीं लेता। दूसरोंको अपने मायाजालका बखान करके दुखी ही करते हैं।

४६०. अपने कर्तव्यका स्मरण—अभी तक प्रमादमें समय काफी निकाला। अब उसे छोड़कर तत्त्वोपयोगमें समय दिया तभी इस नरभवकी सफलता है। कौनसे आगे समयकी क्या सोची जाय कि मैं कल्याण करूंगा? जो आज और अभी कर लिया वह है श्रेष्ठ, अन्य सब निरर्थक है। अगर हम उसे अच्छा समझते हैं तो आजसे ही क्यों न शुरुवात कर दें। कोई जीव ११वें गुणस्थान तकमें भी जाकर कुछ अन्तर्मुहूर्त कम अर्ध पुद्गल परावर्तन समय तक संसारमें घूमा, फिर हमारी असावधानीका फल नहीं मिलेगा। इसके लिए निरन्तर सावधान रहना पड़ेगा। अनीतिकी बात एवं अन्य दुर्भाव न आ पावें इस तरहका कार्य किया जावे। यह सुरक्षा कर सके तो विवेकका कार्य किया अन्यथा कोई भी हमारी रक्षा करने वाला नहीं है। यह जगत् सारा नंगाका नंगा है, कोई भी इसकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। जो औरोंकी रक्षा करना सोचते हैं वह स्वयं रक्षा नहीं कर पाते। अपनी जिम्मेदारी अपने ऊपर ही है। परिवारके लोगोंको भी वह धर्म बतावे, वैसी उनमें भावना भरे कि वह भी इसी रंगमें रंग जावें। तब फिर स्वयंको कोई बाधा नहीं आ सकेगी एवं परिवारवाले इस शुभ कार्यमें प्रोत्साहन ही देंगे तथा उस तरहकी सामग्री उपस्थित करेंगे। यदि स्वयं ही विपरीत मार्गपर चलते रहे तब तो रक्षा करेगा कौन? लेकिन अपने आप स्वाभाविक वृत्तिको अपनाकर सीधे मार्गपर चलने लगे तो कोई शत्रु नहीं है। स्वयं शान्त रहें तो उसका प्रतिकूल चलने वाला कौन आवेगा? अगर आ भी जाय तो अपनी शान्ति देखकर स्वयं लज्जित होकर चला जायगा। यहाँ सुकमाल मुनि जैसा शरीर विदीर्ण नहीं किया जा रहा है तथा सुकौशल मुनि जैसी चीथ-चाथ नहीं। फिर भी अनुभव कर रहे हैं लोग कि हम बड़े दुःखी हैं। आपत्ति की कोई विशेष बात नहीं दिखती है, किन्तु इच्छाओंसे ही आपत्तियाँ अपनेमें बना ली हैं। ऊपरी रंग ढंगसे शान्त सुस्थिर मधुर वचन बोलते हुए भी, मनके अन्दर विद्वेष, ईर्षा आदिके भाव तथा पर-पीड़न रहा तो क्या वह स्वांग जैसा ही नहीं है? क्रोध, मान, माया, लोभका फल भी अपनेको ही भोगना पड़ेगा तथा ज्ञाता द्रष्टाका सहज आनन्द कहीं बाहरमें नहीं बिखरा है, किन्तु अपनेमें ही समाया हुआ है।

४६१. उपयोगका विलास—जो अत्यन्त विरक्त ज्ञानी होगा वह परपदार्थोंमें नहीं बसेगा। सब खेल उपयोगका है, यह तो केवल भाव मात्र बनाता है। जो पदार्थोंका यथार्थ-यथार्थ ज्ञान करता है वह सच्चा ज्ञानी है। यह पदार्थ जो जाननेमें आ गये हैं,

यह दृश्य मेरी आत्माके व्यापार नहीं है। जैसे दर्पणके सामने कोई वस्तु रखी है, वह दर्पणमें नहीं है। किसी की नाकमें कुछ काली वस्तु लगी होनेपर वह दर्पणमें चेहरा देखकर नाकसे ही उक्त वस्तुको छुटाता है, दर्पणसे नहीं और न दर्पणको अपना सिर मानता है। दर्पण तो एक प्रतिविम्व देखनेका साधन मात्र है। चैतन्यस्वरूप आत्मामें प्रतिविम्व हो जाय तो भी ज्ञानीको सर्व पदार्थ जुदे जुदे ही प्रतीत होंगे। यह आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है सो जाननवृत्ति करता रहेगा। ज्ञेयाकार पर्याय अपना फल देते रहेंगे। किसी भी पदार्थमें यह भाव न करें कि क्या रखा जाननेमें? जो जाननेमें आयगा वह अपने आप परिणमेगा। पदार्थ ज्ञेय बने तो भले बन जाओ, किन्तु मैं स्वयं नहीं उन्हें अपना बना कर व्याकुल हो सकता। उन पुद्गलोंका द्रव्योंका आत्माके साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है तभी पुद्गल परिणाम जिसमें निमित्त है या जिसका विषय बना है वह ज्ञात ज्ञाताके ही व्याप्य है। हमारा परिणमन हममें है और पुद्गलका परिणमन पुद्गलमें है। कोई भी चेतन या अचेतन हमारी आकुलता या अनाकुलताको पैदा नहीं कर सकता। हमारी स्थितिको बिगाड़ने या सुधारने वाला कोई नहीं है। दो लड़कोंमें एक ने चुभने वाली बात कह दी तो एक थप्पड़ मारता है तथा वह बदलेमें गालियाँ देता है। दोनोंका क्रम बराबर चालू है। थप्पड़ मारने वाला भी नहीं रुकता और गाली देने वाला भी नहीं। अगर गालियां देना बन्द कर दे तो थप्पड़ भी उसमें न पड़ें। हम अपनी वेदनाको मिटाना चाहते हैं तथा मिटानेका उपाय भी उन्हींको मानते हैं जिनसे दुःख उत्पन्न हुआ है। यह परम्परा जब मिटे तब अज्ञान हटा कहलावेगा और हम सुखी हो जावेंगे। मेरे स्त्री, पुत्र आज्ञाकारी हैं, धन वैभव मकानादि सब हैं, इन कारणोंसे अपनेको बड़ा मानते हैं। अगर भाई बड़े होते तो हम बड़ोमें ही नहीं बैठते। इन संसारी प्राणियोंके छोटेपनमें क्यों आते? बड़े तो सिद्ध महाराज हैं, उनकी पंक्तिमें बैठकर स्वात्मरसका पान करते रहते। अगर यों ही बड़े होकर कुछ कर भी लिया और फिर वनस्पतिकायिक हो गये तो 'दमरी रूंकन भाव बिकाया' अर्थात् दमरी छिदामोंमें या रूंकन (फटकने का अनाज) में बिकता फिरूंगा।

४६२. अपना अजायबघर—जिसका जितना भी समागम है वह उसीमें अपनी शान बढ़ाना चाहता है। यहाँ लौकिक शान बढ़ानेका जिसने जितना प्रयत्न किया वह उसकी आत्मशान हटानेके उतने ही घातक होंगे। विभाव हटाकर स्वभावमें आना अपनी सच्ची शानकी बपोती है। यह संसार तो अजायबघर है। जो भी अजायबघरमें गया और स्वभावके प्रतिकूल या चपरासीसे बिना आज्ञा लिए कोई चीजको स्पर्श किया तो वहाँ गिरफ्तार कर लिये जाओगे। इस अजायबघरमें जिन्दा जानवर शेर, चीते, पक्षी, सारस, हंस, हरिण, मैंना तथा मरे विषैले सर्प, बिच्छू आदि सभी मिलेंगे। अब उनसे हमें क्या

शिक्षा लेना है, यह सोचना चाहिए। हाथी, मछली, हिरण, पतंगा (पंछी) अपने एक-एक इन्द्रिय विषयके भोगोंकी इच्छा या भोगनेके लालचसे प्राण गमा बैठते है,. तब हम तो पंचेन्द्रियोंके भोगोंमें रत हो रहे हैं। पाप अनाचार भी कुछ नहीं देखते, तब हमारी क्या दशा होगी ? यह भी थोड़ी देर शान्तिसे सोचें।,शहरोंमें बने अजायबघरसे इस जीवने भी कम संग्रह नहीं किया है जो सदैव क्लेश देते रहते हैं। कोई सोचे इस संसाररूपी अजायबघर नहीं आवें तो कर्मवर्गणाओं से नहीं बच सकता, वह यहाँ खींच लाती है। कर्मवर्गणाओंसे बचने के लिए ज्ञाता द्रष्टा स्वभावपर दृष्टि जमावे तो कार्य सिद्ध होवे। वह दिन सभीका आने वाला है कि जो जो पदार्थ समागममें आये हैं उन्हें छोड़कर जाना होगा। हम संयोगविषयक पदार्थ से जरा भी शान्ति नहीं ले सकते। अन्य पर्यायमें गये वहाँ भी दुःखोंके चक्करमें पड़ेंगे। इसलिए सोच समझकर अपनी वृत्ति बनावें और मायाजालसे छुट्टी ले लेवें।

४६३. व्याप्य और व्यापक—यह दोनों बातें एक ही पदार्थमें होती हैं। जैसे उंगली को कभी टेढ़ी करते हैं तथा कभी सीधी करते हैं, कभी बन्दूक जैसी शक्लमें दिखाते हैं. कभी प्रभाव डालने के उपदेश देते समय ऊंची, नीची करके दिखाते हैं, कभी बच्चोंको तंग करनेके लिए मटका मटका कर संकेत करते हैं, कभी हाथकी सब उंगलियों सहित शान्त रहने चुप रहने को या मना करने को दर्शाते हैं—इन सब भिन्न-भिन्न दशाओंमें अंगुली व्यापक हैं तथा हम जब सीधी उंगलीकी पर्यायको ही ग्रहण करते हैं तब वह व्याप्य हैं। निश्चय दृष्टिसे पर्यायका कर्ता वही द्रव्य हुआ, दूसरा कोई नहीं। इस तरहका विवेक जब उत्पन्न हो जाता है तब उस ज्ञानसे केन्द्रीभूत हो जाता है और उसी समय अज्ञान अन्धकारसे दूर हो जाता है। जो पदार्थोको जुदे-जुदे मानता है, किसी पदार्थका भी अन्य पदार्थसे लगाव नहीं है, वह ज्ञानी कहलाता है तथा जो पदार्थोंको न्यारे नहीं मानकर एक दूसरेका सम्बन्ध मानता है वह अज्ञानी है। पदार्थ जिस अवस्थामें परिणमन कर रहे हैं उन्हें उसी तरहके माननेसे आकुलता पैदा नहीं होती है, यह शान्तिका उपाय है। एवं पदार्थोंको अन्य-अन्य रूप ही विकृत दशामें परस्पर सम्बन्धित मानना आकुलताका का कारण है। अमुकका अमुक कर्ता है, अमुक कर्म है, इस संकरबुद्धिका नाम मूढ़ता है। जब पदार्थोंको जाननेका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो अज्ञान अन्धकार विलीन हो जाता है। यह अपने आप पर्यायोंका कर्ता है, इसके विपरीत सोचा तो अज्ञान है। जब तक यह प्रतीति है—स्त्री मेरी है. पुत्र मेरा है, इनसे सुख मिलता है, उनमें एकताका सम्बन्ध किया—यह सब अज्ञान है।

४६५. कल्याणवृत्तिसे ही मानवजीवनकी सफलता—चक्रवर्ती, कामदेव अर्धचक्री राजा, महाराज आदि हुए। उन्होंने पहले धन वैभव राज्य संपदायें बसाईं, बादमें उन्हींको

इस तरह उजाड़ा कि किसी को दानमें कुछ दिया, किसीको कुछ अथवा सर्वस्व छोड़ दिया, पश्चात् वह मुनि हो गये तो साथमें ही सबके सब या अनेक पुत्र मुनि हो गये और स्त्रियां अर्जिकायें हो ध्यानमें लवलीन हुईं। अब एक बालभर पदार्थको भी अपना नहीं मान रहे हैं। बस अब तो सब उजाड़ कर आत्माको बसानेमें ही संलग्न हैं। यहाँ उनका उजड़ा कुछ नहीं, केवल अपने वैभवको बसानेका भाव हुआ। घर ही घरमें रहे आये और उन्हें छोड़ कर कल्याणकी ओर प्रवृत्ति नहीं की तो मनुष्य-भव पाकर क्या किया ? जिसने मनुष्यभव पाकर स्वयंके कल्याणमें रुचि जागृत नहीं की वह मनुष्य होकर मनुष्य गतिके ४८ भवोंमें से अपनी संख्याको ही घटा देता है। ऐसा नियम है मनुष्यगतिमें ४८ बार जन्म हो सकता है। १६ पुरुषके १६ स्त्रीके तथा १६ नपुंसक के, और नहीं भी हो, यह नियम नहीं, किन्तु अधिकसे अधिक ४८ बार मनुष्यगतिमें लगातार पैदा होकर जन्म मरण कर सकता है। त्रसपर्यायके कालमें मनुष्यके साथमें आता जाता कुछ नहीं है, विवेक इसीमें है कि विकल्पोंको छोड़कर शान्तिका अनुसरण करें। जिसको परवस्तुओंके प्रति ममता नहीं है वह लोकमें ऊंचा है। पूज्य दृष्टिसे वह देखा जाता है, उसके लिए मनुष्य अपना सब कुछ छोड़नेको भी तैयार हो जाते है। जो लोकमें अपनेको परपदार्थोंका कर्ता माने वह लोकमें भी अच्छी तरह नहीं देखा जाता है। जो यह कहता है मैंने अमुक कार्य किया, दूसरेका पालन पोषण आदि किया उसे महत्त्व नहीं दिया जाता।

४६६. **कर्तापनकी बेहूदी बात**—कर्तापन की बात बकना बेहूदी बात है। मैंने कुछ नहीं किया, मेरी तो बात क्या, मुझसे बड़े बड़े राजाधिराज हो गये हैं, उन्होंने स्वयं लौकिक पदार्थोंके प्रति कुछ नहीं कर पाया। मेरी तो बात या हस्ती कितनी है, मैं व्यर्थमें उलझा हुआ हूँ, यह विचार जब पैदा हुए तब इसकी शोभा है। कर्तापनकी बात बेहूदीके सिवाय और कुछ नहीं है। कोई गृहस्थी की अनापशनापकी बात कहने लगे तो उसे सज्जन धर्मात्मा सुनना भी नहीं चाहते, तब उस पदार्थकी प्रवृत्ति करना तो बुरी ही है। जिन कार्योंसे भला नहीं उन्हें छोड़ देना ही उचित है। देहातोंमें अगर कोई मांसका संकेत बताना चाहता है तो उसके लिए माँस न कहकर आगलूअर आदि शब्दोंके द्वारा उच्चारण करते हैं। लेकिन आज तो शहरोंमें खुल्लमखुल्ला इस शब्दको कहनेमें नहीं चूकते तथा शौच जानेके लिए झाड़ो जाना, हाथ मुंह धोना, बाहर जाना आदि शब्द बोलते थे, किन्तु अब तो जिस चाहे व्यक्ति छोटे बड़ेके द्वारा सुन लो टट्टी, संडास, पाखाना आदि। जिस बातको सुनना तथा कहना अच्छा नहीं लगता। मालूम होता है वह बात नियमसे भद्दी है और भी देखो किसी ने मन्दिर बनवाया, धर्मशाला बनवाई तो वह पंचोंमें कहता है कि भाइयों ! मैंने कुछ नहीं बनवाया है यह सब आपका आशीर्वाद है, प्रसाद है आदि आदि। जिसके कर्ता की बात

कहना बुरी मालूम होती है तो सम्भो उसमें कर्ताकर्मपनेकी बात मानना नियमसे भद्दी है। इतनेपर भी मोही जगत्के कर्ता बने फिरते है। सोचना यह चाहिए कि मैं भावमात्र करता हूं। वही भाव विकाररूप परिणत हो जाते है। यह तो भावरूप है।

४६७. आत्माकी महती कृति निर्मलपरिणति—अब मेरा क्या कर्तव्य हो जाता है? तत्त्व ज्ञानकी बात, ध्यानकी बात खूब सीखें, कल्याणका यही सही मार्ग है। यह बात मनमें आ जानेपर निर्धनता आदि कुछ नहीं कर सकते। मुझे ज्ञान ही करना चाहिए, यह बात मनमें आजावे तब गरीबी आदि कुछ नहीं खटक सकती। वह अपना रहनसहन उसीके अनुकूल बना लेगा। बारीक कपड़े न पहने, मोटेसे काम चला लिया तथा विलासप्रिय इन्द्रियोंको उत्तेजना देने वाला भोजन नहीं किया। तब शरीर तो स्वस्थ रहेगा ही एवं सभी बचत होकर द्रव्यको दूसरे कार्योंमें लगा सकेगा। गरीबोंको दान देना या धार्मिक कार्यमें खर्च करना हितकारी है। सादा रहनसहन बनानेका पूर्ण इरादा होना चाहिए। जो ५० का प्रतिदिन भोजन करता है क्या वह ।।) में भोजन करने वाले गरीब से १०० गुणा स्वास्थ्य बढ़ा लेता है या १०० गुणा अधिक कार्य कर लेता है? यह कुछ भी नहीं देखनेमें आता। पुण्यकर्मसे कठिनसे कठिन कार्य जरासे प्रयत्नसे सफल हो जाते हैं। अगर नहीं भी होते हैं तो विषाद करनेकी जरूरत नहीं। क्योंकि अपनी तो बात क्या पूर्वभवके पापसे महापुरुषोंको भी बाह्य दुःख उठाना पड़ते है, दुःख आवे तो चिन्ता नहीं। ऐसा ज्ञानी कर्तापनसे दूर हो जाता है। मैंने कोई कार्य किया या करूंगा, मेरे बिना कोई कार्य हो नहीं सकता, मेरे द्वारा कितना बड़ा कार्य हो गया, इस तरह सोचना परमें ही फंसना है। बड़ा कार्य तो आत्माका करना पड़ा है उसे करना चाहिए। अगर निर्मलता नहीं बनती तो कोई बड़ा कार्य नहीं किया।

४६८. ज्ञानमात्रमें कर्तृत्वका अभाव—यह जीव पुद्गल कर्मको तो जानता है, किन्तु पुद्गलको जानता हुआ उनका कर्ता नहीं होता है और न कर्मका ही सम्बन्ध बैठता है। अगर जानने से कर्ता हो गये तब तो आगके जाननेपर आगके कर्ता हो गये तथा जब आग बुझी पड़ी ही तो उसको देखने मात्रसे आग जल जाना चाहिए। देखनेसे कर्ता होते तो अनेक विडम्बनायें सामने उपस्थित हो जाती है तथा जाननेसे भोक्ता होते तो आगसे आँख जल जाती। जवान लड़कीको विदा की जाती है तो वह पितासे, बड़े भाई आदिसे कंधे से लगकर भेंट करती है। तो यहाँ भावोंमें कितना गहन अन्तर रहता है? देखने जानने से अपराध होवे तो सिद्ध भगवान् सबसे ज्यादा अपराधी सिद्ध होंगे। यह जीव पुद्गलको जानना हुआ भी उनका कर्ता नहीं है। न उन जैसा परिणमन करता है। एक किसान खोड़िया (खाती) में चना भर रहा था। इतनेमें एक होशियार आदमी आकर बैठ गया

तथा खोड़ियामें आधा चना (देउल) डाल दिया और बोला– इसमें आधा चना हमारा है तो क्या वह स्वामी हो गया ? अतएव देखने जाननेसे या विकल्प करनेसे भी स्वामी या कर्ता नहीं हो सकता। माँ अपने बच्चेको ज्यादा भी पीट देती तो बुरा नहीं माना जाता अथवा तंग आनेपर नाश लगे, पैदा होते ही मर जाता आदि शब्द कहे जाते हैं, किन्तु वह क्या यह सब मनसे चाहती है ? सुसरालमें जानेपर वहां कितनी गालियां सुननेको नहीं मिलतीं, फिर भी उन्हें सुनकर दामाद बुरा नहीं मानता। तो मनसे भाव परखे जाते है। अगर वही गालियाँ कोई दूसरा देवे तो लेनेके देने पड़ जावें। देहाती मनुष्य गालियों से पैरोंसे मुक्कोंसे आपसका सत्कार (राम राम) करते हैं, तब भी वहाँ भाव यथार्थमें उक्त प्रकारके न होकर प्रेममयी ही रहते है।

४६९. **ज्ञाताके कर्मोंका अकर्तृत्व**––जो ग्रहण किया जाता है वह प्राप्य कर्म है। जैसे 'राम गाँव को जाता है तथा पुद्गलोंके प्रति खोटे भाव बनाता है' यह विकार्य कर्म है। जैसे दूधका दही बन गया। चाँदीका गहना बना लिया। इस तरहका निर्वर्त्य कर्म है। कर्मोंमें स्वभावके विरुद्ध बात नहीं होती है। कर्म पुद्गलोंसे रचे गये हैं, विकारी हैं तथा जो कर्म प्राप्त किये हैं वह प्राप्य कर्म हैं। एक ही जीवमें या पुद्गलमें किसीमें भी कर्म प्राप्य विकारी और निर्वर्त्य तीनों हैं। जीव कर्मोंका कर्ता कैसे हो जाय जब तीनों प्रकारका कर्म अपने स्रोतमें ही व्याप्य है। पुद्गलकी दशा पुद्गल है और जीवकी दशा जीवमें है। जब रोटी की जाती है तो लोई बनाई, बेली जाती, तवेपर रखी तथा अग्निपर उतार कर सेंक ली जाती है। निश्चयसे यहां रोटीकी बनाने वाली महिलायें नहीं हैं। अगर वह रोटी की कर्त्री होती तो हाथ रोटी रूप हो जाना चाहिए था। हाथका अंश रोटीमें नहीं गया और रोटीका अंश हाथमें नहीं गया। कर्मोंकी दशायें जब बनती हैं तब प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग बन्ध ही बनेगा। प्रकृति बन्ध होनेसे सुख दुःखकी प्रकृतिका अनुभव होगा या कारण होगा। यह कर्म इतने समय तक रहेगा इसको स्थितिबन्ध कहते हैं। प्रदेश पाकर यह इतने प्रदेशोंमें सत्तासे स्थित है यह प्रदेश बन्ध है तथा अपना फल देकर कर्म खिर जायेगा यह अनुभागबन्ध है। कर्म स्वयं ऐसा करते हैं, तुमने या हमने क्या किया ? भोजन को उठाकर पेट मात्रमें तो रख लिया, इससे ज्यादा क्या किया ? अब उसका समय बीतने पर मलमूत्र, पसीना, खून, मज्जा, हड्डी और वीर्य रूप परिणमन होगा। स्वतः अमुक हिस्सा इतने समय तक रहेगा, इस तरह की स्थिति किसीने बनाई है क्या ? वह स्वयं बनी है। आप कुछ नहीं करते, आप तो पेटिकामें बिना पते का यह माल भर डाल देते हैं। उसके बाद रुधिर, पसीना, मज्जा, हड्डी, वीर्य की शक्तिका अनुभाग होगा वह निमित्तनैमित्तिक भावसे स्वयं। यहां तो केवल कषाय भरकी जाती है। इसलिए कर्म निमित्तनैमित्तिक

सम्बन्धसे अपने आप आ जाते हैं। कर्मोंका करने वाला जीव नहीं है, वह अपने आप परिणमते हैं। इस तरह जीव अपने आप कर्ता व कर्म है। हम जानते जरूर हैं, किन्तु कर्मोंके कर्ता नहीं होते हैं।

४७०. **बन्ध हटानेके उपायकी आवश्यकता**—अनादिकालसे जीव और पुद्गलका सम्बन्ध चला आ रहा है। एक दूसरेकी कषायका मेल होनेसे कर्मोंका बन्ध करते हैं, यह क्रम सदैवसे चला ही आ रहा है उसे हटानेकी शक्ति आत्मामें है। जब कि अनादिकालसे दुःख उठाने में ही लगे हैं तो अब उस दुःखको दूर करनेके लिए कुछ समयकी व उपायकी जरूरत है। जिस तरह शुरू शुरूका रोग जल्दी काबूमें आ जाता है तथा गठिया, तिल्ली, श्वास कई वर्षोंके रोग हो जानेपर उनमें अधिक समय लगता है। उसी तरह अनादिकालीन रोग हटानेके लिए समयकी व उपायकी अपेक्षा है। उस समय तत्त्वज्ञानरूपी औषधिका पान किया जायेगा तथा उस औषधिसे विवेकरूपी झरना फूटेगा, जिससे कि गन्दले पानीको नीचे बैठा देगा और स्वच्छ पानीका स्रोत निकलेगा जो कि पानी बह बह कर धीरे धीरे गन्दगी दूर हो जायगी। 'करत करत अभ्यासके जड़ नर होत सुजान। रसरी आवत जावतें सिल पर परत निसान'॥

४७१. **स्वमें ही व्याप्यव्यापकता होनेसे जीवका कर्ममें अकर्तृत्व**—यद्यपि जीव परिणामके निमित्त बिना कर्म अपने आप नहीं बनते तथा जीव न तो पुद्गलरूप परिणमता है और न उस रूप पैदा ही होता है और न जीवका विकार है। इसलिए कर्म जीवका नहीं है। कर्म तो अपनेमें ही व्यापक है। पुद्गलके अपने कर्ममें पहले मध्यमें और अन्तमें व्याप्त होकर पुद्गल ही रहा। पुद्गलके द्वारा ही कर्म ग्रहण किया गया, पुद्गलका ही विकार रहा तथा उसी विकाररूप परिणमन हो गया। ऐसा जानता हुआ भी ज्ञानी पुरुष स्वांगकी पर्यायोंमें व्यापक रहता है। इसलिए यह जीव पुद्गलसे न बनता है और न उसके द्वारा परिणमन ही करता है। पुद्गलके जो कर्म हैं वह पुद्गलके द्वारा ही प्राप्त किये गये है, पुद्गलके ही वह विकार हैं या पुद्गलके विकारमें आये है, तथा पुद्गलके द्वारा ही रचे गये हैं। यह जानते हुए भी जीवके साथ कर्ताकर्मका सम्बन्ध नहीं है। जीव अपने कर्मको जानता हुआ भी आत्माका जो परिणमन होता है वह पुद्गलका परिणमन नहीं है। पुद्गल का जो परिणमन है वह जीवका नहीं है, जीव पुद्गल कर्मका करता नहीं है। किन्तु पुद्गल का जो परिणमन हुआ वह जीवसे न्यारा होता है तथा जीव उसके ज्ञानका कर्ता हो सकता है। अब शिष्य प्रश्न करता है कि पुद्गलका अपने परिणामको जानने वाले जीवके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है या नहीं? उसीको गाथा द्वारा भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य स्पष्ट करते हैं।

णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाये ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ।।७७।।

४७२. ज्ञानीका सर्वत्र निर्बाध ज्ञातृत्व——यद्यपि ज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अप परिणमनको जानता है तो भी परद्रव्यकी पर्यायमें न परिणमता है, न परद्रव्यकी पर्यायको ग्रहण करता है और न परद्रव्यकी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। ज्ञानी जानता है अपने परिणामोंको जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न होते है उन्हें जानता है। किन्तु यह जीव परद्रव्योंकी पर्यायोंमें न उत्पन्न होता है और न उनमें जाता है। पुद्गलने पुद्गलकर्म है ग्रहण किया है तथा उसके द्वारा विकारको प्राप्त हुआ है एवं पुद्गलकर्मसे रचा गया है- ऐसा ज्ञानी जानता है, फिर भी उस पुद्गलमें लगता नहीं है। ज्ञानी अपने उन सब परिणामोंको जानता है। ज्ञानी अपने स्वभावका ही कर्ता है। सही बात एक प्रकारकी ही होती है। यह जीव पुद्गल कर्मको जानता हुआ भी पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक भाव चल रहा है, किन्तु उनमें कर्ता कर्मकी कल्पना संभव नहीं है। यह जीव खुद ही परिणमन करता है। दूसरे किसीके साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है। पुद्गल द्वारा प्राप्य विकार्य निर्वर्त्य कर्मके द्वारा यह जीव सहित हो रहा है, तो भी कर्म पुद्गलके द्वारा रचे गये हैं उनका करने वाला जीव नहीं है। आत्मामें विभाव सम्बन्धी जो बात होती है, वह आत्माने अपना ही परिणमन किया है, उन परिणमनोंको यह जीव जान रहा है, पर जीव उन कर्मोंको प्राप्त नहीं करता है, परिणमाता नहीं है, उत्पन्न करता नहीं है। परिणमनोंको जानता हुआ भी जीवके साथ पुद्गलके कर्ता कर्मकी बात नहीं है। परपदार्थोंको जानना बुरा नहीं है, किन्तु उन्हें जानकर इष्टानिष्टकी कल्पना न हो तो देखता जानता हुआ भी ज्ञानी है। इष्टानिष्ट बुद्धि कर्मोंसे छुटकारा नहीं होने देती है। जैसे युवा स्त्रीको दूसरेके घर घूमनेका स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, क्योंकि अगर वह रोजबरोज पराये घरोंमें समय बितावे तो शीलकी अपेक्षा सन्देहसे देखा जाता है। लेकिन वृद्धाओंको कौन रोकता है? जिस ज्ञानीमें यह ताकत है कि परपदार्थोंको देखता जानता हुआ भी उनमें लेश मात्र भी मोहके भाव नहीं लाता, वह दुनिया भरको जाने, उसे मना करने वाला कौन है? किन्तु ऋषियोंने रागियोंको इसके लिए कहा है कि पुराने संस्कार परपदार्थोंमें मोहके चले आ रहे हैं, इसलिए उस तरफ उपयोग न लगाओ। जिसका उपयोग निर्मल है जिसके संस्कार शुद्ध हो चुके हैं वह सारे विश्वको भी जाने तो उसे कोई नहीं रोकता है। जिसके संस्कार अत्यन्त मलिन हैं, जरा-जरासे कारणोंसे ध्यान विचलित होकर अन्यत्र बंट जाता है उसे अपना उपयोग संभालनेके लिए सतर्क किया है।

४७३. ज्ञानकी अन्तर्वृत्तिका एक व्यवहारिक रूप— वारिषेण मुनिराज थे। उनके

पास पुष्पडाल गया तथा विरक्तताके परिणाम जाग्रत हो गये, अतएव वारिषेण मुनिसे पुष्पडालने मुनि दीक्षा ले ली, किन्तु वह घरपर स्त्री वगैरहसे आज्ञा लेकर नहीं आया था। गृहस्थावस्थामें ही पुष्पडाल जब वारिषेण मुनिको आहार देकर जंगलमें भेजने जा रहा था तब २, ३ मील निकल आने पर पुष्पडाल कहे 'यह वही तालाब है जहां अपने नहाने आते थे, यह वही वृक्ष व धूल है जिस पर खेलते थे।' उसका मतलब यह था कि वारिषेण मुनि कह देवे कि लौट जाओ। लेकिन उन्होंने कुछ नहीं कहा। तब वह भी बढ़ता गया। समयकी बात है उसको वह वातावरण अच्छा लगा और मुनि हो गया था। पुष्पडाल के मुनि हो जाने पर भी उसके परिणाम घरकी ओर चले जाते थे। यह वारिषेण मुनि-राज ने देखा तो उन्होंने अपने घर मांके लिए समाचार भेजा कि सभी रानियोंको सजाकर बैठावें। मां ने समाचार पाकर दुःख माना कि यह मेरा पुत्र मुनि होकर भी इन पदार्थोंमें क्यों रुचि कर रहा है? लेकिन यहां बात दूसरी ही थी। वारिषेण तो पुष्पडालको अपनी रानियोंकी सुन्दरता धन वैभवको दिखाकर चकित करना चाहते थे, कि वारिषेण इतना सब कुछ छोड़ चुका, फिर मैं पुष्पडाल क्यों अपनी कानी स्त्रीके लिए ही इतना सोच रहा हूँ? दोनों मुनि आये। उन्हें काठका व सुवर्णका सिंहासन बैठने को दिया गया। माता ने सोचा था, अगर यह वारिषेण इन पदार्थोंसे प्रीति करता होगा तो सुवर्णके सिंहासनपर बैठ जायगा। वारिषेण सुवर्णके सिंहासन पर नहीं बैठ कर काठके सिंहासनपर बैठ गया तथा पुष्पडालको सुवर्णके सिंहासन पर बैठाया। दूसरा कोई बैठावे तो उसमें रुचि नहीं मानी जाती। सभी रानियां सज धजकर अपने-अपने आभूषणोंमें अद्वितीय शोभाको प्रगट कर रही थीं, जिसके महलमें हर एक तरहकी सामग्री उपलब्ध थी। यह सब पुष्पडालने देखा तो उसे स्वयके ऊपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कहां तो यह वारिषेण इतनी रानियोंको छोड़कर मुनि हुआ है जिसे जरा भी उनके प्रति मोहके भाव पैदा नहीं हुए और कहां मैं जो यह सोचता रहा कि स्त्रीसे पूछ कर नहीं आया हूँ। यह सब देखकर दोनों मुनि जंगल को चले गये। पुष्पडाल सदैवके लिए इस शल्यको छोड़ चुका तथा उसकी आत्मध्यानकी तल्लीनता निर्विघ्न पूर्ण होने लगी।

४७४. ज्ञानवृत्तिमें चर्याका व्यावहारिक रूप—गृहस्थावस्थामें जिसे स्वीकार किया था वह मुनिकी भी स्त्री मुनिको आहार देनेके लिए पड़गाहेगी तो क्या आहारको नहीं आवेंगे? स्त्री, मान लो स्त्री थी। वहां तो स्त्री होने न होनेका भाव ही समाप्त हो जाता है। अगर किसी त्यागीने अपने गौरव न बढ़ाने के लिए फोटो खिचानेका त्याग कर दिया है तो वह जानकर फोटो नहीं खिचावेगा, किन्तु अचानक कोई खींच लेवे तो उसका दोष नहीं। यह अपनी अहंबुद्धिका त्याग कर चुके, इसलिए फोटो खिचानेमें भी रति नहीं है।

बाह्यवस्तुका जो त्याग किया उसका अन्तरङ्गमें भी भाव नहीं आवे तब उत्कृष्ट त्याग है। बाहर परिग्रह पड़ा रहे उसके प्रति उपेक्षा भाव है तो वह अन्तर्वृत्तिसे भी नहीं चाहेंगे। उपवास करनेपर भोजनके प्रति परिणामोंका भी अविरोध होना चाहिए तथा आत्माके समीप रहनेका भाव चित्तमें समाया रहना चाहिए। साधु चर्याको निकलते हैं, किन्तु भोजन में पर्याप्तबुद्धि नहीं है तथा चर्याको न जावें, फिर भी भोजनमें भाव रहे तो वह अन्तरङ्गसे भोजनका त्याग नहीं है। मैं त्यागी इसलिए हूं कि मेरे चरण पूजे जाते हैं, जगह-जगह प्रशंसा होती एवं श्रेष्ठ माना जाता हूं तथा भोजन भी भक्तिभावसे मिल जाता है—इस तरहके भाव होनेपर त्यागपनेको भी कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा शुद्ध चैतन्य-मात्र है, इसका भान होनेपर लाभ है अन्यथा कोई लाभ नहीं। आत्मामें व्याप्य व्यापकपना अपने गुणोंके साथ है इसलिए आत्मा अपने गुणोंका कर्ता है, पर्यायका कर्ता नहीं है। यहाँ पुद्गलोंके परिणमनोंका ज्ञान होता हुआ भी कर्ता नहीं है। ज्ञाता द्रष्टाकी स्थितिमें अकर्ता नहीं है।

४७५. स्वपरिणामके जानकार जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मका अभाव—ज्ञानी जीव उन पुद्गल कर्मोंके उदयके निमित्तसे अथवा अन्य अवस्थाओंके निमित्तसे जो कुछ भी अपनेमें परिणाम होता है उसका भी यह जाननहार रहता है, पर परद्रव्योंकी पर्याय रूप न यह परिणमता है, न उसे ग्रहण करता है, न उत्पन्न होता है। हये परिणाम अपनेमें तो अपने परिणामका यह ज्ञाता तो है पर पुद्गलके साथ इसका कर्ता कर्म भावका सम्बंध नहीं है। यहां तक ये दो बातें बतायी गयीं। इससे पहिली गाथामें तो बताया था कि पुद्गल कर्मके साथ जीवका सम्बंध नहीं है, कर्ता कर्म भाव नहीं। इस गाथामें बताया जा रहा कि इस तरह भी कोई जीवको पुद्गल कर्मका कर्ता नहीं कह सकते कि आखिर पुद्गल कर्म के उदय आदिकके निमित्तसे आत्मामें परिणति तो होती है, इस प्रकार भी कर्मका जीवके साथ कर्ता कर्म सम्बंध नहीं है।

४७६. उपायविचय धर्मध्यानकी उपयोगिता—किसी समय बड़ी परेशानीका अनुभव होता है। मैं किस तरहके भावोंमें बह रहा हूं ? किस तरह इनसे छुट्टी लूं। इन परेशानियोंमें पड़नेके बजाय अपने शुद्ध चैतन्य आत्माका चिन्तवन किया जाय। कर्मोदयका दुःख भी मैं भुगताता हुआ भी विवेक भावोंको न खोऊं—यह भाव जागृत होनेसे विभावों से छुटकारा पाता हुआ शुद्ध स्वरूपमें जुटनेका प्रयत्न करना चाहिए। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव बहुतसी प्रवृत्तियोंसे छूटता है किन्तु विभावोंसे विवश होनेके कारण औपाधिक भावों से नहीं छूट पाता है। कभी ऐसा होता है बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेपर भी उनके प्रति चित्त दौड़ दौड़ कर जाता है तथा बाह्य पदार्थोंको न त्यागनेपर भी उनसे उपेक्षा हो

जाती है। कुछ कहते हैं कि अगर किसी तरहका नियम ले लें तो उन पदार्थोंको खाने भोगने की बार बार इच्छा होती है, इससे बिना नियमके निभाना चाहिए। यह कोई कारण नहीं है। नियमोंके बन्धनमे बंध जानेसे तथा सच्चा ज्ञान जागृत होनेपर जो नियम लिया जाता है उनके प्रति रुचि न जाकर विरक्तिका ही कारण बनता है तथा नियम लेनेके बाद अगर मृत्यु हो जाय तो उन नियमोंके फलका प्राप्त कर्ता होता है, किन्तु बिना नियम लिए असमयमें ही कालकवलित हो जाय तो किसी प्रकारके नियमोंके फलसे वंचित रह जाता है। सर्वसे श्रेष्ठ बात विकल्पजालोंसे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञानी जीव निरर्थक ही विकल्पोंको बसा लेते हैं। भरत चक्रवर्तीके वैभवका वर्णन 'भरतेश वैभव' में बड़ा रोचक किया है। उसमें सोने, उठने बैठने, भोजन करने, रानियोंसे वार्तालाप करने, राज्य संचालन का वर्णन बड़े ही ठाटसे दिखाया है। सभी का वर्णन क्रम क्रमसे होता जा रहा है और रत चक्रवर्ती उनसे विरक्त होते जा रहे हैं। भरत वरमें ही वैरागी की यही विशेषता है कि कपड़े छोड़नेके पश्चात् एक मुहूर्तमें केवलज्ञान लक्ष्मीके धनी हो जाते हैं। यह मोहियों को कैसा चकित करने वाला ज्वलंत उदाहरण है।

४७७. स्वपरिणामज्ञाताके कर्मकर्तृत्वका अभाव— अपने परिणामको जानते हुए इस जीवका कर्ताकर्म भाव है या नहीं? जीव और पुद्गल इन दोनोंको जाननेकी प्रवृत्ति जागृत हो गई। ऐसे ज्ञानीके लिये पूछा जा रहा है अथवा सभीके लिये। वह अपने ही ज्ञानमें प्राप्य है। वह पुद्गलमें न कुछ ग्रहण करता है, न विकारको प्राप्त होता है और न पुद्गलोंके द्वारा रचा ही गया है, ऐसा यह जीव है। पुद्गलोंके अनेक परिणमन हो रहे हैं, तथा जीवका परिणमन जुदा हो रहा है, वह ज्ञानको ही परिणमता है। परद्रव्यकी पर्यायमें जीव नहीं परिणमता है। परद्रव्य जीव कैसे बन सकता है, पुद्गल कर्म के फलको जीव जानता है। तब फिर पुद्गलमें जीवका कर्ता कर्मका भाव हो जावेगा या नहीं? इसी को नकारात्मक समाधान द्वारा गाथामें श्री कुन्दकुन्ददेव दर्शाते हैं:—

णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाये।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥७८॥

४७८. पुद्गल कर्मफलको जानकर भी ज्ञानीका कर्ममें अकर्तृत्व—पुद्गल कर्मके फलको जानता हुआ भी जीव न परद्रव्यकी पर्यायमें परिणमता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न परद्रव्यकी पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। अतः उनके साथ कर्ताकर्मभाव बनता नहीं है। पुद्गलका फल राग द्वेषादि है, यहाँ उनके साथ पुद्गलका कर्ताकर्मभाव बन जाता है। रागद्वेष आत्मामें व्यापक बतलाये हैं, किन्तु जब यह अभिप्राय होवे, आत्मामें ज्ञान मात्रको ही देखना है तो वहां रागद्वेषमयी प्रवृत्ति आत्मतत्त्वसे हट जाती है। रागद्वेष

भी आत्माको आश्रय करके होते हैं, लेकिन उनमें अपना एकमेक सम्बन्ध नहीं जोड़ता है। पुद्गलके कर्म एवं कर्मफल अनन्त हैं, उनको जानता हुआ भी कर्म फल याने राग द्वेषादि का व्याप्य-व्यापकपना जीवके साथ नहीं है। एकदेश शुद्धनिश्चयमें अशुद्धनिश्चयनय भी गौण हो जाता है। तब फिर शंका उठती है—रागद्वेप किसके हैं? एकदेश शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षामें पुद्गलके हैं। उन्हें जहां प्राप्त करता है वहाँ पुद्गल होते हैं और जहां पुद्गल न हों वहां वे नहीं होते हैं। इस तरह यह कर्मफल आत्मामें व्याप्य-व्यापकपनेसे नहीं हैं। वह आदिमें, मध्यमें और अन्तमें पुद्गलको ही ग्रहण करते हैं। पुद्गल कर्मफल को ग्रहण करने वाला, पुद्गलमें विकार करने वाला तथा उनके द्वारा रचा गया पुद्गल ही है। अतएव यह रागद्वेप पुद्गलमें व्याप्य है, उनमें पुद्गल व्यापक हैं। उन सुखदुःखादिक कर्मफलोंमें जो उत्पन्न होता है उन्हींको ग्रहणको ग्रहण करके विकारको प्राप्त होकर क्रियमाण है, उनको जानता हुआ भी यह जीव स्वयं अन्तर्व्यापक बनकर ग्रहण नहीं करता है। यहाँ यह बात समझमें आई कि जीव तो भूमिका मात्र है। जैसे सिनेमा हाउसमें पर्दा लगा रहता है, पर्दाके सामने मशीन कुछ दूरीपर रहती है। मशीनके द्वारा फिलमका अक्स पर्दे पर पड़ता है। फिल्म चौड़ाईमें एक इंच नहीं होती, किन्तु उसकी परछांई रूप चित्र समुद्र, पहाड़, बन, बगीचा, रेल, मोटर, घोड़ा, आकाश, हवाई जहाज, मनुष्य, स्त्री, मकान सभीको स्पष्ट दिखा देती है। उस पर्दे चित्र तथा मशीनरीका व्याप्य-व्यापक किसके साथ है? उस पर्देपर ही यद्यपि परिणमन हो रहा है तथापि यहाँ फिल्म चित्रका व्याप्य-व्यापकपना फिल्मके साथ है, पर्देके साथ नहीं है। रागद्वेष व्याप्य हैं पुद्गल व्यापक हैं, इस आत्मा को आदि मध्य अन्तमें सब जगह शुद्ध ही देखा। सिनेमाकी फिल्ममें व्याप्य-व्यापकपना निरखा तो पर्देको शुद्ध ही निरखा है।

४७६. भिन्न-भिन्न दृष्टियोंका प्रभाव—सब जगह दृष्टि भिन्न-भिन्न लगी हुई है। एकदेश शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि शुद्धतत्त्वकी ओर जाने वाली है। वेदान्तवादी, बौद्ध सांख्य, चार्वाक आदिने जो दृष्टि अपनाई है वह एकदेश (एकान्त दृष्टि) शुद्ध ही अपनाई है। उन सबमें आत्माको शुद्ध ही दिखाना है तथा जो रागद्वेष लगे हुए हैं उन्हें कर्मके साथ लथेड़ा गया है। अशुद्ध निश्चयनयसे आत्मामें रागादिक हैं। रागादिकका कर्ता आत्मा है या नहीं? रागादिक पौद्गलिक हैं, रागद्वेष भाव कर्मका कर्ता आत्मा है। ये दो दृष्टियाँ होती हैं जिसमें यहाँ शुद्ध निश्चयकी दृष्टि ही ग्रहण की गई है। इसलिए रागद्वेष पुद्गलके द्वारा ही किये गये हैं। वह आत्माका स्वभाव नहीं बन जाता है। आत्मामें रागद्वेषके साथ व्याप्य व्यापकपना नहीं है। जिस तरह पर्देमें तन्तु एकमेक होकर व्याप्य-व्यापकनेको प्राप्त हैं उस तरह चित्र

नहीं। आत्मामें राग द्वेष व्याप्य-व्यापक रूपसे नहीं हैं। पर्दा व्यापक है तथा तन्तु व्याप्य हैं, क्योंकि तन्तुओं (धागाओं) से रहित पर्दा नहीं है और पर्दा चित्रोंसे रहित भी है, अतः चित्र तो फिल्मके साथ हैं। पुद्गलोंमें रागके आदिमें, रागके मध्यमें तथा रागके अन्तमें व्याप्य-व्यापकपना है। पुद्गल कर्मोंको यह जीव जानता है, उन्हें यह ग्रहण नहीं करता है। आत्मा रागादिकका कर्ता नहीं है। आत्मा पुद्गलका कर्ता नहीं है। सुख, दुःख, ईर्षा, घृणा, डाह, अहंकार, कपट आदि रागद्वेषके कारणसे सुख, दुःख हैं। ये पुद्गलके फल हैं, इनको जानता हुआ भी ज्ञानीके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। ज्ञानी चैतन्यमात्र निर्विकल्प आत्माका अनुभव करता है। उसे बताया जा रहा है, यह आत्मा गया कहीं नहीं है। हमने विभावोंकी रुचिसे जैसे क्षमा सरलता सुखका भी तिरस्कार कर दिया है, आत्माका भी तिरस्कार कर दिया है। जैसे क्रोध नहीं करेंगे तो क्षमा स्वयं प्राप्त हो जायगी। घमंड नहीं करेंगे तब मार्दव में कोमलता स्वतः आ जायगी। मायाचार न करो तो सरलता आ जायगी। परिणामों लोभ न करनेसे पवित्रता आ जायगी। शान्ति और आनन्द कहाँ गया, विकल्पजालोंको हटा दो, शान्ति और आनन्द अपने आप आ जावेंगे।

४८०. पुद्गलकर्मफलके जानकार जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभावका अभाव— यह ज्ञानी जीव परद्रव्योंकी पर्यायमें न परिणमता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उनरूप उत्पन्न होता है। इन पुद्गल कर्मोंके फलोंको जिनका कि खोटा विपाक है जानताभर है, पर जिन पुद्गल कर्मोंके उदयसे हुए सुख दुःख आदिकको जान रहा है उन्हें अनुभव भी रहा है तब भी पुद्गलकर्म को नहीं अनुभव रहा है। इस प्रसंगकी तीसरी गाथामें यह बात बतला रहे कि यह जीव कर्मविपाकसे उत्पन्न हुए सुख दुःख आदिक अवस्थाओंको भी जानता भर तो है पर उसके उदयसे इसमें सुख दुःख आदिक हुए हैं, अतः जीवका उन कर्मोंके साथ कर्ता कर्म भाव बन जाय सो नहीं होता। व्यवहारदृष्टि रखनेपर यह बात कम जंचेगी। भला कुम्हारके हस्तादिक व्यापारके निमित्तसे मिट्टीका घड़ा रूप परिणमन चल रहा और वहां यह कहना कि हस्तादिकके व्यापारके फलमें प्रेरित सम्पर्कसे वह घड़ा मिट्टी और घड़ा बना, तिसपर भी कुम्हारका मिट्टीके साथ कर्ताकर्म सम्बंध नहीं है। यह बात व्यवहारकी प्रमुखतामें कम जंचेगी क्योंकि निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो है ना व्यवस्थित, किन्तु जब प्रत्येक द्रव्यकी परिणतिको उसके सर्वस्वको उस ही में निरखते हैं तब यह विदित होता है कि ऐसी भी अवस्थायें कुम्हारके हस्तादिक व्यापारके निमित्तसे मिट्टी पसरकर घड़ा बने, तिसपर भी निश्चयदृष्टिसे कुम्हारका घड़ेके साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुम्हार न मिट्टीकी परिणतिको प्राप्त हुआ, न मिट्टीरूपसे वह परिणमा और न मिट्टीकी शक्लसे वह उत्पन्न हुआ, ऐसे ही यह मिट्टी—इसने न तो कुम्हारकी परिणति

को, अवस्थाको ग्रहण किया और न कुम्हारके परिणमनरूपसे यह परिणमा और न कुम्हाररूपसे उत्पन्न हुआ। तब इन दोनोंका निश्चयदृष्टिसे कर्ताकर्म भाव क्या? इसी प्रकार यद्यपि व्यवस्थित निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है, अटपट नहीं चल रहा, इतने पर भी अर्थात् पुद्गल कर्मके उदयके निमित्तसे जीवकी सुख दुःख अवस्थायें होती हैं, इतना संबंध होनेपर भी निश्चयदृष्टिसे देखो तो पुद्गल कर्मका जीवके साथ, सुख दुःखके साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। जैसे एक मोटा दृष्टान्त ले लो—कोई देहाती आदमी किसी घटनावश कचेहरीमें जाता है। कभी गया नहीं कुछ देखा नहीं, कुछ हौसला नहीं। तो उस भवनमें पहुंचते ही जजको देखकर वह घबड़ा जाता है और घबड़ानेके फलमें जो शारीरिक बात बनती है सो भी होती है। इतने पर भी निश्चयदृष्टिसे देखा जाय तो यह न कहा जायगा कि जजने उसको डरा दिया, उसको भयभीत कर दिया। अरे वहां देहाती ने स्वयं अपनी स्थितिके अनुसार कल्पनायें बनाकर अपने आपमें घबड़ाहट उत्पन्न की। ऐसे ही प्रत्येक निमित्त उपादानके मध्य आप यह बात तकेंगे। निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी प्रत्येक द्रव्य अपनेमें अपनी ही परिणतिसे परिणमता है। उसही शुद्धनयसे निरखा जा रहा है कि अनन्त पुद्गलकर्म फलको यह ज्ञानी जानता हुआ भी उस परद्रव्यकी पर्याय में न परिणमता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उन रूप उत्पन्न होता है।

४८१. तत्त्वज्ञानबलसे विषयकषायोंके वमनमें लाभ—बाह्य पदार्थोंका स्वरूप समझ में आ गया तब उनसे विरक्त होकर सत्यज्ञानका अनुभव करना चाहिए। बाह्य पदार्थोंके अनुरागमें क्या रखा है, यह निश्चय हो जाने पर बाह्य विकल्प छूट जाते हैं अर्थात् उनका वमन कर देता है। जैसे सियाल माँसको मुखमें रख कर बड़े चावसे खा रहा था। दूरसे सामने सिंहको आते देख कर माँसका वमन कर देता है और दुम दबाकर चुपके से रास्ता पानेकी आफत बीतती है। सिंहका पराक्रम देखकर माँसका वमन करके प्राणोंका बचा लेना ही उसे हितकर है अन्यथा उनसे भी हाथ धोना पड़ेगा। उसी तरह विकल्पजाल कब तक ठहरे हैं जब तक आत्मामें उपयोग नहीं लगाया। सिंहसे जिस तरह सियालको प्राण बचा लेना जरूरी था, उसी तरह संसारी प्राणियोंको भी तत्त्वज्ञानके बलसे विषयकषायोंको वमन कर देना चाहिए। नहीं तो यह तो यहीं नियमसे छुटेंगे ही तथा विषयोंकी लोलुपता एवं कषायोंकी तीव्रता कहांसे कहाँ नरक तिर्यंच रूपी गड्ढेमें जा पटके और उन्हीं चक्करोंमें में हजारों सागरों वर्ष व्यतीत करना पड़े। दुबले पतले व मोटे फूले जीर्ण शीर्ण शरीर को अपना मान रखा है, इसमें कमी न आ जावे, इसलिए इसकी ही पुष्टई करनेमें संलग्न है। इसकी सेवा कबसे की है फिर भी तुझे सन्तोष नहीं। अब भी इसकी सेवासे थका नहीं। यह तो आत्माकी सेवाका समय आ चुका, उसे भी तो बारबार पुष्ट कर, तभी तो

वह विषयकषायोंके अवसर मुखके सामने भी आनेपर उनको अपनानेकी चेष्टा न करेगा।

४८२. देहासक्तिसे क्लेशपात्रता—शरीर न हो तो आत्माको क्या दुःख है ? तेरा शरीर है कहाँ ? यह तो यहीं छूटनेके लिए मिला है। क्या यह वृद्ध नहीं होगा, जलेगा नहीं, परमाणु नहीं बिखरेंगे ? यह सब कार्य होनेके हैं, तब फिर क्यों इसी इसीसे राग करनेमें मस्त हो, भोगोंमें रमकर अपना घात कर रहे हो। परकी रुचि करना तथा देह की प्रीति करना कितना निम्न धन्धा है ? इससे बाह्य तथा अन्तरंगका कोई लाभ नहीं है। इसके लिए हंसना और रोना दो ही काम तो रह गये हैं। आर्तरौद्र ध्यानके अतिरिक्त इसे कुछ नहीं सूझता। अपनेको विवेकी मानने वाले तथा लटोरे घसीटेमें कोई अन्तर भी क्या रह गया ? यह हिंसानन्द मृषानन्दमें बड़ा आनन्द ले रहा है। प्रेम भी परिग्रहानन्दमें सम्मिलित हो जाता है। शरीरके प्रेमसे भी क्या मिला ? शरीरकी सेवा तो इस लिए है कि धर्ममें बाधा न आवे। जैसे पड़ौसीके घरमें आग लगनेपर यह इसलिए बुझाता है कि कहीं मेरे घरमें आग न लग जावे। यह समझकर ही तो आग बुझानेके लिए जाता है। मैं ही सब कुछ हूं, मेरा ही वह घर है, यह समझ कर आग नहीं बुझाता। इसी तरह शरीरकी सेवा करता है कि आत्मामें संकल्प विकल्प पैदा होकर शुद्ध परिणामोंका घात न होने लगे। यहाँ शरीरको पुष्ट करना स्वप्नमें भी ध्यान नहीं रहता। यही सोचकर ज्ञानी इसकी सेवा करता है तथा अनुभवमें लाता है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानी पर जानकर शरीरमें मोह नहीं करता है। इस तरह पुद्गल कर्मको जानते हुए भी पुद्गलके साथ कर्ता कर्मपना नहीं है। राग आनेपर ज्ञानी उसे औपाधिक भाव समझकर छुट्टी लेता है। राग करनेपर भी नियमसे बिछुड़ेगा, इसलिए जितना अधिक राग जो करेगा उसे बादमें उतना ही दुःख होगा।

४८३. स्वका स्वके अर्थ स्वमें परिणमन—अगर १०४ डिग्री बुखार है तो क्या उसका अनुभव दूसरा कोई कर लेगा ? मेरा परिणमन अन्यमें नहीं हो सकता। सभी परिवारके लोग सुख चाहते हैं, इसलिए जब तक उन सभीका काम निकल रहा है तभी तक वह प्रेम करते हैं। परिवारमें रोटी व धन दोनों चाहिएँ, इसलिए समझौता कर लिया कि स्त्री रोटी बनाया करे व पुरुष धन कमाया करे। अगर इन दोनोंके काममें से किसी एकके काममें कमी आई तब वहींसे एक दूसरेकी खटपट हो गई। यह प्रेम मान लिया है, वैसे प्रेम किसीका किसीमें नहीं है। वे सब अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं तो उनकी पत्नी अपना स्वार्थ सिद्ध करती हैं। कुछ मोही जीव तो यहां तक नहीं चूकते, एक दूसरेकी आंख बरकाई (ओझल हुए) और अपना मनमाना कार्य कर डाला। सोचे यहां प्रेम कहां रहा ? कुछ भयसे प्रेम करते हैं, क्योंकि पति स्त्री आदिने धर्म स्वीकार किया है ना या पिता पुत्रके

नाते, माँ पुत्रीके नाते आदिसे। यह प्रेम केवल परको प्रसन्न करने की कला है। 'यह पूर्ण दो टूंक जैसी बात है।' स्त्री अपनेमें प्रेम करती है, पति अपनेमें प्रेम करता है। वस्तुतः पत्नी का और पतिका परस्पर प्रेम नहीं है। घर छोड़कर साधु हो गये तो वहाँ भी खुदगर्जसे नाता है। आत्मकल्याण का ही ध्येय है। आत्मध्यान भी खुदगर्ज से करते हैं। वहाँ परकी अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ मित्रता ही क्या है, कषायसे कषाय मिल जाना। कषायोंको आपसमें मिला कर एक दूसरेसे प्रेम करते हैं। कषायके वशीभूत हो राग में अविवेकी होकर अपनी स्त्री, अपना पुत्र, भाई, वहिन, वहिनोई, साला आदि मान रहा है। सच्ची बात तो यह है यह कर्मके, पापके कारण इस भवमें भी यहीं सने रहने को वाध्य करते हैं। स्त्री, पुत्र क्या करेंगे, मैंने घर वसा लिया या छोड़ दिया, यह विकल्प तुझे सता रहा है। प्रत्येक स्वतन्त्रतया अपना-अपना कर्ता है। तब क्या स्त्री पुत्र भूखे रहेंगे और इसका पाप तुझे उठाना होगा? यह कल्पना व्यर्थ सी प्रतीत होती है। तू किसीको पाल ही नहीं रहा है, सब पुण्यके वलसे अपना निर्वाह करते हैं। हो सके तो १०, १५ वर्ष गृहस्थीमें बिताकर यथोचित अपना प्रवन्ध करके स्वात्म-विहारके राही बन जाओ सब अपने-अपने ही साथी हैं। सम्पूर्ण कार्य जो व्यवस्थित चल रहे हैं वे अपने आपके निमित्त-नैमित्तिक भावसे। हमारी तुम्हारी सु ने सुनानेकी कषाय मिल गई। देखो इससे यह कार्य चल रहा है। यह भी दो टूंककी बात है। यहाँ इस समागममें भी कोई प्रतिकूल बोल देवे तो फिर देख लो कषाय अपने पूर्ण वेगपर आकर कैसी उछलेगी? प्रत्येक वस्तु अपने में स्वतः व्याप्यव्यापक है। यह बात मनमें जमनेपर विकल्प हटेंगे व शान्ति आवेगी। उसी समय आनन्द आनेसे चैतन्य प्रभुका प्रताप प्रगट हो जायगा।

४८४. सर्व जीवोंकी स्वप्रयोजिका चेष्टा—एक जीवको ही देखा तो क्या मिला, अपना ही भाव किया। इसी तरह परपदार्थको देखा तो उसने अपना ही परिणमन किया और भोगा। जीव पुद्गलके भावको नहीं करता, न पुद्गल जीवका कुछ करता है। पिताके अनुकूल पुत्र चला तो पुत्रने अपना ही भाव किया। कोई किसीका कर्ता नहीं है। प्यास लगनेपर बच्चेसे पानी माँगनेपर अगर वह कुछ नहीं कर रहा होगा तो पानी दे देगा, नहीं तो खेलनेकी धुनमें होगा तो उपेक्षा बुद्धि कर जायगा। अगर उस समय कुछ कार्य कर भी दिया तो खेलने की भावनामें ही चित्त भ्रमण करता रहेगा। कैदी जेलमें जो भ. कार्य करता है वह जेलर या जमादारके हंटरोंसे नहीं करता, किन्तु अपने परिणामसे ही करता है। सोचता है अगर काम नहीं करूंगा तो भोजन नहीं मिलेगा, गालियां सुनने के साथ पिटाई पड़ेगी। आचार्य महाराज जी जो इतना विशाल उपदेश देते हैं वह शिष्योंके कल्याणकी इच्छासे नहीं, लेकिन वह आत्म-कल्याणके लिए ही करते हैं। कोई कहे, तुम

हमारी बात मान लो। इच्छा हुई मान ली या नहीं मानी। कोई भी कुछ किसीके कहनेसे नही करता, अन्तरङ्गकी प्रेरणा हुई तो वह बात मानकर कार्य कर लिया, नहीं तो विचार अन्यत्र ही घूमते रहते हैं। घरके व्यक्ति भी अपने परिणामके अनुसार कार्य करते हैं। पुद्गल कर्मों को जीव जानता नहीं है। वह भी अपना जुदा परिणमन कर रहे हैं। कर्म दिखते नहीं, इससे उनका विश्वास नहीं होता, जिसको खुद मान ले, खुदकी बात जल्दी समझमें आ जाती है, क्योंकि शरीरको कष्ट हुआ उसपर कोई आपत्ति आई तो विकल्प हो गया। मेरे शरीरको या भ्रमसे मुझे कष्ट हुआ, यह सोच लेता है। कोई अपने लिए पंडित मानता है, कोई मूर्ख मानता है, कोई गरीब, धनवान्, त्यागी, नेता, सेठ, पटेल, आदिकी विविध विविध कल्पनायें करके अनेक परिणतियां करते हैं। इन विविध परिणतियोंका कुछ कारण अवश्य है। किसीका चित्त कहीं दौड़ता है तो किसीका कहीं। कोई किसी राग रंग में मस्त है, कोई सुख मान रहा है, कोई दुःखमें जिन्दगी काट रहा है। यह सब होते हुए भी जीवके स्वभावमें समानता है। इस विषमताका कोई अदृश्य कारण अवश्य है। वह है निमित्तरूपसे पुद्गलकर्म जीवने पुद्गलको कर्ता मान लिया है। जीव पुद्गलका कर्ता किसी भी कारणसे नहीं है। जीव पुद्गलका निमित्त पाकर कषाय करता है तथा कषाय करनेसे कर्म बनते हैं और उन्हींके द्वारा सुख दुःख भोगता रहता है। जीवका जैसे सत् स्वभाव है, उसी तरह प्रत्येक द्रव्य अपनेमें स्थित रहकर स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। कोई दूसरेका परिणमन नहीं कर पाता है। चौकीपर बैठनेसे चौकीमें क्रिया नहीं हुई, वह तो बाह्यसे बैठनेमें निमित्त कारण मात्र हुई है।

तीन गाथाओंमें यह बात कही थी—जीव कर्मका कर्ता नहीं है। अब कहते हैं—पुद्गल कर्म जीवका कर्ता नहीं है।

णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्व पज्जाये।
पुग्गलदव्वंपि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

४८५. पुद्गल द्रव्यका जीवके प्रति अकर्तृत्व—पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यकी पर्यायमें न तो परिणमता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न परद्रव्यकी पर्याय रूपसे उत्पन्न होता है। वह तो अपने भावोंके द्वारा परिणमता है, अपने भावोंके रूपसे परिणमता है। जीवमें स्वयं रागादिक पुद्गलका निमित्त पाकर उत्पन्न होते हैं। यह कर्म अपना तथा जीवका किसीके परिणमन को नहीं जान पाते हैं। यह स्वयं परिणमते हैं। किसी दूसरेको ये नहीं परिणमाते हैं। पुद्गल कर्मकी क्रिया पुद्गलपें ही व्याप्त है। यह अपने कर्मके फलको नहीं डालता है। यह होकर भी पुद्गलमें अन्तर्व्यापक है। आदिमें, मध्यमें और अन्तमें व्यापक है। हमारा हाथ हमारी क्रियामें ही व्यापेगा। हाथ घड़ीमें व्याप रहा है या घड़ी हाथमें

व्याप रही है। घड़ीकी परिणति घड़ीमें है तथा हाथकी परिणति हाथमें है। इसी तरह आत्मा और शरीरका एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध है, इनमें विशेष निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है तो भी कर्मकी परिणतिसे जीव नहीं परिणमता है और न जीवकी परिणतिसे कर्म परिणमते हैं। अगर इसी तरह बीतती आई होती तो हम कर्मोंसे नहीं छूट सकते हैं। अग्नि और गर्मी (तापमान) दोनों साथ न हों तब गर्मी कहीं किसी स्थान पर अन्यत्र मिलना चाहिए और अग्नि कहीं मिलना चाहिए या अग्नि खत्म ही हो जाना चाहिए। इस तरह तो मात्र चैतन्यस्वभाव और चेतन दोनों न्यारे-न्यारे नहीं हैं। शरीर और आत्मा एक क्षेत्रावगाही होनेसे हम भ्रमवश दुःखी हो रहे हैं। सुखी होनेके लिए शरीरपिण्डसे आत्मा पूर्णतया छूट जावे तब सच्चा सुख मिल सकता है। जिस तरह दूध और पानी जुदे जुदे हो सकते हैं! दूधमें का पानी अग्निके तापमानसे दूर किया जा सकता है। सुखकी अनुभूतिका उपाय यही है, शरीरकी परिणतिसे जीव न परिणमता तथा जीवकी परिणतिसे शरीर नहीं परिणमता, ऐसी चित्तमें सावधानी रखना, मोक्षमार्गका उपाय भी यही है।

४८६. पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्तृकर्मभावका अभाव—जैसे यहाँ जीव कर्मको जानता हुआ, कर्मके निमित्तोंसे हुये विकारोंको जानता हुआ, कर्मोंके निमित्तमें हुए सुख दुःख आदिक को जानता हुआ भी उनको नहीं ग्रहण करता, न उन रूप उत्पन्न होता, न उन रूप उनमें परिणमता है, इसही प्रकार ये समस्त पुद्गल कर्म भी, ये पुद्गलद्रव्य भी नहीं जान पा रहे हैं किसीको न सही, यह इनका स्वभाव है। जड़द्रव्य अचेतन है, पुद्गलमें ज्ञान सिद्ध नहीं है, वह जाननक्रिया न कर सके सो न जाने पर वह अपने ही परिणमनोंमें अन्तर्व्यापक है, उसके ही अन्तः उसकी पर्याय होती है। परद्रव्योंके परिणामको अन्तर्व्यापक होकर नहीं ग्रहण करता, न उसरूप परिणमता और न उसरूप उत्पन्न होता। प्रत्येक द्रव्यकी ऐसी स्वभाव व्यवस्था, स्वरूप व्यवस्था, वस्तुमें ही स्वतः सिद्ध पड़ी हुई है। किसी भी प्रकार जिसमें जो शक्ति नहीं है उस रूप नहीं परिणम सकता है। तब यहाँ दो की मुकाबलेमें बात सोची जा रही है——जीव और पुद्गल कर्म। जीव जाननहार है, पुद्गल जाननहार नहीं है। यह उनका स्वभावभेद है, उनका ऐसा स्वरूप है लेकिन वस्तुत्वके नाते न जीव पुद्गलमें व्याप्त है, न पुद्गल जीवमें व्याप्त है, अर्थात् एक दूसरेके स्वरूपमें तन्मय नहीं हो पाते। अज्ञानसे ही इन दोनोंके कर्ताकर्मका भ्रम हो गया, सो यह भ्रम कब तक है जब तक इसपर ज्ञानधारा नहीं चलायी जाती, विवेक नहीं किया जाता। जहाँ स्वरूपभेदका परिज्ञान किया जाय वहां फिर इसका भेदन होने लगता है। जीव जीवमें है, पुद्गल पुद्गल में है, इतनेपर भी परस्परमें निमित्तनैमित्तिक संबंध है। इतनेपर भी उन दोनोंका परस्परमें कर्तृकर्मभाव नहीं है। निमित्तनैमित्तिक भावको मंजूर करना और कर्ताकर्म भावको न

कहना, इसमें ही दो बातें आ जाती है कि निमित्तनैमित्तिक भाव तो व्यवहारदृष्टिसे दो द्रव्योंमें निमित्तमें निरखा जा रहा है और कर्ताकर्मभाव छोड़नेकी बात जहां कही जाती वहां उपादान दृष्टि करली जाती है और तब परस्परमें एक दूसरेका कर्ता कर्म नहीं है यह कहा जाता है तो यथार्थ कर्ता कर्मकी बात उपादानतया ग्रहण करनेके लिए प्रायः दृष्टि बनाना चाहिये। जहां आये कि यह बतलावो जीव और कर्मका परस्परमें कर्ता कर्मभाव है कि नहीं, तो वहां यह दृष्टि रखकर उत्तर दें कि यह उपादानसे पूछा गया हुआ परिणमन है ऐसा मनमें अवधारण करके उत्तर दें तो यही उत्तर आयेगा कि जीव और पुद्गल कर्म का परस्परमें कर्ताकर्मभाव है, पर इतना मात्र कह देनेसे निश्चयसे कर्ता कर्मभावका उत्तर देनेसे जो घटनायें घटा करती हैं, परस्पर निमित्त भेदकी बात रहा करती है उसका निषेध नहीं किया जा सकता। इसी बातको अगली तीन गाथावोंमें कह रहे हैं।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८०॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सयेण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

४८७. जीव और पुद्गलका स्व-स्वमें परिणमन—पुद्गल कर्म स्वयं अपनेको नहीं जानता है और न जीवको जानता है। जीव शरीरमें और शरीर जीवमें व्याप्य कर नहीं रहता है। जीवके स्वरूपमें शरीरका स्वरूप नहीं व्याप गया और न शरीरके स्वरूपमें जीव व्याप गया है। शरीर और जीव एक हो जाते तो धर्म नाम की कोई बात नहीं रहती। दोनों जुदे जुदे न होते तो कोई मरता नहीं, शरीर भी अजर अमर बना रहता। यहां प्रश्न होता है, दोनों एक दूसरेके परिणमनसे न परिणमें, तब जुदा जुदा मान सकते हैं? यहां केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे दोनों एक रूप हैं। निश्चयनयसे आत्मा जुदी है तथा शरीर जुदा है। पुद्गल कर्म प्राप्य कर्मोंको ग्रहण करता है, विकारी कर्मोंके द्वारा विकारको प्राप्त होता है तथा कर्मोंके द्वारा ही स्वयंकी व शरीर रचना आदिको प्राप्त होता है। 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' देवदत्त गाँवको जाता है। इसमें गांवको कर्म है। गांवको पास को प्राप्त होता है—यह अर्थ हुआ। दूधने दहीको पा लिया—इस तरहका अर्थ नहीं है। दूधसे दही बनाया ही कहा जाता है। दूधका दही बन जानेपर स्वादमें फर्क आ जाता है। यह विकारी कर्मका उदाहरण है तथा चाँदी या सुवर्णसे तगड़ी (करधोनी, कटिसूत्र,) कर्ण-फूल, शीशफूल, चूड़ियाँ आदि आभूषण रचे जाते हैं, यह निर्वर्त्य कर्म हुआ। आटेसे रोटी

बनाई जाती है। यहां तीनों कर्म घट जाते हैं। अभेदरूपमें देखो तो प्रत्येक जीवकी परिणति दूसरी तरहकी होती है तथा भेदरूपसे अपनेको देखे तो जीवकी परिणति कुछ और ही होती है। पर्याय द्रव्यके द्वारा ही प्रगट होती है। यह बात नई नहीं है कि वह द्रव्यमें नहीं थी, कहींसे नयी आई हो यह नहीं है तथा वह द्रव्यमें से चली जावेगी, यह भी बात नहीं है। द्रव्यसे ही उत्पन्न हुआ है तथा द्रव्यमें ही व्ययको प्राप्त होकर पुनः उसी समय उत्पाद हो जायगा। जीव पुद्गलमें एक भी बात ऐसी नहीं पाई जाती कि वे दोनों समान दशाको प्राप्त हो जावें। किसी की क्रियासे हमारी क्रिया, हमारी क्रियासे किसी अन्यकी क्रिया नहीं बनती। इस तरह कोई किसीका कर्ता नहीं, सब अपने कर्ता हैं। आखिर यह जीव शरीरको छोड़कर जाता तो है ही, तब इससे मोह क्यों किया जाय? मोहको ही बढ़ाकर राग किया जाता है। यह शरीर मेरा सर्वस्व है। इस तरह विचार लाना आकुलता है। शरीरमें यदि विकार या आसक्ति हुई तो धार्मिक कार्यमें शिथिलता आ जावेगी, इस भयसे शरीरकी सेवा करता है। मोही शरीरको अपना समझकर सेवा करता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे कर्ताके परिणाम हो सकते हैं, उसे मिटानेकी चेष्टा करो।

४८८. **आत्मप्रयोजनमें शरीरसेवाका सीमित ध्यान**—कोई दुष्ट पुरुष साथमें लगा हो तो उसकी खबरदारी रखना चाहिए। खबर न रखी जाय तो कोई आपत्ति आनेकी आशंका रहती है। कारागारमें रहनेसे जेलरके माफिक सेवा कार्य करने से ही कार्य चल सकता है। दंडसे बचनेके लिए तथा भोजन पानेके लिए सेवा करता है। इसी तरह इस शरीरकी भी थोड़ी सेवा करना पड़ती है. नहीं तो यह रोगी होकर स्वयंको बाधक हो जायगा। सब बातें समझकर देखकर अपनी आत्माको जानो कि वह स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र होता हुआ भी शरीरमें बीतनेपर आपमें भी कुछ बीत जाती है तब भी शरीरको अपना जानकर सेवा नहीं करता है ज्ञानी जीव। देहाती पुरुष भी इस बातपर विश्वास करता है कि शरीरसे आत्मा जुदी है। जब चेतन शरीरसे निकल जाता है तो कहता है अब जीव निकल गया। इसलिए अन्तिम दाह संस्कार क्रिया करना ही आवश्यक है। जीव शरीरसे भिन्न ही जानेपर मुर्दाको घरमें रखना भी गुनाह हो जाता है। रोते हुए कहते जाते गांवमें खबर करवा दो तथा इसे घरमें से ले जाओ, नहीं तो बदबू आने लगेगी। यह सोचकर ज्ञानी निश्चय करता है -इस शरीरकी ही क्या अधिक सेवा करना, मैं क्यों इसमें मोहित हो रहा हूं, यह तो एक दिन छूट जायगा। सर्वथा सेवा करना भी अच्छा नहीं और सर्वथा छोड़ देना भी अभी अच्छा नहीं। मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होनेसे जब तक भव शेष हैं, दूसरा शरीर भी इस तरहका मिल सकेगा, जिससे उच्च स्थितिमें आकर ध्यानकी अवस्था प्राप्त हो सकेगी। जिनेन्द्र भगवान्का दर्शन तथा उनकी वाणीका उपदेश मिला है। सत्संग, भव्य-

पुरुषोंका सान्निध्य आदि बातें मिलनेपर विकल्पोंको हटाना श्रेयस्कर है। पुण्यसे धन भी मिल जावे तब भी इच्छायें बढ़ती चली जाती हैं। हमारी जो वर्तमान स्थिति है उसमें सन्तोष न करनेसे दुःखकी सन्तति ही बढ़ती चली जा रही है। जितना पासमें है या जितनी आय है, उतनी आयमें ही बजट बनाकर कार्य करनेसे कर्जसे बचेंगे या ज्यादा परेशानीसे। बचे हुए क्षणोंमें धर्म ध्यान करना चाहिए। क्योंकि शरीर छोड़कर ही आया था तथा शरीर ही छोड़कर जायगा ममता घटाकर आत्माके समीप रहना श्रेयस्कर है। आत्मरक्षा तो इसीमें है कि यह समस्त परपदार्थों और परभावोंसे विविक्त चैतन्यमात्र निज प्रकाशका अनुभव करे। इसी प्रयोजनके लिये यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्माका किसी भी परद्रव्यके प्रति कर्तृत्व नहीं है।

४८६. स्वयंमें ही कर्तृकर्मव्यवस्था—कर्म तीन प्रकारके होते हैं--(१) प्राप्य, (२) विकार्य और (३) निर्वर्त्य। प्राप्य तो वह है जो पहिलेसे स्वयं सिद्ध हो, फिर प्राप्त किया जाय सो सिद्ध तो सब पदार्थ हैं ही, उन्हें ज्ञानद्वारा उपलब्ध किया जाता है। इसी कारण ज्ञानके ये पदार्थ प्राप्य कर्म माने जाते है सो प्राप्य (ज्ञेय) इन पदार्थोंसे ज्ञान अथवा ज्ञायक आत्मा भिन्न ही है। यदि इनका कर्ता आत्माको माना जाय तो इसमें ज्ञेयचेतनाका दोष आता है, क्योंकि इस अज्ञानीने ज्ञानभाव और ज्ञेयभावमें एकत्वका अभ्यास कर लिया है। *विकार्य कर्म वह है जो विकाररूप होता है वह है क्रोधादिक।* वे आत्मभूमिमें होते हैं अथवा आत्माका वह वहाँ परिणमन है। इतना मात्र सम्बन्ध तो है, किन्तु उस विकार्य क्रोधादिकका कोई प्राणी आत्मा ही कर्ता मानने लगे तो फिर यह क्रोधादिक अनिवार्य हो जायगा। इसमें कर्म चेतनाका भी दोष आता है, क्योंकि इस अज्ञानीने क्रियमाणभाव और ज्ञप्त्येकक्रिय आत्मामें एकत्वका अभ्यास कर लिया है। शुद्धनयसे आत्मा क्रोधादिकसे भिन्न है। निर्वर्त्य कर्म वह है जो रचा जाता है, भोगा जाता है वह सुख दुःखादिक। ये सुख दुःखादिक कर्मफल हैं। विकृत उपयोगमें (जीवमें) अनुभाव्य होते हैं। इतना मात्र सम्बन्ध है किन्तु इसका कर्ता जीव नहीं। यदि इनका कर्ता जीव हो तो जीव तो त्रैकालिक है, फिर तो त्रिकाल ही सुख या दुःख रहेगा। अतः ये कर्मफल आत्मासे भिन्न हैं। इनका कर्ता आत्माको माननेसे कर्मफल चेतनाका दोष आता है, क्योंकि इस अज्ञानीने विपच्यमान सुख दुःखादि विभावमें और ज्ञायकभावमें एकत्वका अभ्यास किया है। इस तरह आत्मा परद्रव्य पर्यायोंका कर्ता नहीं है यह सिद्ध है। प्राप्य (ज्ञेय) कर्मकी उपलब्धि याने जाननेके समय ज्ञानी स्वके परिणमनको जानता है किन्तु परको ग्रहण नहीं करता। इसी तरह विकार्य (विभाव) कर्मको व उसके निमित्तभूत पुद्गल कर्मको आत्मा जानता तो है किन्तु निश्चयतः उसरूप परिणमता नहीं। यहाँ शंका हो सकती है कि आत्माका ही परिणमन तो विभाव

हैं। उसका उत्तर यह है कि—अशुद्ध निश्चय दृष्टिसे ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु परमार्थदृष्टिसे विभाव आत्माका परिणमन नहीं, आत्माका परिणमन तो अगुरुलघुगुणकी वृद्धि हानिरूप अर्थपर्याय है। इस कारण आत्मा विभावरूप परिणमता नहीं। इसी तरह निर्वर्त्य (सुखदुःखादि) कर्मको जो कि कर्मफल है उसको जानता तो है यह आत्मा, किन्तु उन पर्यायों रूपसे उत्पन्न नहीं होता।

४६०. **किसी अन्यके किसी अन्यमें कर्तृकर्मत्वकी व्यवस्थाका अभाव**—परद्रव्यकी पर्यायें न आत्मा द्वारा प्राप्य हैं, न आत्मा द्वारा विकार्य हैं और न आत्मा द्वारा निर्वर्त्य हैं। जीवके आदि मध्य अन्तमें परद्रव्य नहीं व्यापता याने जीवके किसी प्रदेशमें परद्रव्य नहीं व्यापता अथवा सब द्रव्योंमें खुद खुदका प्राप्य कर्म, विकार्यकर्म व निर्वर्त्य कर्म होता है। स्वयं द्रव्यको स्वयं द्रव्य प्राप्य है, क्योंकि स्वयं ही स्वयंकी पर्याय पाता है। द्रव्यने अपना ही परिणमन किया, यही विकार्य कर्म है और द्रव्यने ही स्वयंको अनुभवा, यही निर्वत्य कर्म है। तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई गुंजायश नहीं है कि आत्मा किसी भी परद्रव्यका कर्ता बन सके। परमार्थदृष्टिसे देखो तो यः परिणमति स कर्ता याने जो (आत्मा) परिणमता है वह कर्ता है। यः परिणामः स कर्म याने जो (ज्ञान) परिणाम है वह कर्म है और यः परिणतिः सा क्रिया अर्थात् जो परिणति (ज्ञप्ति) है वह क्रिया है। ये तीनों वस्तुतया भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जीव अपनी परिणतिको जानता है, परकी परिणति जैसी वर्त रही है तैसे ज्ञेयके आकाररूप अपनी परिणतिको जानता है, अथवा व्यवहारसे परकी परिणतिको जानता है। पुद्गल न अपनी परिणतिको जानता है और न परकी परिणतिको जानता है। इन दोनोंमें परस्पर कोई अन्वयव्यतिरेक भी हो, कुछ भी हो, किन्तु यह बात निःसन्देह है कि जीव और पुद्गलका परस्पर अन्तर्व्याप्यव्यापक सम्बन्ध रंच भी नहीं है। केवल अज्ञानसे जीवमें कर्ता कर्मकी भ्रमबुद्धि बन रही है। सो यह कर्तृकर्मबुद्धि अर्थात् परकर्तृत्वबुद्धि जीवमें तब तक अड़ी रहती है जब तक भेदविज्ञानज्योति प्रकट नहीं होती है। ज्यों ही स्वरूपास्तित्वके बोधसे स्व परमें, स्वभाव परभावमें, भेद प्रतीत हो जाता है त्यों ही यह कर्तृत्वबुद्धि विलीन हो जाती है। भैया ! यद्यपि जीव व पुद्गलमें कोई बाह्य सम्बन्ध है जिसकी ओटमें अज्ञानी अपना घात करता रहता है; वह सम्बन्ध मात्र अन्योन्य निमित्तमात्र होनेका है तो भी जीव व पुद्गलमें परस्पर कर्ताकर्मभाव हो ही नहीं सकता। इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं—

४६१. **पदार्थ परिणमनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी कर्तृकर्मत्वका प्रतिषेध**—जीवके परिणामको निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं, उसी प्रकार

पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणाम जाता है। परन्तु न तो जीव कर्मके गुणोंको करता है और न कर्म जीवके गुणोंको करता है; केवल परस्पर निमित्तमात्रसे दोनोंके वे परिणाम होते हैं ऐसा जानो। इस कारणसे आत्मा अपने भावोंका कर्ता है और पुद्गलकर्म प्रकृतिको निमित्त करके होने वाले अपने विभावोंका भी कदाचित् कर्ता है, किन्तु पुद्गलकर्म के व अन्य पदार्थके भावोंका कर्ता आत्मा कभी भी नहीं है। प्रत्येक जीव व प्रत्येक अणु स्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत् हैं। वे प्रत्येक अपने स्वभावभूत अनन्त शक्तियोंसे तन्मय हैं और प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं। इस प्रकार वे प्रत्येक अपने-अपने द्रव्य गुणपर्यायात्मक हैं और इसी प्रकार अपने-अपने उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं। अतः सभी पदार्थ स्वयं अपने अपने ही परिणामके कर्ता होते हैं। उनमें जो विभावपरिणमन होता है। वहाँ यद्यपि ऐसा है कि किसी योग्य अन्य पदार्थको निमित्त करके ही वह विभावपरिणमन होता है तो भी वे उस दूसरेके कर्ता नहीं होते। इसका कारण यह है कि पदार्थोंमें परस्पर व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। प्रकृतमें भी यही बात है कि पुद्गल जीव परिणामको निमित्त करके कर्मरूप (विभावरूप) परिणाम जाता है और जीव भी पुद्गलकर्मको निमित्त करके रागादिरूप (विभावरूप) परिणाम जाता है। इस प्रकार इन दोनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है तो भी जीव व पुद्गलका परस्पर व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, क्योंकि सभी द्रव्य स्वतन्त्र सत् व अपने-अपने प्रदेश गुणपर्यायोंमें व्याप्त हैं, उन्हींमें परिसमाप्त हैं। इस कारण जीव व पुद्गलमें कर्ताकर्मभाव नहीं है। हो, यह बात अवश्य है कि उनके विभाव परिणामरूप कार्य में परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। इसलिये परस्पर निमित्तमात्र होने मात्रसे रहकर वे अपने-अपने स्वतन्त्र स्व स्वभावके करने वाले होते हैं।

४६२. निमित्तनैमित्तिक भाव और उपादान उपादेय भाव—जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणमता है और पुद्गलकर्मका निमित्त पाकर जीव भी विकाररूप परिणमता है, फिर भी जीवकर्म गुणोंमें कुछ नहीं करता, कर्म जीवगुणोंमें कुछ नहीं करता, केवल एक दूसरेके निमित्तसे दोनोंमें ऐसी परिणति होती है सो समझना चाहिए। निमित्तत्व क्या है? उसका निर्णय कर लेना चाहिये। सम्यक् बोधमें लाभ ही मिलता है। कहीं ऐसा न समझना कि मुझे केवल आत्माको जानना है। सो इन बातोंके निर्णयसे क्या लाभ है? निर्णय एक शंकाको टाल देता है और निर्णय होनेसे निःसंशय होकर एक खुले प्रकाशमें उसका विहार होने लगता है। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमें रागादिक विकार हुए। यहाँ यह बात नहीं कि जीवमें रागपरिणाम होना था हुआ। उस समय जो उपस्थित है उसपर निमित्तपनेका उपचार किया। उपस्थित अनेक पदार्थ होते हैं पर उपचार किसी एकमें ही क्यों किया जाता? उसका उत्तर यह भी देकर नहीं हटा जा

सकता कि अनुकूल निमित्तपर उपचार किया जाय ? जहाँ पदार्थ तो बहुत थे एक ही अनुकूल क्यों कहलाया, बाकी अनुकूल क्यों न कहलाये ? तो वहाँ समझना होगा व्याप्तिका सम्बंध। जैसे हम रोज समझ लेते हैं कि रोटी अग्निपर सिकती है तो उसकी ऐसी ही व्यवस्था है, कहीं अटपट व्यवस्था नहीं बन जाती। तो ऐसी व्यवस्था नहीं बन जाती। तो ऐसी व्यवस्था उस ही प्रकारकी रोज देखते है तो अब यह कोई ऐसी बात तो न बन जायगी कि जो सामने हो उसे कह देते हैं, पर जहाँ सम्बन्ध पाया जाता कि इस प्रकारके पदार्थका सन्निधान पाकर यों परिणमन हुआ करता है वहाँ निमित्तका उपचार है। निमित्त है। हाँ निमित्तत्वका व्यवहार हम तब कर पाते हैं जब हम कार्यको समझलें। तो यह तो समझकी बात हुई, पर कार्य निष्पत्तिकी बात जैसे रोज होती है सो होती है, इतना निर्णय करनेके बाद अब यह भी निरख लीजिये कि निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी जीव ने किसी अन्य द्रव्यकी, कर्मकी गुणपर्यायको ग्रहण नहीं किया और कर्मने जीवकी गुणपर्यायको ग्रहण नहीं किया।

४९३. **निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातन्त्र्यका एकत्र दर्शन**—यहाँ ये दो बातें हैं। निमित्तको पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला बन जाता है। जिस उपादानमें प्रभाव बना बनता है। चौकीका निमित्त पाकर हम बैठ गए तो हम जो बैठ गए इसमें वस्तुतः हमारा प्रभाव है। प्रकृष्ट होना यह हमारी परिणति है, यह चौकीकी परिणति नहीं है, क्योंकि यह तो परिणमने वाले द्रव्यका स्वभाव है कि परिणमने वाले पदार्थ किसी सन्निधानमें किसी प्रकार परिणम जाते हैं, किस योग्यता वाला पदार्थ किस पदार्थके निमित्त होने पर किस प्रकार परिणम जाता है, यह उस परिणममान द्रव्यका स्वभाव है। इसमें दोनों बातें आ जाती हैं—निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तु का स्वातन्त्र्य। यहाँ बतला रहे हैं कि ऐसा तो परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है कि जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्गलकर्म रूप परिणमे और पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर जीव अपनेमें विकार आदिक रूप परिणमे, तिसपर भी जीव कर्मके गुणोंका ग्रहण नहीं करता। जीव कर्मके गुणोंका ग्रहण नहीं करता। इस कारण कहना चाहिये यह कि आत्मा अपने भावोंका कर्ता है, पुद्गलकर्मकृत सर्वभावोंका यह कर्ता नहीं है। कर्ता कर्मभावके अधिकारमें जब यह निश्चय करने चले कि जीव किसका कर्ता है और किसका नहीं ? तो भिन्न पदार्थोंका कर्ता नहीं, सम्बद्ध पदार्थोंका कर्ता नहीं। सम्बद्ध निमित्तभूत पदार्थोंके सन्निधानमें उनके निमित्तमें उत्पन्न हुए रागादिक विकार उनका भी कर्ता नहीं। यहाँ एक विलक्षण अन्तर्दृष्टि लेना है, अन्यथा शंका हो जायगी कि जब निश्चय दृष्टिसे आत्मा रागादिकका कर्ता है तो यहां और कौनसा शुद्ध नय आया कि जिसमें रागादिकके कर्तृत्वका भी निषेध किया जा

रहा है ? इसको कई बार कह चुके हैं कि जहाँ विशुद्ध स्वभावके दर्शनकी रुचि है तन्मात्र मैं हूँ, ऐसा अनुभवनेकी रुचि है उस दृष्टिमें रागादिक विकारोंका कर्मके साथ सम्बन्ध जुड़ गया, यह भी शुद्धनय कहलाता है। समझनेमें तो व्यवहारकी बात हुई पर जहाँ स्वरूपको शुद्ध रक्षित रखना है उस उद्देश्यमें यह शुद्धनयका काम करता है। तो यों यह जीव अकर्ता है, किसीका कर्ता नहीं, यह निरखा जा रहा है।

४६४. स्वतंत्रताकी प्रतीति कराने वाली संत वाणीका आभार—अहो ! इस जीवने वस्तुस्वरूपकी इस स्वतन्त्रताकी प्रतीति नहीं की है। परको अपना कर्ता, अपनेको परका कर्ता, किसी परको किसी दूसरे परका कर्ता मान कर बाह्यदृष्टि दृढ़ करके अपने विकासको स्वयं रोक कर रंक हुआ जन्म मरण धारण किया है। यदि ऐसी ही टेक अब भी रही तो संसारभ्रमण ही इसका परिणाम है। कल्याण या सुख रंच भी नहीं पा सकता इस अज्ञान में यह जीव। देखो भैया ! इस देह देवालयमें आत्मदेव स्वतन्त्र सत्तावान् सदा अन्तःप्रकाशमान है। जो इसके दर्शन कर लेता उसके सर्व अर्थकी सिद्धि हो जाती है। अर्थ उसे कहते हैं जो चाहा जावे 'अर्यते, अर्थ्यते, अभिलष्यते इति अर्थः।' निज आत्मदेवके दर्शन कर लेने वाला क्या चाहता है ? एक इस ही महान् आनन्दनिधान आत्मदेवका दर्शन और कुछ आत्मदर्शीकी इच्छा ही नहीं रहती है ? यही उसका सर्व अर्थ है। इसकी सिद्धि हो ही जाती है। अहा ! परमकारुणिक योगीश्वरों ! तुम्हारा हृदय, वाक्य कितना पवित्र है, जिसके परोक्ष स्पर्शसे ही कितना अपार आनन्द लहरा उठता है। तुमसा दानी लोकमें और कौन है ? अन्य दानी तो केवल क्षणभरके सुखाभासके साधनका क्षणिक समागम करानेके यत्नका विकल्प कर सकते हैं। हे निर्ग्रन्थ, शान्त, आत्मदर्शी, वीततृष्ण महात्मा जनो ! जिन भव्योंको तुम्हारा सत्संग प्राप्त हुआ था वे महाभाग थे। आज भी तुम्हारे सद्वचनोंके सुनने मनन करनेका जिन्हें अवसर प्राप्त हुआ है वे भी महाभाग्यशाली हैं। प्रत्येक द्रव्य अखण्ड है, स्वतः सत् है, स्वतः परिणामी है, किसीका कोई अन्य कुछ नहीं है। ऐसी स्वतन्त्रताकी घोषणा निःशङ्क होकर आपने की है। ऐसे हे स्वातन्त्र्य प्रेमी परमपुरुषों ! तुम्हारा वरदान अब तक भी जीवित है और अनुपम लाभ पहुँचानेवाला हो रहा है, जीवों को अनन्त दुःखोंसे छुटाकर परम शान्तिमार्गमें सुगमतया विहार करवा रहा है।

४६५. अपूर्व समागमके सदुपयोगका अनुरोध—देखो भैया ! ऐसी अपूर्व योग्यता और ऐसा अपूर्व समागम पाकर भी यदि धर्मभावमें स्थिरता प्राप्त करनेका यत्न न किया जा सका तो यह नरभव पाना और धर्मसमागम पाना विषयकषायोंके निमित्त ऐसा खो देना होगा जैसे कोई काग उड़ानेके निमित्त रत्नोंको खो देता है या कोई बर्तन साफ करनेके लिए भस्म पानेके निमित्त चन्दनके वृक्षोंको जलाकर नष्ट कर देता है। अपना जीवन सफल बनाना हो

तो स्वतन्त्रताकी दृष्टिको स्वीकार करो, दृढ़ करो। देखो—प्रत्येक पदार्थ है इसी कारण निरन्तर परिणमते रहते हैं, उनके विभाव परिणाममें जो अन्य पदार्थ निमित्तमात्र रहते है उनको कर्ता समझकर मिथ्या (संयोग) दृष्टिमें मत वह जावो। मिट्टी है वह परिणमन ही तो करेगी। जिस समय जिस अवस्थारूप परिणम रही है उस समय वह उस अवस्थाका (घट आदिका) कर्ता है। वह किसी वस्त्र आदिरूपसे तो नहीं परिणम रही है। फिर वह अन्य वस्त्र आदिका कर्ता कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जीव भी अपने भावोंरूप ही तो परिणम सकता है, पुद्गलकर्म या अन्य किसी भी परद्रव्यरूपसे तो नहीं परिणम सकता। अतः जीव अपने भावका ही कर्ता है, अन्यके भावका कर्ता कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार परिणमनका अनुभवन भी स्वयंसे अभिन्न है सो जीव अपने ही परिणामका भोक्ता हो सकता है और जीवका भोग्य खुद ही का परिणाम है। ऐसी सत्य, सहज, निरबाध, अनिवार्य वस्तु स्थितिकी जिनको प्रतीति हो जाती है वे सम्यग्दृष्टि परमपुरुष रत्नत्रयकी पूर्णता कर सदाके लिये संसारके सर्वक्लेशोंसे छूट जाते हैं।

जीवका स्वपरिणामोंके साथ ही कर्तृकर्मभाव है और भोक्तृभोग्यभाव है। इसीको अगली गाथामें श्रीमत्कुन्दकुन्दप्रभु कहते हैं—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेवजाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

४९६. निश्चयतः अपने आपमें ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व—निश्चयनयके अभिप्रायमें इस प्रकार आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माके ही भावको अर्थात् अपनेको ही भोगता है। जैसे कि समुद्रमें जब लहरें आती हैं तब वह लहरें समुद्रमें ही व्याप्य होने से समुद्र ही कर्ता है तथा वही कर्म है। समुद्रके ही द्वारा व्याप्य होने से समुद्र ही उनका भोक्ता है। इसी तरहकी जीवकी संसारावस्था तथा संसाररहित अवस्था प्राप्त होती है। रागद्वेष मोह सहित संसार अवस्था है तथा रागद्वेष मोहरहित निःसंसार अवस्था है। दोनों अवस्थायें पुद्गलकर्मके सद्भाव अभावके निमित्तसे है। जिसे मुक्ताव था तथा पुद्गल कर्मके होनेसे संसार-अवस्था प्रकट होती है वह जीव है। इनमें पुद्गल व जीवका भिन्न-भिन्न सम्बन्ध होनेसे कर्ता व कर्मपना नहीं है। संसार कर्म है व जीव इसका कर्ता है, यह मोक्ष कर्म है तथा जीव मोक्षका कर्ता है। पुद्गल जुदा है और जीव जुदा है। दोनों में व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। इससे जीव पुद्गलका कर्ता नहीं है तथा कर्म भी नहीं है। स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसार व निःसंसार अवस्थाको व्याप्य कर जीव ही अपने को संसार अवस्था रूप करता है तथा निःसंसार अवस्था भी करता है। यह रागद्वेषरहित अपनेको ही करता है तथा रागद्वेष सहित भी अपने को करता है। जीव अपने आपका कर्ता है।

भोक्ता भी किसका है ? पुद्गल व जीवका भाव्यभावक भाव नहीं है। पुद्गल अपनी अवस्थाका लानेवाला है और वह अवस्था पुद्गलमें ही होती है। जीवमें भी प्रत्येकका भाव उस ही एकमें है तब हमारी बात आपके अनुभवमें नहीं आ सकती है। इस रूपमें ही समस्त द्रव्य परिणाम रहे हैं। परका पररूप परिणमन नहीं होता है। विश्वास करे बैठे हैं यह हमारी माता है, यह हमारे पिताजी हैं। यह सब दिखावटी नाता चल रहा है। सब अपना-अपना ही अनुभव करते हैं। जीवका भाव पुद्गलके द्वारा नहीं भोगा जा सकता है, तब जीव पुद्गलका भोक्ता नहीं है। संसार भावमें परिणमन करता हुआ भी जीव पुद्गलका भोक्ता नहीं है। संसार रूपको करता हुआ भी यह अपने आपका भोक्ता है। एक बार जिसकी दृष्टिमें स्वरूपास्तित्व आ गया उसे मोह नहीं रहता है। सम्बन्ध मानना मोह कहलाता है। यह जीव स्वत:सिद्ध है तथा स्वत:परिणामी कहलाता है। विशेष-विशेष परिणाम जो विभावके होते हैं, वह औपाधिक हैं। उन्हें कोई भी अन्य परिणमाने वाला नहीं है। उसका निमित्त पाकर उस रूप परिणाम जाता है। आत्माकी योग्यता मलिन रागद्वेषके वशीभूत होकर सुप्त अवस्थामें पड़ी है। आत्माका परिणमन पुद्गलकर्मके आधीन नहीं है और न पुद्गलकर्मके द्वारा किया गया है। वह स्वयं रागके वशीभूत होकर चित्त लगनेपर आधीन हो गया है। दूसरी वस्तुने तो इसे किसी ओरसे भी आधीन नहीं किया है। परवस्तुओं को अपना हित करनेवाली मानकर उनमें रम रहा है।

४६७. परमें व्याप्यव्यापकभावका व भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे परमें कर्तृत्व व भोक्तृत्व होनेकी अशक्यता—भैया ! प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थोंसे अत्यन्त विविक्त है। किसीके पास कोई दूसरा कितने ही निकट हो, रहे, किन्तु उनका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव त्रिकाल नहीं हो सकता। यद्यपि वायुके चलनेको निमित्त पाकर समुद्र तरङ्गित हो उठता है, उठे, परन्तु वायुका व समुद्रका व्याप्य-व्यापकभाव है ही नहीं। जब व्याप्य-व्यापक भाव नहीं तब उनमें कर्ताकर्मपना भी नहीं हो सकता। देखो—समुद्र ही तरंगावस्थामें था, निस्तरंग अवस्थामें आदि मध्य अन्तमें व्यापकर अन्तर्व्यापक हो रहा है। अतः समुद्र ही अपने आपको सतरंग व निस्तरंग कर रहा है तथा कोई किसी दूसरेका अनुभव भी नहीं कर सकता है क्योंकि परका परमें भाव्यभावकभाव नहीं हो सकता, सो समुद्र ही अपने आपको सतरंग अथवा निस्तरंगरूप अनुभवता है। इसी तरह आत्माकी भी कला देखो—यद्यपि पुद्गल कर्मोदयको निमित्त पाकर आत्मा संसारावस्था सहित होता है, होओ, परन्तु पुद्गलकर्म व जीवका व्याप्य-व्यापकभाव है ही नहीं। जब व्याप्य-व्यापकभाव नहीं तब उनमें कर्ताकर्मपना भी नहीं हो सकता। देखो—जीव ही संसारावस्थामें या निस्तरंगावस्था में आदि मध्य अन्तमें व्यापकर अन्तर्व्यापक हो रहा है, अतः जीव ही अपने आपकोससंसार

व निःसंसार कर रहा है तथा कोई किसी दूसरेका अनुभव भी नहीं कर सकता है, क्योंकि परका परमें भाव्यभावकभाव नहीं है सो जीव ही अपने आपको ससंसार व निःसंसार अनुभव करता है। भैया ! प्रत्येक द्रव्य अपने आपको ही करता है व अपने आपको ही अनुभवता है, ऐसा ही निरखो। जो सत्य है वही जानो। हिम्मत करो तो सब कुछ हो सकता है।

४९८, सर्व प्रसङ्गोंमें स्वयंमें ही कर्तृत्व व भोक्तृत्व—कहने लगते हैं अनेक मनुष्य कि भैया ! क्या करूं ? मैं तो अमुक कार्यसे लाचार हूं अर्थात् छोड़ नहीं सकता हूँ, क्योंकि अपनेको उसने उससे ग्रस्त मान लिया है। कहते हैं चाट खाये बिना कार्य नहीं चल सकता, रहा नहीं जाता। वह कहते हैं इससे लाचार है। चाट ने पराधीन बनाया है या खुद भावों के द्वारा पराधीन बने हो। चाट खानेके भाव ही छोड़ दो, उसके दोषोंको तो स्मरण करो तो चाट छूट सकेगी। यह चाट खानेका कार्य बड़े घरानेके लोग तो शायद ही करते हों। चाट लिए सड़कपर खड़े खड़े पत्ता चाटते जावें इसे कौन पसन्द करेगा ? यह चाट तो छोटे लोग ही खाते होंगे। हमारे ख्यालके विरुद्ध न हो तो बड़े लोग चाट नहीं खाया करते होंगे, यह सत्य होगा, जिस चाटमें त्रस हिंसा है। अरे भाई ! वह खुद पराधीन विभाव करके बना है। आत्मा सर्वत्र अपने आपका कर्ता है तथा अपने आपका भोक्ता है। यह आत्मा न परद्रव्यका कर्ता है और न भोक्ता है। यह निमित्तनैमित्तिक भाव है जो स्थायी रहने वाला नहीं है। जो इन्हींमें उलझा रहता है वह अपना हित नहीं कर सकता है। यह होनेपर कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमें व्यापक नहीं है, भोक्ता भी नहीं होता है तथा अन्य द्रव्यरूप परिणमता भी नहीं है। यह व्यवस्था अनादिसे चली आ रही है। मनुष्य कहते हैं—चोरी हो गई है, राज्य पलट गया है। यह सब होते हुए प्रत्येक द्रव्य अपना ही अपना कार्य करते हैं, यह मोही जीव इतनेपर भी अपना मान रहा है। मोही जीवोंका तो वश नहीं चल पाता है, उनको अपने अनुरूप करनेका। यह मोहसे स्वयं ही भटक रहा है। परसे क्या वश चलेगा, स्वयंपर भी वश नही चल पाता है। अगर पड़ौसके दो लड़के लड़ पड़ें तो एक ज्यादा पिट जानेपर उसके माता पिता आते हैं उलाहना देनेके लिए, साथके लड़काके संरक्षकों को कि आप अपने लड़केको रोक लो। सोचने की बात है जब अपने लड़केकी नहीं रोक सकते तब दूसरेको तो क्या मना कर सकेंगे ? वश भी तो अपने पर ही चलेगा, पर तो पर ही है। इसी तरह शरीर भी पर है, कर्म भी पर हैं। यह तो मन लगानेके भाव हैं।

४९९. भावविशुद्धिसे ही धर्म एवं शान्तिका लाभ—मनुष्य धेलाकी धूप खेकर आठों कर्मोंको नष्ट करना चाहते है। भगवान्का न्याय भी इसे सरता समझ लिया। कोई अधिक

द्रव्य खर्च न करे और कर्मोंके फन्देसे छूट जावे, यह भी है और यह बात नहीं भी है। हाँ, आप इस निमित्तमें भले खर्च मत कीजिए, लेकिन उस तरहके भाव तो रखिए कि इन परपदार्थोंको अपना मानकर जकड़ासा फिरता हूं। उनके प्रति मोह हटाइये तब बिना धूप खेये भी कर्म काटनेका मसाला उपलब्ध हो जायगा तथा जब द्रव्यके प्रतिसे मोह हट गया, उस समय वह मन माफिक दान धर्मकार्यों आदिमें खर्च कर देगा और वह यही सोचेगा मेरा इसमें कुछ नहीं है, मैं इसका कोई नहीं हूँ। यह तो स्वल्प पुण्यसे प्राप्त हो गई है, जो औरोंके खर्चमें जितनी आ सके उतना अच्छा है। भाव उत्तम बनानेके लिए पूजन, स्वाध्याय, संयम तप आदि हैं। वह अपने पर ही वश कर सकता है। लड़ाई झगड़ा होता होवे तो उस समय संक्लेश परिणामोंको न होने देवे, धैर्य धारण करे। संक्लेशसे दब गये तो कायरता है। ताक़त होते हुए मौन धारण करे, शान्ति अपनावे, क्षमाको धारण करे तो यह कायरता नहीं है। किसी छोटे व्यक्तिने प्रतिकूल बात कही या बलवान ने कही तो वहां मौन धारण करे तो क्षमा रख सकता है। जो कुछ कर पाते हैं वह अपने आपको ही भोग पाते हैं तो अपने आपको अन्यको न कर पाते हैं, न भोग पाते हैं।

५००. सद्बुद्धिके अभावमें मोहीकी अटपट करतूत—कोई मूर्खचन्द्र था। उसे बहिन के यहां जाना था। घरसे निकलकर चल दिया। रास्तेमें जाते जाते थक गया तो एक घोड़ा वहाँ दिख गया जिसे पकड़ कर बैठा, तो घोड़े की पूंछकी ओरको मुख किया तथा घोड़ेके मुंहकी ओर को पीठ की और चल दिये सिर पर गठरी रखकर। गाँवमें गया तो लड़के खूब हंसे तथा पीछेसे एक हंटर दिया, तब तो मूर्खचन्द जी जान बचाते हुए चले। आगे चलनेपर कुछ लोगोंने सोचा यह बड़ा बुद्धिमान है, क्योंकि कोई आगेसे लड़ेगा तो घोड़ा लड़ेगा और कोई पीछेसे लड़ेगा तो आदमी लड़ेगा और लड़ते लड़ते हार जावे तो गठरी गाँठकी नहीं जायगी। तब इसे तो न्यायाधीश बनाना चाहिए। न्यायाधीश बनाया गया। उसी दिन एक किसानका लड़का खलिहानकी बाड़ कर रहा था। बाड़ अन्दरसे करते करते वह वहीं पर अन्दर बन्द हो गया और चिल्लाया कि मरा। तब कुछ आदमियों ने सोचा इसको निकालने का क्या उपाय है? अतएव न्यायाधीश को दौड़कर बुलाया गया। न्यायाधीश (मूर्खचन्द) महोदय आये। उन्होंने कहा—एक रस्सा लाओ और उसका फन्दा बनाया तथा उसे किसानके लड़के के पास फेंक दिया। ४-६ मल्लोंसे रस्सा खिचाया गया। जिससे सिर बाहर निकल आया शरीरमें से, और धड़ वहीं रह गया। इतनेपर कहें न्यायाधीश जी देखो सिर तो निकल आया यह गनीमत समझो। इसी तरह इस मोही जीवकी सारी बातें अटपट हो रही हैं। रागके अनुकूल बात हो गई तो समझ लिया भला हो गया। यही जानकर शरीरपिण्डसे मोह नहीं छोड़ता। किन्तु आज इस शरीरमें है तो

कल दूसरेमें रहेगा। धन मिल गया, लड़का पैदा हो गया, किसीने प्रशंसा कर दी तो बड़ी खुशी मानता है। यह सब क्यों हो रहा है? इसलिए कि इस आत्मतत्त्वकी सही खबर नहीं ली, बाहर ही बाहर भटक रहे हैं। ज्ञाता दृष्टा बन कर सोचनेकी जरूरत है, मैं चैतन्य हूँ, धनवैभव आदि अचेतन हैं। दूसरेका चैतन्य मेरे कुछ काम नहीं आता है। मैं क्यों यहीं फंसा रहा? बालक पैदा होता है तो वह अपना पुण्य भी तो किसी भवसे साथमें लाया होगा तभी तो उसके लिए दौड़ धूप करके खूब कमाया जाता है। वह आगे जाकर चैनकी वंशी बजाता है। मरण सभीका होगा; यह मनुष्य पदार्थ को औरोंके ऐशके लिए जोड़कर रखे जाता है। राग करते समय यह बड़ा खुश होता है। जो सज धजकर निकलता है वह यही तो चाहता है कि लोग हमपर दृष्टि करके अच्छा कहें। इसलिए मुखपर राख जैसी सफेद क्रीम भी लगाई जाती है। वह क्रीम लोगोंने भाँप ली तो कह दिया, यह तो सब भेड़ियाके ऊपर शेरका चमड़ा मात्र है। पूर्ण खोखला है, यह तो दिखावट यों ही है। लेकिन मोही जीव इतनेपर भी अकड़ बनाये रखता है तथा विकल्प बनाता रहता है। घरका भी यही सम्बन्ध है। घरवाली कहती है कमाकर लाओ और रोटी खाते जाओ, सर्वत्र स्वार्थ है। विषय तृप्तिके लिये श्रृङ्गार चला। यह श्रृङ्गार चटकमटक क्यासे क्या अनर्थका कारण नहीं बन सकता है? बाह्यबुद्धि अनर्थकारिणी ही है, अतएव शुद्ध ज्ञाता दृष्टा बननेके लिए आत्मस्वरूपका चिन्तवन करना लाभदायक है। निश्चयनयके अभिप्रायसे आत्मा अपने भावका कर्ता है तथा भावका ही भोक्ता है और किसीका नहीं। अब व्यवहार-नयको दिखाते हैं—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

५०१. व्यवहारसे पुद्गलकर्मके कर्तृत्व व भोक्तृत्वका व्यवहार—व्यवहारनयके आशयसे आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको करता है और अनेक प्रकारके उस ही पुद्गल कर्मको भोगता है। बात यह है कि निमित्तनैमित्तिक विधानमें जिसकी जिसके साथ प्रत्यासत्ति है उसका सम्बन्ध देखना व्यवहारनयका सिद्धान्त है। इसी कारण व्यवहारनयके अभिप्रायसे यह कहा जायगा कि आत्मा नाना प्रकारके कर्मोंका कर्ता है तथा उनका भोक्ता भी है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे यह ठीक है। आगे उसका खण्डन करेंगे। निश्चयसे ऐसा नहीं है, यह व्यवहारसे, उपचारसे कहे जाते हैं। जैसे अन्तर्व्याप्य-व्यापक भाव मिट्टी और कलशमें है तथा भाव्यभावक भावसे मिट्टीके द्वारा घड़ा भोगा गया तथा मिट्टीके द्वारा ही परिणमनमें आया। बहिर्व्याप्य-व्यापक भावसे कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करनेवाला कुम्हार है। उस कलशसे जो तृप्ति की वह भाव्यभावक है। इस तरह अपना व परका कर्ता भोक्ता

मोही मानता है। आपसमें एक दूसरेकी धारा (क्रम) नहीं टूटती। अनादिकालसे यही विभाव चला आ रहा है। यह धारा नहीं टूटी। घड़ेको बनानेमें कुम्हार निमित्त है। इसीसे कहते हैं–घड़ेको कुम्हारने बनाया है। इसी तरहसे अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे पुद्गल ही पुद्गलावस्थाका कर्ता है। पुद्गलने ही कर्मको किया। भाव भावकसे खुदके द्वारा ही खुद अनुभवमें आया, आत्माके अनुभवमें ज्ञान याने आत्मा ले लिया। आत्माका अनुभव ज्ञानदर्शन के द्वारा हो सकता है। फिर भी बाह्य व्याप्यव्यापक भावसे देखा जाय तथा निमित्तसे देखा जाय तो जो पुद्गलकी उत्पत्तिके अनुकूल है ऐसे कषायभावको यह अज्ञानी जीव कर रहा है। पुद्गलका विषय होनेसे आई हुई जो सुख दुःखकी परिणति उनको भाव्यभावक भावसे भोग रहा है। अनादिकालसे ऐसा व्यवहार चला आ रहा है। कहीं किसी दृष्टिमें यही व्यवहार निश्चयनयका नाम पा जाते हैं, कहीं उपचार मात्र होते हैं। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य में व्यवहार होता है––जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है, जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता है, जीव पुद्गलका निमित्तनैमित्तिक भाव हैं, किन्तु कर्ताकर्म भाव नहीं है। अज्ञानी जीवोंके ऐसा ही व्यवहार चला आ रहा है।

५०२. परसम्पर्कसे उपचरित व्यवहार––मनुष्य कहते हैं, हे जिनेन्द्र भगवान्! आपने कर्म कलंकको काट डाला है, उनके बन्धनोंको हटा दिया है, किन्तु भगवान्ने कर्मोंको कहाँ काटा? उनमें तो निर्मल परिणाम मात्र आये। निर्मलभावोंसे कर्म अपने आप छूट गये तथा संसारी जीवोंके बारेमें कहते हैं कि अज्ञानमें संसारी प्राणियों ने अनेक कर्म बाँध डाले। उन्होंने अपना विकल्प ही बनाया और कुछ नहीं किया। निश्चयसे भगवानने कर्मको काटा नहीं और न किसीने कर्मका उत्पाद किया है। निमित्तनैमित्तिक भावसे ऐसा हो रहा है। यहां अज्ञानी शब्द क्यों दिया है? वह दो द्रव्योंको कर्ता कर्म भावसे देख रहा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कर देता है, यह दोष बुद्धिका है। घीका घड़ा कहा जाता है। घड़ा घीका बना हुआ तो नहीं है, किन्तु घीका सम्बन्ध रहनेसे घीका घड़ा कहा जाता है। यहां तक कि टट्टीका लोटा कहा जाता है। उस लोटेमें तो टट्टीका सम्बन्ध भी नहीं है। उसे तो केवल लेकर जाते हैं, जिससे इस नामके द्वारा उपचरित होता है। अब तो कहीं कहीं लोटोंके स्थानपर डब्बेसे कार्य लिया जाने लगा है। कुछ वस्तु खरीदते तो कहते अमुकके लिए यह घड़ी, सन्दूक, पेन आदि खरीद लो अथवा घरमें बच्चोंके लिए जुदी जुदी थाली, खिलौना, साइकिल, मोटर आदि हुई तो कहेंगे अमुक बच्चेकी साइकिल, थाली वगैरह है। शौचगृह साफ करने वाले भंगी भी कहने लगते अमुक या इतनी हवेलियाँ या मकान मेरे हैं। यहाँ तक कि वह दूसरे सफाई वालेके पास गिरवी भी रख देते हैं। अगर कोई दूसरा व्यक्ति सुने––भंगीने अमुक हवेली गिरवी रख दी तो दूसरे आश्चर्य करेंगे। इन

सेठ जी पर क्या घाटा आ गया है जो अपनी हवेलीको गिरवी रखने की सूझी। यहां सब व्यवहार चल रहा है। एक दूसरेमें सम्बन्ध बनाया गया, इसलिए इस तरह कहते हैं। अगर किसीका इष्टवियोग हो जाय, पति या पुत्र वगैरह गुजर जायें तो उनके कपड़ोंको देख देखकर कहेंगे, यह फुलपेन्ट, कोट, कमीज, उन लालाजी का है, कैसे अच्छे थे? देखो तो ये सोनेके बटन कितने बढ़िया लगते हैं? इस व्यवहारको क्या कहा जाय, कितना प्रबल मोह होता है? इसी व्यवहारको न जाननेसे कितने अनर्थ होते हैं?

५०३. व्यवहारकी मूलघटनामें मर्म—ये व्यवहार कैसे चले? मालूम होता है कि यह पहले सिद्धान्तपर रूढ़ हुआ, फिर बातचीत करनेमें रूढ़ हो गया। फिर अटपट हो गया। एक सेठ जी थे तो उन्होंने सोचा मनुष्य जिसका खाते हैं उसीकी थालीमें टोंका (छेद) कर देते हैं। मतलब यह मनुष्य खाने आते और पत्तलमें खानेके बाद उसीमें से अच्छी अच्छी सींके निकालीं और दांत कोलकर रख देते हैं। तब सेठ जी के घर एक विवाह हुआ, तब उन्होंने नुक्ती वालेसे नुकती परसनेको कहा, लड्डू परोसे गये, रसगुल्ले, खारेसेव, सिंगारपाग भी परोसा गया। बादमें चार चार अंगुलकी एक एक सींक परोसी गई दांत कोलनेके लिए। कुछ समय बाद सेठ जी की मृत्यु हो गई। उनके जो लड़के बच्चे थे उनके यहाँ काज ओसर हुआ तो उन्होंने सब प्रोग्राम बनाया तथा उनके समयसे दुगनी मिठाई बनवाई, तब इतनेमें एक बुजुर्ग महाशय जी बोले—यह सब तो अच्छा बनाया, किन्तु तुम्हारे पिता जीके समय एक एक सींक और साथमें परोसी गई थी। तब शीघ्र उसने ४ अंगुलकी जगह बारह बारह अंगुलकी सींक तैयार कराके परोसा। सबको जिमाया गया। अब कुछ समय पश्चात् ये भी मृत्युको प्राप्त हो गये। तब उनके लड़कों बच्चोंका पंगत देनेका अवसर आया, यह भी पिताजीसे कम शानदार न थे। इन्होंने सोचा अपनी इज्जत रखनेके लिए पितासे बढ़िया भोजन बनवायें, साथमें २४ अंगुलकी सींक क्या अर्थात् डंडा भी तैयार कराया गया। सबको साथमें मिठाई, घेवर, गुजिया, इमरती, दालचूड़ा तथा फल परोसे गये। बादमें वह बेंत भी एक एक परोसा गया। बात कुछ और चली थी, किन्तु वह इस रूपमें परिणाम गई।

५०४. निश्चयसे एक पदार्थमें ही व्याप्यव्यापक भावकी संभवता—निश्चयनयके सिद्धान्तमें आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माको ही भोगता है। निश्चयका लक्षण है स्वाश्रित, जो स्वके आश्रित हो वह निश्चय है। बात स्वके आश्रित हो, निरखना स्वके आश्रित हो, प्रतिपादन उसी स्वमें किया जाय तो वह निश्चयनय कहलाता है। इस दृष्टिसे बाहर आत्मा क्या कर सकता है? अपने आपमें ही अपने आपका परिणमन करता है। जैसे समुद्रमें लहरें उठें। हवा चली, उसका निमित्त पाकर समुद्र तरंग वाला बन गया

तो ऐसी स्थितिमें हवाने समुद्रमें क्या किया ? निश्चयदृष्टिसे देखनेपर विदित होता है कि हवाने अपने आपमें अपना परिणमन किया, अन्य कुछ नहीं किया, समुद्रमें कुछ नहीं किया। उस चलती हुई हवाका सम्बन्ध पाकर उस निमित्तनैमित्तिक भावमें समुद्र तरंग वाला हो गया तो हवाके चलनेका निमित्त पाकर भी तरंग वाले समुद्रमें व्याप्यव्यापक भाव नहीं है हवाका और पानीका। व्याप्य-व्यापक भाव होता है तन्मात्रमें। जैसे पुद्गलमें रूपका व्याप्य व्यापक भाव है। जो भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हैं उनका परस्परमें व्याप्यव्यापक भाव नहीं बनता। तब उसमें कर्ताकर्मपने की बात सिद्ध नहीं होती। तो यह समुद्र ही वहां अपने आपको लहरों वाली अवस्थामें अन्तर्व्यापक होकर अपनेको तरंगरूप करता हुआ, अपनेको एक ही करता हुआ प्रतिभात होता है। आत्मा अपने आपमें अपना परिणमन करता हुआ ही रहता है अन्यमें नहीं। यह तो कर्ताकी बात हुई। अब अनुभवन करनेकी बात देखो तो तरंग अवस्थारूप हुए समुद्रने अपने आपकी अवस्थाका अनुभवन किया, हवा का अनुभवन नहीं किया। जैसे आम खाते हैं, मीठा लगता है तो आमके रसका आत्मामें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। दो भिन्न पदार्थ हैं, आत्मामें आम नहीं गया, आममें आत्मा नहीं गया, लेकिन ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उस आमका रसना इन्द्रियसे सम्पर्क होनेपर उस योग्यतामें रूपका ज्ञान हुआ तो यद्यपि वह रसज्ञान आत्माके सम्पर्कके निमित्त से हुआ लेकिन आत्मा रसके ज्ञानका ही व्यापक रहा, आमके रूपका व्यापक नहीं हो सका। जैसे कोई बालक गेंदका खेल खेल रहा, हाथसे गेंदमें ठोकर लगाया तो वह गेंद उचककर दूर पहुंचा, तो इस प्रक्रियामें वह बालक गेंदमें व्यापक हुआ क्या ? अरे गेंदमें गेंद है, बालक में बालक है। इन दोनोंमें परस्पर व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। निश्चयसे देखा जाय तो उस बालकने केवल अपने हाथ चलाये। हाथका निमित्त पाकर गेंद चला, तिसपर भी बालक का गेंदमें व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, अतः यह बालक गेंदका कर्ता नहीं है। अनेक दृष्टान्तों में इसे घटावो। जैसे किसी कुम्हारने घड़ा बनाया तो उस प्रक्रियामें कुम्हार जिस प्रकारसे अपना हाथ चला रहा उस प्रकार मोटे पतले आदि आकारमें मिट्टी बढ़ रही है, इतने पर भी कुम्हारका मिट्टीका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है। तब निश्चयसे उस घड़ेका कर्ता कुम्हार नहीं हुआ। जिस जिसके अन्दर व्याप्यव्यापक भाव मिले वह उसका निश्चयसे कर्ता होता है।

५०५. दृष्टान्तपूर्वक आत्मा-परिणाममें आत्माके कर्तृत्वका प्रतिपादन—प्रथम दृष्टान्तमें हवाके चलनेका निमित्त पाकर जो समुद्र तरंगों वाला हो गया तो समुद्रकी अवस्था समुद्रमें व्यापी अन्यत्र नहीं। तव समुद्रमें तरंगोंका करनेवाला हुआ, हवा नहीं हुई। यद्यपि यह बात तथ्यकी है कि हवाका सन्निधान न मिलता, निमित्त

न होता तो यह समुद्र लहरों वाला न होता, यह कहना कि वैसे नहीं होता निमित्त, सर्वज्ञने तो सब देखा। उसी समय निमित्त, उसी समय उपादान तो यह सर्वज्ञकी देखी बात है, उसका घटाव न घटाना चाहिए। वह देखनेकी बात हैं, जैसा यहाँ होनेको था हुआ। प्रसंग मिला, सम्बन्ध मिला वह दीखा। तो निमित्तका सन्निधान पाकर यद्यपि उपादानमें कार्य परिणमन हुआ तिस पर भी व्याप्यव्यापक भाव न होनेसे एक दूसरेका कर्ता नहीं कहा जाता। यही बात आत्मामें लगावो। पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त पाकर आत्मा की संसार अवस्था हुई, आत्मा विषयकषाय परिणाम वाला बना, तिस पर भी आत्माकी अवस्थामें पुद्गल कर्मका व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। ये कर्म जड़ हैं अचेतन हैं। ये कर्म अपने स्वरूपसे अस्तित्व रखते हैं, चेतन अपने स्वरूपसे अस्तित्व रखता है। इन कर्मोंने इस चेतन आत्मामें क्या किया? ऐसी संसार-अवस्थामें यद्यपि पुद्गलकर्म विपाकका निमित्त है तो भी अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव न होनेसे कर्म और जीवकी अवस्थामें कर्ताकर्मपनेकी सिद्धि नहीं होती। निश्चयदृष्टिसे आत्मा अपने परिणामोंका कर्ता है—यह तथ्य समझमें आनेपर दृष्टियों को बदल बदल कर कहनेपर भी ज्ञानीके व्यामोह उत्पन्न नहीं होता।

५०६. अध्यात्मप्रतिपादनोंमें शुद्धस्वरूपके प्रति आकर्षणका लक्ष्य—प्रत्येक कथनवा तथ्यभूत उपदेशसे अपना उद्देश्य निकाल लेना है। कथन आया था कि ये रागादिक विकार जीवके नहीं हैं, ये कर्मोंके हैं, क्योंकि पुद्गलके परिणामसे निष्पन्न हुए है। यहां यद्यपि पुद्गलका रागादिक विकारके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है उपादान उपादेय सम्बन्ध नहीं, तिस पर भी चूँकि आत्माके शुद्धस्वरूपको जीव लखा जा रहा है—जीव क्या है? जिसका सर्वस्व सार चैतन्यशक्तिमें व्यापकर रहता है वह जीव है। ऐसा विशुद्ध स्वरूप दृष्टि में रखकर जब रागादिक विकारोंका निर्णय करने चले कि ये किसके हैं तो उस जीवके नहीं कहे जा सकते क्योंकि यहाँ स्वभावदृष्टिकी धुन रखनेका प्रसंग है, और तब इस विशुद्ध चैतन्यस्वभावसे व्यतिरिक्त विविक्त समझनेके लिए रागादिक विकारोंको यों निरखा जा रहा है कि देखो ये तो सब कर्मोंके हैं, पौद्गलिक हैं, ये जीवके नहीं हैं। यहाँ निश्चय दृष्टिसे रागादिक विकारोंको जीवकृत कहा जा रहा है, कर्मकृत नहीं। जो बात पहिले शुद्धनयसे सिद्ध कर रहे थे वही बात यहाँ पर इस निश्चयनयके प्रसंगमें प्रतिष्ठा नहीं पा रही। ये रागादिकविकार चूँकि पुद्गलकर्ममें अन्तर्व्याप्यव्यापक होकर नहीं रहते अतः इनका कर्ता कर्म नहीं है। इन विकारोंका कर्ता निश्चयसे आत्मा है। इस प्रकार जब कर्मोदयका अभाव हो और जीवमें निःसंसार अवस्था आये, शुद्धपरिणमन चले तो उस समय कर्मविपाकके अभावके निमित्तसे यह शुद्ध निःसंसार अवस्था हुई। इतनेपर भी इस कर्मका जीवकी इस अवस्थामें व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है। अतः ये कर्म अभावरूपसे होकर भी

जीवकी निःसंसार अवस्थाके करने वाले नहीं हैं, क्योंकि स्वयंकी अवस्थाका ही जीवमें अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव है, अतः उस निःसंसार अवस्थाका कर्ता भी जीव ही है। जैसे कि हवाके चलनेके निमित्तसे समुद्रमें निस्तरंग अवस्था हुई तिस पर भी उस निस्तरंग अवस्थासे हवाका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नहीं है। अतः उस अवस्थाका कर्ता हवा नहीं है, उसका भी कर्ता यह समुद्र है। उसका समुद्रमें ही व्याप्यव्यापक भाव है।

५०७. **निश्चयसे स्वका स्वमें अनुभवन**—जो यहाँ बात कर्तृत्वके सम्बंधमें है ठीक इसी तरहकी बात भोक्तृत्वके सम्बंधमें है, अनुभवके सम्बंधमें है। अनुभवन नाम एक साधारण अर्थका है जिसे चेतनमें भी घटायें और अचेतनमें भी घटायें। अचेतन भी जब जिस पर्यायरूप होता है तब उस पर्यायरूप विषयको बना रहा है, अपनेको वर्त रहा है। यही अनुभव चेतनमें चूंकि उपयोगगुण विशेष है अतः जो परिस्थिति होती है वह चैतन्य रूपसे, जाननरूपसे अनुभव कर लेते है तो चैतन्यका यह अनुभवन चिदात्मक हुआ, अचेतन का अनुभवन अचिदात्मक हुआ। जैसे हवाके चलनेके निमित्तसे समुद्रमें लहरें हुईं तो उस वक्त भी लहररूप अवस्थाका अनुभवन हवाने नहीं किया, उसका भोग उसका अनुभवन समुद्रने किया। इसी प्रकार कर्मविपाकके न रहनेपर जो निःसंसार अवस्था हुई, विशुद्ध आत्मगुण परिणमन जगा उसका अनुभवन कर्मने नहीं किया किन्तु जीवने किया। यों निश्चय से आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माको ही भोगता है। यह तो हुई निश्चय की बात। अब व्यवहारकी बात भी समझना है उसे आगेकी गाथामें कहेंगे।

५०८. **व्यवहारका व्यावहारिक अर्थ समझनेसे संगतता**—कोई कहे व्यवहार कौन सा बुरा है? इस दृष्टिसे देख लें क्या नुकसान है? उसी व्यवहारकी रूढ़िको लेकर पढ़ते हैं:—'पाप पुण्य मिल दोय पाँयन बेड़ी डारी। तन कारागृह मांहि, मोय दियो दुःख भारी॥ पाप पुण्यकी वेड़ियाँ हमारे पैरोंमें डाली गई और हमें शरीररूपी कारावासमें बन्द करके खूब दुःख दिया गया। इसपर भी सन्तोष नहीं होता तो कहता है—दुष्टन देहु निकार साधुनको रख लीजे। विनवे भूधरदास हे प्रभु ढील न कीजे॥ कवि भावुकतामें प्रभुको आज्ञा दे रहा है, कर्मदुष्टोंको मुझमेसे निकाल दो तथा मेरी आत्मा है साधु सो उसे ही रख लो। व्यवहार बढ़ते बढ़ते यहाँ तक आ गया 'द्रोपदीका चीर बढ़ायो' द्रोपदीकी साड़ी ही भगवान्ने बढ़ा दी। इतने अन्तरको न जानकर यह श्रद्धा मनमें बैठ गई, भगवान्ने इस तरह किया ही किया है। 'गंगामें ग्राहने ग्रही गजराजकी गति' अर्थात् गंगामें मगरने हाथीको पकड़ लिया और भगवानने ग्राहको रोका, इस तरह बताते हैं। मनुष्य भगवान्को ही कर्ता मानने लगे हैं। यह अपने कर्तृत्वपनेकी बात भगवान्में भी देखने लगा। किसीके यहाँ शादी होना था। रात्रिमें भांवर पड़नेका समय आया। उसी समय बिल्ली बोल रही थी, जो कि अपशकुन

माना जाता है । यह देख उन्होंने बिल्लीको टोकनीके नीचे बन्द कर दिया, बादमें भांवर पड़ गई । कुछ दिनोंमें बूढ़े पुराने आदमी उस घरसे गुजर गये । तब कुछ समय बाद शादी उनके यहाँ हुई । परिक्रमाका समय आ गया, इतनेमें क्या कहते हैं कुछ मनुष्य, ठहरो ठहरो अभी बिल्ली तो लाई ही नहीं गई । उसे टोकनीके नीचे रखा जायगा तब शादी होगी । बिल्ली पकड़नेके लिए आदमी गये । प्रयोजन कुछ और है, किन्तु हो कुछ और ही रहा है । निमित्त-नैमित्तिकपनेकी बात कहाँसे कहाँ तक भूलभुलैयोंमें लिए जा रहे हैं ? अज्ञानमें यह मान रहे हैं—द्रव्य अपनी परिणतिसे परमें ऐसा कर ही देते हैं । निमित्तनैमित्तिक दृष्टिमें ऐसा है यह बात चल रही थी । वहाँ भी व्याप्यव्यापक भाव नहीं है । यह प्रतीति रखनेसे ही तत्त्व-दर्शन होगा ।

५०६. निश्चयदृष्टिका आधार अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव व व्यवहारदृष्टिका आधार बहिर्व्याप्यव्यापक भाव—वस्तुत्वदृष्टिसे देखो—जैसे अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव होने से मिट्टीके द्वारा ही कलश किया जाता है, वैसे ही अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव होनेसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा ही कर्मप्रकृतियां की जाती हैं । जैसे भाव्यभावक भावसे मिट्टीके द्वारा ही कलश अनुभवा जाता है अर्थात् वर्तित होता है वैसे ही भाव्यभावक भावसे पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्मप्रकृतियां अनुभूय-मान होती हैं । फिर भी जैसे लोक जो ऐसा व्यवहार करते हैं कि कुम्हारने घड़ा बनाया, वह बहिर्व्याप्यव्यापक भाव निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध) देख कर कर देते हैं, क्योंकि घड़ेकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करता हुआ कुम्हार लोगोंकी नजरमें आया । उसी प्रकार लोग जो ऐसा व्यवहार करते हैं कि जीवने कर्मप्रकृतियां कीं, वह बहिर्व्याप्यव्यापक भाव (निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध) देखकर कर देते हैं, क्योंकि कर्मप्रकृतियोंकी उत्पत्तिके अनुकूल परिणाम करता हुआ जीव लोगोंकी समझमें आया तथा जैसे लोग जो ऐसा व्यवहार करते हैं कि कुम्हारने घड़ेका अनुभव किया, उपयोग किया, वह बहिर्व्याप्यव्यापक भाव (निमित्तनैमित्तिक भाव) देख कर कहते हैं, क्योंकि घड़ेसे किये गये जलके उपयोगसे तृप्तिको प्राप्त होता हुआ कुम्हार लोगोंकी नजरमें आया । वैसे ही लोग जो ऐसा व्यवहार करते हैं कि जीवने कर्मको भोगा वह बहिर्व्याप्यव्यापक भाव (निमित्तनैमित्तिक भाव) देखकर कहते हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मके उदयसे प्राप्त हुए विषयोंके समागममें होनेवाली सुख दुःखकी परिणतिको अनुभवते हुए जीव लोगोंकी समझमें आये । सो यह सब व्यवहार अज्ञानियोंके अनादिकालसे चला आ रहा है ।

विकल्पोंसे व्यवहारकी उपपत्ति—भैया ! रूढ़िमें, कल्पनामें, अज्ञानमें कुछ भी व्यवहार चलो, मगर उनमें अपनेको देखना क्या है ? अपनी तो जिज्ञासा यह हो कि शान्ति का उपाय क्या है ? उपाय तत्त्वज्ञान है । जो द्रव्य जितना है वह उतनेमें ही समाया है,

उससे आगे नहीं, यह विश्वास हो जाना चाहिए। यह तत्त्वज्ञानकी बात है। किसी को किसी अन्यरूपमें देखना यह व्यवहार है। व्यवहारमें ही देखलो। पुराणोंसे पता चला सकते हो। पहले ज्ञात हो गया कि दीपायन मुनिसे द्वारिकानगरी भस्म होगी तथा जरत् कुंवरसे कृष्णकी मृत्यु होगी। यह जानकर द्वीपायन मुनि अन्य देशमें चले गये तथा १२ वर्ष पूरे हो गये— ऐसा समझकर द्वीपायन द्वारिकापें आ गये तथा द्वारिका जली तो कृष्ण जंगलमें चले गये। जहाँ कि जरत्कुमारके हाथ कृष्णजी की मौत हुई। जो होना है वह नियमसे होता है यह तो विकल्पमात्र है। विकलपसे ही भाई, मित्र, दोस्त मानते हैं, शत्रु मानते हैं, रिश्तेदार मानते हैं। द्रव्यद्रव्यका क्या सम्बन्ध है? जीव जीवका मिलकर तो कुछ बनता ही नहीं। राग परिणाम कर लेते हैं, जिससे दोनों दुखी होते हैं।

५१०. अज्ञानमें जीवोंकी वृत्तिपद्धति—राजाभोज कवियोंको खूब इनाम दिया करता था। यह देख चार देहाती आदमियोंने सोचा—चलो अपन भी राजाके पास जाकर इनाम लेवें। यह सोच कुछ कविता बनाना चाहिए। कहा—रास्तेमें ही बना लेंगे। चले चारों। रास्तेमें एक रांटा चलता हुआ दिखा तो एक कहता—बन गई कविता। 'चरर मनर रांटा भन्नाय' और आगे चले तो तेलीके यहाँ कोल्हूका बैल खरी भुस खा रहा था तो दूसरा बोला 'तेलीका बैल खरी भुस खाय'। फिर कुछ आगे चले तो तिकतिक तांय तांय करने वाले बेना महाराज निकल पड़े, जो कि धुननेके औजार लिए थे। उसे देखकर तीसरा कहता है 'वहाँसे आगये तरकस बन्द।' अब चौथेसे कहा—तुम्हारी कविता बन गई या नहीं? तो यह तो अपने को आशुकवि समझते थे। इसलिए बोले—हम वहीं पर बोल देंगे। तीनोंने कह दिया—अगर तुम्हारी कविता नहीं बनेगी तो जो इनाम मिलेगा वह नहीं देंगे। चारों राजाके दरवाजेपर पहुंचे। द्वारपालसे कहा—राजासे कहो चार महाकवीश्वर आये हैं। चारोंको बुलाया गया, तो कहने लगे-हमारी कविता संक्षिप्त है, इसलिए एक एक पंक्ति सुनावेंगे। हाँ सुनाओ! तो पहला कहता चररमनर रांटा भन्नाय, दूसरा कहता 'तेलीका बैल खरी भुस खाय। तीसरा कहता—वहांसे आगये तरकस बन्द। चौथा कहता-राजा भोज है मूसरचन्द। सभामें मनुष्य सोचने इस कवितामें सार नहीं है और राजाके लिए मूसरचन्द बना दिया। राजाने विद्वानोंसे अर्थ लगानेको कहा। एक विद्वान ने अर्थ लगाया। यह चरखा की तरह शरीर भन्ना रहा है तथा यह मनुष्य कोल्हूके बैलकी तरह आँखों पर रागके पट्टे चढ़ाये घूम रहा है। तथा इतनेमें ही यमराज तरकश तीरकमान लिए आगये हैं। यह सब होते भी राजा भोज मूसरचन्दकी तरहसे बैठे हैं। जिनका कुछ भी भाव नहीं लगता। यही कविता हमपर आपपर सबपर घटित होती है। जीवन यथार्थमें कोल्हूका बैल बन चुका। दिन रात हाय पैसा, हाय पैसा हो रहा है।

फुरसत भी नहीं ले पाते, अपने बारेमें थोड़ा मनन करनेको समय ही नहीं है। प्रतिवर्ष दशलक्षण, अष्टाह्निका, क्षमावणियां, षोडषकारण मनाते हैं, फिर भी रत्नत्रयके तेजकी आत्मामें जागृति ही नहीं होती है। पहले जैसे ही कषायोंमें जुट जाते हैं। वही कषाय, ईर्ष्या, लड़ाई झगड़ा, परिग्रह की वृत्ति ही बढ़ती जाती है। बहुतोंका तो यही ख्याल रहता है—धन मिले, बच्चे आबाद रहें, किसी तरह की आपत्ति न आवे, यही सब कुछ मिल गया उन्हें तो। इससे आगे बढ़नेकी चिन्ता नहीं। पुण्य कर्मके फलसे धन मिला, अन्य कार्य सिद्ध हो गये, लेकिन यह महावीर स्वामी क्या धन, पुत्र, विद्या, स्त्री ही देते हैं। यह भगवान मुराद पूरी करते हैं। यह व्यवहार है क्योंकि भक्तिसे संचित पूर्व पुण्यका उदय पाया जाता है और कुछ नहीं। व्यवहारमें इस तरह की विचित्र दशायें व मान्यतायें हो जाती हैं। यह जीव पुद्गलका कर्ता भोक्ता है, यहाँ तक कि मकानका कर्ता भोक्ता है, यह पूर्णतया उपचरित व्यवहारनय हो गया। यह सब व्यवहारकी भिन्न-भिन्न दशायें हो रही है।

यहाँ द्रव्य पर्यायमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटाया जा रहा है। द्रव्यपर्यायें अनेक मिलकर जो क्षेत्रपरिणमन करें वह द्रव्यपर्याय है। जैसे द्रव्यके एक एक परमाणु मिलकर चौकी रूपमें हुए वह द्रव्यपर्याय है। उसी तरह पशु मनुष्य आदिमें भी आत्माके साथ पुदगल परमाणुओंका पिण्डरूप बनकर हुआ है। जो पुद्गल-पुद्गल मिलकर दशा हुई उसे समानजातीय तथा जीव पुद्गल मिलकर जो अवस्था हुई वह असमानजातीय कहलाता है। जीव आत्माके परिणामको करता है। वैसे ही विधिसे आत्मा पुद्गलके परिणामोंको करता है। अगर यह मानोगे तो बहुत बड़ा दोष आ जायगा। इसीको गाथा ८५ वीं में कहते हैं—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥८५॥

५११. अपनी और परकी क्रिया करनेमें द्विक्रियावादित्वका दोष—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करता है और उस ही को वेदता है तो द्विक्रियावादित्वका प्रसङ्ग आ जायगा, ऐसा दृढ़तापूर्वक जिनेन्द्रदेवका अवमत है। जो तिरस्कार करने योग्य बात होती है उसके सम्बन्धमें अवमत शब्दका प्रयोग होता है। इससे पूर्वकी गाथाकी आपत्ति दूर करनेके लिए उसके मुकाबलेमें यह गाथा कही गई है। अगर आत्मा अपने परिणामको भी करे और दूसरेको भी करे तो द्विक्रियावादित्व दोष आ जायगा अर्थात् एक द्रव्य अपनी क्रिया और दूसरेकी भी क्रिया करे। कह सकते हो यह तो परोपकार करना है तब तो प्रसन्न होना चाहिए। अगर द्रव्य भी दो दो कार्य करने लगे तो इससे यह नुक्सान होगा, सभी (द्रव्य) मिट जावेंगे। एक द्रव्य दूसरेका भी कार्य करने लगे तो यह भेद कैसे मालूम होगा कि यह एक द्रव्य है और दूसरा यह द्रव्य है। जैसे कोई एक शक्लके ही आदमी कहीं मिल जावें

तब हम अपने सगे सम्बन्धीके स्थानपर दूसरेको समझ लेंगे, तब एकके लोपका प्रसंग आवेगा। तथा उस जैसी सभी बातें इसमें मिलना असंभव है। हमें एक समय एक मनुष्य मिला था, जो पं० जवाहरलाल नेहरूकी शक्लका था। उससे बात भी हुई, वह भी पुलिस का ऊंचा आफीसर था। उसने बताया कभी कभी तो ऐसा अवसर भी आ जाता है कि नेहरू जी को सभा आदिमें आना है और उनका कार्यक्रम असफल हो गया या आनेमें देर हुई तो जनताको झूंठी शान्ति देनेमें मैं सहायक सिद्ध होता हूं। एक घटना है। शेक्सपियर कविका एक रंगमंचपर एक नाटक खेला गया। लोग देखकर बड़े प्रसन्न हुए। जनता एकदम चिल्ला पड़ी 'शेक्सपियर लेखकको बाहर निकाल दो, हम सब देखना चाहते हैं।' तब एक व्यक्ति दाढ़ी आदि लगाये था खेल खेलने वाला, वह झूठी प्रशंसा पानेके लिए बाहर निकल आया। जनताने उसको गोली मार दी। झूंठी वाहवाही पानेका यह परिणाम था।

५१२. व्यवहारनयसे परका परमें कर्तृत्व व भोक्तृत्वका कथन—जैसे कुम्हारने घड़ा बनाया तो उस प्रसंगमें अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे देखा जाय तो कुम्हारने घड़ा नहीं बनाया। मिट्टीका और कुम्हारका अन्तर्व्याप्यव्यापक सम्बंध नहीं है। घड़ेका उस मिट्टीमें ही व्याप्य-व्यापक भाव है। वह मिट्टी ही तो घड़े रूप परिणाम रही है, तो ऐसे अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे मिट्टीके द्वारा कलश किया गया और व्याप्यव्यापक भावसे मिट्टीके ही द्वारा अनुभवमें आया, फिर भी निमित्तनैमित्तिक भावसे देखते हैं जिसके होनेपर हो, न होनेपर न हो ऐसा अन्वयव्यतिरेक जहाँ मिलता है इस बहिर्व्याप्यव्यापक भावसे देखनेपर यह देखा कि कलश जैसे उत्पन्न हो उसके अनुकूल व्यापारको करने वाला यह कुम्हार है और कलश किया जा चुकनेपर उससे फिर जो उपयोग किया, पानी भरकर लाया, उसे बेच दिया, तो उससे जो एक तृप्तिका अनुभव किया, राजीपन हुआ तो उस तृप्तिको किसने किया? कुम्हारने किया अन्तर्व्याप्यव्यापक सम्बंधसे। लेकिन जो बाह्यमें देखा, जो उपयोगमें उपयोगा, जो बात की उसमें भाव्यभावक भावसे यह दीखा कि कुम्हारने कलशको किया और कुम्हारने उस कलश को भोगा। लोग कहते भी है कि हमने यह चीज बनाया, उसको बेच दिया, हमें ठीक दाम मिल गए, तो व्यवहारका यह कथन है। इसी तरह पुद्गलकर्म और जीवकी बात निरखिये। अन्तर्व्याप्यव्यापक सम्बंधसे देखा जाय तो कर्ममें जो कुछ बात बनी वह पुद्गल द्रव्यके द्वारा बनी और जो अनुभवन हुआ, जो उसमें अवस्थाके कारण वर्तन हुआ वह भी पुद्गल द्रव्यके द्वारा अनुभूयमान हुआ, लेकिन जब बहिर्व्याप्यव्यापक भावसे देखा जाता है कि यही तो दिख रहा है कि जैसे पुद्गलकर्म उत्पन्न हुआ उसके अनुकूल परिणामको यह जीव कर रहा है तब तो व्यवहारसे कर्तृत्व आयेगा। मिट्टीको पसारने, संकोचने आदिककी क्रियायें करके जिस तरह व्यापार करते हुए कुम्हारसे घड़ा बना, उसी तरहकी बात देखकर ही तो कहा

जायगा कि कुम्हारने घड़ा बनाया। इसी प्रकार जिस प्रकार भी पुद्गलकर्मकी उत्पत्ति हुई उस तरह परिणामको करता हुआ यह जीव पुद्गल कर्मको करता है ऐसा अनादि प्रसिद्ध व्यवहार चल रहा है, यही बात भोगनेके सम्बन्धमें भी लगावो। पुद्गलकर्मने अपने आपमें ही अपना अनुभवन किया, फिर भी बाह्य व्यापक भावसे यह देखा गया कि पुद्गलकर्मके उदयसे प्राप्त हुई विषयोंकी अनेकता एकदम दौड़ती हुई सी आकर यह सुख दुःखकी परिणति बनी है तो इस सुख दुःख परिणतिको किसने अनुभवा? जीवने अनुभवा। लेकिन कर्मोंके निमित्तसे सुखदु.खादि वह हुई तो वहां किसी ने समझा कि पुद्गलकर्मने जीवमें सुख दुःख परिणमन किया और जीवको दु.खपरिणमनसे भोगा भुगाया, इस तरह अज्ञानी जनोंमें अनादिसे अनेक द्रव्योंके बीच यों कर्ता कर्म भोक्ता भोग्यका व्यवहार चल रहा है।

५१३. परिणमनभेदसे द्रव्यभेदकी प्रतीति--जिस तरहका हाथ पैर, मुंह हम हिलाते हैं वैसा ही तुम्हारा किसी अन्यका चलने लगे याने एकके चलनेपर दूसरेका चलने लगे तो यह कैसे मालूम होगा कि यह अमुक व्यक्तिका है, यह अमुकका है? सुग्रीव अपना बनावटी भेष बनाकर आया था। तब वहाँ दोनों एकसे मिल जानेसे किसीको भी सच्चा नहीं माना गया। यहां एक ही द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्याय धारण कर ले तो दोनों व्यर्थमें ममत्वरहित सिद्ध हो जायेंगे। एक कथानक है। एक साधु प्रतिदिन गाँवके बाजारमें से निकला करता था। रास्तेमें एक बनियाकी दुकान मिलती थी। वह उस दुकानपर घी बेचा करता था। साधु दुकानदारसे कहे 'सेठ जी राम राम कहो'। तो सेठ जी बिना जवाब दिये ही रह जाते। तब साधुके मनमें आया, इस बनियाकी इतनी भी मति नहीं होती कि राम राम बोल लेवे। अतएव इसे मजा चखाना चाहिए। तब सेठ जी एक दिन नदीपर नहाने गये थे और यह साधु सेठ जी का भेष बनाकर घरमें आ गया और लड़कोंसे कह दिया कि आज एक आदमी छलकपटमें हमारे जैसा भेष बनाकर आवेगा, तो उसे आने नहीं देना। कुछ समय बाद सच्चे सेठ जी आ गये तो दरवाजे पर ही रोककर लड़के बोले—हटो हटो यहाँसे ठगिया कहींके। वह सेठ जी बोले—तुम कैसी बात करते हो, तुम हमारे ही तो लड़के हो, यह हमारा ही तो घर है। इतनेपर भी तुम कहते हो 'भाग जाओ'। इस तरह परेशान होकर राजाके पास फरियाद करने सेठजी गये। राजा साहब! हमारे बच्चे हमीं को घरमें नहीं आने देते हैं। तब राजाने लड़कोंसे बुलाकर पूछा तो बोले--हमारा पिता तो घर पर है, यह पिता नहीं है। तब राजाने घरसे पिताको बुलवाया। वहाँ साधुसे राजा बोला--इनके घरमें तुम क्यों ठहरे हो? उत्तरमें बोला--मकान हमारा है। परीक्षा लेनेके लिये राजाने प्रश्न किया, इस मकानमें कितना रुपया निर्माण कराई लगा है? इसपर उसने ज्ञानबलसे बता दिया जो कि सही निकला। इससे वही सच्चा साबित हो गया। फिर भी

साधु बोला—सच्चे सेठ जी तो यही हैं, मैं तो भेष धारण करके गया था। लेकिन इन्हें मैं प्रतिदिन समझाता कि राम राम बोलो, कुछ धर्मध्यान करो, वह यह नहीं करते थे जिससे मैंने उन्हें तंग करनेके लिए यह सब कार्य किया है। अगर दो एकसे हो जायें तो वहां क्या पता रहेगा कि कौन क्या है व कैसा है? इससे एक द्रव्य यदि दो द्रव्यकी क्रिया करने लगे तो द्विक्रियावादित्वका प्रसंग आ जायगा। दो क्रियाओंको द्रव्य कर देता है, यह आपत्ति आ आयगी। जिनेन्द्र भगवान्ने इसे अवमान रूपमें बताया है।

५१४. सर्वत्र स्वयंका स्वयंमें कर्तृत्व—दो हाथ आपसमें दाहिनेके द्वारा बांया हाथ मोड़ दिया गया तो यहाँ दाहिने हाथने अपना कार्य किया या दूसरेका भी कर दिया? यहाँ दोनोंका भिन्न-भिन्न काम हुआ है, न कि दाहिने हाथने बांये हाथका काम किया और न बांये हाथने दाहिनेका काम किया। हमारा काम क्या आपके करानेसे हुआ है? कहते है पाल पोष कर बड़ा कर दिया, पढ़ा लिखा दिया आदि। फिर भी दोनोंका परिणमन जुदा-जुदा है। कोई किसी अन्यकी परिणति नहीं कर सकता है। बालकका इसी तरहका पुण्य था जिससे उसे हर तरहकी सुख सामग्री मिली। इस तरह कहना होगा, मालिकाई तो बच्चेके पुण्यकी चल रही है तथा नौकराई पिता कर रहा है। मिलोंमें भी तो सेठ लोग पैसा मात्र लगा देते हैं। नौकर लोग काम करते हैं तथा मिलमालिक आपका उपार्जित उपभोग करता है। मालिकका पुण्य है सो मजदूर काम करके सेवा करते हैं और मजदूरोंका पुण्य है सो मालिक उन्हें द्रव्य देकर पोषण करता है। अब देखो मालिक तो मजदूरोंका नौकर है। मजदूर मालिकके नौकर हैं। वस्तुतः कोई किसीका कुछ नहीं है। बच्चोंको तो बड़ा ही आसान उपाय है—लड़के पिताकी थोड़ी अगर खुशामंद कर देवें तव तो कहना ही क्या है? पिता हर एक प्रकारसे तकलीफ उठाकर कमाकर लावेगा ही। यथार्थमें किसीने किसी का किया कुछ नहीं सब अपनी अपनी चेष्टायें कर रहे हैं। जीव अपना भी भाव कर ले तथा पुद्गलका भी तो यह कैसे पता चले कि यह जीव है और यह पुद्गल है। एकके द्वारा दो क्रियायें नहीं हो सकती हैं। वस्तुका जो परिणमन है उसी का नाम क्रिया है, क्रिया अर्थात् परिणमन। जो द्रव्यका परिणमन है वह द्रव्यकी क्रिया है। आत्माकी क्रिया शान्ति गुणका परिणमन है। एक द्रव्य दूसरेकी क्रिया कर दे तो वह दूसरे द्रव्यरूप हो गया, यों एकका अभाव हो गया, फिर उसका भी अभाव हो जायगा। एक द्रव्य अपनी क्रियाको उल्लंघन नहीं कर सकता है।

५१५. निश्चयतः कर्ताकर्मकी एकाधिकरणता—परिणमन स्वयं अपने आश्रयसे भिन्न नहीं हो सकता है। परिणाम परिणामीसे जुदा नहीं रह सकता है। क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है और परिणाम क्रियासे या परिणामीसे भिन्न नहीं है। क्रिया और कर्ता

एक अभिन्न होते है। हाथने हाथका परिणमन किया—यह अभिन्न ही तो रहा। सर्पने जो कुंडली वनाई, क्या वह उससे भिन्न है ? अगर उस कुंडलीको दूसरा भी बना देवे तो भी कुंडलीका सर्प ही कर्ता हुआ। सुवर्णकार सोनेको, चांदी को क्या करता है ? वह उसे तपा गला कर ठोक पीट कर सुडौल कर देता है, फिर भी स्वर्णकार अपना ही परिणमन कर रहा है तथा सोना चाँदीमें जुदा ही परिणमन हो रहा है। एक चीजकी क्रिया उसी वस्तुमें होती है अन्यमें नहीं। ऐसा होवे तो ऐसा परिणाम जावे और यह बात न होवे तो नहीं परिणमे, यह निमित्तकी बात है। अभी द्रव्यविवरण चल रहा है। वस्तुका तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव चल ही रहा है। वस्तुका परिणमन सामान्य स्वभाव है। प्रतिविम्ब जो है वह औपाधिक है। झलकना सामान्य दर्पणमें है। वह तभी तो परिणमा जो परिणमने वाला है। जीवका ज्ञान जीवसे अभिन्न है। जीव अपना ही काम करता है और का नहीं। भड़भूजे तिली सेक कर पैरके चलने वाले मूसल विशेषसे बार बार उचक उचक कर दबाते हैं तो यहाँ भी उस कूटने वाले का परिणमन उसीमें चल रहा है तथा तिलोंका तिल में हो रहा है। यहां निमित्तनैमिन्तिक मात्र है। कर्ता कर्मपना नहीं है। निमित्तनैमित्तिकका खण्डन नहीं है और कर्ताकर्मका मण्डन नहीं है।

५१६. एकद्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणमनकी अशक्यता—चौकीने हमारे बैठने के लिए परिणति कर दी हो, यह बात तो नहीं है। कोई घर ऐसा होवे जिसमें अकेली विवाहित लड़की होवे और औरत वगैरह न होवे तो कहावत है 'बेई बहु गुना गोंठवें और बेई सुसरारे जावे, तो यहाँ हो भी सकता है कि सुसराल वाले लेने आये होंगे तो वह गालनों गुनी, पेराक खाजा पपरिया तैयार करके रख सकती है लेकिन एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं कर सकता है। निमित्तमें परिणमयिताकी वात कहना उपचार मात्र है। यदि यह होना शुरू हो जाय तो दुनियाँमें ये पदार्थ रहते ही नहीं तथा पुस्तक मुंहसे न पढना पड़ती और हाथसे ही वह काम हो जाता। हाथ अपना भी काम कर ले और दूसरेका भी, मुंह आदिका, यह नहीं हो सकता है तथा दो वस्तुओंमें एकसा परिणमन हो जावे तब वह दो चीजें न होकर एक हो रहेगा। हम अपना ही परिणमन कर सकते हैं, दूसरेका नही। स्त्री अपना ही भाव कर सकती है वह पतिके लिए कुछ नहीं कर सकती है। एक द्रव्य दूसरेका कर्ता नहीं है। सब अपना ही अपना कर रहे है। जब क्रिया और कर्ता एक बन गये तो आत्मा अपने परिणामको करेगा दूसरेको नहीं। हाथ कहे हम भोजन उठाकर पेटमें न डालें तो पेट भूखा रह जावे, ऐसा तो नहीं है। पेटमें बुभुक्षा मालूम पड़ी और हाथमें क्रिया हुई और भोजन पेटमें पहुँच गया। हम हाथ चलावें, मुंह वोलावें तो यहाँ हमारा परिणमन हम ही में है, दूसरेमें नहीं। मजदूर लोग मकान बननेके लिए ईंटें ऊपर फेंकते हैं

तो मजदूर का परिणमन मजदूरमें है और ईंटका परिणमन ईंटमें है। जो द्रव्य है वह अपना ही परिणमन करता है, दूसरेका नहीं। अपने लिए परका कर्ता मानना संसारको बड़ा करना है। निश्चयसे कोई किसीका कर्ता नहीं है। सभी स्वतन्त्र परिणमन करते हैं।

५१७. द्विक्रियात्वके सिद्धान्तमें स्वपरविभागका अभाव—यह प्रकरण चल रहा है, एक पदार्थ दो की क्रिया नहीं करता है! इसी विषयको अमृतचन्द्राचार्य सूरि कहते हैं। जिस तरह आत्मा व्याप्य-व्यापक होकर अपना परिणमन करता है उसी तरह आत्मा भाव्य-भावक होकर स्वयं अपना अनुभवन—परिणामन कर्ता है। अगर वही भाव्यभावकके साथ परद्रव्यका अनुभवन कर लेवे तो यहाँ दो की क्रिया एकमें समवेत हो गई। दोनोंमें तादात्म्य-पना आ गया। जैसे व्याप्य-व्यापकसे अपने परिणामको करे तथा दूसरेके परिणामको भी करे तो दोनों क्रियायोंसे अभिन्नता, तादात्म्य आ गया तो स्व और परका विभाग खत्म हो गया। अगर जो काम आग करे वही चूल्हा, सिगड़ी आदि ही कर देवे तब तो अग्निका सम्बन्ध भी अनावश्यक हो जायगा। अपने सम्बन्धसे अपना हाथ चला देवे तथा दूसरेका भी हिला देवे तो यह ज्ञान कैसा रहेगा कि दुःख वगैरह उसे हुआ या नहीं। अथवा यह हाथ तेरा है व यह हाथ मेरा है। अपने रूप भी आत्मा है और साथमें यह भी सोचे—पुद्-गलरूप भी आत्मा है या अनुभव करे ऐसा जो देखे वह मिथ्यादृष्टि है। इस तरहसे सम्मत किया गया है। सम्मत शब्द अच्छी बातके लिए कहते हैं और अवमत झूठी बातके लिए कहते हैं। वैसे देख लो व्यवहारमें सब चीजें इकहरी इकहरी चल रही हैं। कोई किसीका कर्ता नहीं है और न कोई किसीका उपाश्रयदाता है। हमारा आत्मा तथा आपका आत्मा पुद्गलको ग्रहण नहीं कर सकता है और न पुद्गलका त्याग ही कर सकता है।

५१८. परिणामपर ही फलकी निर्भरता—जो घरमें रहते हुए गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी विरक्त है वह घरमें ही वैरागी है तथा जिसके घर छोड़कर भी उसके प्रति ममता लगी है वह घरमें रहने वाले उस वैरागीसे बुरा है तथा जो पूर्णतया अपनी परीक्षाओंमें पास हो चुका, किसी तरहके भी झकोरे उसको विचलित नहीं कर सकते, वह घरत्यागी होकर निर्द्वन्द जीवन व्यतीत करता है। यथार्थमें भावका ग्रहण, त्याग है। भावके ग्रहणके व त्यागके साथ द्रव्यग्रहणका विवेक हो जाता है। जीव अपने ही भावको कर सकता है, दूसरेके भावको नहीं कर सकता। एक गाँवमें दो भाई रहते थे। उन दोनोंने आपसमें तय करके एक भाईको जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजाके लिए भेजा और दूसरेने जंगलमें से लकड़ी लाना तय किया। लकड़ी लाने वाला भाई जंगलमें जाकर सोचता है—हमारा एक भाई पूजनमें जाकर जिनेन्द्र भगवान्‌की कैसी स्तुति कर रहा होगा, विविध काव्योंके द्वारा मन बहला रहा होगा, कर्मोंके बन्धन काट रहा होगा। मैं यहाँ जंगलमें लकड़ियाँ काटकर हिंसा

कर रहा हूं तथा जो भाई पूजनके लिए गया था वह सोचता---हमारा भाई जंगलमें जाकर मीठे मीठे फल खा रहा होगा, पेड़ों पर चढ़ता उतरता होगा। प्राकृतिक सौन्दर्य निरखकर प्रफुल्लित होगा, गाने गाता होगा। दोनोंने कर्म कमाया, यह स्पष्ट देख लो। लकड़ीको जाने वाले भाईने पुण्योपार्जन किया जब कि पूजन करने वाले भाईने पुण्यका क्षय किया और बदले में पापका बोझा उठाया। यहाँ कोई किसीका भाव बनानेवाला नहीं है। दोनोंने केवल भाव भाव ही तो किये हैं, जिसका फल उन दोनोंको यथायोग्य मिलेगा। कोई सोचे मैं काफी कोशिश करके यह बात इसके दिमागमें जमा ही दूंगा, यह पूर्णतया संभव नहीं। किसीके दिमागमें कोई बात जमती ही नहीं काफी कोशिश करनेपर। इससे ज्ञात होता है कोई किसीका बिगाड़ सुधार करनेमें समर्थ नहीं। आत्माको अन्य कोई अपनी परिणतिसे परिणमाता नहीं। जीव भावोंके अनुसार अपनी यात्रा करता चला जाता है।

५१६. प्रभुभक्तिसे प्रेरणा---एक दिन एक गरीब आदमी सम्मेद शिखर जी की यात्रा करने पहुंचा। उसके पासमें एक कुल्हाड़ी मात्र थी। वह सबसे पहले पर्वतपर दर्शनार्थ गया और एक टोंकपर कुल्हाड़ी रख दी तथा सोचने लगा और मेरे पास कुछ नहीं है, सो कहा बाकी सब टोंकके भगवान् इसे बाँट लेवें। उसके भक्तिके प्रभावसे वह कुल्हाड़ी सोनेकी हो गई तथा सब टोकोंपर सुवर्ण निर्मित मानो कर्मोंको भेदने वाली कुल्हाड़ी देखी गई। सेठ लोग दर्शनार्थ आये। वे भी अपने माफिक सुवर्ण चाँदी आदिके फूल तथा अनेक प्रकार के द्रव्य लाये, किन्तु जब उन्होंने सब टोकोंपर सुवर्णकी कुल्हाड़ियां देखीं तो आश्चर्यचकित हो ज्ञात करने लगे---यह किसने चढ़ाई हैं? बादमें उतरते समय एक गरीब आदमी वृक्षके नीचे सोता मिल गया, उसके सिरके नीचे सोनेकी कुल्हाड़ी थी, तब उससे ज्ञात हुआ लोहे की कुल्हाड़ी उसने चढ़ाई थी जिससे भक्ति भावमें सुवर्णकी हो गई। भक्तिमें इस तरहसे रंग जाना कोई ताज्जुबकी बात नहीं। कभी-कभी ऐसा होता---किसी किसीके माता पिता सोना चाँदी आदि मकानके अन्दर जमीनमें गाड़ जाते है तथा उनके मरनेके बाद लड़कोंने खोदा तो वहाँ कोयला पाया गया। यहां पुण्यका उदय इतना नहीं था कि वह धन उनके लिए जमीनमें मिल सकता। कुछ लोग देवता सिद्ध करने वाले होते हैं, जो दूसरेका धन बिना परिश्रमके सहजमें ही पा जाते हैं, वे ऐसा ही धन लाकर दे देते हैं। किसीको जंगलमें में मिल जाता है तथा किसीको पुराने मकानमें मिल जाता है, तो कोई किसीको गोद ले लेता है जिससे लाखों, करोड़ोंकी स्टेट या जायदाद तक मिल जाती है। इससे कहना होगा जिसपर जो बीत रही है उसपर वह सब उसके पुण्य या पापसे बीत रही है। निमित्तनैमित्तिकका सम्बन्ध ऐसा है कि एकके पुण्यके उदयसे दूसरा कमाकर देता है। अपना-अपना करते हुए किसीको चैन नहीं है। अपना कार्य करते हुए भी अनेक विडम्बनायें साथ लगी

हुई है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य नहीं करता है। जैन शासन की जितनी बातें मुख्य हैं, वे सब वस्तुस्वरूपको समझनेसे जानी जा सकती हैं। सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं, वे किसी दूसरे के परिणमनमें नहीं आते हैं।

५२०. जीवराशि और एकत्वपरिणतोंकी शाश्वतता—मनुष्य शंका करते हैं। इतने जीव सदैव मोक्ष जाते रहते हैं फिर भी संसार खाली नहीं होता। मोक्ष जाने वाले जीव वापिस नहीं आते हैं। अतएव यह संसार तो खाली हो जाना चाहिए। यह कुछ भी नहीं दिखता है। इसे जाननेके लिए जीव संख्या ग्रन्थोंमें देखें तो निश्चय हो जायगा। एक निगोद शरीरमें इतने निगोदिया जीव हैं कि वह सिद्ध संख्यासे अनन्तगुणे बने रहते हैं। अनन्ते सिद्ध हो जावें तब भी अनन्तगुणे ही रहेंगे। जैसे १ करोड़ राशि है, उसमें से ५ कम कर दो तो करोड़की संख्या ५ की अपेक्षा भी शतगुणी है। ५, ५ कम करते करते सौ भी कम हो जावें तो उनकी अपेक्षा भी शतगुणी है। हजारसे भी शतगुणी है आदि। यह दृष्टान्तमात्र है। इसी तरह सिद्धोंकी राशि समझना। समस्त जीवराशि इतनी है कि अनन्तकालमें अनन्ते सिद्ध हो चुके होंगे, उससे अनन्ते फिर भी रहेंगे। आलू, गाजर, मूली, शकरकन्दी, अरवी आदिमें असंख्यात जीव राशि पाई जाती है। प्रत्येक जीव अपना-अपना ही कार्य करता है। इसीसे कहते हैं—अगर एक कार्य करनेपर दूसरेमें कार्य होने लगे तो द्विक्रियावादित्व आ जायगा। कुछ सिद्धान्त तो दिमागमें जल्दी उतर जाते हैं और कुछ नहीं उतरते हैं। कैसा उत्तम खोजपूर्ण वैज्ञानिक ढंग है? एक द्रव्य दो की क्रिया नहीं करता है। जीव पुद्गलरूप नहीं होता और पुद्गल जीवरूप नहीं होता है।

५२१. द्विक्रियावादका मिथ्या आशय—ऊपर कहे गए व्यवहारमें दोष देते हैं। व्यवहारसे बात जानी गई बातको निश्चयसे यथार्थतया ऐसा ही है, ऐसा निर्णय न कर ले कोई, इस कारण उसमें दोष बतला रहे हैं कि यदि यह आत्मा इस पुद्गल कर्मको करे और भोगे और अपनेको भी करे और भोगे तो इसका अर्थ है कि आत्मामें दो क्रियायें कर दीं। अपनी भी क्रिया कर दी और पुद्गलकी भी क्रिया की। तो दो क्रियावोंको करे एक पदार्थ ऐसा जो देखता है वह जैन शासनसे दूर माना गया है। उपादान उपादेय भावसे अन्तर्व्याप्य-व्यापक भावको देखनेपर बात यह विदित होती है कि आत्मा पुद्गलकर्मको न करता है, न भोगता है क्योंकि वह अन्य द्रव्य है यह अन्य द्रव्य है। लेकिन व्यवहार उसका है, क्योंकि उसके निमित्तसे जीवमें सुख दुःख आदिक परिणति हुई है। तो इस निमित्तनैमित्तिक भाव को निरखकर वस्तुतः निश्चयसे कोई एक द्रव्यको परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता मान ले तो स्वयं तो स्वयंकी परिणतिका कर्ता भोक्ता था ही और अब उसने दूसरेकी परिणतिको किया और भोगा तो इसमें एक यह दोष आया कि एक पदार्थ दूसरी क्रियाको भी करने लगा

जितनी भी क्रियायें हैं वे सब क्या हैं ? परिणमन रूप। परिणतिको परिणामको क्रिया कहते हैं। वह क्रिया वह कर्म परिणामोंसे भिन्न नहीं हैं। जो भी परिणमन है, जिस वस्तु में हुआ है वह परिणमन उस वस्तुसे अभिन्न है। परिणाम और परिणामी तो अभिन्न है पर जिस किसी परपदार्थका निमित्त पाकर यह परिणमन हुआ है, यह परिणमन उस निमित्तभूत द्रव्यसे निराला है, इसका उसमें सम्बंध नहीं है। तो परिणाम परिणामीसे भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामीसे अभिन्न वस्तु है—पदार्थ और उसकी अवस्था। तब यह निर्णय होता है कि जो कुछ भी क्रिया हुई, जो कुछ भी परिणति हुई वह सब परिणति क्रियावानसे भिन्न क्रियावानसे भिन्न नहीं होती। क्रिया और कर्ता ये अभिन्न होते है। तो व्याप्यव्यापक भावसे जीव अपने ही परिणामका भोक्ता है, यों ही यदि यह जीव पुद्गल कर्मको भी व्याप्यव्यापक भावसे कर दे, उपादानउपादेयरूपसे कर दे और भाव्यभावक भावसे अनुभव ले, जीव पुद्गल कर्मकी परिणतिमें वर्त ले तो दो क्रियाओंमें अभिन्नता मान ली गई। जीवने अपनेमें सम्बधित क्रियाओंसे अभिन्नता तो पायी थी, अब पुद्गलकर्ममें पायी जानेवाली क्रियावोंसे भी अभिन्नता पा ली। सो अब यहाँ स्व परका परस्पर व्यवहार खतम हो गया। अब इसने उस एक आत्माको अनेकान्तात्मक मान लिया है।

५२२. **अखण्डमें अनुरूप खण्डकल्पना**—प्रत्येक पदार्थकी एक समयमें एक अवस्था होती है। भेदकल्पनासे एक अखण्ड पदार्थमें गुणभेद किया जाता है तो भेद कल्पनामें अखण्ड पदार्थकी उस एक अवस्थामें अवस्थाभेदकी कल्पना हुई है। जैसे आत्मामें ज्ञान गुण है, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक गुण है इसी प्रकार आत्मामें यह जानकारी है यह आनन्दका परिणमन है, यह चारित्रका परिणमन है—यों पर्यायभेद भी किया जाता है। वस्तुतः आत्मा एकात्मक है, उसे यदि अनेकात्मक कोई मानले तो उसमें दोष आता है। इस मिथ्यादृष्टि ने तो अपने आपको यों अनेकात्मक मान लिया कि कर्मरूप भी बना और अपनेरूप भी बना। तो जो एक पदार्थको अनेक पदार्थात्मक मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि हुआ, उसकी दृष्टिमें सम्बन्ध जुड़ गया, पृथक् पृथक् अस्तित्व रखने वाले पदार्थका एक जगह सम्बन्ध मान लिया गया है। तो ऐसी सम्बन्धदृष्टि करने वाला, मिथ्याभाव रखने वाला मिथ्यादृष्टि रूपसे ही माना गया है। मिथ्याका शब्दार्थ है सम्बन्ध। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें सम्बन्ध निरखना, परस्पर संश्लेष देखना यह है मिथ्याभाव, क्योंकि इस तरह देखनेमें उपयोग स्थिर सावधान नहीं रह सकता। वहां एकका दूसरेसे सम्बन्ध मान लिया गया। यही विपरीतता है, यही अनेकान्तपना है। तो परके साथ यों कर्ताकर्मका भोक्ता भोग्यका सम्बन्ध माननेकी दृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। वस्तुतः जैसे समुद्रकी तरंगका कर्ता नहीं। भोक्ता हवा नहीं इसी प्रकार जीवको संसारी अवस्थाका कर्ता एवं भोक्ता

जीव कर्म नहीं। जीव ही अपने आपकी परिणतिका कर्ता एवं भोक्ता है।

५२३. विकल्परूप अपराधसे दूर रहनेका अनुरोध--कर्मोंका फल अपने उदयके अनुसार चल रहा है। लेकिन किसीने किसीका परिणमन कर दिया, यह बात नहीं है। 'चेतन कर्म दोष न लेश'। हे चेतन! तेरे दुःखमें कर्मका दोष नहीं है। तेरी परिणतिमें ऐसा आया है, किन्तु कर्म दुःख नहीं देते हैं। अपना स्वरूप अपनी समझमें रहना चाहिए तब कर्म बन्धन अपने आप ढीले पड़ जावेंगे। अगर कोई स्टेशनपर गफलतसे सो जावे और साथमें रहने वाली वस्तुओंकी चोरी हो जावे तो सुनने वाले यही तो कहेंगे अपनी वस्तु संभालकर नहीं रखी और अब दूसरोंको दोष देते फिरते हो। 'चीज न राखे आपनी चोरे गारी देय।' खोटे विकल्प आवें तो सोचे हम इस संकल्पमें स्वयं उतरे हैं, यह पदार्थके विकल्प भी हमारे नहीं हैं, मैं अब इनमें क्यों फंसूं? वह इस स्थितिके लिए उत्सुक है जो सत्य तत्त्व है, वह अपने परिणमनमें बस जावे। इस विचारमें किसी अन्य विचारको स्थान नहीं देना चाहिए तथा कहे, हे विकल्पों तुम जाओ। तुम हमारे बाधक मत बनो। मैं अब परपदार्थका विकल्प नहीं करूंगा। यह निश्चय धारणा बना लेवे। विकल्पोंको आश्रय न दो, वे रहेंगे नहीं। कहा है—को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश। दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः, स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचित् वीक्षतोऽसि॥ हे भगवन्! आपमें सब गुण आ गये, इसका अचरज क्या? इसलिए आश्चर्य नहीं, क्योंकि उन्हें कहीं आश्रय नहीं मिला, इससे वह गुण आपमें आ गये। क्या बहादुरी हुई इसमें? दुनियामें दोषोंको खूब सन्मान मिल रहा है। गुणोंको धारण करनेकी शक्ति किसी अन्यमें नहीं है, इसलिए वह आपमें आ गये हैं। किन्तु दोषोंको सभी आमन्त्रण दे रहे हैं तो दोष आपमें फटक भी नहीं पाये। इससे आप जैसे गुण और जगह नहीं मिल सकते हैं। दोषोंको आश्रय न मिले तो गुणका विकास होगा ही।

५२४. नीरंग होकर धर्मसमागमका लाभ लेनेकी आवश्यकता—विकल्पोंको अवकाश मत दो अन्यथा वही विकल्प हितकी जगह अहित ही करेंगे। लोकमें कहावत है 'उंगलीके पकड़ने पौंहचा पकड़ लिया'। भाव क्या है? यह विकल्पदोष ऐसे होते हैं कि थोड़े भी विकल्प आये और वह इस तरहका रूप धारण कर लेते हैं कि उनका हटना असंभव हो जाता है। फिर पूर्ण व्यसन बना देते हैं। परपदार्थके सम्बन्धमें कोई रोक नहीं है, वह तो जहाँ हैं वहाँ तो रहेंगे ही, लेकिन अपनेमें उनको नहीं ठहराना चाहिए। जो उनकी ओर आकृष्ट होता है, उनमें लगता है, रुचि दिखाता है उसे उन्हींमें उलझे समझना चाहिए। मुनि भी तो सोचते हैं जो मैंने किया है वह अज्ञान चेष्टा है। कोई भी विकल्प उन्हें कार्य-

कारी नहीं। परसे ममत्व खत्म हो चुकता है, यही उनके जीवनकी विशेषता है। जैनधर्म जैसा रत्न पाकर उसे चिड़ियाँ उड़ानेके काममें फेंक दो तो महामूर्खता ही है। हमारी जिम्मेवारी हमपर है। हमारी जिम्मेवारी पिता जी, भाई साहब, पुत्र, स्त्री आदि किसी पर आती ही नहीं, दो पदार्थकी जिम्मेदारी किसीपर आती ही नहीं अर्थात् अपने परिणमन के अलावा कोई और किसीका कुछ नहीं कर सकता। कोई किसीका कर्ता नहीं है। आत्मा अपने परिणमनको ही करता है। अगर कोई कहे पुद्गलका भी परिणमन आत्माके ही द्वारा होता है तो उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

५२५. वस्तुका यथार्थ दर्शन—जो चीज जैसी होती है उसकी क्रिया वैसी ही होती है। चेतनकी क्रिया चेतनमें संभव होने वाली होती है। देहकी क्रिया देहमें होती है। फिर भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। तभी कहा जाता है—जीव अमुक प्रकारका भाव करे तो अमुक प्रकारका परिणमन होता है। आत्माने इच्छा की, उसके निमित्तसे योग हुआ। योगके निमित्तसे उसीके अनुरूपकी शरीरके अन्दर वायु चली, मुंह चला, वचन-वर्गणायें प्रसारित हुईं तथा कार्य होने लगा। सब कोई अन्तरङ्गमें अपना ही परिणमन करता है वहाँ निमित्तनैमित्तिकता तो है किन्तु परिणमन स्वत: होता है। कौन क्या करता है, कितना कार्य आदि करता है? इसका ज्ञान न होनेसे आत्मा हाथ पैर चलाता है आदि व्यवहार होता है। कहें ऐसा नहीं है तब भी बात घूमती है। आत्मा न होवे तब हाथ पैर चल जावे यह बात नहीं हो सकती—यह तर्क हो उठता है। भाई! जिन्दामें भी शरीरने इसके किए हाथ नहीं हिलाये। भक्तिमें जिनेन्द्रदेवको हाथ जोड़ना पड़ते हैं यह आत्माके द्वारा नहीं होता। आत्मभाव तो वहाँ निमित्त है। शरीरकी क्रिया कार्य शरीर द्वारा ही होता है। जिनेन्द्रदेवकी पूजा से परिणामोंमें परिवर्तन किया जाता है। अशुभ विकल्पोंसे छूटते हैं तथा शुभमें लगते है तथा साथ ही एकाग्रताका अभ्यास होता जाता है। अष्टांग नमस्कार मुनि भी करते है, गृहस्थ भी करते है। आठ अंगोंमें दो हाथ, दो पैर, एक सिर तथा मन वचन काय गर्भित होते है। किन्हीं किन्हींने दूसरी तरह भी माना है। भक्तिके लिए उपस्थित हुआ पुरुष, उसने घरसे ही क्या किया? पूजा भक्तिका भाव मात्र बनाया। उसकी वह क्रिया हुई। यहाँ शरीरका काम शरीरमें हो रहा है तथा आत्माका काम आत्मामें हो रहा है।

५२६. आत्महितके प्रसंगमें प्रभुपूजाका उद्यम—पूजा करने वाला नहा धोकर शुद्ध वस्त्र पहिन शुद्ध भावोंसे भरकर घरसे चलता है। अन्तरङ्गमें उल्लास भरा रहता है। हृदय गद्गद् पूर्ण हो उत्तम शब्दों, वाक्यों, पदावलियोंसे भक्तिमें तन्मय होनेकी बड़ी भारी तमन्ना लिए हुए है। पैरोंको धोकर मन्दिरमें प्रवेश करता है। पश्चात् ओं जय जय जय। नमोस्तु नमोस्तु। नि:सहि नि:सहि नि:सहि। अर्थात् पंचपरमेष्टी जयवन्ते हों, जयवन्ते हों, जयवन्ते

हों। नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। नि:सहि अर्थात् देव आदि कोई पूजन भक्ति करने वाला हो वह बाधक न बने, सामने खडे व्यक्ति दूर हो जावें, एक तरफ खड़े हो जावें अन्य कोई बाधा उपस्थित न होवे। इस सूचनाके साथ ही अन्दरसे आवाज आई कि मुझमें जो रागद्वेष लगे हुए थे, मोह ममता सता रहे थे वह भी हट जावें। उसने इतनी प्रखरता प्राप्त कर ली। विकल्पोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए तत्पर है। मानो २३ घंटा रागसे दोस्ती कर रहा, अब उसे हटाकर परिणामोंमें निर्मलताका प्रवाह बहने लगा है। नि:सहि शव्दका मानों यह अमिट प्रभाव पड़ रहा है। जैसे मनुष्य आपसमें शुरूमें मिलते हैं तो प्रथम जुहारु करते हैं, बादमें आपसकी चर्चा होती है। उसी तरह मन्दिरमें शुरूमें जाते ही एक दृष्टिसे भगवान्की सौम्य मूर्ति देखो और नमस्कार करो। यदि ऐसा करने लगे कि शुरूमें भक्ति स्तुति पढ़ने लगे, बादमें नमस्कार करें, तब भगवान्के गुणानुवाद करनेमें भी नमस्कारकी भावना रहती रहे अथवा नमस्कार करके स्तवन करे। लेकिन आजके कुछ कुछ पुरुष व स्त्रियाँ शरीरमें कष्ट न हो जावे तथा कपड़ोंमें सिकुड़न न पड़ जावे, इस भयसेर जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार तक नहीं करते और सूरत देखकर चले जाते हैं। वैसे नमस्का मनसे, वचनसे, कायसे, के भेदसे तीन तरहका होता है, लेकिन जब कायसे करेंगे तब मनसे प्रेरणा तो मिली ही होगी तथा वचनोंके द्वारा स्तुति गान किया जा रहा है व नमस्कार भी उस स्तुतिमें कई जगह द्योतित है जिससे भक्त बार-बार नतमस्तक हो जाता है। अतएव जिनेन्द्र भगवान्को कमसे कम आध मिनट गौरपूर्वक देख लेवे तब नमस्कार करना चाहिए। बहुत विलम्ब करके भी नमस्कार नहीं करना चाहिये।

५२७. परमेष्ठिभक्तिमें पुरुषका पौरुष—मौनका जीवनमें बड़ा महत्त्व है। जिन वचन वर्गणाओंपर कोई कन्ट्रोल नहीं रखा जाता, जो कि एकाग्रता लानेमें सहायक हैं, उसके कन्ट्रोलको मन्दिरमें तो रखना चाहिए। अगर कोई बात करने वाला भी होवे तो उसे कुछ दूर जाकर बात करनी चाहिए। अन्तरङ्गका परिणाम भक्तिसे भरभूर रहनेसे विविध काव्यों द्वारा, सामने, भगवान्की स्तुति की जाती है। मौनपूर्वक दर्शन पूजन करने वालेके मजिस्ट्रेट भी चला आवे तो उसे रुकना पड़ेगा या दूसरा समय नियत करना जरूरी होगा। कभी-कभी मनुष्य पूजन करते समय शुद्धतापर ध्यान नहीं देते और बोलते चले जाते हैं। जैसे 'गुरुकी महिमा वरणी न जाय' के स्थान पर 'गुरुकी महिमा वरणी जाय' यहाँ भी उन्हें गुणकी महिमा याद आ जाती है। मौन अवस्था वाला व्यक्ति कपटको एवं लोभको अपने पास नहीं फटकने दे सकता। उसे तो शुभ परिणामोंके साथ शुद्ध परिणामोंकी अभिलाषा वलवती हो रही है तथा इसका आनन्द अभ्यास करनेसे अन्तरङ्गमें असीम हो सकता है। वह संकल्पपूर्वक सोच लेवे—मैं इतने समय तक पूजन करूंगा। उस समय वह कभी

प्रभु जिनेन्द्रदेवके गुणोंपर ध्यान देता है। कभी अपने आत्माके गुणों पर ध्यान देता है। वह सोचता है—मैंने इतना समय निरर्थकमें विषयकषायोंमें बिता दिया, अपना आपा पूर्ण भूले हुए हूं जिससे अनेक प्रकारके संकट उठा रहा हूं। उन संकटोंको बढ़ाने वाला तथा दूर करने वाला मैं ही हूं। अतएव अब तो जिनेन्द्रदेवकी शरणमें आकर यहाँ वहाँ पापोंमें नहीं भागूंगा। मुझे मानसिक शारीरिक बाधाओंका भी इस समय कोई ध्यान नहीं रहता। वह भक्तिकी तल्लीनतामें स्वयमेव दूर भाग जाती है। पूजन करने वाला व्यक्ति मेरे पाप-कर्मरूपी धूलि भी धुले ऐसा भाव रखता हुआ जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करता है। पश्चात् विनय पाठ जिसमें अपनी कमियों तथा भगवान्के गुणोंकी विशेषता दिखाई है उसका यथार्थ अर्थ अपनेमें उतारता हुआ "ओं जय जय जय। नमोऽस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु" बोलनेके पश्चात् अनादि मूलमंत्र पढ़ता है। "णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरीयाणं। णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्व साहूणं।" अर्थात् अरहन्तोंको नमस्कार हो। सिद्धोंको नमस्कार हो। आचार्योंको नमस्कार हो। उपाध्यायोंको नमस्कार हो और लोकमें सर्वसाधुओंको नमस्कार हो। यह बोलकर 'ओं ह्रीं अनादिमूलमंत्रेभ्यो नमः' कहकर अर्थात् अनादि मूलमंत्र जो णमोकार मंत्र है उसको नमस्कार हो याने उसके वाच्य पूज्या-त्माओंको नमस्कार हो तब थालीमें पुष्प क्षेपण करना चाहिए।

५२८. चतुष्टयकी मंगलोत्तमशरण्यता—णमोकार मंत्रके पश्चात् पूजक चत्तारि दंडक बोलता है—चत्तारि मंगलं। अरहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं। केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहंता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवली पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहन्ते सरणं पव्वज्जामि। सिद्धे सरणं पव्वज्जामि। साहू सरणं पव्वज्जामि। केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। अर्थ—चार बातें कल्याणकी करने वाली हैं। अरहंत भगवान् कल्याण करने वाले हैं। सिद्धभगवान् कल्याणस्वरूप हैं। साधुपरमेष्ठी कल्याणस्वरूप हैं तथा केवलीके द्वारा कहा हुआ धर्म कल्याणस्वरूप है और ये चारों ही लोकमें उत्तम हैं। अरहन्त भगवान् लोकमें उत्तम हैं। सिद्ध भगवान् लोकमें उत्तम हैं। साधु परमेष्ठी लोकमें उत्तम हैं और केवली भगवान्के द्वारा कहा हुआ धर्म लोकमें उत्तम है। अब मैं इन चारोंकी शरणमें प्राप्त होता हूँ। अरहन्त भगवान्की शरणमें जाता हूँ और केवली भगवान्के द्वारा कहा हुआ धर्म उसकी शरणमें जाता हूँ। जिसको जिसकी रुचि होती है वह उसीके पास जाता है। ज्वारी ज्वारियोंके पास जाता है। गंजफा पीने वाला गंजफियोंके पास जाता है। व्य-भिचारी अपने साथियोंके पास जाता है। ज्ञानी ज्ञानवान्के पास जाता है। धनिक धनवान्के पास जाता है। सुशील व्यक्ति ब्रह्मचारीका साथ करता है। जिसे अपने स्वभावकी जागृति

हो गई वह अरहन्त, सिद्ध एवं साधु तथा जिनवाणीकी उपासना करनेमें दत्तचित्त मिलेगा। जैसी भावना होती है उसी तरहकी रुचि जागृत होती है। बिना उद्देश्यके कोई कार्य नहीं किया जाता तथा उद्देश्यरहित कार्य कोई लाभदायक भी नहीं होता है। इन्हीं गृहस्थोंमें से जिन्हें वैराग्य हो गया वह संकल्प विकल्प त्याग कर साधु हो गया। साधुओंका साथ भी उसने जीवनमें काफी किया है तब उनके गुणोंको स्मरण करते करते, अनुकरण करते करते वह स्वयं अपनेको इस योग्य पा सकनेमें मजबूत हो गया तब वह उन महाव्रतोंको अंगीकार कर कर्मकलंकोंको काटनेके लिए दृढ़ होता है। एक साधु जन्मसे ही नग्न रहे थे अर्थात् बचपनमें स्वयं नग्न रहे, फिर साधुओंके साथमें जीवन बिताते मुनिव्रत ले लिया। लेकिन साधु भी गृहस्थोंमें से होते हैं। जो दूसरोंको शिक्षा दीक्षा प्रायश्चित्त देता है वह आचार्य पदको सुशोभित करता है तथा जो अत्यधिक ज्ञानवान् होवे एवं अन्य मुनियोंको विद्याभ्यास करावे वह उपाध्याय कहलाता है।

५२९. शक्त्यनुसार संयमनमें उद्यम—वर्तमानमें जिसने थोड़ासा भी त्याग कर दिया वह घरमें नहीं रहना चाहता। लेकिन घरमें रहते हुए भी आठवीं प्रतिमा तकके व्रत अच्छी तरह पाल सकता है। घरमें रहनेसे भी स्वतन्त्रताका अनुभव इस प्रतिमा तक किया जा सकता है। वर्तमानमें भी कई व्यक्ति प्रतिमायें लेकर घरपर ही उनका निर्वाह करते हैं। सातवीं प्रतिमा तकके व्यक्ति नौकरी एवं व्यापार करते हैं। वह योग्य भी है, किन्तु वह व्यापार एवं नौकरी धर्मके अनुकूल ही होना चाहिए। सागार व अनगारके भेदसे धर्म दो तरहका होता है। संकल्पों विकल्पोंको छोड़नेके लिए आगे आगेकी प्रतिमायें कल्याणप्रद हैं, किन्तु लक्ष्य आत्मकल्याणका ही होना चाहिए। गृहस्थ भी अवसर आनेपर एक समय फल दूध लेकर ही रह सकते हैं। वह सोचें—असंयममें प्रवृत्ति काफी करी, अब तो कुछ चेतना जरूरी है। इससे भगवद्भक्ति एवं आत्मविकासमें मदद मिलती है। यह अपने ऊपर कोई दुःख आना नहीं समझना चाहिए।

५३०. चत्तारि शब्दका मर्म—चत्तारि शब्दमें चत्ता अर्थात् त्यक्ता छूट गये हैं दुश्मन जिसके (कर्मरूपी दुश्मन) ऐसे अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी। छोड़ रहे हैं दुश्मन जो कोई इस तरह के साधु परमेष्ठी। नष्ट कर दिये जाते हैं घातिया कर्म जिसके द्वारा इस तरहके भगवान् द्वारा कहा हुआ धर्म। रुह कहते उत्पन्न होनेको, जहाँ फिर कर्म अरि पैदा न हो सके वह है अरहन्त भगवान्। यह णमोकार मंत्र १८४३२ तरहसे बोला जा सकता है। इसके इस ही णमोकार मंत्रकी विभिन्न वे गाथायें बनायी जावें तो कितना समय इसमें लग सकता है? मंगलं—मं = पापं गालयतीति मंगलं, जो पापोंको धो देवे ऐसा वह मंगल। दूसरे अर्थ में मं = सुखं लातीति मंगल, जो सुखको देवे उसे मंगल कहते हैं। जंगलोंमें साधुओंका मंगल

होता है। शहरोंमें तो अमंगल होता है। पापोंके गलनेका वही उत्तम स्थान जंगल है जहाँ अनेक बाधायें हट जाती हैं। पूजन करते समय कुछ लोगोंको मनसे यह बात आ सकती है कि अमुक भगवान्की पूजा न करेंगे तो बुरा मान जावेंगे। भगवान् ज्ञानानन्दके पूर्ण विकास हैं। भक्ति तो अपने विकासका साधन है। भगवान् आत्मा अपने आपके स्वरूपमें है और भक्त आत्मा अपने आपके स्वरूपमें है।

५३१. परस्पर कर्तृकर्मत्वकी बुद्धिमें मिथ्यात्व—भगवान् मेरा कुछ करते हैं, मैं भगवान्का कुछ करता हूं, कर्म मेरा कुछ करते हैं, मैं कर्मका कुछ करता हूँ इत्यादि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें कुछ परिणमन कर देता है—ऐसा देखना मिथ्यात्व भाव है। क्योंकि ऐसी विपरीत दृष्टि वालेने द्रव्यको द्विक्रियाकारी माना। भगवान् अपना परिणमन करते हैं, और मेरा भी परिणमन करते हैं, मैं अपना परिणमन करता हूं और भगवान्का भी कुछ करता हूँ, कर्म अपना परिणमन करते हैं और मेरा भी परिणमन करते हैं, मैं अपना परिणमन करता हूँ और कर्मका भी परिणमन करता हूँ इत्यादि रूपसे जो द्विक्रिया-वादी लोग हैं वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। हितकर तो यही है कि एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंका परिणमन किया जाना प्रतिभास न होवे। जैसे कुम्हार जो करता है वह अपनेसे अभिन्न चेष्टाके द्वारा अपनेसे अभिन्न परिणामको ही करता है। हालांकि घड़ेकी उत्पत्तिके अनुकूल वह व्यापारपरिणाम है और उस व्यापारपरिणामको निमित्तमात्र पाकर घड़ेकी उत्पत्ति हुई तो भी वास्तवमें देखो तो कुम्हारने अपने ही व्यापार परिणामको किया। वैसे ही आत्मा जो करता है वह अपने से अभिन्न अपनी क्रिया द्वारा अपने से अभिन्न अपने परिणामको ही करता है। हालांकि पुद्गल प्रकृति परिणमन के अनुकूल वह परिणाम है और उस परिणामको निमित्त मात्र पाकर कर्मप्रकृति हुई तो भी वास्तवमें देखो तो आत्माने अपने ही परिणामको किया। यहाँ ऐसा प्रतिभास न होवे कि पुद्गलके परिणमनको, जो कि पुद्गलकी अभिन्न क्रियासे ही हो रहा है आत्माने कर दिया। प्रत्येक सत् पदार्थ स्वतः सिद्ध है और स्वतः ही परिणामी है, स्वतः ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्म हैं, स्वतः ही गुण-पर्यायात्मक है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका न अधिकारी है, न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न रिश्तेदार है। यदि परस्परमें कर्तृत्व आदि देखे तो वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ् धातु से 'मिथ्या' बना है। मिथ् अर्थात् संयोग होना। जो अपनी भी क्रियाको कर लेवे तथा दूसरेकी क्रिया भी अपने द्वारा करना माने उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं, किन्तु लोक-व्यवहारमें मिथ्यादृष्टिका अर्थ अपमानजनक मानते हैं। यहाँ तक कि सुनने पर आगबबूला हो जावे, किन्तु उसकी जगह संयोगबुद्धि वाला, परसमय वाला या परदृष्टि कहे तो उतना बुरा नहीं मानेगा।

५३२. प्रभुध्यानका प्रयोजन पापप्रमोचन—कोई भगवान्की पूजनको आवे और वह सोचे—मैं अच्छी-अच्छी सामग्री चढ़ाता हूं, मैं भक्ति कर रहा हूं, मुझे धन मिल जावे, स्त्री पुत्र मिल जावें या अन्य मनवाञ्छित कार्यकी सिद्धि हो जावे तो उसे सच्चा पूजक नहीं कहना चाहिए। तो यहाँ भगवान् नहीं कहते कि तुम इस तरहसे कार्य करो। सोचो विचारो। यदि चित्त पागल है तो पूजाकी उतावली न करो, चित्तको तो सम्यक् कर लो, भगवान् तो फिरसे भी मिल सकते हैं, किन्तु अपने चित्तकी स्थिरता सुधार लो। पूजनमें कहते हैं—अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुस्थितोऽपि वा। ध्यायेत् पंचनमस्कारं, सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ शरीरसे अपवित्र हो या पवित्र हो तथा शरीरसे अच्छी तरह स्थित हो या बुरे प्रकार हो, जो इस पंचनमस्कार मंत्रका ध्यान करता है, वह सब पापोंसे छूटता है। भगवान्का ध्यान कर लेने वालेके शरीरमें बाह्यमें यह बात हो रही है तथा अन्तरंग में भगवान्के गुणोंपर ध्यान लगा हुआ है। कोई इसका अर्थ यह न सोचे कि बिना नहाये भी आकर भगवान्को छू लेवे। यहाँ व्यवहारक्रियाकी बात तो नहीं कही जा रही है। वह तको उसी ढंगसे होगा। व्यवहार करें तो शारीरिक क्रियासे नहीं छूटा जाता है। शारीरि क्रियासे परिणाम नहीं बनते। जो णमोकारमंत्रका ध्यान करे, उन पदोंका बार-बार चिन्तन करे वह सब पापोंसे छूट जाता है। परम पदोंका ध्यान यथार्थ स्वरूपसे तभी स्मरण बनेगा जब मिथ्या बुद्धि न रहे। उसके साथ अनेक अनेक पाप छूट जाते हैं।

५३३. णमोकारमंत्रके स्मरणमें पावनरूपता—अपवित्रः पवित्रतो वा सर्वावस्थां गतोपि वा। यः स्मरेत् परमात्मानं, स बाह्याऽभ्यन्तरः शुचिः॥ जो किसी भी अपवित्र या पवित्र अवस्थामें होवे ऐसा कोई भी भक्त परमात्माका स्मरण करे वह बाह्यमें एवं अन्तरङ्ग में भी पवित्र है। दूर या समीप बैठकर ध्यान करो इसके लिए मूर्ति है। जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिका अभिषेक करनेसे परिणामोंमें पवित्रता एवं मनमें एकाग्रता आती है। प्रायःकर पूजन, स्वाध्यायमें मन यहाँ वहाँ विचलित हो जाता है, वह जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करने से उस समयको एकाग्र हो जाता है तथा यह भावना की जा सकती है, मैंने त्रिलोकी-नाथको स्पर्श कर लिया, अब वैसे अनन्त चतुष्टयगुणोंको भी स्वयंमें कब पा सकूं? अभिषेक करते समय यह भावना जागृत रहना चाहिए—मेरे पापोंका प्रक्षालन हो रहा है। अभिषेक देखने वाले भी यहीं भावना कर सकते हैं। जो जिस तरहकी भक्ति करे उसका वह भी पूजनका अंग है। अभिषेक एक बार होना चाहिये। पूजा करने वाले अभिषेकमें शामिल न हों तो अभिषेक बिना भी पूजा कर सकते हैं। गृहस्थोंको शक्ति न छिपाकर अष्टद्रव्यसे पूजन करना चाहिए। प्रत्येक द्रव्यका पद बोलनेके बादमें सामग्री चढ़ानेका मंत्र (ओं ह्रीं) भी अपनी अचिन्त्य शक्ति रखता है। प्रत्येक मंत्रमें जुदे जुदे भाव विदित होते है, जो कि मुक्ति

रमासे मिलाप कर चुकने वालोंके स्वरूपके सूचक अमोघ मंत्र हैं। मानस्तम्भकी प्रतिमाओं का अभिषेक अशक्यानुष्ठान (प्रतिदिन ऊपर जानेमें असमर्थ होने से) के कारण नहीं हो पाता है। जो ध्यान करता है वह पापों से छूटता है। इस जीवने अनेक भवोंमें पुण्य तथा पाप दोनोंको किया है जिसके फलसे इसने विविध प्रकारके दुःख उठाये। सुख तो लेशमात्र मिला, उसीमें हर्षित हो अनेक प्रकारके बहुरूपियेके भेष बनाकर फिर रहा है। यदि मनुष्य गति प्राप्त कर ली और कुछ थोड़ी सी चिलचिला (धन पैसा) हुई तब तो अनेक प्रकारकी भोग सामग्री इकट्ठी करके उसीमें फूला फिरता है।

५३४. विघ्नविनाशक णमोकार मंत्रकी अपराजितता—अपराजित मंत्रोयं सर्वविघ्नविनाशनः। मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः॥ यह अपराजित मंत्र है। किसीके द्वारा भी यह पराजित होने वाला नहीं है। इस मंत्रपर पूर्ण श्रद्धा होवे तो प्रत्येक कार्यमें सिद्धि मिलती है। यह सब संकटोंको दूर करने वाला है और यह सब मंगलोंमें पहला मंगल माना जाता है। यह सर्वकल्याणका करने वाला है। एक बार जैनी भाईको जोरसे प्यास लगी, जिससे व्याकुल हो पानीके लिए सभी जगह घूम आये, कुआ भी भाग्यसे सूखा पड़ा था। वहीं पर थोड़ी देर बाद जाकर देखते हैं—एक मुसलमान भाई पानी कुआमें से निकालकर पी रहा है। तब जैनी भाई पूछते हैं, आपको पानी कैसे उपलब्ध हो गया? इसके बाद मुसलमान अपनी णमोकार मंत्रपर विश्वासकी बात कहता है। मुझे जैन गुरुने किसी भी संकट के समय इस णमोकार मंत्रको पढ़नेको कहा था, जिसके प्रतापसे ही मैं जल पा सका। तब जैनी भाई आश्चर्यचकित हो कहता है, इस मंत्रको तो हमारे यहाँ बच्चा बच्चा जानता है। जहां बच्चा बच्चा जानता है वहाँपर कार्यकी सिद्धि न हो, यह अपनी ही श्रद्धामें कमी समझना चाहिए। यह भगवान् आत्मा कैसे वैसे कार्य कर रहा है? भगवान् आत्मा संसार से छूटना चाहे और अपने माता पितासे सहस्रगुनी रक्षा करने वाले धर्मपर श्रद्धा न करे यह उसीकी मूल भूल है। यह मंत्र सर्वोत्कृष्ट है। इसके प्रति जितनी भी प्रीति होगी, उतने ही दुःख दूर होंगे। 'विश्वासः फलदायकः'। जब कोई भी कार्य आत्मविश्वासपूर्वक किये जावें उनमें सफलता मिलती है, तब णमोकार मंत्रकी तो महत्ता ही बड़ी भारी है। यह धर्म कितना महत्त्वपूर्ण है कि जिसके बिना कोई भी कार्य शोभा नहीं देता। अगर इस धर्म तत्त्वको निकाल दिया जावे तो ऐसा प्रतीत होता, कोई कार्य हुआ भी नहीं! लौकिक कार्योंको भी धर्मको लक्ष्यमें रखकर किया जाता है। विवाहमें, गर्भमें, जन्ममें, मुंडन संस्कार में, यज्ञोपवीत धारण करते समय आदि सोलह संस्कारोंमें इसका ही मुख्य ध्यान रखा जाता है। शोभा बढ़ती है, सुख मिलता है, आनन्द मिलता है तो वह इस धर्मके प्रसादसे। यह मंत्र अपराजित क्यों है? इसलिये कि आत्मतत्त्व वही हुआ परम मंगल, उस तक यह पहुंचाने

वाला है तथा पहुँचनेका सुगम मार्ग है।

५३५. णमोकारमंत्रकी मंगलरूपता—एसो पंच णमोकारो सव्वप्पावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं, पढ्मं हवई मंगलं ।। यह पंच नमस्कार मंत्र सर्व पापोंका हर्ता है और सर्व मंगलोंमें प्रथम मंगल है। कुछ लोग तो इसको बोलकर नमस्कार करते है, किन्तु यह नमस्कारात्मक नहीं है। इस णमोकार मंत्रको उठते बैठते, खाते पीते, चलते, व्यापार करते, यात्राको निकलते समय, विद्या पढ़नेके शुरु आदिमें इसे जरूर पढ़ना चाहिए, जिससे बहुतसे संकट टलकर कार्यमें सिद्धि मिलती है। णमोकार मंत्र बारबार पढ़नेका यह उद्देश्य नहीं रखना चाहिए कि अमुक कार्यसे मुझे अमुक फल मिले। लेकिन मुख्य तात्पर्य यह है कि जिस कार्यको मैं शुरू कर रहा हूँ उसमें आसक्त न हो जाऊं, आत्मकल्याणकी भावना सदैव दिलमें समायी रहे। भोजन करनेके शुरूमें भी इसे पढ़नेका उद्देश्य यह नहीं रहना चाहिए कि मुझे बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन मिले, किन्तु यह विचार मनमें आना चाहिए कि मैं भोजन कार्यमें प्रवृत्त होकर शुद्ध सात्त्विक भोजन करता हुआ सन्तुष्ट रहूं तथा शुद्धताके भावसे बचा रहूँ। भोजन करनेके पश्चात् भी यह मंत्र भोजन करनेमें हुए प्रमादके प्रायश्चित्त में पढ़ा जाता है। लघुशंकाके बादमें भी ९ बार णमोकार मंत्र इसलिए पढ़ा जाता है कि जीवोंकी हिंसा हुई होवे उसका प्रायश्चित्त विशेष है।

५३६. अन्तःकृतिनिरीक्षण—जैसे घरके जो भी कार्य होते हैं वह अपने करनेसे ही पूर्ण होते हैं। यदि उनको न किया जावे तो दूसरा कोई नहीं कर जायगा। उसी तरह अपनी आत्माका हित अपने ही आधीन है। उसमें सावधान रहकर सदैव उस तरहके कार्यों में प्रवृत्त रहा जाय जो आत्मकल्याणमें बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हो सकें। बच्चे को जो पाठ याद करनेको मिलता है वह याद करनेपर ही होता है अन्यथा पिटाई पड़ेगी। दुकानदार लोग अपना कार्य करके ही सन्तोष लेते हैं। इसी तरह यह ज्ञानकी बात दूसरोंको दी जाय या स्वयं सीखी जाय तब यही भावना रहे—मैं अपना ही कुछ कार्य कर रहा हूँ। दूसरेका कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। मन्दिर जो भी आते हैं, स्वाध्याय करते, सामायिक देते हैं तो उन्हें स्वयं अपने उद्धारकी इच्छा है तभी तो ऐसा करते हैं। कोई सोचे इतने मनुष्य यह कार्य नहीं करते, मैं क्यों करूं ? यह सोचना मूर्खतापूर्ण है, उनको उस तरहके संस्कार ही नहीं मिले, इससे वह धर्मकार्य नहीं कर पा रहे। उनपर दृष्टि न देकर साधु महात्माओं के जीवनको ध्यानमें रखते हुए अपना धर्मध्यान करना चाहिए। बाह्य-बाह्यको देखनेमें क्या मिलता है, अपने अन्तरङ्गकी बात देखना चाहिए। वस्तुत: आत्मा जो कर सकता है वह अपने खुदका परिणमन ही तो कर सकता है। इसका कारण यह है जो भी क्रिया है आखिर वह सब परिणाम ही तो है। परिणाम परिणामीसे अभिन्न होता है। इससे सिद्ध है कि

तथा शरीरका वियोग हुआ तब वह अन्तररहित सुखके अधिकारी हुए। भरतक्षेत्र एवं ऐरावतक्षेत्र तथा विदेहक्षेत्रसे जीव मुक्त क्यों हो सकते हैं ? वहाँ कर्मोंका वियोग होना संभव है तपस्या करनेपर। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावसे परिणमता है। अगर कोई पूजनको आवे और वहाँ कर्ता कर्म बुद्धि सिद्ध करने लगे तो मिथ्या बुद्धि है। भगवान् आपकी पूजा करनेसे अमुक कार्य बनेगा, मुकदमा जीत जाऊंगा, पुत्र हो जायगा, धन वैभव मिल जायगा, नौकरी मिल जायगी, भोजन मिलता रहेगा--ये कल्पनायें करना भगवान्की निन्दा करना है, अपमान करना है। जब भगवान् अष्टकर्मोंसे मुक्त हो चुके फिर भी उन्हें यहाँ अपने कार्यमें सहायक बनाना यह तो उनको पदसे विचलित करनेके समान है। हालांकि तुम्हारी या मेरी शक्ति नहीं कि भगवान्की निन्दा कर सकें, किन्तु महान् पदमें स्थित व्यक्तिको कोई छोटा कार्य करनेको कहा जाय तो उसकी तौहीनी करनेके समान है। एक द्रव्य दो का परिणमन कर देता है यह मिथ्या बुद्धि है। कुगुरु कुदेवोंकी मान्यता मनमें क्यों बसी है ? इसलिए कि वह कुछ कर देते हैं, यह भी मिथ्यात्व बुद्धि है। श्री पं० दौलतरामजी ने छहढालामें कहा है। 'देह जीवको एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।' शरीर और आत्माको एक मानना अगृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ यह मान्यता समाई रहती है कि शरीर मेरा कुछ कर देता है या मैं शरीरको कुछ कर दूँगा। सब पदार्थ स्वरूपास्तित्वमें जैसे हैं वैसे न मान सकना मिथ्या बुद्धि है। राग छोड़ते नहीं और कहते हैं--शांति मिले तो यह कैसे संभव हो सकता है ? काम तो अशान्तिके दिन रात करते रहते हैं। यह मेरा भाई है, पुत्र है, इसे पढ़ा लिखाकर योग्य बना दूं तब कुछ करूंगा, उसका कुछ करूंगा, इसमें ही जीवनकी इतिश्री हो जाती है। राग और संयोग बुद्धि जब तक न छूटेगी तब तक शान्ति मिलना दुर्लभ है। यह न कभी हुआ है और न होगा।

५४१. **वस्तुस्वातन्त्र्यके प्रोद्योगसे श्रेयोलाभ**— हे प्रभु ! आपने अपने आपमें अपूर्व अपूर्व काम करके निर्मल पद बना लिया है। यही मोक्षका मार्ग मेरे लिए है। जिनेन्द्र भगवान्के दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिकसे यह शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाई तो जीवनमें प्राप्त ही क्या किया ? सदैव भाव यही रहें--मुझे एक द्रव्यके द्वारा दोका परिणमन मत दिखो। यह कहलाता है—भूतार्थ दृष्टिसे जानना। सुख दुःख, पुण्य पाप हर्ष विषाद, ममता मोह सबको जान चुके और अपनी आत्मामें ही सच्ची रुचि जागृत हो चुकी तो सम्यक्त्व नियमसे होगा। आस्रव दो तरहके होते हैं--(१) जीवास्रव (२) अजीवास्रव। जीव स्वयं अपनेमें जीवास्रव रूप परिणम रहा है, उसे कर्म नहीं परिणमा रहे हैं तथा अजीव कर्म अजीवास्रव रूप परिणम रहे हैं, यह भूतार्थ सत्य है। स्वतन्त्र्यपरिचय अलौकिक शान्तिका उपाय है। कोई कोई मनुष्य कहते हैं--मैं दस व्यक्तियोंका काम अकेले

भा रहे हैं। सभी चीजें न्यारी न्यारी हैं--इसीमें रागी अनेक कल्पनायें कर रहे हैं। शान्ति पानेकी इच्छा करे और बाह्य बाह्य पदार्थोंमें ही उलझा रहे तब वह किस तरह प्राप्त हो सकती है? प्रत्येक पदार्थ अपना जुदा-जुदा परिणमन कर रहा है। मनुष्य सोचते हैं--मैं जमींदार हूँ, मैं धनवान् हूं, मैं अमुकका समागम करता हूँ, मैं आमदनी करता हूं, दूसरोंका भरण पोषण करता हूँ इत्यादि विचार रखना, इस तरह कहना चैतन्य प्रभुके तिरस्कारकी बात है। कोई यदि परद्रव्यकी बात लगाकर प्रशंसा करे भी तो अपनी निन्दा ही करता है कि यह अपनेको न जानकर परदृष्टि कर रहा है आदि। कोई भी द्रव्य किसी दूसरेका कार्य लेशमात्र भी नहीं करता है। जो कुछ भी भला बुरा करना है वह सब अपना ही करता है। मैं अच्छी तरह तभी रह सकता हूँ जब जगत्के विकल्पजालोंसे मुंह मोड़ लिया जावे। कोई भी किसीका कर्ता नहीं है।

५३९. एकाकित्वका उपदर्शन—कर विचार देखो मन मांहि, मूंदहु आंख कितऊं कछु नाहिं॥ मैं एकाकी हूँ, उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला हूं। न मैं उत्पन्न होता हूँ, न नष्ट होता हूँ; न मेरा कोई सहायक है और न मैं किसी दूसरेका सहायक हूं। किसीके कहनेसे मेरा उत्कर्ष या अवनति नहीं होती। यह सब तो मेरे ज्ञान और अज्ञानपर निर्भर है। उसीके अनुसार विचार बना बनाकर दुःख भोगता रहता हूँ। विकल्प करके ही दुखी होता हूँ। एक द्रव्यके द्वारा एकका ही परिणमन किया जाता है। यही विचार शान्तिका मूल मंत्र है। जगत्से उद्धार करनेके लिए यह शीघ्रगामी पोत (जहाज) के समान है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन कर रहा है—यह स्वरूपास्तित्वके विरुद्ध बात है। जो अरहन्त सिद्ध हुए हैं उन्होंने राजपाट इकट्ठा नहीं किया था, किन्तु उससे विरक्त होकर सब छोड़कर चले आये थे और आत्मध्यानमें तल्लीन हो गये थे। उन्हें दिगम्बर मुद्रा ही सुहावनी लगी और जगत्के विकल्पजालोंसे लक्ष्य हटाकर उच्च पदको प्राप्त कर लिया है, जिससे उन्हें अब अनन्त सुख मिलता है, जिसकी मोही जीव कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके लिये प्रथम आवश्यक है--यह बात मनमें समा जावे कि एक पदार्थ दूसरेका कुछ नहीं करता, (किन्तु इसका नाम संयोगबुद्धि है कि दूसरा पदार्थ हमारा कुछ कर देता है या मैं उसका कर देता हूं)--यह प्रतीति होवे। संयोगबुद्धि रहने तक शान्तिका दरवाजा नहीं पाया जा सकता। संयोगबुद्धि छूटनेपर शान्ति स्वतः आत्माको निहारती हुई आ जायगी। संयोगकी विह्वलताके ही कारण नरक तिर्यञ्चगतिमें यह जीव भ्रमण कर अनेक दुःख भोगता है।

५४०. विविक्तत्वबुद्धिके बिना विचित्र व्यामोह—पुद्गल और जीवका संयोग सदैव दुःखकारी है जब कि वियोग आदिसे अन्त तक सुखका कारण है। अरहन्त परमेष्ठीका चार घातिया कर्मोंका वियोग हुआ तो अनन्त सुख मिला। सिद्ध परमेष्ठीके आठों कर्मों

तथा शरीरका वियोग हुआ तब वह अन्तरहित सुखके अधिकारी हुए। भरतक्षेत्र एवं ऐरावतक्षेत्र तथा विदेहक्षेत्रसे जीव मुक्त क्यों हो सकते हैं ? वहाँ कर्मोंका वियोग होना संभव है तपस्या करनेपर। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावसे परिणमता है। अगर कोई पूजनको आवे और वहाँ कर्ता कर्म बुद्धि सिद्ध करने लगे तो मिथ्या बुद्धि है। भगवान् आपकी पूजा करनेसे अमुक कार्य बनेगा, मुकदमा जीत जाऊंगा, पुत्र हो जायगा, धन वैभव मिल जायगा, नौकरी मिल जायगी, भोजन मिलता रहेगा--ये कल्पनायें करना भगवान्‌की निन्दा करना है, अपमान करना है। जब भगवान् अष्टकर्मोंसे मुक्त हो चुके फिर भी उन्हें यहाँ अपने कार्यमें सहायक बनाना यह तो उनको पदसे विचलित करनेके समान है। हालांकि तुम्हारी या मेरी शक्ति नहीं कि भगवान्‌की निन्दा कर सकें, किन्तु महान् पदमें स्थित व्यक्तिको कोई छोटा कार्य करनेको कहा जाय तो उसकी तौहीनी करनेके समान है। एक द्रव्य दो का परिणमन कर देता है यह मिथ्या बुद्धि है। कुगुरु कुदेवोंकी मान्यता मनमें क्यों बसी है ? इसलिए कि वह कुछ कर देते हैं, यह भी मिथ्यात्व बुद्धि है। श्री पं० दौलतरामजी ने छहढालामें कहा है। 'देह जीवको एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।' शरीर और आत्माको एक मानना अगृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ यह मान्यता समाई रहती है कि शरीर मेरा कुछ कर देता है या मैं शरीरको कुछ कर दूंगा। सब पदार्थ स्वरूपास्तित्वमें जैसे हैं वैसे न मान सकना मिथ्या बुद्धि है। राग छोड़ते नहीं और कहते हैं--शांति मिले तो यह कैसे संभव हो सकता है ? काम तो अशान्तिके दिन रात करते रहते हैं। यह मेरा भाई है, पुत्र है, इसे पढ़ा लिखाकर योग्य बना दूं तब कुछ करूंगा, उसका कुछ करूंगा, इसमें ही जीवनकी इतिश्री हो जाती है। राग और संयोग बुद्धि जब तक न छूटेगी तब तक शान्ति मिलना दुर्लभ है। यह न कभी हुआ है और न होगा।

५४१. वस्तुस्वातन्त्र्यके श्रोदयोगसे श्रेयोलाभ— हे प्रभु ! आपने अपने आपमें अपूर्व अपूर्व काम करके निर्मल पद बना लिया है। यही मोक्षका मार्ग मेरे लिए है। जिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिकसे यह शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाई तो जीवनमें प्राप्त ही क्या किया ? सदैव भाव यही रहें--मुझे एक द्रव्यके द्वारा दोका परिणमन मत दिखो। यह कहलाता है—भूतार्थ दृष्टिसे जानना। सुख दुःख, पुण्य पाप हर्ष विषाद, ममता मोह सबको जान चुके और अपनी आत्मामें ही सच्ची रुचि जागृत हो चुकी तो सम्यक्त्व नियमसे होगा। आस्रव दो तरहके होते हैं--(१) जीवास्रव (२) अजीवास्रव। जीव स्वयं अपनेमें जीवास्रव रूप परिणाम रहा है, उसे कर्म नहीं परिणमा रहे हैं तथा अजीव कर्म अजीवास्रव रूप परिणाम रहे हैं, यह भूतार्थ सत्य है। स्वतन्त्र्यपरिचय अलौकिक शान्तिका उपाय है। कोई कोई मनुष्य कहते हैं--मैं दस व्यक्तियोंका काम अकेले

करता हूँ, मैंने यह सारा कार्य किया है, यह संस्था चलाता हूँ या मेरा कार्य अमुक व्यक्ति करता है इत्यादि विचार दुःखके ही कारण हैं। यह बुद्धि आ जाय कि मैं न किसीका करता हूं और न मेरा कोई करता है तब सच्ची हितकी कामना जागृत हुई समझना चाहिए। किसी भी यहाँके कार्यमें आत्मा तथा शरीरका प्रक्रम रहता है, लेकिन वह दोनों जुदा-जुदा ही परिणमन करते हैं। मनुष्यकी अनेक अवस्थायें चल रही हैं। कभी यह पुत्रोंमें रम जाता है, कभी स्त्रीमें, कभी धन कमानेमें, इस तरह इसके अनेक कार्य चलते ही रहते हैं। वहाँ सर्वत्र प्रत्येकमें केवल स्वयंमें परिणाम रहा है। वैभवशाली पुरुषोंने तथा अनेक परिवारके मनुष्योंने, दासदासियोंको धन वैभवको छोड़कर आत्मकल्याणकी अनुपम वस्तु आत्मतत्त्वको ही अपनाया है। कदाचित् रामचन्द्र जी इतनी अनेक विपत्तियाँ झेलकर अन्तमें दिगम्बर जैन मुनि नहीं होते, तो उनका चरित्र भी साधारण राजा जैसा रह जाता है। जितना कि आज उनका नाम श्रद्धासे लेकर शिरोधार्य किया जाता है। क्योंकि वह आत्मा संसारबंधनसे छूटकर मुक्त हो चुका है। उत्तरजीवन अच्छा बीतनेपर सभी अच्छा कहते, पूर्व अवस्था भले ही न निकली होवे। अञ्जन चोर को कौन जानता ? अगर वह दिगम्बर जैन मुनि होकर मोक्ष नहीं गया होता। सब कुछ निर्भर है अन्तिम जीवन सुधरने पर। अगर इस जीवनमें प्रत्येक क्षण रत्नत्रयकी आराधनामें बीता तो सफल है। रत्नत्रय तत्त्व की जीवन भर उपासना करने से वह स्वयं अपनी निधि हो जाती है। मरते समय तक भी इसे न छोड़ना चाहिए। अपने आत्मतत्त्वके पास ही अपना परमात्मा बसाना चाहिए।

५४२. सहज परमात्मतत्त्वके उपयोगमें ही कल्याणलाभ—आत्मा सो परमात्मा तो जल्दी कह लेते हैं, किन्तु उस आत्मतत्त्वके तथ्य समझे बिना कहना क्या महत्त्व रखता है ? धन्य है वह जिनशासन जिसे पाकर स्वयं उस वीतराग प्रभुकी श्रेणीमें आ जाते हैं। स्वतः अन्तरङ्गमें प्रकाशमान यह आत्मतत्त्व अनादिसे परिणमन करता चला आ रहा है। जो इस आत्मतत्त्वमें विश्राम लेता है उसे ईश्वरसे भेंट जरूर होती है। भगवान्का प्रतिबिम्ब हमें साक्षात् उपदेश दे रहा है, जिस तरह नासा दृष्टि करके हमने अपनेको निहारा उसी तरह तू भी अपनेको अन्तरंग दृष्टिसे ज्ञानदर्शनका पुञ्ज देख। केवल बाहर बाहर ही देखकर, गान गाकर और वाह वाह, धन्य धन्यकी आवाजें लगाकर मत रह जा। विषयवासनाओंमें घूमते अनन्त काल हो गया, लेकिन अपनी निजकी सुधि नहीं ली जा सकी। चैतन्य प्रभु तो अपने पास ही विराजा है। एक चतुर आदमी था। जो कि रास्ता चलते आदमीसे बात छेड़ देता और उपदेश देने लगता। एक दिन कुछ जैनी निकले तो बोला-सबमें बहत्तर कलायें होती हैं, किन्तु जैनियोंमें ७४ कलायें होती हैं। जैनी लोग प्रसन्न होकर ठहर गये। बादमें चर्चा होते होते एक जैनी भाई ने उस चतुर व्यक्तिसे

पूछा--दो कलायें कौनसी ज्यादा होती हैं ? तब उसने उत्तर दिया--खुद जानना नहीं और दूसरेकी मानना नहीं—यह दो कलायें अधिक हैं। खुदका भी यत्न हो तथा समझने वाले हों तो कुछ उद्यम हो। बुढ़ापा आने पर अपने आप समझमें आ जायगा, मुन्ना मुन्नी कितनी सेवा करते हैं आपकी तथा क्या क्या उपहार आपको साथमें ले जानेके लिए देते हैं। ये सब पदार्थ अनादि कालसे चले आ रहे हैं। फिर भी मोहवश उन्हीं-उन्हीं में फंसते जाते हैं। अब तो यही उपास्य रह गया कि कोई किसी अन्यकी परिणति कर रहा है यह मेरी दृष्टिमें मत जमो, न जंचो। जैसा भाव बनता है वैसा काम होता है। अब तो अपना एक निज प्रभु ध्यान करने योग्य है, वही सच्ची शान्तिका उपाय है।

५४३. द्विक्रियावादके मिथ्या होनेका कारण—एक पदार्थ दो की क्रियायें करे इस तरह समझने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि क्यों कहलाता है ? उसका उत्तर इस गाथामें दिया गया कि चूंकि इस अज्ञानीने अपने आत्माको ऐसा माना है कि यह मैं आत्मा अपना परिणमन भी करता हूँ और पौद्गलिक कर्मोंका परिणमन भी करता हूँ, इस ही का अर्थ तो है ना द्विक्रियावाद। तो ऐसी जो दो क्रियावोंको मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं। यह सिद्धान्त है। मिथ्यात्व ही जीवपर बड़ी भारी विपदा है, अन्तरङ्गमें यदि किसी प्रकारकी आकुलता अशान्ति बनी है तो समझना चाहिये कि हमारा मिथ्यात्व अभी गया नहीं है। थोड़ी बहुत अशान्ति आकुलता तो ज्ञानीके भी हो जाती है लेकिन वह धुल जाती है। उसे उपयोगमें बसाये रहे और उससे बेचैन रहा करे ऐसी बात ज्ञानीमें नहीं होती। तो यह मिथ्यात्व ही घोर संकट है, जिसको इस प्रसंगमें भी समझ लीजिये कि दो क्रियावोंके करने वाले रूप आशय घोर संकट हैं। कहीं भी किसीको एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंका परिणमन हुआ प्रतिभासमें नहीं आया। जैसे कोई बहुत संकटमें डालने वाली बात होती है, ये जगतके प्राणी उसके प्रति यह भावना करते हैं कि यह बात किसीपर मत गुजरे। तो यहाँ संकट दीख रहा है यह कि एक द्रव्य दो द्रव्योंका परिणमन करता है, तो यहाँ जो संकट देख रहा है ऐसा ज्ञानी पुरुष समस्त प्राणियोंके प्रति यह भावना करता है कि एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्यों का परिणमन प्रतिभासित मत होवो। एक द्रव्य दो द्रव्योंका परिणमन कर दे, यह बात असंगत कैसे है ? तो दृष्टान्तसे देखिये जैसे कुम्हार कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल अपने हाथोंका व्यापार कर रहा है लेकिन वह भी वास्तवमें जिस प्रकार अपनेसे भिन्न परिणति कर रहा है उसी प्रकार मिट्टीके कलश परिणाममें भी जो कि मिट्टीसे अभिन्न है और इस तरह निरखे कोई कि मिट्टीसे अभिन्न रूप क्रियासे व अपनेसे अभिन्नरूप क्रियासे यह कुम्हार मिट्टीके परिणमनको भी कर रहा है तो यही कहलाता है दो क्रियावोंके द्वारा होना। ऐसा जो निरखता है वह अज्ञानी है।

करता हूँ, मैंने यह सारा कार्य किया है, यह संस्था चलाता हूँ या मेरा कार्य अमुक व्यक्ति करता है इत्यादि विचार दुःखके ही कारण है। यह बुद्धि आ जाय कि मैं न किसीका करता हूं और न मेरा कोई करता है तब सच्ची हितकी कामना जागृत हुई समझना चाहिए। किसी भी यहांकि कार्यमें आत्मा तथा शरीरका प्रक्रम रहता है, लेकिन वह दोनों जुदा-जुदा ही परिणमन करते हैं। मनुष्यकी अनेक अवस्थायें चल रही हैं। कभी यह पुत्रोंमें रम जाता है, कभी स्त्रीमें, कभी धन कमानेमें, इस तरह इसके अनेक कार्य चलते ही रहते हैं। वहां सर्वत्र प्रत्येकमें केवल स्वयंमें परिणम रहा है। वैभवशाली पुरुषोंने तथा अनेक परिवारके मनुष्योंने, दासदासियोंको धन वैभवको छोड़कर आत्मकल्याणकी अनुपम वस्तु आत्मतत्त्वको ही अपनाया है। कदाचित् रामचन्द्र जी इतनी अनेक विपत्तियाँ झेलकर अन्तमें दिगम्बर जैन मुनि नहीं होते, तो उनका चरित्र भी साधारण राजा जैसा रह जाता है। जितना कि आज उनका नाम श्रद्धासे लेकर शिरोधार्य किया जाता है। क्योंकि वह आत्मा संसारबंधनसे छूटकर मुक्त हो चुका है। उत्तरजीवन अच्छा बीतनेपर सभी अच्छा कहते, पूर्व अवस्था भले ही न निकली होवे। अञ्जन चोर को कौन जानता ? अगर वह दिगम्बर जैन मुनि होकर मोक्ष नहीं गया होता। सब कुछ निर्भर है अन्तिम जीवन सुधरने पर। अगर इस जीवनमें प्रत्येक क्षण रत्नत्रयकी आराधनामें बीता तो सफल है। रत्नत्रय तत्त्व की जीवन भर उपासना करने से वह स्वयं अपनी निधि हो जाती है। मरते समय तक भी इसे न छोड़ना चाहिए। अपने आत्मतत्त्वके पास ही अपना परमात्मा बसाना चाहिए।

५४२. सहज परमात्मतत्त्वके उपयोगमें ही कल्याणलाभ—आत्मा सो परमात्मा तो जल्दी कह लेते हैं, किन्तु उस आत्मतत्त्वके तथ्य समझे बिना कहना क्या महत्त्व रखता है ? धन्य है वह जिनशासन जिसे पाकर स्वयं उस वीतराग प्रभुकी श्रेणीमें आ जाते हैं। स्वतः अन्तरङ्गमें प्रकाशमान यह आत्मतत्त्व अनादिसे परिणमन करता चला आ रहा है। जो उस आत्मतत्त्वमें विश्राम लेता है उसे ईश्वरसे भेंट जरूर होती है। भगवान्का प्रतिबिम्ब हमें साक्षात् उपदेश दे रहा है, जिस तरह नासा दृष्टि करके हमने अपनेको निहारा उसी तरह तू भी अपनेको अन्तरंग दृष्टिसे ज्ञानदर्शनका पुञ्ज देख। केवल बाहर बाहर

अंधकार है। जीव तो सुखी है, इसको किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, जितना इसका स्वरूप है उतने मात्रपर दृष्टि दें तो इसको कोई कष्ट नहीं है, किन्तु जब अस्तस्तत्त्वरूप स्वरूपसे पृथक् बाह्यपर दृष्टि करता है और उसे अपनाता है, यह मैं हूं, बस वस्तुकी विपरीत कल्पना करनेमें इसको क्लेश होने लगता है।

५४६. भूतार्थपद्धतिसे वस्तुके निरखनमें बन्धनका विच्छेद--यदि यह जीव भूतार्थ पद्धतिका ही अनुसरण करे, प्रत्येक पदार्थका उसका उसमें परिणमन निरखे और उस निरखनके साथ हम यह भी समझते जायें कि यह वस्तु परिणमती तो इसका प्रयोजन क्या है? किसके लिए परिणमी? तो वह अपने लिए परिणमी। कोई किसीके लिए नहीं परिणमता, न कोई किसीका कर्ता है। जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं कि अमुकने मेरे उपकारके लिए कितना कठिन परिश्रम किया, निश्चयसे यह बात गलत है। अरे उसने जो भी श्रम किया है वह अपना विकल्प शान्त करनेके लिए किया है। प्रत्येक पदार्थके श्रमका प्रयोजन उसको ही मिलता है। अच्छा तो बताओ--पुद्गल पदार्थमें जो परिणमन होता है उस पुद्गलके परिणमनका प्रयोजन किसे मिला? तो उसका प्रयोजन उस पुद्गलको ही मिला। क्या मिला? यह मिला कि वह अस्तित्वमें रह रहा है। परिणमे बिना पदार्थ अपना अस्तित्व तो नहीं रख सकता। तो अचेतन पुद्गलके परिणमनका प्रयोजन यह है कि उनकी सत्ता बनी हुई है। यदि वे न परिणमते तो उनका अस्तित्व न रह सकता था। तो ये पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए परिणमते रहते हैं, इनमें उपयोग तो है नहीं जो कुछ विकल्प कर सकें, अन्य कुछ बात प्रयोजनकी इसमें बतायी जा सके ऐसी गुँजाइश नहीं है। ये पुद्गल पदार्थ, ये अचेतन पदार्थ अपने आपके अस्तित्वके लिए परिणम रहे हैं, ये अचेतन पदार्थ जो इतना श्रम करते हैं उसका भी प्रयोजन है उनका स्वयंका अस्त्वि बनाये रखनेका। आकाश द्रव्य किसलिए परिणमता है? अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिए। क्या परिणमा, यह हम नहीं समझ पा रहे। अगुरुलघुगुणकी हानि वृद्धिसे उनका परिणमन चल रहा है। जो भी परिणमन चल रहा है वह अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिए चल रहा है। ये चेतन परिणमते हैं तो किसलिए? अपना अस्तित्व रखनेके लिए और अपनी शान्ति प्राप्तिके लिए। इसमें दो प्रयोजन मिलते हैं सो भी वस्तुगत एक है और अचेतन पदार्थोंके परिणमनका प्रयोजन एक है ही। तो यह भूतार्थ पद्धति है कि एक वस्तुका परिणाम उस एक वस्तुमें ही निरखना इस पद्धतिसे यदि एक बार भी यह अज्ञान अंधकार दूर किया जाय तो फिर इस ज्ञानघन आत्माका बन्धन न होगा। बन्धन तो मिथ्यात्वभावका है। अज्ञानका बन्धन है, अनन्तानुबंधी कषायका बंधन है। जो बांधकर रखे, जो संसारमें बढ़ाये उसका नाम बन्धन है। ज्ञानी जीवके भी जो आश्रय बंध चलता है वह चलता है लेकिन इसने बन्धन तोड़ दिया।

५४४. एकक्रियान्वितताके निर्णयसे शिक्षाग्रहण—इस प्रसंगसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि मैं केवल अपना परिणाम कर सकता हूं दूसरेका कुछ नहीं कर सकता। मैं वस्तु हूं और मैं अपनेमें अपनी परिणति करता हूँ, इसके खिलाफ जो यह मान्यता हो गई है कि मैं अमुकको यों कर दूँगा, अमुककी ऐसी व्यवस्था कर दूँगा, जो परके प्रति ये बातें सोची जाती हैं वे सब मिथ्या बातें हैं और मनुष्य किसी कार्य रचनामें व्यस्त रहकर दुःखी रहा करता है। वह किस बातका दुःख है? परको मैं करता हूँ, कर दूँगा, इस प्रकारके आशय का दुःख है अर्थात् मिथ्यात्वका दुःख है। आत्मा अपने परिणामको करता है। जो परिणाम पुद्गल कर्मके कर्मरूप परिणमन होनेमें निमित्तभूत हो जाती है वह पुद्गल कर्मके परिणामके अनुकूल बैठ जाती है। बैठ जावो फिर भी आत्माओंने पुद्गल कर्मका कुछ नहीं किया, अपने परिणामको ही किया। तो अपनेसे अभिन्न अपने परिणामको और अपनेसे अभिन्न अपनी परिणति मात्र क्रियासे किया है लेकिन कोई जीव ऐसा निरखने लगे कि मैं अपने परिणामको अपनेसे अभिन्न परिणति क्रियाके द्वारा करता हूं, इसी प्रकार पुद्गलको भी तो मैं करता हूँ तो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हुआ। ज्ञानी संत तो अपने आपका निर्णय किए बैठा है कि एक द्रव्य दूसरेका परिणमन नहीं करता। जो लोग मानते हैं कि एक द्रव्यने किसी दूसरे द्रव्यका परिणमन कर दिया तो उसका वह अज्ञान है। यह एक अपूर्व करुणाकी बात कही जा रही है जिसे समझ लेनेपर संसारके समस्त संकट टल जाते है।

५४५. वस्तुस्वरूपसे विपरीत कल्पनामें क्लेशका उद्भव—जो परिणमता है उसको तो कर्ता कहते हैं, जो परिणति होती है उसे क्रिया कहते हैं। तो ये तीन बातें हैं—परिणमने वाला, परिणाम और परिणति। ये भिन्न-भिन्न वस्तुमें तो नहीं रह सकते। एक ही वस्तुमें हैं, ये तीनों वस्तुसे भिन्न नहीं है। पदार्थ हैं और द्रव्यत्व गुणके कारण वे निरन्तर परिणमते रहते हैं, बस यह वस्तुका स्वरूप है। उस स्वरूपमें दूसरेका क्या हक, क्या प्रवेश? प्रत्येक पदार्थ अकेला ही परिणमता है, दूसरेको साथ लेकर दूसरेकी क्रियासे परिणमता हो ऐसी बात नहीं है। उसका जो कुछ भी परिणाम होता है इकला ही होता है। उसमें दूसरेका कुछ कथन ही नहीं है। दो मिलकर एक परिणाम नहीं करते और एक दोका परिणाम नहीं करते। किसी कार्यको मिलकर दो पदार्थ करें सो नहीं होता। निमित्त उपादान भेद करके कहा जाय तो गलत तो नहीं है, पर निश्चय प्रकरण है। यहाँ उपादान रूपसे दो मिलकर किसी एक कार्यको करें यह बात नहीं बनती। जितनी वस्तुयें है उतनी ही अवस्थायें हैं, इस कारणसे प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणामको ही करता रहता है। कोई किसी दूसरेके परिणमनको नहीं करता। वस्तुस्थिति तो है ऐसी लेकिन अज्ञानीजन अनादिकालसे मैं परको करता हूँ, परको करता हूँ—इस ही धुनमें दौड़ रहा है। यह महान अहंकार है,

विकास ही विकास चल रहे हैं वे तो आत्माके स्वभावसे और कालमात्रका निमित्त पाकर हो गया है। आत्माके परिणामोंको ही आत्मा करता है, आत्मा ही आत्माके भाव हैं। पर परके भाव हैं। मैं दो पदार्थोंके परिणमनको नहीं करता, मैं केवल अपने परिणमन को ही करता चला जा रहा हूं।

५४८. एक द्रव्यके द्वारा अनेक द्रव्योंका परिणमन मत प्रतिभास हो—एक द्रव्यके द्वारा दो या अन्य द्रव्योंका परिणमन होता है या किया जाता है यह मुझे मत जंचो तथा इस तरह मुझे मत दिखो। जैसे—कुम्हार जब घड़ा बनाता है उस समय वह अपने परिणामको कर रहा, जो घड़ा बनानेके अनुकूल है। कुम्हारकी इच्छायें और ज्ञान परिणमन है वह चल रहे हैं। जिस समय घड़ा उत्पन्न हो उस समय अपने परिणमनको प्रकट करता है। कुम्हार दंड चाक चीवरके साधन जुटाता है और वह अपना अपना परिणमन करता है। दंडका परिणमन दंडमें हो रहा है, चाकका चाकमें तथा चीवरका चीवरमें परिणमन हो रहा है। यहां इन सबकी क्रिया देखकर हो बात सोचना चाहिए। कुम्हार शरीरसहित सचेतन है। वह घड़ा बनाते समय अपने हाथ चला रहा है तथा उसके विषयमें सोच रहा है। यह सब अपना ही परिणमन कर रहा है। वह क्रिया भी कुम्हारसे अभिन्न है। कुम्हार अपने परिणमनके द्वारा ही अपना कार्य कर रहा है। कुम्हार मिट्टीके परिणमनको नहीं कर रहा है। वह उससे भिन्न है। कुम्हार अगर घड़ा बनानेका अहंकार करे तो भी मिट्टीका कर्ता कुम्हार नहीं। यदि कुम्हारको अपना व मिट्टीका कर्ता कहो तो फिर मिट्टीको और कुम्हारको अभिन्न एकमेक मानना पड़ेगा। उसके करनेके लिए परिणाम करना पड़ते हैं। वह सब प्रतिभासित हो रहे हैं। मान लो कुम्हार इस तरहके अञ्जनको लगा लेवे जिसमें कुम्हार (मनुष्य) न दिखे तो वह घड़ा बनाता रहेगा, चाक घूमता रहेगा और घड़ा बनकर तैयार हो जायगा तथा पत्थरके सहारे लकड़ीके चटुआसे ठक ठक ठक होने लगेगा, तब कितना बढ़िया हंसाने वाला मेसमेरिजम जैसा दृश्य उपस्थित हो जायगा। कुम्हारके घड़ा बनानेमें जो जो साधन सहायक या आश्रयभूत हैं वह अपना-अपना परिणमन कर रहे हैं। उसी तरह मेरा परिणमन कोई दूसरा नहीं करता है। मैं स्वयं अपना परिणमन करता हूं। मेरे द्वारा भी दूसरेका परिणमन नहीं होता है।

५४९. परात्मबुद्धिमें क्लेशभाजनता—परपदार्थमें संयोगबुद्धि होना दुःखका कारण है। अनादिसे परपदार्थको अपना ही मानते आये इससे दुःख है। कोई किसान खेतमें हल चला रहा था। हल चलाते समय हलके साथ सर्प कसकर आ गया तथा बैलके पैरसे वह दब गया। फिर क्या था, सर्पने एकदम गुस्सेमें आकर फन फुलाकर किसानको डस लिया। इससे किसानके शरीरमें विष फैल गया। तब सर्पके मंत्रवादी गुनियाने मेर फोरे। जिससे

मिथ्यात्व अज्ञानभाव इसका दूर हो गया। इस सम्यक्त्वी ने यह निरख लिया कि प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण सत् है, अपने आपमें सत् है, अपने परिणमन के लिए सत् है। एक बार भी यदि यह विशुद्ध बोध जग जाय तो फिर इसे कुछ बन्धन नहीं है।

५४७. आत्मपरिणामका तात्त्विक उद्बोधन—उक्त कथनका निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा अपने परिणामोंको करता है, परभावोंको नहीं करता। अब इसमें भी जैसे अन्तर्दृष्टि विशेष लगाते जायें वैसे ही अर्थ आता जायेगा। मैं अपने परिणामको करता हूँ, परद्रव्यके परिणामको नहीं करता हूँ, अर्थात् रागादिक विकार आदिक जो कुछ भी हो रहे हैं इनको मैं कर रहा हूँ। पुद्गल कर्ममें कर्मत्व आये आदिक बातोंको मैं नहीं करता। और कुछ अन्तर्दृष्टिसे चलें तो ये रागादिक विकार पुद्गल कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं, इस कारण परभाव हैं, विपरीत हैं। इन परभावोंका मैं कर्ता नहीं हूँ। मैं तो अपने विकासरूप भावोंको करता हूँ। जब कुछ और गहरी अन्तर्दृष्टिमें चलते हैं तो जैसे पहले यह दीखा था कि ज्ञान होना यह तो आत्माके गुणोंका विकास है, राग होना यह आत्माके गुणोंका विकास नहीं है। तो जो विकासबहिर्भूत हैं वे परभाव हैं, उनको मैं नहीं करता हूं, जो विकासरूप है वह मेरा परिणाम है, उसको ही मैं करता हूँ। अब यहाँ इस अन्तर्दृष्टिमें यह देखो कि ये जो छुटपुट विकास हैं, अल्पज्ञान हैं ये यद्यपि मेरे गुणके विकास हैं, पर इतना ही प्रकट होना इतना ही तो मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा काम नहीं है, यह भी मेरा परिणाम नहीं। मेरा परिणाम तो स्वभावतः उठकर धाराप्रवाह जो भी विकास होता है वह मेरा परिणाम है। यह भी परभाव है। मर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए भाव हैं। मैं अपने परिणामको करता हूं। जब और गहरी दृष्टि पहुँचती है जब एकदम इस विशेषतामें आते हैं तो वहाँ यह निरखना बनता है कि धर्म अधर्म आकाश आदिक द्रव्योंकी तरह मेरेमें भी षड्गुण हानिवृद्धिरूपसे अगुरुलघुगुणसे परिणमन चल रहा है। मैं जिस सहजपरिणमनसे परिणमता रहता हूँ वह तो मेरा आत्मपरिणाम है और कर्मोंके उपशम क्षय आदिकके निमित्तसे जो भाव उत्पन्न होते हैं यद्यपि मेरे वे स्वभावमें मिल गए इसीलिए वे परिणाम हैं, लेकिन जब निमित्तपर दृष्टि देकर निरखा जाता तो ऐसे क्षायित्वसे विशिष्ट परिणाम मेरा परिणाम नहीं है, मेरा तो अविशिष्ट परिणाम है। फिर तो मेरी वही अवस्था है जैसी अवस्था आकाश आदिककी है। जब यह जीव मनुष्य शरीर आदिकसे रहित हो गया तो उस हालतमें ऐसा हो गया जैसे कि आकाश आदिककी हालतमें। आकाश आदिक द्रव्योंके परिणमनका निमित्त काल मात्र है। इसी प्रकार उस सिद्ध प्रभुके अब परिणमन जो अनन्तकाल तक होते रहेंगे उन परिणमनोंका निमित्त काल मात्र है। कर्मका क्षय नहीं है। कर्मका क्षय तो निमित्त है, प्रथम ही प्रथम हुए विकासमें है। उसके वाद अब

मेरे सामने क्या करता हे ? मैंने जितनी बात समझी है वही सर्वश्रेष्ठ है, इसके आगे कौन क्या बतावेगा ? अनेक साधु भी इस तरहके मनोनुकूल मार्गपर चलने वाले मिल जावेंगे। क्या पंडित, क्या त्यागी, क्या सेठ, क्या जैन, क्या विद्यार्थी, क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्री, क्या अन्य मतावलम्बी सभी का यही हाल चल रहा है। एक छोटा श्रावक भी अपने छोटे मोटे नियमोंके अनुसार, त्यागी, मुनि तक को कुछ नहीं समझता है और उनकी भर पेट निन्दा करता है। यह रवैया किस तरह बदल सकेगा, यह भविष्यके गर्तमें समाया हुआ है।

५५१. हठका कटुक फल---एक स्त्री हठीली थी। वह पतिसे जो भी वस्तु लानेको कहे वह उसे लाना पड़ती थी। साससे बहूकी आपसमें लड़ाई हो जाया करती थी। तब तंग आकर बहूने सोचा सासको इस बार झगड़नेका कुछ फल मिलना चाहिए। अतएव बहू बीमारीका बहाना बनाकर लेट रही। बहुतसी दवायें की गईं, लेकिन किसीसे भी उसका रोग नहीं दबा। ज्यों ज्यों दवा की त्यों त्यों बीमारी बढ़ती गई। तब उस स्त्रीसे ही पूछा गया, तेरी बीमारीका निदान क्या है ? तब वह स्त्री बोली 'मेरा जो पति है, वह अपनी मांके बाल मुड़ाकर काला मुख करके बड़े सवेरे उसे देखेगी तब बच सकेगी। तब उसका पति सोच विचारमें पड़ गया, क्या करना चाहिए ? बस उपाय उसके मनमें आ गया। इसलिए उसने अपनी मांको यह बात कहनेके बदले पत्नीकी मां अर्थात् अपनी सासको खबर भेज दी 'सासू जी तुम्हारी लड़की काफी बीमार है, उसका कहना है कि मैं अपनी मां को बड़े तड़के बाल मुड़ाये काला मुख करे देखूंगी, तब बीमारीसे अच्छा हो सकूंगी, देवता कह गये हैं। तब फिर क्या था, मां का पुत्रीके प्रति प्रेम जो होता है। अपना मूड़ (सिर) मुड़ाकर काला मुंह करके अपनी लड़कीके पास आ गई। यह सब देखकर उस व्यक्तिकी पत्नी बड़ी प्रसन्न हुई और बीमारी भी भाग गई, क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो उसकी सास थी। तब वह पतिसे कहती है:---देखे बीरबानीके चाले, सिर मुड़े और मुख काले। इसके उत्तरमें पतिदेव कहते हैं---देखी मर्दों की फेरी, अम्मा तेरी कि मेरी॥ अर्थात् स्त्री बोली कि तुमने स्त्रियोंकी चालाकी देख ली, जो मैंने तुम्हारी माँको सिर मुड़ाये मुंह काला करे अपने सामने बुलवा ली। उत्तरमें पतिने कहा, पुरुषोंकी बदला फेरी भी देखी, तुम्हारा जूता तुम्हारे सिरमें ही पड़ गया। देख तो अम्मा मेरी है अथवा तेरी। कोई किसी तरहका भी हठ करे, हठ अच्छा नहीं। हठ कहाँ तक चल सकता है, किसपर चल सकता है ? परवस्तु पर हठ करनेसे विफल हो जाने हैं।

५५२. विवेककलासे स्वपरसंरक्षण---कुछ लोगोंको देखा होगा, छोटे मोटे व्यक्ति हंसी उड़ाते रहते हैं और बड़े आदमी उसपर ध्यान भी नहीं देते। रास्तेमें अगर कुछ खिलाड़ी गुण्डे वगैरह किसी सेठजी की या बाबूजी की हंसी उड़ाने लगें तो वह चुपकेसे अन-

किसानने बकना शुरू किया। तो किसान सर्पकी तरफसे कहे--बैलने मेरे ऊपर पैर क्यों रखा और यह कहता जाय तथा बैलको मारनेको भिड़ गया। उस समय एक व्यक्तिने किसानको समझाया कि बैलको क्यों मारते हो, वह मर जायगा तो हल किसके द्वारा चलाओगे और हल न चलेगा तब पेटकी ज्वाला भी किस वस्तुसे शान्त करोगे? बिना खेतीके अनाज कहांसे पैदा होगा? इसी तरह हम संसारियोंकी बुद्धि विपरीत हो गई है जिससे कहते हैं, अमुक कार्य मेरे माफिक क्यों नहीं हुआ? वह इस तरह क्यों हो गया? अब मैं इसे इस तरहका बनाकर रहूंगा। मेरे द्वारा यह काबूमें हो सकेगा, इत्यादि अनेक कल्पनायें करता रहता है और दुखी स्वयं होता रहता है। कुछ लोगोंकी बुद्धि इस तरहकी बन जाती है--जो होगा सो देखा जायगा। उन्हें तो अपने मनोनुकूल कार्य करनेसे मतलब रहता है। आगे कुछ सुध नहीं रखते या उनके लिए यों कहा जाय 'मरता क्या नहीं करता' की कहावतको चरितार्थ करते हैं। वे सोच लेते हैं—जो मेरे मनमें आया उसे तो कर ही गुजरूं, जो आगे होगा उसे अभीसे विचार कर दुःखी क्यों होवें? उस समय इस तरहके हठवादी को कोई कितना ही समझावे, किन्तु उसकी बुद्धिमें अच्छी बात स्थान नहीं पाती।

५५०. पर्यायबुद्धिमें हठवादका स्थायित्व—दो मित्र किसी रास्तेसे चले जा रहे थे। आगे चलने पर दो रास्ते आते हैं। उनमें जिस मित्रकी बात उसका साथी मानता है, अगर वह जो कह देवे तब दूसरे मित्रको भी मानना होगी, नहीं तो उसकी बातमें बट्टा लग जायगा। तब मुख्य माना जाने वाला मित्र अपनी बुद्धि अनुसार रास्ता चुनता है और अच्छे रास्तेको छोड़कर ऊबड़ खाबड़ रास्तेमें-से चल देता है। उस समय उसका मित्र समझाता है, अपने लिए इस रास्तेसे जाना योग्य नहीं है, यह रास्ता खराब है, इसमें चोरोंका भय है, जीव जन्तुओंका भी भय है। लेकिन हठवादी मुख्य मित्र अपने सामने किसीकी एक नहीं सुनता और आगे बढ़ता जाता है। उसके दिमागने जो रास्ता चुन लिया तब उसे ब्रह्मा भी क्यों नहीं मनाने आ जावे, वह किसीकी एक नहीं सुननेका। आगे जाकर भले संकट झेलेगा, लेकिन इस समय जो उसके दिमागमें समा चुका, जो मैं कर रहा हूं अथवा जिस रास्ते मैं जा रहा हूं वही ठीक है। यही हाल अनेक समझदार कहे जाने वालों का हो रहा है। एक तो शुरूसे अच्छी जगह जन्म नहीं हुआ, जहां कल्याणकी बात मिले। दूसरे संगति और खोटी ही मिल गई तब तो उसे हजार समझाया जावे वह किसी की एक नहीं मानेगा। इस प्रकारकी वृत्ति, अच्छे संस्कार मिलने वालोंकी ही नहीं हो रही है, किन्तु दूसरोंकी नजरमें अच्छे दिखने वालोंकी भी हो रही है। जिस पंडित ने अपना मार्ग अपनी निर्धारित वृत्तिके अनुसार अच्छा समझ रखा है उसे अच्छे से अच्छा बुद्धिमान समझावे तो उस पंडितके लिए वह सब हंसीके समान है। वह तो यही सोचता है, ४८

५५४. भ्रान्तिज आकुलताका भ्रान्तिनाशसे अभाव—एक समय १० जुलाहे कपड़ा बेचनेके लिए गाँवसे ४–५ मील दूर हाट करने के लिए गये। रास्तेमें एक नदी पड़ती थी। जाते समय उसे वे सावधानीसे पार कर गये। बाजारमें जाकर कपड़ा बेचा। करीब ४ बजे हाट उठ जानेपर दशों घर आने को तैयार हो गये। सभी वहाँसे वापिस चल दिये। लौटते समय रास्तेमें नदीके पास आये। नदीका बहाव कुछ बढ़ चुका था। तब भी हिम्मत करके उन सबने नदी पार करना तय किया। कोई किसी रास्तेसे चला, कोई किसी से, इस परह वह किनारे आ गये। उनमें से एकने सोचा कि सभी आये या नहीं, गिनती कर ली जाय। एकने गिना तो कहा—९ ही रह गये, दूसरेने भी गिना तो वह बोला ९ ही हैं। इस तरह हरेक स्वयंको गिनना छोड़ जावे औरको गिनता जावे। तब वह सबके सब पत्थरोंसे सिर मार मार कर रोने लगे। एक ने कहा, २॥) की तो मुनाफा की होगी और बदलेमें एक आदमी खो चले, नदियामें बह गया है। इतने में एक घुड़सवार आया और उनको रोता देख सब समाचार पूछा। उत्तरमें कहा, हमारा एक आदमी नदीमें बह गया है, दसमें से नौ रह गये। तो घुड़सवार बोला—अगर हम दस ही कर देंगे तो क्या इनाम दोगे ? कहा जन्मभर तुम्हारा जस गावेंगे। तब उसने सबको एक कतारसे खड़ा किया और एक, दो, तीन कहता हुआ अन्तमें बोला 'त्वमेव दशमोसि'। फिर भी सन्देह जो दिमागमें बैठा था इसलिए फिर उसकी बात सच नहीं मानी। तब घोड़े वाले मुसाफिर ने क्रमशः दस बार गिनकर बताया 'त्वमेव दशमोसि' तुम्हीं दसवें जुलाहे हो। तब वह प्रसन्न हुए तथा अपनी भूलपर पश्चाताप किया। वह कहते हैं हममें से कोई बिछुड़ा नहीं, सबके सब हैं। अब उन्हें क्या दुःख हो रहा है ? जो भ्रमसे दुःख उपाजा था वह अब नहीं है। लेकिन अज्ञानतावश जो सिर फोड़ लिये थे वह घाव अब भी हैं। उन्हें भरनेके लिए समय लगेगा। इसी तरह जो अज्ञान अवस्थामें कर्म बांधे थे वह कुछ समय तक रहते हैं और उनके उदय से विशेष विशेष रागमें भी प्रवृत्त होता है। इस रागका जो इलाज करता है उस तत्त्वज्ञानी को अन्तरङ्गमें व्याकुलता नहीं है।

५५५. अन्यमें अकर्तृत्वके अनेक दृष्टान्त—अनेक दृष्टान्त हैं, उदाहरण हैं कि कोई एक द्रव्य दूसरेका परिणमन नहीं कर देता है। बच्चा रोनेसे चुप हो जावे, तो वह अपनी ही परिणतिसे ही चुप होगा और शान्त भाव धारण करेगा। शिष्य अपनी बुद्धिके बलसे ही विकास करता है। वह दूसरेमें कुछ नहीं करता है। प्रकाश है, उसमें हाथ किया तो छाया दिवाल या जमीनपर आ गई, किन्तु यह छाया हाथसे नहीं आयी। हाथकी परि-णतिने छाया नहीं बनाई। हाथ तो केवल अपना ही काम करता है। चौकीके उठाने, रखने में भी हाथ कर्ता नहीं है। हाथका परिणमन हाथमें हो रहा है और चौकीका परिणमन

सुनती किये चले जाते हैं। जैसे हंसी उड़ाने वाले यह समझें कि सेठजी को मालूम ही नहीं हुआ। अगर वहाँ मुंह बोल देवें तब भी फजीहत है। एक बड़ा घराना था। उसमें सेठजी आदि सभी रहते थे। एक समय उनके बेटेकी पत्नी चक्की पीस रही थी। उसके पेटमें कुछ दर्द था, जिससे उसे अधोवायु सर गयी। उसे बड़ी शर्म लगी क्योंकि वहीं पर उसके ससुर साहब बैठे थे, उन्हें भी पता चल गया। इसमें बहूने सोचा, शर्मके मारे कहाँ क्या करे? मरने तककी सोचली। तब वह ससुर बेढंगी बात बनाकर कहता है 'मोरे ससुर किस बढ़ईने पीढ़ा (पीढ़ी) बनाये हैं कि वह चररमररर बोलता है। लो जान बच गई। कोई कैसा भी हठ हो उससे आत्माका हित नहीं है। बच्चा तो रो रहा है फिर भी पीटने लगे, कहते हैं—चुप होता या नहीं, इस तरह बार-बार पीटते जावें और कहें चुप होता या नहीं। वह चुप क्या पीटनेसे होगा, उसे तो प्रेमसे भले मना सकते हो। पीटकर तो दब्बू बना देना है। उसके मनमें एक ऐसी भावना घर कर लेगी कि सदैव घृणाके भाव जबर्दस्ती पीटने, सजा देने वालेके प्रति हो जावेंगे। जिसे तत्त्वज्ञान हो गया उसकी कला सदैव उत्तम कार्य ही करेगी। तत्त्वज्ञानके द्वारा अन्तरङ्ग और बाह्यकी व्यवस्था सुन्दर रखते हैं। परस्परमें जो कर्ता कर्म बुद्धि लगी है वही भ्रम है। भगवान् तो एक निमित्त है। कर्म उपाधिको पाकर यह परिणमन कर रहा है। भगवान्‌की पूजन करते समय उनका कुछ भी नहीं कर रहा है। उनके दर्शनसे अपने ही नेत्र खुलते हैं। वे सर्वोत्कृष्ट पूज्य हैं। अतः उन स्वरूप बननेके लिए दर्शन, पूजन, स्वाध्याय सामायिक की जाती है।

५५३. वस्तुस्वातन्त्र्यदर्शनकी भावना— इस लोकके अन्दर पदार्थोंका जो विचित्र परिणमन चल रहा है वह उपाधिको पाकर चल रहा है। तब भी वह अपने अस्तित्वकी क्रिया करता हुआ है, किसी दूसरेकी क्रिया करता हुआ नहीं है। जब आत्मा कषायभाव करता है तब निमित्त पाकर नवीन कर्म बंध जाते हैं। वह अपना परिणाम आत्मा स्वयं करता है। वह परिणाम अपनी परिणति द्वारा करता है। अपनी अभिन्न क्रियाके द्वारा अपना परिणाम करता है, यही तथ्य मेरेमें समाया रहे। यह द्विक्रियावादित्व मुझे मत जंचो। यद्यपि पुद्गल कर्म यों ही नहीं बंध रहे हैं, उसका निमित्तभूत आत्माका कषाय परिणाम है। वह पुद्गल कर्मको बाँधता है— इस तरहका अहंकार भर रहा है। पुद्गलका जो परिणमन है वह पुद्गलसे अभिन्न है, वह परिणमन मुझमें होता है, इस तरह मत जंचो। कोई मेरा कुछ कर देता है यह मत जंचो। जैसा सिद्ध प्रभुका आत्मा है उसी तरह का मेरा है। यह जो विकट अन्तर आ गया है कि भगवान् वीतराग हैं और मैं नहीं हूं—यह मिथ्या बुद्धिका किया हुआ अन्तर है। मिथ्या बुद्धिके द्वारा बांधे कर्म काफी समय तक घूमते रहते हैं।

है, अमुक मेरा मित्र है, पिता है, इन्हींको अपना शरण माने हुए है या उनकी सहायता करने वाला अपनेको मानता है। निश्चयसे कोई किसीका न शरण है और न कोई किसीका सहायक है। निश्चयसे अपने आपको सहायक मानना तथा अपने आत्माको ही शरण मानना स्वतन्त्रता है। अपने आपको अन्यका सुधारक, बिगाड़क समझना स्वयं अपना हित अहित करना है।

५५७. अन्योन्य अकर्तृत्वकी प्रतीतिमें आत्मविजय—जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्ति करते समय यह भावना करे—हे नाथ! तुम्हारी भक्तिके प्रसादसे मेरा ज्ञाननेत्र खुल जाओ! आज तक अज्ञान अन्धकारमें घूमता रहा, परको कर्ता मानता रहा, अब मुझे ऐसा ही प्रतीत होवे कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना-अपना परिणमन करता हुआ चला जा रहा है। मैं मात्र अपने आपका कर्ता हूं। किसीके द्वारा मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। एकने अगर दूसरे की निन्दा की तो दूसरा क्यों क्रुद्ध होता है? निन्दासे तुम्हारा कुछ छीन तो नहीं लिया है, निन्दा करने वालेने अपनी ही कषाय बढ़ाई है। प्रशंसा करने वालेने भी अपनी कषायका परिणमन किया है। तुममें उसने किन्हीं गुणोंकी वृद्धि नहीं कर दी। अपने ही झूठे विकल्पों द्वारा फूला जा रहा है। मैं बड़ा हूं, मेरी शान इतनी है, मेरे अन्डरमें इतने व्यक्ति रहते हैं, उनपर मेरा प्रभाव पड़ता है। अतएव मेरी कोई शानमें बट्टा न लगा देवे—इन्हीं विकल्पों ने मुझे यहाँ जकड़ रखा है। अगर इन्हीं विकल्पोंके आधीन रहे और नरक तिर्यञ्च गति की खाक छानना पड़ी तब यह प्रभाव किसको दिखेगा? मैं अपने आपका कर्ता दिखता रहूं। मैं अपने आपको किसी अन्यका स्वामी न समझूं तथा मैं अपना स्वामी अन्यको न देखूं। यही दृष्टि अमृतपानका कार्य करेगी। दुःख किस कारण है? 'सुख दुःख दाता कोई न आन' सुख दुःख अपनी बुद्धिकी कल्पनासे बनाये जाते हैं। मेरा राग द्वेष ही मुझे चक्कर में डाले हुए है। शान्तिको चाहने वाले, इतना जान तो लो मैं इतना ही हूं, इससे ज्यादा कुछ नहीं हूं। इस देशकी बात संभाली तो क्या संभाला? प्रत्येक पर गुजरेगी तो उसके परिणामके अनुसार ही। जैसा निर्मल या खोटा भाव होगा वैसा फल मिलेगा। मैं चैतन्य मात्र हूं। जगत्‌की सत्तासे भिन्न अपना परिणमन करता रहता हूं। अपने आपके सत्त्वको संभाले, फिर दुःख कहीं नहीं है। जो अपने आपको संभाले वही जगतको जीत सकता है।

५५८. प्रत्येक पदार्थमें स्वचतुष्टयसे अपनी ही अद्वैतता—देख लो सर्वत्र—जो परिणमता है वह कर्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है, जो परिणति है वह क्रिया है। ये तीनों ही वस्तुतः भिन्न नहीं है। आत्मा निश्चयतः शुद्धोपयोगरूप या शुभोपयोगरूप या अशुभोपयोगरूप परिणमता है, सो यही परिणमनेवाला आत्मा कर्ता है और वे उपयोग कर्म हैं तथा वही परिणति क्रिया है। ये तीनों वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। आत्मा परमार्थतः चित्स्व-

चौकीमें हो रहा है। उन दोनोंकी परिणति उनके प्रदेशों तक ही सीमित है। मैं अपना ज्ञानवर्तनमात्र काम करता हूं, यह अवगम करना अमृतपानके सदृश है। यह समझ लेनेपर दुःख छूट जाते हैं। एक द्रव्य स्वयंका परिणमन कर पाता है। एक व्यावहारिक जीवन ऐसा बनाये बिना महान् आनन्द पाना कठिन है। कभी-कभी समागमोंमें रहकर भी यह देखा करें, इसके प्रदेशोंमें ही इसका परिणमन हो रहा है। यों ही भ्रमसे जीव मानता है, शरीर ही मैं हूँ। मैं बुद्धिमान् मूर्ख त्यागी, गृहस्थ, धनवान्, गरीब आदि हूँ—इन विकल्पोंके कारण दुखी हुआ करता है। मैं इतनी प्रतिष्ठावाला हूं, मेरी इज्जत गिर गई इत्यादि कल्पनाओंके द्वारा दुखी होता रहता है। शुद्ध अपने आपको देखे, जाने तो कोई कुछ नहीं बिगाड़ेगा। मेरी निन्दा, मेरी प्रशंसासे मेरा हित नहीं है। हित अपनी निज स्वभावपरिणतिसे होगा। मैं ऐसा अनादिसे हूं। किसीके द्वारा में इसी भवमें ही निर्मित नहीं हुआ हूं।

५५६. अन्यसे अन्यकी अशरणता—राजा भोजकी सभामें एक पंडित तथा उसके पिता जी बैठे थे। यह कोई नियम नहीं कि पंडितका पिता भी पडित ही हो, वकीलका पिता भी वकील हो। पंडितजीके जो पिताजी बैठे थे, राजा साहबने उनसे कहा, आप कुछ कविता कहिए। तब वह अपने लड़केसे बोला—'पुरारे वापा' अर्थात् इस कविताकी पूर्ति कर दे। पंडित जी भी संकोचमें आये, अगर मैं इसकी कविताकी पूर्ति करनेमें रह गया तो इज्जत गई और इसके शुरू शब्दको छोड़ देंगे तो पिता जी मूर्ख माने जावेगे। इसलिए वह उन्हीं शब्दोंमें बोलता है:—पुरा रेवा पारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे, गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहन ज्वालाव्यतिकरः। धनुःपाणि परचान्मृगयुशतकं धावति भृशं, क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति। इसमें एक हरिणका चित्रण खींचा गया है। हरिणका बच्चा ऐसी जगह था जहाँ एक ओर रेवा नदी बह रही है तथा अगल-बगल पहाड़ हैं। उस हिरणके बच्चेके पीछे शिकारी लगा हुआ है तथा जंगलमें आग लग चुकी है। इस समय हिरण कहाँ जावे, वह चारों ओरसे फंस चुका है। उसे रास्ता मिलना कठिन हो गया। दुनियामें चारों ओरसे पाप किये जा रहे हैं। अज्ञानमें अज्ञानकी बात सूझती है और ज्ञानमें ज्ञानकी बात सूझती है। जैसा परिणाम होगा वैसी योग्यता उत्पन्न होगी। कुछ भी मायाचार किया जाय, दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकी जाय, फिर भी कर्म जैसा होगा वैसा पुण्य या पाप रूप भोगना ही होगा। उसे कोई टालनेमें समर्थ नहीं है। चैतन्य प्रभुको भ्रमवश अन्तरङ्गसे ओझल कर दिया है। बहिरङ्गसे युद्ध या कार्यकलाप चल रहा है। जिसने जैसी प्राप्ति की उसके अनुसार परिणाम किये और उसका फल उसी समय तथा आगे भी मिलता है। बालक पर विपदा आ जावे तो पिताके पैरोंपर लिपट जाता है। लेकिन जिसका जैसा भाग्य है उसका वैसा ही काम होगा। जगत्के जीवोंने मान रखा है—अमुक मेरी स्त्री है, अमुक मेरा पुत्र

अपना विकल्प स्वच्छ बन जायगा, वैसे-वैसे ही निर्विकल्पता सुख शान्ति की झलक आती जायगी। कोई किसी का कुछ काम करके ऐहसान नहीं करता। माँ कहे, मैंने बच्चेका पालन पोषण किया है, तब वह होनहार बन पाया है। मांको ममता थी इसलिए उसको पाला पोसा और पुत्रके पुण्यका उदय था। उस बच्चेको इस तरहकी माँ मिल गई जो मोह ही करती रही। कोई किसीका सुधार करके ऐहसान नहीं कर देता है और तो क्या आचार्य स्वयं नहीं मानते। यह ग्रन्थ जो बनाये हैं तो किसीका उपकार किया है, उनका भाव तिर्मल था, इसलिए स्वयंके कल्याणके लिए लिखते रहते थे।

५६०. जीवोंका अपनी-अपनी योग्यतासे अपना-अपना परिणमन—जगत्में अनन्त जीव है। जिसका जब जो परिणाम होगा उसके अनुसार सुधार बिगाड़ होगा। उस समय किसीके द्वारा उस सुख दुःख पाने वालेका कुछ हुआ हो यह बात सर्वथा असिद्ध है। जो भी जिसका अच्छा बुरा सोचता है वह अपनी कषायको करता है। जगत्के सभी जीव अपनी-अपनी कषायके अनुसार चेष्टा करते हैं। जिसकी जितनी तीव्र या मन्द कषाय होगी उसीके अनुसार उसका परिणमन होगा। मैं किसी कारणसे हर्ष या विषाद करूं वह अपने ही लिए फलदाता है। वस्तुतः मुझे कोई नहीं चाहता है लेकिन चाहने वाला मुझमें अपने जैसी कषाय देखकर राग करने लगता है। हम भी उसके रागमें मोहित होकर उसी तरह का परिणाम बना लेते हैं। अगर एक राग करने वाला हो और दूसरा उपेक्षा कर जाय तो राग करने वाला स्वयं उस तरहके भाव छोड़ देगा। शास्त्र सुनानेमें भी हमारी कषाय है तथा सुनने वालोंकी भी कषाय है। दोनोंकी कषायें एकसी मिल गई हैं। इसलिए सुन रहे तथा सुना रहे हैं। एक द्रव्य अकेला ही परिणमता है। जो वह परिणाम पापरूप या पुण्यरूप हुए वह एकके हुए हैं, दूसरे के नहीं।

५६१. अपने-अपने भावसे हर्षविषादादिरूप परिणाम—किसीके यहां खुशी हुई है तो साथमें और भी प्रसन्न हो रहे हैं। लेकिन वह किसी दूसरेकी खुशीसे खुश हो रहे हों यह संभव नहीं। जैसे किसी के यहां विवाह शादी हुई तो वह सब अपने-अपने कषाय भावके अनुसार हर्षित हो रहे हैं। कुछ इस तरहके भी हो सकते हैं, जो उस प्रसन्नताके विषयमें भी किसी कारणसे दुःखी हो रहे होवें तो उनके लिए वह कारण सुखका निमित्त क्यों नहीं पड़ा? वहां उसका भाव ही नहीं है। यह सुख दुःख किसीके आधारसे नहीं होता हैं, वह तो अपने-अपने परिणामोंके अनुसार होता है। रामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, कैकेयी जसोदा, सुमित्रा, सीता, दशरथका कुटुम्ब भरा पूरा था। सभी प्रेमसे रहते थे, किन्तु जब रामचन्द्र जी को राजगद्दी न देकर भरतके लिए तैयारी होने लगी तो कैकेयी ने जो चक्र रचा था उसमें सबके परिणाम भिन्न-भिन्न हुए। रामचन्द्र जी बनको जा रहे हैं। सीता

भावके धधकन रूप अर्थात् अगुरुलघुगुणकी वृद्धि हानिरूप अर्थपर्यायसे परिणमता है सो यह चिदात्मा कर्ता है और यही स्वभाव अर्थपर्याय कर्म है और यही परिणति क्रिया है। ये तीनों वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। देख लो सर्वत्र—सदा एक ही अकेला प्रत्येक अर्थ परिणमता है, सदा एकका ही अकेलेका परिणाम होता है और एक अकेले की ही परिणति होती है। सो कहने को तो कर्ता कर्म क्रिया—ये अनेक चीजें हैं, किन्तु हैं ये सब एक ही वस्तु। परख लो सर्वत्र—दो पदार्थ मिलकर कभी नहीं परिणमते हैं, दो पदार्थोंका कोई एक परिणाम नहीं होता, दो की मिलकर कोई परिणति नहीं होती। इसलिये अनेक द्रव्य अनेक ही हैं और भी निरख लो—एकके दो कर्ता नहीं होते, एकके दो कर्म नहीं होते, एककी दो क्रियायें नहीं होतीं। इस कारण एक एक ही रहता, एक अनेक नहीं हो पाता। देखो तो भैया! वस्तुस्थिति तो ऐसी है, किन्तु यह मोही प्राणीके अनादि कालसे ही "मैं परको करता हूँ" ऐसा अध्यवसान, महान् अहङ्काररूपी अन्धकार लग रहा है। यदि भूतार्थ अर्थात् यथार्थवस्तुस्वरूपका ग्रहण करके इस आत्माके एक बार भी मोह विलयको प्राप्त हो जावे तो ज्ञानघन भगवान् इस आत्माके फिर बन्धन हो सकता है क्या, कैसे हो सकता?

५५९. वस्तुत्वपरिज्ञानकी शरणरूपता—भैया! यथार्थ वस्तुत्वपरिज्ञान ही जीवको शरण है। इस तत्त्वज्ञान बिना यह प्राणी अपने भगवत्स्वरूपको भूलकर नाना विकल्प बन्धनोंमें पड़ गया है। यह देखो कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपका ही परिणमन करता है। कोई द्रव्य अपना व दूसरे का परिणमन नहीं करता है। जीव अपने परिणामको करता है। उसमें पुद्गल कर्मका बन्ध हो जाता है। पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जीव पुद्गल दोनोंका एक परिणमन हुआ। पुद्गलका बन्ध जिस तरह बंधता है, बंधा, उसमें जीवने कर्मको नहीं किया। आत्माने अपनेसे अभिन्न अपने परिणमनको किया। इस जीवने पुद्गलका परिणमन नहीं किया, केवल निमित्तनैमित्तिक भाव हैं। पर कर्ता कर्म भाव नहीं है। रागद्वेषमें अपना ही परिणमन करता है। जिसके सम्बन्धमें रागद्वेष किया उसका कुछ भी नहीं कर सका। एकमात्र अपना ही कर्ता है। वास्तवमें देखा जाय तो कर्ता कर्म क्रिया एक ही वस्तुकी होती है, अन्यकी नहीं। जब कोई किसीका हाथ पकड़कर टेढ़ा करे तो मरोड़ने वालेने उसके हाथमें क्रिया नहीं की। वह स्वयं अपने आप हुई है। जो परिणाम है वह कर्म है तथा जो परिणमता है वह क्रिया है। सर्पने कुण्डली बनाई तो वह उसने स्वयं बनाई है, उसका बनाने वाला अन्य नहीं है। सर्पकी क्रिया सर्पमें हो रही है। कोई भी बात आदिमें, मध्यमें करे वह सब अपने परिणमनोंसे अभिन्न है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यको परिणमा नहीं सकता है। कोई दुःखी होगा तो वह अपने ही परिणामसे ही होगा। जो भी दुखी है वह अपने-अपने परिणमनसे दुःखी है। जैसे-जैसे

छोड़ा, फिर भी तुमपर क्या आपत्ति आ गई है ? तब रानी बोली 'आज तुम्हारा जन्म-दिवस है, जिसकी यादसे दुःख है, वह कैसे मनाया जायगा ? इसलिए आज बहुतसे फूलोंकी जरूरत है।' तब राजा फूल लेनेके लिए वनमें चल दिया, वहाँसे बहुतसे फूल तोड़ लाया और उनकी मालायें बनाई गईं। वे मालायें राजाके गलेमें डाली गईं तथा बादमें रानी बोली—सिंहासनकी जरूरत है। इसलिए समीपमें जो ऊंचा पहाड़ है, वहां चलकर पत्थर लाया जावे। राजा रानी दोनों पहाड़ पर पहुंचे। वहाँ जाते ही रानीने देवरति राजाको मालाओंसे ही हाथ पैर बाँधकर कस दिया और वहाँसे रक्ताने राजाको एक धक्का दिया जिससे वह लुढ़कता हुआ नदीमें आ पड़ा तथा रानी कुब्जाको साथमें लेकर चल दी। पेट गुजरके लिए भी अब कोई साधन चाहिए। तो रक्ता रानी बढ़िया नाचना जानती थी और कुब्जा बढ़िया गाना जानता था। इसलिए दोनों नाच गाना कर पैसा माँगकर उदर पोषण करने लगे। रानीकी दृष्टिमें तो राजा देवरति मर चुका था, किन्तु भाग्यसे वह नदीमें बहता हुआ आगेके शहरमें किनारे लग चुका था तथा जहां किनारे लगा वहाँका राजा मृत्युलोकको प्राप्त हो चुका था। अतएव मंत्रियोंने, प्रजावालोंने तय किया कि प्रधान हाथी छोड़ा जाय और वह हाथी जिस व्यक्तिके गलेमें माला डाल देगा वही इस राज्यका राजा होगा। देव-रति राजाका पुण्य बलवान् था। इसलिए हाथीने जाकर इसके गलेमें माला डाल दी। तब देवरति इस राज्यका ठाटबाटसे राजा बना दिया गया। वह सुखसे राज्य करने लगा।

५६३. विकारकी दासताका एक उदाहरण—कुछ दिनों बाद रक्ता रानी कुब्जाको सिरपर रखे घूमती घूमती उसी राज्यमें आई। वह राज्य दरबारमें भी पहुंच गई। वहाँपर सबके सामने राजा बैठा और वहीं पर रानीका नाचना गाना शुरू किया गया। देवरति यह सब देख रहा था। उसने सोचा—यह तो रक्ता रानी जैसी मालूम पड़ती है। तब उसने पता चलानेके लिए दासी भेजी। दासीने सभी बातें पूछीं, नाम स्थान वगैरह सब पता चलाया गया। अब राजाने उसे बुलवाया और स्वयं कहा, 'तुम क्या रक्ता हो ? तुम्हारी यह दशा क्यों प्राप्त हुई आदि प्रश्न सब समाचार ज्ञात कर लिए। राजाके मनमें एकदम वैराग्य उठा और कहा धिक्कार है इन विषयभोगोंको, जिस रानीके लिए मैंने राज्यपाट भी छोड़ दिया था तथा दर दरकी तकलीफें उठानेको मंजूर था, जिस रानीको प्राणोंके समान प्यारी समझता था, वही मुझे कुछ भी नहीं चाहती थी। इसलिए उसने मेरी यह दशा की थी तथा वह भिखमंगीका भेष बनाकर अंगहीन कुब्जेको सिरपर रखकर उसमें आसक्त होकर गली गलीमें भीख माँगती फिरती है।' राजाने एकदम विरक्त होकर मुनिके पास जाकर मुनि दीक्षा ले ली। इन विषयभोगोंका कौन विश्वास करेगा ? जिसे मैं चाहता हूं वह प्रिय भोगकी सामग्री मुझे नहीं चाहती है तब भी उसपर आसक्त होकर जीवन बर्बाद कर रहा

को भी कषाय थी, राग था, इसके निमित्त कारण रामचन्द्र जी थे, इस लिए वह भी साथ में चल दी। लक्ष्मणको भी राग भाव था, बिना रामचन्द्र जी के वह पूर्ति होना असंभव था। अतः लक्ष्मण जी साथ चल दिये। यहाँ सभी प्राणी ३६ के अंक समान हैं। मोहमें कहते हैं—तुम हो, सो ही सब कुछ हो, तुम्हारे बिना कुछ नहीं, हमारा तुम्हारा प्रेम साथमें भी जायेगा—तुम्हारे दुःखमें हमें दुःख है, तुम्हारे सुखमें हमें सुख है। इन कल्पनाओंको कोई क्या कहे? अगर पत्नी भोजन भी थोड़ी देरमें परोसती है तो वहाँ आग बबूला हो जाते हैं। फिर भी समझमें नहीं आता, क्यों इस तरहका झूठा मायाजाल दिखाया जाता है? यह सब इसलिए कि मेरा साथी मुझसे ही प्रेम करता रहे, उसका भाव न बदल जाय, इसी लिए वह कुछ भी कहने में नहीं चूकता। जो रागका साधन था वह खत्म होवे तो कभी-कभी तो उसके साथ चितामें भी जल जाते हैं। क्योंकि उसके रागमें खलल पड़ने लगी, तब उसपर नहीं रहा गया। किन्तु उसे यह नहीं मालूम, इसका परिणाम क्या होगा? अगर वह दोनों एक जगह निगोदिया जीव हो गये तो वहाँके दुःख भोगते क्या राग आवेगा? यह सब होनेपर जीव अकेला ही परिणमन करता है। एक द्रव्य अनेक रूप नहीं होता, कोई किसीका साथी नहीं है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र स्वतन्त्र परिणमन कर रहे हैं।

५६२. कषायानुसार चेष्टा होनेका एक दृष्टान्तसे स्पष्टीकरण—देवरति राजाकी रानीका नाम रक्ता था। वह स्त्रीमें इतना आसक्त था कि उसे राज्यकार्य संभालनेमें भी मन नहीं लगता था। काफी दिन मनुष्योंको देखते हुए हो गया, तब उन्होंने राजासे कहा या तो आप राज्य-व्यवस्था संभालें अथवा रक्ता रानीको ही संभाले रहें। तब राजा राज्यकार्य न संभालकर रक्ता रानीको लेकर निकल गया। राजा आगे जाकर किसी गांवके किनारे खेतोंके पास ठहर गया तथा रानीको वहीं छोड़ गया और राजा भोजन सामग्री लेनेके लिये बाजार चला गया। रानी जी अकेली बैठी थी तम्बूके नीचे। वहीं थोड़ी दूर पर एक आदमी रहट हाँक रहा था। जो कि लंगड़ा, कुब्जा था। रानी उसे देखकर मोहित हो गई। रानी उस लंगड़े व्यक्तिके पास गई और याचना करने लगी—तुम मेरे लिए अति प्रिय लगते हो, हमें तुमसे प्रेम है, तुम हमारे साथ चलो। इसे गीत गाना अच्छी तरह आता था। तब वह लंगड़ा व्यक्ति बोला—आप राजा साहबकी रानी हैं तथा मैं शरीरसे हीन कुब्जा हूं। मुझे राजा यह सब चेष्टा करते देखकर खत्म करवा देगा। तब रानी बोली—तुम इसकी चिन्ता मत करो, मैं इसका सब इलाज कर लूंगी। फिर क्या था, कुब्जेने भी अपनी स्वीकृति दे दी। उसी समय राजा आनेको हुआ तो रक्ता रानी उदास चित्त होकर बैठ गई। राजाने कहा, आप उदास क्यों बैठी है, क्या तकलीफ है? हमने तुम्हारे पीछे ही राज्यपाट

वतता आत्मकल्याणकी साधक नहीं। इसमें द्वेषकी भावना समाई रहती है। सोचते हैं मेरा इसने अपमान कर दिया, गालियाँ दे दीं तो मुंह नहीं बोलने दो। पिता पुत्रसे, पति पत्नी से; भाई भाईसे भी भिन्न मानने लगते हैं।

५६६. तत्त्वज्ञानीका आन्तरिक चिन्तन—तत्त्वज्ञानी अन्तरङ्गकी दृष्टि फैलाकर देख रहा है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमता है, उसे कोई दूसरा नहीं परिणमाता है। तत्त्वज्ञानी अपनी वृत्तियां, खूबियां प्रमाणित कर चुका ज्ञान व ज्ञानियोंसे परिचय पा जानेके बाद। श्री अमृतचन्द्राचार्यसूरि कहते हैं—प्रत्येक पदार्थ अकेला ही परिणमता है, किसी दूसरेके द्वारा वह नहीं परिणमता। दो द्रव्य मिलकर नहीं परिणमते, न दो की मिलकर एक परिणति होती है। यह लोकव्यवस्था अनादिसे चली आ रही है। एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते हैं; एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते हैं। एक द्रव्यकी दो क्रियायें नहीं होती हैं। ज्ञानी द्रव्योंको स्थायी मानता हुआ भी परिणमन स्वभाववाले मानता है। इस जगत्में सभी आते हैं और कुछ समय रहकर दूसरी जगह चले जाते हैं। अपने पूर्व जन्मका किसे स्मरण है, मैं कौन था ? अनादिसे चक्कर लगाता हुआ यह संसारमें भटक रहा है। एकका कोई दूसरा हित नहीं कर सकता है! जो समागम प्राप्त हुए हैं वह हितके लिए नहीं हैं। आत्माका आत्मा ही हित है। आत्माका आत्मा ही रक्षक है। अगर सभी शास्त्रोंको पढ़ लिया तथा उनको रटकर दूसरोंको भी कल्याणका उपदेश देने लगे, किन्तु स्वयं मार्गपर नहीं आये तो वह गजस्नानके समान ही रहा। जैसे गज याने हाथी नहाकर भी धूल शरीरपर उठाकर डाल लेता है। इसी तरह बातोंकी स्वच्छता करके यह अज्ञानी विषयकषायोंसे अपनेको मलिन कर लेता है। सूरजके प्रकाशमें सब कुछ दिख जानेपर अगर स्वयं नहीं चले तो इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जाननेपर भी प्रतीति नहीं की तो वह आत्मतत्त्व प्राप्त होगा भी किसे ? बिना प्रतीति या आत्मविश्वासके तो छोटा भी काम नहीं हो सकता। विश्वास करनेपर उस तरहके विचार बनाये जावेंगे, भावोंका आश्रय भी उसी तरहका रहेगा तब शान्ति स्वयंमें झलकेगी, वह कहीं बाहर नहीं है। यह भौतिक धन आज आया, कल गया। यह चञ्चला लक्ष्मी किसके पास स्थायी रही या रहेगी ? यह तो सब विनम्बनायें हैं। कुछ लौकिक सुख भोगनेके लिए, पुण्यसे मन बहलानेके लिए उन्हें सुखकारी मान रहा है। लेकिन यह भी तुझे इस तरह पछाड़ेंगे कि चारों कोनों चित्त होकर निजको जाननेका अवसर भी दूर हट जायगा। आत्माका हित आत्मा ही है।

५६७. विवेकसे आत्मकार्यकी सिद्धि—हितकी बात बोलना यह कुमार्गपर ले जानेका कारण नहीं है तथा दूसरोंको उपदेश देना, शास्त्र आदि सुनाना यह भी कुमार्ग पर ले जानेका कारण नहीं है। हाँ, साथ ही प्रतीति व आचरण हो तो भला है। एता-

हूं। रानी अपनी परिणतिसे कुब्जापर आसक्त थी तथा राजा निमित्तको पाकर अपने पुण्य से भी विरक्त हो गया।

५६४. दुःखका कारण अनर्थ कल्पना—कोई भी किसीकी मानता नहीं है, कल्पनायें करते जाते हैं; दुखी होते जाते हैं। जैसी कल्पना करके दुखी हो रहे है वैसी बात है नहीं। सब स्वयं अपने परिणामोंसे दुखी हो रहे हैं। पदार्थोंकी कुछ भी कल्पना करो, किन्तु वह स्वयं अपनेमें परिणमते चले जा रहे हैं। मैं इनसे क्या लाभ उठाऊंगा ? मैंने अपनी मान्यतामें ही संसारको बसा रखा है, इससे रागद्वेष करके दुखी सुखीकी कल्पनायें करता हुआ तृप्त नहीं हो पाता हूं। मैं आज यहाँ पैदा हुआ, सो इन सबको अपना मानने लगा तथा कुछ समय बाद दूसरी जगह पैदा हुआ तो वहाँ अपना मानने लगूंगा। स्थायी किसीके पास कुछ नहीं रहनेका। सब झूंठी कल्पनायें हैं। निश्चयसे कुछ भी अपना नहीं है। यह वस्तुस्वरूपका अस्तित्व जाननेसे भान होता है।

५६५. एकत्वके अनुभवमें मनुष्यगतिकी सफलता—मनुष्यगतिकी सफलता धन इकट्ठा करनेमें ही नहीं है। न इज्जत पानेके चक्करमें पड़े रहनेमें ही है। इन कार्योंसे शान्ति नहीं होगी। अपनेको यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा जानना ही श्रेयःकर है। जो परपदार्थोंकी चाहमें फिरते रहते हैं, वह क्या तीन कालमें भी अपने हो सकेंगे ? शरीरके परस्पर परमाणु भी अत्यन्त भिन्न हैं। मै चेतन आत्मा शरीरसे भिन्न हूं। अनादिकालसे साथमें लगा तैजस कार्माण शरीर वह भी मुझसे भिन्न है। पर-उपाधिके निमित्तसे रागद्वेष होते हैं, उनसे भी मैं भिन्न है। मैं केवल चैतन्यमात्र हूं। मैंने जगत्की सत्ता पहिचान ली, अब मैं उसे देख रहा हूँ। कपोलकल्पित कल्पनायें करके आज तक मैंने स्त्री पुत्र भाई माता पिताको अपना माना था। नियमसे उनसे मेरा कोई नाता नहीं है। जितनी ही कुटुम्ब एवं रिश्तेदारियां हैं उतनी ही विडम्बनायें है। भूलसे आपत्तियोंको संपत्तियाँ मान रहे हैं और निजका आत्म-वैभव ज्ञान धनकी खबर ही नही है। जगत्के जितने पदार्थ परिणमन रहे हैं वह किसीकी आधीनतासे नहीं। दूसरे पदार्थोंके जो साथमें मैं रहता हूं, उनका भी मैं कुछ नहीं करता हूं। सब पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। आज जो करोड़पति अरबपति भी हो गये हैं, उनके पास क्या सुख है ? वह उतने ही ज्यादा दुखी है। इस दुःखको वही जानते हैं, दिन रात चिन्ताकी चक्कीमें पिसते रहते हैं। जिनके मनमें यह वासना घर करे है, परपदार्थोंके संग्रह से या उनके समीपमें रहनेसे सुख होता है, वे त्यागी, सेठ, पंडित, नेता, कर्मचारी आदि सभी दुखी हैं। इन दुखोंसे छूटनेका उपाय है 'निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहीं लेश निदान।' मैं एक हूं, यह जानते हुए दूसरे पदार्थोंको पर ही जानता रहे। मनुष्य आदि लड़ाई झगड़ासे विरक्त हो जाते हैं। पशु तक भी विरक्त हो जाते हैं, किन्तु यह विर-

भूतार्थकी जानकारी हो जाय तो इसका बन्धन स्वयं शिथिल हो जाय। जीव स्वयं अपनेसे बंधा है, अन्य इसे कोई भी बांधने वाला नहीं है। लक्ष्मण रामचन्द्रजीसे नहीं बंधा था। लक्ष्मण स्वयं अपने भावोंके अनुसार बंधा था। रामचन्द्र जी तो उसके लिए आश्रयभूत निमित्त मात्र थे। मालिक ऐसा सयभते हैं नौकर हमारे आधीन है। पति समझता है पत्नी मेरे आधीन है। पत्नी समझती है पति मेरे आधीन है। पिता समझता है पुत्र मेरे आधीन है। इत्यादि माता पिता भाई आदि सभी अपनी-अपनी कल्पनायें बनाते रहते हैं। जब तक जो इस तरहके भाव कर रहा है वह स्वयं अपने भावोंसे बंधा है, कोई भी किसी से नहीं बंधा है। पुराणोंमें उल्लेख आता है—कोई किसीसे विरक्त होनेकी पूछने नहीं गया था। अचानक उन्हें वैराग्य आया और आत्मध्यानके लिए दिगम्बर जैन मुनियोंके समीप चल दिए। प्रद्युम्नके विरक्तिके परिणाम हुए। वह आकर अपनी स्त्रीसे पूछता है—अब मैं विरक्त हो रहा हूँ। तब स्त्री उत्तर देती है—यह सब असत्य कहते हो। अगर विरक्त हो गये थे तो मुझसे क्यों पूछने आये? अपनी आजादी अपने पास है, न कि दूसरेके पास, उसे स्वयं संभालना चाहिए। स्वयं उद्दंडता करना ठीक नहीं। आजाद होनेमें किसीका बन्धन नहीं पड़ सकता है। उच्छृङ्खलता वृत्तिको आजादी या त्यागपना नहीं कहते। आजाद होकर भी जिनेन्द्रदेवके शासनके आधीन चलना होता है क्योंकि जिनशासनका सच्ची आजादी से सम्बन्ध है। आजादीका भाव वाला दूसरोंको भी आजाद देखना चाहता है। आजाद व्यक्ति दूसरोंको भी आगे बढ़ाता है, वह उन्हें पीछे नहीं धकेलता है। यह स्वतन्त्रता वस्तु स्वरूपकी प्रतीतिसे ही आती है।

५६९. रागके दूर होनेमें ही स्व परको सत्य लाभ—जो रागपूर्ण व्यवहार करता है, वह अभी अपने कल्याणसे दूर है। राग करके किस किसका भला अपने द्वारा हो सकता है? भला तो अपना करना है, अपने भलेको देखकर सज्जन पुण्यात्मा स्वयं लाभ उठावेंगे। किसी दूसरेको अपनेमें क्या करनेकी शक्ति है? दूसरेका भला करनेका चक्कर स्वयंको बाधक पड़ जाता है। मकड़ी अपने पेटसे तन्तु निकालती है। उसका बार-बार जाला बुनती है और वह स्वयं उस बंधनमें पड़ जाती है। उसे किसी दूसरेने नहीं बाँधा है। यही संसारी प्राणियों की दशा हो रही है। उन्हें सुख व दुःख देने वाले उन्हींके परिणाम हैं। शुभभाव पुण्यके कारण माने गये हैं और अशुभभाव पापके (दुःखके) कारण माने गये हैं। शुभ भावोंकी रक्षाके बाद शुद्ध भावोंकी रक्षा करना चाहिये। जिसके पास शुद्ध परिणामोंकी कुञ्जी आ गई उसे क्या दुर्लभ है? जिन्हें आत्मतत्त्व समझमें आ गया उन्हें दुनियामें पुनः कोई कार्य नहीं रह जाता। जिन्हें आत्मतत्त्व समझमें नहीं आया उन्हें दुनियाके काम रुचिकर लगते

वता यह उत्तम है कि आत्माको लक्ष्यमें लेकर स्वयंका मार्ग चुना जाय। जो लक्ष्य है उससे चूक गये एवं व्यावहारिक बातोंमें ही पड़े रहे, वहीं पर अटक गये तो शान्ति तक नहीं पहुंच सकते। आत्मध्यानके लिए अक्षरात्मक विद्या जानना ही आवश्यक नहीं है। शास्त्रोंमें इसके उदाहरण हैं। जिन्हें आत्मज्ञान था वह विद्यासे रहित भी संसारसमुद्रसे तिर गये तथा कई ११ अङ्गके पाठी होते हुए भी संसारसमुद्रसे नहीं तिर पाये। सही तरीके से आत्मविद्याका पाना ही संसारसमुद्रसे निकलनेका उपाय है। यह समझकर निरुत्साह होनेकी जरूरत नहीं है। यह नहीं सोचना चाहिए कि हम संसारसमुद्रमें रुलनेके लिए ही हैं। नकुल, सिंह, वानर, रीछ, मेंढ़क, बैल, कुत्ता यह तिर्यञ्च क्या शास्त्रोंसे पढ़े हुए थे? फिर भी यह पूर्व-भवके संस्कारसे तथा दूसरोंके निमित्तसे कुछ कल्याण कर सके व धीरे धीरे संसारसमुद्रसे पार हो सके। क्या मनुष्यगति पाकर तथा जैन कुलमें उत्पन्न होकर उतनी भी ताकत नहीं है? एक दृढ़ता लानेकी जरूरत है। अन्य किसीके द्वारा मेरा हित नहीं है। थोड़ा भी मेरा किसीसे सम्बन्ध नहीं है। मलिनतावश व्यवहार चल रहा है। अगर व्यवहार खत्म हो जाय तो भला है। एक अपने आपमें ही समाधिस्थ हो जाऊं यह उत्तम है। व्यवहार मिलता नहीं, करना पड़ता है। पर उसमें सत्य लक्ष्यको देखते हैं। तत्वज्ञानी अपने आपको देखता है। एक अनेक नहीं बनता है। वह सत्य देखकर प्रसन्न है, संतुष्ट है। मैं किसीका कुछ कर देता हूं, मेरा कोई कर देता है—यही विकल्पजाल दुःखके कारण हैं। अनादि कालसे अज्ञान जीवोंमें दौड़ रहा है। मैं किसी दूसरेको कुछ करता हूं, ऐसा यह दुर्निवार मोह अज्ञानियोंको चल रहा है। जहाँ यह प्रतीति बैठी है कि परपदार्थोंसे मेरा कुछ भला होगा, वह दुःखका कारण है। दूसरेकी बात देखकर खुश होना या दुखी होना स्वयंका वैसा परिणमन करना है। इसके द्वारा किसी दूसरेका भला बुरा नहीं होता। इस मूर्छित प्राणीपर अनादि कालसे अज्ञान-अन्धकार छाया है। इस अज्ञान अन्धकारमें कुछ दिखता नहीं। समय बीतनेपर अगर किसीके निमित्तसे विवेक जग गया तो मोह नींदसे एकदम उठता है। सोचता है, मैं कितना विषयोंमें लोलुपी था। दिन रात उनकी चाहरूपी अग्निमें जलता रहता था। उनके लिए दिन रात अच्छी बुरी बुद्धि लगाता रहता था। अब मुझे स्वयं अपने पैरोंपर खड़े होनेकी शक्ति दीजिए। हे नाथ! यह फुलवाड़ी आपकी ही अनुकम्पासे ठहरी हुई है, फूलोंमें सुगन्ध आ रही है, इस जीवनको उच्चस्तर पर ले जानेका आपका संकेत है। मैंने नरक गति, तिर्यञ्चगति एवं निगोदके खूब दुःख भोगे, उन्हें टालनेमें निर्मल परिणामोंकी भक्ति ही कारण हो सकती है। अब हे निजनाथ! चैतन्यप्रभु इस अहंकारको दूर कर दो।

५९८. निज सहज स्वतंत्रस्वरूपके अवलम्बनसे बन्धनका अभाव—भैया! अगर

सहयोग देवें तथा वह भी धर्मपूर्वक जीवन बितावें।

५७१. पदार्थोंका विकारपरिणमन और स्वातन्त्र्य—जीवद्रव्य एवं पुद्गलद्रव्य दोनों सत् हैं। चूंकि दोनों सत् हैं अतः एक पदार्थ दूसरेका परिणमन नहीं करता। यह भी सत् है, वह भी सत् है। जो सत् होता है वह परिणतिशून्य नहीं होता है। जगत्के सभी पदार्थ ऐसे हैं। जीव ऐसा तत्त्व है, वह उपयोग करे तो अपना चमत्कार दिखाता है। अगर ध्यानकी लीला अपरंपार है तो मोहकी लीला भी कम नहीं है। यह आत्मप्रभु द्रव्यसे क्षेत्रसे, कालसे अखंड है। ऐसा सर्वांगस्वरस विभोर भी यह जीव मोहकी दशामें कैसी कैसी विचित्र लीलायें कर रहा है? कभी वृक्ष हुआ तो यही जीव किस तरह पत्तों पत्तोंमें फैल जाता है। कभी मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारकी होकर अनेक प्रकारसे दुःख उठाता हुआ भ्रमण कर रहा है। यह सब इस आत्मप्रभुकी लीला है। जगत्के सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें परिणम रहे हैं। पुरुष स्त्रीका क्या उपकार कर सकता है? पिता पुत्रका क्या उपकार कर सकता है? भाई, मित्र, साला, बहिनोई, मामा, मामी, फूफा, फूफी आदि ये कौन किसका क्या उपकार कर सकते हैं, जब कि प्रत्येक पदार्थ अपनी सीमा नहीं तोड़ते। सभी अपनी-अपनी सीमाके भीतर ही तो परिणमन करेंगे। जो एक दूसरेको परिणमयिता मानना है, यह अज्ञान है; संसारमें रुलनेकी निशानी है। जितना परको अपना समझकर नाता जोड़ा वह सब संसारको दीर्घ करना है। जीवनमें सभीको तो देख लिया, परख लिया, किसने तुम्हारा हित कर दिया है? कौन इनमें अपना है? जवानीके जोशमें अन्धे होकर विषयभोगोंके सेवनमें रत रहे। मोहमें कामान्ध होकर हिताहितका विवेक भी एक तरफ रख देता है। उनको अच्छा मानकर दिनरात उन्हींके चिन्तनमें लीन रहा। वृद्धावस्था आने पर कुछ और ही नाटक रचा जाता है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, फिर भी इच्छायें नहीं घटती हैं तब दुःख भोगना पड़ता है। मरते समय कुछ और ही भाव होते हैं। विचार उठता है जीवन यों ही खो दिया, कुछ सार इस आत्मतत्त्वसे नहीं लिया है। जगत् का मूल कारण ही कर्तृत्व बुद्धि है। इस तरह दुःखोंसे भरपूर संसार है। इसी संसारसे निकल कर ज्ञानी सिद्ध हुए हैं। भरी सभाओंमें अपमानका कारण, मित्रोंमें विश्वास न रहनेका कारण, परिवार वालोंसे प्रेम न पा सकनेका कारण यह सब शरीर है। भगवान्के पूत बनकर रहनेमें कुछ सार है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है। वह स्वयं परिणमते रहते हैं। यह मोह अज्ञान ही तो है जो कहता है या सोचता है—मैं किसी को कुछ कर देता हूं। इस अज्ञानमें परमात्मापन कहीं भी नजर नहीं आता है। समस्त संकटोंसे, संक्लेशोंसे, संकल्प-विकल्पोंसे हट कर केवल अपने आत्मस्वरूपमें ही रह जाना परमात्माका स्वरूप पाना है।

हैं। निजतत्त्वकी दृष्टिसे रहित जीव रागद्वेषमें मकड़ीके समान स्वयं बन्धनमें पड़ा रहता है। वह इनसे निकल नहीं पाता। कभी-कभी इनका प्राकृतिक बिछुड़ना भी कल्याणके लिए कारण पाया गया है। यथा—चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज जी जिनका कुन्थलगिरिमें समाधिमरण हुआ था, पिताकी आज्ञासे उनके होने तक घरमें रहे, उनके बिछुड़ते ही कल्याणके लिए निकल पड़े थे। इस तरहके अनेक उदाहरण खोजनेपर दृष्टिगत हो सकते हैं।

५७०. अज्ञानान्धकारके विनाशसे सुपथगमनकी वृत्ति—अपनी आत्माका विश्वास करना भी शास्त्रोंके ज्ञानसे आता है। कुछ मनुष्य तो अपनी आत्मापर भी विश्वास नहीं करते। उन्हें तो यह मालूम पड़ता भी नहीं तथा सोचते हैं—यह शरीररूप मेरा निर्माण हुआ है, वह कुछ समय बाद खत्म हो जायगा। इस तरहका मानने वाला मनुष्य अपने क्या कल्याणकी सोचेगा? लेकिन जिन्हें आत्मतत्त्व समझमें आ चुका, उन्हें कल्याण करना सुगम हो जाता है। अज्ञान अन्धकार मिटनेपर ज्ञानघनकी उपलब्धि होती है। एक बार भी सम्यक्त्व हो चुका कदाचित् वह छूट भी जाय तो उसे यह विश्वास हो जाता है कि अब कोई संकट रहेगा नहीं। कोई कोई जीव ऐसे होते है उन्हें शुरूमें उपशम सम्यक्त्व हुआ, उपशमके बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व हुआ तथा क्षयोपशमके बाद क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर पूर्णतया विश्वास हो जाता है कि यह संसारका बन्धन रहेगा नहीं। सबसे बड़ा बन्धन मोह का है। मोहमें ही सुकौशलकी माँ ने कीर्तिधरका अपमान किया था। कीर्तिधर सुकौशलके पिता थे। बादमें मुनि होनेपर आहार लेनेके लिए वहीं पर आये तो उसने अपमान करके भगा दिया था। क्योंकि सुकौशलके बारेमें भविष्यवाणी की गई थी "यह सुकौशल मुनिके दर्शन करते ही विरक्त हो जायगा"। तब सुकौशलको वह विरक्त होना नहीं देखना चाहती थी। अतएव मांने पुत्रके मोहमें यह मुनिका अपमान किया था। बादमें दासी रो रही थी। तब सुकौशलने रोनेका कारण पूछा। धाय (दासी) ने कहा, 'तुम्हारे पिता जी जो कि मुनि हैं, वह आहारके लिए नगरमें आये थे, उन्हें तुम्हारी माँ ने भगा दिया।' यह सुनते ही सुकौशल जंगलको चल दिये और वहाँ पर जाकर दिगम्बरी दीक्षा ले ली। बादमें सुकौशल की माँ सिंहनी हुई और उसने सुकौशल मुनि जो कि पूर्व भवका पुत्र था, उसे भक्षण करने लगी। सुकौशल तो शुक्लध्यानकी परमसिद्धिके प्रसादसे निर्वाणको प्राप्त हुए। पश्चात् श्री कीर्तिधर मुनिराजने सिंहनीको पूर्व वृत्तान्त समझाया। सिंहनीको पुत्रपनेका ज्ञान हुआ, तब उसने श्रावकके व्रत लेकर समाधिमरणसे यह जीवन बिताया और वह मरकर स्वर्ग गई। ये सारे बन्धन तत्त्वज्ञानसे ही छूट सकते हैं। तत्त्वज्ञान होते ही शल्य नहीं रहेगी। जीवन सफल करनेका यही उपाय श्रेयस्कर है। घरमें भी वह क्रान्ति करें कि सभी कुटुम्बी जन

यह आत्मा भगवान् प्रतीतिमें आता है तब अन्य कुछ भी प्रतिभास नहीं होता है।

५७३. सहज आनन्दके अनुभवमें प्रभुदर्शन—जगत्के जीव समझते हैं, मैं कुछ हूँ। इस प्रकारके अहंकार संस्कार जिसके लेश भी चलते हैं उसे भगवान् अनुभवमें नहीं आता है। भगवान्का दर्शन आत्मामें ही होगा, किन्तु भगवान्को जिस जातिका आनन्द चलता है उस तरहसे कुछ तो परिणाम जाना ही भगवान्के जाननेका उपाय है क्योंकि वह आनन्द भगवान्के आनन्दकी जातिका आनन्द है। यह चैतन्य भगवान् इतने-इतने आवरणोंके भीतर स्वतन्त्र स्वरसनिर्भर लोकप्रमाणप्रदेशी देहप्रमाण सर्वप्रदेशोंमें व्याप्त है या क्वचित् लोक-पूरणदशामें लोकाकाश प्रमाण समस्त लोकप्रदेशोंमें व्याप्त है। इसके जो दर्शन करता है उसे कहते हैं शिवपथका अनुयायी तथा जो बाहरमें सुख देते हैं वे संसार-पथके अनुयायी हैं। जैन धर्मकी विशेषता वस्तुस्वरूपके वर्णनमें है। वैज्ञानिक ढंगसे परीक्षित जिसको वस्तु-स्वरूपका ज्ञान हो गया, प्रतिभास हो गया, ऐसा व्यक्ति जो भी बोलेगा वह सत्य ही बोलेगा। सही बातका जिसका अनुसरण होता है वह आदिसे अन्त तक सत्य सत्य ही बोलेगा। जो झूठ बोलता है उसे उसकी पुष्टईके लिए अनेकों झूठे उदाहरण खोजना पड़ते हैं। सत्यको एक बार ही कहनेसे ही काम चल जाता है तथा सत्य बोलने वालेका गौरव रहता है, वह प्रभावशाली माना जाता है। सत्यको कहनेके लिए असत्यकी जरूरत नहीं पड़ती है। सत्य बोलने वालेकी बात प्रत्येक जगह मान्य होती है। सत्यवक्ताको नीचा नहीं देखना पड़ता है। चैतन्य प्रभुको किसी भी तरहका दुःख नहीं है। यहाँ भी सिर्फ उदरपोषणका विकल्प तो हो सकता है। अन्य चिन्तायें पैदा होना जरूरी नहीं है। आत्मा अनुभवमें आ चुकने वालेको किसी अन्यका मुँह नहीं ताकना पड़ता, वह स्वतन्त्र अपने आश्रित रहता है। उसे परपदार्थोंके द्वारा हित अहितकी चिन्ता नहीं है। निज आत्मघन कहीं खोजना नहीं है। सच्ची शान्तिके लिए दुनिया भरकी चिन्ता सिरपर सवार करनेकी जरूरत नहीं है।

५७४. यथार्थ ज्ञानके अनुभवमें ही शान्तिलाभ—लोकमें तो अगर स्त्रीने भी कोई बात न मानी तो इसके लिए अनेक विकल्प पैदा होंगे। इसके लिए अनेक प्रकारकी भाव-भंगियां उठेंगी। इसने अपनेको बड़ा समझकर निजका अहित किया है। जिनको वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान हो गया, उनकी दृष्टिमें तो आत्माकी सीमासे बाहर रहने वाला अणु भी भिन्न है। तब परपदार्थ कैसे अपने हो जावेंगे? यह बात गहराईसे सोचनेकी है। जिसने हिम्मत बनाई, परका मोह छोड़ा तथा दृढ़विश्वास हो गया अब मुझे जगत्से कोई प्रयोजन नहीं है, मैं अपने आपमें हूं। यह उसका एक निश्चिन्त कार्यक्रम बन चुका। कोई पागल कहता है तो कहो, मखौल शरीरकी उड़ा लेगा, आत्माको तो वह स्पर्श ही नहीं कर पावेगा। जिसकी प्रबल भावना हो गई उसकी आत्मकल्याणमें रुचि जग गई समझना चाहिए। अब

५७२. **अन्तः स्वतत्त्वका सत्त्व**—कहते हैं 'घट घटमें भगवान् बसते हैं।' यदि घट का अर्थ जीव लेते हैं तो वह परमात्मतत्त्व घट-घटमें है। यही पूरा सुखी, पूरा दुखी है। जीवमें ऐसा कुछ नहीं है कि आधा दुखी, आधा सुखी हो। आधा संसारी रहे और आधा भगवान् बना रहे ऐसा कुछ नहीं है। घट-घटका अर्थ मोटे रूपमें शरीर लो तो उसका अर्थ यह समझो कि प्रत्येक शरीरमें परमात्मा है। सो परमात्मतत्व तो जीवका स्वभाव है, वह जीवमें है और जीव एक क्षेत्रावगाहसे शरीरमें है। शरीरमें जीव है—इसका अर्थ यह कभी न समझना कि शरीरके स्वरूपमें जीव है। जीवका परमात्मतत्व अज्ञान मिटे बिना नहीं मिल सकता। अज्ञानदशा आई है, वह व्यय होकर ज्ञानदशा उत्पन्न हो सकती है। यह अपने हाथकी बात है। जो जो समागम हैं वह वह विडम्बनायें तथा आपत्तियाँ हैं। मोहमें लीन होकर उन्हें संपत्तियां मान रहा है यह मोही। बाहरी पदार्थ कुछ नहीं कर देते हैं किन्तु विकल्प करता रहता है उनका लक्ष्य करके यह। जो आया वह नियमसे मरणको प्राप्त होगा। लेकिन मरणके बाद जन्म हो या नहीं यह निश्चय नहीं। अरहन्त भगवान्का पंडितपंडितमरण होता है। मरण पाँच तरहका होता है—(१) बालबालमरण, (२) बाल-मरण, ३) बालपंडितमरण, (४) पंडितमरण, (५ पंडितपंडितमरण। (१) सम्यग्दर्शनमें जो बाल है तथा चारित्रमें जो बालक है उनका मरण बालबालमरण कहलाता है। (२) जगत् के वे जीव जिन्हें आत्माका भान तो हो गया अर्थात् सम्यग्दर्शन हो गया, किन्तु चारित्रमें नहीं बढ़ सकते हैं उस अविरत सम्यग्दृष्टिके मरणको बालमरण कहते हैं। (३) पाचवां देशविरत गुणस्थान हो गया। इस तरहके श्रावकका मरण बालपंडितमरण कहलाता है तथा (५) अरहन्त भगवान् नियमसे निर्वाणको जाते हैं, उनका वह निर्वाण पंडितपंडितमरण कहलाता है। रागी जीवका जन्मके बाद मरण जरूर होगा। ये दशायें आत्मस्वभावके भान बिना ही चल रही हैं। एक क्षेत्रावगाह रूपसे शरीर आत्मा इकट्ठा होता हुआ भी मेरा आत्मा भिन्न है। इस शरीरको छोड़कर यह आत्मा दूसरे शरीरमें जायगा तब उसके साथमें तैजस कार्माण शरीर भी जायगा। देखो कार्माण सूक्ष्म शरीर भी आत्माके साथ होते हुए भी आत्मा उस शरीरसे भिन्न है। कार्माण शरीरके कारण तथा कर्मोंके निमित्तसे आत्मामें जो रागद्वेष उठ रहा है उन विभावोंसे आत्मा भिन्न है। हमारा जो अधूरा छुटमुट ज्ञान चल रहा है—अमुक इन्द्रियका विषयका जानना, वह जाननेसे भी मेरा आत्मा भिन्न है। सम्पूर्ण विश्वको जानते हुए भी मेरा आत्मा विश्वसे तथा परिणतिसे भिन्न है। सब पर्यायोंसे परे अथवा पर्यायोंके मूलभूत आत्मीय दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणोंके भेदसे परे यह आत्मा है। समस्त गुणोंका पुञ्ज होकर जो ध्येय बनता है वह अखण्ड रूपसे जो समझा गया वह तो मैं हूं। मैं संपूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित शुद्ध चैतन्यमय हू। अन्तःप्रवेश करने पर जब

५७६. मिथ्यात्वादिका द्वैविध्य---मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह, क्रोध आदिक ये भाव दो दो प्रकारके हैं- (१) जीवरूप और (२) अजीवरूप। मिथ्यात्व दो प्रकारका है- (१) जीव मिथ्यात्व, (२) अजीव मिथ्यात्व। जीव मिथ्यात्व तो जीवमें होने वाला मिथ्या अभिप्राय है। अजीव मिथ्यात्व अजीव कर्मकी प्रकृतियोंमें होता है। इसी तरह अज्ञान भी दो तरहका होता है---(१) जीव अज्ञान, (२) अजीव अज्ञान। जीव अज्ञान खोटे ज्ञानकी परिणति होना है। अजीव अज्ञान जिन कर्मप्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होता है तथा उदयसे होता है वह कर्म है। अविरति भी दो तरहकी होती है—(१) जीव अविरति, (२) अजीव अविरति। चारित्रपालन न हो सकना अथवा कुछ कुछ चारित्रपालन होते हुए भी सर्वपालन न होना जीव अविरति है। जीव अविरति जीवमें होने वाला असंयम भाव होना है। जिनके संयोगसे उदयसे असंयम भाव आते हैं वह अजीव अविरति है। जितने भी औपाधिक भाव हैं उन सबमें कैसे भेद करना चाहिए ? इसके लिए दृष्टान्त है। दर्पणके सामने होने वाला प्रतिबिम्ब है। दर्पणके सामने मयूर नाचता है। दर्पणमें पड़ने वाले प्रतिबिम्बको भी मयूर कहते हैं तथा मयूर मोर) को भी मयूर बोलते हैं। एक दर्पणमें परछाईं विशेष है। दूसरा नाचने वाला मोर है। यहाँ दर्पणमें मयूर दिख रहा है, दूसरेका प्रतिबिम्ब झलकनेसे तथा दूसरा तिर्यञ्च जीव विशिष्ट दिख रहा है। जबकि दर्पणकी स्वच्छताको विकार रूपसे देखते हैं तो दर्पण मयूर दिखता है। दूसरा साक्षात् दिखने वाला मोर नाच रहा है। दर्पणका मयूर बना कैसे ? क्या दर्पणके स्वभावसे बन गया ? दर्पणरूप बने रहना तो दर्पणका ही स्वभाव है। फिर दर्पणपें मयूर न होनेपर भी उसमें पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है वह मयूर औपाधिक है। इसी तरह जिस तरहके विकारोंसे हम परेशान होंगे वे औपाधिक भाव होंगे। ये विषयकषायके भाव आत्माके निमित्तसे नहीं हैं, वे औपाधिक हैं।

५७७. एक पदार्थ द्वारा दो या अनेक पदार्थोंकी क्रियाकी अशक्यता—दो क्रियावोंको एक पदार्थ कर लेता है ऐसा भ्रम हो जानेका कुछ तो कारण है। एक कारण तो यही है जो मुख्य है—वह तो है उदय पर यहाँ युक्ति व्यवहारकी अपेक्षा कह रहे हैं कि विभावपरिणामनमें निमित्त सम्बंध है और यहाँ अनुकूलताकी बात निरखी जाती है। अनुकूल निमित्त होनेपर उपादानमें परिणमन होता है, तो इस अनुकूलतासे कुछ सदृशतामें निकटता कार्यकारिता जैसी बात धीरे-धीरे क्रमशः प्रवेश करने लगती है और फिर एकदम यह विश्वास बन जाता कि एक द्रव्यने दूसरेका भी तो कुछ कर डाला। इस भ्रमके मूलको खतम करने के लिए यहाँ दोनों पदार्थोंका, दोनों अवस्थाओंका स्वरूपरूपसे वर्णन किया जा रहा है। मिथ्यात्व दो प्रकारका होता है—जीव मिथ्यात्व और अजीव मिथ्यात्व। जीव मिथ्यात्व तो जीवका जो मिथ्या परिणाम है, तत्त्वका अश्रद्धान रूप है, सो है। अजीव मिथ्यात्व—जो

तो उसे अपने करनेकी बात समाई हुई है। विश्वास करके भी स्वभावसे गिर गया तो कुछ नहीं रहा। जगत्के जीव सुख शान्ति चाहते हैं। यह आत्मकल्याणार्थी शान्ति पानेको तत्पर हो गया है। लहरोंसे क्षुब्ध हुआ समुद्र उसीमें समा गया। उसी तरह रागद्वेषादि विकारों से रहित होकर खुद ही शान्तिमय हो जायगा। अब कभी उपयोगके द्वारा परको जान रहे है तो उसीके द्वारा निजमें शान्तिका अथाह सागर पा लेंगे। जो अपनेमें लीन होनेका अभ्यस्त हो जाता है उसे सुन्दर विषय भी रुचिकर नहीं रहते। सुन्दर देवांगना भी रुचिकर विषय नहीं रहती। उस आत्मज्ञानीके लिए राज्यपाट वैभव, पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु, स्त्री आदि किसीसे मोह नहीं रह जाता है। देखो, परखो और निरखो—आत्मा केवल अपने ही भावों को करता है। परपदार्थ केवल अपने (स्वयं परके) भावोंको ही करता है और वे आत्म-भाव आत्मासे जुदे नहीं, अतः आत्मा ही है तथा वे परभाव परसे जुदे नहीं सो वे पर ही हैं। समस्त शासनकी शिक्षा यही है कि हे आत्मन्! अपने वैभवोंको परखकर अपने सहज स्वरूपका परिचय प्राप्त करो, अनुभव प्राप्त करो।

५७५. सत् कर्तव्यसे सुख शान्तिका लाभ—हम वीरशासनके उपासक हैं। वीर-प्रभुका शासन निर्बाध रूपसे देखनेमें ही शान्ति है। वीर भगवान् २४८४ वर्षसे पूर्व मोक्ष जा चुके हैं, किन्तु उनका प्रभाव परम्परासे अबाध गतिसे चल रहा है। जो सर्व दुःखोंसे रहित हो गया है, उसका हमपर बड़ा भारी उपकार है। वीर शब्दका अर्थ है—वि = विशिष्टा, ई = ज्ञान लक्ष्मी, राति = ददाति इति वीरः अर्थात् जो विशिष्ट ज्ञानलक्ष्मीको देवे सो वीर है। निमित्तदृष्टिसे सिद्धार्थनन्दन वीर है। भूतार्थदृष्टिसे आत्मा वीर है। उपयोग वीर प्रभुके दरबारमें साक्षात् पहुंचेगा तब सम्यक्त्व बन जावेगा। हम अपनी ही भावनासे सुखी तथा दुखी हैं। कोई पुरुष वेश्यागामी रहे, अनेक हत्यायें करवा डाले, अन्यायके धन का उपभोग करे वह आरामसे रहता हुआ दिखने पर भी दुखी है। किन्तु एक गरीब आदमी जो पूर्ण परिश्रम करके पेट भरता है, न्यायपूर्वक उपार्जित धनका उपभोग करता है, उसे जो पदार्थ मिले हैं उनमें हर्षित नहीं होता है तथा स्वस्वरूपका ज्ञाता द्रष्टा रहता है, वह बाहरसे दुःखी दिखता हुआ भी अन्तरङ्गसे सुखी है। सदाचार हो तो सुखका भंडार है उसके सामने करोड़ोंकी संपत्ति भी धूल समान है। अब सैद्धान्तिक ढंगसे विवेचन करते हैं कि रागद्वेष क्यों होते हैं? रागद्वेष आत्माके स्वभाव नहीं है। इससे सिद्ध होता है, वह किसी उपाधिको पाकर हुए हैं। इनका सम्बन्ध भी कुछ आत्मासे है इसको खुलासा करेंगे और साथ ही स्वतन्त्रता भी घोषित करेंगे।

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा ॥८७॥

उस छायाका भी निमित्त हाथ है और उस निमित्तका भी नाम हाथ है, क्योंकि उस क्रियामें जो दर्पणकी बात आयी सो दर्पणमें और दूसरा क्या काम हो सकता है ? लेकिन दर्पणमें छाया दर्पणरूप है और हाथ हाथरूप है वे दो एक न हो जायेंगे । यहाँ नाम दो दो बताने का प्रयोजन यह है कि वे दो एक न हो जायेंगे । वे भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार जिन कषायोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमें कषायभाव हुआ है तो यह कषायभाव जीवभाव है । यह तो आत्माका एक परिणाम है, इस रूपसे परिणमने वाला आत्मा है और जो कषाय प्रकृति है, कर्मत्वरूप परिणमन जिसका है वह मेरी तात्कालिक चीज है, मेरा उसमें परिणमन है । उस रूपसे ये कर्म परिणमें । तो जब ये दो दो बातें हैं तो वहां दो दो परिणमन देखिये । अपने-अपने द्रव्यके स्वभावरूपसे परिणमन हुआ करता है । अजीवमें हुए परिणाम अजीव हैं और जीवरूपसे, चैतन्यके विकार रूपसे जो परिणाम होते हैं वे जीवके हैं—ऐसे दो द्रव्य हैं, दो परिणमन हैं, वहाँ एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंका परिणमन हो रहा है, ऐसा किसीको भी प्रतिभासमें नहीं आये, ऐसी भावनाके साथ यह निर्णय किया है कि एक पदार्थ दो को नहीं परिणमाता, दो मिलकर एक पदार्थको नहीं परिणमाते ।

५७६. औपाधिक भावोंसे हटनेकी शिक्षा—हे जीव ! तू औपाधिकमें रत होकर निज प्रभुका तिरस्कार कर रहा है । जो औपाधिक हैं, उन्हें तो तू अपना मान रहा है । चेतनको भूल कर परमें आया मानकर दुःख उठा रहा है । अगर बच्चा ऊधम करता है तो उसे हितमें चलनेके लिए समझाते हैं, अत्यधिक उधम करनेसे शिक्षाकी कमी रहेगी आदि । इसी तरह हे चेतन ! तू जड़में मत फंस, जड़की प्रतीति मत कर, अपने निज द्रव्यस्वभाव को संभाल, उसीमें रमण कर, वही सुखका का कारण होगा । जड़की प्रतीतिमें क्या मिलना है ? जो इतने पर भी परमें आत्माकी प्रतीति करते जाते हैं वह अपनी भवसागरकी भंवरें बढ़ाते जाते हैं । परपदार्थोंसे कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है । परपदार्थ तो स्पष्ट कहते जाते है, हम तुम्हारे नहीं, तुम हमसे मोह नहीं करो । वह तो खुला चेलेन्ज दे रहे हैं—तुम्हारा हमारे साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है । तुम्हीं मूर्ख बनकर हमारे पिछलगा बने फिरते हो । बार-बार अनादर तुम्हारा होता है । तब भी मकान, कुर्सी, टेबल, पंखा, थाली, लोटा, सोना, चाँदी आदिसे अपनी शोभा बढ़ाना चाहते हो । शोभा तो उन पदार्थों की है, न कि तुम्हारी । वह अपना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अलग अलग करते हैं । उनका स्वभाव ही परिणमन करना है तथा तुम्हारा परिणमन जुदा हो रहा है । मोही कल्पना करता है—यह समागम सब इसी तरहके बने रहेंगे । न्यायकी बात तो यह है उन पदार्थोंके प्रति यही भाव रहे कि हे पदार्थो ! तुम अपने-अपने स्वभावसे परिणाम कर ध्रुव रहो । हम और कुछ नहीं चाहते हैं, तुम्हारे स्वरूपको विकृत देखनेमें मुझे लाभ नहीं है ।

मिथ्यात्व नामक प्रकृति है उसमें जो कुछ भी स्थिति प्रदेश अनुभाग आदिक हैं उनसे युक्त जो कर्म हैं वे हैं अजीव मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह क्रोधादिक सभीके सभी दो दो प्रकारके होते हैं– एक निमित्तरूप और एक उपादानरूप। जीव और कर्मके परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके प्रकरणसे जो जो नाम आ रहे हैं वे नाम दोनों के समान हैं। जैसे यहाँ दोनों नाम समान नहीं होते। चौकीका निमित्त पाकर यह शरीर इस तरह बैठ गया। तो नाम यहाँ भिन्न है। इसका नाम चौकी है, इसका नाम शरीर है। आगका निमित्त पाकर रोटी पक गई तो यहाँ नाम भिन्न है, उसका नाम आग है इसका नाम रोटी है, पर इस पुद्गलकर्म और आत्मविभावके प्रसंगमें नाम समान-समान आ रहे हैं। कर्मका नाम भी मिथ्यात्वप्रकृति है और मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयके निमित्तसे जो परिणाम होता है उसका नाम मिथ्यात्व है। कषाय नामक प्रकृति होती है और कषाय-प्रकृतिके उदयसे जो कषायभाव आत्मामें जगता है उसका भी नाम कषाय है। क्रोध नाम दोनों जगह है। प्रकृतिका भी नाम क्रोध है और जीवके परिणामका भी नाम क्रोध है। तो एक तो नामकी समता है। यह भी अज्ञानमें भ्रमका कारण बनाया जा सकता है। यहाँ नाम भिन्न-भिन्न क्यों नहीं मिले कि भिन्न-भिन्न नामोंके कहनेका कुछ प्रयोजन न था। जैसे यहाँ चौकीसे अनेक काम लिए जाते है। पर उसके अनेक नाम तो नहीं धर दिये जाते। उसकी जो स्वयंकी विशेषता दिख रही है उसके अनुसार उसका नाम धर दिया। इसके चार कोने हैं तो नाम रख दिया चौकी। पर पुद्गलकर्म बांधें, उनका काम क्या है? उनका काम तो बस एक ही है। क्रोध कषाय प्रकृति बंधी तो उसका काम एक ही है। क्रोध कषाय हो जाय जब उसका उदय आये। उसमें और कोई काम तो नहीं है, तो उसका काम ही एक है तो फिर नाम अलग रखनेकी वहाँ क्या आवश्यकता है? कौन धरे, क्या धरें? जो काम दीखा वही उसका नाम पड़ा।

५७८. एकविध प्रतिनियत निमित्तनैमित्तिक भाव होनेसे नामकरणकी सदृशता— भैया! कुछ गहरी दृष्टिसे देखो तो नाम असलमें कर्मका नहीं है, इस जीवके परिणामका नाम है। मोह, क्रोध, मिथ्यात्व, अज्ञान ये सब जीवके परिणामके नाम हैं। अब जीवके परिणाम ये जिस निमित्तसे हुए हैं निमित्त तो बन गए थे पहिले, पर हम उनका किस शब्द से व्यपदेश करें? तो उसके लिए जो परिणामका नाम है उसी नामसे कहा जाता है। सत्त्व है, निमित्त मिला है बन्धन होगा, पर उसमें निमित्तका व्यपदेश और निमित्तका व्यपदेश यह कार्य देखनेके बाद किया गया है, पर व्यपदेश तो भले ही कार्य देखकर किया जाय, लेकिन कार्यकी निष्पत्ति जिस विधिसे जो होनेकी बात है वह उस प्रकार होती है। जैसे दर्पणमें सामनेकी चीजका प्रतिबिम्ब आता है तो यहाँ जैसे हाथके निमित्तसे दर्पणमें छाया आयी तो

तुष्टि मिलेगी। क्योंकि एक तरफका पक्ष कमजोर होनेसे इसके मोहभावमें कमी आ जावेगी। इसके विपरीत धर्म दिलमें समा चुका तो वह स्वयं अपना जीवन उसी रूप बना लेगा, तथा अपने आधीन जनोंको भी इसके लिए बाध्य करेगा। प्राय: मनुष्य स्वभाव देखकर अपने जैसे आचरणके लिए प्रेरित करते हैं। इससे ज्ञात होता है अच्छे बुरे मनुष्यकी खूबियाँ उसके वचनोंसे प्रकट हो जाती हैं। बादमें उसके विचार ही कार्य रूपमें परिणत होते हैं। जो स्वयं धार्मिक जीवनको पसन्द करता हो तथा दूसरेमें भी उस तरहके संस्कारों को पा लेवे तब उसका कर्तव्य हो जाता है जिस तरहसे बन सके वह उसे भी कल्याण पथ पर बढ़नेके लिए हर तरहसे मदद करे, प्रोत्साहन देवे। इसकी भावना इस तरहसे नहीं जगी है, उसे सही तरीकेसे धर्मानुयायी न कहना चाहिए। जैनधर्मके शास्त्रकारोंने भी मुनि बनाने को लिखा है। योग्यता देखकर विद्या पढ़ाना, धनसे मदद करना, सज्जनोंका सत्संग मिलाना, व्याख्यान कला बताना आदि जिस तरहसे उपकार करनेकी सामर्थ्य होवे उसमें पीछे न रहे।

५८२. अन्तःशुद्धिके बलकी दृष्टि—दु:ख भी वैराग्यका कारण है। नरकोंमें रहने वाले जीव भी सम्यग्दर्शन पा लेते हैं। वह दुखोंसे तड़फ कर आत्माको पहिचाननेकी भावना करते हैं। वैसी हालतमें उन्हें सम्यग्दर्शन हो जाता है। जिन्हें सम्यग्दर्शन हो चुका उन्हें दु:ख भी क्या बुरा लगता है तथा जिन्हें मोह सता रहा है उन्हें सुख क्या भला लगता है? हे नाथ! मैं दरिद्र भले बना रहूं, किन्तु जिनधर्मकी उपासनासे जुदा न होऊं। चाहे दरिद्रताके दु:ख आते रहें, परिवार वालोंके वियोग संयोगके या अन्य दु:ख आते रहें किन्तु आपकी उपासना न छूटे। जो भी पदार्थ आया वह चला जाता है, उनसे मेरा क्या सम्बन्ध है? जितना भी जो कुछ प्रिय लग रहा है, वह उतना ही आगे जाकर अनर्थका कारण बन रहा है। धर्मभावका अवसर प्राप्त किया है तब तो विकल्पजालोंको विदा कर देना चाहिए। अब उनमें चित्त रमानेसे लाभ नहीं प्रतीत होता है। यह संसार ही दु:खोंसे भरपूर है। इसमें विरले ही जीव होते है जिन्होंके सुमति जग जाती है तथा धर्म रुचने लगता है।

५८३. मोहमदका प्रभाव—यहाँ बड़ी सावधानीसे समझनेकी आवश्यकता है। क्योंकि प्रबल बहुमत मोहमिथ्यात्व वालोंका है। जगत्में कहीं भी चले जावो उन मोहियों का जमघट नजर आवेगा। वहाँ उनकी ओर आकर्षित होनेसे बचाव रखना होगा। शिक्षा भी तो वैसी ही मिलेगी, उनके पास जो मैं करूं उन्हीं जैसा क्यों न करूंगा? जितना यह स्वयं मोह नहीं करता, जितना दूसरोंको देख देखकर भोगोंमें इच्छा दौड़ती है। देहातोंमें चले जाओ, वहाँ न बड़ी बड़ी हवेलियाँ मिलेंगी, न मन फुसलाने वाला फर्नीचर मिलेगा। वहाँ न मोटरें हैं, न लाइट विजली है, न बिजलीसे चलने वाले पंखे हैं, न चकाचौंध उत्पन्न करने वाली वेशभूषा है। फिर वहाँ उन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी ईर्ष्या भी न होती है।

५८०—**निमित्त उपादानकी स्वतंत्रता**—यहाँ निमित्त उपादानकी स्वतन्त्रताका विवरण किया है। मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव प्रत्येक दो दो प्रकारके है, जैसे जीव मिथ्यात्व, अजीव मिथ्यात्व आदि। वे दोनों अपने-अपने द्रव्यके आश्रय हैं, स्वतन्त्र हैं। जैसे कि दर्पणके सामने मयूर नाचता हो तो दर्पणमें मयूर प्रतिबिम्ब होता है, होओ, परन्तु वहां दर्पण और मयूर दोनों जुदे-जुदे पदार्थ हैं। मयूर अपने नील रूपादिरूप परिणाम रहा है और दर्पण स्वच्छताविकार मात्र मयूर प्रतिबिम्बरूपमें नीलरूपादिरूप परिणाम रहा है। इसी तरह विकृत जीवके सामने मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके उदय हैं तो जीवमें मिथ्यात्वादि होते है, होओ, परन्तु वहाँ मिथ्यात्वप्रकृति और जीव दोनों जुदे-जुदे पदार्थ हैं। मिथ्यात्वादि प्रकृति अपने प्रकृतिप्रदेशादिरूप परिणाम रहे हैं और जीव चैतन्यविकारमात्र मिथ्यादर्शनादि विभावरूपमें परिणाम रहा है। भैया! असल बात तो यह है, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है परन्तु कर्ताकर्मभाव नहीं है। अतः तुम तो प्रत्येक पदार्थको उसही पदार्थके रूपमें देखो। आत्माको आत्माके स्वरूपसे ही देखो। अपने आपको जाननेकी वृत्ति स्वयं निर्माण हो सकेगी, वह किसी अन्यके द्वारा नहीं। अगर थोड़ा भी विवेकसे काम लिया, दृष्टि बदली तो कुछ कर सकेंगे। अनादि कालकी भूल समझमें आने पर तापके अश्रु बाहर निकल पड़ेंगे।

५८१. **अपना कर्तव्य**—भगवान्‌के दर्शन अकेलेमें सुहा जावें तो समझें हम कुछ करने जा रहे हैं। २४ घंटोंके समागममें यह अज्ञप्राणी समय नहीं निकाल पाता कि मैं अपने आपको कुछ तो कह लूं। भगवान्‌से अकेलेमें भेंट कर कुछ तो ममतारूपी तापकी दाहको शमन कर लूं। जड़का समागम ही इसे सुहा रहा है। अपने परका भेद मखौल समझ रहा है। इसकी दृष्टिमें जो भी दिखता है वह अपना ही अपना दिखता है। विषय कषायकी कथायें इसके सामने खूब अपना रूप लेकर इसके पास आई हैं, उन्हें ही यह स्थान देता गया। थोड़ा बहुत धर्मके प्रति उन्मुख हुआ और विषयोंकी चपेट इसके सामने आई तो सबको एक तरफ रखकर फिरसे उनकी ओर दौड़ गया। बार-बारके इसके संकल्प फिसल रहे हैं। अनेक बार उनसे मुख मोड़नेकी बात भी सुनी, लेकिन थोड़ा स्वाद और ले लेने दो—यह सोच सोचकर उत्तम नररत्न कई बार खो चुका है। संभवतया यह मनुष्य-जन्म काफी दुर्लभतासे मिला है तब भी यह गाफिल बना सो रहा है। इन विकल्पजालोंसे कैसे उपकार होगा? इन्हीं विकल्पोंमें यह जीव अपनेको बड़ा भला मान रहा है। इसकी वेशभूषा ही इसे अपनेको नहीं देखने देती। उसीकी साज संभार ठीक रहना चाहिए—यह दिलमें समाया हुआ है। धर्मकार्योंसे भी उसमें कोई कमी न आ जावे, इस बातकी ही धुन रहती है। स्त्री पुत्र सभीको वैसा ही राग रंगमें रगा देखना चाहता है। तभी तो इसको

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

५८५. **जीव और अजीवरूप मिथ्यात्वादिका वर्णन**—पुद्गलकर्मरूप मिथ्यात्व, योग अविरति, अज्ञान तो अजीवरूप है और उपयोगरूप अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व ये जीवरूप हैं। मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान जो जो जीवरूप है वह जीव मिथ्यात्व आदि है। अज्ञानको जो जीव जीव कह रहे है वह उपयोग ही है। कर्मरूप मिथ्या अविरति अज्ञान जीवसे जुदा है। मिथ्या अज्ञान अविरति रूप पुद्गलकर्म जो है वह अजीव है तथा जीव भिन्न है। पुद्गलकर्मकी प्रकृतियाँ अजीव है तथा जीव उनसे भिन्न है। जीवका निरपेक्ष स्वभाव ज्ञान दर्शनसे सहित निर्मल है तथा अविरति आदि ज्ञान, दर्शन, अभेदसे जीवके विकार हैं। जिस तरह दर्पणमें विकार आया वह दर्पणका नहीं है। इसी तरह रागद्वेष जीवमें नहीं है फिर भी जीवविकार है। वे रागद्वेष पैदा होते हैं और चले जाते हैं। जो आकर चला जाता है उससे अधिक मोह क्यों करना ? उसमें आसक्त रहने से क्या स्थायी या अस्थायी लाभ मिलना है ? कुछ समयका वह परिणमन है उसे ही ग्रहण करके क्या रहना ? यह सोचे केवल चेतन मात्र मेरा स्वभाव है। कोई लम्बे सफरपर जानेवाला यात्री अगर बीचकी ही स्टेशनोंपर मोहित होकर उतर गया तो उसका लक्ष्य ही बिगड़ जायेगा। निर्धारित समयपर पहुँचना असंभव हो जायगा। अन्तिम लक्ष्य मोक्षका बनाकर ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहो। अपनी निर्मलताके भी ज्ञाता द्रष्टा रहो। व्यर्थमें सोचो या कहो विकल्प हटाये ही नहीं हटते। उन्हें हटाया नहीं, इससे वह आ आकर टिकते हैं। उन विकल्पोंके बारेमें सोचते रहना चाहिए यह तो सब औपाधिक हैं। इससे इनकी हठ नहीं करना चाहिए। लौकिक कार्योंकी भी हठ नही करना चाहिए। हठ करने वाला जानता है कि मैं बड़ी चतुराई कर रहा हूँ तथा बात करनेमें भी बहुत चतुरता महसूस करता है, लेकिन वह यह भी जानता है, यह मेरी चतुराई ठीक नहीं है। अगर कलई खुल गई तो दुःख होगा। है कुछ और भांति तथा मान कुछ और तरहसे रहा है। संस्कार चलनेसे शरीरमें प्रीति कर रहा है। कभी किसीको अनुकूल मान लेता है तथा कभी किसीको प्रतिकूल मान लेता है।

५८६. **अपने कर्तव्यपर दृष्टिपात करनेका अनुरोध**—अगर किसी रईसके लिए अपराध करनेपर (सी) तृतीय श्रेणीकी कैद होवे तो वहाँ उसे चक्की पीसना पड़ेगी, पानी भरना पड़ेगा, टाट पट्टियाँ आदि बुनना होंगी। अगर वह यह काम न करे तो उसपर हंटर पड़ेंगे। वह अगर अपने पूर्वके सुखको स्मरण करे और वह इस समय सुख चाहे तो क्या मिल सकता है ? नहीं। अगर सुख चाहिए था तो वह कष्ट पाने वाला पाप अपराध ही

वहाँ शान्त कोलाहलरहित वातावरण रहता है। प्रकृति जहाँ अटखेलियां कर इतराती है, स्वास्थ्यका साम्राज्य वहाँ उपलब्ध रहता है। दिल खोलकर परिश्रम करने वाले वहां मिलेंगे। परिश्रमसे उनकी क्षुधा भी जागृत रहती है। उन्हें अनेक चिन्तायें भी सवार नहीं होती हैं। वहां थोड़ा कमाकर भी जीवन-यापन शान्तिपूर्वक निर्बाध रीतिसे होता है। वे ही यदि शहरमें आ जायें तो कुछ प्रसंगके बाद क्या हालत हो जाती है, सो सब जानते ही हैं। शहरोंमें एक दूसरेकी संपत्ति देखकर स्वयं प्राप्त करनेकी ईर्ष्या जैसी बढ़ती है ! अनेक तकलीफोंको सिरपर लेना पड़ता है, जबकि शान्ति दूर भाग जाती है। फिर भी भोगकी सामग्री साधारण व्यक्ति ज्यादा काममें नहीं ले पाता। हाँ, गुणोंमें भले ऊंचे दर्जेकी वस्तु काममें ली जा सकती है। अगर किसीको दुखी करना है तो एक बार आराम देकर भोगविलासकी सामग्रियां उसे चखा दो। तब तो वह भी उनको पानेके लिए प्रयत्नशील हो जावेगा और उन्हें न पाकर दुखोंमें तड़फा करेगा। सात्त्विकता उससे मुख मोड़ लेती है। ऐसा व्यक्ति जीवनकी बलि देकर भी अन्यायपर तुल जाय तो क्या भरोसा है ? इस कारण से सुपथगामी व्यक्ति भी कुपथपर चलनेको तत्पर हो जाता है। यह गोरखधन्धा कबसे चल रहा है, कब तक अब यह चलेगा, इसका निर्णय विवेकीके ही हाथमें है। जो जीवनमें विषय अच्छे लगते हैं, वही आगे जाकर दुःखके हेतु हो जाते हैं।

५८४. अन्योन्याकर्तृत्व प्रतीतिरूप भावना--मुझे यही दिखे कि प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणतिमें परिणम रहे हैं यही हितकर है। जैसे दर्पण है, उसके सामने मयूर है, वह मयूर हरा, नीला, पीला, काला अनेक रंगोंको लिए हुए है। वह दर्पणमें उन्हीं रंगोंसे सहित दिखाता है, किन्तु मयूरके ही खुदके स्वभावसे पाये जाने वाली बातसे देखा जाय, उसके गुणोंसे देखा जाय तो वह मयूर ही है तथा दर्पणकी ओर देखनेसे वह काला, नीला, लाल, दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। वह दर्पण ही है। दर्पणकी लेश (थोड़ी) भी बात मोरमें नहीं है तथा लेश भी सम्बन्ध मोरका दर्पणमें नहीं है। उन दोनोंका केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। फिर भी दर्पणमें स्वच्छता जैसीकी तैसी देखी जा सकती है। उसमें जरा भी सम्बन्ध मोरका नहीं है। यह बात स्पष्ट जंच रही है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरतिके विभाव परिणाम हैं। कर्मरूपसे देखा गया वह मिथ्यारूप अज्ञान कर्म ही है तथा वह अजीव है। चेतनकी ओरसे विचारे तो जीवके भाव जीव ही हैं। अजीवका विकार अजीव ही है। जीवकी अजीवमें क्या बात गई, फिर भी निमित्त-नैमित्तिक बात अवस्थित है। कर्मका अंश जीवमें नहीं गया। फिर भी कर्म औपाधिक है। किस दृष्टिसे देखनेमें क्या जंचता है, इसका कौशल ज्ञानीके हो जाता है। जीवका वर्णन स्वतन्त्र करते हैं। वह जीव और अजीव कौन कौनसे हैं, इसे स्पष्ट करते हैं।

उपाधि और उपादान की भिन्नता है। उपाधि उपादानको अशुद्ध करती है। किसी का किसीमें प्रवेश नहीं है।

५८७. मिथ्यात्व आदिक दो दो पदार्थ परिणमनके नाम—मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान ये अजीव पुद्गल कर्म हैं और जो जीव मिथ्यात्व अविरति योग है, अज्ञान है वह जीव है। जो जीव मिथ्यात्व भाव है वह रस, गंध, स्पर्श रहित है। अविरतिभाव विषय कषायोंमें लगनेका परिणाम रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है, अज्ञानभाव है; ज्ञानकी हीनता, ज्ञानका खोटापन आदिक जो कुछ भी जीव रूप है, रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। उपयोग है वह सब जीवरूप है, और इसका कारणभूत मिथ्यात्व प्रकृति, योग प्रकृतियोंके वातावरण में जिनके उदयमें योग हुआ करता है, अविरति भाव जो अप्रत्याख्यानावरण आदिक कषायादिक रूप है, अज्ञान ज्ञानावरण आदिक कर्म हैं ये अजीव पुद्गलकर्म हैं। जो मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति आदिक जीव हैं वे वे मूर्त पुद्गलकर्मसे भिन्न हैं और चेतन पुद्गल कर्मका विकार है। दो दो भेद बतानेका प्रयोजन यह है कि यह समझ लिया जाय कि अपने-अपने परिणमनके ये सब कर्ता हैं, एक दूसरेके परिणमनके कर्ता नहीं। यह विकार कैसे आया?

५८८. शान्तिकलाका स्मरण—इस गाथामें निमित्तभूत पदार्थका और उपादानभूत पदार्थका स्वरूप बताया है। वे दोनों बिल्कुल पृथक्-पृथक् है। पूर्वगाथामें मिथ्यात्वादिको दो प्रकारका बताया था। यहाँ उन प्रकारोंका स्पष्टीकरण किया है जो अजीवरूप मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक भाव हैं वे पुद्गलकर्म हैं और अमूर्त चैतन्य परिणामसे भिन्न हैं और जो जीवरूप मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव हैं वे चैतन्य परिणामके विकार हैं और मूर्त पुद्गलकर्मोंसे भिन्न हैं। जो जुदे जुदे पदार्थ हैं उनका कर्तृत्व कैसे हो सकता है? इस जीवको शान्तिकी कला याद नहीं है तथा कर्मोंको दोष देता है। जैसा कि कहा है 'नाच न आवे आँगन टेढ़ो'। शान्तिकी कला स्वयं पाना नहीं चाहते, इसलिए स्त्रीको दोष देते हैं, माता पिताको दोष देते हैं। पुत्र बान्धवों, भाइयों, साथियों, गृहस्थों, त्यागियों, अन्य मतावलंबियों, जैनियों, सेठों, पंडितों, बाबू लोगों आदिको दोष देते हैं। इसके लक्ष्यसे क्या दोष पानेमें कोई खाली जा सकता है। किन्तु अपने दोषोंपर दृष्टिपात ही न देंगे। बड़ी विचित्रता है इन अनादिकालीन संस्कारों की। अगर कोई मर गया तो कहेंगे डाक्टरने दवा खराब अजानकारीकी दे दी, (यह भी हो जाता है) अच्छा डाक्टर नहीं बुलाया, पथ्यसे नहीं रखा, भूत नावतेकी मान्यता पूर्ण नहीं की आदि। न जानें कल्पनाओंकी कोई कमी नहीं है। यह नहीं सोचेगा इसका आयुकर्म पूर्ण हो गया था। कोई राहगीर किसी जगह आया और वह तो चला गया, किन्तु उसके पीछे मोही जीव नाना प्रकारकी कल्पनायें कर करके दुखी होता रहता है। जो जाने वाला है उसके प्रति अभिरुचि क्या करना? जैसे कोई कोत-

क्यों करता ? इन विकल्पों तथा काममें ढील करनेपर कोई समझदार व्यक्ति आकर कहता है—सेठ जी ! भूल जाओ पहलेकी हुकूमतको, यह जेल है, ससुराल नहीं है। यहाँ जमादारके कहे माफिक ही कार्य करना पड़ेगा। उसी तरह मोहमें दुःख तथा क्लेश सहने ही पड़ेंगे। स्वयं बढ़ा बढ़ा कर दुःख सह रहे हैं। मकान हवेलियां बढ़ाई, रिश्तेदारियाँ बढ़ाईं, दुकानमें वृद्धि व्यापारका क्षेत्र बढ़ाया यह सब क्लेशका ही कारण है। अनावश्यक कार्य बढ़ा लेना दुःखको ही बढ़ावेगा। अगर पति पत्नी हैं, सन्तान नहीं हुई तो दूसरेके बच्चेको गोद ले लिया। अब अनेक विकल्प बढ़ गये। सारी शांति चौपट हो गई। गोद न लेने पर वैभव रहा आया, उसे किसको देवें ? जिस तरह गोद लेकर उसे अर्पण कर रहे थे, उसी तरह इस पृथ्वीपर अनेक बालक बिलखते मिल जावेंगे, उन्हें भी तो दे सकते हो, जो अपने जीवनमें तुम्हारे यश गावेंगे। जितना भी कमाया वह क्या साथमें ले जायगा ? सबका सब यहींपर छोड़कर जाना होगा। एक व्यक्तिने अपने जीवनमें खूब धन कमाया और वह सब धनको अपने कब्जेमें रखता जावे। तिजोरीमें बन्द करके चाबियां अपने पास रखे। जीवनभर उसने बच्चोंपर भी विश्वास नहीं किया। लेकिन जब मरने लगा तो लड़कों को बुलाकर कहता—ये चाबियां संभालो। तब लड़के कहते—पिता जी ! आप अपने साथ ही लेते जाओ। इससे शिक्षा मिलती है, जीवन भर जो कमाया उसे साथमें खर्च भी करते जाओ। मरनेके साथ कुछ भी नहीं जावेगा। दुनिया भरकी तृष्णा करके खूब कमाया, अन्त में सब यहीं पड़ा रहेगा। इसलिए जो मिला है उसका दान उपभोग भी कर लेना चाहिए। दान करो यह तो उत्तम बात है, किन्तु धनका जीवनमें उपभोग भी कर लो। क्योंकि उपभोग करनेसे अनेक तरहकी तृष्णायें मर जावेंगी तथा इन तृष्णाओंके शमनसे मरते समय उतना क्लेश तो नहीं होगा। धनको कोई मनुष्य नहीं कमाता, उसका पुण्य कमाता है। धन कमाया उसको विवेकपूर्वक खर्च करे। अगर सभी खर्च हो जावे तो सोचे ऐसा होना ही था। अचानक ऐसा भी तो हो सकता है, आज सब कुछ है कल राज्य पलट जावे या कोई सारा धन लूट खसोट ले जावे तो कुछ भी नहीं रहे। उस समय भी सन्तोष तो रखना ही चाहिए, किन्तु इस चंचला लक्ष्मीका पहलेसे सद्भोग करते रहना चाहिए तो संतोष पानेमें कठिनाई न पड़ेगी। कुछ भी न रहनेपर भी आत्माकी अनन्तशक्ति तो अपने पास है। मैं रहूँगा, मेरे आत्मधनके सामने सब क्या महत्त्व रखता है जब कि दूसरा व्यक्ति आसक्त होकर परपदार्थोंके साथ रहता है। मैं उनसे विरक्त भाव हो स्वरूप विचारूंगा, परपदार्थ किसीके पास भी कितने क्यों न हों उन्होंने किसी को सुख नहीं दिया। वह तो अपने स्वरूप में परिणम रहे हैं और मैं अपने स्वरूपमें परिणमता रहूंगा, जो राग आया वह नियमसे जावेगा यह विभाव चेतनाका ही बिगाड़ करते हैं। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं।

रहे जानना चाहिये—(१) मिथ्यात्व, (२) अज्ञान, (३) अविरतिभाव। जैसे कोई स्फटिक काँच है, उसका स्वभाव है कि वह अपनेमें झलकाहट बनाये रखे। फिर भी हरे, पीले, नीले, लाल रंगके कागज आदिके सम्बन्धसे उस तरहकी आभाको पावेगा या उस तरहके रूपको झलकावेगा। हरा, पीला, नीला डागके सम्बन्धसे स्फटिक मणि भिन्न-भिन्न रूपकी दिखती हैं। इसी तरह जीवका उपयोग ज्ञान दर्शन चेतनमय है। आत्माका ज्ञान स्वभाव होने से कुछ न कुछ जानेगा। आत्मा बाह्य सम्बन्धको पाकर राग द्वेप मोहको झलकाने लगता है। यदि दर्पणका व अन्य वस्तुका सम्बन्ध सामने आवे तो उसमें जिस तरहका सामने या अन्य पदार्थ आवेगा वह उसमें झलकने लगेगा। यह जीव उपयोगके बलसे इसी तरह अनेक प्रकारके भावोंको राग द्वेषके सम्बन्धसे करता है। उपयोगका स्वभाव ही ऐसा है। जो कुछ उसमें आवे उसे झलका देता है, उसको अपनी मानता है यह भूल है। इसी तरह यह जीव पुत्र, स्त्री, मित्र, भाई, कुटुम्बीको अपना मानकर झलकाता है। बाह्य कारण पानेसे उनके प्रति राग या द्वेष जिस तरहका उपयोग होगा उसी तरह उनको प्रगट करेगा अपनेमें। ये परिणाम यहाँ तीन तरहके कहे हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अज्ञान, (३) अविरति। ज्ञानकी कमी होना, परपदार्थोको अपना मानना, चेतन या अचेतनको कर्ता मानना, मैं उन्हें कर देता हूँ या वे मुझे कर देते हैं—इस तरहके भाव होना मिथ्यात्व है। ज्ञानका कम होना व संशयादिरूप होना अज्ञान है। त्याग संयम नहीं होना, अपनी ओर नहीं रमकर परपदार्थों के प्रति आकर्षित होना अविरति है। उपयोगके ऐसे विकार होते हैं।

५६१. अशुद्ध उपयोगके त्रिविध विकारपरिणाम—उपयोगके अपने वस्तुके स्वभाव-भूत स्वरूपके परिणाममें समर्थता होनेसे अपने स्वरूपके परिणाममें समर्थ है सो ठीक है, परिणमन चलता है, पर अनादिकालसे जो अन्य वस्तुरूप मोह लगा है उससे मिथ्या दर्शन ज्ञान अविरतिरूप ३ प्रकारका परिणाम विकार देखा गया है पर वह परनिमित्तसे हुआ। यद्यपि उसका अधिकरण जीव है जीवके परिणमन हैं, किन्तु पर उपाधिसे इसका अन्वय-व्यतिरेक है, जीवसे अन्वयव्यतिरेक नहीं है। तो जैसे स्फटिकमें जो छाया प्रतिबिम्बत होती है वह पर-उपाधिसे उत्पन्न होता हुआ देखा गया है, इसी प्रकार जीवमें जो रागादिक परिणाम होता है वह परसे उत्पन्न होता हुआ देखा गया है। स्फटिकमें छाया रूप परि-णामनकी शक्ति है। तब वह परिणाम रहा है। इसी प्रकार उपयोगमें मिथ्या दर्शन अज्ञान अविरतिरूप परिणामनकी शक्ति है उपाधिभूत परके संयोगसे, तब वह परिणाम रहा है। यहाँ उपयोगका अर्थ केवल ज्ञानगुणकी बात न लेकर एक प्रयोगरूप लेना है। उसका उप-योग है कुछ, जिसे इंगलिशमें कहते हैं यूज है, प्रयोग है, कुछ काममें आये, कुछ बात करे, इस प्रकारकी बात है। तो ऐसा जो कुछ जीवका उपयोग हो और साथमें हो अन्य वस्तुवों

वालके आधीन होकर अनेक कार्य करता है। उसे वह कार्य करना पड़ते हैं, किन्तु उनमें प्रीतिपूर्वक नहीं लगता। इसी प्रकार कर्म विपाकवश करना पड़े तो पड़ो, श्रद्धा तो ठीक ही हो। विकल्पोंके करनेमें साराका सारा अनर्थ अपना ही हो रहा है। दु:खका पात्र भी विकल्प करने वाला है। रागादिक पौद्गलिक हैं, वह साथ नहीं देते, किन्तु कर्मका भार हमपर लाद जाते हैं। मैं जीव रागद्वेष, कर्म, देहसे अत्यन्त भिन्न चेतन हूँ। जो कुछ भी कोई करता है वह सब अपना ही करता है। स्वभाव स्वतन्त्रता ऐसी ही है। मैं किसीका कुछ नहीं करता हूं। निर्णयके लिए बात चल रही है। कषाय दो तरहकी है। जिसमें क्रोध हुआ वह जीव-कषाय है तथा कर्मप्रकृतियां अजीव कषाय हैं। अजीवके सन्निधानमें जीवकषाय होती है। इससे यह मेरे नहीं हैं। इसमें थोड़ा विवेकपूर्वक मनोयोग लगानेकी आवश्यकता है। आये हुए रागद्वेषको भी देखें ये मेरे नहीं हैं। यह अभ्यास और शुद्ध भावना करे तो इससे स्वयं की सिद्धि होती है। जो कुछ भी है वह सब देख लिया है—इसी भावसे कल्याण है।

५८९. केवल जाननहार रहनेमें लाभ—दर्शनकथामें बताया है। एक सेठ था, उसने किसीके पास यह नियम ले लिया 'मैं प्रतिदिन घरके पास रहने वाले कुम्हारके चन्दू भैंसा के दर्शन किया करूंगा तब कोई कार्य शुरू किया करूंगा। एक दिन कुम्हार भैंसा लेकर मिट्टी खोदने चला गया। सेठ दौड़ता दौड़ता खदानपर पहुंचा। यहाँ कुम्हारको मिट्टी खोदनेमें अशर्फियोंका घड़ा मिल गया। तब सेठ भी भैंसेको देखकर जल्दी आने लगे। इतने में कुम्हार कहता 'सेठ जी सुनो तो, कृपया यहाँ लौटिए' तो सेठ कहता 'नहीं, मैंने सब देख लिया।' कुम्हार वहाँ बुलाता ही रह गया और सेठ जी जल्दी घर चले आये। यहाँ कुम्हारके मनमें भय बैठ गया। सेठ जाकर मेरी शिकायत थानेमें कर देगा तो धन जब्त हो जायगा और चोरीकी सजा मिलेगी। यह सब देखकर कुम्हार आधी अशर्फियां लेकर सेठके घरपर दौड़ा और कहने लगा 'सेठ जी ! किसीसे प्रकट नहीं करना।' सेठ जीका घर बिना परिश्रमके भैसेके दर्शनके नियममात्रसे निहाल हो। गया कितना लाभ हुवा ? तब ऐसा कौन सा कारण है जब कि जीवनमें व्रत नियम लिए जावें और उन्हें निभाये जावें तो उत्तम फल नहीं मिलेगा ? जरूर मिलेगा। श्रद्धा सच्ची होनी चाहिए। इसीलिए श्रावकोंको जिनेन्द्रपूजन, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम पालना, तप (ध्यान) और दान देना—यह छह कर्तव्य प्रतिदिन करनेको कहे हैं। अब आत्मामें मिथ्यात्व रागद्वेष आदि चैतन्यपरिणाम क्यों होते हैं ? इसीके विवरणके लिए ८९ वीं गाथामें कह रहे हैं:—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

५९०. समोह उपयोगके परिणमन—मोहयुक्त उपयोगके अनादिसे तीन परिणाम हो

नावसे जाना था। साधुने नाविकसे कहा 'नदीके उस पार ले चलो' तब नाविक बोला 'दो आना पैसे लगेंगे।' इसपर साधुने कहा 'मेरे पास तो पैसे नहीं हैं। इसलिए उस पार नहीं, तो इस पार ही सही।' कुछ समय बाद एक सेठ आया और साधुसे बोला—आप तो इसी पार रह गये। तो पैसोंका अभाव बताया। इसपर सेठने चार आना पैसे दिये तथा दोनों उस पार हो गये। इसपर सेठने ताना दिया कि तुम तो कहते थे त्यागसे संसारसे पार हो जाते हैं और आप तो यह छोटी सी नदी भी पार नहीं हो सके। साधुने समझाया 'तुम अगर चार आनाका भी त्याग नहीं करते तो कैसे इस पार आ सकते थे। उन पैसोंका मोह छोड़ा तभी तो आ सके। अगर कमाते तो खूब गये और त्याग नहीं किया तो क्या शांति मिलेगी? विकल्प हटाना तथा निराकुलता आना कठिन लग रहा है। जैसा समझ रखा ऐसा है नहीं। प्रत्येककी लगन जुदी-जुदी हुआ करती है। अपनी लगन धर्मकी ओर ही एकत्रित कर ली जाय तब वही निराकुलताका कारण होगा। इसीका नाम चारित्र कह सकते हो। जिसकी लगन घरमें रहकर भी ज्ञानकी ओर बढ़े वह वहाँ भी सुखी है। लगन इस तरहकी होनी चाहिए कि ज्ञान ही सर्वस्व है। मोहका दूर होना सुखका कारण है। परकी चाहसे मिलना भी क्या है? परपदार्थोंको मृगमरीचिका मोहजालमें फंसाती है।

५६४. उदारहृदयका परिणाम—श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्यका लड़कपनका मित्र मातादीन था। उसे घरमें जो मिले तथा जो भी कमाकर लावे वह गरीबों में बाँट देवे। इस आदतको देखकर उसके माता पिता परेशान हो गये। माता पिताने उस मातादीनको घरसे निकाल दिया। तब वह घूमता घूमता बनारस पहुंचा। वहाँ मातादीन एक बड़े मन्दिरका महन्त बना दिया गया। जहां कि उसके कब्जेमें बहुत-सी जायदाद आ गई। अब तो वह सोनेके जेवरातोंसे लदा हाथीपर चढ़ा घूमता फिरे तथा उसके चरणोंमें अनेक आदमी झुकने लगे। एक दिन वह हाथीपर चढ़ा चला आ रहा था। रास्तेमें वर्णी जी महाराज चले आ रहे थे। वह हाथीसे उतरकर महाराजजीके सामने आकर हाथ जोड़ने लगा। महाराजजी पहिचान नहीं सके। तब उसने बचपनकी मित्रता बताई। इसपर वर्णी जी खुश हुए। मातादीनने महाराजजीसे सब वर्णन कह सुनाया। घरसे निकाल गया तो यहाँका महन्त बन गया। इससे ज्ञात होता है जिसकी जैसी प्रवृत्ति होती है उसे वैसी ही सम्पदायें अनायास प्राप्त हो जाती हैं। जब कि एक कंजूस हजारों लाखों कमाकार भी अच्छा भोजन नहीं कर पाता और न तनपर अच्छे कपड़े पहन सकता है। वह दानका नाम सुनते तो स्थान छोड़कर भाग जाता है तथा दूसरोंके न्यायानुकूल अधिकारोंको छीननेमें अपनी शान समझता है।

५६५. तत्त्वसम्पर्कमें शान्तिसम्पर्क—कर्तृत्व बुद्धि कहीं भी तो सुख देनेको समर्थ

का सम्बन्ध तो उसमें परिणाम विकार हो जाता है। तो इस परिणाम विकारका कारण-पना कोई अन्य है।

५६२. स्वभावविरुद्ध परिणमनमें क्लेशोपभोग—आत्माका स्वभाव झलकाना है। काँचका तथा उपयोगका काम झलकाना है। विकल्प भी आवें तो समझो यह मेरे नहीं हैं। विकल्प आते रहें किन्तु तुम्हारा क्या बिगाड़ लेंगे ? जिस तरह रास्तेमें अनेक आदमी चले जाते हैं, उनसे किसीसे राग नहीं बढ़ता है, किन्तु रिश्तेदारको देखकर ही मनमें हर्षका संचार हुआ और मिलनेके लिए दौड़ पड़ते हैं जिससे आकुलता बढ़ती है। इसका कारण उसके प्रति आत्मीयता है। सच्चा मित्र तो अपना आत्मद्रव्य है। घरमें रहकर निराकुल रहना एक समस्या है तथा घरका त्याग करके रहना और निराकुलता नहीं आना, यह भी समस्या है। घरमें रहकर भी निराकुल रहे तो सुख है तथा जंगलमें भी परिणामोंको उज्ज्वल कर सकते हैं, किन्तु विवेक चाहिए तो वहाँ भी सुख है और वहाँ भी आकुलता है तो दु:ख है। दु:खका कारण तो आत्माका किसी तरह जो विकल्प चलता रहता है यह है। इस आत्माका रक्षक उपयोग है। स्फटिक मणिमें स्वच्छता है किन्तु उसमें लाल पीला नीला हरा जो डाक लगा लिया है, उसकी वजहसे उसमें वैसा रंग झलकने लगा है। इसी तरह राग द्वेष जीवके साथ लग गये। धन, पुत्र, कलत्र आदि सभी इस जीवसे न्यारे हैं। शुद्ध भावोंको छोड़कर जहां मोहमिथ्यात्वमें चक्कर लगाया वहां क्लेशके अतिरिक्त क्या मिलनेका है ? ये सर्व जीव परमात्मा नहीं हैं, फिर यहाँ किसकी दृष्टिमें अच्छा जंचनेके लिए दिन रात खटराग करते रहें। महापुरुषोंने तो बेवकूफी ही समझा है। वह स्वयं सर्व झंझटोंसे छूटकर आत्मकार्यके लिए आगे बढ़े थे। यह जीव तो हाड़ माँसके पिण्डसे युक्त है, इससे प्रीति करके क्या मिलने का ? मोह जितना किया जायगा उतनी ही विपत्तियां उठानी पड़ेंगी। सेठ, नेता, पंडित, साधारण व्यक्ति सभी की धनलिप्सायें बढ़ी हुई हैं। पहले अगर कम धन था, अब काफी जुड़ गया है तब भी सन्तोष नहीं है। धन जुड़ा तब उच्चपदाधि-कारियों एवं अपने अन्य भाइयोंसे मिलनेकी आकांक्षायें बढ़ीं, इसके लिए अनेक प्रकारके दिखावटी भेष बनाये। वाक्पटुता, फैशनेबुल, शृङ्गार, ऊपरी बनाव ठनाव, चेहरे तनाव आदि क्रियाओंसे युक्त हो मिले जुले। उन्होंने इनकी प्रशंसा कर दी, इन्होंने उनकी प्रशंसा करदी, खुश हो गये। बहिरंग चमक दमक तो यह हो गई, किन्तु अन्तरंगमें क्या बीत रही, इसका ध्यान ही नहीं है। दु:ख तो राष्ट्रपति व प्रधान मंत्रीके पास भी है। कितने भी पद में बड़े बन जाओ, लेकिन वहाँ भी आकुलताओं का शमन नहीं है।

५६३. त्यागसे सिद्धि—एक साधु था। उसे नदीके उस पार जाना था। साधु जी सबको उपदेश दिया करते थे—त्यागसे संसारसमुद्र पार हो जाता है। नदी पार करनेको

व मरने जा रहा है। राजा क्यों रानीके मोहपाशमें इतना पड़ा है जो स्वयं प्राण खोकर उपकार करना चाहता है, राजा रानीका कान पकड़कर बाहर कर देवे, कहे हटो यहांसे, तुम पतिदेवपर इतनी हुकूमत चलाना चाहती हो।' राजाने सुन ली यह बात। अब तो उसको एक अच्छा तरीका मिल गया। जीवनकी उलझनका जो भूला भूम रहा था वह स्थिर हो गया। राजा महलमें गया, फिर क्या था ? राजहठ, स्त्रीहठ बड़े विचित्र होते हैं। रानी साहिबाने फिरसे पशुओंकी बोली सीखने का जिद्द किया। अब राजाने रानीका कान पकड़ा और महलसे बाहर निकाला। इसी तरह जो स्वयंके जीवनको गर्तमें लिए जा रहा हो, उन विचारोंको, उन संयोगोंको कान पकड़ कर सदैवको निकाल देवें। फिर जीवन जिसका नाम है चेतन उसकी आराधना ही प्रण रह जावे। आत्माका काम तो झलकाना है। कर्मके उदयका सन्निधान पाकर इस जीवमें विकार आते हैं। तत्त्वज्ञानके द्वारा उन्हें नेस्तनाबूद कर सकते हैं। शुद्ध सत्ताका ज्ञान कर लेवे तो विश्वास होगा—यह जीव अपने ही विकल्पोंको करता है तथा सुख दुःख मानता है। यह जीव ३४३ घन राजूमें कहां नहीं जन्मा। अब भी विवेक नहीं रखा तो यह अमूल्य अवसर कब मिलेगा ? परिग्रह खूब बढ़ चुका, खूब उसे बढ़ाया तब भी शान्तिके कण नहीं मिले। अटूट आनन्दका प्यासा क्या बाहरमें फिर कर शान्ति पा लेगा, क्या उसका अनन्त शान्तिका स्रोत स्वयंमें भरा हुआ है ? वह बाहर बकवाद करनेसे विडोलित हो जाता है। उस परदृष्टिसे हटकर आत्मतत्त्व पानेका अभ्यासी श्रेयोमार्गपर अवस्थित है।

५९७. तत्त्वमर्मका उद्बोध—इस गाथामें कुछ मर्मकी बातें आचार्य कह गये हैं—देखो मिथ्यात्वादि परिणाम चित्स्वभावके नहीं हैं, क्योंकि चित्स्वभाव चिद्द्रव्यसमान जीवित एक परमपारिणामिक अपरिणामी अविचलित भाव है। मिथ्यात्वादि परिणाम चिद्द्रव्यके भी नहीं हैं, क्योंकि चिद्द्रव्य अनादि निधनस्वरूप सत्तामात्र शुद्ध अर्थ है, मिथ्यात्वादि भाव तो होते और मिट जाते हैं, औपाधिक हैं। मिथ्यात्वादि परिणाम उपयोगके भी नहीं हैं, क्योंकि उपयोगका स्वभाव या कार्य मिथ्यात्वादि करनेका नहीं है। फिर मिथ्यात्वादिक किसका परिणाम है ? इस जिज्ञासाका समाधान यहाँ यों किया गया है कि मिथ्यात्वादिक परिणाम मोहयुक्त उपयोगके परिणाम हैं। उपयोग तो स्वरसतः ही समस्त आत्मवस्तुके स्वभावभूत स्वरूप रूपसे परिणमनेमें समर्थ हैं सो अनादिसे लग्न वस्त्वन्तरभूत मोहसे युक्त होनेके कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीन प्रकारका परिणाम हो जाता है। सो इसे परपरिणमन कहते हैं, क्योंकि यह मिथ्यात्वादि परिणमन परद्रव्य मोहनीयादि कर्मके विपाकके निमित्तसे उत्पन्न होता है। देखो तत्त्वज्ञानकी भी सावधानी एक जबर्दस्त सावधानी है, तभी तो ज्ञानी पुरुष निमित्तनैमित्तिक भाव, परिणम्यपरिणामक भाव,

नहीं है। अगर अपने हाथोंसे कमाया धन चला गया, दान दिया, गरीबोंको बांट दिया उसमें तुम्हारी आत्माका क्या बिगड़ा, प्रत्युत शान्तिका कारण होगा। इसमें दूसरोंका भी भय नहीं है। यदि सदाचार है तो कितनी भी दरिद्रता आ जाओ उसे दुःख ही क्या है? तथा जिसे आत्मबोध नहीं उसके पास कितनी भी सम्पदायें आ जावे उसे सुख भी क्या है? तत्त्वज्ञान सुख शान्तिका कारण है। कुछ लोग कहा करते हैं, हम घर वालोंके पालन पोषण से परेशान हैं। यहाँ भी स्वतः दुःखका भार सवार कर लिया है। पूर्व पापका उदय हो सकता है जिसे भोग रहे हो। तब भी दुःख दुःख कहनेसे मिटे, यह नहीं हो सकता। उस दुःखके मिटानेके उपाय धैर्य व पुरुषार्थ साथ दे सकते हैं तथा आवश्यकतायें घटाकर भी खर्च चलाया जा सकता है। आत्मकल्याण मनमें समा जावे तब कहीं भी बाधा नहीं है। नहीं भी है तब भी सच्ची लगनसे सेवापथमें उतर आना हितदायक हो सकता है।

५६६. मोहमूढ़ताके अभावमें संकटमुक्तिका अवकाश—एक बादशाह था। वह पशुओंकी बोली समझता था। बादशाह अश्वशालामें पहुंचा, पासमें ही बैलोंकी शाला थी। बैल दिन भर जुतकर आये तो घोड़ा कहता 'तुम बड़े बेवकूफ हो, दिन भर जुतते हो तथा अरई (नुकीली बेंत) से पिटते हो। हमें देखो हमपर खुरेरा फिरता है तथा राजा भी आकर हाथ फेरता है।' तब बैलोंने कहा 'इससे बचनेका कुछ उपाय है?' घोड़ोंने कहा 'कलके दिन बीमार पड़ जाना, पेट फुलाकर लेटे रहना'। यह बात राजाने सुन ली थी। राजाने कहा, 'हमारे घोड़े बड़े बदमाश हैं।' दूसरे दिन हरवाहा गया बैल छोड़ने, बैलोंको बीमार देखकर राजाके पास शिकायत पहुंची तो राजाने आज्ञा दी, घोड़ोंको ले जाओ हल में जोतने। घोड़े दिनभर जुते तो थक गये। क्योंकि वह तो सुखवार जानवर ठहरा। इससे घोड़ोंने बैलोसे कहा 'तुम अगर कल बीमार पड़े तो इतने हंटर पड़ेंगे जिससे मरनेकी नौबत आ जायगी।' यह बात भी राजाने सुन ली। तब राजा रानीके महलमें पहुँचा। वहाँ बैठे बैठे हंसी आ गई। इसपर रानी जिद करने लगी, आप किस कारणसे हंसे? राजाने सोचा यह तो नहीं बताना चाहिए, किन्तु रानीके पास एक न चली। तब राजाने सब वृत्तान्त कह सुनाया कि 'घुड़शालके घोड़े शरारती हैं।' रानीने कहा 'आप यह कैसे जानते हो?' तब उसने कहा 'मैं पशुओंकी बोली सीखा हूँ।' अब तो रानी कहने लगी 'यह बोलियाँ हमें भी सिखा दो।' राजा साहब ने कलको कह कर टाल दिया। राजा रंजमें हो गया। कारण यह था, पशुओंकी बोलियां दूसरेको सिखानेपर मृत्यु हो जायगी, सिखाने वालेने यही आदेश दिया था—यह विद्या दूसरेको नहीं देना चाहिए। अब वह पशुओंके समीपसे निकला। वे पशु भी समझ गये तो रोने लगे, किन्तु मुर्गा मुर्गी यह देखकर हंसने लगे। इसपर कुत्तेने मुर्गा मुर्गियोंको डांटा। तब मुर्गीने कहा 'राजा अपनी बेवकूफीसे दुःखी है

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

५९९. उपयोगका कर्तृत्व—ये तीन प्रकारके जो विकार हुए हैं इनमें जो उपयोग है वह तीन प्रकारका हो जाता है। यह शुद्ध निरञ्जन आत्मा जिस भावको करता है उसी भाव का कर्ता होता है। जितने भी यहाँ भाई हैं वह सब अपने आपको कर रहे हैं। सब अपने ही विकल्पको करते हैं। स्वरूपास्तित्व ही जुदा है। कितने ही विचार बनावे, परको कुछ नहीं कर सकता है। यह छोटे अभिप्रायकी बात है जो अपनेको समझ रखा है कि मैं किसीका कर्ता हूं। कोई हुकूमतसे अपनेको पराधीन मानता है, कोई कायरपनसे अपने लिए पराधीन मानता है। कोई सज्जनतासे दूसरेका ध्यान रखे तथा कोई विनयसे दूसरेका ध्यान रखे। पुण्योदयके कारण जो एक बल है, उसके द्वारा दूसरेको पराधीन समझे। जो दयावश दूसरे के कल्याणकी बात करे वह कुछ उत्तम है, किन्तु कोई बड़प्पन पानेके लिहाजसे या ऊपरी ढंगसे दिखावट बतानेके लिए बात करे इन सबके अन्तरपर विचार करना चाहिए। एक पराधीनतासे कायर बनकर बात करता है या उसे अपना स्थान बनाये रखनेके लिए करना पड़ता है तथा दूसरा गुणोंसे प्रभावित होकर विनयसे वही बात करता है। दोनोंकी शान्ति और अशान्तिमें कितना अन्तर है? हुकूमत वाले अशान्ति रखते हैं तथा पराधीन वृत्ति वालोंको मालिककी बातके अनुकूल चलना पड़ता है तथा सज्जन पुरुष महापुरुषोंके प्रति स्वभावसे विनयी होते हैं, इन सबमें कितना अन्तर है? यह सब होनेपर सभी अपने-अपने भाव करते हैं। इसीसे संसारकी व्यवस्था बनी है।

६००. दृष्टिके अनुसार प्रवृत्तिकी विभिन्नता—जो आत्मस्वभाव पहिचानेगा वह कर्मोंसे मुक्त होगा। कोई कितनी भी गड़बड़ी करे वह छिपती नहीं तथा उसकी यह वृत्ति उसे स्वयं गड़बड़ कर देगी। कुछ बल पाया तो अहंकारमें लिप्त हो गये, वह स्वयं अपने अभिमानमें चूर हो संक्लेशित रहता है। इसके लिए अनेक विचार गढ़ता है तथा जो प्रभुकी भक्ति करते हैं वह सुख पानेके अधिकारी होते हैं तथा शुद्ध भाववालेके विकल्प हट जाते हैं। कर्म क्या करेगा? स्वभाव दृष्टि जिनकी प्रखर है वह धन न रहने तथा जीवन न रहनेको कुछ भी उपद्रव नहीं मानते। यहांकी आयु खत्म होनेपर स्वभाव दृष्टि वालेको विदेह क्षेत्र या स्वर्ग भी मिल सकता है। परम्परासे मोक्षका पात्र भी बन जायगा। स्वभावदृष्टि वाले तो यह आशा रखते हैं, कब मैं आत्माराधना करूं? जब कि मोही धनका संग्रह करते हैं, वह उच्चावस्थामें आकर भी अपनी आदतसे लाचार रहते हैं। यह मायाजालका भ्रम है कि धनसे सुखी हो जायेंगे। धनका त्याग करने वाले आत्मानुकूल रहनेपर सुखी रहेंगे। सही चलने वाला नियमसे तिरेगा। जिसने शुद्धभावसे घरको छोड़ा है, उसे पग-पगपर

कर्तृकर्मभाव, स्वभावभाव, विभावभाव, अभेदभाव आदि सबके रहस्यको जानता हुआ स्वरूपप्रतीतिसे विचलित नहीं होता है। अहो सम्यग्ज्ञानकी महिमा सम्यग्ज्ञानमें ही प्रतिभात हो सकती है। उपयोगका काम झलकाना है। मोहका डाक लगा रहनेसे वह उस रूप परिणाम गया। अगर वह डाक नहीं लगा होवे तो उस रूप न परिणाम कर शुद्ध स्वरूप ही झलकायेगा। स्फटिक का काम स्वच्छ रखना है। उसमें हरा, पीला, नीला, लाल डाक लग जानेसे रंगविशेषका मैलापन आने लगेगा। रागद्वेष होकर वैसा परिणमन हुआ तो उपयोग उसको झलकाता है। इसी तरह कर्मोंका निमित्त पाकर रागद्वेष हुए आत्मा राग-द्वेषकी झलकाता है। अच्छा पदार्थ आया तो उससे रागद्वेष नहीं करके बुरा भला कुछ भी न समझें। श्रद्धाका विपरीत परिणमन हो तब भी झलक रहा है। फिर भी उपयोगसे नहीं गिरता। हाँ उपयोग कैसा करना? इसका विवेक करो।

५९८. ज्ञानकी अविकारताके उपयोगसे लाभ लेनेका अनुरोध—श्रद्धा और चारित्र ये दो ही गुण विकारके योग्य हैं। यही दोनों विकृत होते हैं। उसके सम्बन्धसे उपयोग उन्हें जान रहा है तभी तो कह दिया जाता है—ज्ञानविकृत नहीं हुआ। सीप चाँदी जैसी होती है। उसे पड़ा रहनेपर चांदी समझे तो ज्ञानकी गलती नहीं है, किन्तु जाननेवालेके आशयकी गलती है। शुद्ध ज्ञान तो यह है कि जो प्रतिभास है उसे जान रहा है। उसके ही नामपर भेद चल रहा है। मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनोंका एक तरीका है। निर्विकल्पतासे देखो तो मतिज्ञान व केवलज्ञान निर्विकल्पक हैं। बाकीके विकल्प सहित हैं। श्रुतज्ञान भी विकल्प-सहित है। मतिज्ञान जो पहले जाना गया है वह जाननेमें आ गया। सर्वत्र जहां जैसा गुण-पर्याय है वहां वैसा जाना। ज्ञानका काम झलकाना है। माया लोभ रागमें होता है तथा क्रोध मान द्वेषमें होता है। वह उपयोगमें आता है। निश्चय कर लेवे मैं तो ज्ञानमात्र हूं। हे उपयोग! तू जान जा, यह सब औपाधिक हैं। हे ज्ञान! तू क्यों परेशान होता है? यह तो सब नाटकका खेल हैं। जिसमें विवश हो जाय उसको अन्तर रूपसे देखे तो वह वहांसे निवृत्त हो जाता है। अन्तरङ्ग आत्माको टटोलना चाहिए। वस्त्वन्तरभूत मोह लगा है, क्या यह विकार आत्माने किया है? मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति इनका कर्ता आत्मा है और यह निमित्त सन्निधान है। उन परिणाम विकारोंको करने वाला आत्मा है। परिणाम निमित्त सन्निधानको करके गुजरा, किन्तु रागद्वेषको आत्मा करता है। रागद्वेष बननेपर वह जीवपर बीतती है। जीवका ही सारा कार्य अटका है। जीव—कर्म भी स्वयं करता है तथा वही कर्म भोगता है। यह कर्ताभोक्तापन मिटे अतः इस धर्मकी आवश्यकता है। यह मिट सकता है। इस समय परिणाम विकारोंका कर्ता आत्मा है।

सो यह उपयोग विकारसे परिणमकर जिस जिस भावको आत्माके करता है उस उस भाव का आत्मा कर्ता होता है।

६०२. **अशुद्ध उपाधिमें विकारकर्तृत्व**—अनादि कालसे अन्य वस्तुके सम्बन्धमें मोह से युक्त होने से आत्मामें हो रहे मिथ्या दर्शन, अज्ञान, अविरतिभाव वह परमार्थसे यद्यपि एक प्रकारका है मगर अशुद्ध सांजन उपाधिरूप परिणमनसे तीन प्रकारका हो गया। अब उस विकारसे परिणमकर जिस-जिस भावको यह आत्मा करता है उस-उस भावका यह उपयोग करता है। जीवमें जो परिणाम विकार आया उसे निश्चयसे कौन करता है ? तो उसको यदि जीवद्रव्यका कर्ता कहते हो तो जीवद्रव्य सदा है, सदा कर्तृत्वका प्रसंग आ गया इसलिए जीवका जो उपयोग है वह उपयोग इस परिणमनको करता है।

६०३. **—धर्मपालनका निर्देश**—अहो, यह उपयोग तो चिन्मात्र स्वभाव स्वरूप बन रहा था। खुदके आश्रयभूत आत्मद्रव्यमें उत्पन्न होने वाली तरङ्गोंको ग्रहण कर लेने का इतना कठोर परिणाम हुआ कि बेचारा उपयोग अज्ञानीभूत होकर कर्तृत्वके भारको ढो रहा है। उपयोग ! इतनी तो हिम्मत कर, जितना जब वश चले इतनी तो हिम्मत कर कि पदार्थके यथार्थस्वरूपको जान और अपने स्वरूपको यथार्थ जान और जितना भी टिक सके उतना इस तत्त्वज्ञानमें टिक। देख तेरा कल्याण होगा, मेरा कल्याण होगा। अन्यथा तू भी क्लिष्ट है, मैं भी क्लिष्ट हूं। हे उपयोग ! तू और मैं कोई दो चीज नहीं; एक अभिन्न सत् है, परन्तु जब कुमति छा जाती है तो दो न होकर भी दो से हो जाते हैं। हाय कितनी बड़ी वि दा है आत्मदेवपर। लोकव्यवहारमें चन्द्र या सूर्यका ग्रहण पड़नेपर साधारण लोग भी चिल्लाने लगते हैं—भगवान्पर बड़ा संकट पड़ा, धर्म करो, धर्म करो। जब कि वहाँ कुछ भी भगवान्पर नहीं बीत रहा और न चन्द्र, सूर्य देवतापर बीत रहा और न चन्द्र, सूर्य विमानपर बीत रहा। वहां तो चन्द्र, सूर्य विमानके बहुत नीचे राहु केतु का विमान आ गया, निमित्त-नैमित्तिक भावसे यहां अंधेरा छा गया, चन्द्र सूर्य भी अस्पष्ट दीखने लगे। किन्तु यहां भगवान् आत्मदेवपर क्या बीत रहा है संकट; इसपर अन्तरमें आवाज नहीं आती कि अपने सर्वस्वरूप भगवान् आत्मदेवपर महान् संकट हो गया, धर्म करो। संकटका निवारण भी तो सुगम है। आत्मतत्त्वको निरखो, यही तो धर्म करना है।

६०४. **अकम्पनाचार्यसंघकी रक्षाबंधनकी घटना**—चतुर्थकालका समय था। जब कि उज्ज्वल भावसे तपस्या करने वाले तथा अन्तमें योगोंका भी निरोधकर मोक्ष पा लिया करते थे। इस कालमें पुण्यकार्य, धर्मकार्य, आत्मकल्याणके कार्य अधिक होते हैं। जीवोंकी भावना धर्मके प्रति उन्मुख रहती है। इसी कालमें पापी जीव अपने पापको भी खूब बढ़ा सकता है। यही कारण है अकम्पनाचार्य मुनिके संघपर श्रावण शुक्ला पूर्णिमाको जो

अलौकिक सुख सम्पदायें हैं। धौंससे छोड़ने वालेको कहाँ सुख मिलेगा तथा आडम्बर दिखाने वालेको भी क्या स्वात्मानुभूति होगी? स्वभाव दृष्टि वालेको जंगलमें भी सुख नहीं और स्वभावदृष्टि वालेको न घरमें, न देश विदेशमें कहीं भी दुःख नहीं है। किसीने बात नहीं मानी तो स्वभावदृष्टि वाला उसके निषेधमें कोई खास कदम नहीं उठायेगा और न वह अपना अपमान मानेगा। जबकि आलसी सड़ सड़कर पच पचकर विरोधमें, कलहमें, अपनी बात रखनेमें शक्तिका अपव्यय करते रहते हैं। ज्ञानी जनकी व्यवस्था दूसरे स्वयं करते हैं जब कि अज्ञानी जन दूसरोंसे याचना करके, लड़ करके घर व्यवस्था बनानेकी सोचता है। एक फौज कमांडर इन-चीफके हुक्ममें सभी फौज डटी रहती है। उसी तरह ज्ञानी जीवके बलपर अनेक सेवामें हाजिर हो जाते हैं।

६०१. ज्ञान और अज्ञानमें प्रवर्तनका दिग्दर्शन—एक नगरका राजा गुजर (मर) गया तो मंत्री सोच विचारमें पड़ गये, किसे राजा बनाया जावे? उन्होंने तय किया जो फाटक खोलने पर बैठा मिलेगा उसे राजा बनावेंगे। फाटक खोला तो एक साधु बैठा मिल गया। तब उससे राजा बननेकी प्रार्थना की गई। साधुने असमर्थता प्रकट की। इस पर मंत्रियोंने कहा, तुम केवल बैठे रहना और कुछ नहीं करना पड़ेगा। साधुने 'केवल बैठे रहना और कुछ नहीं करना पड़ेगा' इस शर्त पर राजा बनना स्वीकार कर लिया। अब तो साधुको राज्यकी ओरसे पोषाक प नना पड़ी। शत्रुने मौका पाकर आक्रमण करनेको लिखा। तब मंत्रियोंने साधु राजासे सलाह मांगी। अब तो साधु जी बोले, जिस पेटीमें हमारी लंगोटी रखी है उसे तो उठाओ। जहाँ उन्होंने यह कहा और मंत्री आदि लगे घबराने। लंगोट पहिनकर साधुका कहना था—'हमें तो इस रास्तेसे चलना चाहिए और आप लोग अपनी व्यवस्था को संभालें।' तत्त्वज्ञानी सर्वत्र सुखी हो सकता है। उसे तो अपने आत्मतत्त्व का साथ चाहिए। उपयोगका काम तो मात्र जानना है। उसका भी विकार क्या होगा? आत्माका स्वभाव चित्स्वभाव है उसका विकार क्या होगा? परन्तु देखो तो विचित्रता—अनादिसे वस्त्वन्तरभूत मोहप्रकृतिसे मुक्त होनेके कारण आत्मामें ये तीन प्रकारके परिणाम उठ रहे हैं। वे कौनसे हैं? मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभाव। सो यह कथा तो आत्मभूमिकाकी रही, अब आगेकी बात तो सुनो—ये तीनों तो हो जाते हैं निमित्तभूत; क्योंकि आत्मभूमिकामें ये तीनों हों और उपयोग इनसे बेखकर रहे, यह कैसे होगा? सो इन परिणामोंके निमित्तभूत होनेपर यह उपयोग जो कि परमार्थसे शुद्ध निरञ्जन अनादि निधन आत्मवस्तुका सर्वस्वभूत चिन्मात्रका भाव होनेसे एक ही प्रकारका है तो भी अशुद्ध, साञ्जन व अनेक भावताको प्राप्त होता हुआ उपयोग तीन प्रकारका होकर स्वयं अज्ञानीभूत हो जाता है। अहा, देखो लोहेके संगमें आग पिट रही है, ऐसा ही गजब यहाँ हो रहा है। अब देखो अज्ञानीभूत होता हुआ यह उपयोग कर्तृत्वभावको ढो रहा है

ब्रह्मका आदेश हुआ कि अब जहाँ तुम्हारा विवाद हुआ उसी विवाद स्थलपर जाकर ध्यान लगाओ। श्रुतज्ञान ने ऐसा ही किया। इतनेमें मोह, काम, राग और द्वेष इन चारों मंत्रियोंने अवसर पाकर, अदृष्ट अवसरमें, अंधेरी रातमें श्रुतज्ञानपर आक्रमण किया। किन्तु श्रुतज्ञान के योगके प्रसादसे वे आक्रमण विफल हो गये तथा चारों निष्क्रिय कीलित हो गये। औपचारिक धर्मको जब यह समाचार विदित हुआ, तब इन चारोंको जुगुप्सा वाहन पर सवार करके व्यवहार सीमासे बाहर कर दिया, याने राग, द्वेषके जो सभ्यता बाह्य व्यवहार हैं उन्हें व्यवहार सीमासे बाहर कर दिया।

६०६. अकम्पन आत्मापर उपद्रव और उसका रक्षण---ये चारों मंत्री वहांसे निककर अस्तनागपुरमें आये। अस्थिरता जहाँ खत्म हो जाती है ऐसा वह स्थान अस्तनागपुर था। वहाँके राजा पद्म अर्थात् हृदय कमलके मंत्री हो गये। राजा पद्मसिंहबल उर्फ विद्याबलकी प्रबलतासे बहुत दुखी था। मंत्रियोंने छल करके विद्याबलको पद्मके आधीन कर दिया। इस खुशीमें पद्मने मंत्रियोंको वरदान मांगनेको कहा। मंत्रियोंने प्रत्युत्तरमें अवसर आनेपर वरदान लेनेको कहकर भण्डारमें जमा कर दिया। इधर अकम्पन ब्रह्म निज संघ सहित विहार करते हुए अस्तनागपुर अर्थात् अस्त नष्ट हो गया है नाग = अस्थैर्य (अस्थिरता) जहां पर इस तरहके पुर = स्थानमें आये। वे अकम्पन ब्रह्म निज गुणसमुदित उद्यानमें ठहर गये। उत् अर्थात् उत्कृष्ट, यान = भावना, उत्कृष्ट भावना ही जिसमें जागृत होनेमें कारण है, इस तरहका ज्ञान वैराग्यसे हरा भरा बागमें सर्व आत्माओंने आश्रय पाया। सभी पवित्र गुण ध्यानस्थ हो गये। तब इन चारों मंत्रियोंने अपनी काली करतूतमें सफल होनेका अवसर जानकर छलसे सात दिनका राज्य मांगा। ७ दिनसे अधिक राज्य मांगनेकी हिम्मत नहीं हुई। क्योंकि अगर १५ दिनका राज्य मांग लेते तो पांचवां गुणस्थानकी कषायकी पराकाष्ठा हो जाती। प्रत्याख्यानावरण कषायका पूरा संस्कार समय इनकी कलासे परे था। राज्य पाकर इन्होंने उपद्रव करनेकी ठानी। अकंपन ब्रह्मको समस्त गुण साधुओं सहित निम्न प्रकारसे वेष्टित किया। उन मंत्रियोंने हड्डी, चर्बी, चमड़ा आदि दुर्गन्धित पदार्थोंसे वेड़ दिया। उस समय अति दुर्गन्धित देहादिको करके क्लेशकी तीव्र दाह लगा दी। उस समय ज्ञान विष्णु मुनिराजने अपने ज्ञानका केन्द्रीकरण किया और फिर इतना प्रसार किया, जिससे समस्त जैनधर्मका विशेष यशस्वी प्रभाव पड़ा। ३ दिनका रक्षासूत्र ज्ञानकी उपासना तथा आत्मजागृतिका ही सूत्र बाँधना था। क्योंकि कोई भी शुभ कार्य करनेके लिए हाथमें सूत्र बांधकर संकल्प करते हैं, यह उसीका प्रतीक है। इसके लिए जो हम जड़में भ्रमण कर रहे हैं, उसे छोड़कर सही तत्त्वपर आनेमें विलम्बकी आवश्यकता नहीं है। वर्तमानमें जो लोभ कषायका साम्राज्य छाया हुआ है, उसके लिए हमारे धनी मानी भाई अपने भाई बहिनोंकी

घोर विपत्ति उपस्थित की गई थी वह समय स्थापनामें आजका ही था। विधर्मियोंने आजके दिन जैनधर्मके महान् उपासक दिगम्बर साधुओंपर जो आपत्ति की थी; उसे सुनकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मान कषायकी पुष्टि यहाँ अच्छी तरह मिलती है। क्योंकि जब बलि आदि मंत्रियोंके द्वारा श्रुतसागर मुनिराजपर तलवारोंसे उपसर्ग किया गया था। उसी समय बलि आदि मंत्रियोंकी शक्ति धर्मके प्रभावसे कीलित हो गई थी। वह मूर्ख धर्मका रहस्य न समझ सके थे। इसलिए उनके राज्यसे निष्कासित होनेपर भी वे धर्मके प्रति विद्वेष भाव बनाकर बदलाकी मनमें ठाने रहे। यही कारण है वे अवसर पाकर अपना अभिमान रखनेके हेतु रत्नत्रयकी साक्षात् मूर्तियोंपर आपत्ति करनेसे दूर न रहे। शायद परलोक भी उनकी दृष्टिमें कुछ न था। तभी तो इस लोकमें एक बार लज्जित होकर दूसरी बार चेष्टा की। वह आपत्ति विष्णुकुमार मुनिराजके द्वारा शान्त हुई थी। इस पर्वकी शिक्षा वात्सल्य है। इस दिन मुनियोंके गले धुंआसे रुंध गये थे। तब श्रावकोंने मुनियोंको कोमल रसीली वस्तुओंका आहार दिया था। श्रावकोंने हर्ष उपद्रवकी शान्तिपर माना था। इस दिन बड़ा संकट टला था। इसलिए रक्षा हुई कहलाई ७०१ मुनियोंकी, किन्तु धीरे-धीरे समय निकलनेपर रक्षाका संकल्प लेकर रक्षासूत्र बाँधने लगे। यह रक्षाबन्धन व्यवहारमें हुआ। आत्मामें भी इसी तरह कथा चल रही है। जिसमें कंपन न हो वह अकंपन ब्रह्म (आत्मा) है।

६०५. अकंपन आत्माका प्रतपन—यह अकंपन आत्मा अनन्त शक्ति साधुओंके संघ सहित उज्जैन नगरमें पहुंचे। अर्थात् जिस भावमें उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त समाया हुआ है वैसे उज्जैन भावमें बिहार करते हुए वहां आये। उस समय वहाँ औपचारिक धर्मका राज्य था। उस राज्यके मंत्री मोह काम राग और द्वेष ये चार थे। वहाँ का राजा तथा सभी औपचारिक धर्मके साथी मुनियोंके दर्शन करने के लिए गये। तब इन चारों मंत्रियोंको भी जाना पड़ा। तब अकम्पन ब्रह्मने समझ लिया था कि संघपर आज उपद्रव होगा। तब अकम्पन आत्माने सभी मुनिराजोंको मौनावलम्बनका आदेश दिया। उन सभी को विकल्प न उठाना ही अपरिहार्य था। किन्तु श्रुतज्ञान ने यह आदेश नहीं सुन पाया था और सभी ने सुन लिया था। श्रुतज्ञान शुभविकल्पोंका आहार करके अकम्पन ब्रह्मके समीप आ रहे थे। तब रास्तेमें मोह, काम, राग, द्वेष मंत्रियोंकी भेंट हुई। उस समय इन मंत्रियों ने विवाद किये, जिनका उत्तर स्याद्वादगर्भित भावनामें दिया। उन्हें मार्मिक उत्तरसे सन्तोष नहीं हुआ। तब मंत्रियों और श्रुतज्ञानमें वादविवाद चला। उसमें श्रुतज्ञानकी विजय हुई तथा मंत्रियोंकी हार हुई, जिससे वे अपने मनमें जैनधर्मके प्रति विद्वेषकी भावना लेकर चले गये तथा श्रुतज्ञानने संघमें जाकर अकम्पन ब्रह्मको उक्त वृतान्त कह सुनाया। तब अकम्पन

एक कार्यकी खोजके लिए बड़ा भारी त्याग करना पड़ता है। जीवनका बहुभाग वैज्ञानिकों का जड़की खोजमें जाता है। उनके कार्य जड़ताकी नयी प्रणाली बना देना है। यह अपनी समझमें अपनेको जड़का उपासक नहीं समझते, किन्तु क्या वह इससे कुछ और ज्यादा कर पाते ? तब हमें कहना होगा उनका जीवन आत्मध्यानसे रहित जड़ ही बन जाता है। उन्हें क्या यह पाठ याद होगा कि प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणतिसे परिणमता है अन्यसे नहीं। यह समालोचना निजकी है जो पदार्थ सर्वथा असत् है उसका सद्भाव नहीं होता है व सत्का अभाव नहीं होता। जब वस्तुका स्वरूपास्तित्त्व है, वह परका निमित्त पाकर परिणमता है, किन्तु वह अपनी अभिन्न क्रियासे परिणमता है। जो पदार्थोंमें क्रिया होती वह स्वयं उनके द्वारा ही होती है किसी अन्यके द्वारा नहीं। आत्मा उपयोगस्वरूप है। उसका लक्षण भी उपयोग कहा है। 'उपयोगो लक्षणम्'। यह व्यवहारनयसे लक्षण किया है। निश्चयसे आत्माका लक्षण चैतन्यमात्र है। चैतन्य त्रैकालिक शक्ति विशेष है, वह उत्पाद व्यय ध्रौव्यमय रहता है। चैतन्यकी जो क्रिया है वह है परिणाम। चैतन्य इस गुणको छोड़कर नहीं रहता है। वह किसी न किसी परिणमनको करता हुआ रहता है। यह उपयोग पर्याय दृष्टिसे लक्षण कहा है। लघुसे लघु योनिमें रहनेवाला उपयोग बिना कोई आत्मा होता ही नहीं। यहाँ थोड़ी देरको अनर्थान्तर समझें तो उपयोगस्वरूप आत्मा है। इसे छोड़कर आत्मा रहता नहीं। उसी बारेमें यहाँ कह रहे हैं। यह आत्मा अनादि कालसे मोहसे वस्त्वन्तर मोहसे सहित है। मोहकी पुट आनेसे मोहनीय कर्म आत्मामें आता है। उसका उदय उदीरणा जब होता है तब इससे आत्मामें तीन भाव उठ खड़े होते हैं। जैसे विशुद्ध कांच है, उसके पास रंगीन वस्तु लानेपर उसमें उसी तरहकी परिणति हो जाती है। उसी तरह आत्मामें जो एकक्षेत्रावगाही कर्मोंका सम्बन्ध है उसके निमित्तसे आत्मा विकार करता है। यह तीन भेद-रूप है—(१) मिथ्यात्व, (२) अज्ञान, (३) अविरतिसे यह आत्मा परिणम जाता है।

६०९. **कर्मका मर्म**—हर एक कोई कर्मका नाम लेता है। कहता है—कर्मोंके फलको भोग रहा हूँ। कर्मोंकी ऐसी ही विचित्रता थी। अगर आध्यात्मिक रुचि वाला हुआ तो आत्माको कर्मकी उपाधिसे सहित मानता है या केवल आत्माका ही स्मरण करता है। कर्म व उपाधि क्या है ? कर्म तो वास्तवमें यह अर्थ रखता है—जो आत्माके द्वारा किया जाय उसे कर्म कहते हैं। आत्मनः यत् क्रीयते तत् कर्म। आत्मा जो करता है वह कर्म है। कर्म शब्दका साक्षात् अनौपचारिक अर्थ है आत्माकी क्रिया भाव परिणाम जो है वही क्रिया है। पुनः उसका निमित्त पाकर जो पुद्गलमें परिणाम होते हैं वही द्रव्य कर्म हैं, ये उपचार से संज्ञित हैं। आत्मा बाह्य पदार्थको निमित्त पाकर परिणमता। बाह्यमें कहते हैं आत्माने

रक्षा करनेके लिए तत्पर हो जावें तो उनकी आत्माका आशीर्वाद क्या आपकी कुछ भी रक्षा नहीं कर सकेगा ?

६०७. **रक्षाबन्धनपर्वकी सार्थकता**—सामर्थ्यवान् होकर अपनी दीनता दिखाना या चुप रहना शोभा नहीं देता। यही कारण है विष्णुकुमार मुनिकी तपस्या अत्यधिक उत्कृष्ट थी। विक्रिया ऋद्धि हो चुकनेपर भी उसका ध्यान नहीं था। वह अपने सामने ७०० मुनियों को संकट सहते नहीं देख सकते थे। उन्हें तो धर्मध्यानमें आपत्ति आये हुए मुनियोंकी रक्षा करनी थी। इससे तपस्याका मोह ठुकरा दिया। साधना समाप्त हो जायगी, इसे न विचार कर निष्कपट शुद्ध प्रेमसे ओतप्रोत हो धर्मका महान् कार्य किया। यह वात्सल्य व स्थितिकरण उनकी सामर्थ्यके अनुकूल था। यह पवित्रात्मा स्मरण कराता है। कितने धार्मिक जन अपनी कठिनाइयोंसे आगे नहीं बढ़ पाते। उन पारखियोंको चाहिए धर्मात्माजनोंको परखें व उन्हें जिस तरह हो सके आगे बढ़ावें। जैसा कि चिरोंजाबाई माताजी गणेशप्रसाद जी वर्णी जैसा धर्मरत्न सोंपकर कृतार्थ हुई। अमरचन्द्र जी दीवान गरीबोंको देखकर उनका पता चलाकर घरपर ही सहायतार्थ द्रव्य (रुपया पैसा) व अन्य सामग्री दे आया करते थे। जब कि आजकी लिप्साओंमें कोई हाथ पसारे भी आगे खड़ा हो तो नाक भौंह सिकोड़ने लगते हैं। जिस प्रकार भी बने लोक धर्ममें स्थित रहें। इसके लिए कषायोंका दलन करना पड़े, कष्ट उठाना पड़े उसकी परवाह क्या करना ? थोड़ासा कष्ट एवं विवेक बुद्धिका कार्य कितने कर्मकलंकोंको नहीं हटाता होगा। इस कार्यमें पीछे न रहने वाले महापुरुषोंके सपूत हैं। तभी यह पर्व जीवनमें कुछ दे सकता है अन्यथा इससे क्या लिया कहलाया। नहीं तो मौजसे घरपर पक्वान्न मिष्टान्न खा लिया, इससे भी कहीं पर्वकी महत्ताकी रक्षा हो सकती है ? यह सब असंभव कार्य है। आत्म-उत्थान भी तो अपनी रक्षा करना है। परिग्रह, लिप्साओं, तृष्णाओंको काम, क्रोध, राग, द्वेषके हवन कुंडमें होम देवें, फिर कुछ करनेके लिए पग बढ़ावें। औरोंकी विह्वलता देखो और उनकी सेवा करो, यह तो श्रेष्ठ कार्य लोक में है, किन्तु उससे सर्वश्रेष्ठ कार्य है—अपनी पराधीनता, विह्वलतापर दृष्टिपात करो, उन्हें दूर करो। कितने संकटोंमें से मैं स्वयं गुजर रहा हूँ, इसपर भी तो निगाह करें। जीवनकी अमूल्य निधि कौनसे कीचड़में फंस जावे इसका आगेके लिए क्या भरोसा है ? वह कीचड़ छुटानेकी सामर्थ्य तो जुदा रही, सुध भी नहीं रहेगी। तब हमें कौन निकाल देगा ? अपना कार्य तो अपनेसे ही होना है। यही पर्वकी सार्थकता सिद्ध करती है। यही जीवनके अमूल्य क्षण इस कार्यके लिए सर्वोपयोगी हैं।

६०८. **निजका समालोचन**—जिस तरह वैज्ञानिक पद्धतियोंमें भौतिक चीजोंका प्रयोग किया जाता है। एक वस्तुका दूसरीमें प्रयोग करके कुछ सीखते हैं। इस तरह उन्हें

पति होता है। फिर भी वह सोचता है, मैं ही अनोखा चक्रवर्ती थोड़ी हुआ हूं। मुझसे पहले और भी हो गये हैं। दूसरी श्रेणीका धन वैभव नारायणके पास होता है। वह भी उनके पास नहीं रहता। आज तो किसीके पास क्या धन है ? ज्ञानकी वात श्रुतज्ञान इन्द्रिय मनके ज्ञानको भी छोड़ दें तब भी १२ अंगके पाठीके सामने आजके मनुष्यके पास क्या वैभव है ? यहाँ देखें तो हम कितनी विपत्तिमें पड़े हुए हैं। हम यहां अपनी उन्नति ही नहीं कर पाते, दूसरेकी तो करेंगे क्या ? जीवका मुख्य स्वभाव चैतन्य है। यह प्रतिभास होता रहे तो बहुत-सी विपत्तियोंसे छूटकारा पा सकते हैं तथा जो विकार रूप परिणाम हैं वह मैं नहीं हूँ—इस प्रतीतिके बलपर अपने ही समीप बसे। रागद्वेषका अपनेको कर्ता न माने एवं उस ओर उपयोग भी न ले जावें—यह कल्याणप्रद है। यह उपयोग कहीं बाहरसे नहीं आया है। इसे करने वाला आत्मा ही है तथा सिद्धान्त भी यह कहता है—रागद्वेषका कर्ता यह अशुद्ध आत्मा ही है। दूसरी अपेक्षासे कर्मकी वजहसे यह हुए हैं। यह दोनों पक्ष उपादेय हैं। ज्ञानावरणादिके होनेपर जीवको भाव कर्म प्राप्त होते हैं। इन सबका (रागद्वेषका) मूल कर्म है। ज्ञानीने क्या देखा, ज्ञायक स्वरूप मात्र निरखा। कदाचित् यह ऐब लग जावे आत्मा रागद्वेषका कर्ता ही तो है [तब आत्माके ज्ञान दर्शन स्वभावपर दृष्टि कैसे जावेगी ? तब एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे कहा जाता है कि रागद्वेष कर्मकृत है। कर्ममल आत्मामें निमित्त रूपसे हैं। वे रहें किन्तु वे कर्म उपादानसे जीवराग आदिके कर्ता नहीं हैं। कर्मकी पर्याय आत्मामें निमित्त होती ही हो, यह न कोई कारण है और न कार्य है। परस्परकी ये पर्यायें निमित्तनैमित्तिक हैं तो इस दूसरे उपायके बारेमें कह रहा हूं। इन विकारोंमें शुद्ध निरञ्जन तत्त्व विराजमान है, वह गया नहीं किन्तु अञ्जन सहित विकार भावको परिणत हो गया है। तब यह अज्ञानमें फंस कर्ता मानने लगा है।

६१२. **विवेककी अनुकम्पा**—वस्तुस्वरूपके विपरीत दृष्टि न होनेपर आत्मा अपनेको स्वतन्त्र मान सकता है। जिस-जिस परिणामको यह आत्मा करता है वैसे-वैसे परिणमनका कर्ता यह होता है अर्थात् रागद्वेषको ग्रहण करता है। परिणमनेमें निश्चयमें एक कर्ता है तथा एक व्यवहारमें। यह आत्मा परमात्माकी साक्षीसे गुजर रहा है। इसमें रागद्वेष होते हैं उसमें निमित्त कर्म है, इन कर्मोंके साथ अनादि कालसे भटकते चले आ रहे है। इनसे संभलनेका उपाय एक विवेक है। हम अपनी परिणतियोंको कह नहीं पाते हैं। जब विकार नष्ट हो जाते हैं तब निज आत्मस्वभाव प्रकट हो जाता है। विकार तो क्षणिक हैं, मिट जाते हैं। मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ, चिदानन्दमय सत् हूँ। मुझमें परका प्रवेश नहीं है। पुत्र स्त्रीका वैराग्य तो कलहसे भी हो सकता है, किन्तु विवेकपूर्वक रागोंसे हुआ वैराग्य आदि मध्यमें और अन्तमें एकसा रहता है। बाह्यमें अरुचि हो जावे तथा अपना सत स्वरूप-

कर्म बांधा। वह कर्म चार तरहसे आत्मामें आते रहते हैं--(१) प्रकृतिबंध, (२) प्रदेशबंध, (३) स्थितिबंध और (४) अनुभागबंध रूपसे। इन रूपोंको लेकर कर्म आत्मामें बंध जाता है। तब वह वस्तुस्वरूपके विपरीत भाव बनाता है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है। उसे न खोजकर बाह्यमें रमता रहता है। यह परिणाम बाह्य निमित्तको पाकर होता है। कर्म व उपाधिमें अन्तर डालना चाहो तो जिस समय निमित्त हो रहा है उसे उपाधि बोलते हैं। उदयापन्न जो कर्म है उसे उपाधि कहते हैं। आधि = आन्तरिक दुःख। उप = समीप। जो आन्तरिक क्लेशके समीप पहुँचावे उसे उपाधि कहते हैं। विशेष उपाधिमें भ्रमण करता है। आन्तरिक क्लेश को जो साथमें पहुंचाता है।

६१०. उपाधिका प्रभाव—थोड़ा पढ़कर जो गर्व आता है वह उपाधिकी चिन्तनामें ही तो आता है। एक बाबू जी काफी अंग्रेजी, संस्कृत पढ़ लिख कर सैर करने चले। वह समुद्रके किनारे पहुंचे। वहां उन्हें सैर करनेकी सूझी। तब उन्होंने नाविकसे समुद्र में चलनेको कहा। उसने आठ आना पैसे लेना मंजूर किया। अब नाविक बाबूको नाव में बैठाकर ले गया समुद्रमें। इतनेमें यह बाबू कहता, क्यों नाविक ! तुम अंग्रेजी पढ़े लिखे हो ? नाविक कहता, अंग्रेजी वग्रेजी कुछ नहीं जानता। बाबू जी फिर कहने लगे, कुछ संस्कृत हिन्दी जानते या नहीं ? नाविक बोला बाबू जी मैं नहीं जानता। तब बाबू जी बड़े गुस्सा हुए। इन्हीं लोगोंने भारतको बर्बाद कर दिया है। ये मूर्ख कुछ भी पढ़े लिखे नहीं हैं। इनके ए० बी० सी० डी० भी नहीं आती है। इसके बाद नाव कुछ आगे चली, तो जोरकी आंधी आई और समुद्रमें भंवरें उठीं। इस पर मल्लाह बाबूजीसे बोला—आप तैरना जानते हैं। वह बोला मैं तैरना नहीं जानता। तब नाविक ने कहा, यह सिडी मुझे ए-बी-सी-डी सिखाने चला। अब नाविकने भी बदला सोचकर कहा, इन मूर्खोंने भारतको गारद कर दिया। यह नालायक पढ़ पढ़ कर शारीरिक काम नहीं करते, केवल हमारे शरीरके खूनको चूसनेपर सवार रहते हैं, यह विलासिता बढ़ाते जाते हैं तथा हमें गरीबी देते जाते हैं। यह सब कहकर वह तो समुद्रमें कूद पड़ा तथा उसे मझधारमें छोड़कर चल दिया। यही संसारकी लीला है। जो कोई भी जानता है या करता है वह सब अपने लिए ही करता है। जिसमें पूर्ण विश्व प्रतिभासित हो वह चतुराई है। यहाँ गर्व करने लायक बात ही क्या है ? हम कितने फंसे हुए हैं, इस पर विचार करें। बाहरी अनेक काम किए जाते हैं तथा बाहरी अनेक बातें जानी जाती हैं, फिर भी हम सफल नहीं हो पाते हैं तो कोई कचरा जरूर लगा है।

६११. अज्ञानमें कर्तृत्वका आशय--जिस गर्वके मारे फूले नहीं समाते हैं उसका क्या विश्वास है वह तुम्हें सुख देगा। धनवैभव पाकर क्या पा लिया ? वह तो कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है। वैभव तो चक्रवर्तीके पास होता है जो कि छहखण्ड पृथ्वीका अधि-

एक ही भावना चलती रहे। घरमें अनेक घटनायें आती हैं। क्रोधका अवसर आनेपर, मान का अवसर आनेपर भी सोचे—मैं तो केवल भावको ही कर रहा हूं, अन्यको नहीं। परवस्तु न मेरा हित करती है और न मैं उसका ही कुछ करता हूँ। गुरु द्रोणाचार्य जी के पास सभी छात्र पढ़ रहे हैं—क्रोध मत करो। युधिष्ठर भी पढ़ रहा है। युधिष्ठिरका पाठ सुनाने का अवसर आता है तो कहता है गुरु जी ! याद नहीं हुआ। दूसरे दिन पूछा तो कहता याद नहीं; फिर तीसरे, चौथे दिन आदि कई दिन पूछा तब भी कहे याद नहीं हुआ। फिर जब युधिष्ठर याद हुए पाठको जीवनमें उतार चुका तब कहा—अब याद हो गया। प्रतिदिन के चलने वाले पाठोंका क्रम सुननेका आता रहता ! छात्रोंसे प्रश्न किया तो कहें—हाँ गुरु जी, याद हो गया। इस तरह एक बारगी सभी कह जावें। युधिष्ठिरका नाम आया तो बोला—गुरु जी ! याद नहीं हुआ। तब गुरुजीने बेंतोंकी मार दी। इसपर शान्त होकर कहता—हाँ गुरु जी ! अब याद हो गया। मैं क्रोध व दुःखको भी अपने अनुभवमें नहीं लाया और शान्त रहा, तब प्रतीति हुई मुझे याद हो गया अर्थात् जीवनमें यह बात चल सकेगी। उसका सिद्धान्त था 'जो पढ़ो उसे जीवनमें उतार लो'।

६१५. **बुद्धिबलके सदुपयोग करनेकी दृष्टि**—जब तक समयसार (आत्माका सार जानना) उत्सव चल रहा है तब तक तो दृढ़ प्रतीति कर लेवे 'मैं केवल भावको ही करता हूं। मुझे अच्छे बुरेपनको नहीं देखना है और न मैं उसे देख पाता हूँ। बुरे वचन सुननेका भी प्रसंग आवे तो अपना पर्व समझ कर वहाँसे अपने विचारों को शीघ्र हटा लेवे। विचार यह करे 'मुझे तो अपना समय धर्मचर्चामें ही लगाना चाहिए। यही मुझे कार्यकारी है, इसीका यह अवसर है। इस आध्यात्मिक अवसरमें कुन्दकुन्दाचार्य जो कह रहे हैं, वह एक ही बात कह रहे हैं। यहां अनेक बातोंको रटने के लिए बुद्धिबल भी नहीं लगाना है। फिर क्यों न उस पर अमल करूं ?' यह प्रश्न करके स्वयं उस रूप परिणति बनाने में ही समाधानरूप है। अपने स्वरूपास्तित्वके समीप जाकर विचारे, 'मैं इतना ही कर पा रहा हूं। जड़ पदार्थसे मुझे क्या मिलने का ?' धर्मका आचरण करना एवं इस तरहकी दृष्टि बनाना अति सुगम है और जो न करे उसे अति कठिन है। जैसे मुसाफिर सफरमें जाते समय टिफिनमें भोजन रखते हैं। जो उसको हर एक जगह खाने में भी घृणा नहीं करता। वह रेल, मोटर सड़क, नलके पास चौराहे आदि पर कहीं भी खा लेता है। इसी प्रकार जिसने आनन्दरूप परिणमन कर लिया है. अन्तरङ्गमें एक भावना बनाली है उसे इस स्वात्मानुभव भोजनको निकाल कर खानेमें देर नहीं लगती। उस अभ्यासी पुरुषको सेकण्डों भी नहीं रुकना पड़ता है। वह दुर्गम नहीं है। जिस बुद्धिके क्षयोपशमके बलपर सैकड़ों, हजारों, लाखों करोड़ोंका व्यापार कर लेते हैं, वे क्या आत्मतत्त्व जैसी सरल बात न जान

पर दृष्टि जम जावे एवं उसीका विश्वास हो जावे, तब समझा जावे असार संसारमें मानव-जीवन पाकर कुछ पा लिया। जिसकी विकारोंकी ओरसे दृष्टि हट गई है वह घरमें रहता हुआ भी वैरागी है। जिसके मनमें यह बात नहीं समाई है वह घर छोड़नेपर भी वैरागी नहीं हुआ है। यहाँ तो मन साधना है। मनको सर्वविषयोंसे हटाकर एक अपने आत्मस्वरूप पर केन्द्रित करनेसे लाभ ही लाभ है। यह जिनवाणीकी पवित्र चर्चा कर्णगोचर होनेसे परिणामोंमें परिवर्तन होना चाहिए। यह ऋषियोंकी चर्चा सौभाग्यसे प्राप्त हुई है। यह श्रेयमार्गपर ले जावेगी जो इसके अनुसार चलेगा। इस भारती (वाणी) में सच्चे दिलसे अवगाहन करने वाला परमपवित्रताको प्राप्त करेगा। यह जिनवाणी क्या कुटिल मनमें प्रवेश पा सकेगी? यह संभव प्रतीत नहीं होता। सरलता रहनेपर इसको प्राप्त किया जा सकता है। इससे कहना होगा यह पवित्र वाणी सरलताका अनुकरण करने वाली है। सरल स्व-भावीमें यह सहज स्थान पाकर अपना गौरव स्थापित करती है। यह अमृतकी बेल अनेक भवोंके विषोंको अमृतरूप बना देती है।

६१३. निजभावका कर्तृत्व—कल यह बात आई थी, आत्मा मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिके विकार भावोंको करने वाला है। इससे आत्माको उन भावोंका कर्ता कहते हैं। करने वाला निश्चयसे स्वयं कर्ता ही है। मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भावोंको ही यह जीव कर सकता है। दृढ़तासे अगर एक भी बात समझमें आ जावे तो भला है। उस भावनामय परिणत हो जाय तो निजका परका अन्तर दीखने लगेगा। केवल मैं अपने भाव कर रहा हूं, उन्हींको कर पाता हूं। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कर पाता। यह मनुष्य अनेक तरहके पुलाव बाँधता रहता है। मैं वह करूंगा, मैंने ऐसा किया, मेरे द्वारा संसारके कार्य किये जाते हैं इत्यादि निरर्थक विचार हमेशा पैदा करता रहता है। यह विकल्प कैसे दूर हों, यह भावना आ जावे तथा अपने बारेमें स्वयंको आदेश देता हुआ कहे 'तू जो कर रहा है, वह तू नहीं कर सकता है, तेरा वहाँ प्रवेश नहीं है, तू तो अपने भाव मात्र करता है। स्त्री खूबसूरत है, सेवाभावी है या कर्कशा है, दुष्टप्रकृति की है। पुत्र आज्ञाकारी है या विरुद्ध चलने वाला है। बड़े भाई साहबका मैं ऋणी हूं, वह मेरे शुभ-चिन्तक रहे या पढ़ानेमें पीछे हट गये, फूटी आँखों भी अमुक व्यक्ति मुझे नहीं देखना चाहता। अमुक व्यक्ति बड़ा सज्जन है या अमुक दुर्जन है—इस तरहकी अनेक बातें किस तरह रंग रंगकर अपने पास आती हैं?

६१४. स्वके अध्ययनका प्रयोग—इन सबके विरुद्ध सोचे—मैं तो स्वतंत्र हूं, मैं अपने परिणमनके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा हूं। सत्यज्ञान बने तो आस्रवकी निवृत्ति होगी। एक ही भाव रख ले, एक ही सबक चलता रहे। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल

अपने भाव बनावेगा तथा अशुद्ध भावोंमें भी आत्मा अपना ही परिणमन करेगा। शुभ अशुभ परिणमन आत्मा करे, उसमें प्रकृतिबन्ध स्वयं ही होता है। उसमें अन्य कोई कारण नहीं पड़ता है। जैसे प्रातःकाल सूर्य निकलते ही तालावोंमें कमल स्वभावत: खिल जाते हैं। चकवा चकवीका जोड़ा जो रातभरकी बिछुड़नसे हुई तड़फसे तड़फा था वह आपसमें मिलकर प्रमुदित होता है। मनुष्य अपने-अपने काममें संलग्न हो जाते हैं, किन्तु यहाँ सूर्यने कुछ कर नहीं दिया, ये कार्य स्वयंकी प्रेरणासे चल रहे हैं। यहाँ केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव परके बारेमें कुछ नहीं विचारे, वह परका कर्ता नहीं हैं। जो कर्ता मानता रहेगा, उतना ही संसारको बढ़ाता जायगा। कर्मको साक्षात् तो ऐसा जान नहीं रहे। लेकिन आगम को जाना, उसपर दृढ़ता हुई जिससे कर्म समझमें आ रहा है तथा अपने स्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति होना चाहिये, क्योंकि स्वरूप स्वभाव है। इतने पर भी कोई वस्त्वन्तर लगा है जिससे विविध परिणमन करते चले जा रहे हैं। अगर यह वस्त्वन्तर न होवे तो विविधता नहीं है। जहां भी विविधता आती है वहां वस्त्वन्तर कारण है। इस वस्त्वन्तरको किसी नामसे कहलो, यहां इसे कर्म कहा है यह विपत्ति ही है कि एकके द्वारा दूसरेका किया जंचना माना जावे। आकुलित, दुखित होनेका कारण भी यही है। प्राणी इस सहजके निजस्वरूपको जाननेसे गुमराह रहते हैं। वस्तुस्वरूपसे अन्य प्रकारकी दृष्टि रहना, स्वरूप विरुद्धका प्रमुख उदाहरण है। संयोगभावकी बुद्धि, मिथुन बुद्धि, मिथ्याबुद्धि के अलावा और आकुलता करने वाला ही कौन है? यही दुःखके कारण हैं। आकुलता होती है तो मेरा इसको हटानेका अधिकार है तथा इसका मुझपर कोई अधिकार नहीं है। इसे हटाना मेरा कार्य है। आकुलित रहना मेरा स्वभाव नहीं। आकुलता को तिरोहित करनेका अपना उद्यम होना चाहिए। स्वस्वरूप परिणति आवे उसका ही आराधक बन सकूं—यह भावना हितके मार्गपर ले जानेमें समर्थ है। जो भी भला बुरा किया जाता है वह अपना ही किया जाता है और दूसरे किसीका नहीं। परकी ओरसे कर्तृत्वबुद्धि हट जानेपर अतुल आनन्दका अनुभव किया जा सकता है। यह कर्तृत्व बुद्धि अनादिकालसे भंवरोंमें फंसा फंसा कर चक्कर लगानेमें सहायक हो रही है। जितने भी सिद्धान्त हैं वहाँ सिद्धि एवं सफलताका मार्ग नहीं मिलता है। मुख्य कारण परको अपना मानना तथा पर मुझे कुछ कर देता है—इस भावनासे ग्रस्त होनेका परिणाम है। जिस किसीके भी पास कर्तृत्व बुद्धि घर बनाये हुए है वह शान्तिके मार्गसे बहुत दूर हट जाता है।

६१८. विवेकसे संकटोंपर विजय—समता बुद्धि सब सुखोंका मूल है। शत्रु मित्र किसीकी परवाह न करके अपनेपर अडिग रहना सुखका कारण हो सकता है तथा असंख्यात-प्रदेशी रूपादिसे रहित निर्विकल्प अपनेमें अपना भाव ही कर पाता हूं, इसके अतिरिक्त कुछ

सकेंगे ? इस तरहका यह मानव बाह्यमें प्रभुता रखने वाला क्या अपनेको नहीं जान सकता है ? यह आत्मकार्य तो सबसे सुगम कार्य हो सकता है। एक बार मोह तो छूट जावे, वस्तुस्वरूपका दृढ़ ज्ञान तो हो जावे।

६१६. हित अहितके विवेकसे भलाई—जिन्होंने ब्याह किया, उन्हें मिला क्या ? एक हाड़ मांस की चर्मवेष्टित मूर्ति मिली, जिसपर जीवन भर रीझता रहा, उसके पीछे पैसा कमानेको कितनी झंझटें नहीं उठाईं। पुत्र पुत्रियाँ पैदा किये, उनका बचपनसे पालन पोषण किया, पढ़ाया लिखाया, विवाह कर दिया। अपने हाथ क्या रहा, क्या नफा हुई ? तो गैरनफा का सौदा स्त्री पुत्र तो सुगम हैं किन्तु जिसमें बड़ी भारी नफा समाई हुई है वह क्या कठिन प्रतीत हो रहा है ? मुझे एक वृद्ध मिले। वह अवस्थामें अधिक हो चुके थे। उनकी स्त्री भी थी। उनसे ब्रह्मचर्यको कहा गया तो असमर्थता प्रकट कर दी। यह विषयभोगोंसे छूटनेकी बातें कब समझमें आवेंगी सो नहीं कह सकते। कोई तर्क करते हैं—मैं आजीवन ब्रह्मचर्यसे रहूंगा, इसी तरह और भी रहने लगें तो सृष्टि ही चलना बन्द हो जावेगी या नाम नहीं चलेगा। सृष्टिकी चिन्ता इसे क्यों पड़ी ? वह तो चल रही है, चलती रहेगी। नाम रहा भी किसका जगत्में ? अगर तूने अपना ही उद्धार कर लिया तो तेरा असली नाम तो प्राणी मात्र लेंगे। अपने एकत्त्वपर दृष्टि आना क्या कुछ कम मिलना है ? एकाकीके अलावा यह है भी क्या ? शरीरका पुद्गल भी तो इसका साथ नहीं दे रहा। सब कुछ कर चुकनेके बाद भी जो आत्मापर दृष्टि नहीं देते, उनका क्या भवितव्य है ? इसे वह स्वयं संसारी प्राणियोंमें देख सकते हैं। अनेक आत्मायें हम जैसा ही अस्तित्त्व तो रखती हैं। तब भी कोई एक अत्यन्त दुखोंसे पीड़ित है तथा कोई सुखके पीड़ित है। वह सुखकी तृष्णायें इसे शान्ति नहीं लेने देतीं। जो वैराग्यकी वृद्धि, परसे निवृत्तिकी बुद्धि शुरूसे ही आ जावे तो उनके आदर्शको देखो। उनकी बुद्धि समागममें नहीं रमती। समागम उन्हें दुखदाई, आकुलता बढ़ानेवाले प्रतीत होते हैं। महापुरुषोंके चरित्रपर दृष्टिपात करना चाहिए। उन्हें बार बार पढ़े, उनसे कुछ सीखे। वर्तमानके महापुरुष चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज एक ही थे। जिसके गर्भमें आते ही मांने शुभ स्वप्न देखे थे। उनके मनमें बचपनसे ही ससार नहीं बसा था। उनकी आत्माका उद्भूट तेज कितनोंको आलोकित नहीं कर गया। ऐसे दिव्य महापुरुषोंके चरणोंमें माथा स्वतः श्रद्धासे नत हो जाता है।

(इसके बाद दो दिनका प्रवचन नहीं लिखा जा सका)

६१७. आत्मकर्तव्य और नैमित्तिक स्थितियां—इस समय हम इतना तो कर ही लेवें 'हम अपनी प्रतीति बनाये रहें'। अगर मैं कुछ कर पाता हूँ तो अपना भावमात्र कर पाता हूँ। किसी भी कार्य करनेको मैं सर्वथा असमर्थ हूं। आत्मा शुद्धभावोंको करे तो

६१९. भावकर्तृत्व और कर्मपरिणमन—आत्मा जिस भावको कर्ता है वह उसी का कर्ता होता है। उस स्थितिमें पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूपसे परिणम जाता है। वस्तु स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूपको लिये हुए है और प्रति क्षण परिणमती रहती है। हाँ पर-उपाधिके सम्बन्धसे विभावरूप परिणमती है, उपाधि स्वभावरूप परिणमती है, किन्तु पदार्थ अपने आपको ही परिणमाता है। न तो कोई पदार्थको परिणमाता और न दूसरे पदार्थसे परिणमता है। आत्मा जिस भावको करता ह उसीका कर्ता है। आत्मा जिस रूपसे परिणम रहा है वह उसका कर्ता होता है। हम न करते हैं तो बुद्धिपूर्वक क्या करते हैं? उसे तो हम थालीमें से उठाकर मुंहमें रखा पेटके अन्दर निगल जाते हैं तथा उससे रस, रक्त, मज्जा, वीर्य स्वतः बनता है। वहाँ की ताकत काम नहीं कर रही है। प्रत्येक पदार्थकी शक्तिसे प्रत्येक पदार्थमें परिणमन हा है। आत्मामें जो रागद्वेष परिणाम हो रहे है, वह शुद्ध निश्चयनयसे आत्माके नहीं शुद्धनिश्चयनयसे ही आत्माके माने जाते हैं। जैसे सीधेसादे मनुष्यको ठगने वाले बहुत मिल जाते हैं। लेकिन ठगने वाला अपनी चतुराई समझता है। किन्तु क्या वह अपने को भी ठग सकेगा? इस ठगने वाले मायाचारीमें कर्म तो अपना जबर्दस्त बन्धन डाल तथा भोलाभाला सीधा मनुष्य मुँहसे भले कुछ न कहे, किन्तु वह सब समझ रहा है। आत्मा अन्दरसे दुखती रहती है तथा उसको अपनेसे बड़ा माना तो उस कुशल ठगसे जाता है। लेकिन समय पाकर भोले सीधे मनुष्यके भी तूफान उबल पड़ते हैं, तब ठग करनीपर पश्चात्ताप करता है। लेकिन वह अपयश पश्चात्ताप नहीं धो सकता है। वाली आत्माका जो परिणाम हुआ वह उसका घातक है। यहाँ उसका घात दूसरेने किया तथा जो पुरुष ठगा गया वह खुदमें नहीं ठगा गया है तथा जिसने बड़ा भारी मान लिया है वह सब अपनी तृष्णायें, लिप्सायें बढ़ा लेनेका कारण है।

६२०. निमित्तनैमित्तिक प्रसंगमें भी सबका स्व-स्वमें परिणमन—आत्मा उस उस मनसे जिस जिस कर्मोका कर्ता है उसका यह कर्ता कहलाता है। उस निमित्तके होने द्गल द्रव्य कर्मरूपसे स्वयमेव परिणमता है। जैसे कोई साधक किसी विद्याका साधने या मंत्रवादी विष उतारने वाला, कुछ आश्चर्यकारी काम करने वाला करता क्या है? कारके ध्यान भावसे परिणमता है तो वह ध्यानका कर्ता है। उस ध्यान भावके होने समस्त साध्य भावकी अनुकूलतासे, निमित्त मात्र होनेसे वह साधक कर्ताके बिना यह स्वयं हो जाता है। जैसे बिच्छूने डस लिया तो मंत्रवादी मंत्र पढ़ता है तो साधकने किया? अपने ध्यानभावका परिणमन। और उस शरीरमें क्या हुआ? वह विषका । तो विषका उतरना हो रहा है वह इस साधक कर्ताके बिना हो रहा है, अर्थात

भी करनेमें समर्थ नहीं हूं—इस प्रतीतिका होना सुखका कारण हो सकता है। जिसे ज्ञानकी रटन लग गई ऐसा वह ज्ञानानन्द स्वभावीकी समाधि ज्ञानका कारण बनती है। पदार्थोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपका ज्ञान उसकी समाधिमें झलकनेको प्राप्त होते रहते हैं। चारुदत्तको एक संन्यासीने रसका प्रलोभन बताकर कुएंमें ढकेल दिया। कुएंके कष्टोंको तो कुएंमें गिरने वाला ही जान सकता है। वह दैवयोगसे गोहकी पूंछ पकड़कर ऊपर आ जाता है। आगे चलने पर भयंकर अजगर सर्प रास्तेमें पड़ा हुआ मिलता है। सर्पसे बचनेका रास्ता पीछे को लौट जाना है तो पीछेसे मदोन्मत्त हाथी सूंड हिलाता चिंघाड़ता हुआ दौड़ता आ रहा है। चारुदत्त सर्व ओर देखकर सर्पको कूदकर हाँफता हुआ निकल जाता है। यह चैतन्य प्रभु विषयाधीन होकर संकटोंको भी उस समय कुछ नहीं मान पाता है। विषय कषाय सर्प के समान जहरीले हैं, किन्तु उन्हें जानकर भी यह मूढ़ प्राणी बरबस उस ओर दौड़ता फिरता है। यह कितने भ्रमजालमें पड़कर परमें फंसता फिरता है। पीछेसे अज्ञान या यमराज लग रहा है। यह अपने ज्ञानानन्दस्वभावको विस्मरण कर विषयरूपी विषवेलकी पुष्टि करता रहता है। यह पढ़ लिखकर, विद्वान् बनकर, पटु बनकर भी विषयोंका लोलुपी बनकर अपनेको बर्बाद कर रहा है। कुछ विवेकका सहारा मिला तथा जीवनमें तत्त्वज्ञान जग जानेपर भी कभी-कभी सन्देहके हिंडोलेमें भूलने लगता है। कुछ किया भी है तो उसमें मान बड़ाई की पुट आ जाती है। मान बड़ाईकी बू आई और तत्त्वज्ञानसे चौपट हुए। यह लोभ बड़ों बड़ोंको भ्रष्ट करनेमें सर्वशक्तिमान है। मैं अमुक करता हूं—यही बुद्धि पथभ्रष्ट कर रही है। विकल्पजालोंमें स्वयं फंसकर अपना घात करते जा रहे हैं। 'तिलकी ओट पहाड़' कहा जाता है। तब सुनकर आश्चर्य होता है। किन्तु यह ठीकसा प्रतीत होता है, क्योंकि आंखके गोलकपर तिल भी लग जावे तो पहाड़ क्या, कुछ भी नहीं देख सकेंगे। थोड़ेसे भ्रम की चीज आई और विषयकषायोंमें फंस कर तत्त्वज्ञानसे रीता हो जाता है। ज्ञानी पुरुष विषय विषधर सर्पको एकदम कूद जाते हैं, पार कर जाते हैं तभी वे अपने स्वाधीन चैतन्य विश्रामभवनमें पहुंचकर सहज सत्यविश्राम करते हैं। इस परमब्रह्म के दर्शन होनेपर पूर्वबद्ध कर्मके विपाकसे जो कुछ करता है वह न करना ही है। लोग भी निष्काम कर्मयोग मानते हैं। अर्थात् इच्छाओंका निरोध करके कर्मयोग करना। इससे भी उत्कृष्ट कार्य है अपने में रत हो जाना। स्वरूपास्तित्वका भान होता है तब यह भावना जागृत होती है, तब कर्तृत्व बुद्धिका स्थान ही नहीं रहने पाता। कोई किसीका कुछ करता नहीं है। जीवके विभावको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल स्वयं ही कर्मरूपसे परिणम जाता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गल दव्वं ॥६१॥

परम्परासे मोक्षका कारण भी बन सकता है। लेकिन व्रती भी हो गया तथा दयासे रहित है तो दुर्गति ही होती है। किन्तु अव्रती होकर भी दयासे सहित है वह सद्‌गतिका पात्र बनता है। विषयकषायोंकी पुष्टिसे किसी को आज तक भी सुख नहीं मिला। एक विषय-सेवन करने वाला दूसरे को भी घृणा की दृष्टिसे देखता है, तब सुमार्ग पर चलने वाले स्वप्नमें भी कभी उसकी प्रशंसा नहीं कर सकते हैं। आँख मींच कर दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंककर विषयलम्पटी बनने पर स्वयं दुःख भोगना पड़ेगा।

६२२. स्वभावकर्तृत्वका प्रतिबन्ध होनेसे स्वयं ही स्वयं का शरण्यपना—भैया ! कोई किसीका शरण नहीं है। अपने-अपने परिणमनको संभालो, अपना निर्मल, स्वाधीन परिणाम ही अपनेको शरण होगा। यह आत्मा उस रूपके परिणमनरूप अपने आपके द्वारा जिस भावको करता है उसका ही यह कर्ता होता है। उस प्रकार परिणमते हुए जीवको निमित्तमात्र करके पुद्‌गलकर्म स्वयं कर्मरूपसे परिणमते हैं, अन्य जीव स्वयं अपने कषायके अनुरूप परिणमते हैं। आत्माके द्वारा न तो कोई एक क्षेत्रावगाहस्थित भी अन्य द्रव्य परिणाम सकता है और न बाह्य क्षेत्रमें स्थित अन्य द्रव्य चाहे चेतन हो या अचेतन, परिणाम सकता है। लोकमें भी देखो, एक मन्त्रवादी यदि सर्पदंष्ट्र मनुष्यके सर्पका विष उतारता है तो वह वास्तवमें करता क्या है ? वह तो अपनी भक्ति, ज्ञान व विश्वासके अनुरूप शुभ-विचारात्मक मन्त्रके ध्यानमें ही रहता है। वह विष वाले मनुष्यमें कुछ व्यापार नहीं करता है, परन्तु उस मन्त्रवादी मनुष्यके व्यापारको निमित्तमात्र करके विषकी व्याप्ति दूर हो जाती है। अहा देखो, निमित्तनैमित्तिक भावरूपसे परिणमते हुए पदार्थोंमें स्वतन्त्रता कैसी सुरक्षित है ? प्रत्येक पदार्थ मात्र अपनेमें अपने परिणमनसे परिणमते रहते हैं। वहां पर द्रव्य निमित्तमात्र है। विष जो उतरा वह साधक (मान्त्रिक) की परिणति लिये बिना उतरा और जो साधककी क्रिया हुई, वह विषकी परिणति लिये बिना हुई। इसी प्रकार साधकके प्रयोगको निमित्त करके अन्य भी अनेक कार्य हो जाते हैं। जैसे स्त्रियोंका विडम्बित हो जाना, हथकड़ियोंका खुल जाना, चोरोंका कीलित हो जाना इत्यादि, उन सबमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है, कर्ताकर्मभाव नहीं। यही पद्धति आत्मा व कर्मके बारेमें है। आत्मा तो अज्ञान भावके कारण मिथ्यात्व आदि परिणमनोंसे परिणमता है और उस स्थितिको निमित्तमात्र करके पुद्‌गलकर्म आत्माकी परिणति लिये बिना स्वयं मोहनीयादि कर्मरूपसे परिणाम जाता है। यहाँ देखो आत्मा अपने भावका कर्ता है, पुद्‌गल अपने भाव का करता है।

(इससे आगेके कुछ प्रवचन नोट नहीं हो सके)

जीव तो मिथ्यादर्शनादिक भाव करता है। वह भाव पुद्‌गल कर्मके अनुकूल होनेसे

इस साधक मंत्रवादीका परिणमन लिए बिना अपना केवल अपने परिणमनसे उतर रहा है। यह एक विशुद्ध स्वतंत्रताकी वस्तुकी निज निज स्वतंत्रताकी बात कही जा रही है। निमित्त नैमित्तिक भावका अर्थ दूसरा है निमित्तनैमित्तिक भाव है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव भी उनमें रहता है जिसमें अलग-अलग दो परिणमन हुए। तो मिथ्यादर्शन आदिक भावोंके होने परसे निमित्तमात्र होनेसे आत्मा कर्ताके बिना ये पुद्गल द्रव्य मोहनीय कर्मरूप परिणमे। आत्माने विभाव किया, रागादिक कषाय किया और यह पुद्गल द्रव्य भी कर्मरूप परिणाम गया। तो पुद्गल जो कर्मरूप परिणमा सो इतने अपने आत्माके कर्तासे परिणमन नहीं किया; आत्माने द्रव्यको, पर्यायको ग्रहण करके कर्मका परिणमन नहीं किया, कर्मने अपनेमें परिणमन किया। जैसे एक चिढ़ाने वाले लड़केने अंगुली मटकाया तो दूसरा चिढ़ने वाला लड़का चिढ़ाने वाले लड़केकी परिणतिसे नहीं चिढ़ गया किन्तु वह स्वयं स्वयंकी ही परिणतिसे चिढ़ गया। इसमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंधका खण्डन नहीं किया गया। वह है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी चिढ़ने वालेने अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा की, चिढ़ाने वालेने अपने परिणमनसे अपनी चेष्टा की तब—

६२१. आत्मरक्षाका उपाय धर्म—भैया! धर्म ही जीवका रक्षक है। उसके धारण करनेकी पात्रता अपनेमें जरूर लानी चाहिये। वह पात्रता सरलता, सादगी बिना नहीं आ सकती। कहाँ तो यह आदर्श कि शरीरको ढकने मात्रको कपड़ा चाहिए। लेकिन कहाँ इतने बारीक कपड़े कि शरीर पूर्णतया दिखे तथा घरोंमें देखो तो विलासिताकी सामग्री रहती है। नग्न-स्त्रियोंके चित्र, बड़े-बड़े ऐनक, नखपालस, लिपस्टिक, फेस पावडर, इत्र फुलेल आदि अनेक वस्तुएं एकत्रित कर रखी हैं। यह व्यर्थकी अनावश्यक वस्तुओंमें खर्च बढ़ाना पड़ा। इससे स्वयंका पतन किया जाता है। हम शास्त्र सुनकर उसे जीवनमें उतारनेकी पात्रता भी तो पैदा कर लें तथा व्यवस्थित चित्त हो तब कुछ वह असर भी करे। भोजन वही लाभदायक है जो स्वास्थ्यको ठीक रखे। उसी तरह धर्म जिसमें आत्मकल्याण सम्पूर्ण-रीत्या समाया हो वही उत्तम है। वह जैनदर्शनसे सुगमतया विदित हो जाता है। मनुष्य या स्त्रियां कुछ अधिक बनकर रहनेमें अपनी शान समझते हैं। किन्तु जितना भी देखनेमें आया है उनमें प्रशंसा करने वालोंकी अपेक्षा निन्दा करने वाले भी अधिक मिलेंगे। सादा वेशभूषा वाले सम्मान पाते हैं। सौम्य मुद्रामें रहने वालेकी सभी प्रशंसा करते हैं। जो दूसरोंके बल पर अपनी प्रशंसा चाहता है, उसकी प्रशंसा होते हुए भी निन्दा हो रही है। कारण, प्रशंसा तुम्हारे शरीर या आत्माकी नहीं की जा रही है, किन्तु तुम्हारे कपड़े, गहनों, मकान, मोटर, दास दासियों तथा पशुओंकी प्रशंसा की जा रही है। जीवनमें नियम त्याग व्रत संयम निभाने से इस लोक प्रशंसाके साथ अगले भवमें भी सुख सामग्री पाकर प्रसन्न रह सकता है तथा

ईश्वरको भी जो कर्ता मानता है, वह ईश्वरका बड़ा भारी अपमान करता है। क्योंकि जो सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्त हो चुका है तथा जिसे अब कुछ भी करना नहीं रहा, उसे फिरसे यहाँ बुलाकर संसारमें फंसनेका कहना ईश्वरको बुरा बताकर स्वयं संसारमें अधिक रुलनेका ही कारण है।

६२४. विपरीत स्वरूपके अङ्गीकारमें विडम्बना—एक राजा भोजकी सभा भरी हुई थी। सभी विद्वानोंकी गोष्ठी बैठी गई थी। उनमें एक बड़े चतुर पंडित आये थे। राजाने उनसे कहा 'कोई कविता सुनाइये।' कवीश्वर पंडित जी ने तब लिखित या मौखिक सुनाने की आज्ञा मांगी। राजाने कहा मौखिक तो हमेशा सुनते हैं आज लिखित सुनना चाहिए। तब चतुर कविने एक कोरा कागज लेकर राजाको दिया और कहा 'इसमें बड़ी सुन्दर हृदय-ग्राही कविता लिखी हुई है।' इसे राजाके पास भेजकर कहता है, इस कविताको वही देख व पढ़ सकेगा जो असली बापका होगा।' अब तो राजा मन ही मन बहुत चिड़ा। कविसे भी कुछ नहीं कह सकता तथा कविता उसमें है नहीं, यह कहे तो इसका तात्पर्य राजा नकली बापका सिद्ध हो रहा है। तब राजाने पासमें बैठे हुए पंडितोंको भी दिखाई। कहा देखो यह कविता कैसी सुन्दर है? सभी पंडितोंने ठीक है, ठीक है कहकर राजाको वापिस कर दी। क्योंकि जो यह कह देवे कि इसमें कविता नहीं है वही नकली बाप या बिना बापका बन जायगा। उस समय सभीको बढ़िया-बढ़िया कहना ही मुनासिब था, यह जंचा। इससे स्पष्ट है, बिना बापका तथा नकली बापका कोई भी नहीं है अर्थात् सभी अपने-अपने पिताओं की सन्तानें हैं उसे कोई भी नहीं मेट सकता है। पिताओंकी परम्परा भी अनादिकालीन है। वह कर्मभूमिका रहा हो या इसके पूर्व भोगभूमिका भी हो सकता है। बिना पिताकी सन्तति नहीं है। वह जैसे जैसे बढ़ती गई उसी उसी तरह अनेक विभिन्नताओंमें बंटते गये। यह सन्तान अनादिसे ही है। इसमें किसीकी भी कल्पना काम नहीं दे सकती है। इस संतान को अनादिसे कहोगे या नहीं। कर्मका तथा रागादि भावका इसी तरह अनादि सम्बन्ध है। कर्म अनादिसे हैं, वे रागको निमित्त पाकर पैदा होते है। जैसे एक यह चौकी है। इसके बारेमें सम्यग्दृष्टिसे पूछ लो या मिथ्यादृष्टिसे, दोनों उसे चौकी ही कहेंगे। जिस तरह सम्य-ग्दृष्टि चौकी कह रहा है उसी तरह मिथ्यादृष्टि कह रहा है, किन्तु मिथ्यादृष्टिके द्वारा कहे जाने पर भी उसके ज्ञानमें स्वरूपविपर्यय, कारणविपर्यय व भेदाभेद विपर्यय है—यह सारी बातें करते हुए भी मिथ्याज्ञान है। क्योंकि उसके ज्ञानमें वह पदार्थ विपरीत भाव लिए हुए ही झलक रहा है।

६२५. तत्त्वज्ञानीका चिन्तन—तत्त्वज्ञानीको सब ज्ञान रहता है। उसे विश्वास है यह शरीर भी अनेक परमाणुओंका पिण्ड है। इसका संघात निमित्तनैमित्तिक भावसे हो गया।

निमित्तमात्रीभूत है सो यह पुद्‌गलकर्म ही स्वयं आत्माको कर्ता बनाये बिना, आत्माकी कुछ भी परिणति अङ्गीकार किये बिना मोहनीयादि कर्मरूपसे स्वयं परिणाम जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानसे ही कर्मका प्रभाव है। इसी तथ्यको गाथामें स्पष्ट किया जाता है—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥

६२३. **अज्ञानभावमें कर्तृत्व**—परपदार्थको आत्मा करता हुआ (संकल्पसे आत्मा मानता हुआ) व अपने आपको पररूप करता हुआ यह अज्ञानी जीव कर्मोंका कारक (कर्ता) होता है। प्रकरण चल रहा है यह कि अज्ञानसे कर्म आते हैं। अज्ञान निमित्त है तथा कर्मों का आस्रव नैमित्तिक है। राग द्वेषके द्वारा कर्म आते हैं। तब अज्ञानके साथ राग द्वेष भी निमित्त है तथा कर्म नैमित्तिक है तथा कर्म पुद्‌गलवर्गणायेंरूप होकर आत्मामें ठहरते हैं, उनके उदयसे जीवमें विभाद होते है। इस अपेक्षासे कर्म निमित्त है तथा आत्मभाव नैमित्तिक है। यह निमित्तनैमित्तिकका संसार अनादिकालसे चल रहा है। कोई इसमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जैसी स्थिति बनावे तो वह उचित नहीं जंचेगी। अगर अनादि सम्बन्ध नहीं मानोगे, तब कर्म और अज्ञान इन दो में से किसी एकको पहले मानना पड़ेगा। प्रश्न हुआ सबसे पहले कौन था? कल्पना करके कहा, पहले रागादि थे। बादमें राग करनेसे कर्म आये। यह माननेपर कहना पड़ेगा कि विभाव अनैमित्तिक आये। ऐसी अवस्थामें रागादि स्वभाव हो जायगा, इसलिए कर्मबन्धन हट नहीं सकेगा। कर्मबन्धन नहीं हटेगा तब संसार नहीं छूट सकेगा। इसके विरुद्ध सबसे पूर्व कर्मोंका रहना मानोगे। वह बिना निमित्तके अहेतुक (बिना कारण) लग बैठे थे तो उनको निवारण नहीं कर सकेंगे। क्योंकि जो औपाधिक होता है वह हटाया जा सकता है। निरुपाधिक नहीं मिट सकता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि रागादिका और कर्मका अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् आदि या शुरूवात किसीकी नहीं है। यह कोई नहीं कह सकता है कि अमुक दिन अमुक समय था, तब आत्माके रागके द्वारा कर्मोंका सम्बन्ध हुआ। इसके पहले कोई समय नहीं था तब इस तरह कहा भी जा सकता है। किन्तु समय भी अनादिसे है तथा राग और कर्मोंके साथ आत्मा भी अनादिसे है। जिस तरह बीज से वृक्षकी उत्पत्ति है और वृक्षसे बीजकी उत्पति है। इनकी अनादि सन्तति है। इसके लिए कोई यह नहीं कह सकता कि सबसे पहिले बीज होनेपर वृक्ष हुआ और वह बीज किसी वृक्ष से पैदा नहीं हुआ था। जितने भी मनुष्य हैं तथा हो चुके हैं उन सबके पिता जरूर थे। क्या यह कोई मान सकता है कि अमुक बिना पिताका था। कर्तृत्ववादि यह कह देवे कि ईश्वरने हौआ भेजा, तब उसके द्वारा इन सबका निर्माण हुआ। यह भी कहना मात्र है।

है। वह रागद्वेषादिकका अनुभव करानेमें समर्थ है, निमित्तभूत है तिस पर भी अनुभवन आत्मामें और राग द्वेषादिककी प्रकृति नहीं है। सुख दुःखादिक रूप जो पुद्गल परिणाम। वह पुद्गलमें है। तो जो आत्मासे अत्यन्त भिन्न है पुद्गल परिणाम और आत्मपरिणाम अनुभव उस पुद्गल परिणामसे भिन्न है, पर अज्ञानी जीव इतना विवेक कहाँ रख पाता है उस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें उस आश्रयआश्रयी भावमें यह भूल जाता है स्व और परके स्वातंत्र्यको, और एकत्वका अभ्यास कर लेता है। यह मैं एक हूँ तब फिर वह रागद्वेप सुख दुःख आदिक रूपसे परिणमता है। अपने उस विकल्पसे भिन्न जो निज सहज स्वभावरूप अंतस्तत्त्व है उसकी प्रतीतिमें, उपयोगमें टिक नहीं पाता। तब ज्ञानको अज्ञानरूप प्रकट करता हुआ स्वयं अज्ञानमयी होकर यह मैं राग करता हूं, इस विधिसे रागादिक कर्मोंका, ज्ञान विरुद्धका यह कर्ता हो जाता है। पर ज्ञानसे यह जीव, यह कर्म उत्पन्न नहीं होता।

६२७. निमित्त व उपादानके व्यवहारमें लोकरीति—किसी को भोजन बनानेके लिए आटेकी आवश्यकता है। इसके लिए वह गेहूं चुगता है। गेहूमें से वह मिट्टी कंकड़ तथा दूसरे अनाज निकालकर अलग करता जाता है। उसे केवल गेहूँ गेहूँका दाना ग्राह्य है, वही उसका प्रयोजन है। इसी तरह आत्माका स्वभाव परखना है। आत्माका स्वभाव चेतना है व शान्ति है। 'वस्तु स्वभावो धर्मः' वस्तुका जो स्वभाव है वही धर्म है। सो चेतना व आनन्द (शान्ति) आत्माका स्वभाव है। जैसे गेहूंसे क्षुधा शान्ति होती है—इस प्रतीति वाला मिट्टी कङ्कड़को दूर करके गेहूँका ग्रहण करता है। इसी तरह स्वभावके अव-लम्बनसे परमहित होना है—इस प्रतीति वाला विभावभावों को उपयोगसे दूर करके स्वभावके उपयोग द्वारा स्वभावका ग्रहण करता है। सो भैया ! परसे निवृत्त होनेका और खुदकी ओर प्रवृत्त होनेका लक्ष्य श्रेयस्कर सभीको होगा। साधारणतया श्रद्धा करते हुए भी तत्वका दृढ़ विश्वास बिना सम्यक् ज्ञान नहीं है। इसका ज्ञान इतना विपुल है कि एक एक अणुकी खबर ली जा सकती है। जब तक स्वरूपास्तित्वका ज्ञान नहीं है तब तक वह बुद्धिमें समाना अगम्य है। जब तक द्रव्यका यथार्थ बोध नहीं है तब तक स्व और परका ज्ञान भी नहीं हो सकता है। जिन्हें द्रव्यका प्रत्यय नहीं है उन्हें ज्ञान नहीं है तथा जो जुदा जुदा नही कर सकता है तथा जुदा की हुई द्रव्योंको मिला नहीं सकता है उसे भी ज्ञान नहीं है।

६२८. भेदप्रतिभास—प्रत्येक पदार्थ केवल अपने परिणमनको करता है, दूसरेकी परिणतिको नहीं करता है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ पूर्ण सत् है। अतएव दूसरेका परिणमन नहीं हो सकता है। अधिक जीव ऐसे हैं जिनके मनमें यह बात समाई है, मेरे द्वारा परका कुछ किया जाता है। ऐसे अज्ञानभाव होते समय पुद्गलकर्म अपने आप बंध जाता है। जैसे

है। जिसे स्वरूप ज्ञान हो गया है वह कारणविपर्यय मनमें नहीं रखता। यह चौकी अमुक ने बनाई या अमुक इसका मालिक है, उसे इस तरहकी बातोंसे मतलब नहीं, किन्तु वह चौकीके काठ विशेषपर ही ध्यान देता है। इससे उसके ज्ञानमें यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है चौकी अपने रूपमें (स्वभावमें) परिणम रही है तथा मैं स्वयं अपना ही कर्ता हूं। परके द्वारा किसीका कुछ कार्य नहीं है। दूसरेका कार्य करते हुए भी अपना ही परिणाम हो रहा है। केवल बाहरसे देखकर कह सकते हो। लेकिन जो भी हो रहा है वह सब अपना ही कार्य हो रहा है। जो अपना स्वरूप सोच सकता है वह दूसरेका भी ध्यानमें लानेको समर्थ हो सकता है। निजस्वरूपको जाननेकी इच्छा बिना परपदार्थोंके स्वरूप परिणमनको कैसे जाननेकी चेष्टा करेगा? परपदार्थोंको अनादिकालसे अपना मान रहा है। यह सब कुछ होनेपर भी कोई भी पदार्थ अपना नहीं हो पाता है। जीवनकी यह आशारूपी खाई क्या कभी भरी जा सकती है? समुद्रमें जितनी भी नदियाँ मिलती हैं, उतनी ही उसकी तृष्णा समृद्ध हो जाती है। अग्निमें ज्यों ज्यों ईंधन दिया जायगा, वैसी वैसी उसकी अग्नि प्रदीप्त होकर ईंधनकी ज्यादा शक्ति अपनेमें समानेकी धारण कर लेती है। इन आशा तृष्णाओंने जीवनको दूभर कर दिया है, कल्याण सोचनेकी शक्ति भी खत्म हुई जा रही है। आजका बहुभाग मनुष्योंने धर्म कर्म भक्तों, त्यागियोंको ही सौंप दिये हैं। अगर कोई उन्हें जिनेन्द्रदेवके दर्शनोंके लिए प्रेरित करे तब वह कहते हैं—यह काम भक्तवृन्दोंका है। शायद उसके मनमें घर कर रखा है, यही भक्त लोग हमारी प्रेरणाके लिये किराये पर चल रहे हैं। तब तो वह उसके कर्मोंको भी कर देंगे। यह सब अपना काम या कल्याण परके द्वारा किया जाना मानता है। जो कि ऐसा कुछ भी नहीं है। जीवनके अन्त समय भी कोई क्या करनेको समर्थ है? मरण समय भी अपने भावोंके अनुसार अगली-अगली गतियाँ प्राप्त करना है।

६२६. **अज्ञानमय जीवके कर्तृत्वका आशय**—यह जीव परको आत्मा बनाता हुआ अपने विकल्पोंसे आत्मा रूप बनाता हुआ, करता हुआ, अपनेको पररूप करता हुआ यह जीव कर्मोंका कर्ता होता है। यह जीव अज्ञानसे अपनेमें और परमें भेद नहीं समझ रहा तो परको आत्मारूप करता है और अपनेको पररूप करता है, सो ज्ञानमय होकर भी यह कर्म का करने वाला कहलाता है, ऐसा सम्बन्ध है। जैसे गर्मीके दिनोंमें शीतस्पर्श रुचिकर होता है तो शीत स्पर्श किया और शीतस्पर्शका अनुभवन हुआ तो शीतस्पर्शके अनुभवनका कारण तो है यह पुद्गल शीत, पर शीतस्पर्शका जो भीतरमें ज्ञान हुआ, अनुभवन हुआ वह पुद्गल परिणामनरूप शीत अवस्थासे जुदी चीज है। वह शीत परिणमन पुद्गलमें है और शीतका अनुभवन आत्मामें है। इसी प्रकार राग द्वेष सुख दुःख आदिक रूप जो पुद्गल परिणामकी अवस्था है प्रकृति है या जो भी उसका अनुभाग है, विपाक है वह पुद्गलमें

मिट्टीसे कुम्हारका हाथ तथा मिट्टीका परिणमन अत्यन्त भिन्न है। दोनों एक दूसरेके परिणमनमें निश्चयनयसे सहायक नहीं हैं। किन्तु व्यवहारसे मिट्टीका कुम्हारके हाथका निमित्त पाकर परिणमन हुआ है। साथ ही मिट्टीका जो आश्रय पाकर हाथका व्यापार हुआ है वह सर्वथा भिन्न है। उस तरहके यह दो द्रव्य हैं। उनके स्वरूप बोधका अभ्यास न होने से कहते हैं—कुम्हारने घड़ा बना दिया। कुम्हारने जैसा विकल्प किया है वैसा पदार्थ सामने बनकर तैयार हो जावे तब जीवसे कुछ कहा जाय तो वैसा कार्य हो जाना चाहिए। जैसे मथुराके पेड़े, आगराका पेठा आदि स्मरण करनेपर मुँहमें आ जाना चाहिए। यह विचारना मात्र सफलताकी कुंजी नहीं है। राग द्वेष, मोह ममता इस जीवके साथ अनादिके लगे तो हैं किन्तु उन्हें हटानेके लिए एकत्वका अभ्यास करना चाहिए। कोई राग, द्वेषके द्वारा साता, असाताको पैदा हुआ मानता है। किन्तु वह राग, द्वेष उसी समय सुख दुःख रूप परिणत हो जाय, यह है और नहीं भी है। भेददृष्टिसे राग, द्वेष चारित्रगुणके विकार हैं और सुख, दुःख आनन्दगुणके विकार हैं। इस कारण राग, द्वेष भाव, सुख व दुःखरूप नहीं परिणमता है, फिर भी राग, द्वेषका सुख दुःखके साथ अभिन्नार्थ अविनाभाव होनेसे राग व द्वेष सुख दुःख-रूप परिणम जाता है तथा वर्तमान राग द्वेष भविष्यके सुख दुःखका भी परम्परा कारण है। आत्मा व कर्म दोनों स्वतन्त्र हैं। इनका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु कोई दूसरेके आधीन नहीं है। इसी कारण न तो यह बात कि जब जीवमें विभाव होता है तब निमित्तको हाजिर होना पड़ता है और न यह बात है कि जब कर्मका बन्धपरिणमन होता है तब जीवविभावको हाजिर होना पड़ता है। कर्मका जब उदय हुआ तब जीवमें विभाव हुआ व जीवमें जब विभाव हुआ तब कर्मका बन्ध हुआ। परिणमने वाला पदार्थ ही परको निमित्तमात्र करके स्वयं विभावरूपसे परिणम जाता है।

६३० **मोहीका लगाव व निर्मोहका उपेक्षाभाव**—आत्मामें जब राग हुआ तब कर्म बंधा। हजारों वर्ष पहले भी जो कर्म बंधा था उसी समय कर्मकी प्रकृतियां पड़ गई थीं तथा उनका जब उदय हुआ वह राग पुद्गलमें ही है। लेकिन उस पुद्गल कर्मकी अवस्थाको लेकर जो राग द्वेष रूप अनुभव हुआ वह आत्मासे अभिन्न है। आत्माके परि-णामसे पुद्गलकर्म सर्वथा भिन्न है। इनका ठीक ज्ञान होना, एकत्वपनेसे आत्माको समझने का अभ्यास होना सन्मार्गका अनुसरण करना है। किन्तु मोही जीव पुद्गलकर्मके जो कार्य हैं उन्हें भ्रमसे अपने परिणमनमें सहायक मान रहा है। जैसे बुखारमें जो शीतका प्रकोप चल रहा है वह उष्णरूप परिणम सकता है। उसके लिए उपचारकी आवश्यकता है, परन्तु वह निमित्तमात्र है। यह मोहको करता हुआ सोचता है, अमुक पदार्थमें राग करना चाहिए, अमुकमें द्वेष करना चाहिए। अज्ञानसे रागद्वेषको अपना मित्र मान लिया है। रागादि करते

शरीर गर्म हो गया तो गर्म अवस्था पुद्गलकी हुई है। आत्माकी गर्म अवस्था नहीं हुई है। किन्तु जो इसमें ही अनुरागी हो रहे हैं उसे गर्म अनुभव कराने में निमित्तभूत है। वास्तवमें तो उस गर्मी से उस समय उस पुद्गलका अभेद है तथा पुद्गल परिणामसे आत्माका अत्यन्त भेद है। शरीरसे गर्मीका अभेद है। आत्मामें स्पर्श गुण है नहीं है, तब उसकी गर्म अवस्था कैसे बन जायगी ? उस गर्म अवस्थाके कारण मुझे बुखार है। इस प्रकारका जो भीतरमें ज्ञान चल रहा है वह आत्मासे अभिन्न है। दृष्टान्तके लिए स्फटिक मणि है, वह स्वभावसे ही स्वच्छ है। उसमें लाल डाक लग जानेसे वह लाल रंग वाली स्फटिक मणि दिखने लगती है। इस विषयमें कभी सन्देह हो जाता है कि स्फटिक ही लाल है। फिर उसे गौरसे देखनेपर मालूम पड़ता है, इस स्फटिक पाषाणके साथ लाल कागज आदि लगनेसे वह अपना रंग बदल रहा है तथा स्फटिक लाल नहीं हुआ है। तब लाल कागज हटाया और स्वच्छ चमचमाते हुए दर्शकोंकी आंखोंमें चकाचौंध करता हुआ स्फटिक दिख जाता है। या दर्पणके सामने कोई वस्तु आ जावे तो वह प्रतिबिम्ब दर्पणमें दीखेगा। वहाँ तो प्रतिबिम्ब ही मुख्य है, दर्पण तो एक भ्रमसे दिख रहा है। उसमें कुछ भी नहीं है। जैसे एक चीज हमारी पीठ पीछे रहती है तथा हम यहाँ दर्पणमें उसको निरख रहे हैं, किन्तु वह चीज तो भिन्न ही है। यहाँ स्फटिक पाषाणमें अन्तर इतना ही है कि उसमें जिसका प्रतिबिम्ब हुआ वह पदार्थ तो नहीं है। देखने मात्रसे बिम्बाकार नजर आ गया। साथ-साथ हमें लाल रंग भी दिख गया। इतने भेदमात्रसे वह विकार या प्रतिबिम्ब या रंग नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता है। गर्म शरीर होनेपर तापरूप जो अनुभव हुआ है वह आत्मासे अभिन्न है। दर्पणमें रंग प्रतिबिम्बित हो रहा है उस समय प्रतिबिम्बके स्कन्ध इस रूप परिणम रहे हैं। दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब हो जाता है वह घना मालूम पड़ता है, सामान्य कांचमें कम तथा ऐनकके पीछे लगा हुआ लाल रोगन है उसका कुछ भी प्रतिबिम्ब नहीं होता। वह अपनेमें जुदा ही तन्मय है सो यह सब प्रत्येककी योग्यताका विलास है। बुखार अवस्थाको पाकर जो अनुभव हुआ है वह शरीरसे अत्यन्त भिन्न है व उस समय आत्मासे अत्यन्त अभिन्न है तथा स्वरसतः जीवसे भी अत्यन्त भिन्न है, किन्तु गर्मीको पाकर आत्मामें जो अनुभव हुआ वह आत्मासे उस समय अभिन्न है तथ राग भी उस समय आत्मासे अभिन्न है तथा कर्म प्रकृतियाँ जो है वह इस जीवसे सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी अत्यन्त भिन्न दो अवस्थायें हैं। उन दो वस्तुओंमें परस्पर भेदका ज्ञान न हो तो उनके स्वरूपका अध्यास करनेसे भ्रम बुद्धि पैदा हो जाती है।

६२९. निमित्त व उपादानकी स्वतन्त्रता –जैसे व्यवहारसे कुम्हार घड़ा बना रहा है मिट्टीकी अवस्थायें जो घड़ा रूप बन रही हैं उसमें हाथ व्यापार कारण है। फिर भी

भिन्न है। इस तरह ठंडी गर्मी व ठंडी गर्मीका अनुभव (परिज्ञान) ये दोनों परिणमन परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु जो इसको नहीं पहिचानता वह मैं ठंडा हो गया, मैं गर्म हो गया—ऐसी आकुलता मचाता है। वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ (राग, द्वेष) साता, असाता आदि कर्मप्रकृतियाँ हैं, वे अपनी-अपनी प्रकृति व अनुभागरूप हैं। वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, किन्तु उनके उदयको निमित्तमात्र पाकर राग, द्वेष, सुख, दुःखादिरूप अनुभव आत्मामें होता है और यह अनुभव उस कालमें आत्मासे अभिन्न है व कर्मप्रकृतियों से अत्यन्त भिन्न है। इस तरह रागद्वेषादि प्रकृतियाँ व रागद्वेषादि विभावानुभव ये दोनों परिणमन परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु जो इस मर्मीको नहीं जानता है वह "मैं राग करता हूं, मैं द्वेष करता हूं" इत्यादि विधिसे रागादिक कर्म जो कि ज्ञानसे विपरीत हैं उनका कर्ता प्रतिभास होने लगता है। यह कर्तृत्व कल्पनाके कारण हैं व इच्छाके कारण हैं।

६३२. स्वभाव परभावमें एकत्वबुद्धिमें सर्वत्र अशान्ति—अपनेमें तथा परपदार्थमें एकत्व बुद्धि होनेसे जीव रागका कर्ता होता है। जैसे रस्सीमें सर्पका भ्रम हो जानेपर घवड़ाहट पैदा हो जाती है तथा सर्पका सन्देह दूर होनेपर घवड़ाहट खत्म हो जाती है। लेकिन पूर्णतया विश्वास होनेमें भी कुछ समय लगा। उसी तरह स्व-स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर अज्ञान तो शीघ्र हट जाता है किन्तु राग रह सकता है। फिर भी अज्ञानका क्लेश मिट चुका तथा स्वरूपास्तित्वको समझ लेनेपर आत्माके सहजभावका कर्ता हो जाता है। जितना ही व्यापार, नौकरी, परकी चाटुकारिता, परपदार्थोंकी लोलुपता, तृष्णायें इनकी निकटता की उतनी ही आत्माकी निकटता मिलानी चाहिए अर्थात् पहिलेके ऊधमोंको छोड़कर अब धर्ममें आना चाहिये। आजका मनुष्यजीवन बड़ा ही बेढंगा बन गया है। जिस तरह कपड़ा बुनते समय सलाई यहाँसे वहाँ भागा करती है, उसे फुरसत नहीं मिल पाती, चैन नहीं मिल पाती, तब वह क्या समझेगी कपड़ेके महत्त्वको। इसी तरह जो दिनरात मोटर हवाई जहाजों आदिकी रफ्तारके साथ भागता फिरता है, वह क्या शान्तिके थोडे भी चिन्ह पा सकेगा? ऐसा व्यक्ति धर्मको तो विचारेगा ही क्या? उसे अपने लक्ष्यका भी भान नहीं हो पाता है। मुझे करना क्या है? यह तो प्रत्येक समझता है किन्तु योग्य कर्तव्य क्या है? इसे समझना आवश्यक है। बाह्यका द्रव्य कितना भी बढ़ जावे किन्तु अन्तरङ्गकी व्याकुलता जाती नहीं। इस तरहका व्याकुल व्यक्ति जंगलमें भी चला जावे तब भी वह वहाँ शान्ति नहीं पा सकता। भोजन तो वह है जिससे भूख शान्त हो जाय। परपदार्थोंसे शान्ति मिले, यह तो असंभवका विचार करना है, हवाई महल बनाना है। अगर मैं जंगलमें भी चला गया तथा तिक तिक ताँय ताँयकी धुन सवार है तब शान्ति कहाँ मिल सकी? वहाँ भी परपदार्थोंकी आराधना

हुए यही भावना रहती है कि मैं यह ठीक कर रहा हूं तथा रागादिको एवं कर्मको ही आत्मा मान रहा है। स्वरूपास्तित्वपर जिनकी दृष्टि नहीं है वह कहते हैं कुम्हारने घड़ा बनाया, उसी तरह परमें आपाबुद्धि करके अज्ञानी मानता है कि मैंने अमुकको यों किया है। इसी मिथ्याबुद्धिके कारण यह मोही दुखी हो रहा है। व्यवहारमें कर्मोंका गुणगान करने लगता है। अनेक आशायें, इच्छायें करता है। आशायें जिसको की जाती हैं वह इष्ट वस्तु मिली नहीं है तब तो आशा है और जिस समय इष्टकी प्राप्ति है तब आशा नहीं है, तब बताओ आशाके सफल होनेकी संभावना भी है क्या तथा उन आशाओंकी सीमा नहीं है। आशा वर्तमानमें सफल नहीं हो पाती है। आज अगर दस हजार रुपया प्राप्त करनेका सोचा, कुछ सफलता मिली तो आगे एक लाख कमानेकी इच्छा हो गई। उन इच्छाओं की इति नहीं है। जिसे एक लाख रुपया कमानेकी भावना है वह उस सम्बन्धी विकल्प करेगा, रुपयोंका कुछ नहीं कर सकता, उसी तरह जिसे अपनी आत्मज्योति प्रकट करना है वह भी तो विकल्प करेगा किन्तु विकल्पोंको प्रधानता देकर तथा अनुपयोगी को गौण समझ कर छोड़ देगा। तरंगें उठा करती हैं उन्हें शमन करनेके लिए प्रयास चालू रहता है। समय आने पर वह तरगें समाप्त होने पर निस्तरंग अवस्था प्रकट हो जाती है और जब तरंगें समाप्त हुईं तब बनने बिगड़नेकी कुछ गुंजायश ही नहीं रह जाती है। यह सब भावनाओं के आधारसे वृत्ति चलती है। निस्तरङ्गवृत्ति तत्त्वज्ञान करनेपर, भेदविज्ञानका अभ्यास होनेपर; तत्त्ववस्तुका स्वरूप समझमें आनेपर होती है। विकल्पोंका कारण संसार सम्बन्धी पदार्थोंकी सेवा करना भी है। पर्यायबुद्धि प्राणी उनके ही गुलाम बने रहकर कुटुम्बी जनों मित्रोंमें फंसे रहते हैं। तीर्थङ्करोंके महान् वैभव थे, किन्तु देखो उन्हें भी निर्विकल्प अवस्था में शान्ति मिल सकी। निर्विकल्प अवस्था स्वयं आनन्दमय है।

६३१. कर्तृत्वकल्पनाका शाखाविस्तार—आत्माका परपदार्थोंसे मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है। अतः ज्ञानगुण अपने प्रदेशोंमें ज्ञेयाकाररूप परिणाम जाता है। ऐसा होने पर ज्ञेयस्वरूप जानकारीमें आता, किन्तु मोहमें प्राणी इस सीमासे आगे बढ़कर कल्पनामें ऐसा मानने लगता हैं कि मैंने इनही (पर) पदार्थोंको जाना पश्चात् और भी दूर होता है और मानता है कि यह हित रूप है अथवा यही मैं हूं या मेरा है। इस प्रकार अज्ञानसे यह आत्मा पर और आपेमें विशेष लक्षण अर्थात् स्वरूपास्तित्वके अपरिज्ञानसे परको आपा बनाता हुआ और आपाको पर बनाता हुआ स्वयं अज्ञानी होकर कर्मोंका कर्ता प्रतिभास होता है। जैसे शरीर पुद्गलकी या अन्य पुद्गलकी ठंडी गर्मी उस पुद्गलसे अभिन्न है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न है, किन्तु उसको विषय करके, निमित्त करके उस प्रकारका अनुभव आत्मामें हुआ वह अनुभव उस कालमें आत्मासे अभिन्न है और शरीरादि पुद्गलसे अत्यन्त

नहीं पा सका। आखिर किसीको अन्य कोई क्या देनेमें समर्थ है? वह तो विरागीकी बात उल्टी ही उल्टी मानता है, विपरीत दृष्टिसे ही देखता है। ऐसा एक मैं स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाला चारों ओर दौड़ रहा हूं। इस विचारधारासे कुछ नहीं मिलनेका, अब भी निश्चय हो जाय तो कार्यमें प्रवृत्त हो जाऊं। अब निश्चयकी ओर मुड़ने वाला यह स्वतन्त्र हुआ स्वयं को संकेत देनेकी कलापर आ रहा है। वह अपनेसे बात करता है। ममता पिशाचिनीको हटानेके लिए यकायक चीखकी आवाज निकल पड़ती है। अरे शत्रुओं हटो। तुमने मुझे अपना दास बना लिया। मैं तुम्हारी गुलामीपर नाच रहा हूँ। तुमने मुझे अभी तक क्या दिया? सारी शान्तिके तार बिखेड़ दिये। वह वीणा ही स्वयं अचेतन स्वरोंमें लय हुई जा रही है। अब पथिक रुकनेका नहीं। उसे यहाँसे दूसरी ही पार जाना है। सारतत्त्वका अभिलाषी रुकनेकी बात नहीं चाहता। निर्द्वन्दताको वह माथेपर बैठानेके लिए तत्पर है। अब ममता व निर्द्वन्दता दोनोंमें ईर्ष्या हो रही है। शान्तिका इच्छुक निर्द्वन्दताको बुलाना चाहता है तथा निर्द्वन्दता शान्तिप्रिय पतिके पास आह्वानसे पहले स्थान पाना चाहती है।

६३४. अज्ञानी और ज्ञानीकी माड़—यह अधेड़ किस मोड़पर कहाँ चला जा रहा है, दूसरे आवाजें मार मारकर उसको बौखला देते है। उसे उन आवाजोंकी परवाह नहीं है। वह तो अपना कहीं जुदा ही स्थान बनाने जा रहा है। उसे भटकना सुखकर नहीं लग रहा है। वह शान्तिमयी अगाध आत्माके चरणोंमें नतमस्तक हो रहा है। जब यह जीव ज्ञाननिधिके लिए लालायित रहता है तब उसे पर तो बन्धन मालूम होते हैं। यह मेरा किया काम है, इस तरहकी धारणा व इच्छा भी वह मनमें नही रखता। विचार उसके मनमें समा रहे है, मैं अनादि अनन्त हूँ। इसे बोध करनेके लिए अमृतपानकी पिपासा है। बाहरमें रागवश विकल्प भी करता है तो परमें आसक्त नहीं होता है। वह विडम्बनाओंमें नहीं फंसता है। विडम्बनायें आनेको भी होवें तब भी विचलित नहीं होता है। वह उनसे शीघ्र हट जाता है। यहाँ यह बिल्लीके समान लालची नहीं है जो कि मुंहमें चूहा पकड़नेपर उसे डंडा भी मारा जावे और छोड़े नही। हिरणकी प्रवृत्तिकी तरह अनासक्ति इसके मनमें समाई हुई है। हिरण घास खा रहा है, किसी भी वस्तुकी आहट आई और यह भाग खड़ा हुआ। ज्ञानी जीव विकल्पोंमें आसक्त नहीं है। हठ उसपर सवार नहीं हुई कि वह विकल्पों को छोड़ेगा ही नहीं। परके सम्बन्धमें आसक्ति राग द्वेषसे होती है। विषय और अविरतियां त्याग नहीं किये है, फिर भी समय पाकर शीघ्र छोड़ देता है। तत्त्वज्ञान जब हुआ तब वह बाहरमें तो आसक्त क्या, किन्तु अपने विभावमें भी आसक्त नहीं होता है। बाहरी पदार्थोंको उपचारसे करना कहते हैं। अपने आत्मप्रदेशोसे बाहर यह कुछ भी नहीं करता है और न भोगता है। अज्ञान अवस्थामें भी यही दशा है कि वह परको न करता है, न भोगता है,

चल रही है। पहले और जातिकी व्याकुलता थी, जंगलमें आनेपर सन्मान पानेकी चाह लग रही है। वहाँ भी सुख शान्तिसे दूर रहा। अहितरूप जिसे अंगीकार किया था, अब तो उन्हें हटानेकी लगन है। धर्मकी संज्ञा देहमें नहीं है, वह आत्माके साथ अनादिकालसे है। धर्म-दृष्टिके प्रसादसे अधर्मभावसे राग हट जाता है एवं पंचपरमेष्ठीके व आत्मतत्त्वके ध्यानसे अपनेमें लय होनेकी चेष्टा जागृत हो जाती है। तब हम धर्म संज्ञाको प्राप्त कर सकते हैं। यह अन्तरङ्गकी आवाज बिना प्रयत्न नहीं चलती। व्यवहार अर्थात् बाहरी व्याकुलतायें हटनेपर स्थिरता अर्थात् आत्माकी एकाग्रताका मिलना ही धर्मका पाना है। जहाँ बाहरकी भी शान्ति है नहीं और निश्चय ही कहे वह निश्चय धर्म नहीं। कर्मोंका प्रभव अज्ञानसे होता है तो यह सुगम ही समझमें आता है कि ज्ञानसे कर्मका प्रभव नहीं है। इस ही बात को श्रीमत्कुन्दकुन्ददेव इस ९३ वीं गाथामें दर्शाते हैं--

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥९३॥

६२३. **ज्ञानीका पौरुष**—परको आत्मा न करता हुआ (आत्मा न मानता हुआ) व अपने आपको भी पर न करता हुआ (परद्रव्यमें स्वास्तित्वकी बात न मानता हुआ) जो जीव है वह ज्ञानमय जीव है। वह ज्ञानी जीव कर्मोंका अकारक (अकर्ता) होता है। परको न आत्मा करता हुआ तथा न परको आत्मा बनाता हुआ यह जीव ज्ञानके आलोकको लिए हुए है। परमें एकत्व बुद्धि न आवे। परका मैं कुछ कर देता हूं, परका मेरे द्वारा कुछ किया जाता है—यह विकल्प जाल हटाना ही लाभदायक है। मैं एक दूसरेका कुछ भी नहीं करता हूँ। मैं स्वतन्त्र सबसे निराला दूसरेका काम करता हुआ भी अपना परिणमन कर रहा हूँ। जब तक स्व और परके बारेमें भिन्न भिन्न प्रतीति नहीं हो सकी तब तक अज्ञान ही है। चित्तमें शान्ति आनेका सरल सीधा मार्ग तत्त्वज्ञान ही है। इससे आगे बढ़कर शान्तिका सही उपाय तत्त्वज्ञानके आलम्बनको लिए हुए अपनी आत्मामें रमण करना है। दृढ़तासे पर-पदार्थोंको हटानेकी आवश्यकता है। उन्हें धक्का देकर दूर नहीं करना है। किन्तु विचारों में, भावोंमें दृढ़ता आ जानी चाहिए। परको अनादिसे विकल्पोंमें ग्रहण कर रहा हूं, फिर भी आत्माका सारतत्त्व प्राप्त नहीं कर पाया हूँ। मुझे अब करना ही क्या है? जो कर्म-विपाक प्रकृतियां हैं उनमें भी रति करनेसे कोई लाभ नहीं है तथा परपदार्थोंको भी क्या अपनाना? उनका सुखाभास भी कोई हितकर नहीं रहा। वहाँ व्याकुलताओंने अड्डा जमाकर मुझे बेहाल कर दिया था। वहाँ स्वरूपमानसे कोसों दूर जा पड़ा। जहाँ कोई भी मार्ग

कर समग्र रागादिक कर्मोंका यह जीव अकर्ता होता है।

६३६. ज्ञानी आत्मा मानता है कि मेरा स्वरूप ज्ञान है और ज्ञानका जो परिणमन है, जानन है वह मेरा कार्य है, उससे विरुद्ध जो बातें हों वे ज्ञानविरुद्ध हैं, मेरे स्वरूप विरुद्ध है। उनका मैं कर्ता नहीं हूं। प्रयोजनवश कथनके विशेष चला करते हैं। जहाँ कभी आत्मा के स्वरूपको अत्यन्त स्वच्छ निरखते हैं तो आत्माके स्वच्छभावके अतिरिक्त जो वहां परिणाम हो रहे हैं उनका अन्वयव्यतिरेक कर्मके साथ करके इसका मौलिक अधिकारी सब कुछ कर्म है, ये कर्मके हैं ऐसा कर्मोंसे जुड़कर उन परिणाम विकारोंसे निजमें अन्तः केवल स्वच्छताका अनुभवन किया जाता है। जब प्रसंग आता है एक माध्यमरूपसे, निश्चयदृष्टिसे कि कौन किसका करने वाला है ? उस प्रसंगमें आत्मामें जो परिणमन होता है, अपने जितने परिणमन हैं उनका करने वाला है। जीवमें जो परिणमन होता उनका करने वाला जीव है। तो अब उसही चीजसे जिस रागादिक पुद्गल विकारको पुद्गलका स्कंध था और पुद्गलके हैं ऐसा मान लिया था, यह व्यवहारसे भी माना जाता है और शुद्ध नयसे भी माना जाता है। रागादिक विकार पुद्गलकर्मके हैं, ऐसा मानना व्यवहारनयसे भी होता है और शुद्धनयसे भी होता है। प्रयोजन अलग-अलग हैं। जहाँ यह प्रयोजन है कि इसके निमित्तसे यह हुआ है सो वहां परिणमन तो था उपादानका, पर उस निमित्तनैमित्तिक भावसे भी उसको निमित्तका कह देना, यह व्यवहार हुआ। इसमें निमित्तनैमित्तिक भावकी मुख्यता रही व्यवहारमें, और उस शुद्धनयमें उस उपादानके स्वच्छ स्वभावको रखनेका उद्देश्य रहा तो उपादानके उस शुद्ध स्वभावको शुद्ध ही बनाये रखनेके लिए रागादिक परिणामको पुद्गलके सोचना ये कर्मके हैं। यही बात कही गयी थी निमित्तनैमित्तिक भावकी बात रखकर, सो व्यवहार बन गया था। यही बात अब कही जा रही है अन्तस्तत्त्वको शुद्ध और स्वच्छ रखनेके उद्देश्यसे तो यह शुद्धनय बन जाता है। तो इस प्रकार यह ज्ञानी जीव इन समग्र रागादिक कर्मोंका अकर्ता होता है। अब कर्म अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं, सो कैसे ?

धर्मपालनमें एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वकी उपासना—समयसारकी जब भूमिका तैयार की गई तब सोचा—हम (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य) क्या कहेंगे अथवा क्या कह कहते हैं, प्रत्येक कार्यके शुरूमें वह बात झलक जाती है। तब कहा है 'हम एकत्व विभक्त आत्माका प्रतिपादन करेंगे।' यहां कार्य-परमात्माका स्वरूप नहीं बताया जा रहा है, किन्तु शुद्ध आत्माका स्वरूप बताया तथा अरहन्त सिद्धका गुणानुवाद नहीं किया गया किन्तु मैं अकेला हूँ तथा सबसे अत्यन्त भिन्न हूं—यह वर्णन किया गया। एकत्वके जाने बिना विभक्त नहीं जाना जा सकता तथा विभक्त बिना एकत्व नहीं जाना जा सकता है।

किन्तु भ्रमसे ऐसी कल्पना करता है उल्टी, अज्ञानी परपदार्थोंमें आसक्त हो जाता है, उनके आश्रय रागभावको विरक्तभावसे भोगता है। अज्ञानी जीव विकल्पोंमें कर्ता मानता है तथा इसी ध्वनिमें मस्त रहता है। ज्ञानी जीव विचारोंमें पवित्रता रखता है, ध्यानमें उज्ज्वलता रखता है, पावन आत्माकी आराधना करता है। ज्ञानीके सामने कदाचित् राग द्वेषकी भी बात आवें तब भी वह अन्तरङ्गमें उनसे निवृत्त रहता है तथा अपनी आत्मामें ही रति करता है।

६३५. ज्ञानमय जीवके अकर्तृत्वका आशय—यह आत्मा परको आत्मा न बनाता हुआ, आत्माको पर न बनाता हुआ ज्ञानमय होता है, यह जीव कर्मोंका अकारक है। समस्त परतत्त्वोंसे भिन्न यह आत्मा अपने आपमें स्वच्छ चैतन्यमात्र है, किन्तु कैसा मोह विष चढ़ा है, कैसा यह वातावरणमें फंसा है, कैसा यह सामुग्ध पुरुषोंका संग निमित्त पाकर अपने आपमें भी उसी प्रकार कायरतासे अपना उपयोग चला रहा है, यह एक मिथ्या परिणामकी बात है, किन्तु इन बातोंमें सार रंचमात्र नहीं। नहीं है सार, पर मोहमें तो रागमें तो ये बाह्य बातें ही सार नजर आती हैं। सो जब जीव एक ज्ञानसे अपनेमें और परमें भेदविज्ञान करता है तो परको आत्मा न करता हुआ और आत्माको पररूप न करता हुआ स्वयं ज्ञानमय होता है, कर्मोंका अकर्ता हो जाता है। जैसे कि वहां अज्ञानी जीवके प्रसंगमें कहा था कि रागद्वेष सुख दुःख आदिक रूप पुद्गल परिणामकी प्रकृति जिसके विपाकका निमित्त पाकर आत्मासे उस प्रकारका अनुभवन हुआ तो यहां दो अवस्थायें हुईं एक रागद्वेषरूप सुख दुःखका अनुभवन ज्ञान और एक सुख दुःख रूप प्रकृति ये दो जगह हैं। पुद्गलमें रागादिक प्रकृति है अब सुख दुःख आदिक अवस्था है, पुद्गल है और उस प्रकारका अनुभवन चलता है यह जीव और पुद्गल ये दो अवस्थायें भिन्न हैं और उनका भिन्न स्वरूप जाना और इसका अर्थ है कि परको आत्मा नहीं बनाया और आत्माको पर नहीं बनाया। स्वयं ज्ञानमय होता हुआ यह कर्मोंका अकर्ता होता है। शीतोष्ण पुद्गल परिणामकी अवस्थाकी तरह रागद्वेष सुख दुःख आदिक रूप पुद्गल परिणामकी अवस्था है और ठंडा लगा, गर्म लगा, अच्छा पानी लगा, इस प्रकारका भीतरमें जो क्रोध हुआ उसकी तरह रागद्वेष सुख दुःख आदिकका अनुभव हुआ, ये दो बातें दो जगह हैं। जीवमें अनुभव है और पुद्गलकर्ममें वे प्रकृतियां हैं तो यहां यह निरखना है। जैसे प्रसंगमें यह कथन चल रहा है कि प्रत्येक पदार्थ ये अपने आपके परिणामोंके कर्ता हैं, सो जब इसका विवेक होता कि ये दोनों भिन्न-भिन्न है तो शीत उष्ण रूप परिणामसे यह परिणमता नहीं। रागद्वेष सुख दुःख आदिक रूप अज्ञानमय यह परिणाम न सके तो ज्ञानको ज्ञानरूप प्रकट करते हुए स्वयं ज्ञानमय होते हुए यह मैं जानता हूं ऐसा समझना है और यह रज्यमान यह पुद्गल होता है। इस तरह समझ-

हैरान है। जिसकी परमें बुद्धि है या परको जिसने अपना स्वामी माना वह परेशान है। पर = दूसरा ही, ईशान = स्वामी। इस भाव वाले दुखी ही हैं। जिसके हृदयमें पर मेरा स्वामी है, मैं परका स्वामी हूं, यह भाव बसा है वह हर जगह परेशानीमें ही मिलेगा। ये शब्द सभीको मार्ग प्रदर्शन कर रहे हैं। हम लौकिक बातें बोलते रहते हैं किन्तु उनकी विशेषताओंपर ध्यान नहीं देते। घरके अन्दर लोटा, गड़ई, गुडुआ, पतेली, झाही आदि शब्द बोलते रहते हैं। लोटा अर्थात् बिना पेंदी वाला बर्तन, जो नीचे रखनेपर थोड़ा धक्का पाकर यहाँ वहाँ लोट जावे वह लोटा है तथा जिसमें नीचे कुनई (किनार विशेष) हो उससे वह नीचे जमीनमें अपना गड़नेका स्थान बनाये रहे उसे गडुआ या गड़ई कहते हैं। कटोरा, क = जल, टोरा = टूटना अर्थात् जिसकी धार एकसी न टूट सके वह कटोरा है। पतीली, जिसमें धनियां, जीरा, मेथी, लौंग आदिका पतन किया जाय, छोंक दिया जाय तथा दाल, आदि डाले जावें वह पतीली है। जितने भी व्यवहारके व परमार्थके शब्द हैं उन सबमें भाव भरा हुआ है। यह शब्दोंकी जानकारी बहुतसी समस्याओंको हल कर देती है। परको अपना माननेपर ही कष्टोंका समूह आता है अन्यथा कष्ट नहीं है।

६३८. **पापोंका मूल परतत्त्वमें ममत्व**—मैं अपना ही स्वामी हूँ, अपना ही कर्ता धर्ता हूँ। सब पापोंका मूल ही परमें ममत्व बुद्धि रखना है। पाकिस्तानका बंटवारा जब हुआ था, उस समय वहां तथा यहां हिन्दू मुसलमानोंमें कई लोग जो शाम तक लखपति थे सवेरे चल देनेपर रोटीको भी उन्हें मुहताज होना पड़ा। यह समय एकसा नहीं रहता है। प्राप्त समागमका सदुपयोग करो, तृष्णासे दूर रहो। अहो इस तृष्णाकी ज्वाला बुझने नहीं पाती। यह ज्वाला प्रकट हो जानेके बाद भी बराबर बढ़ती रहती है। गुरुजनोंने इसे बार-बार समझाया है। पद-पदपर यह ज्वाला लुभावने रूप लेकर सामने आती है। जिस मार्गके लिए इतना सब कुछ किया, वह शान्ति अनादि कालसे नहीं मिली। यह जितनी दुर्लभ है, वह उतनी सुलभ भी है। ऊपरसे लगने वाले शत्रु इतने प्रचंड नहीं हैं जितने अपनेमें ही बैठे हुए हैं। ख्याति पानेकी भावना अपना विकृत रूप दिखाकर शान्तिका नाश करती है। ऊपरसे दिखाई देता है लोग मेरी प्रशंसा करते हैं किन्तु अन्तरमें यह बदनाम (अज्ञानी) हो रहा है। यह शान्ति पानेका रास्ता नहीं है, किन्तु कुटिलता है। इसमें दोष अनादिकालसे पड़े हुए हैं। अनादिकालसे ही कषायोंमें रंगा हुआ है तथा कषायसे रंगा हुआ ही उत्पन्न होता है। किन्तु गुरुके समीप आनेपर प्रकाशकी किरण फूटती है। उस किरणके आनेसे यह चमचमा जावे तो निकलना साध्य है। अज्ञानको टालनेका एक बड़ा भारी प्रयत्न हो तो बड़ेसे बड़े दोष रह नहीं सकते हैं। इसे सच्चा लाभ मिल सकता है। गुरुजनोंने जिस मार्गसे शान्ति प्राप्त की है वही मार्ग अपने लिए है, दूसरा मार्ग खोजनेकी आवश्यकता नहीं है।

यहाँ दो में से एक ही शब्द रख देते तब वह विषय स्पष्ट नहीं हो पाता। इसलिए एकत्व-गत आत्माको बताऊंगा, एक कहो तब भी वही बात है, तो भी द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नय विशेष व सामान्यकी अपेक्षा कहेंगे, इससे यहाँ दो शब्द दिये हैं। जैसे एकत्वभावनामें अकेला ही भोक्ता, कर्ता बताया है। मेरा साथी अन्य कोई नहीं है तथा अन्यत्व भावनामें स्त्री, पुत्र, मित्र, दासी, दास, गाय, भैंस, धन, संपत्ति आदि सभी न्यारे न्यारे हैं, यह बताया। दोनोंसे बात स्पष्ट हो जाती है। श्री पं० भूधरदास जी ने कहा है—जहां देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय। घर संपत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय॥ इसका अर्थ कभी-कभी मनुष्य गलत भी सोच लेते होंगे। जैसे जहाँ (गाँवमें) अपना शरीर नहीं है वहाँ अपना कोई भी नहीं है या जब तक जिन्दा है तब तक तो अपना सब कुछ है। यह इसका मतलब नहीं है, किन्तु यह भाव है कि जब एकक्षेत्रावगाह वाला यह निकटवर्ती देह भी अपना नहीं है तो घर, संपत्ति, परिजन आदि तो प्रकट पर हैं, ये अपने क्या हो सकते हैं? वैसे तो विचार करने पर सम्पूर्ण भावनाओंका प्रयोजन अपने को एकत्वगत (अकेलेपन को प्राप्त) समझना है।

६३७. भावनाओंमें एकत्वनिश्चयगत आत्माका ज्ञापन—राजा, राणा, (गरीब), छत्रपति और हाथियोंपर सवारी करने वाले सभी अनित्य है। यह सोचने मात्रसे अपना कौनसा हित सधता है या प्रकाश हुआ दूसरोंके बारेमें तो सोचा करता है—सब नष्ट हो जावेंगे, मरणको प्राप्त हो जावेंगे, किन्तु अपनी अन्तरध्वनि यह नहीं हो पाती—मुझे भी मरना है, इतनेसे भी अन्तरंगमें कोई प्रकाश नहीं हो पाता। पर्याय तो नष्ट हो जायगी चैतन्यमात्र मैं रहूंगा। अपनी नित्यताकी खबर जब तक नहीं पड़ी तथा चैतन्यस्वरूप अपने आपको नहीं समझा तब तक अनित्य भावना ही क्या आई गई? इसी तरह अशरणभावना में देखो—सारा इष्ट जन व वैभव भी इस जीवको शरण नहीं। जब आयुका अन्त समय आ जाता है तब डाक्टर वैद्य हकीम कोई भी शरण नहीं है—ऐसी भावना व्याकुलता मिटनेका साधन नहीं है। मेरे लिए कोई शरण नहीं सब भयभीत हो गये। अन्य कोई शरण नहीं, किन्तु मेरी आत्मा ही मुझे शरण है। निजकी शरणता समझनेपर अशरण भी बनना सार्थक है। सब संसार असार है। सभी स्त्री, पुत्र, पति, पिता एक दूसरेके मोह में हैरान हो रहे हैं। हैरान, है = है, रा = धन, न = नहीं, कुछ भी आत्म धन जहाँ नहीं है। सार केवल चैतन्य स्वभाव है। मैं स्वयं निरपेक्ष स्वभाव हूं, यही मेरे लिए सार है। अपनी सारता समझनेपर संसार भावना सार्थक है। झगड़ा होनेपर जिसे अकेला मान रहे हो ऐसा वह शरीर तो अनन्त स्कन्धोंका पिण्ड है। एकत्व भावना तभी श्रेष्ठ है, जब शुद्ध आत्मतत्त्वका विश्वास हो जाय। जिसकी जितनी परपदार्थमें बुद्धि लगी है वह उतना ही

जरूर समझता है, किन्तु पक्ष नहीं पकड़ता है। नया विज्ञान आत्मा है, वह पहलेकी पक्ष पकड़कर नहीं बैठता है। आध्यात्मिक खोजमें वैज्ञानिक आगे निकल गये हैं। उन वैज्ञानिकों के चमत्कारपर दृष्टि करना है, किन्तु उन्हींमें अटक रहना हमारा काम नहीं है। वह आत्मतत्त्वके खोजकर्ता वैज्ञानिक थे, चेतनके उपासक थे, हम भी उसी तरहके शक्तिशाली हैं। नयी खोज भले न कर सकें, किन्तु पुराने तरीके को ही नये ढंगसे ग्रहण कर सकते हैं। जो भी नई बात आवे उसे बलपूर्वक दबानेकी आवश्यकता नहीं है। उसका लाभ दूसरोंको मिल सके इसका प्रसार यथोचित करना है। नई नई खोज भले करें किन्तु गुरुओंका पदानुसरण मंगलमयी है। उनका पदानुसरण हमें आगे ही बढ़ावेगा। अज्ञान अन्धकारने कितने नाच नहीं नचाये ? जीवनको अव्यवस्थित कर दिया। परमें विचरणसे ही कुछ पानेकी पिपासा सदैव तंग करती रही। अपने विशाल वैभवकी क्या कोई थाह (गहराई) ले सकता है ? वह निजके पास है। अगर ये अनथकित चरण चल पड़े तो उन्हें रुकनेका काम नहीं। यहाँ रत्न ही रत्न मिल सकते हैं, केवल ग्रहण करने वाला चाहिए। इस जीवनमें कुछ पा लिया वह आगे साथ जावेगा। इसका सच्चा मित्र विवेक है।

६४१. अकर्तृत्वप्रतिभासकी भावना—भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्व भिन्भ-भिन्न ही प्रतीत हों, यही उत्तम विवेक है। यह विवेकी आत्मा पर व आपके परस्परके विशेष ज्ञान होने पर, परको आपा न करता हुआ आपाको पररूप न करता हुआ स्वयं ज्ञानमयी होकर कर्मोका अकर्ता प्रतिभास होता है। जीव कर्मों (परद्रव्य) का तो कर्ता था ही, अज्ञानमें कर्ता लगता था सो ज्ञान होनेपर अकर्ता जंचने लगा। वास्तवमें तो न कर्ता समझना, न अकर्ता समझना है, किन्तु यथार्थतया ज्ञाता द्रष्टा रहना है। आत्माका स्वरसतः जो परिणमन है उसरूप परिणमते रहना यही इसका काम है। ऐसा होनेके लिए स्वरूपास्तित्वका ज्ञान होना आवश्यक है। जैसे शरीर पुद्गलकी या अन्य पुद्गलकी ठंडो गर्मी उस पुद्गलसे तो अभिन्न है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न है, किन्तु उसको विषय करके, निमित्त करके उस प्रकारका अनुभव आत्मामें हुआ; वह अनुभव उस कालमें आत्मासे तो अभिन्न है और पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है। इस ठडी गर्मी व ठंडी गर्मीका परिज्ञान—इन दोनोंमें परस्पर अत्यन्त भिन्नता है, ऐसा जो आत्मा पृथक्-पृथक् समझता है वह " ठडा नहीं, मैं गर्म नहीं, किन्तु ज्ञाता द्रष्टा हूं" ऐसा अनुभव करता है और रंच भी आकुलित नहीं होता। इसी प्रकार राग, द्वेष, साता, असाता आदि कर्म प्रकृतियाँ हैं वे अपनी-अपनी प्रकृति अनुभागरूप हैं व आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु उनके उदयको निमित्तमात्र पाकर राग द्वेष सुख दु:ख आदि अनुभव जो आत्मामें होता है वह उस कालमें आत्मासे अभिन्न है और पुद्गल द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न है। इस तरह रागादि प्रकृतियाँ व रागादि विभावानुभवमें जो अन्तर

६३९. **ब्रह्मस्वरूपकी अनुयोजनाकी विडम्बना**—अरे भव्यजीवों! जरा विचार तो करो—तुम कौन हो? कहाँसे आये हो? कहाँ भटक रहे हो? यह ख्यातिकी भावना क्यों प्रकट हो गई है? जरा बाहर निकलकर देखो तो कितने अनन्ते जीव इस लोकमें हैं? यहां तो दशा कुएंके मेढकके समान हो रही है। कुएंका मेढक वहीं घूमघामकर प्रसन्न है। उसने कुएंका चक्कर लगा लिया, मानो उसे कहीं भी घूमनेको नहीं रह गया। इस समय एक कथा याद आ गई है। एक मेढक था। उसके ३, ४ बच्चे थे। वह यहां वहां उछल कूद रहे थे। एक दिन एक बच्चा सड़कके किनारे बैठा था। वहींसे अचानक एक बैल निकल गया। जिसे देखकर वह डर गया और चिल्लाया अरे राक्षस है। तब वह फर्याद करने पिताके पास पहुंचा घबड़ाया हुआ। तब पिताजी ने पूछा—बेटे क्या बात है? क्यों डरसे कांप रहे हो? तब वह बोला, 'पिताजी आज तो बड़ा राक्षस आया था।' तब मेढक कहता है—क्या वह मुझसे भी बड़ा था? हां पिताजी! इसपर मेढकने जोरोंसे पेट फुलाया, तथा कहा, इससे भी बड़ा था। मेढकका बच्चा कहने लगा—हां पिताजी! इससे भी बड़ा था। तब मेढकने बार-बार पेट फुलाकर दिखाया और कहा—इससे भी बड़ा? बच्चेका उत्तर हां ही था। पेट फुलाते फुलाते मेढककी जान निकल गई पेट फूल जानेसे, फिर भी वह बड़प्पनको नहीं पहुँच सका। बच्चे वहींके बने रहे। इस कुएंसे निकल तथा बड़ोंकी अन्तः-प्रदर्शनी देख, यह लोक कितना बड़ा है तथा इस लोकमें कितने बड़े-बड़े हैं? जरा अपने अन्दर झांककर देख। समोशरणके वैभवको तो देख, विदेह क्षेत्रके जीवोंको तो सोच। वैभव की बुद्धि की तो तेरे अन्दर तो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य छिपा बैठा है। जो कुछ तुच्छ वस्तुयें मिली है वह तो कुछ भी नहीं हैं। छोटासा ज्ञान पा लिया, वह क्या समोशरणमें सुशोभित केवलज्ञानीका एक अंश भी है? जरा दृष्टिको विस्तृत कर २०, ४० आदमियोंने प्रशंसा की तो क्या मिला? दृष्टि तो फैलाओ कहां बड़ापन है? केवलज्ञानीके ज्ञानमें जहां तीनों लोक झलकते हैं वहां भी तेरा नहीं है। जीवकी अनन्तानन्त राशिमें कितने तुझे जानते हैं? तुझमें बड़ापन कहांसे आया? इस तरह बार-बार मुमुक्षु विचारता है, तो इस दुष्ट भावनासे रक्षा कर सकता है। नहीं तो इस कषायसे गिरा हुआ नहीं संभल सकेगा।

६४०. **निज सहज तेजके आश्रयका विवेक**—सब जीवोंमें तेज है। गुरुकी शरणमें आये हैं तो उस तेजके अन्दर सब झलक जावेगा। तेरे भीतरमें पड़ी हुई भावना जरूर प्राप्त हो जावेगी। कुछ लाभ उठाना चाहते हो तो इस तरहकी भावना बनाकर प्रयत्न चालू करना। भावना तो यह है जो गुरुजनोंसे प्राप्त किया है उसे हृदयमें धारण करना। दूसरे सब शत्रु है। पक्षपातोंमें पड़नेसे गिरकर उठना दुष्कर हो जावेगा। आज विज्ञान उन्नतिपर है। जो भी खोज करनेवाला आगे बढ़ता है। वह पहले हो चुके कार्यों या व्यक्तियोंकी बात

तक चन्द्रमा और सूरज है तब तक कीर्ति चाहता है, किन्तु ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। कीर्ति अभी तक कुमारी ही फिर रही है, इसका विवाह हो नहीं सकता। क्योंकि जो कीर्ति चाहते हैं उन्हें यह मिलती नहीं तथा जिसके पास यह जाती है, वह इसे ग्रहण नहीं करता है। साधारणजन चाहते हैं उसे उनके गुणोंमें एक भी दुर्गुण देख सारे गुणोंपर पानी फेर चुपचाप लौट आती है। जो पूर्ण निर्विकार, निर्मल, स्वच्छ होंगे उन्हें ही कीर्ति चाहेगी।

६४३. **मिथ्या विकल्पमें परेशानियां**—विकल्प करे तो भले विकल्प करे। यह सब वैराग्यवर्धक तथा तत्त्वज्ञानपर दृढ़ श्रद्धा जमाने वाले होने चाहियें। यह खुदके लाभकी चीज है। दूसरेको इसका फायदा नहीं पहुंचनेका इससे। यह जीव और आत्मामें विशेष करता है। जिसके भेदज्ञानकी बुद्धि नहीं वह कुटुम्बको, धनको बिखरने नहीं देना चाहता, परमें आत्मबुद्धि रखता है, परिग्रहमें आत्मबुद्धि रखता है। जो अपना नहीं उसका कितना क्लेश करता है ? सबसे बड़ा परिग्रह पुत्रपरिग्रह माना है और देशोंमें तो इसकी कदर नहीं करते हैं। पैदा हुआ और नर्सके हाथ सौंपा। रूसमें पुत्र पैदा हुआ और वह राष्ट्रकी संपत्ति हो गई। मुनियोंको भी शिक्षा देने वाले पं० आशाधरजीने अनगार धर्मामृतमें पुत्रपरिग्रहका निम्न वर्णन किया है—प्रथम गर्भमें आते ही स्त्री कुरूप हो गई। पतिके सुखको नष्ट कर दिया तथा पैदा होते ही स्त्रीको अनेक तरहके कष्ट हुए। स्त्रीके मरने जीनेका सवाल रहता है। यदि अच्छी तरह पैदा भी हो गया तो उसी समयसे पिताको कमानेकी चिन्ता लग गई। पालन पोषण किया तथा पढ़ाया लिखाया, पढ़ानेके बाद शादी की गई। तब उसने सारा धन अपने कब्जेमें कर लिया। कहां तो पिता स्वयं न खाकर, स्वयं न पहिनकर बच्चेको खिलाता तथा पहिनाता था। कहां अब पिताको उसीके लाले पड़ गये। यह सब आकुलतायें ही थीं, जिन्होंने खूब दुःख दिया।

६४४. **सुखीका अन्वेषण**—जगत्‌में सुखी कौन है ? यद्यपि आत्मा स्वभावसे आनन्दमय है। जितने जगत्‌में अन्य द्रव्य हैं उन सब द्रव्योंमें सारभूत श्रेष्ठ तत्त्व आत्मा है, जिसकी महिमा अचिन्त्य है, वह वर्णनमें भी नहीं आता है। यह दशा बतलाती है। यह ऐसा है अनादिसे मलीमस होता चला आ रहा है। दिखता है जगत्‌में सब जीव सुखसे वंचित हैं। सम्यग्दृष्टि ही सुखी है। गुणस्थानोंमें चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि बताये गये हैं। अविरत गुणस्थानसे लेकर सिद्ध परमात्मा तक सम्यग्दृष्टि हैं। जिन्हें यह सारा विश्व पृथक् पृथक् ज्ञात हो गया वह अपने आपको जान लेते हैं। जैसे यह घरके लोगोंमें भिन्न दिखता है वैसे ही यह चेतनको सर्वसे भिन्न समझता है। जिसकी परपदार्थोंसे भिन्न समझनेकी रुचि जग गई हैं इस तरहका अन्तर्दृष्टि सम्यग्दृष्टि होता है। सुखका रास्ता सम्यक्त्व है। यह संसार अथाह सागर है। इसमें लुड़कते-लुड़कते इसने मनुष्यभवको प्राप्त

समझता है, भिन्नता जानता है वह रंच भी राग द्वेषादि अज्ञानरूपसे नहीं परिणमता और ज्ञानकी ज्ञानता बनाये रहता है, सो वह स्वयं ज्ञानीभूत होकर ऐसा ही अनुभव करता है कि यह मैं जानता ही भर हूं, परन्तु रक्त पुद्गल होता है इत्यादि विधिसे ज्ञानी समग्र रागादि कर्मका जो कि ज्ञानके विपरीत है, उनका अकर्ता प्रतिभास होता है।

६४२. **कीर्तिवाञ्छा त्यागकर स्वस्थित रहनेका कर्तव्य**—अगर कोई क्षण शान्तिका कारण है तो वह स्वभावमें एकाग्रस्थितिका क्षण है। इस क्षणको खो देनेपर क्या वापिस आनेका है? जिस कार्यको करना है वह उसके स्वयंसे पैदा होता है। उसमें बाह्य कुछ नहीं करता। जैसे कारीगर द्वारा मूर्ति बनाई जाती है। मूर्तिमें वह उस तरहके परमाणु कहीं बाहरसे नहीं आ जाते हैं, वे पहलेसे ही मौजूद थे। उन्हींको सुचारु रीतिसे आवरण हटानेके उपायसे व्यवस्थित कर दिया है। यही दशा आत्माकी है। आत्माका विकास आत्मा के द्वारा होगा। उसमें अन्य सहायक नहीं हो सकते। परसे कीर्तिकी इच्छा रखने वाले अपनेको सुसज्जित तरीकेसे उपस्थित करते हैं, लोगोंके सामने शेखी हांकते हैं। लोग मुझे बड़ा समझें, उन्हें जिस तरह हो सके बूद्धू बनाया जावे। फिर भी कीर्ति नहीं मिलती तो माथा ठोककर रह जाते हैं। परसे ममत्व हटे—इसके लिए उपाय तत्त्वज्ञान और वैराग्य है। वैराग्य बढ़ानेके लिए जहाँ देखो वहाँ विरक्त करनेकी सामग्री मौजूद रहती है। तत्त्वज्ञानमें बात समानेपर परपदार्थ अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। आत्मा अपने प्रदेशोंमें रहकर ही आनन्दविभोर रहता है। कोई सोचता है मेरे विषयमें अमुक अमुक ख्याल करते होंगे। यह मेरा अहित कर रहे हैं। यह मेरा सम्मान नहीं रखता है। मैं आज इतनी उच्चदशाको पहुँच गया हूं तब भी मैं इस तरह क्यों रहूं? यह उसीके लिए अनिष्टकारी हैं। यदि अनिष्ट नहीं होते तब हम अपनेको हो इस दशामें पाते या कल्पना करते। जिसके जो विचार होते हैं वह वैसा ही अपना परिणमन करता है। स्वरूपास्तित्वसे आगे कहां जाया जा सकता है? ३४३ घन राजू लोकमें इसकी कीर्ति फैल जावे, यह तो इच्छा करता है और कृत्य करता है अपमान पाने के, तब वह ही मिल जावेगी क्या? दुनिया कितनी बड़ी है, इसका भी तो कुछ अन्दाज करें। यह भरतक्षेत्रमेंका हिस्सा ही तो हिन्दुस्थान है तथा वह लोकका असंख्यातवां भाग प्रमाण है। यह कीर्ति भी खत्म हो जाओ। १० में कीर्ति चाहते, २० आदमियोंमें चाहते, १०० मनुष्योंमें, १००० हजारमें यश चाहते? नहीं लाख मनुष्योंमें चाहते। यह मामला बढ़ता ही जाता है, शान्ति नहीं मिलती। यदि सब जीवोंमें भी यश फैल जाये तो क्या शान्ति हो जायगी? नहीं। अनन्त जीवोंमें कीर्ति हो जाय तो हो सकती है क्या? अरे पागल दुर्बुद्धि छोड़। यदि किसीसे कहा जाय तुम्हारी कीर्ति ५० वर्षों तक चलेगी और ५१में समाप्त हो जायगी, तो क्या वह पसन्द करेगा? जब

सही परीक्षा हो जावे। हम अच्छा गाने वाली मानी जावें। लेकिन दूल्हाकी टाँग भी टूट जाय घोड़ा पर गिरनेसे तो उन्हें उस राजाकी परवाह नहीं है। वे दूल्हाको अपना नहीं मानती हैं। इसी तरह ज्ञानीको अनेक कार्य करना पड़ते हैं, किन्तु वह उनमें आसक्त नहीं होता है। उसे तो अपने ज्ञानानन्दमें डुबकी लगाने से ही शान्ति मिलती है। जैसे कि स्वयं किसी वस्तुका स्वाद लिए बिना उसका आनन्द नहीं जाना जा सकता है, उसी तरह दुःख भी जब तक खुदपर न आ जावे याने खुद नहीं भोग चुके होवें तब तक दूसरेके दुःखको कौन जान सकता है? वही उक्तिमें कहा है—'जाके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई'। ज्ञानीके ऊपर बात बीते तब भी वह ज्ञानी प्रसन्न अनाकुल रहता है। बाह्यमें परपदार्थोंके संसर्गमें रहता हुआ भी अन्तरंगसे उनके प्रतिसे निवृत्त रहता है। जैसे कोतवाल कैदीको मारता पीटता, धमकाता है, डंडे मारता है फिर भी उसका दिल कहाँ रहता है? जब तक सम्यक्ज्ञानसे प्रेरा हुआ है तब तक चारित्रमें रहनेकी चाह रहती है, भगवान् जितना परपदार्थ है मैं उससे अलग हो जाऊं। तीव्र आत्मरुचिक सब कुछ करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता है।

६४७. सुरक्षित निजनिधिके परिचयका आनन्द—एक सेठ जी थे। वह घर पर सो रहे थे। इतनेमें डाकू लोग आये। उन्होंने सेठजी को कसकर रस्सीसे बाँध दिया तथा उनकी पिटाई भी की और चोरोंने धन चुरा लिया तथा उसे पोटली वगैरहमें बाँध लिया तथा चोर लोग जब भागनेको हुए उस समय सेठजी चिल्ला पड़े। तब उनके नौकर जाग गये और वह भाग कर आये। आहट पाते ही वे चोर भाग गये तथा सबका सब धन वहीं पर छोड़ गये। सेठ जी को जब बन्धनसे छुड़ाया गया तब उन्होंने यह देखा कि हमारा धन कुछ भी नहीं गया। इससे उनकी धन सम्बन्धी व्याकुलता जाती रही। वह सोचते हैं 'मैं तो कुछ भी नहीं लुटा' किन्तु जो पिटाईकी चोटें आ गईं थीं उन्हें भी विशेष चिन्ताकी दृष्टिसे न देखकर सन्तोषपूर्वक मिटानेका प्रयत्न करता है। पूरे मार्गका पता चल गया, लक्ष्य सही बन गया तब वह शान्तिपूर्वक मार्ग तय करता हुआ चला जाता है। उसे विश्वास है इतना कार्य करनेपर पूर्ण सुखी हो जावेंगे। अभेद निर्विकल्पता करने से सुख मिल जायगा। मैं लुटा नहीं हूँ, किन्तु जो घाव रह गये हैं केवल उन्हें भरना है। वह सब तरहकी सामग्रीसे युक्त होता हुआ भी निराकुल है। जगतमें सुखी ज्ञानी है। उसे किस बलपर सुख मिल जायगा? इसे वही जानता है। आत्मा तो ज्ञाता द्रष्टा है ही, मोह-वश याने अज्ञानवश कल्पनासे कर्ता बन रहा है। अज्ञान मिटे तो अकर्तृत्वका अनुभव हो। देखो वैयाकरण लोग कहते हैं—"स्वतन्त्रः कर्ता" सो द्रव्य तो अपने निरुपाधि स्वभाव परि-णमनमें स्वतन्त्र है, उसमें किसी भी रूपमें परकी अपेक्षा नहीं है। सो इस प्रकार आत्मा

किया है । दु:खका कारण मिथ्यात्व है । यह मनुष्यभव प्रबल पुण्यके उदयसे मिला है । यह सबमें सबल मालूम पड़ता है । यहांसे आनन्दका रास्ता खोजा जा सकता है । वह आनन्द इस आत्मप्रभुके पास ही है । आत्माकी भले प्रकार खबर लेवें तो निजके द्वारा हुई समता अपार होगी । उस आनन्दके गुणको कोई दूसरा नहीं जान सकता । बहुत सी विपदाओंको पालनेके बाद यह ज्ञान आ जावे—मेरा कोई नहीं है, मैं निजमें निजका प्रभु सबसे विभक्त स्वतन्त्र हूं । सम्पत्ति जुड़नेपर भी वह गर्वसे फूल नहीं जाता है । इन सम्पत्तियोंसे कोई स्थायी सुख नहीं मिला । मुझे कोई भी सम्पत्ति कुछ नहीं कर देती हैं ।

६४५. **सम्यग्दृष्टिकी सुखपात्रता**—जगत्‌में सुखी एक सम्यग्दृष्टि है । दु:खी अगर है तो मिथ्यादृष्टि है । सम्बन्ध सहित पदार्थोंका देखना, संयोग मानना, यह मेरे हैं, मैं इनका हूँ—यही संयोग है और इसीका नाम मिथ्यात्व है । इस दृष्टिके होनेपर दोका विकल्प बनाया । दोका विकल्प कितना भी बनाया जावे वह रहनेका नहीं है । चाहके अनुकूल कुछ नहीं रहेगा । इसके लिये चतुराई कितनी ही की जावे वह चलेगी नहीं । लोग मानते हैं जिस भवमें अच्छे सुख भोगे जावें वह बेकार नहीं जाता । यह भूलसे भरा सिद्धान्त है । धर्मके लिए एक भवके सुख ही छोड़ दिये जावें वह उत्तम है । अनन्ते भवोंमें अनन्ते दु:ख सुख भोगे, उनसे कोई सच्चा हित नहीं हुआ है । भीतरकी प्रतीति दृढ़ बना लेवे, आनन्दका काम मुझसे ही होगा । वह भी आत्माके आनन्द गुणका परिणमन है । मैं अपनेमें तल्लीन अपने द्वारा ही हो सकता हूं । ज्ञानी देखता है—मैं यह कुछ नहीं करता हूँ । ज्ञानी की दृष्टि सेठकी दुकानपर काम करने वाले मुनीमके समान होती हैं । मुनीम काम करता है । अनेक आदमी उसके पास आते हैं । सबसे रुपया लेता देता है । हजारोंका हिसाब रखता है । वह उन सबका नाम जमा डालता है । हजारों रुपयोंका मालिक उस समय वही है । फिर भी उसकी प्रतीति रहती है, इसमें मेरा कुछ नहीं है । मैं तो केवल निमित्त मात्र नौकरीके बलसे करता हूं । पराधीन होकर करना पड़ता है अतएव करता है । उसका भाव सदैव कार्यसे छुटकारा पानेका रहता है । आसक्ति उसे छू नहीं जाती है । इसी तरह यहाँ सार कुछ नहीं है । निर्विकल्प चिदानन्द समाधि ही सुखकर हो सकती है । सम्यक्‌ज्ञानका जो अनुभव व आनन्द है वही मुझे उपादेय है ।

६४६. **ज्ञानीकी परतत्त्वमें अनासक्ति**—विवाहमें देखा होगा । गीत गानेके लिए पूरे पड़ौसकी अनेक स्त्रियाँ बुलाई जाती है तथा वे बन्नाका (दूल्हा) बखान करके कई तरहके गीत गाती हैं । वे कहती हैं मेरे राजा जी, सरदार बना, सिरताज, इंगलैंडका बादशाह, आदि न जाने क्या क्या बकवाद कर डालती हैं, किन्तु वे क्या उसमें अपने पुत्रसरीखी आसक्ति रखती हैं ? कदापि नहीं । वे गीत भी इसलिए गाती हैं कि आज मेरे स्वरकी

अधिकारी हो सकते हैं तथा नरक और तिर्यंच इन दो गतियोंको टाल सकते हैं। सम्यक्त्व आदि सद्भावोंका क्रम चलता रहा तो उत्कृष्ट सुख ६६ सागर तक भोगता है तथा ज्यादा से कुछ कम १३२ सागर भी सुखपूर्ण समय काट सकता है। क्योंकि ६६ सागरके बाद मिश्र गुणस्थान मध्यमें आ गया, तब फिर ६६ सागर तक मनुष्य और देवगतिके सुखोंको भोगना सरल है। यह सब भी ज्ञानीको रुचता नहीं। विषय कषायोंके आधीन होकर उद्दंडतासे घूमना तो अपना अहित करना है। यहाँ तो किम्पाक फलके समान मीठे मालूम पड़ते हैं ये विषयफल, किन्तु आगे जाकर अचेत कर देते हैं। विषय कषायोंके आधीन हुआ जीव यहीं दु.ख भोगता है। आगे जो भोगेगा सो भुक्तभोगी ही जानेगा। भगवान्की भक्ति स्तुति में मन लगाया तो शुभ राग होगा तब अशुभ रागसे बच सके सो अच्छा ही है। शुभ राग के अभ्यासके साथ ही शुद्ध परिणामोंकी ओर भी झुकाव हो सकता है। ज्ञानी अगर क्षोभ करता है तो वह क्षोभसे ज्यादा कर्मोंकी निर्जरा भी कर सकता है। अगर सत्संगमें रहकर उपयोग कुछ नहीं बना सके तो उस भारवाही गधेके समान रहे, जिसके ऊपर चन्दन लदा है तथा मस्त हुआ चला जा रहा है। बाजारमें निकलनेपर उसकी सुगन्धि दुकानदार एवं अन्य नागरिक तो लेते है, किन्तु उसे उसका ख्याल ही नहीं है।

६५०. स्वयंमें भेददृष्टि होनेपर भेददृष्टिके प्रतापकी प्रगति—जैसे कि शरीर गर्म होनेपर गर्मी शरीरसे अभिन्न है। उस गर्मीपर लक्ष्य देकर आत्माने जो अनुभव बनाया वह अनुभव उस समय आत्मासे अभिन्न है। आत्मा शरीरमें अभिन्न दिखती हुई भी पुद्गलसे अत्यन्त भिन्न है। भेदविज्ञान होनेपर आत्माने बुखार आदि परको नहीं किया तथा परने भी आत्माको इस अनुभवरूप नहीं बनाया है, यह समझमें स्पष्ट आ जाता है। घर, परिवार आदि है वह अपनेसे अत्यन्त पृथक् दिखते हुए साफ ही भिन्न-भिन्न हैं। रागभाव उस समय रागी आत्मासे अभिन्न है। रागभाव उन परिवार वालोंसे भिन्न है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं बन जाता। जो शरीरके परिणमन बुखार आदि है वह आत्मा से भिन्न समझ रहा है। शरीरमें बुखार हो और आत्मा उसे अनुभव न करे यह भाव उन्हींमें आता है जिन्होंने परसे अपनेको पूर्ण भिन्न समझ लिया है। विदेह क्षेत्रकी चर्चा यहाँ पर होवे तो सोचते हैं, उनका शरीर इतना बड़ा कैसे होता होगा ? वहाँसे मोक्ष कैसे जाते होंगे ? वहां धर्मकी जागृति सदैव कैसे रहती होगी आदि अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। असलमें खुद सुखी होवें या हो सकें तो दूसरेके सुखको समझ सकें। स्वय रागी हैं तो दूसरोंको भी रागी मान लेते हैं। खुद दुखी होनेपर दूसरेके प्रति भी इसी तरहकी कल्पना करते हैं। मायाचारी पुरुष दूसरेको भी उसी मायादृष्टिसे देखता है तथा क्रोधी, लोभी, मोही आदि भी उसी तरहसे समझने लगता है। स्वयंमें भेददृष्टि होनेपर भेददृष्टिका प्रताप

भी अपने स्वभावकी धधकनरूप परिणमनमें स्वतन्त्र है, अतः वह अपने अर्थपर्यायका कर्ता है, विभाव या अन्य पदार्थका कर्ता नहीं है। दार्शनिक लोग कहते हैं कि "ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वं हि कर्तृत्वम्" सो इस ज्ञान, इच्छा व प्रयत्नको कर्तृत्वमें लिया। अब देखो यदि ज्ञान में कर्तृत्व है तो केवलज्ञानीमें कर्तृत्वका प्रसंग आता और प्रयत्न अर्थात् योगमें कर्तृत्व है तो सकलपरमात्मा विहार व दिव्यध्वनि करते हैं, उनमें कर्तृत्वका प्रसंग आ जायगा। सो ठीक है नहीं। अब बची इच्छा, सो सच है—इच्छामें ही कर्तृत्व भरा है। इच्छा छोड़ो और अकर्ता हो जावो।

६४८. **व्यर्थका मोह और उसका दुष्परिणाम**—इस जगत्में अनन्त आत्मायें हैं। उनमेंसे कोई एक आकर पुत्र रूप पैदा हो गया, उसीसे मोह करने लगा, उसीमें हर्षित होने लगा। जगत्में जितने जीव हैं, उनमेंसे कौन बन्धु नहीं हुआ है? फिर उस एक पर ही क्यों मोहित हो रहा है? जो परको अपना नहीं बनाते हैं वह अकर्ता है। मन्दिर बनवाने वाला कहता है—मैंने क्या किया आपके पुण्य प्रतापसे ही एवं आशीर्वादसे यह मन्दिर बना है। इसकी रक्षा व सुपुर्दगी भी आपके हाथमें है। तब उसके सरल परिणामोंकी जगह जगह प्रशंसा होती है। इसके विरुद्ध वह कहने लगे, 'मैंने यह मन्दिर बनवाया है, देखो कितना बढ़िया भव्य सुन्दर कला कराई है तथा मैं इसका उद्‌घाटन करता हूं।' यह सब कहने वाला निराकुलतासे नहीं कह पावेगा। कर्तापनकी बात कहनेमें बुरी है, सुननेमें बुरी है। जो सुनता है, वह उसके घमंडीपनकी बात ही समझता है। तथैव कर्तापन जतानेकी बात भी आकुलता करने वाली है। जगत्के पदार्थ किसीके परिणमानेसे नहीं परिणमते हैं, न उनको परिणमानेकी किसीमें शक्ति है। पदार्थ परिणमन शून्य नहीं होते हैं. सो ये सबके सब पदार्थ अनन्ते समय तक इसी तरह परिणमते जावेंगे। कोई विशिष्ट ज्ञानी भी है, वह भी कुछ करनेको समर्थ नहीं है। तब जो होना है सो होता है। केवलज्ञानीकी लीला अपार है तथा मोहीकी भी कम नहीं है। मोही अनादिकालसे दुःखके थपेड़े खाता फिरता दुःख भोगता रहता है तथा केवलज्ञानी अनन्ते समय तक सुख भोगेगा। दोनोंमें कितना विरोध है? मोहका चमत्कार भी जबर्दस्त है। थोड़े समयके जीवनको पाकर मान कषायमें भूले जा रहे हैं। आगे क्या होगा, इसे पूर्णतया भूल गये। अपना सुधारना, बिगाड़ना अपने हाथ में है। मरना तो है ही, किन्तु अनेक दुःखोंको भोगता हुआ जीवन बिताकर अन्तमें भी यातनायें सहकर मरा, तब आगे यातनायें ही मिलेंगी। अगर अविवेक रहा तो निमित्त-नैमित्तिक भाव तो कहीं मिटता नहीं है, सो तुम्हीं विचार लो क्या गति होगी?

६४९. **शुभभावका परिणाम**—व्रत संयम पूर्वक जीवन बिताया तो देवगति पानेके भी अधिकारी हो सकते हैं। समता अगर साथ बनी रहे तो मनुष्य और देवगति पानेके भी

भिन्न समझ लिया, यह है। रागद्वेष आदि विभावोंसे रहित मैं ज्ञायक मात्र हूं। अन्तर्दृष्टि की छैनी लगाई तो वहाँ एक ज्ञायक स्वभाव मात्र मालूम होता है। या जो एक द्रव्यस्वभाव है वह मेरी निजकी वस्तु है अन्यकी नहीं है। रागद्वेष आदि परमें नहीं पाया जाता है तथा मेरा ज्ञान द्रव्यान्तर स्वभावसे नहीं हुआ है। वह एक द्रव्यका ही स्वभाव है। यहाँ दृष्टान्तपूर्वक कह रहे हैं--रागद्वेष आदि कर्मोंकी प्रकृतियां हैं। इनमें कर्मप्रकृतियोंका निमित्त पाकर रागद्वेष आदिका अनुभव हो रहा है। दर्पणका प्रतिविम्ब तथा प्रतिविम्बवाला मूल पदार्थ न्यारा-न्यारा है। उस सामने वाली वस्तुको दर्पणके पाससे हटा लेनेपर वहां विम्ब नहीं रहता। अतः अन्वयव्यतिरेक परवस्तुके साथ रहा, सो दर्पणमें पड़ने वाला प्रतिविम्ब दर्पणसे भिन्न है। परपदार्थोंका निमित्त पाकर आत्मामें होने वाले राग द्वेष आदि विकार आत्मासे भिन्न हैं। रागद्वेष आदिके द्वारा कर्मप्रकृतियां नहीं बंधे तो सुख और दुःख भी नहीं होगा। कई मनुष्य स्त्री आदि साथ-साथ रहते हैं। उनसे कहा जाय--तुम हमारी बात जरा भी तो ग्रहण कर लो, वह कोई नहीं ग्रहण करता है। सभी द्रव्य जुदे जुदे हैं। हम कुछ कह रहे है, आप सब सुन रहे हो। सभी अपनी चेष्टायें कर रहे हैं। फिर भी आप सबका द्रव्य गुण परिवर्तन हममें या हमारा आपमें जरा भी हो जाय, तो वह नहीं हो सकता है। जिगरी दोस्त जानते होंगे। उनकी बड़ी गाढ़ मित्रता रहती है। क्योंकि बचपन से ही वह इकट्ठे रहते आये, इतनेपर भी वह आपसमें द्रव्यगुणका आदान प्रदान नहीं कर सकते हैं। परिवार तकको छोड़ देते हैं। कर्मकी बात जीव ले लेवे तथा जीवकी बात कर्म ले लेवे या आप ले लेवें यह भी नहीं हो सकता है। किसीसे भी कोई प्रेम नहीं करता है। प्रेमी आत्मा अपने आपमें प्रेम पर्याय उत्पन्न करते हैं। अपने स्वरूपसे बाहर एक पदार्थको भी तो जान नहीं सकते हैं, एक अणुको भी नहीं जान सकते हैं। केवलज्ञानी भी अणु या अन्य बाहरके प.ार्थको नहीं जान सकता है। वह सारे विश्वको जानता है, खण्डको या अणुको नहीं जानता है। किसी भी द्रव्यकी क्रिया बाहर नहीं जाती है, बाहरके पदार्थपर नहीं होती है। आत्माके ज्ञानगुणका प्रयोग बाहर कैसे चला जायगा? हम भी तथा आप भी निश्चयसे कुछ नहीं जान रहे हैं। अपनेमें जो परिणमन हुआ है उसीका भोग कर रहे हैं। वह प्रतिबिम्ब दर्पणके अनुरूप ही होता है। अगर इसे जाना तो यही कहेंगे, प्रतिबिम्ब वही है। असलमें बता ही नहीं सकते कैसे जाना? जिस बाह्य पदार्थके अनुरूप यह ज्ञान है। दर्पणका स्वभाव झलकाना है, उसके सामने जिस तरहका पदार्थ आता है वह झलक जाता है। इसी तरह भगवान् ने सारे विश्वको कैसे जाना, विश्वके आकार (प्रतिबिम्ब) जो ग्रहण है उसे ही जाना, अन्यको नहीं जाना।

६५३. विपरीत आशयमें बेठिकाना—मोही दुनिया भरके रिश्ते बखानते है। अमुक

बढ़ता है।

६५१. **भेदविज्ञानका प्रताप**—ज्ञानीको शेरनी भी खा रही हो, तब भी वह उस दुःखको अनुभवमें नहीं लाता है। क्योंकि जिसे स्वात्मानुभव हो गया है, वह कैसी भी विपत्ति आनेपर अपनी नहीं मानेगा। वृत्तियां दूसरेका निमित्त पाकर बनती हैं। जिन्हें विपत्तियोंने घेरा है वह उसीके द्वारा बनाई जाती हैं। कुछ विचार करते हैं—अमुकका इतना इष्ट गुजर गया तो वह जिन्दा कैसे रहता होगा? यह विचार अज्ञानीके मनमें उठते हैं। मोहीजन ज्ञानी की कलाको देखकर बहुत-बहुत विचार करता है तथा ज्ञानी जन सोचते हैं—मोही कुछ नहीं कर रहा है। मोहमें वह नाच रहा है। मोही घरमें रहकर मोह करता है। उन्हें यही शिक्षा, संस्कार मिले हैं। सबकी एकसी बुद्धि नहीं होती है। जिसको जैसे-जैसे आत्मबल बढ़ता है उसमें उसीकी ध्यानादिकी शक्ति होती जाती है। जैसे जैसे शरीरका बुखार नहीं रहता है तब शांतिका अनुभव करने लगता है। जिसे भेदविज्ञान हो जाय वह बुखारका होना नहीं मानता है। जब वह बोल रहा था—मुझे ठंड लग रही है, वह दूर हो जाती है। भेदविज्ञानी आत्मासे शरीरको भिन्न मानता है। वह उसमें आसक्तिसे नहीं लगता है तथा बाहरी ठंडसे काँपता नहीं है। किन्तु उन्हें उसका ज्ञान हो रहा है। इस तरहके मुनि वर्तमानमें भी दृढ़ तपस्याके करने वाले हैं। मुनि नमिसागर जी महाराजका त्याग उत्कृष्ट था। उनकी तपस्या दुर्द्धर थी। वह १५ दिन तथा महीने भरके उपवास भी कर लेते थे। एक समय उन्होंने एक वर्षमें कुल ४५ दिन आहार लिया था। विशेष उसकी जीवनीसे जाना जा सकता है। दिगम्बर मुनि शीत ऋतुमें नदी किनारे भी ध्यान लगाते थे। गर्मियों में पहाड़पर, या मकान आदिकी छतपर घंटों ध्यान लगाते हैं तथा वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे ध्यानमग्न हो कर्म काठको जलाते हैं। वे संक्लिष्ट नहीं होते, यह भेदविज्ञानका ही तो प्रताप है। साधारण परिस्थितिका गृहस्थ ५०) की दुकानमें भी अपने गृह खर्च चला लेता है तथा पहले समयमें अधिकतर मनुष्य थोड़ेसे साधनोंमें अपना खर्च चला लेते थे, किन्तु आज आवश्यकतायें इतनी बढ़ गईं कि मध्यम परिस्थिति वालेका भी ५) प्रतिदिनमें भी गुजारा चलना कठिन हो गया एवं जो लखपति आदि हैं उनकी तृष्णायें तो दिन दुगनी, रात चौगुनी धन प्राप्त करनेकी लिप्सायें बढ़ती जाती हैं। यह सब असंभवसा लगता है। शरीर से ही अधिक रति करनेके कारण अनेक पदार्थोंका संग्रह हुआ प्रतीत होता है। इसके विपरीत शरीरसे अधिक रति न करके यही शरीर ज्ञान वैराग्यका कारण बन सकता है। किसी को कोई बता देवे—अमुक तुम्हारा रिश्तेदार हो जायगा तो फिर उससे अधिक रति करने लगते हैं, एवं अमुक रिश्तेदारी तुमसे नहीं करेगा तब फिर उसे दिलसे उतार देता है।

६५२. **परतत्त्वसे विभक्तता**—सबसे बड़ी कमाई, रागद्वेष भावोंसे ज्ञायक तत्त्वको

का कारण है। अन्तमें चाहे शुभ हों या अशुभ उन विकल्पोंसे मिलता कुछ नहीं। जब उस सम्बन्धमें वैसा प्रसंग आ जाय तो सन्तोषामृतसे उन्हें शमन कर लेना चाहिए। सारभूत तत्त्व आत्मतत्त्वको जाननेसे ही मिलेगा। आत्माके सच्चे स्वरूपकी पहिचान करना तथा उसपर ही दृढ़ बने रहना कल्याणकारी प्रतीत होता है। मैं सबसे भिन्न एक चिदानन्द मयी आत्मा हूं। जब किसी घरमें अधिक लड़ाई हो जाती है आपसमें ही; तब समझानेके लिए अन्य रिश्तेदार आदि आते हैं। अगर बहिनोई हुआ तो उसको प्रधानता दी जाती है इस मामले में। वहां समझाने वाले यही कहते हैं 'तुम तो भाई भाई सब एक हो जाओगे; हम लोग किसीका पक्ष लेकर व्यर्थमें बुरे बनते हैं।' इन संयोगोंकी ऐसी ही बात है। इनमें जब आपसमें लड़ाई हो जाती है, तब विद्वेषकी अग्नि फूट निकलती है एवं एक दूसरे को अच्छी आँखों नहीं देखना चाहते हैं। वे एक दूसरेका अहित करनेमें तुल जाते हैं। इसमें भावना यह रहती है—अमुकका उत्कर्ष खत्म हो जाय तो हम सुखी हो जावें। किन्तु होता है इसके विपरीत, किसीकी भावनासे किसी दूसरे भाई या अन्यका उत्कर्ष समाप्त नहीं होता है। इन संयोगोंका ऐसा ही प्रभाव है जबकि दूसरेके संयोगोंको देखकर जो हृदयमें जलन होती है, उसी तरह अपने संयोगोंको ऐसा ही सच्चा दुःखका कारण मान लिया जावे तो उनसे छुटकारा पानेकी भावना स्वतः जागृत हो सकती है। जितना भी संग्रह किया जाता है उतना ही दुःख बढ़ता है। मोहवश अपना मान बढ़ानेके लिए, इज्जत पानेके लिए अनेक प्रकारके बनावटी प्रसाधन काममें लिए जाते हैं। पुण्य तथा पाप दोनों भी स्वभाव विकासके हेतु नहीं हैं। पापके उदयसे घबड़ाकर आर्त रौद्र ध्यानके वशीभूत होकर कर्म बन्धन और दृढ़ किया जाता है तथा पुण्योदयमें भी सुख रूप कर्मका बन्ध ही होता है। यह पाप पुण्यके घेरेमें ही हमेशासे पड़ा हुआ है।

६५६. **ज्ञानी पुरुषके कर्मबन्ध न होनेका मर्म**—अज्ञानपूर्वक जो भी चेष्टा की जाती है वह आस्रवका ही कारण होता है। मनकी चेष्टा भी आस्रवरूप है। दूध और पानी मिला हुआ है। परखने वाला जानता है, दूध इसमें इतने अंश है तथा पानी इतने अंश है जो कि पौष्टिक नहीं है। केवल दुग्धका अंश ही बलकारक है। ज्ञानी जान रहा है अपने पर जो बीत रही है, उसमें ज्ञान विकास जितना है वह मोक्षका कारणभूत है तथा बाकी अंश मोक्षका कारण नहीं है। जो भी पदार्थ जिस ढंगका है वह वैसा ही परिणमन करेगा। ज्ञानी शब्दका अर्थ भूलवश व्यवहारिक कार्योंमें लग रहा है। जैसे एक ही व्यक्ति कई काम करता है। कभी गृहस्थीके कार्य चलाता है, कभी जिनेन्द्रदेवका पूजन करता है, मुनीमगिरी करता है, समयपर बच्चोंको पढ़ाता भी है। तब उसे सब जगह एक ही नामसे नहीं पुकारा जाना चाहिये। जब वह दुकानदार रहता है तब उससे लोग कहते हैं 'मनीम जी हमारा

का अमुक कुटुम्बी, आदि है यह सब व्यामोह ही है। लोभमें चतुर व्यक्ति जैसे बातें बनाते हैं देने लगे का कुछ नहीं इसी तरह मोही पुरुष भी विकल्प ही करते हैं बाह्य पदार्थसे आने जानेका कुछ नहीं है। एक व्यक्तिने बहुतसे आदमियोंको तंग करनेके लिए या बदला लेने के लिए भोजनका निमन्त्रण दे दिया। निमन्त्रणमें कहा—आप लोग सभी ठीक १२ बजे आ जावें। सबके लिए दरी गलीचे बिछे हुए थे। सब आकर बैठ गये तथा घरमें कुछ धुंआ कर दिया, बर्तन आदि बजाने, खटखटाने लगा, जिससे ज्ञात होवे भोजन बन रहा है तथा पत्तलें भी परोस दी गईं एवं पानी भी। किन्तु भोजन आना नदारत। यह सब देख कर निमन्त्रण देने वाले के वे सब दुश्मन हो गये। जिसका उद्देश्य गलत होता है उसका आचरण भी गलत होता है। वर्तमानमें बिना उद्देश्यके ही अनेक क्रियायें की जा रही हैं। सफल वही हो पाते हैं जिनका उद्देश्य ठीक रहता है। कुछ लोग कहते हैं, अमुक गुस्सा अधिक करता है, इसे नियम दिला दो। अन्तरङ्गकी प्रेरणा बिना यह नियम लेना कोई महत्त्व नहीं रखता है।

६५४. भावभावमेंभेद दर्शन—जिसे बुखार हो जाने से शरीरमें गर्मी थी, वहाँ शरीर ही इस रूप परिणाम रहा है। आत्मा गर्मीरूप नहीं परिणमता। इसी प्रकार राग द्वेषादि जो कर्मप्रकृतियाँ हैं उनका परिणमन कर्मोमें ही है तथा उनका निमित्त पाकर होने वाले विभावका अनुभवन आत्मामें है। कर्म परिणति भिन्न है तथा आत्मा भी अत्यन्त भिन्न है। इस तरह जो भेदप्रतीति कर लेवे वह रागद्वेष रूप परिणमन करनेमें असमर्थ हो जाता है। निमित्तको पाकर इसके औपाधिक भाव हो रहा है। औपाधिक भाव जो है वह मुझसे भिन्न है। मैं तो ज्ञायक भाव स्वरूप ही हूं। आधार तो एक है, स्वरूपभेदका अन्तर है। एक स्वाभाविक रूपसे परिणमनेवाला यह आत्मा अनादि अनन्तसे है। औपाधिक भाव अध्रुव है। हर तरहसे वर्णन करते करते सम्यग्दृष्टिके विचार बताये हैं। जो रागद्वेषसे अलग हो जावे–इस तरहका निर्विकार शुद्ध स्वभाव आत्माका है। कर्मका निमित्त पाकर वे विभाव उत्पन्न हुए हैं। जो रागादिक भाव हैं वह मेरे नहीं है। मैं तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव स्वभाव हूँ। यह जीवन पाया है, इसमें हमें करना क्या है ? व्यवसाय तो कुछ न कुछ अनादिसे चल ही रहा है। अब तो सही व्यवसाय करना है जो संसारके दुःखोंसे टालनेमें समर्थ हो सके। दुनियावी जितने भी व्यवसाय हैं उसमें विकल्पोंकी उधेड़बुन ऐसी लगती है कि निजके हितका तो नाश हो ही जाता है तथा साथमें दूसरे का भी होता है।

६५५. मोहवश बन्धन आधीनतामें आजादी व भलाई माननेका भ्रम— यह जीव मूर्खतावश अनेक तरहके कुतर्क एवं विकल्पोंके आधीन होकर अपना भला समझता है। शुभविकल्प, शुभभावनायें अशुभसे बचाने वाली हैं। जबकि खोटा विकल्पमात्र संसार-जाल

समझना चाहिए। विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छा सदैव दुःख प्रदान करती है। पूर्ण लक्ष्य की प्राप्तिके लिए बड़ी तपस्या करना पड़ेगी। अज्ञानी जीव परपदार्थोंमें आसक्त रहता है तथा अनेक दुःख उठाता है। ज्ञानी जीव परमें आसक्त न होकर निजमें आनन्द मानता है। जिसकी लगन आत्मज्ञानकी ओर है, उससे कोई भी विद्वेषी लड़नेको आ जावे, शरीरपर प्रहार भी कर देवे तथा किसी स्थानसे हटा देवे, तब भी वह दुखी नहीं होता है। ज्ञानीको भोजन भी नहीं मिला तो चिन्ता नहीं। वह स्वादिष्ट भोग्य पदार्थ मलाई आदिमें गृद्धता नहीं रखता है, किन्तु आवश्यक माफिक भोजन पाकर संतुष्ट रहता है, तथा ज्ञान ध्यानकी लवलीनता ही उसकी निधि रहती है। वह ज्ञानी प्रशंसा करने वालेपर प्रसन्न होकर उसीके उपकारकी नहीं सोचता है तथा न निन्दा करने वालेसे भी रुष्ट (अप्रसन्न) हो उससे बदला लेनेकी सोचता है। उसकी दृष्टि सदैव निरपेक्ष स्वभावकी ओर रहती है। उसे बाह्य में कोई विपदा नहीं मालूम पड़ती है। जो निज स्वरूपमें बढ़ता चला जा रहा है उसे कष्ट कुछ नहीं है। ज्ञानी गृहस्थ होकर भी अपने लक्ष्यको नहीं भूलता है। वह तो अनेक संयोगोंमें रहते हुए भी उसमें नही है। कुछ लोग कहते हैं दुकानसे, मकानसे, व्यापारसे धर्मध्यान करनेका समय नहीं मिलता है। लेकिन उसी कहने वाले व्यक्तिका पुत्र, स्त्री आदि बीमार पड़ जावे तो वह जल्दी समय निकाल लेता है। यही सोचकर शुरूसे धर्मध्यानको समय निकालता रहे तो इस तरहसे नहीं कहना पड़ेगा। ज्ञानस्वरूपमें प्रतीति करने वाला सारे कामोंको ठुकराकर धर्मध्यानपर विशेष लक्ष्य रखेगा। वह अपनी दृढ़ धारणा अटल रखता है। वह सोचता है हम तो जानन देखन हारे हैं, संसारमें कुछ भी होता रहे। वह अचेतनमें राग नहीं करता है तथा चेतन ज्ञायक स्वभावपर दृष्टि रखता है। अब अज्ञानसे कर्म किस तरह आते है? इसका वर्णन भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य करते है—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९४॥

६५८. अज्ञानसे कर्मास्रव होनेका विवरण—अज्ञानसे कर्म कैसे आते है? अज्ञान एक ऐसा परिणाम है या एक ऐसा भाव है कि जिसके कारण परपदार्थोंमें और आत्मतत्त्व में भेद नहीं मालूम पड़ता है। वह अज्ञानभाव सामान्य रूपसे अज्ञान ही कहलाता है तथा विशेष करनेपर उसके तीन भेद हो जाते है—(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान और (३ अविरति। कहने को तो अज्ञानभाव है, वह तीनों ही एक रूप हैं। मिथ्यात्व मिथ्यादर्शन) का परिणाम अज्ञान है। अज्ञानका परिणाम अज्ञान ही है तथा अविरतिका परिणाम भी अज्ञान है, सामान्यसे अज्ञानरूप है, किन्तु वह तीन तरहका विकार है। वह चैतन्य परिणाम है। जो चेतन है उसीका परिणाम तो नहीं है, किन्तु उपाधिको निमित्त पाकर परि-

हिसाब कर दीजिए, रुपया जमा कर लो तथा इतने रुपया दे दो आदि।' फिर भी यहाँ पुजारी तथा मास्टर आदि शब्दोंसे कोई पुकारेगा सो शुद्ध प्रयोगमें फरक हो जायगा। जब पूजन करेगा उस समय पुजारी ही कहलावेगा। उसी तरह ज्ञानी भी है। जब वह अपने आत्मचिन्तनमें स्थिर है तब ज्ञानी है एवं अन्य समयोंमें नहीं है। ज्ञानीके राग करते हुए भी बन्ध नहीं है। जो विशेषण दिया गया है उसे देखकर सोचना चाहिए। ज्ञानभावसे बन्ध नहीं होता है। शब्दोंके जुदे जुदे अर्थ हैं। एक शब्दके १० पर्यायवाची होनेपर भी वह अपना भिन्न-भिन्न महत्त्व रखते हैं। विशेषता इसकी है, कहाँ कौनसा शब्द किस कलासे बोलना चाहिए? व्यवहारमें भी शब्दोंका भिन्न अर्थ होता है। जैसे दुकान उसे कहते हैं जहाँ दो के कानोंसे काम पड़े। एक ग्राहक और दूसरा विक्रेता आपसमें जहाँ लेन देन करें तथा मकान जहाँ दूसरेके कानसे काम न पड़े अर्थात् बाहरका आदमी आवे तो कह देना, कार्यालयमें मिलना, यह स्थान मिलनेका नहीं है। जहाँपर वस्तुयें सुरक्षित दुबका कर रखी जावें उसका नाम दुकान है। अर्थ सबके हैं। जहाँ जो बात जिस ढंगसे कही जानी हो, वहाँ उसी तरहके शब्द प्रयोगमें आते हैं। अन्य प्रकारसे बोलनेमें रूढ़िसे ही उनके नाम पड़ गये तथा व्यवहारकी अपेक्षा भी उनका विपरीत या सही रूप प्रचलित चल रहा है। ज्ञानी शब्दोंका अनुकूल जो अर्थ है—जो सही वाक्यमें साधक हो, वैसा ही अर्थ लगाता है। इसीसे समझिये ज्ञानीके कर्मबन्ध नहीं होता है, इसका अर्थ है कि ज्ञानभावसे बंध नहीं होता है। ज्ञानभावकी विशेषता मात्रसे जाना गया जो आत्मा है उसके बन्ध नहीं है। जब यह भेद-विज्ञान समझमें आकर उसे अपने अनुरूप बना लिया जायगा तब रागद्वेषका अभाव स्वतः आ जायगा। रागद्वेषके अनुभवनमें तथा उसकी परिणतिमें भी जब नानापनका ज्ञान हो गया तब अज्ञान नहीं रहना चाहिए। उसके साथ ही विवेक हो गया, तब जरा भी अज्ञान रूप नहीं परिणाम रहा है। ऐसा मैं यह जानता हूं तथा जो रागमें फंस रहा और द्वेषकी जड़ मजबूत कर रहा है, उसे भेदविज्ञान नहीं हुआ जानना चाहिए। जीव और पुद्गलको भिन्न-भिन्न जानने वाला सम्पूर्ण रागादिका अकर्ता हो जाता है। मैं किसीका कर्ता नहीं हूं।

६५७. सुभवितव्यतामें सुभवितव्य—होनहार बढ़िया होनेपर सभी काम सिद्ध हो जाते हैं। होनहार बढ़िया नहीं है तो करोड़पति सेठ होकर, देशका मंत्री होकर, सफल व्यापारी होकर, उच्च आचरण करके भी सुखी नहीं है। जिनेन्द्रदेवका शासन मिला है जिसमें वस्तुस्वरूपकी अनुपम एवं अनुभवपूर्ण सिद्धि है। जिसमें आचार्योंने सब नियमोंका यथार्थ प्रतिपादन किया है। जिनवाणीको सुननेसे हृदय गद्गद् हो जाता है। जहाँ भव्य निकटभव्यका भाव सुननेसे हृदयमें अत्यन्त उल्लास दौड़ने लगता है। ऐसे धर्मका व सज्जन पुरुष सरल परिणामी परोपकारी जनोंका यह सम्पर्क पाया, तब भी जागृति न हो तो दुर्भाग्य

बन सकता है।

६६०. **चरणानुयोगमें आश्रयभूत बाह्य पदार्थके त्यागके उपदेशका रहस्य**—चरणानुयोग शास्त्रोंमें बाह्य वस्तुका आश्रय पाकर विभाव होता है। इसलिए उनमें शिक्षा मिलती है कि बाह्य वस्तुका त्याग करो। परिणाम बन गया किन्तु बाह्यका त्याग नहीं हो सकता है। व्यवहार धर्म व उपचार धर्मके भेदसे अनिश्चयधर्मके दो भेद किए जा सकते हैं। बात मनमें आ गई और बाह्य वस्तुका त्याग कर दिया, यह तो व्यवहारधर्म है। जिसके स्वाभाविक परिणाम जग रहा है, उसे लाभ अधिक मिलता है तथा जिसने जबर्दस्ती त्याग किया उसके उपचारधर्म है, उसे भी कुछ लाभ मिलता है। कुछ बाह्य वस्तुके त्यागके एवजमें ख्याति लाभ आदि उद्देश्य न हो तो वह त्याग प्रशंसनीय होता है। भक्तामर स्तोत्रका पाठ पढ़ना आता हो यह उपयोगी है। न आनेपर दूसरेके मुखसे सुनना भी पुण्यका कारण है। कोई इस विचारसे पाठ करने लगे कि लोग मेरा पढ़ना देखकर प्रशंसा करेंगे तो यह पुण्यलाभका कारण नहीं है, वह तो अशुभोपयोग है। भक्तामर पढ़ने वाले की भावना तथा श्रद्धा है तभी तो वह पढ़ता है तथा पढ़नेके परिणाम न होते तो वह इसके बदलेमें मुखसे गालियाँ बकने लगता तथा जिसे साथमें उसका अर्थ आता है तो उसको भक्तामर पढ़ने से लाभ ढंगका मिलेगा। बाह्य वस्तुका त्याग करना, इस विषयपर चरणानुयोग शास्त्रमें बुद्धिपूर्वक रागके त्यागके वास्ते जोर दिया है।

६६१. **अज्ञानसे उपयोगका त्रिविध परिणाम**—यह उपयोग सामान्यसे तो अज्ञानरूप है, फिर यह चैतन्यपरिणाम मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति—इन तीन प्रकारोंसे परिणमता हुआ जब परमें और आत्मामें भेद नहीं निरखता, परमें और आत्मामें भेद नहीं जानता, परसे अपनेको विरति रूपसे नहीं रखता तब वहां क्या हालत हो गई कि चेतन और अचेतन भाव समानाधिकरण बन गए। तब यहां यह जीव ऐसा अनुभव करता कि मैं क्रोध करता हूं यों विकल्प उत्पन्न करता है और गुस्सा करने वाला हूं वही तो मेरा स्वरूप है। दूसरेके कहने से यदि मैं मान जाऊं अरे तो मैं ही खतम हो जाऊंगा। गुस्सामें आने वाले अज्ञानी जब-जब यह कल्पना करते, यह समझाते हैं और इससे उसकी गुस्सा खतम होजानेको है तो उसने तो इसे कुछ भी मजा नहीं चखा पाया, सो उस क्रोधको दृढ़ करने के लिए भीतरमें और विकल्प मचाता है। तो उस समय इस जीवने किया किसको? किसका कर्ता बना? सविकार चैतन्यरूप आत्मा भावोंका कर्ता बना। इस प्रकार क्रोध छोड़कर मान आदि लगा लें। जब जब इसने उन कषाय परिणामोंरूप अहंकार किया उस समयमें यह कर्ता किसका बना? उस कषायका। यों समझिये कि जब हम कषाय करते हैं किसी मनुष्यपर, उसे कष्ट विशेषकी बात सोचते हैं तो उस कालमें इसने अपना परिणाम किया।

णमने वालेका परिणाम है। बाह्य कारण निमित्त और आश्रय इस तरहसे दो प्रकारका है। दोनोंमें यह अन्तर है—निमित्तके सन्निधानसे कार्य होता है या होना पड़ता है। किन्तु आश्रय सामने हो और कार्य हो जाय, इसका नियम नहीं है। यहाँ निमित्त कर्मको तथा आश्रय बाह्य पदार्थको कहे। निमित्तकर्मका उदय होता है तो वैसा कार्य होना कहलाता है। दर्पणके सामने कोई वस्तु आती है, तब दर्पण तथा वस्तु दोनोमें योग्यता होनेपर प्रतिबिम्ब झलक जाता है। आश्रय तो निमित्तको कारण पड़ता है। निमित्तकी निमित्तता जाहिर होनेमें आश्रय कारण है। बात बनने के लिए निमित्तके सहायक कहलाते हैं। जो भी काम बन सके (कर सके) उसके सहायक निमित्त बनते हैं। क्रोधका उदय आया तो क्रोधवाला आत्मा है। वह बाह्य पदार्थको आश्रय करके बनेगा। ऐसा कोई क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है। जिसका कोई आश्रय नहीं है उसका कुछ न कुछ आश्रय जरूर होता है। बाह्य वस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान भाव होता ही नहीं है। आश्रय न करे तो क्रोध, मान, माया, लोभ हो ही नहीं सकता है। जैसे बाह्य वस्तु आश्रयभूत हैं, उसी तरह निमित्त हेतु हो सकता है। आश्रय तो निमित्तका निमित्त हो सकता है।

६५६. कषायोत्पादमें बाह्यवस्तुकी आश्रयता—कषायका उदय होनेके लिए कुछ आश्रयभूत जरूर होता है तथा कर्मका उउय निमित्त है। जैसे हम और आप सब हैं। इस समय मनुष्यका उदय चल रहा है। साथमें नरकगतिका उदय चल रहा है तथा तिर्यंच गतिका उदय भी चल रहा है एवं देवगतिका भी उदय चल रहा है। किन्तु शेष तीन गतियोंका आश्रयभूत देह न होने से संक्रान्त हो जाता है। राग भावका आश्रय बाह्य वस्तु है, निमित्त कर्मोदय है तथा आश्रय बाह्यपदार्थ हैं। आश्रयभूत वस्तु सामने है तब कार्य हो गया। निमित्त न हो तो आश्रय क्या करें? हम कह देते हैं—निमित्त जैसा परिणमन नहीं हुआ, आश्रय तो मिला क्रोध नहीं हुआ, सो भाई बात यह है कि कर्मका उदय काल आता है और उस समय उसके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न हो तो संक्रान्त हो जाती है वह कर्मप्रकृति तथा आश्रयभूत बाह्य वस्तु तो उपस्थित हों और कर्मोदयरूप निमित्त न हो तो आश्रयभूत बाह्य वस्तुसे भी विभावकार्य नहीं होता। इसी कारण बाह्य पदार्थ होने पर रागादि विभाव हों ही हों, यह जरूरी नहीं है। गाली देना, निन्दा करना यह सुनने वाले के लिए उसके ही भावके कारण क्रोधका कारण है। किन्तु यह सुनकर क्रोध होना ही चाहिए, यह आवश्यक नहीं है। तत्त्वज्ञानी जो है उसके क्रोध नहीं होता है। बाह्य पदार्थको आश्रय करके ही क्रोध हो सकता है, किन्तु बाह्यपदार्थ मिल जावे और कषाय होती ही है, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु क्रोधकषाय जब होती है वह बाह्य पदार्थको आश्रय करके होती है, यह नियम है। अगर कोई बाह्य वस्तु नहीं है तो क्रोधरूपक नहीं

उदय आया तब यहाँ भावक प्रकृति हुई तथा भाव्य वेदनाका अनुभव करने वाला हुआ। कषाय हुई और वहाँ यह चैतन्य स्वभाव उस कषायरूप परिणत हो गया। यहाँ एक ही वस्तुके अन्दर भाव्यभावक भाव हो गया। जो बात कहीं थी, गाली दी थी आदि यह जुदे जुदे क्षेत्रकी बात थी। शरीर जुदा है, आत्मा जुदी है, बुखार जुदा है तथा वेदना जुदी है। यह सब होनेपर कर्मोदय आया वह तो भावक और रागादि हुआ वह भाव्य। यहां जो राग आया वह भावक है तथा चेतन भाव्य है। मैं ही राग हूं, राग मुझे लाभदायक रहेगा इस तरहकी परिणति अनादिसे चली आ रही है। राग और उपयोग इनमें समाधिकरण्य कर रहा है। यहाँ भी अतद्भाव रूप दो चीजें मान लो। दोनोंको एक कर देनेको सामानाधिकरण कहते हैं। क्रोध ही मैं हूँ—ऐसा सामानाधिकरण कर लिया है, तब अज्ञान जो है वह ऐसा विकल्प कर देता है। राग, द्वेष. क्रोध, मान, माया, लोभरूप ही मैं हू। क्रोध अध्रुव है, क्षणिक है तथा मैं चेतन्य ज्ञान, दर्शनमय अनन्त सुखका भोक्ता हूँ। यह विचार आनेपर क्रोध शिथिल पड़ जाता है। क्रोध आवे और सोचे—मैं यह नहीं हूँ, यह नष्ट होने वाला दुःखका कारण अचेतन है। मैं अनादि अनन्त रहने वाला हूं। क्रोध अपना स्वभाव नहीं है, किन्तु यह बानक बन गया है। घर, कुटुम्बी, गाय, भैंस, मित्र, कुटुम्बी यह मेरे नहीं हैं, यह तो प्रकट ही बात है, इस तरहका भाव होने पर विभावकी हीनता हो जावेगी।

६६४. अज्ञानमें सविकार चैतन्यपरिणामनका कर्तृत्व—विषय कषाय करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। विषय कुछ नहीं करते है। विषय कषायके द्वारा ही होते हैं। भोगों को भोगना कषाय करना ही है। 'कषन्तीति कषाय: अर्थात् जो आत्माको कसे, दुःख देवे, अपना प्रभाव डाले वह कषाय है। या कृषन्तीति कषाय: अर्थात् आत्माकी कर्मबन्धकी खेतीको खूब कमा देवे उसे कषाय बोलते हैं। उस कषायके बीजोसे अंकुर पैदा होते है या कर्मोंको कमानेमें जो कुशल होवे वह कषाय है। जिन्हें दुखी नहीं होना है तथा कर्मबन्ध नहीं करना है वह कषाय नहीं करें। उसे रोकनेके लिए तत्त्वज्ञान शरण है, ज्ञानी तत्त्वज्ञानकी शरणमें जाता, तत्त्वज्ञानके विपरीत जो अज्ञानपरिणाम है वह सामान्यसे तो अज्ञान परिणाम है किन्तु नातिसंक्षेपविशेषसे वह मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति रूप तीन प्रकारका परिणाम है। यह सविकार चैतन्यपरिणाम ही "मैं क्रोध हूं" इत्यादिरूपसे आत्माके विकल्प को उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि भावक क्रोधरूप अचेतनभाव और भाव्य चित्प्रकाशरूप चेतनभाव—इन दोनों तत्त्वोंमें सामानाधिकरण्यका अनुभव अज्ञानीके है अर्थात् क्रोधादिका भी आधार मैं हूं और चित्प्रकाशका भी आधार मैं हूँ—इनमें भेदविज्ञान उसके नहीं है। इसका कारण अज्ञानभाव है जिससे कि परभाव और स्वभावको अविशेपता

कोई मानी पुरुष हजार आदमियोंके बीच अपनेमें अहंकार भाव रखकर, मान परिणाम रखकर जो एक ऐंठने वशका है वह पुरुष क्या कर रहा है दूसरोंका ? दूसरोंका कुछ नहीं कर रहा, दूसरोंका कुछ नहीं खींच रहा। अपने आपके उस अज्ञानरूप मान परिणमनमें ऐंठमें इठ रहा है. विकल्पोंसे युक्त हो रहा है।

६६२. ज्ञान और अज्ञानमें होने वाली वृत्तिका प्रभाव—जिन्हें धर्मके प्रति सच्ची रुचि हो गई वे अपना सादे जीवनसे जीते हैं व उच्च विचारके ख्यालको अपनाते हैं। ऊपरी दिखावटसे कोई भी कार्य किया जाय वह लाभदायक नहीं होता है। जिस कार्यमें बुद्धिपूर्वक भाव लगाया जावे वह फलवाला भी होता है। शुभोपयोग भी कदाचित् कार्यकारी होता है। अपना कल्याण चाहने वाला शुभोपयोगसे शुद्धोपयोगमें आ सकता है। परमात्मासे अपना मिलान करने वाला जब अपनेको अत्यन्त धरातल पर पाता है तब वह सजग हो जाता है। सोचता है मैं कहां भ्रमण कर रहा हूं ? मन वचन कायकी जो क्रिया है वह स्वयं अज्ञान मात्र है। वहां भी चेष्टामें बिगाड़ है, किन्तु सम्यग्दर्शन होनेके कारण जो बात बनती है वह उसी रूप होती है। सूक्ष्मतासे देखो जो अविरति है वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। व्यवहार व भिन्नदृष्टि वालों के लिए चेष्टायें अज्ञान है तथा ज्ञानियोंके लिए उसमें भी मतलबकी वस्तु मिल जाती है। यह तीन प्रकारका अज्ञान सविकार परिणाम है। पर और आत्मामें जिसे भेदविज्ञान नहीं रहा वह पर और आत्माको एक मान रहा है। परमें चित्त जमनेसे उन्हें अपना मान रहा है। परपदार्थोंमें ही अधिक रुचि ले रहा है। यह सब अज्ञानके कारण कार्य चल रहा है। मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन पाप कार्योंमें ही अपना हितरूप विश्वास करनेसे संसारको बढ़ाता जा रहा है यह प्राणी। उनमें मान रहा है वह कि यह खुदका कार्य है। यह हमें लाभ करेगा, इस बुद्धिसे लगा हुआ है वह मोही। जहां परको अपना माननेकी बुद्धि हट गई, निजात्म बुद्धि प्रकट हो गई है, तब परसे न राग करता और न द्वेष ही करता है। वह जिसे कि एकपना प्राप्त हो गया है, उस समय किसीने कुछ नहीं किया है, उसके अन्तरङ्गकी प्रेरणासे ही यह सब हुआ है।

६६३. अज्ञानके कारण भाव्यभावक भावका सम्बन्ध--यहां भाव्य और भावक दो वस्तुयें मौजूद हैं। भाव्य जो परिणमने योग्य हो तथा भावक परिणमाने वाला है। भाव्य चेतन है तथा भावक अचेतन है। जैसे भावक माने परिणमाने वाला, हुवाने वाला है तथा भाव्य = भवितुं योग्यः भाव्यः। भावयति प्रेरयति आत्मानं इति भावकः। कहते हैं जो आत्माको प्रेरणा करे वह भावक है एवं जो होने योग्य है वह भाव्य है। जैसे किसीने गाली दी और गाली सुनने वालेने क्रोध किया तो यहां क्रोध कराने वाला भावक हुआ तथा करने वाला भाव्य हुआ। शरीर विकृत हो गया, वेदना होने लगी, इसमें असाता वेदनीय प्रकृतिका

हार होता है कि प्यारेलालके लड़का हुआ। और किसी कारणसे यह भी ठीक है कि लड़का मां का है, कारण माताकी कोखसे जन्मा है और लड़का दोनोंके संयोगसे पैदा हुआ, अतः दोनोंका है और दोनोंका भी नहीं है।

६६६. कल्पनाका विपाक—देखो हव्वा कोई चीज नहीं, फिर भी उसकी कल्पना बच्चों पर प्रभाव डालकर ऊधम रोकना आदिकार्य कराती है, यद्यपि हव्वाके हाथ पांव रंगरूप नहीं, किन्तु बच्चेके मनपर या विचारोंके परिणमनपर जो वाक्यका भयरूप परिणमन हुआ वही हव्वा है। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब झलकते हैं ऐसा मालूम पड़ता है कि उसमें खच गये, पर उसमें पदार्थ खच गये होते तो बाहिर न रहते, और हैं बाहिर ही, केवल दर्पणका उपादान परिणमन ही बाह्य पदार्थोंका निमित्त पाकर प्रतिबिम्बन (झलकन) रूप कार्य करने लगा। इसी तरह आत्मापर रागद्वेष परिणाम लोटते हैं—आते हैं, जाते हैं, फिर भी आत्मामें मिल नहीं जाते। कर्मको ही कर्ता मान लेनेपर मानो आत्माकी हत्या हो गयी यानी आत्मा कुछ नहीं कर सकता, अकर्मण्य है, न कुछ है और यदि आत्माको ही कर्ता मान लें तो आगमकी मान्यता नष्ट होती है। अतः दोनों तरफसे मिलाओ कि आत्मा का उपादान विकार परिणमन पाकर बाह्य पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप होकर आत्मासे बंध जाते हैं। देखो रोटी न आटेसे बनी, न बेलनसे बनी, न दोनोंसे बनी। यदि बेलनसे बनी मानें तो जहाँ अभी बेलन रखा है वहाँ वह रोटियोंके ढेर क्यों नहीं लगा देता? आटेसे बनी मानें तो मटकेमें घर घर आटा अभी रखा है सब रोटियों रूप हो जायेंगी, खाओ सबेरे सबके सब बासी रोटियाँ और जब तक बनाने वाली या ईंधन तवा आदि नहीं हैं तब तक आटा और रोटी दोनों रखे रहनेपर भी रोटियाँ नहीं बन जातीं। निमित्तनैमित्तिक भावसे जगत् चल रहा है, इतनी लम्बी बातें सुनानेपर भी कुछ वस्तुका ठीक स्वरूप हम समझ लें तो वक्ता श्रोताका प्रयत्न सफल है।

६६७. उपादान और निमित्तके स्वरूपकी सुलझके अभावका परिणाम—कर्मको कर्ता मानने वाले कहते हैं कि कर्म ही आत्माको ज्ञानावरणके उदयसे अज्ञानी बना देता है और ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे व क्षयसे ज्ञानी बना देता है, साता वेदनीयके उदयसे सुखी बना देता है, असाता वेदनीयके उदयसे दुखी बना देता है, यश कीर्तिके उदयसे कीर्तिमान और अयशकीर्तिके उदयसे निन्दाका पात्र बनाता है, नीचगोत्रके उदयसे नीचकुलमें पैदा करता है और उच्चगोत्रके उदयसे लोकमान्य अवस्थामें रखता है—यहाँ तक कि भिन्न-भिन्न आयु कर्मके उदयसे नरक तिर्यंच मनुष्य देवरूप जीवको बना देने वाला कर्म ही है। इसी भांति कभी आगम भी परको कर्ता मानते हैं—जैसे कि पुंवेदही ही स्त्रीसे रमनेकी भावना पैदा करता है, स्वयं जीव न कुशील करता है, न उसे दंडका भागी होना चाहिये। कुशील करने

से जानता यह, विशेषतासे नहीं जानता। इसी कारण वह परभावसे विरति भी नहीं पाता है। उक्त विकल्पके उत्पन्न होनेसे यह अज्ञानी जीव सविकार चैतन्य परिणामसे परिणमता हुआ उस सविकार चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है। जैसे यह अज्ञानी अपनेको "मैं क्रोध हूं" ऐसा मानता है, इसी प्रकार मैं मान हूं, माया हूं, लोभ हूं, मोह हूं, राग हूं, द्वेष हूं इत्यादि कर्म शरीर मन वचन नोकर्म इंद्रियां आदि सभी रूप अपनेको मानता है। यह अज्ञानपरिणाम आत्मभाव है तो भी आत्मभाव नहीं है। आत्मभाव तो इसी कारण है कि मिथ्यात्वादि परिणमन जीवद्रव्यका हो रहा है। आत्मभाव इस कारण नहीं कि जीव द्रव्य में स्वरसतः ही नहीं होता, किन्तु उपाधिको निमित्त पाकर होते हैं। सभी भाव समझनेपर बात समझमें आती है।

६६५. विधि निषेधनयोंसे वस्तुत्वका निर्णय—"वजू किये बिना नमाज मत पढ़ना" इस वाक्यके खंडन मंडन रूप दोनों अर्थ हैं कि वजू करके नमाज पढ़ो यह मंडनरूप अर्थ है किन्तु हैं दोनों क्रियासाधक। बहुत बार ऐसा खंडन मंडन समझनेका कठोर प्रयत्न करनेपर ही वस्तुतत्त्व समझा जा सकता है। जीव जीव है, जीव अजीव नहीं; अजीव अजीव है, अजीव जीव नहीं; जीव अकर्ता है, जीव कर्ता नहीं है। जो कर्मको कर्ता मानते उन्हें समझानेको कहा कि जीव ही विकार परिणमन करके राग, द्वेष, मोह, भावका कर्ता है। कर्म तो अचेतन है उसका कार्य तो अचेतन ही होगा। भाव कर्म रूप चेतनकी विकार परिणति का वह कर्ता नहीं हो सकता। कर्ममें भी मिथ्यात्व और जीवमें भी मिथ्यात्व, दोनोंके कारण भिन्न भिन्न हैं। जीव और प्रकृति दोनोंको कर्ता मानोगे तो फिर जीवकी तरह प्रकृतिको भी नाचना पड़ेगा और जड़ कर्मको चेतनकी विकार परिणतिरूप मिथ्यात्व बन जानेका भी प्रसंग आयेगा। जैसे पूछा कि बताओ यह प्यारेलाल बाप है कि बेटा तो निरपेक्षदृष्टिसे कुछ उत्तर नहीं बनता। हाँ, अपने पिता मोहनलालकी अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र ज्ञानचंदकी अपेक्षा पिता है। जिस नयको कहोगे वही मुख्य है, प्यारेलाल न सब संसार भरका बाप है, न सब संसारका बेटा। सबका लड़का हो तो अपने लड़केका भी लड़का हो जाये और सबका बाप हो तो अपने बापका भी बाप बन जाये। इसी भांति गोरापन कालापन भी अपेक्षाकृत है, न सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्नदृष्टिसे कोई गोरा है, न काला। कालोंकी अपेक्षा लेकर गोरापन है और गोरोंकी अपेक्षा लेकर कालापन है। इसी भांति राग द्वेष भी कार्य हैं सो वे भी बिना किये नहीं हुए, बाह्य इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका निमित्त पाकर आत्माकी उपादान शक्तिका विकार परिणमन है, रागद्वेषका जनक है। जैसे यह लड़का है मां का या बापका। तो उत्तर होगा न अकेले बापका है, न अकेली माँ का है, किन्तु दोनोंका है और किसी नयसे दोनोंका भी नहीं है और किसी नयसे यह भी ठीक है कि लड़का बापका है। लोकमें व्यव-

ही रहा। तो भाई ! उस चर्ममें नयी वृद्धि हानि क्या हुई, वह तो रहा, उतना ही है। इससे कर्तृत्व आत्मामें कैसे आया, क्या आया ? यहाँ परिणमन कर्तृत्वकी बात है। हाँ, परकर्तृत्व आत्मामें नहीं है। वस्तुका स्वभाव मिटाया नहीं जा सकता, जब आत्माका ज्ञायकस्वरूप है तब आत्मामें कर्तापन सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि ज्ञायकपना और कर्तापनेका विरोध है। कोई भी अपने स्वभावको छोड़ नहीं सकता। पदार्थ यदि अपने स्वभावको छोड़ दें तो जगत् शून्य हो जाये। अतः मिथ्यात्व कार्यका कर्ता ढूंढ़ना पड़ेगा। कदाचित् मिथ्यात्व भाव कर्मका कर्ता जीवको बताया तो यह भी प्रकारान्तरसे सिद्ध होता है कि आत्माको उपादान शक्तिका विकारपरिणमन हुआ, तब बाहिरी निमित्त पाकर जीव मिथ्यात्वभाव कर्मका कर्ता बना। इसके समझने को एक यह उदाहरण देखो कि वार्षिक परीक्षाके बाद विद्यार्थियों की छुट्टी हो गई। विद्यार्थी अपने घर या रिश्तेदारीमें सैर सपाटा लगाने को दो माहको चले गये। बड़ी संस्थाओंके कार्यालय कभी भी स्थायीरूप से बन्द नहीं रखे जा सकते। अतएव कार्यालयमें सुप्रिन्टेडेन्ट और प्रकृतिका भोला और सच्चा सीधा सेवक प्राणसुख कार्यालयमें रहते थे। एक दिन सुप्रिन्टेडेन्ट साहब बाजारमें कहीं छतरी भूल आये तो लगे प्राणसुखसे पूछने—भैया ! देखो तो छतरी कहाँ गई ? प्राणसुख सहजभावसे शीघ्र बोला—महाराज जी, यहां हम और तुम केवल दो जने हैं ही, मैं तो छतरी ले नहीं गया, जरूरत भी पड़ती तो मुझे बिना पूछे ले जानेकी क्या जरूरत ? आप तो मेरे स्वभावको मुद्दतसे जानते हैं, अब इस वाक्यका कि "यहाँ तो अपन दो ही आदमी हैं और मैं छतरी ले नहीं गया" अभिप्राय यही सिद्ध हुआ कि महाराज आपही छतरी ले गये। इसी तरह अज्ञानी आत्मा भावमिथ्यात्वका कर्ता है, यह बात प्रसंगसे आयी। जीव तो स्वभावरूपसे ज्ञानी है किन्तु उसी स्वाभाविक रूपसे कर्ता नहीं है। हाँ, आत्माकी उपादान शक्तिका विकार परिणमन बाह्यनिमित्त पाकर राग, द्वेष, मोह रूप परिणम जाता है।

६७०. **परकर्तृत्वकी मान्यतामें खेदका ही प्रसङ्ग**—जैसे लड़केको लड़केकी बुद्धिसे ही समझाया जा सकता है, वैसे ही अनादिकालसे परमें कर्तापनकी बुद्धि जिस अविवेकी या मिथ्यादृष्टिको लग रही है उसको उपरोक्त प्रवृत्तिसे समझाया है। एक बार सहारनपुरमें एक बालकको यह बात सूझी कि मैं तो हाथी मोल लूंगा। माता पिता इतने पुरुषार्थी धनाढ्य व समर्थ नहीं थे कि हाथी मोल ले सकते, फिर भी बालक मचला रहा, दिनभर रोटीका टुकड़ा भी न खाया। बाजारसे कई अच्छे फल मेवा मिठाइयाँ मंगाकर दीं, बाल-हठसे उसने एक ग्रास भी नहीं खाया, सो माताने पतिदेवताको कहा—मुन्ना कल तक भूखा रहेगा, लाओ हाथी। पड़ौसी भी कौतूहलवश आ जुड़े। सबने विचार स्थिर किया कि

से निन्दाका पात्र भी जीवको नहीं होना चाहिये। परको मारे, सो मारने वाला परघात कर्म है, तो फिर परहत्या कर्मको ही लगेगी जीवको नहीं लगेगी, फिर जीव तो उच्छृङ्खल व उद्दण्ड या फिर शक्तिशून्य हो गया। ऐसी उपरोक्त मान्यता सांख्यमतकी पुष्टि करने वाले श्रमण या श्रावक कहते हैं। उनकी मान्यतामें "जीव कर्ता है" ऐसी कल्पना गलत बैठती है। दूसरी मान्यता यह है कि कर्म तो अज्ञान ज्ञान आदि भावोंका कर्ता है, सुखी दुखी नर-नारकादि रूपका कर्ता है किन्तु आत्मा भी अपने द्रव्यरूपका कर्ता है, किन्तु यह मान्यता भी विचारश्रेणीमें आनेपर सत्य नहीं ठहरती, क्योंकि आत्मा तो द्रव्यरूपसे नित्य व असंख्यप्रदेशी एकरूप है। नित्यमें कर्तापना क्या, जो स्वयं अनादिकालसे बना हुआ उपस्थित है उसको क्या बनाना ? हाँ जबर्दस्ती कर्तापना लादना ही हो तो वैसी मनघड़न्त कल्पना या लोकोक्ति हो जायेगी कि एक तेली जाटसे बोला कि "जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट" यह सुनकर जाटको बेचैनी हुई। वह भी लगे हाथ बोला कि "तेली तेली तेरे सिर पर कोल्हू"। तेली बोला यह तो तुकमें तुक नहीं मिली तो जाट बोला--तुक भले ही न मिले, तेरे सिरपर खाटसे ज्यादा कोल्हूका बोझ तो मैंने लाद दिया। इसी प्रकार आत्माके सिरपर आत्मद्रव्यके कर्तापनका भारका आरोपण व्यर्थ है।

६६८. परकर्तृत्वके हठवादसे वस्तुत्वकी असिद्धि--एक बार एक परिचित व्यक्ति श्री माताजी चिरोंजाबाई जी से बोला कि ये तो लो पाँच बतासफेनी निमन्त्रणकी और मेरे भाई जगरूपसहायके विवाहमें जरूर आना। बाई जी बोली--मौका जैसा होगा देखेंगे। उसने भावुकतासे प्रेममें डुबकी लगा फिर कहा 'माताजी आपको जरूर आना पड़ेगा" तो माँ जी बोली--पैरोंसे तो क्या तुम बहुत आग्रह कर रहे हो, मैं तो सिरके बल आ जाऊंगी। जब बाई जी अपनी आत्मोन्नति और पूज्य क्षुल्लक महाराजकी धर्मसाधनामें लगी रहती तो उन्हें लोक रूढ़ियोंमें बहने, विवाह आदि आडम्बरोंमें फंसनेको समय ही कहाँ रखा था ? वे विवाहमें नहीं गई तो कुछ दिन बाद वह निमंत्रणदाता आकर भावुकता भरे हृदयकी उमंग से उलाहना देने लगा तो बाई जी बोलीं, भैया मैं सिरके बल आ नहीं सकी। जिस भांति शरीरमें भोजन पान व श्वास आदिका आगमन और मल मूत्र श्वास आदिका निर्गमन होता है। बताओ यदि आत्माको अपने द्रव्यरूपका कर्ता मानें तो उसमें क्या आया, गया अर्थात् जब आत्मा अनादि व नित्य है तो उसमें कर्तापनेका विकल्प लगाना भूल है।

६६९. वस्तुमें स्वपरिणामकर्तृत्वका निर्णय--सांख्य सिद्धान्त कहता है कि देखो जैसे चमड़ा पानीमें फूल जाता है और धूप व गर्मीमें सूख जाता है, वैसे ही आत्मा अपने द्रव्य-रूपका कर्ता है, किन्तु फिर भी आत्मामें प्रदेशोंका संकोच विस्तार नाम कर्मकृत शरीरकी छोटी बड़ी अवस्थाके अनुसार है। उस बड़े छोटे रूपका कर्ता भी कर्म है, आत्मा तो अकर्ता

राग है उसके बन्धन है। शुद्धदृष्टिसे तो आत्मा ध्रुव चैतन्यस्वरूप है।

६७२. **क्षणिकवादके हठमें वस्तुत्वकी अव्यवस्था**—आत्माकी सर्वथा अध्रुवता (क्षणिकता) माननेपर तो व्यवहारका कर्तृत्व भोक्तृत्व भी नहीं बनता और न लोकव्यवहार चलता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य जी ने आत्मख्याति समयसारकी टीकामें कहा है कि—जो आत्माको क्षणिक मानते हैं वे कर्ता भोक्तामें भेद डालते हैं। जिस आत्माने पाप किया वह तो फल भोगनेको बैठा नहीं है तो फिर क्या है "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्—भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" जैसे बने और जैसे मन चाहे न्याय अन्याय भक्ष्य अभक्ष्यसे विषयवासना साधो, कौन मुझे फल भोगना है—जैसे कि शैतान बालक दूसरे भोले बालककी चीज उठाकर खा लेते हैं और नाम दूसरेका ले देते हैं अथवा इतना ही नहीं कि पापका डर मिट गया, किन्तु फिर पुण्य भी कोई नहीं करेगा। कारण यदि मेरे पुण्यका फल मुझे मिलना होता तब तो मैं परोपकार संयम आदि धर्मके अंगोंका साधन करता—जब मुझे फल नहीं मिलना, फल तो दूसरेको मिलेगा तो मैं पुण्य भी क्यों करूं? इस तरह पुण्यपाप व्यवस्था उठनेसे लोकव्यवहारका भी लोप हो जायेगा। एक क्षणिकवादी वैश्यकी गाय ग्वाला चराता था। महीना पूर्ण हुआ तो पूनमके बाद दूसरे माहकी पड़वाको गायकी चराई ग्वालेने सेठसे मांगी तो सेठ जी बोले—जिस गायको चराया वह गाय भी अब नहीं और जिस ग्वालेने चराया वह भी अब नहीं। फिर क्या था, ग्वालेने वेद विद्यापर विजय पानेको अपनी ग्वालविद्या चली कि अगले दिन गायको अपने घर बांध ली। अब तो बौद्धवादी सेठ गाँवके आसपास खेत खलिहानोंमें गाय ढूंढते किसानोंको पूछते जब थक गये और गाय न मिली तो घर लौट आये। सेठानी गुस्सेमें भरकर बोली कि बरेदी (ग्वाला) से भी पूछा कि नहीं, झट सेठ जी बरेदीके घर गये। पूछा तो बोला-किसकी गाय, कौनसी गाय, जो गाय सौंपी थी वह अब तक रही कहाँ, और जिस ग्वालेको सौंपी थी वह ग्वाला भी अब कहाँ? तब मक्खीचूस सेठजी गिड़गिड़ाकर बोले—ये वेदोंकी बातें वेद वांचते समय करेंगे। घर बच्चा रम्भा रहा है, मै गाय ढूंढते ढूंढते थक गया, घर सेठानी कुपित हो रही है तो ग्वालाने कहा—चरायी इस चढे महीनेकी और चालू महीनेकी पहिले रक्खो, तब गायकी बात मुझसे पूछो। सेठ जी की कंजूसीविद्या भी तत्त्वविद्याकी तरह झक मारकर चुप बैठ गई। सेठ जी घरसे दो अठन्नी ले गये, ग्वालेको दी, तब ग्वालेने बताया कि मेरे बाजूवाले खोड़में चर रही है, मंगा ले जाओ। भैया! स्थिर तत्त्वको न माननेसे व्यवहारका भी विलोप हो जावेगा।

६७३. **नयविभागका तत्त्वनिर्णयमें योगदान**—क्षणिकवादकी गलत मान्यताको भी सही रूप यों मिलता है कि आत्मा भी द्रव्य है, उसमें भी गुणपर्यायें है, वे प्रतिक्षण नवीन

श्री लाला जम्बूप्रसाद जी रईससे हाथी मांगलो। उनसे घटना सुनाकर हाथी माँग लिया। हाथी आम सड़कपर आकर खड़ा किया गया। फिर भी बालकने हठ किया कि घर ले चलो। बालककी अन्तर रटके हठसे उसे घर भी ले गये। फिर मचल कर बोला——लो इस हाथी को मेरी सन्दूकमें रख दो। अब बताओ और सब तो हो गया, किन्तु स्कूलकी पुस्तकों की सन्दूकमें वह हाथी कैसे घुसे ? हाँ चित्रका हाथी सन्दूकमें रखा जा सकता है। ऐसी ही भूल अज्ञानीको अनादिकालसे लगी है कि वह कर्मको कर्ता मान रहा है, किन्तु सद्गुरुओंके सतत उपदेशसे जब आत्मदृष्टि खुली या आत्मानुभव हुआ तो बुद्धि ठिकाने आयी कि "सामान्य दृष्टिसे अपने ध्रुव त्रिकालवर्ती ज्ञायकस्वभावमें स्थित आत्मा, ज्ञात का ज्ञानरूपसे परिणमन होनेकी अपेक्षा अकर्ता होनेपर भी उपादानशक्तिके विकार परिणमनसे मिथ्यात्व भावकर्मका कर्ता है। अनादि कालसे जिसे ज्ञान ज्ञेयका शुद्ध ज्ञान नहीं है, वह अपनी आत्माके विकार अज्ञान परिणामनको अपना रूप अनुभव करता है। जैसा स्वयं निज रूप नहीं है वैसा जानना यही तो कर्तापन है, इसलिये अपने भावकर्मका कर्ता आत्मा अज्ञानी है।

६७१. कर्तृत्वके निर्णयमें दृष्टियोंका योगदान—जीवके मिथ्यात्वभावका कर्ता यदि दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्वनामा प्रकृति जो कि पुद्गलरूप है वह मानी जाये तो ऐसो मान्यता ठीक नहीं बैठती कि अचेतनसे चेतनभाव पैदा हो गया अथवा फिर जीवको मिथ्यादृष्टि बना सकने वाली प्रकृति भी चेतन हो जायेगी और जीव और प्रकृति दोनों मिलकर मिथ्यात्वभाव के कर्ता माने जायें तो "जो कर्ता सो भोक्ता" नियमके अनुसार प्रकृतिको भी मिथ्यात्व भाव का फल भोगना पड़ेगा। और जीव और प्रकृतिके भाव दोनों अकर्ता भी नहीं है क्योंकि कार्य है पुद्गलरूप कार्माणवर्गणाओंमें दर्शन मोहकी प्रकृति मिथ्यात्व है और जीवमें मिथ्या परिणाम—आशय मिथ्यात्व है। दोनोंकी दोनों जगह अपनी-अपनी परिणति है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके भावका कर्ता नहीं है। जीवके विकारपरिणमनसे होने वाले मिथ्यात्व कषाय परिणाम चेतन ही हैं और शुद्धनयसे वे चिदाभास कहलाते है। अतः अपनी परिणतिको विकृत मत होने दो। ध्यान स्वाध्याय द्वारा सामान्य त्रिकालवर्ती शुद्ध चेतनकी ज्ञायक दृष्टिको पहिचानो और निमित्तनैमित्तिक दृष्टिमें शुद्धता लाओ। ज्ञानीके विभाव होता या रहता है और अज्ञानीकी कल्पना है कि रागद्वेष रूप विभाव मेरा ही है, मेरे निजरूप है और मैं इनका कर्ता हूं। ज्ञानीकी रागद्वेषमें आत्मीयता नहीं है और अज्ञानी के रागद्वेषमें आत्मीयता है। जैसी कि किसी औरतके पुत्रका विवाह है तो वह स्वयं भी गीत गाती है कि "मेरो बन्ना राजा लाडी राती लहयो" और पड़ौसिनें भी गीत गाती हैं, किन्तु उन्हें गाना पड़ता है और दूल्हाकी माता भी गीतोंमें तन्मय होकर गा रही है। जिसके

सम्यग्दर्शनकी विनय करनी है तो जैसे गुरु आज्ञा पाले बिना गुरुकी विनय नहीं और पिता की आज्ञा पाले बिना पिताकी विनय नहीं, उसी भांति जो तत्व जैसा है उसको वैसा जाने बिना सम्यग्दृष्टि भी नहीं, सम्यग्दर्शनकी विनय नहीं, तत्त्व तो अनेक हैं। किसे किसे जानें "अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं, स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः। सारं ततो ग्राह्यमपास्यफल्गुं हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥ अर्थात् आगम अनेक हैं और आज इस पंचमकालमें मनुष्यकी आयु थोड़ी है। रोग, शोक, विरोध, उपसर्ग, दारिद्रय् आदि अनेक विघ्न हैं, अतएव सार पदार्थ यानी उत्तम तत्त्व अर्थात् जिनको जानकर हम आत्मज्ञान, आत्मोत्थान व आत्मकल्याण कर सकें, सच्चा सुख पा सकें उन्हें अवश्य जान लेना चाहिये। जैसे कि हंस क्षीर नीर मिले पात्रमें से केवल क्षीरको ग्रहण कर लेता है, नीरको वह उपादेय नहीं समझता। संसारके सभी प्राणी एकेन्द्रियसे लेकर तीर्थंकर तक, रंकसे राजा तक, रोगी निरोगी, पंडित बाबू, सरल और मायाचारी, देहाती व नगर निवासी, विद्वान व मूर्ख—सभी सुखके लिये प्रयत्न करते हैं। हाँ, सुखकी परिभाषा, स्वभाव तथा सुख पानेके कारणोंमें महान् अन्तर है। अनादिकालसे परपदार्थसे सुख मिलता है—ऐसी पराधीन दृष्टिसे या शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकार ध्रुव अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानानंदस्वरूप आत्मतत्वपर दृष्टि न पहुंचनेसे मृगमरीचिका समान सुखाभासों या सुखके प्रलोभनोंसे ठगा हुआ कष्ट ही पाता रहा। मैं स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप चैतन्य ज्योतिका पुंज आत्मा अकेला हूं और क्रोधादि विकार भाव मल और द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक और नोकर्म शरीरादिक सम्बन्धी विकारोंसे रहित सिद्ध समान शुद्ध शुद्धनिश्चय द्रव्य दृष्टिसे हूं। दौलतरामजी ने छहढालामें सिद्धोंका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि "ज्ञानस्वरूपी त्रिविधि कर्ममल वर्जित सिद्ध महता। ते हैं अमल निकल परमातम भोगें शर्म अनंता॥" अथवा श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारजी में स्वामी समन्तभद्राचार्य जी ने भी शुद्ध आत्माका स्वरूप कहा है कि 'शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्। काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥" अर्थात् बुढ़ापा रहित, रोगरहित, नाशरहित, बाधारहित, शोकभय शंका रहित, चरम सीमाको या अनन्तपने को पहुँच चुकी है, सुख और ज्ञानकी बढ़ती जहाँ अर्थात् जो अनन्त सुखी व अनन्त ज्ञानी हैं और द्रव्यमल व भावमलसे रहित हैं—इसी अवस्थाकी प्रगट अविचल अवस्थाको पाना हमारा एक ध्रुव लक्ष्य है, जिसे एक लक्ष्यको बेधना समझना, प्राप्त करना है वह और बातोंपर अपना उपयोग लगा ही नहीं सकता।

६७५. **आत्मोपासनासे ही आत्मोद्धार**—भैया! आप हम तो छद्मस्थ हैं, हमारे तो एक समयमें एक ही उपयोग होता है, सो 'आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्। कुर्यादर्थवशात् किंचित् वाक्कायाभ्यामतत्परः॥ अर्थात् आत्मानुभव, आत्मज्ञान और

नवीन होती हैं। और देखो—जिस समय कर्ता है उसके कुछ काल बाद ही भोक्ता बन जाता है। लोकके न्यायालयोंको देखो–आज फौजदारी हुई, फैसला वर्षोंमें कई अदालतें बदलकर मिलता है तो देखो किया किसी पर्यायने, भोगा किसी और पर्याय ने। बौद्धदृष्टि द्रव्यकी एक पर्यायको, क्षेत्रके एक प्रदेशको, कालके एक समयको और भावके एक अंशको विषय करके अपनी क्षणिक बुद्धिको इस दृष्टिसे सही रूपमें ले आती है, परन्तु सर्वथा मानने का दोष है। कोई ऐसा मानते हैं कि पुरुष मरकर पुरुष होता है या स्त्री मरकर स्त्री ही होती है, किन्तु ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं। कारण कि अपने आत्माके विकार परिणाम अनुसार वेद भी बदलता रहता है। जिसकी पुष्टि, सीता राजुल आदिके जीव आर्यिका व्रत-धार स्वर्गोंमें प्रतीन्द्र आदिदेव हुए। वह मनुष्य कहां तक अपनी पत्नीको प्राण-प्यारी कहनेका पात्र है, जो अपनी पत्नी को स्वाध्याय ध्यान आत्मानुभव पूर्ण शील-पालन आदि सुगंधित प्रभाशील सच्चे आभूषणोंसे आभूषित करके अनेक दुःखमय निंद्य स्त्रीपर्यायको छेदकर पुल्लिंग देव मनुष्यकी पर्यायमें जानेका या अपने समान मोक्षपात्र बननेका प्रयत्न नहीं करता। "रोको मत, जाने दो" जैसे विवादग्रस्त नयों का विशेष ज्ञान हुए बिना अनेकान्तमें बुद्धि प्रमाणिक नहीं बनती। गुणोंकी पहिचानके लिये पहिले या साथमें ही त्याज्य दोषोंको भी छोड़नेके लिये या इनसे बचनेके लिये दोषोंका ज्ञान भी जैसे आवश्यक है वैसे ही अनेकान्तधर्म समझनेको यह ज्ञान भी करना जरूरी है कि द्रव्यकी अपेक्षा सामान्यदृष्टिसे जैसे वस्तु नित्य है, उसी तरह पर्यायकी अपेक्षा विशेषदृष्टि से अनित्य भी है। "वादे वादे जायते तत्वबोधः" अर्थात् अनेक शंका समाधान करनेपर तत्व का ठीक निर्णय हो जाता है। कहा भी है कि "तर्करूढम् हि निश्चलम्"। लौकिक व्यवहार में भी एकान्तदृष्टिको हठवाद कहा है। इसी एकान्तदृष्टिसे अनेक पंथ या शैली बनकर समाज व धर्मके पतनका कारण बनती है। एक आँख वालेको काना कहते हैं। यदि तुम कानेको भी काना कहो तो लड़ाई खड़ी हो जाये। एक ओरसे मकानको देखनेपर या इसकी फोटो उतार लेनेपर पूर्ण मकानका ज्ञान व पूर्ण मकानका आभास चित्रपटपर नहीं आता, अतएव शुद्धदृष्टि बनानेके लिये प्रथम तो आत्मद्रव्यकी सामान्य स्वतंत्र अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञायकरूप सत्ताका अनुभव करो। फिर स्वतन्त्र-स्वतन्त्र परकी भी सत्ता या स्वरूप समझो, यही तो भेदज्ञानका उपाय है।

६७४. शान्तिके प्रयोज्य अन्तस्तत्त्वकी आस्थाका अनुरोध—आत्मानुभावी सम्यग्दृष्टि लोक में—(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) मरणभय, (४) वेदनाभय, (५) अगुप्तिभय, (६) अरक्षाभय और (७) अकस्मात्भयसे पैदा होने भूत जैसी विह्वल दृष्टियां नहीं करता। अपने आपमें शान्त निराकुल रहता और दूसरे भी उसकी प्रवृत्तिसे निराकुलता पाते है। यदि हमें

मानता है। रोगीको कड़वी दवाई पीनी पड़ती है, रोगमुक्तिकी भावनासे, न कि उस दवाई में रोगीको कुछ मजा है। अथवा—उत्तम गुण गहणरओ उत्तमसाहूण विणय संजुत्तो साहम्मिय अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥ अर्थात् सप्तभयरहित निराकुलतारूप निःशंकित भाव, लौकिक विषय कषायकी आशातृष्णाके त्याग रूप निःकांक्षित भाव आदि आठ अंग या (१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) निंदा, (४) गर्हा, (५) उपशम, (६) भक्ति, (७) वात्सल्य (८) अनुकम्पा आदि ८ प्रकार गुणों सहित होता हुआ और आत्मानुभवी परमार्थी साधुओं का विनयपूर्वक सत्संग करने वाला और आत्मदृष्टि रखने वाले प्राणीमात्रमें अनुरागी आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

६७७. **आत्मानुभवके यत्नकी आदेयता**—दौलतराम जी ने छहढालामें आत्मानुभवी को चक्रवर्तीकी बड़ी सेना समान करोड़ों अनुकूल उपाय बनाकर आत्मविजयी बननेका उपदेश दिया है। कहा है कि "तासु ज्ञानको कारण स्वपर विवेक बखानो। कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उरआनों ॥ ऐसे आत्मानुभवीका मोह निर्मूल हो जाता है। उसकी कषायें मन्द हो जाती है—"सव्वात्थविपिय वयणं दुव्वयणे दुज्जणे विखमकरणं। सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता ॥ अर्थात् सबसे मीठी वाणी बोलना और अपनेको बुरा कहने वाले या दुष्ट जनोंपर भी क्षमाभाव रखना और अन्य जनोंके गुण ग्रहणपर दृष्टि रखना मंद कषायवालोंके चिह्न हैं, सम्यग्दृष्टि ऐसा ही मन्द कषाय हो जाता है। लोकमें परोपकारको बड़ा धर्म माना जाता है किन्तु यदि इस लोक-व्यवहारको आध्यात्मिक दृष्टि रखकर किया जाये तो स्वपर कल्याणकी सिद्धि है "आद हिदं कादव्वं जदि सक्कं पर हिदपि कादव्वं। आद हिदं परहिदादो आदहिदं सुट्ठुणायव्वं ॥ अर्थात् सर्वप्रथम आत्महित करे। जो आत्महित नहीं कर सकता वह परहित भी नही कर सकता। सुननेमें बात जल्दी नहीं रुचेगी पचेगी, इसे समझनेको भी वह अध्यात्मदृष्टि उपयोगी है कि जो परकी भलाईकी भावना रखता या परकी भलाई करता है वह "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के सिद्धान्तको और भी ऊंचा उठाता है। दूसरोंकी भलाई होना उनके पुण्य कर्मके आधीन है, पर इस परोपकारकी भावना से उसने यथायोग्य अपना हित कर ही लिया। "जीववहो अप्पवहो जीवदया अप्पणो हु दया।" जो अपनी शान्ति खोकर परोपकार करता है वह सच्चा धर्मात्मा नहीं। इस तरह सर्वप्रथम आत्मानुभव हो चुकनेपर ही सुखका मूल हम पा सकते है, अर्थात् यों समझ लो या कह लो कि आत्मानुभव बिना सुखके मार्गमें पदार्पण भी नहीं होता। स्वाधीन सुख रूप है ज्ञानसूर्यकी उदय दिशा और है आत्मानुभव रूपी उदयाचल, किन्तु लौकिक जन ताक रहे हैं पराधीन सुखरूप पश्चिम दिशाको ॥ अब ऐसे विपरीत मार्गपर सत्यसुखकी प्राप्ति कहां ?

६७८. **विश्वास बिना सुगतिमें पंगुता**—"दंसणमूलो धम्मो" के नियमानुसार यदि

आतमरमणके सिवाय अन्य रुचि अन्यका ज्ञान व अन्यमें प्रवृत्ति मेरी मत होओ। कदाचित् अशक्यानुष्ठान् अर्थात् गले पड़े इस शरीर सम्बन्धी व्यवहार चलानेको आहार निहारादि क्रियायें या गृहभार निभानेको व्यापार, आरंभ आदि कार्य करने पड़ें तो वे केवल वचन और काय से ही कर लिये जायें। मेरे मनका उपयोग तो शुद्ध आत्मानुभवमें ही रहे। जैसे विद्यार्थी भोजन भी करता है, खेलता भी है, सोता भी है, गोष्ठीमें भी बोलता है, किन्तु उस विवेकी विद्यार्थी की समस्त क्रियायें विद्याध्ययनके लिये हैं। जैसे खाते खेलते सोते और विवाद करते विद्यार्थीकी परिणति उन कार्योंमें आसक्त होके नहीं रह जाती, वैसे ही यह आत्मानुभवी लौकिक कार्योंमें मनको नहीं फंसाता। जिसे अपने घरका भान नहीं, ऐसे लड़के या बहूको ही और का तमाशा देखनेकी फुरसत है, जिसे अपना घर सूझता है उसे तो पड़ौसी या मित्र केवल तमाशा तो क्या किसी कार्यवश भी बुलावें तो कहता है—अभी अपना काम तो कर लूं। सो यह अपना मुख्य काम है आत्मानुभव। "जान बची तो लाखों पाये", "आप भले तो जग भला", "पहिले अपनी दाढ़ीकी आग बुझानी पड़ती है", "तेरे भावे कछु करो भलो बुरो संसार। नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार" आदि लोकोक्तियों से भी आत्मानुभवकी महत्ता मालूम होती है। "हम तो कबहुं न निजघर आये, पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये", "अपनी सुध भूल आप, आप दुःख उपायो। ज्यों शुक नभ चाल विसर नलिनी लटकायो॥" आत्माकी सुध खोकर ही क्लेश पाये। आतमके अहित विषय कषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय॥ मैं रहूं आपमें आप लीन। स्वाभाविक परिणतिमय अछीन॥ इत्यादि भजन व स्तुतियों द्वारा भी आध्यात्मिकताकी ओर भक्तको अग्रसर होनेकी प्रेरणा की है।

६७६. **आत्मानुभवीके चिह्न**—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें भी आत्मानुभवी या सम्यग्दृष्टिका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि "जे जिनवयणेकुसला, भेदं जाणंति जीवदेहाणं। णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अंतर अप्पाय तेतिविहा॥ अर्थात् जो जिनेन्द्र वचनोंका रहस्य "आत्मानुभव" करनेमें कुशल हैं और जीव व शरीर या निज परकी स्वतंत्रताका अनुभव करते हैं तथा आठ प्रकारके मदोंको जिन्होंने जीत लिया, सो अन्तरात्मा है। वे अन्तर आत्मा तीन प्रकारके हैं अथवा अन्तर आत्माका सरल अर्थ है—देहसे भिन्न भीतरी आत्माकी जिसे सत्य पहिचान है। ऐसे आत्मानुभवीकी परिणति भी हम तुम जैसे रात दिन विषय कषायकी परिणतिमें दौड़ने वालों अर्थात् हाफर धूपर करने वालोंसे भिन्न होती है। विसयासत्तो वि सया, सव्वारंभेसु वट्टमाणोवि। मोह विलासो हदि सव्वं मण्णदे हेयं॥ अर्थात् चारित्रमोहनीयकी अप्रत्याख्यानावरणादि द्वादश कषायोंके उदयसे पचेन्द्रियके विषयोंको भी भोगता है, दुकानदारी व्यापार खेती नौकरी आदि आरंभ करता है, फिर भी सबको हेय

कर फेंकी जा सकती है। पर अन्तरंगकी चीज छुड़ानेको तो आध्यात्मिक दृष्टि चाहिये, उसे आत्माकी स्वाभाविक ज्ञानानन्द शक्तिका ज्ञान कराया जावे, परका परिणमन पराधीन अपना परिणमन अपनेमें, ऐसी पदार्थोंकी स्वतंत्रशक्तिका ज्ञान जब तक न हो, संसारकी असारता आदिको न समझे तब तक क्रोधका त्याग नहीं बन सकता। पहिले यह बात कही थी कि सार बातें जरूर समझ लो, तब आत्माके अनुभव करनेकी बात मुख्य बताई थी। उसके साथ अनुभव करो—मैं अकेला होकर भी सहायरूप अनंतशक्ति वाला हूं, मेरी भली बुरी करनी ही नहीं, किन्तु विचारोंका फल मुझे अकेले को ही भोगना पड़ता है। जो स्वतंत्रताका सुख जानते हैं वे स्वप्नमें भी परवस्तुके आधीन नहीं होना चाहते। तीसरे सोचे कि मैं परपरिणति व परपदार्थोंका कर्ता भोक्ता नहीं हूं, किन्तु शुद्ध ज्ञान दर्शन रूप हूं, चौथे सोचे कि मैं अमूर्तिक चैतन्यरूप हूँ, ये मूर्तिक वस्तुएं मेरी अमूर्तिक आत्माका भला बुरा नहीं कर सकतीं। अमूर्तिक या अतीन्द्रिय आत्मज्ञान बिना आत्मसुखका स्वाद नहीं इत्यादि प्रवृत्तियोंसे क्रोधका त्याग लड़का कर सकता है, पर लड़का लड़का है—और तुम प्रौढ़ अनुभवी गंभीर कहलाते हो, तुम्हारी प्रवृत्तियोंका प्रभाव तुम्हारी सन्तानपर बनता रहता है। तुमने भी आध्यात्मिक दृष्टिकी दीपशिखा अपने आत्मघटमें जला कर मोहान्धकारको भगाया क्या? हे आत्मन्! तू परमेश्वर जैसी शक्तिवाला है, किन्तु इन रागद्वेष मोहके विकृतभाव रूप तरंगोंसे तेरी शक्ति तिरोहित है, ढकी है। जैसे एक बड़े पाषाणमें आपके जैयपुरके सिलावट आसपासके अनुपयोगी अंशोंको सावधानीसे छैनीसे अलग कर शान्त मनोज वीतराग प्रभावक मूर्तिको प्रगट कर देते हैं वैसे तुम भी गुरुकी बताई ज्ञानपरिणतिकी छैनीसे आत्माके विकार परिणाम छोड़ो। जैन धर्म तो पुरुषार्थ या प्रयत्न से मुक्ति मानता है, अनादि सिद्ध या स्वयंसिद्ध नहीं मानता।

६८०. **आत्मबोधकी महनीयता**—ऋषि संतोंके उपदेश भी आत्माकी स्वतंत्र अनन्त ज्ञानानन्द शक्तिका ही बोध कराते हैं। स्वाध्याय, सत्संग, तत्त्वोंका मनन इसलिये है कि हम अन्तरंग दृष्टि शुद्ध करें तभी धर्मज्ञानका अर्थ पढ़ा समझा कहलायेगा। हमारा सुख हमारी आत्मामें है, "काँखमें लड़का गाँवमें टेर"। कई दफा ऐसा हो जाता कि अपने पहिने कपड़े की जेबमें चाबी पड़ी है और ढूंढ रहे हैं, इधर उधर सबसे पूंछ रहे हैं, गिड़गिड़ा रहे हैं, कहीं गुस्सा हो रहे हैं। कहते हैं कि जब थाली खोती है तो घड़ेमें हाथ डालता फिरता है, ऐसी हालत हमारी हो रही है। हमारी आत्मामें विद्यमान शक्तियोंको हम पहिचानें। अज्ञान से दुःख और ज्ञानसे सुख होनेकी बात केवल आध्यामिक या पारलौकिक नहीं है किन्तु लोकव्यवहारमें भी जब हम किसी बालकसे गणितका छोटा सवाल पूछते हैं कि आठ सत्ते कितने? सो यदि उसे बोध है तो हर्ष व उत्साहसे स्पष्ट बोलता है—छप्पन और यदि उस

हमारा सबका विश्वास शुद्ध हो जाये तो यह आरोप लांछण या अपवाद जो हमको सुनने पड़ते हैं कि क्या बात है कि "जैनियोंमें लौकिक और पारलौकिक तत्वोंकी जानकारी होने पर भी खान पान आदिकी व षोडश संस्कारकी शुद्धि रहनेपर भी जैनियोंकी प्रभावना क्यों नहीं होती ? अहिंसाके मूलप्रवर्तक श्री महावीर स्वामीके जन्मदिवसकी छुट्टीकी मांगके वास्ते जैन डेपूटेशनसे मिलनेको प्रधानमंत्री समय भी नहीं देते। हमारे सबके विश्वास एक नहीं हैं, ठीक नहीं हैं। अतः हममें केवल धर्मसाधनकी भिन्न-भिन्न शैलियोंको लेकर फिर्के, पंथ गोट, पार्टियाँ बढ़ती जाती हैं। उन भिन्न-भिन्न पंथ वालोंमें ईर्षा विरोध बढ़ता है। जो शक्ति समय द्रव्य स्वपर कल्याणमें लगता था या लगना चाहिये था, वही शक्ति समय और द्रव्य स्वपरके पतन व कलहमें लगने लग जाता है, बस मनुष्य पशु समान हो जाता है, जिसे धर्मात्मा व देव मानते थे। वही पाप व राक्षस दिखने लग जाता है किन्तु इन बढ़ते हुए पन्थोंकी जिम्मेदारी पंचों पर है। ये पंच ही अपनी-अपनी स्थानीय समाजके उत्तरदाता हैं। "महाजनो येन गतः स पन्था" की नीतिके अनुसार आजका सदाचार वही है जो हमारे समाजके प्रमुख पंच आचरणमें लाते हैं॥ अन्य समाजोंमें प्रेम है विश्वासकी एकतासे। वे सब कहते हैं—परमात्मा एक है, हम सब जीवधारी उसके अंश हैं। जैसे एक पिताकी सन्तानमें वैर विरोध नहीं होना चाहिये, वैसे ही हम क्यों आपसमें वैर विरोध करके परम पिता परमात्माके प्रति कृतघ्नता प्रगट करें। कोई किसीका बिगाड़ सुधार नहीं करता—नहीं कर सकता। ऐसे स्वतंत्र ज्ञानानन्द रूप आत्मचैतन्यकी हमें विश्वासोंमें बड़ी भूल लग रही है। हमारा मूल उद्देश्य सिद्धान्तयुक्त शुद्ध नहीं है। हम आत्माकी अनन्तशक्तियोंकी स्वतंत्रताको नहीं मानकर दूसरों द्वारा ही अपना भला बुरा समझ रागद्वेषकी दबोचमें दबे पिसे जा रहे हैं। सामाजिक दृष्टिसे "संघे शक्तिः कलौ युगे" अर्थात् पंचम कालमें संगठनमें सत्ता व शक्ति है, इस बातको असली रूपमें ला करके सफलता पानेका प्रयत्न नहीं करते। लोग कहते हैं—औरोंको जैनी बनाकर संख्या बढ़ाओ, पर आज हम जितने हैं उतनोंमें ही एकसूत्रता नहीं है। न उनका अध्ययन शुद्ध है, न विचार, न क्रियायें शुद्ध है। फिर ऐसी अयोग्यदशामें जैनत्वपर देश-विदेशके लोगोंकी दृष्टिको आकर्षक कैसे किया जा सकता है ? मेरे हृदयकी तो यह बात है कि कभी मनमें यह नहीं आता कि जैन संख्या वढ़े, हाँ यह जरूर मनमें आता कि लोग वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानें।

६७८. **ज्ञानबलसे ही विकारविजयकी शक्यता**—भक्तजन कभी कहते हैं—महाराज मेरे लड़केको गुस्साके त्यागकी प्रतिज्ञा दिलाओ तो मैं समझता हूं कि कोई भाई अभक्ष्य खाता हो, कुसंगतिमें जाता हो तो ऐसे अभक्ष्य व कुसंग रूप बाह्य चीजोंका त्याग तो सहज कराया जा सकता है। कुछ जबर्दस्ती भी कपड़ा, लकड़ी जैसी हाथमें ली हुई चीज छुडा

गये, बसों ट्रामोंका आवागमन रुक गया। धीवरकी लड़की मछलियोंका टोकरा लेकर सवारी की प्रतीक्षामें थी किन्तु आज तो शहर भरमें आतंक छाया है, सवारी मिले कहांसे ? इतनेंमें उसकी सहेली मालिन भी फूलोंकी टोकरी उतारते पासमें ही खड़ी इसको देख बुलाने लगी। धीवरकी लड़कीको घर ठहरानेका पहिला मौका था और अपने-अपने कामसे व्यस्त रहनेसे मिली भी थीं ये आपसमें वहुत दिनोंमें। अत: भोजनपानसे स्वागत करके अच्छी सेज विछाकर, गुलाब, बेला आदिकी मालायें भी सेज पर रख दीं और सो जानेको कहा। किन्तु धीवर कन्या करवट तो वदले, नींद न आवे। मालीकी कन्याने कारण पूछा तो धीवर कन्या बोली—मुझे इस विछौनेपर वास आती है, इन फूलमालाओंको उठाओ दूर करो इन्हें। तुरन्त पुष्पमालायें शैय्यासे अलग कर ली गईं—फिर भी ओढ़ने विछानेकी नर्म और शुक्ल चादरोंपर गहरी सुगंधि वाला इत्र छिड़का था, जिसकी वाससे उसकी नींद न आई. करवट बदला करे तो अधीर हो धीवरकी कन्या बोली—जब तक मेरा मछलियोंका टोकरा मेरे पास न रखा जायेगा मुझे नींद न आयेगी। उसने टोकरा रख लिया और ५ मिनटमें ही नींदमें खो गई। इसी तरह धीवरकी कन्याके समान विषयोंसे हमारी रुचि अत्यासक्ति अनादि से हो रही है। कैसे दृष्टि आत्मानुभवकी ओर आवे ? जिनेन्द्र भगवान् महावीरकी आत्मा मरीचिके भवके बाद कितनी-कितनी दुर्गतियोंमें भटकी ? जिस मरीचिके समयमें आदिनाथ तीर्थंकर जैसे कल्याणके निमित्त समक्ष थे, किन्तु निमित्त बेचारा क्या करे ? हम अपनी आत्माके परिणमनको सुधारें। आत्मकल्याणकी रुचि जागृत करें। प्रत्येक लौकिक और धार्मिक कार्य करते हुए आत्मानुभवकी रट लगी रहे तो कभी चलकर प्रगट आत्मानुभव हो सकता है। बाह्य पदार्थोंमें मूर्छा मोह ममता छोड़ो। रागद्वेषके विकल्प ही तो मूर्छा हैं, इन्हें छोड़ सम्यग्दृष्टि बनो। आत्मानुभवमें आनेको मैं मनुष्य हूँ या मैं सेठ हूं, मैं खंडेलवाल हूं, तेरापंथी हूं, सरपंच हूं, मेरा वनवाया मन्दिर है, मैंने समाजकी भारी सेवा की है आदि विकल्प जो कि पर्याय बुद्धिसे हुए हैं, जो कि क्षणिक हैं. उन्हें छोड़ अनादि अनन्त अहेतुक परमामृत ज्ञानानंद रूप आत्माका अनुभव करो। ऊपर ऊपरकी विषयभोगकी दौड़में आकुलता ही पाओगे।

६८२. **आत्मबलके बलपर सहज आनन्दका लाभ**—एक बार सेठ जी (छोटे गांव के निवासी) दिल्ली जा रहे थे। पड़ौसकी स्त्रियां व प्रेमीजन बोले, हमारे लिये या हमारे मुन्नेके लिये ये चीजें लेते आवें और दो चुअन्नी देकर बुढ़िया बोली— मेरे पोते को अच्छी बांसुरी लेते आना तो सेठजी बोले, मांजी, सच समझ कि तेरा लड़का जरूर बांसुरी बजाकर मजा लेगा, दूसरोंको भी खुश करेगा। बाकी जिन्होंने पैसे नहीं दिये, जो केवल बातोंके पुल बांध रही है उनका विचार व्यर्थ जायेगा। इसी तरह नगद दाम दाताके समान

बालकको पहाड़ा या उत्तर याद नहीं आया तो दृष्टि नीची, चेहरेपर स्याही, हृदयमें धड़कन प्रारंभ हो जाती है। उत्तर बता दिया तो प्रसन्नता हो जाती है। बताओ यह प्रसन्नता किस बातकी है ? कुछ मिठाई तो दी नहीं। यह प्रसन्नता ज्ञानकी है अतएव स्वाध्यायमें सावधानी करके आत्मानुभव करो। "तोर सकल जगदन्द फन्द नित आतम ध्याओ" राग द्वेष मोह छोड़ वस्तु स्वातंत्र्यपर बुद्धि स्थिर कर भेदज्ञान जागृत करो। बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंसे पूछो आत्मा और शरीर तो भिन्न द्रव्य हैं ही किन्तु विज्ञान दृष्टिसे एक पुद्गलद्रव्यका भी अणु अलग-अलग है। तब फिर भिन्न-भिन्न आत्माओंकी परिणतियाँ अलग-अलग होना क्या कठिन बात है ? आने वाले रागद्वेषमय नाना विकल्पोंमें दृष्टि न डालकर जिस मूल आत्मद्रव्यके वे परिणाम हैं उस शुद्ध आत्मद्रव्यको पहिचानो। बहुतोंको तो आत्मानुभव होता ही नहीं। जिन्हें कभी उपशम सम्यक्त्व रूप स्वानुभव होता है वे उस आत्मसंवेदनमें क्षणभर ठहर झट अनादिके पूर्व परिचित रागद्वेष विकल्पोंमें आ जाते हैं। विषयोंको हेय समझनेसे राग द्वेषके विकल्प क्रमशः ऐसे घट जाते है जैसे सूर्योदय होनेसे अन्धकार मिट जाता है। हिन्दू वृद्ध होकर परमधाम काशी जगन्नाथ-द्वारिका आदि तीर्थोंमें पहुंच कर समाधि लेते हैं, पर हम पुत्रके हाथकी लकड़ी भाग्यवानोंको मिलती है, ऐसा समझ रागद्वेष भरे गृह कूपमें ही पड़े रहते हैं। पर्याय बुद्धि छोड़ द्रव्यदृष्टि बनाओ जाने अनजाने या क्रम अक्रमसे होने वाले परिणामोंको छोड़ ज्ञानानन्दका स्वाद लो। मैं शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्रका पिंड हूं, अमूर्तिक हूं ऐसी स्थिर बुद्धि होनेपर विकार परिणतिको कलंक समझ छोड़ता है। एकद्वेषी समझता है कि मैं दूसरेको मार पीट रहा हूं किन्तु सोचो इसकी द्वेष परिणति इसमें है। हाथ पैर वह अपने चला रहा है, स्वयं क्लेशित हो रहा है। संसारभर को जानकर भी विश्वरूप केवलज्ञानी नहीं हो जाते अन्यथा सबसे अधिक व्याकुल वे ही होंगे। मोहजन्य कर्मोंके विकल्प शुद्ध ज्ञानीके नहीं होते।

६८१. मोह दूर हुए बिना सहज आनन्दकी प्राप्तिका अभाव— प्राणियों ! मोहकी चादर दूर करो, परमें सुख माननेकी क्लेशरूप परिणतिको छोड़ो। कुत्ता हड्डी चबाता है और हड्डीकी कठोरतासे जब उसके जबड़े छिलकर खून बहाने लग जाते हैं तब अपनेको सुखी मानता है। अनादिके बिगड़े संस्कारोंके कारण परमामृत ज्ञानानन्द की ओर हमारी रुचि नहीं जाती। टोटा तो यह है कि आत्माका सत्यस्वरूप समझाने वाले आगम ग्रन्थोंको पढ़ने में, मनन करनेमें समय व शक्ति नहीं लगाते। रात दिन विषयसाधनोंकी पूर्ति और सेवन की हाय हाय—दौड़धूपकी आकुलता लगी है। जिसका विषयोंमें प्रेम हो उसे ज्ञानसौरभ कैसे रुचेगा ? एक बड़े शहरमें धीवर और मालीकी लड़कियोंमें बड़ा स्नेह था। बम्बई जैसा लम्बा शहर, कारणवश विद्रोह नगरमें खड़ा हो गया। तार और टेलीफूनकी तार काट दिये

रोटी दाल प्रतिदिन बनती है। नई नई जो दाल रोटी खाई वह तो माटी पार माटी बन गई। इसी तरह सिद्धान्तकी दृष्टिसे आत्माका जो अनादि अनन्त अहेतुक अचल भाव सामान्यतत्त्व है उसे देखो। कर्मकी अनेक झकझोरोंसे तरंगित विषयकषायकी दृष्टिसे मुंह मोड़ो।

६८४. वस्तुकी उत्पादव्ययध्रौव्यमयता—आत्मा द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। इसी भाँति द्रव्यदृष्टिसे सामान्य ज्ञान गुणकी अपेक्षा भी नित्य है और विशेष ज्ञान गुण, पट ज्ञान, घट ज्ञान, स्मरण, विस्मरण, स्पर्श रस गंध वर्ण ज्ञानकी अपेक्षा अनित्य है। एक समय ज्ञानोपयोग छद्मस्थके एक ही होता है। घट यद्यपि पर्याय वा आकार विनाशीक है। घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थिति स्वयं। शोक प्रमोदमाध्यस्थ जनो याति सहेतुकम्॥ अर्थात् तीन आदमी थे। एक को मुकुटकी इच्छा थी, दूसरेको कलश की, तीसरेको केवल स्वर्णकी। वे एक सर्राफ की दुकानपर पहुँचे। सर्राफ मुकुट तोड़ ताड़कर, कूट पीटकर, गला पिघलाकर कलश बनानेकी तैयारीमें था। ऐसा देख जिसे मुकुट चाहिये था उससे कहा—आप ५ मिनट पहिले आ जाते तो बने बनाये मुकुट मिल जाते। ऐसा सुनकर देखकर मुकुटके इच्छुकको रंज हुआ। जिसे कलश चाहिये था उससे कहा—आधा घंटा ठहरिये ये कलश तैयार है। ऐसा देख सुनकर उसे हर्ष हुआ। मुकुटके अभिलाषीको मुकुट मिटते देख रंज और कलशके इच्छुकको कलश बनते देख हर्ष हुआ। तो देखना सुखका कारण नहीं है। इसी भाँति सुनना भी केवल सुख या दुःखका कारण नहीं। कलशके अभिलाषी ने सुना कि अभी ये कलश तैयार करे देता हूँ तो हर्ष और मुकुटके अभिलाषीको यह सुन कि आप ५ मिनट पहिले आ जाते तो मुकुट रखे ही थे—ऐसा सुन रंज हुआ और तीसरेको चाहिये था सोना, उसे दोनों परिस्थितियोंमें न हर्ष है, न रंज। क्योंकि उसे पर्यायरूप सुवर्णकी चाह नहीं है, द्रव्य सामान्य सुवर्णकी उसे चाह है। इसी तरह जिस आत्माकी ये विकारपरिणतियां हैं उस सामान्य आत्मानुभवका साक्षात्कार करो कि मैं ज्ञानानंद रूप शुद्ध स्वतंत्र आत्मद्रव्य हूँ। मंदिरमें दर्शन करते समय जिनेन्द्रकी मूर्तिमें भी यही शुद्ध आत्मद्रव्यके दर्शन हम करते है। चमर छत्रादि विभूति या श्याम शुक्ल वर्णके दर्शन मात्रसे जिनेन्द्र दर्शनका फल पूर्ण नहीं होता। हे जिनेन्द्र! मेरी भी शुद्ध आत्मामें स्थिति हो जावे।

६८५. नयवादसे तत्त्वगमन—नयवादको सापेक्ष किये बिना निमित्तनैमित्तिक दृष्टि भी ठीक नहीं बनती। जिस तरह आत्मामें शुद्ध दृष्टिसे ज्ञायक शक्ति है उसी प्रकार पर्याय दृष्टिसे कर्तृत्व भोक्तृत्व भी है। जब मनुष्यपर्यायमें सुदर्शनने शीलपर दृढ़ रहनेके लिये आत्मानुभव किया तो पापप्रकृतियाँ पुण्यरूप परिणम गयीं। देखो स्थूलरूपसे तो जिस

आत्मानुभवी ही स्वतंत्रतारूप ज्ञानानंदको पा सकेगा। हे जिनेन्द्रदेव ! आप तो आत्मानुभव से सुखी व पूज्य हो। पंचकल्याणकोंमें देवोंके आगमनपर पुष्पवर्षा चमरछत्रादि भामंडल की विभूतिसे न आप सुखी हो, न पूज्य हो, हे जिनेन्द्र ! यही आत्मानुभवकी दृष्टि मुझे मिल जाये। यह आत्मा अनन्त बल या अनन्त शक्तियोंका भंडार है। जब जो कार्य हम कर लेते हैं तो हमें भान होता है कि हममें यह भी शक्ति है। कौन जानता था अकलंक निष्कलंकके जन्म दिवस पर उन्हें। किन्तु जब उन्होंने धर्मप्रभावनाके लिये सर्वस्व समर्पण किया और जो जैनत्वका ज्ञानसूर्य चमकाया, जिसके प्रकाशमें आज भी विषयकषाय भरे भौतिक युगमें अनेक आत्मा आत्मानुभव पाकर कल्याण कर रहे हैं। तो अकलंक निष्कलंकने ही अपना आत्मबल प्रगट नहीं किया, किन्तु उनके कारण उनके बताये आत्मबलको जागृत करके आज भी यत्र तत्र समस्त भारतमें नहीं किन्तु विदेशोंमें भी धर्मज्योति जगमगा रही है। तुम भी इतनी विस्तृत कथनी सुनकर विकल्प छोड़ आत्मसम्मुख दृष्टि करो।

६८३. सूक्ष्मसहज तत्त्वकी दिदृक्षा—जीवद्रव्यमें योगशक्तिसे भिन्न क्रियावती शक्ति भी है। योगशक्तिका कार्य है अपने आत्मीय क्षेत्रमें प्रदेशोंका परिस्पन्द होना। वह परिस्पन्द हलन चलन वहींका वहीं होता रहता है और क्रियाकी शक्तिका कार्य है क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जाना चलना। देखो चौदहवें गुणस्थानमें योगशक्तिका निरोध है, किन्तु क्रियावती शक्तिके कारण मध्यलोकसे मुक्त हुआ आत्मा ७ राजू ऊपर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है। इससे आगे भी द्रव्यकी शक्ति कुछ और है कि सिद्धोंकी आत्मामें अनंतबल होते भी वे अलोकाकाशमें नहीं जा सकतीं। पानी पवनसे हिला या अपने ही क्षेत्रमें लहरें उठीं यह योगशक्ति है और पर्वतसे पानी गिरता है यहां क्रियावती शक्ति काम कर रही है। आत्मा भी प्रतिसमय परिणमन करता है वह प्रतिसमय परिणमनकी शक्ति ऋजुसूत्र नयगम्य है किन्तु व्यवहारमें नहीं आ सकती तो यह भाव प्रच्छन्न शक्ति कहलाया। द्रव्य प्रच्छन्न जैसे परमाणु है क्योंकि वह इन्द्रियगम्य नहीं। कालप्रच्छन्न भविष्यकी परिणतियां है। भावप्रच्छन्न अन्तर्लीन सूक्ष्मपर्यायें व अविभागप्रतिच्छेद है। क्षेत्रप्रच्छन्न अलोकाकाश है। स्थूलपरिणतियां हमारे ज्ञानगम्य होनेसे व्यवहारमें आती हैं कि बालक एक वर्षमें इतना बड़ा हो गया, किन्तु प्रति माह प्रति दिन प्रति घंटा प्रति मिनट भी वह जिस क्रमसे बड़ा हुआ है उसका ज्ञान हमें नहीं है, इसी भाँति स्थूल परिणतियोंमें छिपी भावप्रच्छन्न शक्तियोंका हमें ज्ञान नहीं है। किसी जगह खड़ा लड़का खेल कर रहा है—आँख, मुंह, नाक, कंधे, कूल्हे हाथ, पैर, अंगुलियां मटका कर एक प्रकारका अभिनय कुछ देर तक करता है। देखने वाले उलाहना देते हैं—अरे वहीका वही खेल, किन्तु है प्रति समयकी क्रिया भिन्न-भिन्न। गरीब घरका लाडला लड़का कहता है, अम्मा "वही दाल रोटी, रोज रोज खोटी" किन्तु

एक एक समयकी कषाय मात्र वस्तु समझते ही विकल्प मिटते हैं। अतः एक समयवर्ती आत्माको आत्माका शुद्ध रूप मानते हैं। जैनियों! तुम भी तो बुद्धिसे एक समय मात्रकी पर्याय निरखकर फिर पर्यायबुद्धि छोड़ द्रव्यदृष्टिपर जाते हो। शुद्ध ऋजुसूत्रनय अखंडको विषय करता है। यहाँ अखंडका अभिप्राय यह कि उसके खंड नहीं हो सकते। कारण वह अतिशय सूक्ष्म है। यद्यपि नैगमनयका विषय त्रैकालिक है, इससे अखंड है, किन्तु ऋजुसूत्र-नयने अन्तिम भेदमात्र अखंड द्रव्यका अनुभव कराया। ऋजुसूत्रनय ऐसा है कि वह मानो मालाके एक-एक मणिको लेना विषय करता है और नैगमनय समस्त मणियोंमें विद्यमान सूत्रका अनुभव करता है। इसी भांति आत्माकी अनन्त चैतन्य संततियोंमें सूत्र समान आत्मा हर चैतन्य संततिमें है। सच तो यह है कि सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है। आत्मा पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, कोई शुद्धपर्यायी है, कोई अशुद्धपर्यायी है।

६८७. परवादीसे हटकर आत्मवादीमें पहुंचनेका शिक्षण—उक्त कथनसे यह शिक्षा लेनी—व्यवहारमें तो यह बात मनमें लावो कि भाई जो पाप करेगा सो भोगेगा। एक बार एक साधुसे डाकूने पूछा—क्या है तुम्हारे पास, जो हो सब रख दो। तो साधुने कहा—किस लिये दूसरोंको सताते हो? डाकू बोला—माता पिता और बच्चोंके जीवन निर्वाहके लिये। साधुने कहा—जाओ उनसे, घरके सब आदमियोंसे, पूछ आओ कि पापका फल भोगनेमें जेलमें दुर्गतिमें भी साथ चलोगे कि नहीं? वह गया व पूछा, घरके सब लोगोंने मना किया। बस डाकूको सचेत हो गया। वह बोला, महाराज मैं भी आपके साथ आत्मकल्याणके लिये साधु बनता हूं। देखो जब डाकूने घरके लोगोंसे भिन्न अपनी आत्माकी स्वतंत्रसत्ता समझ ली तो आत्मकल्याणकी दृष्टि जागृत हुई। पर्यायें तो कई बार छुटीं, कई बार मिलीं। उन पर्यायोंमें आत्मबुद्धि करनेसे रागद्वेषके विकल्प बढ़कर तत्काल ही आत्माको आकुलित करते हैं। सावधान चित्त होकर दिनमें सवेरे श्याम या जब भी आत्माके ज्ञानानन्द स्वरूपका अनुभव हो सके करो और एक बार ही नहीं कुछ देर तक शुद्ध आत्मदृष्टि जगाये रखो। कुछ लोग कहते हैं—महाराज हमें तो सूत्र जी भक्तामर कंठ याद है। मंदिरमें कभी बैठकर या नहाते समय धोते समय उन्हें हम पढ़ लेते हैं। सो भाई सोचो—भाव बिना जो चीज पक्की याद है उस चीजके शब्दों व उनके भावपर हमारा भाव नहीं पहुंचता। जैसे तोता राम-राम रटता है या ग्रामोफोनका रिकार्ड बोलता है उसी भांति यह भी पाठ कर लेता है। परिणामोंकी शुद्धिरूप कार्य नहीं बन पाता और एक आत्मानुभवीका उद्देश्य है ऊंचा, वह रागजन्य शुभ परिणतिमें सन्तोष नहीं मानता। कहा भी है कि "इस पथका उद्देश्य नहीं है, शान्तिभवनमें टिक रहना, किन्तु पहुंचना उस सीमापर जिसके आगे राह नहीं।" अर्थात् स्वाध्याय ध्यानादि सभी विकल्प परिश्रम एक शुद्ध आत्मामें रुचि शुद्ध आत्माका ज्ञान और

समय कर्ता है उसी समय सोचा नहीं, कुछ समय बाद भोक्ता है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखो—कर्ता कर्मफल एक समयमें भी हो जाते हैं। देखो—पाप करते समय जो संक्लेश हुआ, चोरी करते समय स्वयं भय लगा, कोई देख न ले यही चोरी कर्मका फल है। गाली दी यह कर्म हुआ, उसी समय जो क्रोधपरिणति हुई वह भी फल है। इस भिन्न अभिन्न दृष्टिसे कर्ता भोक्तामें भिन्न-अभिन्नपने की परिणति है और दोनों ठीक हैं। किन्तु उस क्षण क्रोध आदि रूप परिणमित आत्माको जो ध्रुव आत्माका स्थायी स्वरूप समझें यही मिथ्यात्व है। **अर्थात् वस्तुके किसी एक अंशको वस्तुका पूर्णरूप मान लेना भूल है।** जगत्के एकान्तरूप भिन्न-भिन्न क्षणिक नित्य आदि मतोंको नयवाद कल्पनासे एक वस्तुमें समन्वय करना ही जैनसिद्धान्त या अनेकान्तवाद है। इसी भांति आत्माकी भी रागद्वेष रूप अनेक पर्यायें चलती हैं, किन्तु विचारो तो वे पर्याय शुद्ध सामान्य ज्ञानानन्दरूप आत्माकी नहीं हैं किन्तु विकार परिणमन हैं। प्रत्येक बूंदसे भिन्न-भिन्न दीपक बनता है, वह दीपक शुद्ध द्रव्य नहीं है। शुद्ध द्रव्य तो अनादि अनंत अणु हैं, दीपक भी पर्याय और तेल भी पर्याय। किन्तु फिर भी तेलकी बूंद तेलरूप और दीपककी पर्याय दीपकरूप है। इन सबका मूल अनन्त अणुद्रव्य है। धुंआ भी द्रव्य है, गलेमें लगता है, आंखोंमें लगता है, काला है और धुंआ भी लुप्त होकर कालिमा रूप पर्याय दीवालपर छोड़ जाता है, वह कालापन भी द्रव्य की पर्याय है। इस तरह सिद्ध हुआ कि द्रव्यका समूल अत्यन्ताभाव नहीं होता।

६८६. **परिणमनवितर्क**—द्रव्यमें परिवर्तन क्षणिक हैं। जिसकी पर्यायें हैं वह पर्यायवान् तो नित्य ही है। अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानानंद रूप चिच्चमत्कार नित्य है। कषाय जैसी मन्द तीव्र हो उसके अनुसार पुण्य पाप कर्म बन्ध होता है और तो क्या सयोगकेवली के भी तेरहवें गुणस्थानमें योगनिमित्तक एक समयक आस्रव होता रहता है। निमित्तनैमित्तिक भाव केवली भगवान् तक है, किन्तु वह आस्रव एक एक समयमात्र होनेसे उसका फल विकार नहीं है। अनेक समयोंकी समान क्रियाओंमें ही लोकव्यवहार चलता है। बौद्धोंने सोचा कि अपन शुद्ध आत्माको पायें। आत्मामें कालकी उपाधिसे भिन्न भिन्न पर्यायका आश्रय कोई एक मानें तो अशुद्धता होगी, एक समयकी पर्यायमात्र ही वस्तु हो तो शुद्ध कहलायेगी, गत एक पर्यायको बार-बार माननेपर तो आत्मा अशुद्ध हो जावेगी। अतः प्रति समय भिन्न भिन्न शुद्ध आत्मा मानो। चैतन्यको क्षणिक मानकर या शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय मानकर अर्थात् **आगे पीछे दूसरे समयपर** जिसकी दृष्टि न हो तो बौद्ध समझते हैं कि हमने शुद्ध आत्मा पा लिया। किन्तु हम उनसे यह पूछते हैं कि ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा एक समयरूप आत्माका स्वरूपमें क्या आनन्द आया, क्या अनुभव हुआ? तो वे उत्तर देते हैं कि बुद्धिगम्य या अबुद्धिगम्य कषायके अनुभवकी विडम्बना मनुष्योंको अज्ञानसे लगी है, सो

तरह हे माता बहिनो ! तुम अपने घरमें भी समझो कि जिठानी देवरानी सास नन्द अपने स्वभावमें हैं––तुम्हारा वश तुमपर है तो अपने अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंद स्वभावको मत खोओ। "जगके पदार्थ सारे वर्तें, इच्छानुकूल ही तुझे सुख हो" किन्तु ऐसा न त्रिकाल में हुआ न होगा। अहो यह जीव अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना भाते हुए भी आत्मानुभवसे फिसल जाता है और इस फिसलनेमें कारण है आत्माके ज्ञानगुणका अज्ञानरूप विकार परिणमन। लोकव्यवहारमें कहते हैं कि वर्षामें मिट्टी गीली हो जानेसे फिसल गया। किन्तु गीली मिट्टी ही फिसलानेमें समर्थ कारण नहीं है। अनेक आदमी सकुशल आये गये, वे क्यों नहीं गिरे ? अपनी असावधानी ही गिरनेमें प्रधान कारण है। वैद्यने रोगी को अच्छा किया ऐसा व्यवहार भर है। रोगीने अपथ्य छोड़ा, शील संयम साधा, कड़वी दवा पी, तब अपने परिणमनसे रोगी अच्छा हुआ। इसी भांति लोग कहते हैं मेरा लड़का–– किन्तु तुम परपरिणतिको अपनेमें ला कैसे सकते हो ? अस्तु, लड़का तो भिन्न है ही, जो तुमने बोला सोचा किया उसमें भी ममत्व बुद्धि मत करो। मत ऐसा हठ करो कि जैसा मैं कह चुका वैसा ही होगा। भाई जो कार्य करना तुमने किसी नय या किसी लक्ष्यसे सोचा था, अब परिस्थिति दूसरी आ गई तो विचारका हठ भूल है।

६६०. शुद्ध करनी बिना ठोस लाभका अभाव––ज्ञानी जो क्रिया कर रहा है, वह बोलनेके अनुसार या बोलनेको असली रूप देनेको नहीं कर रहा है, किन्तु उसे जो उचित कर्तव्य जंचता है करनेमें आता है सो करता है। मेरी कही क्यों टले ? ऐसा वचन और विचार तो हठवाद या भूल है। इसी अहम्मन्यतासे घर कुटुम्ब और देशमें समाजमें अनेक सुखरूप फलोंका दाता संगठनरूपी कल्पवृक्ष नहीं उगता। पारस्परिक सहयोगी भावनाओंके उदयाचलपर ही संगठनसूर्यका उदय होता है। जब लोकव्यवहारमें भी अहम्मन्यता बुरी होनेसे त्याज्य है तो फिर अध्यात्मदृष्टिसे परपदार्थोंमें क्या अपने विचारों और कार्योंमें भी अहम्मन्यता करना आत्मानुभवसे च्युत होनेका कारण नहीं है ? देखिये चित्रकारने अपनी कुशलतासे कैसा चित्र बनाया, यहाँ चित्रकारकी प्रशंसा करनेका लक्ष्य अपनी या अपने चित्र की प्रशंसा करानेसे है। घर कोई अतिथि आये तो उनसे कहता है––आपका यह लड़का ८ वर्षकी उम्रमें पांचवी कक्षामें पढ़ता है। किन्तु आये हुए अतिथिका लड़का कहकर अपना लड़का बताकर प्रशंसा कराना चाहता है। कैसा मोहजाल फैला है, जिसमें फंसा है अपने आप। अतः हे आत्मशान्तिके इच्छुकों ! अपने अन्तरंग ज्ञानानंद रूप आत्माका एकाकीपन सोचो, आत्मपरिणतिमें आये बिना पराधीनवृत्ति कहाँ तक सुखदायक है, यह किसी भी प्रकारकी सर्विस नोकरी करने वालोंसे पूछो समझो। आज भी आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मरमणके छंद वाक्य हम जैनग्रन्थोंमें पढ़ते हैं पाठ करते हैं, किन्तु वैसी प्रवृत्ति बनाये बिना

शुद्ध आत्मामें परिणति बनानेको हैं।

६८८. **पर्यायबुद्धिके हटानेमें लाभ**—देखो पर्यायबुद्धि अनेक विकल्प ही पैदा करती है—स्त्रीने रोटी बनाई, लड़की ने परोसी, चकला बेलनसे रोटी बनी। तत्कालकी भूख मिटी। कुछ सन्तोषसा हुआ। यहाँ चारों पाँचों परिणतियाँ भिन्न भिन्न हैं। इसी भाँति सुनार अपना परिणमन फूंकना ठोकना पीटना बुझाना आदि कर रहा है और भोगता है दुःखरूप परिश्र को, तो यहाँ परिणाम और परिणामीकी अपेक्षा कर्ताभोक्ता हो गया। इसी भाँति जब विषयकषायरूप परिणमन करता है तो तत्काल ही आकुलतारूप फल भोगता है। बहुतोंको अनुभव होता है कि खीर खानेसे आनंद आया, किन्तु आनन्द किसी बाह्य पदार्थसे कैसे आ सकता? ज्ञानमित्रकी कृपासे निजके आनन्द गुणका विकास इस रूपमें हुआ। वहां विषय खीर पड़ी, सो मोहीकी दृष्टि खुदपर न जाकर खीरपर जाती है। भैया! उस भोगानन्दमें भी अपनी आत्माके अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानन्द स्वभावका घात होता है। निश्चयसे वस्तुका परिणमन हो वस्तुका कर्म है। रसोईके दृष्टान्तमें भी परिणामी और परिणमनकी अपेक्षा नाना विकल्प हैं। यद्यपि व्यवहारसे अन्य वस्तुका संबंध अन्यसे माना जाता है जैसे कि हाथमें पीछी ली। फिर भी हाथ तो पीछीसे बाहिर ही बाहिर लोट रहा है, पीछीमें घुस नहीं गया, न पीछी हाथमें घुस गई। इसी भाँति कारीगर ने दीवाल बनाई। यहाँ भी कारीगर अलग है, मिट्टी पत्थर चूना अलग है। इसी भाँति आत्मामें जो भाव बनते हैं उनके जो नोकर्म हैं, वे बाहर ही बाहर लोटते हैं और अन्तरङ्ग दृष्टिसे भी देखो जो कषाय भाव आये वह आत्माके बाहिर ही बाहिर लोट लोट रहे हैं। जैसे रामलीलामें राम रावण हनुमान आदि मान्य अमान्यदृष्टिके पात्र बनते हैं, किन्तु पात्रोंकी आत्माको मान्यता अमान्यताका भाव नहीं छूता।

६८९. **अन्तस्तत्त्वकी विविक्तताका आलोचन**—जो अनन्त शक्ति रूप ज्ञान दर्शन को रोके वे ज्ञानावरणादि कर्म भी अनन्त शक्तिवाले हैं। ऐसा अनन्तशक्ति वाला कर्म भी आत्माके बाहिर बाहिर लोटता रहता है, आत्मामें घुस नहीं जाता। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें समावेश नहीं। देखो दो मल्ल आपसमें लड़ने हैं जो गिरा वह अपनी कमजोरीसे। परन्तु लोकव्यवहार यही होता है कि गामाने लामाको पछाड़ दिया। समस्त वस्तुएं अपने स्वभावमें नियत हैं। इसी भांति आत्माके साथ अनादिसे कर्मसम्बन्ध है। ऐसा लोकव्यवहार चलता है किन्तु है दोनों अलग-अलग। अरे भैया! सोचो जब आत्मभूमिमें आविर्भूत हुए रागादि विभाव भी खुदके कुछ नहीं हैं तब फिर प्रगट पररूप स्त्री पुत्र धन घर आदि में तू ममता करता ही क्यों है? वे तेरे न हुए, न तू उनका है। धर्म अधर्म आकाश द्रव्य के प्रदेश लोकाकाशमें एकत्र भरे हैं। फिर भी है वे समस्त द्रव्य अपने अपने रूपमें। इसी

है, किन्तु खिलाने वाला अपने राग भावको खिला रहा है। लोकव्यवहार भी ऐसा है कि "भूत वह है जो सिरपर चढ़कर बोले" अर्थात् कई बार अपराधी दूसरोंके कहनेपर अपराध स्वीकार नहीं करता किन्तु कभी कह बैठता है—"हां भाई हम तो ऐसा ही ऐसा करते हैं।" लोग कहते हैं कि परमात्मा या राजा या न्यायालय या कमेटियाँ अपराधीको दंड देती हैं किन्तु निश्चयदृष्टिसे स्वयंकी पापपरिणति स्वयं फलती है। पापका घट भर चुका। बस फूटने की देर है। ईश्वर राज्यमें अंधेर नहीं, पर देर है। ऐसा समझ जो हमारे प्रति रोष करता है हम उसपर रोष न करें, किन्तु हमारी जिस विकारपरिणतिसे रोष आता है उसे छोड़ें तो तुम्हें स्वयं संतोष प्राप्त होगा और सम्भव है कि जगत्के परिणाम भी तुम्हारी ओर द्वेषरूप न रहें। हम कब तक देखें परको, बस आत्मशुद्धिकी दृष्टिमें ही कल्याण है।

६६२. शुद्धदृष्टिमें विकल्पोंकी समाप्ति—जो वस्तु जिसकी होती है वह उस रूप ही रहती है। जैसे आत्माका स्वरूप है ज्ञानानन्द तो वह सदा ज्ञानानन्द रूप सत्तामें रहता है। किताब कागजकी है तो वह कागजमें ही है। इसी तरह भींतपर खड़िया पोत देने पर भी खड़िया खड़ियामें है, भींत भींतमें है। खड़िया भींतकी नहीं हो सकती। कारण शुद्ध तत्त्वदृष्टिमें द्रव्यसंक्रमणका निषेध है। यदि खड़िया भींतकी हो जायेगी तो खड़ियाकी सत्ता नहीं दिखनी चाहिये। इसी भाँति हाथ हाथका है। पदार्थ की स्वतंत्रतापर स्थिर बुद्धि करो तो बात समझमें बैठेगी। खड़ियामें सफेदी है सो सफेदी की है, किन्तु कोई पूछे कि वह दूसरी सफेदी किसकी है? जिसकी यह सफेदी कहलाये किन्तु ऐसी भिन्नताका व्यवहार अंश अंशीकी अपेक्षासे है। स्व और स्वामीके व्यवहारसे ही ऐसी-ऐसी भिन्न-भिन्न रागद्वेष कल्पनायें किलोलें करती हैं। जुएका ड्रामा दिखाते समय जुएका समर्थक कहता है कि 'आओ खेलें जुआ आओ खेलें जुआ। पलमें फकीर अमीर हुआ।' दूसरा प्रतिवादी बोलता है—'मत खेलो जुआ मत खेलो जुआ। पलमें अमीर फकीर हुआ।' वादविवाद प्रश्नोत्तर चलते दोनोंकी एक दृष्टि हो जाती है। अन्तमें दोनों वादी प्रतिवादी एक भावका गायन गाकर नाटक पूरा करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि हमारी अभी भिन्न-भिन्न पर्यायबुद्धियां हो रही हैं जिनसे हमें असन्तोष व्याप्त रहता है किन्तु एक शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे सभी विकल्प मिट सकते हैं और हम परमसन्तोष जिसका दूसरा नाम ज्ञानानन्द भी है उसे पा सकते हैं। आत्मानुभवकी अवस्थासे भिन्न अवस्थाओंमें हमने अपने आसपासके अनेक पदार्थोंको ज्ञेय बनाया, किन्तु ज्ञेयभाव गौण ही पड़ा रहा और हम खुद राग द्वेष भाव जागृत करके आत्मपतन करते रहते हैं। किन्तु जब स्वयं आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञेय बनता है तो समस्त रागद्वेषके विकल्प लुप्त हो जाते हैं। जैसे आत्मा ज्ञान गुण

सुख शान्ति कहाँ ? सत्य अहिंसासे शान्ति मिलती है–इसका अनुभव सत्य और अहिंसाके अमल से ही होगा। एक लोकोक्ति है कि "कहता तो बहुता मिला गहता मिला न कोय। सो कहता वह जान दे जो नहिं घहता होय॥" टीकमगढ़के मंदिर जी में एक पंडित जी शास्त्र पढ़ चुके तो इसी अभिप्रायका एक भजन एक बालकने गाया कि "कथनी तज करनी करे सो नर सांचा। जो केवल कथनी करे सो नर काचा।" तो बाहिर आकर पंडित जी ने उस बच्चेको चार चांटे लगाये। चोरकी दाढ़ीमें तिनकाकी लोकोक्ति समान वे यही समझे कि मेरे को ही लक्ष्य करके बच्चेने यह भजन गाया है। यदि पंडित जी चुप रहते तो सब कुछ ठीक था, किन्तु पंडित जी के अन्तरंगमें उपस्थित विकारदृष्टिने ही पंडित जी की कथनी और करनीके भेदको अपवाद रूपमें प्रगट किया। स्वदृष्टि सदा सन्तोष देती है। अपने विचारों, वचनों व क्रियाओंको निर्मल बनाओ और उनका बनाना ही क्यों किन्तु "मां जंगह मा चिंतह मा चिट्ठह किंवि जेण होइ थिरो। अप्पा अप्पमि रओ इणमेव परं हवे झाणं।" अर्थात् आत्मानुभवमें लीन होनेके लिये 'वचनसे कुछ मन बोलो। मनसे कुछ मत सोचो, शरीरसे कुछ भी चेष्टा मत करो। जिससे आत्मा आत्मामें लीन हो जाये, यही आत्ममग्नता परम-ध्यान है।'

६६१. पराग्रहबुद्धिमें अकल्याण––जब तक परविषयक आग्रह वाली दृष्टि नहीं मिटी अर्थात् परपदार्थोंमें रागद्वेष परिणति नहीं मिटी तब तक आत्मकल्याणकी लगन भी जमी नहीं––लगी नहीं। भिन्न कोई चीज किसीकी नहीं अन्यथा एककी सत्ता मिट जाये। कर्म-वर्गणायें भी अपनी परिणतिको आत्मासे बाहिर करती हैं, आत्मामें मिल नहीं जातीं। साता असाता कर्मने मुझे सुखी दुखी किया। ऐसी निमित्त दृष्टि अनादिसे लगी है। अब भी यही माया बुद्धि रही तो अनादि अनंत अहेतुक चिच्चमत्कार ज्ञानानंद रूप परिणति नहीं जगेगी। बाजारमें खिलौने बिकते हैं उनमें एक स्प्रिंगसे उछलने वाला मेढक भी बिकता है। बताओ उस मेढकको किसने उचकाया ? पेंच-पुर्जा स्प्रिंग आदिमें अपनी-अपनी क्रिया हो रही है। एक अणुका परिणमन निकटवर्ती दूसरे अणुपर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता। यद्यपि जब प्रश्न करने वालेने प्रश्न किया तब उत्तरदाताने उत्तर दिया, इस भांति प्रश्नोत्तरका व्यवहार संबंधित है। फिर भी प्रश्न करने वाले और उत्तर देने वालेकी स्वतंत्र परिणति हो रही है। अपने आनेमें हाथोंसे रोटी बनी, यह केवल व्यवहार है किन्तु उसी पदार्थका परिणमन उसीमें हो रहा है यही शुद्ध दृष्टि है और अकेला कर्ता ही क्यों ? किन्तु द्रव्यदृष्टिसे वही कर्ता वही भोक्ता। बच्चेको आप उछालकर हंसाते हो किन्तु उसकी हंसनेकी क्रिया उसमें हुई। हम अपने अज्ञानपरिणमनसे अपने रागद्वेष रूप कषाय भावको खिला रहे हैं या आप अपनी मूछोंको सुकुमार बच्चेके पेटपर फेरकर खुशी होते हैं। पर बच्चेको तो दुःख ही होता

प्राप्तिकी दृष्टिको। भोगमें आकुलताका बड़ा रोग है और उस आकुलताको मिटानेकी यह झूठी कल्पनायें करके और भी दुखी होता है। भोगके लिये जैसे धन चाहिये, उससे भी कहीं पहिले भोग भोगनेका शरीर सामर्थ्य चाहिये। आज जितनी चिन्ता भोज्यपदार्थोंके संग्रहकी है उसीके समान चिन्ता भोजन पचानेकी भी है। धनके अर्जनमें कमानेमें जितनी बुद्धि नहीं लगानी पड़ती जितनी उस धनके सदुपयोगमें। कमाते सब हैं किन्तु कितने विवेकी धनका सदुपयोग करके उससे सच्ची स्व-पर-कल्याणकी सिद्धि करते हैं।

६६४. परसम्पर्कसे विडम्बना—अच्छा देखो कितने विकल्प द्विपदसे चतुष्पद होनेके सम्बन्धमें होते हैं? चतुष्पद बोलते हैं चौपायोंको पशुओंको, सो जब विवाह हो गया तो "जोवनवस बसी बनिता उर, के नित राग रह्यो लक्ष्मीको।" चतुष्पद क्या हुआ आहार निद्रा भय मैथुनकी चंडाल चौकड़ीमें घिर आत्मस्वभावकी हत्या कर बैठा। आगे भी एक पुत्र हुआ तो षट् पद हो गये। षट्पद नाम है भ्रमरका। जैसे भ्रमर गंधका लोलुपी होकर अविवेकसे उसी कमलमें मुद्रित होकर काष्ठछेदनकी सामर्थ्य होते हुए भी गंधवासनाके मोहसे आत्मशक्तिको भूल उसीमें उसका प्राणान्त हो जाता है उसी तरह यह दम्पति भी तमाम आकुलताओंको सिरपर लदे भी पुत्रकी नीरोगता और जीवन लाभके लिये अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्वके आराधनामें अर्थात् कुगुरु कुदेवके पूजनमें लगकर चतुर्गतिकी भ्रमणामें भ्रमता एक अन्मुहूर्तमें ६६३३६ भव तक धारण करता है। ऐसे ही एकेन्द्रियकी निगोद आदि पर्यायोंमें ही नहीं किन्तु पंचेन्द्रियकी पर्यायोंमें भी कई कई बार हो आता है। कहा भी है कि "पुढविदगागणिमारुदसाहारण थूल सुहुंमक्तेया। एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के बार खं छक्कं।" अर्थात् पृथ्वी जल अग्नि वायु और साधारण वनस्पति इन प्रत्येकके स्थूल सूक्ष्म की अपेक्षा दश भेद हुए और प्रत्येक वनस्पतिको मिलाकर ग्यारह भेद हुये, इन प्रत्येकमें ६०१२ बार जन्म मरण करके ६६१३२ भव लेता है। इस तरह एकेन्द्रियके ६६१३२ भव लेकर त्रसकी भी पर्यायें २०४ धारण करता व छोड़ता है—"सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे। छावहिं च सहस्सा सयं च सहस्सा सयं च बत्तीसमेयक्खे।" अर्थात् दो इन्द्रियमें अस्सी भव, तीन इन्द्रियमें साठ, चार इन्द्रियमें चालीस और पंचेन्द्रियमें २४ भव—इस भाँति त्रसके २०४ भव मिलाकर कुल ६६३३६ भव लेता है। भला क्या वह जिन्दगी जिसके जन्मके साथ ही मरण लगा हो। किन्तु कुछ ऐसे तीव्र मोहका उदय है कि पापके जनक विषयकषायको छोड़नेका प्रयत्न नहीं करता। ऐसी परिणतियां षट्पदके सम्बन्धमें हुई। अब पुत्रका भी विवाह हुआ या किया। देखिये अष्टापद यानी मकड़ीके जालकी तरह अपने बनाये घर पुत्र व पुत्रवधूमें स्वयं उलझ जाता है। कभी पोते मारते, गाली देते हैं तो उसका आक्रन्दन सुनकर रोंगटे खड़े होते हैं। कुछ समझदार हिम्मत करके कहते हैं— बाबा

रूप है उसी भाँति ज्ञान गुणका परिणमन ही ज्ञाता रूप कहलाता है। व्यवहार होता है मैं चौकीका ज्ञाता हूँ किन्तु आत्माके ज्ञान गुणकी परिणति आत्मामें हो रही है, चौकीमें नहीं पहुँच गई। व्यवहारसे पुद्गलमें ज्ञेयका व्यबहार होता है। देखो अंग्रेजीमें स्त्रीको 'शी' और पुरुषको 'ही' कहते है किन्तु आत्मवाचक शब्द "अहं" अर्थात् 'मैं' स्त्री पुरुष दोनोंमें उपयुक्त होता है। इसी भाँति ज्ञाताकी आत्मस्वरूपकी स्थितिमें कोई भेद नहीं। अगर कदाचित् यह कर हम भेद भी डालें कि आत्मा अपने ज्ञायक भावका ज्ञाता है, किन्तु वह दूसरा ज्ञायक भाव कौन है जिसका यह ज्ञाता है। केवल स्व और स्वामीके भेदसे ही अपने ज्ञायकभावका ज्ञाता है ऐसा व्यवहार ठीक माना जाता है। परपदार्थोको देखने और आत्मबोधसे विमुख रहनेपर तो कभी भी निराकुलता प्रगट नहीं होगी। एक घरमें दो हिस्सेदार हों तो झगड़ा, दो लड़के हों तो झगड़ा। दुकानमें दो हिस्सेदार हों तो झगड़ा। सारा कष्ट द्वन्द्व भावका है। द्वन्द्व भावको छोड़ जहाँ एकत्व दृष्टि जगी कि असंतोष दूर हुआ, संतोष प्रगट हुआ।

६९३. आत्महितके उद्देश्य बिना श्रमकी भाररूपता—लड़का स्कूलमें पढ़ता है तो भिन्न-भिन्न लक्ष्योंपर फलोंकी कल्पना करने से तो आगे कई बार रागद्वेषका ज्वारभाटा आयेगा किन्तु अगर पढ़नेका एक परम और चरम उद्देश्य आत्मकल्याण मान लिया जाये तो इतने विकल्प नहीं आयेंगे। तिमाहीमें पास हो गया, छै: माही में फेल हो गया। एक किताब पढ़ ली, दो चार आठ दश पढ़ ली, मैट्रिक हो गया, बी० ए० वकील हो गया, कमाई करने लगा। किन्तु अभी भी उनके मनमें अनेक विचारधाराएं उसे व्याकुलित कर रही हैं और अन्य लोक जन भी उसकी परिणतियोंसे तृप्त नहीं हैं किन्तु जब उसकी दृष्टि आत्मसम्मुख हो जाये तो स्वयं सुखी। जितने विकल्पोंके जाल उतने ही फन्दोंमें फंसा या जितनी मोह माया, घर गृहस्थी विडम्बना उतना ही दु:ख। पहिले अकेला था, फिर शादी हुई। लोग कहते हैं चिन्ता दूनी हुई, मैं कहता हूँ दूनी नहीं सौ गुनी हुई। विकल्पमें तो लोग कह बैंठते हैं कि मेरा ब्याह हो गया निश्चिन्त हुआ। किन्तु नजर करो उस लोकदृष्टि पर कि "फूले फूले हम फिरें होत हमारो ब्याव। तुलसी गाय बजायके देत काठमें पाँव।।" केवल मनुष्यकी जितनी आवश्यकतायें हैं उससे कई गुनी आवश्यकतायें स्त्रीकी नित्य नई खड़ी रहती हैं और आजके भौतिक वातावरणने तो भोगके भूतको भी ऊत बना दिया है। समय, शक्ति, नियत है और भोगकी आकांक्षायें अगणित हैं। भोग्य वस्तु और भोग की अभिलाषा दोनोंमें नया नया प्रादुर्भाव होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी परिस्थिति या परिणमनसे जैसे वस्तुमें स्थिरता या एकरूपता नहीं, वैसे ही भोगकी अभिलाषायें भी मानसिक और शारीरिक विकल्पोंसे एकसी नहीं रहतीं। अतएव छोड़ो भोगों द्वारा आनन्द

अपनी नाभिमें बसी सुगंध उसको नजर आती नहीं। एक बुढ़ियाने अपने बच्चेके हाथ बाजार से कुछ जरूरी सौदा मंगाना चाहा। वह बोला—दादी मुझे न भेजो मैं खो जाऊंगा। दादीने बहुत समझाया। चीज जरूरी थी सो बुढ़िया बोली—बेटा, मैं तेरे हाथमें एक धागा बांधे देती हूं, तू उस धागेको देखकर अपनेको न भूलेगा। धागेकी तरफ देखता जावे और कहता जावे——मैं रुड़िया हूँ यानी बच्चेका नाम था रुड़िया। थोड़ी दूर चला तो चौराहा आया। वहाँ भीड़में उसका धागा टूट गया। लड़केको कुछ देर बाद ज्ञात हुआ कि धागा तो टूट गया यानी रुड़िया तो खो गया। रोये और दुकानदारोंसे खोये हुए रुड़ियाका पता पूछे। किन्तु किसे ज्ञान रुड़ियाका और कौन उसे बतावे? पहिले तो सुने ही कौन, फिर सुनकर भी गुने कौन? कौन कोशिश करे? आखिर रोता रोता बिना सौदा लिये घर पहुंचा। बोला——मैंने कहा था मत भेजो बाजार रुड़िया खो जायेगा। बुढ़ियाने पुचकारा समझाया कि नहीं खोया रुड़िया, तू ही तो रुड़िया है। फिर भी वह न माना, आखिर थककर सो गया। सोतेमें बुढ़ियाने धागा बाँध दिया। जब दिनमें दो घंटे वह सो चुका तो बुढ़ियाने पुकारा——रुड़िया उठ रोटी खा ले। वह रुड़िया नाम सुन जगा और हाथमें सूत बंधा देख संतोष माना। बस इसी तरह "मैं भ्रम्यों अपनअो विसर आप" यानी अनादि अनन्त ज्ञानानंद सामान्य द्रव्यरूप आत्माको यह भूला हुआ है——परपरिणतिमें फंसा है—स्त्री मेरी, घर मेरा, किन्तु स्त्री पहिले मर जाती है या पति। या पति पत्नीमें कलह खड़ा होकर जीवन का सर्वस्व मिटा देती है। देखो अनादिके बिगड़े संस्कार कि खाना, सोना तो प्रिय है और चाहता है पूर्ण शान्ति और स्वतन्त्रतासे, किन्तु आत्मस्वरूपका अनुभव करे बिना न इसके हृदयमें शान्ति है और न शान्ति लानेका प्रयत्न कर सकता है।

६६७. आत्मदृष्टिके पौरुषकी आदेयता——भैया! आत्मस्वरूपका अनुभव या स्वपरभेदज्ञानकी भावना भरनेके लिये करोड़ों प्रयत्न करो। किन्तु हम तो तृप्त हैं अपने रूढ़िसे चले आये धार्मिक नियमोंके परिरोषणमें। उन धार्मिक सिद्धान्तोंका रहस्य, पालनकी विधि और फलपर हमारी दृष्टि नहीं पहुंच पाती। यदि आत्मानुभव करना है तो उसके दो उपाय हैं–आगम और आत्मपरिणति। अनेक आगमोंका अध्ययन करनेपर भी बिना आत्मपरिणति के आत्मानुभव नहीं होगा, किन्तु यह कार्य भी उतना सरल और उतना कठिन है जैसी प्राकृतिक निरोगता। निरोगताके लिये संसार अगणित उपाय कर रहा है, किन्तु अपनी प्रकृतिकी अनुकूलता प्रतिकूलताको पहिचान कर उसके पाले और छोड़े बिना वह नहीं मिलती। परविकल्पोंको त्यागकर "लाख बातकी बात यही निश्चय उर लाओ। तोर सकल जगदंद फंद नित आतम ध्याओ।" जितनी परदृष्टियां बदलोगे, करोगे उतनी आकुलतायें तत्काल खड़ी होंगी। व्यवहारमें पैर फिसला केलेके छिलकेसे, पर सच पूछो—दुनियां

आओ हमारे साथ रहो। दो रोटियाँ खाओ। दो कपड़े पहिनो। ये नालायक आजकलके बच्चे पिटने योग्य है तो बड़ा दादा अपने पोतोंका पक्ष लेकर औरोंको चला देता है। "उदय अस्त रवि होत, आयुको क्षीण करत नित। गृह धन्देके मांहि समय बीतत अजान चित ।। आँखन देखत जन्म जरा अरु मरण विपत नित। गृह धन्देके मांहि समय बीतत अजान चित ।। जग जीव मोह मदिरा पिये छकि फिरत प्रमादमें। गिर परत उठत, फिर फिर गिरत विषय वासना स्वादमें ।।" अर्थात् जिस मोह मायासे दब गया, पिस गया उसीमें मग्न हो आनंद मानता है। इस तरह अनुभव हुआ कि परवस्तुमें आनंद नहीं, आनन्द है अपने ध्रुव चिच्चमत्कारमें, उसी ज्ञानानंदरूप ध्येयका ध्यान करो।

६६५. एकत्वप्रतीतिके बिना आत्मप्रभावनका अभाव--आप कदाचित् यह कहें कि अकेलेको तो और बात करनेकी मरनेकी फुरसत नहीं। कमाना स्वयं, पकाना स्वयं, किन्तु यह अधिक संभव है कि अकेलेको विरक्त होनेमें जो सुविधाएं हैं उससे अधिक दुविधाएं स्त्री पुत्र पोता आदिके जालमें फंसे फंसे रहनेकी हैं। विरक्त होनेकी तो सूझे किसे ? यह पुत्र या पोता योग्य हो जायें तो विरक्त हो आत्मसाधन करूं ऐसा कोई सोचता, किन्तु न वे योग्य हों, न यह अपनेको आत्मकल्याणके योग्य बनावें। फिर भी यह निश्चय है कि जितने मृग फन्देमें फंसते हैं उतने शेर नहीं फंसते। आत्मार्थी तो घरमें रहता भी आठवीं प्रतिमा तकके नियम पालकर आत्मोन्नति कर सकता है। "जे कम्मे सूरा ते धम्मेसूरा" अर्थात् जो आज अपने पुण्य पुरुषार्थसे जाति मान्य देशमान्य, लोकमान्य, विद्वान, समृद्ध, बलाढ्य बन चुके हैं वे अपनी करतूत ऐसे काममें दिखावें जिससे यह आत्मा जन्म मरणसे छूट सके, अर्थात् वही साधुवृत्ति धारण करके प्राणीमात्रके कल्याणकी भावना रखता हुआ अलौकिक उन्नति भी करे। किन्तु आज त्यागका मार्ग भी अपवादमय हो चुका है। काय और कषायको कृश करते हुए आत्मतेज जागृत करना यह तपस्याका मूल रूप है किन्तु आज घी के त्यागकी पूर्ति दूध से और मीठेके त्यागका पोषण छुहारे मुनक्का आदिसे करके त्यागकी हंसी या त्यागका त्याग किया जाता है। त्यागियोंमें भी संग्रहदृष्टि हो तो वह उनके त्यागीपनको समूल खो देती है। सामायिक प्रोषधोवास आदि व्रत जब कामके हैं कि मूलमें सम्यग्दर्शन हो। बिना अंकके बिन्दियां किस कामकी ? अतएव निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको अपनेमें जागृत करके आत्मोन्नति करो और सम्यग्ज्ञान, स्वार्थ त्याग आदिके प्रमाणिक चमत्कारो उपदेश व प्रयोग करके प्राणीमात्रमें धर्मकी महिमा फैलाओ। पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा है कि 'आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव। ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।।'

६६६. सम्यक्त्वके अभ्युदय बिना परेशानियोंकी मार--"अपनी सुध भूल आप, आप दुःख उपायो" की उक्तिके अनुसार ही "हिरन खुशबूके लिये दौड़ा फिरे जंगलके बीच।

परिणति हो जाती है वह विषमता है। तभी हम दूसरेसे द्वेष करने लग जाते हैं। इसी तरह पुरुष स्त्रीमें आसक्त हो गया यह बात झूठ, नियत रास्ता यह है कि अपनी विकार-परिणतिमें राग हुए बिना स्त्रीमें आसक्त नहीं हो सकता। एक सत्ता दूसरी सत्तामें नहीं आती—ऐसा विश्वास जिसे नहीं वही परमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। जैसे परकी परिणति अपनेमें नहीं आती वैसे ही अपनी रागद्वेष परिणतिसे हम दूसरोंको रागी द्वेषी नहीं बना सकते। कई बार हम अपना रागभाव दिखाकर दूसरोंको रागी बनाना चाहते हैं और जब वे हमारी ओर अनुरागी नहीं होते तो हम दुखी होते हैं। अथवा अपना क्रोध या घृणाका भाव दिखाकर दूसरोंको परेशान दुखी करना चाहते हैं किन्तु जब वे दुखी नहीं होते तो हम और अधिक क्रोध या ईर्ष्यासे अपनी शान्ति और सद्भावनाओं को खोकर आत्मपतन तो सर्वप्रथम कर ही लेते हैं। दूसरेका हृदय विकृत होना उसकी विकारपरि-णतिके आधीन है।

६६८. विकारपरिणति हटानेमें शुद्धनयके आश्रयका योगदान—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा परपदार्थोंका ज्ञाता द्रष्टा नहीं, किन्तु आत्मस्वरूपका ही ज्ञायक दर्शक है। रोटीपर घी चिपड़ा तो लोग कहते हैं कि रोटीका घी नुक्सान करता है। शाक दालमें घी खाया करो। किन्तु घी रोटीपर नहीं फैला अन्यथा घी को आकाशपर भी फैल जाना चाहिये। भाइयो ! घी घी में है। हमें कोई गाली देता है तो गाली देनेकी क्रिया विकाररूप फल उसी गाली देने वाले में है। हम यदि आत्मसंयमी हैं, अपनी परिणतिके साधक हैं तो सामने वाले की गाली मेरे परिणामोंमें विकार नहीं ला सकती। हाँ यदि हमने अपनी विकारी प्रमाद परिणतिसे उसका कुछ बुरा किया है तो सर्वप्रथम अपनी विकारी परिणति ही तो आत्मानन्द की हत्या है। यदि रोटीका घी न कह कर घी का घी कहें तो वह दूसरा घी क्या है ? जिसका यह घी है तो समाधान यह कि स्वस्वामीके भेदोंसे या अंश अंशीके भेदोंसे घीका घी है। आत्मामें चारित्र गुणका काम है—राग, द्वेष, परिणतिको हटाना। यह हटाना या अपोहत्व परका है या आत्माका ? समाधान किया जाता है कि अपोहका अपोहत्व है, बस इसी भाँति अद्वैतको अद्वैतमें देखो। अर्थात् समस्त लौकिक भेदपरिणतियों को छोड़कर आत्मा आत्माको ही निरखो। व्यवहार वाक्य है। एक साधु कहता है मैं घर का त्यागी हूं, यह वाक्य यद्यपि षष्ठी विभक्ति संबंध कारकका है किन्तु अर्थ यह है कि आरंभ परिग्रह स्त्री पुत्र मोह मायासे विरक्त साधु ही आत्मकल्याण कर पाता है। घनाकार ३४३ राजू लोकके विस्तारके आगे वर्तमान परिचयमें आई २५,००० मील पृथ्वी न कुछ है, किन्तु यह जीवकी विकारपरिणति ३४३ राजूमें चक्कर लगवाती है। अगर इस विस्तृत परि-भ्रमणासे तुम घबड़ाते हो तो मोह मायाके विकल्प कम करो। पारिवारिक संबंध भी कम

कह सकती है कि अपनी असावधानीसे गिरा। बस यही अपनी भूल समझमें आ जावे कि परपदार्थ सूर्य या चन्द्रमा या दुर्जन सज्जन अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ते तो मैं अपने शुद्ध ज्ञानानन्दरूप सच्चा आत्मीक अमृत छोड़, विषय भोगरूप क्षार जल क्यों पियूँ? हे विवेकी! तेरा आत्मपतन करानेको तेरी ही राग द्वेष रूप विकार परिणतियाँ निरन्तर जागृत रहती हैं। यदि तू अपनी जातियाँ स्वरूपकी उच्चता महानताको समझ लेवे तो इन नीच जातिकी रागद्वेष परिणतियों को पछाड़ दे। एक बार धोबी और ठाकुर ने कुश्ती लड़ी। किसी दावमें आकर ठाकुर हारनेको ही था कि उसने पूछा कि तू कौन है? वह बोला मैं धोबी हूं। बस उसने सोचा, अहो मैं ठाकुर मालिक और यह धोबी कमीन। बस क्षत्रिय तेज का खून नसोंमें दौड़ा और क्षत्रिय ठाकुरने धोबीको पछाड़ दिया। रूढ़िमात्र खाना पूरी करने को तप त्याग कर लिया तो क्या आत्मानुभव हो गया, नहीं। बड़ी तपस्या करके आत्मस्वभावमें मग्न होकर भी चित्तके विकल्पोंसे ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरकर पहिले या चौथेमें आ जाता है और कहने को तो अर्धपुद्गल परावर्तन कालको जन्म मरण करता है, किन्तु इतनेमें ही कई उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंमें अनन्तभव धारण करके वचनातीत दु:ख उठाता है। फिर कभी सम्यक्त्वको पा लेता है तो मानो अंधेको आंखें मिल गईं। रंकको निधि मिल गई। वह इस चिदानन्द दृष्टिको नरकके दुःख भोगते भी नहीं भूलता। "चक्रवर्ति की सम्पदा स्वर्ग राज्यके भोग। काकबीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥" जिस तरह वह लौकिक सुखमें आत्मानुभवको नहीं खोता वैसे ही इहलोक परलोक आदिके सात भय भी इसकी आत्मानुभूतिको नहीं खो सकते। अपने आत्मलक्ष्य को एक क्षण भी मत भूलो। लौकिक विषयोंके विकल्प देखने सुनने से विचारने से ही आत्मानुभवसे चूक जाओगे। आत्मानुभव पानेके लिये लौकिक विकल्पोंका भूलना सीखो। एक बार आत्मस्वरूपमें लीन होकर शान्ति लो। पुराने-पुराने उन्हीं भोगोंके भोगनेमें अब भी कैसे लालसा रह गई? धन्य वह घड़ी, धन्य वह क्षेत्र जिसमें स्वानुभव हो जाये। मंदिरमें या घरमें किसी भी गर्मी सर्दी शोर गुलमें, डांस मच्छरकी बाधा रहित एकान्त शान्त स्थानमें बैठकर श्री समन्त-भद्राचार्य महाराजके शब्दोंमें भावोंमें आत्मपरिणति लगाओ कि "अशरणमशुभमनित्यं दु:खमनात्मानमावसामि भवम्। मोक्षस् तद् विपरीतमिति ध्यायन्तु सामायिके॥" अर्थात् मैं असहाय, खोटे, नश्वर दुःखमय पररूप संसारमें अनादिसे अनन्त चक्कर लगा रहा हूँ और मोक्ष परमसहाय अनन्तवचनरूप, शुभ, नित्य, सदासुख आत्मरूप है। यह जो मैं सामा-यिक कर रहा हूँ, यदि इतने समयमें मेरे रागद्वेष विकल्प मिट सकें तो सत्य आत्मानुभव रूप सामायिक ही तत्काल मोह बंधन शिथिल कर आगे किसी भेदमें मुक्तिका साधक है। अपने गुणकी गुण परिणति बनी रहे सो तो सामायिक है व जब अपने गुणकी दोषरूप

जाओ तो व्यवहारमें ही उपयोग उलझा रहा। क्या लाभ हुआ ? मूलतत्त्व अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंदका अनुभव अपनेमें करो।

७००. **आत्महित प्रयोजक तर्कोंकी ही प्रतिष्ठा**—आगममें युक्तियां उचित ही लगाओ—जैसे देखो किसीने कहा कि स्वर्ग सिद्धि करो, तो युक्ति देते हैं कि उत्कृष्ट पुण्यका फल भोगनेको जगह भी अलग चाहिये। भोग्य पदार्थ भी मानवलब्ध सामग्रियोंसे भिन्न चाहिये। ऐसी युक्तियां देकर या मोक्ष शास्त्र आदिके चतुर्थ अध्याय आदि अनेक आगम ग्रन्थोंका प्रमाण देकर स्वर्ग सिद्धि करते है। कोई कहे ऐसी ही युक्तियां स्वयंभूरमण समुद्रकी सिद्धि में दो तो हर जगह अति बुरी होती हैं। अधिक क्यों क्यों करना तो रोग है। एक आदमी को क्यों क्यों का बड़ा रोग था। १००) रुपये देकर एक विद्यार्थीको सौंप दिया। कालेजमें प्रोफेसरने पूछा, इस प्रश्नका उत्तर दो तो विद्यार्थी बोला—क्यों ? प्रोफेसरने पूछा—बिल्कुल याद नहीं किया क्या ? विद्यार्थी बोला—क्यों ? बस प्रोफेसरने विद्यार्थीको क्लास रूमसे बाहर कर दिया। विद्यार्थीने वह रोग १००) देकर वकीलके गले बांध दिया। जज साहबने न्यायालयमें प्रतिवादीके वकीलसे पूछा कि वादीके प्रस्तावमें तुम्हारी क्या उजर है ? वकील बोला, क्यों ? बस जज साहबने वादीके पक्षमें फैसला करके डिग्री दे दी। प्रतिवादीके वकील को मिहन्ताना भी प्राप्त न हो सका। आखिर परेशान हो वकील साहबने क्यों क्योंका रोग एक मरीजको बेच दिया। डाक्टरने पूछा—आज तबियत कैसी है ? मरीज बोला क्यों ? डाक्टरने पूछा कि ठीक टाइमोंपर दवाई खाई पी थी कि नहीं, मरीजने फिर वही उत्तर दिया कि क्यों ? बस डाक्टर साहबने मरीजको उसके सामानके साथ अस्पतालके कम्पाउण्ड से बाहर कर दिया। अभिप्राय यह कि अधिक तर्क वितर्क मत करो। अपनेसे उत्कृष्ट ज्ञानियोंका विश्वास करके उनके आगे तर्कके पैंतरे मत बदलो, अपने अनुभवपर जोर दो। अतः द्रव्य रूपसे शुद्ध चिच्चमत्कार मात्र आत्मामें ही अपनी रुचि, ज्ञान और प्रवृत्ति बनाओ।

७०१. **सम्पर्कमें भी भेददर्शन**—प्रदेशोंके संकोच विस्तार गुणके कारण आत्माके प्रदेश दीपकके प्रकाश समान छोटे बड़े शरीरमें रह जाते हैं—किन्तु वह प्रकाश दीपकका नहीं किन्तु पदार्थका है—यह दृष्टान्त स्थूलरूपसे दिया गया है। तुम लड़के को अपना कहते हो, किन्तु दोनों पिता पुत्रकी देह आत्मायें जुदी जुदी हैं, परपदार्थ अपने माने सो मिथ्यादृष्टि "जो पुमान परधन हरे सो अपराधी अज्ञ। जो अपना धन व्यवहरे सो धनपति सर्वज्ञ॥ अपराधी मिथ्यामती निरदै हिरदै अंध। परको मानें आत्मा करे कर्मको बंध॥" अतएव हे धर्मप्रेमियों ! शुद्ध ज्ञान दर्शनको ही अपना धन जान, उसको पाकर उसके अनुभवमें पहुंच अन्य विकल्पोंको छोड़। संसारमें तुम अपनी समाज, मित्रमंडल प्रान्त व देश भरका प्रभावशील पद पाकर भी विकल्प ही बढ़ाओगे। किन्तु कैसा हो महान् व्यक्ति क्यों न हो

करो और संकोचते संकोचते आत्मपरिणतिको अपनेमें बसाओ। क्या अनादिकालसे दुःख-दायिनी रागद्वेष परिणतियोंका स्वभाव तुम्हारी समझमें अभी तक नहीं आया ? एक शुद्ध आत्मद्रव्यके चिन्तवनमें जिसने बुद्धि लगाकर थोड़ी देर भी ज्ञानानन्दका अनुभव किया उसे परनिमित्तजन्य राग द्वेष परिणतियाँ न सुहायेंगी। इस कुल्टा मोह परिणतिके पाससे जो बचे, समझो वे संसारके कष्टोंसे बच गये। जैसे दर्पण स्वयं अपनेमें प्रतिबिम्बित है, वैसे ही शुद्ध आत्मपरिणतिसे आत्मा आत्मामें ही है।

६६६. **वस्तुस्वातन्त्र्यकी आभा**—हर एक द्रव्य अपने स्वरस अर्थात् स्वतंत्र सामान्य त्रिकालवर्ती स्वभावसे स्थिर है। अगर यह बात हमारी समझमें बैठ जाये तो अनादिका मोहजाल आजसे ही टूटना प्रारंभ हो जाये। आत्माकी शुद्ध परिणतिको समझे बिना लोग कहते हैं। महाराज सिद्धोंको क्या आनन्द, न खाना, न पीना, न कमाना। समाधान यह कि जिस विकारपरिणति, क्षुधा तृषा लालसाके होनेपर हम खाने हीने कमानेका महान् आरंभ कर अनन्त कालसे भ्रामरियोंमें भ्रमते हैं वे विकारपरिणतियाँ ही उनके मूलमें नहीं रहीं। सोचो बड़े-बड़े शहरोंमें ऐसे भी आदमी हैं, कुछ जो तृष्णावश २४ चौबीसों घंटे खाते पीते देखते हैं तो क्या जो विवेकपूर्वक पथ्य स्वादिष्ट सात्विक ताजा भोजन दिनमें एक या दो बार करते हैं, वे उन चौबीसों घंटों खाने वालोंसे दुखी हैं या सुखी ? बहुत लोग यही कहेंगे जिसे जितनी आकुलता वह उतना दुखी। साथमें हमारे तुम्हारे तमाम प्रयत्न—क्या तो दान, पूजन, भक्ति क्या भोजन कमाई, क्या विहार नीहारादि क्रियायें सब सुखके लिये करते हैं; फिर भी वह सुख क्षणिक ही रहता है। अगले क्षण दूसरा दुःख खड़ा अड़ा रहता है, किन्तु सिद्ध तो कृतकृत्य हो चुके, उन्हें कुछ करना शेष नहीं है और उनका सुख स्वतन्त्र आत्मीक अनन्त तथा निर्विकार है। किसी परशक्तिका परिणमन सिद्धोंमें विकृति नहीं ला सकता। अतएव ज्ञात हुआ कि सिद्धोंको जैसा निराकुल सुख है वैसा इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती में भी नहीं। केवली जिनराजके पादमूलके संसर्गसे गणधरके क्षायोपशमिक ज्ञानमें भी इतनी निर्मलता आती है कि वे द्वादशांग सरस्वतीवाहिनीकी रचना करके उसके ज्ञानजलसे जगत् का उद्धार करते हैं। लोकव्यवहार होता है कि यह पृथ्वी चाँदनी की है, जो पृथ्वीपर फैली है, किन्तु चांदनी तो चन्द्रमाकी होती है और द्रव्यदृष्टिसे सोचो तो प्रकाशमान पदार्थ और चन्द्रमासे भिन्न चाँदनी कोई चीज नहीं। चन्द्रमाका निमित्त पाकर पृथ्वीके पदार्थ प्रकाशित हुए, इसीमें चांदनीका व्यवहार है। इसी भाँति ज्ञान ज्ञेयका नहीं और ज्ञेय ज्ञान का नहीं यानी ज्ञान घड़ेका नहीं हो जाता और घड़ा ज्ञानका नहीं हो जाता। ज्ञान ज्ञानमें है, घड़ा घड़ेमें है। दृष्टान्तका जो भावांश ग्राह्य है उतना ही ग्रहण करो। ज्यादा मंथन करनेसे तो जैसे समुद्रमें से अमृतके बाद विष निकला वैसे ही दृष्टान्त दृष्टान्तको मथते

तेरी आत्माके जो गुण दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे आत्मामें ही हैं, अन्य पुद्गल द्रव्योंमें नहीं हैं। फिर तू परपदार्थोंके भोगमें फंसकर आत्मघात करता है, या केवल चेतन अचेतन परपदार्थकी स्वतंत्र परिणतिसे तू अपनी शुद्ध बुद्ध ज्ञान परिणतिको क्यों खोता है ? तू परका सेवक बन स्त्री पुत्रादिकी सेवा कर रहा है। विषय सामग्रीके संचय, रक्षण व सुधारमें मग्न होकर मनुष्य भव श्रावक कुल, सत्संग, जिनवाणीका अध्ययन आदि सामग्री पाकर भी क्यों व्यर्थ खोता है ? अपनी आत्मीक गुणोंके विकासमें उद्यम करके पुरुषार्थी बनो।

७०३. **ज्ञानीके ज्ञानातिरिक्त भावोंमें अनहङ्कार**—सामान्यसे तो यह अज्ञानरूप है। इसमें तीन प्रकारके परिणाम हैं—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति। यह विशेषदृष्टि हो गई भेदकी। जिस द्रव्यकी सामान्य रूपसे एक बात है, एक परिणमन है, एक अवस्था है और गुणभेदसे उसके जितने गुण हैं उन रूपोंसे उनकी उतनी अवस्था हो जाती है। तो इस प्रकार सामान्य एक परिणमन अवस्थाको न लेकर इस प्रसंगमें विकारपरिणामको लिया तो सामान्यसे तो वह अज्ञानरूप अवस्था है, इस अज्ञानरूप अवस्थाका अर्थ केवल ज्ञानगुणके परिणामकी विशेषता कहना ही नहीं है। अज्ञानमयय भावको छोड़कर जितने भी प्रकारके भाव हैं वे सब अज्ञानमय भाव हैं और उनका सामान्यरूपसे कथन किया जाय तो अज्ञान रूप कहेंगे। तो सामान्यसे तो अज्ञान रूप हुआ, पर तीन प्रकारके सविकार चैतन्य परिणाम हैं—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति। सो प्रकृतमें भेदज्ञान न होनेसे, भेदरूपसे विरक्त न होनेसे समस्त भेदोंको निकाल कर ज्ञेयज्ञायक भावका परिणाम होनेपर और आत्मामें एक समानाधिकरणका अनुभव करता है। वहाँ अन्य पररूप अपनेको समझता है। जिस जिस से इसने प्रीति किया कुटुम्बादिकसे उन उन जीव रूप अपनेको समझा कि यह मैं हूँ, इसका अर्थ क्या कि उस अन्य जीवमें आत्मारूपसे श्रद्धा की और इसी प्रकार पुद्गलमें आत्मरूप श्रद्धा की। और भी देखिये कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, द्रव्य, जैसे अमूर्त पदार्थोका जब चिन्तन चलता है उस चिन्तनके विकल्पमें, उस जानकारीमें खुशी होती है और उसमे जो कुछ इसने समझा है उसके विरुद्ध यदि कोई कह रहा है वह हमें मंजूर नही हो रहा है तो उस विरुद्ध विकल्पको सुनकर खेद हो रहा है कि क्या उस विकल्पमें चोट आयी जिससे खेद माना है तो उस विकल्पको मिथ्यात्वरूपसे माना और वह विकल्प है धर्मादिक अमूर्त पदार्थोंके आश्रय, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस विकल्पको आत्मारूप माना, उस विकल्पके निमित्तभूत धर्मादिक द्रव्योंको ही आत्मारूपसे मान लिया, यों उसका तात्पर्य हुआ। तो यह जीव अज्ञानसे उपाधि सहित चैतन्य परिणामसे परिणमता हुआ उन सोपाधि चैतन्य परिणामरूप आत्म-भावोंका कर्ता होता है, तब इससे यह सिद्ध हुआ कि यह अज्ञान कर्तृत्व मूलक है, इस प्रकार यह जीव परको आत्मारूप करता और आत्माको पररूप करता है।

वह पुद्गलका एक परमाणु भी नहीं बना सकता। आत्मामें जो विकारपरिणतियां या विकल्प होते हैं वे भी आत्मस्वभावरूप ज्ञानके नहीं किन्तु अज्ञानके हैं। जुड़े हुए लड़कोंका पेट एक, सिर मुंह आदि दो होते हैं किन्तु पेट जुड़े रहनेपर भी आत्मायें दो भिन्न हैं। लब्ध्यपर्याप्तके निगोद जीवके एक शरीरके स्वामी अनेक जीव होते हैं। अनंत जीवोंका आहार श्वांस जीवन मरण एक साथ होनेपर भी आत्माएं अलग-अलग हैं और प्रत्येक जीवके तैजस कार्माण शरीरकी वर्गणाएं भी अलग अलग हैं। जैसे बिजलीके तारमें जो करेंटकी प्रभावक और प्रकाशक ज्योति जगने लगती है वैसे ही औदारिक वैक्रियिक आदि शरीरोंमें तेज दीप्तिओंका दाता तैजस शरीर है।

७०२. सम्यक् ज्ञानके लाभमें पुरुषार्थका अनुरोध—जब तक हमारा शुद्ध ज्ञान रूप प्रगट नहीं होता तभी तक राग द्वेष परिणतियाँ हैं। केवलीके रागद्वेष बिल्कुल नहीं। अज्ञान भाव दूर करना ही ज्ञानका ज्ञान रूप हो जाना है। जैसे दीवार खड़ियाकी नहीं व रंग कपड़ेका नहीं, शरीर तेरा नहीं तो प्रत्यक्ष भिन्न धन धाम धात्रीमें ममत्व बुद्धि करना चोरी है। मिथ्यात्व तो अंधेरा है और रागद्वेष लुटेरे हैं, जो आत्मनिधि ज्ञान दर्शन सुख बलको लूट रहे हैं। तुझे इन लुटेरोंसे बचना हो तो अब आत्माके ज्ञानानंद प्रकाशमें आओ। बिना भेदज्ञानकी छैनीके बाह्य परिश्रम व्यर्थ है। 'निज मांहि निजके हेत निजकर आपको आपै गहो ॥' अर्थात् अपने आत्मस्वभावमें आत्मकल्याणके लिये अपनी सम्यग्ज्ञान रूप छैनीसे स्वयं प्रयत्न करके आत्माकी प्राप्ति करो, यह आत्मस्वरूपकी प्राप्ति पराधीन नहीं है, अपने ही पुरुषार्थसे मिलती है। एक पच्चीस वर्षका तीक्ष्ण बुद्धि बालक था। वह अपने सहपाठी विद्यार्थियोंकी तो बात कौन कहे गुरुमंडली तकको अपनी तर्कबुद्धिसे झेंपा देता। एक बार प्रान्तके सभी विद्वानोंका सम्मेलन हुआ किन्तु कहीं वह लड़का आकर कुछ चर्चा उठाकर हमको न झेंपा दे, अतएव सभामें आने वालोंको टिकटकी व्यवस्था की गयी। उस सम्मेलन के सभापति थे गंगाधर भट्ट। इस तीक्ष्णबुद्धि युवकने ४ कहार और २ चमर ढोरने वाले सेवक बुलाये और सजधज कर पालकीमें बैठकर गंगाधर गुरुकी जोरसे जय बुलवाते सभामें पहुंचा। पं० गंगाधर जी सभापति आये हैं ऐसा जान किसीने रोका नहीं। जब कुछ विद्वानों ने पूछा–तुम कैसे आये ? तब उत्तर दिया–"गंगाधर गुरुकी जय बोलकर। अर्थात् गंगाधर है गुरु जिसका उसकी जय हो––ऐसा समास मैंने लगाया। विद्वान् बोले–५ समासोंमें तत्पुरुष समास बहुव्रीहिसे पहिले आता है। उसका अर्थ है "गंगाधरके गुरु" यह क्यों नहीं लगाया, तो युवक बोला––गत्यन्तराभावात् अर्थात् बहुव्रीहि समासका आश्रय ही मुझे इष्ट था, यही मेरे यहाँ आ पानेका कारण बन सकता था। तर्क अपने प्रयोजनके अविनाश तक ही ठीक होते हैं। तुम भी इसी तरह भेदज्ञान परिणतिको ढूंढकर पाकर आत्मानुभव कर सकते हो।

सकता किन्तु कल्पनामें मानता रहता है यह मैं हूं तो जिस प्रकार परद्रव्योंको आत्मारूप करता है अज्ञानी इसी प्रकार आत्माको पररूप कर डालता है।

७०५. अहमिदं व इदमहं में दो रूपोंकी प्राप्ति—यह मैं हूं, मैं यह हूं। दो में दो बातें आ गईं। यह मैं हूं तो यह कहलाता है परद्रव्योंको आत्मा बना डालना। मैं यह हूं इसका अर्थ यह है कि अपनेको परद्रव्य रूप कर लेना। इसमें जो पहिला शब्द होगा वह तो कर्ता है, विशेष्य है यह मैं हूं, इसमें विशेष्य क्या हुआ? यहाँ जिसके बारेमें बात कर रहे हैं और विशेषण बन गया मैं मायने यह है तो यह मायने यह मैं तो यहाँ क्या किया? परद्रव्यको आत्मा बना दिया। जहां यह कहा जाय कि मैं यह हूं तो इसमें विशेष्य क्या हुआ? मैं। मैं का विशेषण हुआ यह अर्थात् आत्माको परद्रव्यरूप कर दिया तो ऐसा जो यह आत्मा है सो करता क्या है? है क्या? है तो यह कि समस्त वस्तुवोंके सम्बन्धसे रहित विशुद्ध चैतन्यस्वरूप यह आत्मा है, पर अज्ञानसे जो विकार सहित उपाधिरूप चैतन्य परिणाम हुए उससे फिर उस ही प्रकारके भावोंका कर्ता प्रतिभात होता है। है आत्मा सब सम्बन्धोंसे रहित, पर अज्ञानसे सम्बन्ध क्या जोड़ा? सम्बन्धसे भी बढ़कर तादात्म्य कर डाला। तब इस तरह दिमागमें यह अज्ञानी जीव आत्मभावोंका कर्ता है, विकाररूप आत्म-परिणामोंका कर्ता है। सो इस आत्माने जाना यह सब अज्ञान है।

७०६. भूताविष्टवत् अज्ञानीकी परस्थिति—जैसे जिसको भूत लग गया। हमें तो पता नहीं कि भूत लगता कि नहीं, पर परिकल्पित भूत लगे हुए पुरुष अथवा स्त्री कभी कभी देखनेमें तो आते हैं। तो जैसे जिसे भूत लगा है वह पुरुष अपने को भूत मानता है। भूतसे अविशिष्ट होने से यह आत्मा अपनेको भूत मानता है। तो इस प्रकारसे अज्ञानसे अधिष्ठित होनेसे यह आत्मा अपनेको अज्ञान परिणाम रूप मानता है। होता क्या है अज्ञान में कि वह भूतमें और अपनेमें एकता कर डालता है। भूत जिसके लगता है तो लगनेकी बात तो जाने दो, यहाँ बैठे ही बैठे सोचने लगा कि वह देखो अमुक देव अथवा देवी आ रही, उसकी अनेक प्रकारकी चेष्टावोंका ख्याल कर लिया तो वैसे ख्याल बना लेने से वैसा ही 'अन्तर्भाव' हो जायगा। एक छोटी सी सच्ची घटना है कि एक बार एक जैन कहीं जा रहा था। वह कम पढ़ा लिखा था, पर जैन धर्मका बड़ा श्रद्धालु था। उसे रास्तेमें ऐसा दिखा कि किसी एक चबूतरे पर एक बकरीकी बलि दी जाने वाली थी। उस जैनीके मनमें आया कि इस बकरीकी जान किसी न किसी तरहसे बचाना चाहिये। उसने झट ढोंग रचा, झूठमूठ ही उस चबूतरे पर जाकर वह उछलने फांदने लगा और चिल्लाने लगा—अरे मैं तो इस जगहका देव हूं। तुम लोग यहां क्यों बकरीकी बलि दे रहे हो? मत हत्या करो इस बकरीकी। देखो— जैसे तुम सभी लोग हमारे पुत्र हो इसी तरह यह बकरी

यह उसका एक अज्ञानभाव है, और उस अज्ञानमय परिणामसे अपने आपमें परिणमन किया करता है, पर ज्ञानी पुरुष मैं केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, जहाँ जो कुछ होता है वह उनका उनमें होता है, मैं ज्ञानमात्र हूं, यही प्रभुका स्वरूप है यों निरख कर तृप्त रहता है जब यह ज्ञानमात्र प्रभुस्वरूप हृदयमें नहीं बसता है तब परेशानी होती है। और जब यह ज्ञानमात्र प्रभुस्वरूप हृदयमें चिन्तनमें विराजता है तब यह अपने में सावधान रहता है। यों ज्ञानी जीव तो हटा हुआ रहता परसे और अज्ञानी जीव परमें लगा हुआ रहता है। इतनेपर भी ज्ञानीने अपना परिणाम किया, अज्ञानीने अपना परिणाम किया और उसमें आश्रय जो अन्य पुद्गल हैं उसमें उनका परिणमन है।

७०४. **अज्ञानीका परसे लगाव**—यह जीव विकारोंको आत्मा बनाता है, ज्ञेयोंको आत्मा बनाता है, यों तो परद्रव्योंको अपना स्वरूप मानता है और अपनेको परद्रव्यरूप करता है। जैसे जब गुस्सा आ रहा है उस समय ऐसी ही प्रतीति करता, जो यह गुस्सा है, जो यह गुस्साकी स्थिति है यह ही तो मैं हूं, बस ऐसी प्रतीति होनेका नाम है विकारको आत्मा मान लेना। और गुस्सा होनेपर भी यह बोध रहे कि मैं तो ज्ञानमात्र स्वरूप हूं और यह गुस्सा बेकारकी है तो समझो, गुस्साको एक आत्मारूप नहीं माना। अब आप सोचेंगे कि ऐसा तो बड़ा मुश्किल है कि आये तो गुस्सा और सोचने यों बैठ जायें कि मेरा इससे न्यारा स्वरूप है, ज्ञानमात्र है, यह गुस्सा भी विकार है, ऐसा कौन सोचने बैठ सकेगा, लेकिन सोचा जाता है। अज्ञानीके पतेमें न आ सकेगा। कोई गुस्साके समय ऐसा भी चिन्तन रख सकता है कि गुस्सा मेरा स्वरूप नहीं, विकार है, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानी इस मर्मको जानता है कि कषायमें भी यह निरखा जा सकता है कि कषाय मैं नहीं हूँ। कषायसे निराला ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकार जैसे कुछ लोग गलत विचार करते हैं तो गलत सोच लेनेके बाद या गलत कर लेनेके ५ मिनट बाद समझमें आता है, किन्हींको १ मिनट बाद समझमें आता है, किसीको उस गुस्साके समय भी सुध रहती है कि कषाय मैं नहीं, यह गलत काम है। मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं। अज्ञानी जीव 'क्रोध मैं हू' ऐसा तो विकारको आत्मारूप मानता है और जो पदार्थ ज्ञेयभूत है धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल द्रव्य अथवा ऐसा सोचता है कि यह मैं हूं, यों तो अज्ञानी परद्रव्यको आत्मारूप बनाता है कल्पना में, बना देता तो बड़ा अच्छा था कि परद्रव्योंको भी देखो इसने आत्मा बना दिया। इसकी बड़ी ऊंची कला है, तारीफकी बात थी। बहुत ऊंचा काम जो सम्भव नहीं, ऐसे कार्यको भी कोई कर दे तो वह भी शाबासीके लायक है। यह अज्ञानी परद्रव्योंको आत्मारूप बना देता तो हम तो उसकी बड़ी स्तुति करते। बड़ा शक्तिमान जीव है, देखो इसने परद्रव्योंको भी आत्मा बना दिया, लेकिन बना कौन सके? अज्ञानी भी परद्रव्योंको आत्मस्वरूप नहीं कर

हो गयी––छलकपट करना, किसीसे कुछ कहना किसीसे कुछ। तो छल कपट करके जिन्दगी गुजर जाती है और कभी यह हिम्मत नहीं बना पाता कि बहुत दिन हो गए छलकपट करते करते, वे सारी अटपट क्रियायें मेरी अज्ञानदशामें हुई, मैं छलकपट आदिक रूप नहीं हूं। लोभमें यही बात है। लोग सोचते हैं कि मैं लोभ करके, व्यापार करके खूब धन जोड़ लूं, इतना धन हो जानेपर फिर मैं धनार्जन न करूंगा, सिर्फ धर्मसाधनामें लगूंगा, पर ऐसा कहाँ हो पाता है? जितना धन चाहा था उतना जुड़ जानेके बाद फिर और धनकी इच्छा हो जाती है। तो यह लोभकषाय भी अज्ञानदशामें होती है। अज्ञानी जीव इस लोभकषाय रूप अपनेको मानता है, पर ज्ञानी जीव इन कषायोंरूप अपनेको नहीं मानता है। वह तो उनसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपना स्वरूप समझता है।

७०८. चिन्तनका प्रताप—अब देखिये अज्ञानीसे ज्ञानी बननेमें कुछ हजारों, लाखों रुपये नहीं लगते, अथवा कहीं कोई दौड़धूप नहीं करनी पड़ती। केवल भीतरमें सोच लिया, स्वरूप परख लिया, इतनेमें अज्ञानीसे ज्ञानी बन जाना है। अज्ञान अवस्थामें जीवकी यह हालत होती है। अज्ञानमें कषाय कर करके दुःखी होता जाता और फिर उसी कषायको ही अपनाता जाता है, बस वही अज्ञान है। अन्यथा बतलावो कि आत्मा तो खाली ज्ञानस्वरूप है। उस आत्माका दुनियासे क्या नाता है? किन्हीं पदार्थोंसे, परिजनोंसे, मित्रोंसे, लोगोंसे क्या नाता है? अज्ञानी नाता बढ़ाता है। और जिसको इतनी धुन लग गयी अज्ञानमें कि दुनियामें मेरा नाम प्रसिद्ध हो जाय तो वह दुनियाके छोटे-छोटे गैर लोगोंसे जो कि अपढ़ हैं, गरीब हैं, जिनकी कोई पूछ नहीं करता, उनकी इसे पूछ करनी पड़ रही और उनका दास बनना पड़ता है। तो अज्ञानमें सिवाय क्लेशके जीवको कुछ न मिलेगा, और इस भवकी भी परख कर लो, जीवनभर विकल्प कर करके, अज्ञानमें रहते रहते कुछ लाभ मिला क्या? कुछ आत्मामें बड़प्पन हुआ क्या? कुछ निधि जगी क्या? क्या मिला सो बतावो। कुछ भी नहीं मिला बल्कि खोया है। मिला है उनको जिन्होंने ज्ञानाभ्यास किया, आत्माका मनन किया और ऐसा संयम बन गया, ऐसा नियंत्रण बन गया कि खुद अपनेको जब चाहे निहार सकते हैं और वैसे भी लोग कहा करते हैं कि मुट्ठी बांधे आये थे और हाथ पसारे जाते हैं, तो इससे भी विदित होता कि यह जीव यहाँ कुछ लाया था, तभी तो वह मुट्ठी बाँधकर आया था। यह एक अलंकारकी बात है। और मरते समय खो गया सब, अब मुट्ठी नहीं बंधी, हाथ पसरा हुआ है। जन्म समय लाया था पुण्य, जिसकी वजहसे बड़े बड़े सेठ लोग, बड़े व्यापारी, ऊँचे-ऊँचे लोग भी बच्चेकी सेवा करते हैं। पुण्य बड़ा है किसका? उस बालकका जिसको कि लोग गोद लिए लिए फिरते हैं। उसको अच्छी तरह रखनेके लिए बड़े बड़े प्रबंध करते हैं, माँ बाप सभी उसकी मधुर मुस्कान देखना चाहते हैं, उसको खुश

भी हमारा पुत्र है। तुम लोग इसकी बलि मत दो, नहीं तो हम तुम सबके परिवारको नष्ट कर देंगे। उन सबने सोच लिया ओह ! आ गया इस जगहका देव सो सभी ने उससे क्षमा माँगी। आखिर उस बकरी की बलि उन लोगोंने न दी। उस पुरुषने उस बकरीकी बलि देना छुटा दिया और आशीर्वाद देकर चला गया। तो थोड़ा बहुत अपने भी मनमें शंका करें कि हमसे तो कोई भूल चपल तो है नहीं, ऐसा कुछ सोचा तो सोचते-सोचते दिल ऐसा हो जाता है कि जैसे मानो भूत लग गया है। तो ऐसा सोचनेकी शुरूबात ही क्यों करें जिस सोचनेके बाद इतना कठिन हो जायगा कि फिर उससे हटना ही मुश्किल हो जायेगा। तो भूत जब अधिष्ठित हो जाता है तो यह अज्ञानी जीव भूतमें और अपनेमें एकरूपता मानता है, और उसकी भूतों जैसी अटपट चेष्टायें होने लगती हैं। तब अमानुष्य व्यवहार होनेसे उस समय वह जीव उस उस तरहके भावोंका करने वाला है। तो यों ही समझिये कि यह आत्मा भी अज्ञानसे ही पर और आत्माको एक करता है, तब वहाँ इसने विकारको और आत्माको एक रूप कर दिया। जो जो आत्माको अनुचित है ऐसा कर दिया। विकारों में अविशिष्ट चैतन्य विकार होनेसे यह जीव क्रोधादिकका कर्ता होता है।

७०७. दृष्टिके अनुसार तात्कालिक सृष्टिका प्रतिपादन--देखिये आत्मा है शुद्ध ज्ञान-स्वरूप और जब क्रोधका उदय होता है तो इस आत्मामें क्रोधबुद्धि, गुस्साका परिणाम होता है। तो उस समय यह सुध रखना बड़ा कठिन होता है कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, गुस्सारूप नहीं हूं, गुस्सा एक विकार है, मैं तो इससे निराला हूँ, ऐसा यह ज्ञानमात्र अपने आपको नहीं मान सकता। और मान सके तो वह ज्ञानी पुरुष है। ज्ञानमें और होता क्या है ? यह सुध रहती है कि मैं इन क्रोधादिक कषायों रूप नहीं हूं। जैसा भगवानका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, जैसा भगवानका कर्तव्य है वैसा ही मेरा कर्तव्य है, ऐसी प्रतीति रहे उसे तो ज्ञानी कहते हैं और जिसको अपने आत्माकी सुध ही नहीं रहती है, जो भाव आया उसीमें बह गए, मैं क्रोधी हूं, मानी हूं आदिक रूप परिणाम गए, यही तो मैं हूं, और उससे वह अपनी वृद्धि समझता है। जिस गुस्साको अपने आपका स्वरूप माना, उससे अपनी वृद्धि समझा तो कोशिश करता है यह कि मेरा गुस्सा कम न हो जाय, बढ़ती रहे, इससे मैं जो चाह रहा हूँ, दूसरेका विनाश या कुछ भी उसमें मैं पूरा समर्थ हो जाऊं क्योंकि मान रखा है कि गुस्सा मेरा स्वरूप है। जब मानकषाय जगती है तो मान करके कभी ऐसा तृप्त नहीं हो पाता कि मेरेको बहुत मान मिल चुका, अब उसकी कुछ जरूरत नहीं है, और यह मेरा मान खतम हो जाय, यों कभी नहीं सोच सकते क्योंकि मान रखा है कि मानसे मेरा बड़-प्पन है, तो मानको बढ़ाना चाहता है, ये सब बातें अज्ञानमें होती हैं। ज्ञानमें कषायमें आत्मस्वरूप मान लेनेके कारण कषायोंके बढ़ानेमें अपना बड़प्पन समझता है। मानकषाय

बना लूं तो उसने तो प्रभुसे अपनी होड़ लगा ली, पर ऐसा हो कहाँ पाता है ? परद्रव्य कभी अपने नहीं बन सकते ।

७१०. भूलोंकी मूल भूल और सुलझनकी मूल सुलझ—भैया ! कितना भी भूलें, जितना भी भूले हैं उन सबका आधार यह एक है, पर्यायमें आत्मबुद्धि करना । भूल हो गयी हजारों तरहकी, पर उसका मूल कारण है एक तरहका । वह क्या कारण है कि पर्यायमें आत्मबुद्धि की । जो पर्याय मिली, जो भव मिला, जो भाव हुआ बस उन रूप मैं हूँ सो उसमें श्रद्धा कर ली और उस श्रद्धाके फलमें अब उसकी भूलमें भूल बढ़ती चली जाती है । तो धर्मके लिए और संसारका संकट मिटानेके लिए, अपने आपमें अलौकिक आनन्द पानेके लिए बस यह मात्र करना है कि विकारसे निराला ज्ञानमात्र मैं हूं, जितनी अधिक यह बात चित्तमें समाती जायगी समझिये कि हम कल्याणके निकट हुए । यह जो सोहं विचारा जाता, जो परमात्मा है सो मैं हूँ और परमात्मा इतना ही कहने मात्रसे परमात्माका जो स्वरूप है अनन्त चतुष्टयमय विशुद्ध चैतन्यमात्र अकिञ्चन सबसे निराला, जैसा प्रभुका स्वरूप है वैसा ही अपनेको जब इसने सोचा, जो प्रभु है सो मैं हूं—जहाँ ऐसा अपनेको माना तो कुछ क्षण बाद यह प्रभु बन जायगा, क्योंकि अब इसकी करतूत भी जैसे प्रभु बने वैसी बन गयी । फिर जो प्रभुने किया था वही निश्चल इसकी लगन लगे तो हो जायगा । और जो पहिलेसे ही मान कि मैं तो बुद्धू, मूढ़, बेवकूफ हूं तो फिर उसे उन्नतिका कहाँ अवसर ? उससे बढ़कर उसका दिमाग ही न चलेगा । एक आदमी अपनी स्त्रीसे बड़ी डींग मारता था कि मैं वीर हूं, बहादुर हूं आदिक । कुछ ही दिन बाद देशमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया । मान लो वह महाभारतका समय था । तो अब वह स्त्री पतिसे कहती है कि ऐ पतिदेव ! देखो अपने देशमें अन्य देशवासियोंसे युद्ध छिड़ गया है तुम अभी तक अपनेको बहुत वीर (बहादुर) कहते रहे । आज समय आया है । संग्राममें जाकर दुश्मनोंको अपनी वीरता दिखाकर देशकी सेवा कीजिये । तो वह पुरुष बोलता है कि यह तो बतलावो कि हम वहाँ जायेंगे और हमारा वहाँ मरण हो जायगा तो क्या होगा ? तो स्त्री कुछ न बोली, एक दरेतीसे कुछ चने डालकर पीसकर दिखा दिया । उन चनोंमें से कुछ चने तो बिल्कुल पिस गये थे, कुछके टुकड़े हो गए थे और कुछ चने बिल्कुल समूचे पूरेके पूरे निकल आये । और कहा देखो—जैसे ये सभी चने दरीतेमें पीसे गए, पर बहुतसे चने पूरेके पूरे निकल आये, ऐसे ही संग्राममें जाकर सभी लोग तो नहीं मरते, कुछ लोग बिल्कुल साफ बचकर आते हैं । तो वह पुरुष कहता है कि हम उन चनोंमें से नहीं हैं जो पूरेके पूरे निकल आये, हम तो उनमेंसे हैं जो पिस गए । अब बताओ जिसने पहिलेसे ही अपनेको वैसा सोच लिया तो फिर वह क्या कर सकेगा ?

रखने का बड़ा प्रयत्न करते हैं। बतलावो तो सही कि इसमें पुण्य किसका बड़ा है ? पुण्य तो उस बच्चेका ही बड़ा है। पर अज्ञानी लोग मानते हैं कि इसमें हमारा पुण्य बड़ा है। वह अज्ञानी जीव उस बच्चेकी सेवा करते हुए भी अपनेको समझता है कि मैं बड़ा पुण्यवान हूं जिसका देखो ऐसा बेटा हुआ। अब उसके पुण्यकी सुधि नहीं करता कि उसका पुण्य बड़ा है जिसके कारण मुझे इसका नौकर बनना पड़ रहा है। तो अज्ञान अवस्थामें यह जीव कषायोंको और अपनेको एकमेक कर डालता है। मैं ज्ञानमात्र हूं इसकी खबर नहीं रहती इसे। अगर ज्ञानमात्रकी खबर रहती तो करतूत क्या करता ? केवल जाननहार रहता। जैसे जिसको खबर है कि मैं इस बच्चेका बाप हूं तो वह क्या करतूत करेगा ? उस बच्चेकी बड़ी खबर रखेगा, उसका पालन पोषण करने के लिए वह बड़ा श्रम करेगा, ये सब बातें उसे क्यों करनी पड़ीं ? इसलिए कि उसने अपनेको उस बच्चेका बाप माना। तो जो जैसा अपने को मानेगा वैसी उसकी करतूत बनेगी। तो इस आत्माने अपनेको माना कषायरूप क्रोध रूप। है तो ज्ञानमात्र पर माना नहीं ज्ञानरूप, जिसके कारण उसकी करतूतें भी उन क्रोधादिक कषायोंरूप बन गईं। वह क्रोध ही करेगा, गु साको कोई कम करनेकी शिक्षा देगा तो वह इसे दुश्मन सूझेगा। इसका कारण यह है कि गुस्सा आदिक विकारोंमें इसने अपनायत करली है, तब फिर यह किसका कर्ता बना ? गुस्सा आदिक विकार भावोंका कर्ता प्रतिभास होता है।

७०६. चिन्तनका परिणाम---भैया ! अपने बारेमें जैसा अधिक सोचा जाय वैसी परिणति बननेको हो जाती है। कोई सोचता ही रहे कि मैं दुर्बल हो गया हूं, मैं बीमार हो गया हूं, तो वह जरूर दुर्बल हो जायगा, क्योंकि उसने ऐसा सोचना शुरू किया। आप हमें मिले और हमने कह दिया कि अजी आपका स्वास्थ्य तो बहुत गिर गया है, अजी आप तो बहुत कमजोर हो गए है, यों ही कोई दूसरा भी आपको कह दे तो आप अपने को वैसा ही सोचने लगेंगे और वैसे ही बन जायेंगे। तो अपनेको जो जैसा सोचता है वैसा ही उस पर प्रभाव पड़ता है। तो जब कोई सोचने लगेगा कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। केवल ज्ञानस्वरूप जाननमात्र जानना क्या ? एक जानना जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, केवल प्रतिभास ज्ञानप्रकाश, बराबर सोचते जावो इतता ही मैं हूँ तो आपको फिर यह सब दुनिया प्रकट भिन्न, पर नजर आने लगेगी। आपको फिर दुनियाकी कोई भी वस्तु सारभूत न जंचेगी। और जो अपनेको ऐसा सोचता रहेगा कि मैं ऐसी पोजीशनका हूं, परिवार वाला हूं, इतनों का जिम्मेदार हूं, कुटुम्ब वाला हूँ आदिक, तो उसके ऊपर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। वह कभी संसारकी प्रत्येक वस्तुको असार न अनुभव कर पायेगा। इस संसारमें एक परमाणु मात्रको भी जो अज्ञानी सोचता कि यह मेरा है अथवा यह मैं हूं, मैं परवस्तुवोंको अपनी

सत् है, अपनी शक्तिसे सत् है, अपनी परिणतिसे है, अपने भावसे है। फिर किसीका दूसरेके साथ सम्बन्ध क्या रहा ? देहमें यह आत्मा रह रहा है और ऐसा इसका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है कि एकके बिना दूसरा इस हालतमें नहीं रह सकता, फिर भी आत्मा देहका कुछ नहीं करता, देह आत्माका कुछ नहीं करता। निमित्तनैमित्तिक भाव तो है पर कर्ता कर्म भाव नहीं है।

७१३. किसीका अन्यमें कर्तृत्व न होनेके सम्बन्धमें उदाहरण—जैसे हाथसे यह चश्माघर उठाकर यहाँ रख दिया तो इसमें पूछा जाय कि हाथ चश्माघरके उठाने धरनेका कर्ता है या नहीं, तो उत्तर यह मिलेगा कि हाथ चश्माघरका कर्ता नहीं है किन्तु चश्माघर के चलनमें और हाथके चलनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता कर्मभाव क्यों नहीं, यों कि मान लो हाथमें यह चश्माघर फंसा है, इस चश्माघरको निकाल दिया जाय तो हाथकी क्या स्थिति रही ? अब हमारा यह हाथ अगर चला है तो हाथने हाथको चलाया, चश्माघरको नहीं चलाया, क्योंकि चश्माघर स्कन्धमें हाथका प्रवेश ही नहीं है। पासमें है निकटमें है मगर प्रवेश नहीं है। तो चश्माघर उठानेपर भी हाथने हाथका काम किया, चश्माघरका काम नहीं किया। पर इस तरहके चलते हुए हाथके सम्बन्धमें आया हुआ यह चश्माघर मेरे हाथके चलनेके निमित्त को पाकर यह भी चल उठा तो इसमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कहलाया। कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है। अब आप इस बातको हर जगह घटा लें। बापने पुत्रको बी० ए० एम० ए० पढ़ाया, व्यापार सिखाया, इस हालतमें क्या यह सच है कि बापने पुत्रको पढ़ाया, सिखाया, बड़ा अच्छा बनाया ? यह तथ्यकी बात नहीं है। बापने तो अपनी कषायकी और अपनी कषायके रागभावके अनुसार अपना विकल्प किया और श्रम किया, योग किया। उसके आगे बापने कुछ नहीं किया। तो बाप और पुत्रके बीच कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। पिताके उस विकल्पका इच्छाका श्रमका निमित्त पाकर पुत्र पढ़ गया। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो होता है एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ पर कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है, तथ्यकी बात तो यह है लेकिन जब जीवको अज्ञान बसा है और पदार्थोंका पूरा परिचय नहीं है तो अज्ञानसे यह जीव पर और आत्मामें एकत्वकी बुद्धि करता है। घर मेरा ही तो है और किसका है ? यह पुत्र मेरा ही तो है और किसका है ? यह देह मैं ही तो हूं और क्या है ? तो यों परपदार्थोंमें और आत्मामें एकत्वकी बुद्धि की। तो क्या किया उस आत्माने ? आत्माका विकल्प किया, परंतु परको नहीं किया।

७१४. अज्ञानीके भी परका अकर्तृत्व—अज्ञानी भी परका कर्ता नहीं है, ज्ञानी तो है ही नहीं। परमाणु भी परका कर्ता नहीं, तो अज्ञानी ने क्या किया ? स्व और परमें

७११. विशुद्ध चिन्तनका फल विशुद्धताका लाभ--भैया ! अपनेको ऐसा बार बार सोचो कि मैं प्रभुकी ही तरह हूं । जो प्रभुका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है । मैं केवल ज्ञानमात्र चैतन्य स्वरूप हूं । जब इतना उच्च विचार होगा, इतनी उच्च भावना होगी तो हममें प्रभुता बढ़ेगी, विकार घटेंगे और बहुत ही जल्दी कभी संसारसे मुक्त हो जायेंगे । बड़े बड़े घरोंमें अपने बच्चोंके प्रति बड़े लोग वैसा सभ्यताका व्यवहार करते हैं और राजा साहब, कुंवर साहब यों नाम रखते हैं । उनके बच्चोंके ये ही नाम रहते हैं—छोटे कुंवर साहब, बड़े राजा साहब । जैसे यहाँ पप्पू, पुल्लू आदि नाम रखते हैं आप लोग वैसे नाम बड़े घरानोंमें नहीं रखे जाते । उन बड़े घरानोंमें बच्चे लोग भी यह सुनकर कि मैं कुंवर साहब हूँ, छोटा कुंवर हूँ, राजा साहब हूं आदिक, तो वे बच्चे लोग अपनेको उसी रूप अनुभव करते हैं और वैसा अनुभव करनेसे वे उसरूप बन जाते हैं । तो इसी प्रकार जो अपनेको प्रभुस्वरूप निरखेगा, सोचेगा, वह बड़ा होगा, तो बस अज्ञानी सोचता है पर्यायमें कि यह मैं हूँ, ज्ञानी सोचता है कि इन समस्त विकारोंसे रहित ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ, बस इतना सोचने भरका अन्तर है ज्ञानीमें और अज्ञानीमें ऐसा समझना चाहिये । कितनी मौलिक बात है—इस व्यवहारसे निराला केवल सहज ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूं, बस हो गया प्रकाश ज्ञानका । अतएव सही ढंगसे इसमें कहने मात्रकी बात नहीं और जिस मनमें यह नहीं आता अपनेको ज्ञानस्वभावमात्र माननेकी, बस वह दुःखी होता है और संसारमें रुलता है । तो ऐसा प्रकरण जानकर यह शिक्षा लेना है कि अपनेमें यह भाव बनाये रहें कि मैं तो प्रभुवत् शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, ये क्रोधादिक कषायोंरूप, ये समस्त विकारोंरूप मैं नहीं हूँ । ऐसा सोचते जावो तो इसमें आपका खर्च क्या होता है ? यह तो ज्ञानी पुरुषोंकी बात है, ज्ञानकी बात है कि मैं सबसे निराला शुद्ध प्रभुवत् ज्ञानमात्र हूं ऐसा बारबार चिन्तन करते रहें ।

७१२. एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें कर्तृत्वकी असंभवता—एक पदार्थ दूसरे पदार्थको किसी भी तरह कर नहीं सकता । इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपना पूरा सत् लिए हुए है, कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो अधूरा हो । अधूरा कुछ हुआ नहीं करता, हम किसी भी कामको अधूरा मान लेते हैं, यह हमारे माननेकी बात है । बाहरमें तो प्रत्येक काम सदा पूरा ही रहा करता है । किसमें अधूरापन देखना ? भींत उठ रही है, आधी बन पायी है तो हम मोहमें कहते हैं कि यह काम अधूरा रह गया । मगर अधूरा कहाँ रहा ? प्रत्येक भींतमें कण कणमें उसकी पूरी सत्ता है । एक एक परमाणुमें अपनी-अपनी पूरी-पूरी सत्ता है तो अधूरा कहाँ रहा ? हम सोच रहे थे कि इतना विशाल भवन बन जाय । उस कल्पनाकी अपेक्षा अधूरा है, वस्तुतः कोई भी पदार्थ अधूरा नहीं है । एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको कर सके, यह बात कही जा रही है । जब प्रत्येक सत् है तो अपने ही द्रव्यसे

७१६. मोहीकी हालतें——मोहमें क्या हुआ करता है, इसका जानना कठिन नहीं है, क्योंकि मोही अपने मोहकी परख कर सकता है। यदि सच्चे दिलसे कोई अपने मोहकी परख कर ले तो यह भी एक उपाय बनेगा कि उसका मोह दूर हो जायगा। अज्ञानी मोह करते जाते है और मोहको समझते है नहीं कि मोह क्या चीज है। घरमें भाई-भाईका मोह, पति पत्नीका मोह, माता पिताका मोह। मोहमें क्या होता है? अपनी सुध भूल जाती है। मोह कहो या बेहोशी कहो, दोनोंका एक अर्थ है। बेहोशीमें क्या होता है? पुरुष अपनी सुध भूल जाता है। किसीने मदिरापान किया, बेहोश हो गया तो उसने क्या किया? वह अपनी सुध भूल गया। पड़ा है बेहोश। कुत्ते भी चाट जायें तो भी उसे सुध नहीं। तो बेहोशीमें अपनी सुध नहीं रहती। यों ही मोहकी बात समझिये। उसमें अपनी सुध है क्या? मोहीको अपनी सुध है नहीं। तो उस समय यह जीव अज्ञानसे परपदार्थोंको और अपने आत्माको एक रूप कर डालता है। जब इसको गुस्सा आता है तो गुस्साके परिणामको और अपने स्वरूपको एकमेक कर डालता है। उसे भेद समझमें नहीं आता कि गुस्सा एक औपाधिक चीज है, उदयसे आयी है, कृत्रिम है, मेरे स्वरूपमें नहीं है, मैं इससे निराला ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अज्ञानी जीव नहीं जानता। वह तो अपनेको मानता है कि मैं क्रोधी हूँ, इन शब्दों में तो नहीं कहता लेकिन क्रोधरूप जो परिणाम चल रहा है तो परिणाममें अपने आत्माके सत्त्वका विश्वास किया है। जो भी राग उठ रहा है, विरोध चल रहा है, उस परिणमनमें समझता है कि यह मैं हूँ। तब फिर अपने आपसे स्वरूपसे भ्रष्ट हो गया। खुदका स्वरूप है निर्विकल्प अखण्ड, वह किसीके द्वारा किया हुआ नहीं है, एक रूप है। ज्ञानघन यह आत्मा उस स्वरूपसे भ्रष्ट हो जाता है और नाना विकल्पोंरूप परिणमता रहता है।

७१७. आत्मसुधका निरीक्षण——अपनी २४ घंटेकी चर्चामें मनुष्य और महिलायें अपना निरीक्षण कर सकती है कि हमारा विकल्पोंमें कितना समय जाता है और ज्ञानस्वरूप आत्माकी सुधि रखनेमें कितना समय व्यतीत होता है? अनेक पुरुष ऐसे हैं कि ज्ञानमात्र आत्माके स्वरूपकी उन्हें सुध ही नहीं है। विकल्प विकल्पमें ही रात दिन व्यतीत होते हैं। पता ही नहीं कि मैं क्या हूं, उसकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है? जिस पुरुषको अपने आत्मा का भी पता नहीं है कि मेरे आत्माका स्वरूप क्या है, उसका जीवन क्या जीवन है? रात दिन विकल्प उसपर सवार रहते हैं, परपदार्थोंके विषयोंकी कल्पनायें किया करता है। परकी ओर ही धुनि रहती है, ऐसी हालतमें यह जीव अपनी सुध कहांसे रख सकता है? तो वह नाना विकल्प करता है उसका कर्ता कहते हैं। जो अज्ञानी बनकर परपदार्थोंके बारेमें नाना विकल्प किया करता है उसको कहते हैं अज्ञानी। पर ज्ञानी जीवको तो ज्ञान जग गया, वह विकल्पोंसे विविक्त ज्ञानमात्र तत्त्वकी उपासना करता है।

एकत्वके माननेका विकल्प किया। तो निश्चयसे आत्मा किसका कर्ता हुआ? देहका हुआ क्या? पुत्रका हुआ क्या? विकल्पोंका हुआ क्या? अज्ञानी जीव विकल्पोंका कर्ता है, किन्तु जिस पदार्थ के सम्बन्धमें विकल्प उठ रहा है उस पदार्थका कर्ता नहीं है। कोई पुरुष चिट्ठी को फाड़ दे तो उस हालतमें यह बतलावो कि पुरुष चिट्ठीके फाड़नेका कर्ता है क्या? व्यवहारमें तो जंचेगा कि कर्ता तो है, उसने चिट्ठी तो फाड़ दी, मगर यह देखो कि वह आत्मा तो विकल्प कर रहा और देह अपनी अंगुलियोंको चला रहा। अब अपनी अंगुलियोंको चलाने के बीच चिट्ठी फंसी थी, बन्धनमें थी तो हाथकी अंगुलियोंका निमित्त पाकर झट फट गई तो वहाँ उस चिट्ठीके फाड़नेका कर्ता पुरुष नहीं हुआ। पुरुष तो अपने हाथ और अंगुलियोंमें व्यापार करनेका कर्ता हुआ, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बराबर है। चिट्ठीके फाड़नेमें हाथकी क्रिया निमित्त हुई तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो करके भी उनमें कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं होता, यह बात समझनेकी है। जो पुरुष ऐसा जानता है कि आत्मा तो अपने विकल्पोंका कर्ता है, परपदार्थोंका कर्ता नहीं है—इस तरह जो निश्चयसे जानता है वह ज्ञानी है।

७१५. अज्ञानीके मोहमिश्रित स्वाद—देखो, चाहे अज्ञानी जीव हो अथवा ज्ञानी, वह भावोंका तो कर्ता हुआ पर बाकी सारे कर्तृत्वको उसने छोड़ दिया। हाँ, यह विशेषता है कि परपदार्थोंके बारेमें करनेका विकल्प करने वाला तो जीव कहलाता है कर्ता। मैं पर को कर ही नहीं सकता। इस प्रकारका निश्चय रखने वाला पुरुष अकर्ता कहलाता है। तो कर्ता बनने वाले अज्ञानीके हुआ क्या कि वह अनादिकालसे मोह मिश्रित स्वाद ले रहा है। किस तरह? आत्मा ज्ञानस्वरूप है। तो ज्ञान तो छुटाये भी नहीं छूट सकता, आत्मामें ज्ञान का स्वाद आयगा ही, साथमें लगा है उसके मोह, तो मोहमिश्रित ज्ञानका स्वाद ले रहा है तो उस समय उसके भेदविज्ञान बननेकी शक्ति समाप्त हो जाती है। जिस जीवके मोह लगा है, परके प्रति आकर्षण है, स्वरूपको परिपूर्ण वस्तुको जानता नहीं है ऐसा पुरुष भेदविज्ञान कहाँसे कर सकता है? तो इस जीवके अनादिकालसे ही अज्ञानसे स्वभाव परभाव में अभेद माननेकी आदत पड़ी है, इस संसारी जीवके भेदविज्ञान करनेकी शक्ति प्रतिहत हो गई है। कारण यह है कि अज्ञानी जीवका परपदार्थोंके प्रति आकर्षण रहता है। अज्ञानमें यह खबर नहीं कि मेरे स्वरूपमें ज्ञान और आनन्द स्वयं बसा हुआ है। मैं अपने आपमें परिपूर्ण सत् हूँ, मेरा कोई काम किसी परपदार्थसे नहीं होता। मेरा सब कुछ मेरेमें है, मेरेसे बाहर मेरा कुछ भी नहीं। अज्ञानीको यह पता नहीं है, और उसका परपदार्थोंके प्रति आकर्षण लग रहा है, और उस परके आकर्षणके कारण परको और अपनेको एक रूपसे जानता है। मोहीको कहाँ कुछ खबर है?

यह तो रागभाव है और इतना मेरा यह ज्ञानभाव है। जब कभी आपके मनमें एक दो विचार चलते हैं—एक खोटा विचार और एक अच्छा विचार तो क्षण-क्षणमें अदल बदल-कर ये दोनों विचार सामने आते हैं। जब खोटा विचार होता है तो यह उसे भला मानता है, उसमें बड़प्पन समझता है, अपना हित मानता है और कुछ क्षणके बाद जब भले विचार का समय आता है तो उस पूर्व विचारका करना उसका फल न था। तो जैसे ऐसा विवेकी पुरुष भले विचार खोटे विचारका स्वाद जानता है, उसका मर्म समझता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव रागभाव और अपने ज्ञानभावका आनन्द समझता है, स्वाद समझता है, यह रागभाव है, अहित है, मेरेको बरबाद करनेके लिए आया है, आत्माकी सुधि खोनेके लिए आया है, इस असार संसारमें जन्म मरणकी परम्परा बढ़ानेके लिए आया है, और जो शुद्ध विचार रखता है तो उसको भी जानता है कि यह मेरा स्वरूप है, इस ज्ञानभावसे मेरा हित होगा। तो यों प्रत्येक तत्त्वका स्वाद समझ लेता है और इसके भेदविज्ञान प्रकट होता है। सबसे निराला मैं ज्ञानस्वरूप हूं. मेरे आत्माका किसी अन्य पदार्थके साथ कोई सम्बंध नहीं। तब उसकी दृष्टिमें साफ झलकता है कि मेरा स्वाद तो अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावसे चलता है और मेरेसे अत्यन्त भिन्न है यह कषाय। मेरा तो एक मधुर ज्ञानस्वाद वही रस और और ये कषायें भिन्न हैं। इन कषायोंका स्वाद कटुक है। ज्ञान जब मेरे ज्ञानमें था तो कितना आनन्दमें विभोर हो रहा था और वह ज्ञानस्वरूप जब मेरे ज्ञानसे हटा, यह कषाय रस जगा तो इसमें इतनी उलझन हो गई। अब क्षणभर पहिले उस एक विशुद्ध आनन्दमें डूब रहा था और एक क्षणके बाद जब कषायोंका उपयोग हुआ तो एकदम विह्वलता बन गई। तो ये कषाय मेरे आत्माके रस स्वादसे भिन्न रस वाली हैं। उनके साथ एकताका जो विकल्प करता है वह अज्ञानभाव है।

७२०. ज्ञानीका अध्यात्मस्वादविवेक—ज्ञानी जीव जानता है कि मैं बिना बनाया हुआ हूँ, ज्ञानमात्र हूं और ये राग कषायें ये बनायी गईं और अनेक तरहकी हैं। देखिये—अगर अपने स्वरूपका भान हो तो पहिले यह श्रद्धा करते ही होंगे कि दुःख बनाया जाता है और आत्माका आनन्द यह बनाया नहीं जाता, किन्तु आत्माके स्वभावसे है, तो ये कषायें जो बनाई हुई है, अनेक हैं, ऐसा जब प्रत्येक भावका, ज्ञानभावका रागद्वेष क्रोधादिक भावोंका स्वाद पहिचान लिया तब फिर यह जरा भी परके सम्बंधमें कि यह मैं हूँ, ऐसा विकल्प नहीं करता। जैसे दूध और पानीकी परख रखने वाले लोग जब पानी मिले हुए दूधको पीते हैं तो पीनेके ही साथ उनको स्वादभेद समझमें आ जाता है और वे जानते हैं कि इसमें इतना दूध है और इतना पानी है। कहीं मुखमें, जिह्वामें वे स्वाद अलग-अलग नहीं पड़े हैं कि मुख में दाहिनी तरफ तो पानीका स्वाद आ रहा और बांये तरफ दूधका स्वाद आ रहा, सारे

७१८. **अज्ञानीका अध्यास**—इस जीवको ज्ञान अनादिकालसे तो है नहीं। ज्ञानस्वरूप तो है अनादिकालसे, मगर सच्चा बोध इसको अनादिसे नहीं। किसी कालसे इसको सच्चा बोध हुआ। तो उस सम्यग्ज्ञानके होनेसे क्या चमत्कार आया कि वह प्रत्येकका स्वाद जानने लगा। जैसे कोई खानेका लोभी है तो कभी कोई ऐसी चीज खाया जिसमें बहुत मिलावट है। जैसे मसूरकी दाल, नमक, नींबूका रस आदिक। और उसे जब कोई खाता है तो क्या वह जुदे जुदे स्वादको समझता है कि यह तो नमकका स्वाद है, यह नींबूका स्वाद है, यह मसूरका स्वाद है आदि स्वाद समझनेका कहाँ ध्यान रखे, जब मोहसे आसक्तिसे उसके खानेमें लगा है और उसका केवल एक स्वाद लेने भरका उपयोग है तो वह अलग-अलग स्वाद तो नहीं पहिचान सकता। जब उसके खानेमें आसक्ति न हो और चित्तमें आये कि मैं परखूं तो सही कि ग्रासमें क्या क्या स्वाद बसा है? क्या क्या चीज मिली है? किसका स्वाद आ रहा है? वह परख भी सकता है, पर जिसकी खानेमें अत्यन्त आसक्ति है वह परखनेकी बात रखेगा ही नहीं। आसक्तिसे उसे खानेकी धुनि रहेगी। तो यों ही अज्ञानी जीव विकल्पोंका मौज लूटना चाहता है। उस समय जिन-जिन पदार्थोंका प्रयोजन है, जैसा विषय साधन होना, अन्य उपाय होना उन सबके बीच स्वाद तो ले रहा है वह ज्ञानका लेकिन पता नहीं है ना कि मेरे को स्वाद आता है ज्ञानका। तो जिस विषयको यह भोगता है उस विषयपर दृष्टि रहे कि इसका स्वाद आया। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी जब चबाता है तो उसके ही मुखके मसूड़े कट जाते हैं, खून निकल आता है, उस ही खूनका स्वाद लेता रहता है, पर वह समझता है कि मुझे तो इस हड्डीसे स्वाद मिल रहा है। उस हड्डीको वह एकान्तमें ले जायगा, कोई दूसरा देख न ले और हापड़ थापड़ उसे चबाने लग जायगा। तो असली तथ्यका पता न होनेसे जैसे कुत्ता हड्डी चबाकर सुख मानता है इसी प्रकार इस अज्ञानी जीवको अपने तथ्यका पता नहीं है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ और ज्ञानका ही स्वाद आया करता है। इस तथ्यका पता न होनेसे जिस-जिस वस्तुका ग्रहण करनेसे, भोगनेसे, खानेसे, सुननेसे, देखनेसे, सूँघनेसे विकल्प जगता है और उसमें कुछ मौजसा प्रतीत करता है, उस विषयपर ही अड़ जाता है कि मुझे इससे आनन्द मिला। और जब यह दृष्टिमें आ जाय कि मुझे विषयसे आनन्द मिला है तो उसके साधन जुटायेगा और तकलीफ पायेगा। बाह्य पदार्थोंका जुटाना मिलान रखना यह अपने आधीन बात नहीं है। कभी पुण्यके मेलसे ऐसा हो भी जाय तो यह सम्पदा है इसकी रक्षा हो रही है, इतने पर भी वह एक पुण्यका मेल है। आत्मा उन्हें करता कुछ नहीं है।

७१९. **ज्ञानीका स्वपरविवेक और पृथक् पृथक् स्वादन**—जीव जब ज्ञानी होता है, जीव और प्रत्येक पदार्थका जुदा-जुदा स्वरूप समझ लेता है तो वह निरखता रहता है कि

समयसार-प्रवचन पंचम पुस्तक

७२१. एकका अन्यत्र परिणमन देखनेकी अभूतार्थता---आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानमय, ज्ञान ही है, वह स्वयं ज्ञान है। ऐसा वह आत्मा ज्ञानके अतिरिक्त और क्या करता है ? प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है, प्रति समय परिणमता रहता है अर्थात् अपनी शक्तिका कोई न कोई व्यक्त रूप रखता है। शक्तिकी व्यक्ति शक्ति ही तो है, अन्य द्रव्य नहीं, अन्य द्रव्यकी चीज नहीं। आत्माका स्वभाव चैतन्य है, वही गुण है, वही शक्ति है। सामान्य-विशेषात्मकना सर्वार्थव्यापिनी होनेके कारण चैतन्यके भी परिणमन सामान्य और विशेष-रूपसे देखे गये हैं। चैतन्यका सामान्यरूपका परिणमन दर्शन है और विशेपरूपका परिणमन ज्ञान है। इन दोनोंमें मुख्य ज्ञान माना गया है क्योंकि सबका परिचय ज्ञानभावके द्वारा होता है, उन सबका अनुभवन ज्ञानद्वारसे होता है। अब देखो आत्माको, लो वह ज्ञान ही तो है। वह ज्ञानके सिवाय और क्या करता है? कोई किसी दूसरे द्रव्यको करे, ऐसा द्रव्यका स्वभाव ही नहीं है और न विभाव भी कोई ऐसा है कि अन्य द्रव्यको कर दे या अन्य द्रव्य करदे। आत्मा ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं करता है। हाँ निमित्तनैमित्तिक भाव तो है, सो उसका अर्थ भी तो यह है कि योग्यतानुरूप परिणममान द्रव्य अन्य द्रव्यको निमित्तमात्र पाकर स्वयं उस उस रूपसे परिणमता रहता है। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी यथार्थतासे अपरिचित रहकर कोई यह मान लेता है कि परद्रव्य परद्रव्यका कुछ करता है अथवा आत्मा परद्रव्यका कर्ता है तो यह सब व्यवहारी जनोंका मोह है, हठ है, आग्रह है। हाँ, वस्तुस्वरूप से परिचित होकर भी व्यवहारमें किन्हीं विज्ञ पुरुषोंको ऐसा कहना ही पड़ता है कि अमुक काम करो, मैं इसे करे देता हूँ, आप इसे छोडिये इत्यादि, सो वहां प्रतीति तो यथार्थ ही है, उनकी वह व्यवहारवृत्ति है, मोह नहीं है, हठ नहीं है, आग्रह नहीं है। हां रागवृत्ति तो कुछ है ही, तभी तो विकल्प व व्यवहार हो रहा है और वह भी मोहनीय भावका भेद है। इस तरह मोहांश होनेसे उसको भी मोह कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परद्रव्यका कर्ता है---ऐसा कहना व्यवहारी जनोंका व्यामोह है। आगेकी गाथामें अब इसी भावको स्पष्ट करते हैं---

ववहारेण दु एवं करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

७२२. व्यवहारसे अन्यके कर्तृत्वका प्रतिपादन—जीव घट पट रथ आदि चीजोंको

मुखमें सारी जिह्वासे स्वाद एक आ रहा है, मगर उन दोनोंके स्वादको समझने वाला पुरुष उस पानी मिले हुए दूधको पीते समय भी अलग-अलग निर्णय बनाये हुए है कि यह तो है दूधका स्वाद और यह है पानीका स्वाद । ऐसे ही समझिये कि आत्मामें ज्ञान है और साथ ही राग भी चल रहा है । राग और ज्ञान दोनों परिणमन आत्मामें तो हैं । आत्मामें एक समयमें दो परिणमन तो नहीं होते । भेदबुद्धिसे परिणमन बताया है, वस्तुतः एक परिणमन है, जो अवक्तव्य है, लेकिन जो अविरुद्ध परिणमन है अर्थात् एक साथ आत्मामें आ सकता है इसके वे दो क्या अनेक परिणमन होते हैं । उनमें यह परख कर लेगा ज्ञानी कि यह तो है राग अहित करने वाला और यह है ज्ञान, यह स्वादसे ही तो जाना । तो जब ये भिन्न-भिन्न परख हो जाती हैं तो आत्मामें भेदविज्ञान जगता है, ज्ञानी होता है, अकर्ता बनता है और इसको आकुलता नहीं रहती, कर्मबन्ध नहीं रहता ।

॥ समयसार प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ॥

मची है और पाप पुण्य, भक्ष्य अभक्ष्य, दिन रात, पथ्य अपथ्यका भेद किये विना यद्वातद्वा भोगोंको भोगकर उनका भोग्य वनता है "भोग रहे भरपूर आयु यह भुगत गई सब। तप्यो नाहिं तप मूढ़ अवस्था तपत भई अब ।। काल न कितहूँ जात वयस यह चली जात नित। वृद्ध भई नहिं आस, वृद्ध वय भई छाँड़ हित ।। अजहुं चेत चित चेन कर देह गेह सो नेह तज। दुःख दोष हरण मंगलकरण श्री जिनवर चरण भज ।।" भोग पदार्थ अन्न वस्त्र स्त्री मकान हाथी घोड़े खड़े रहने हैं, यह परदेशी वनजारा कौन कौन वस्तु साथ ले जाये—सब यहीं छोड़ अकेला चल देता है। हाँ भोगलालसाकी भावनाएं इस आत्माके स्वाभाविक ज्ञान गुण में विकार परिणाम आ जानेसे तत्काल आकुलित करती हैं, जिसके भोग लालसा है उसके परिणामोंमें विशुद्धि नहीं है—"जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए। दूरे तस्स विसोही, विसोहि मूलाणि पुण्णाणि ।।" आगामी काल या आगामी भवमें मुझे अधिक भोगसामग्री मिले—इस लालसासे जो पुण्यसंचय करना चाहता है वह उत्तम पुण्य वंध नहीं कर सकता। कारण कि उत्तम पुण्यबंध परिणामोंकी शुद्धि विना, विशेष मंद कषाय विना नहीं हो सकता और जब मंद कषायकी इतनी महिमा है ? तो कषायके त्यागको करके क्षण-मात्र आत्मानुभव भी करके देखो कि अन्तःस्वरूपकी क्या महिमा है ? शुद्ध आत्मानुभवकी दशामें मोह राग द्वेष लुप्त हो जाते हैं या यों समझो कि "कहा रच्यो परपदमें न तेरो पद यहै क्यों दुःख सहे। अब "दौल" होहु सुखी स्व पद रच दांव मत चूको यहै ।।" अर्थात् तू परपरिणतिमें क्यों मन लगाता है ? ऐसा करना तेरा भाव नहीं है, परपरिणतिमें लगकर क्यों दुःख सहता है, आत्मस्वरूपमें मग्न होकर सुख पाओ। आज जैसे सुयोगमें आत्मानुभव न किया तो ये आत्मानुभवकी अन्तःसामग्री वा आत्मानुभव फिर आगे मिलना दुष्कर है। आत्मानुभवी राग द्वेषके निमित्तोंको पूर्वकृत कर्मका फल मान उनका ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहता है किन्तु भोक्ता नहीं बनता। वह तो अपने घर स्त्री पुत्रोंसे ऐसा अलग सा रहता है जैसे सरकारकी विना आज्ञा कोई माल ले आये और जब सरकार उसे पकड़ ले तो उसके माका कोई मालिक नहीं बनता। वैसे ही यह भी उनसे अलग-सा रहता है।

७२५. **उपशमनका परिणाम**—सम्यग्ज्ञानी आत्मा क्षायोपशामक सम्यक्त्वकी अवस्थामें भी जाता है—"जे ते जीव पडित खयोपशमी उपशमी तिनकी अवस्था ज्यों लुहारकी संडासी है। खिन आग मांहि खिन पानी मांहि जैसे एह खिनमें मिथ्यात खिन ज्ञानकला भासी है ।। जौ लों ज्ञान रहे तो लों सिथिल चरन मोह, जैसे काले नागकी शकति गति नासी है। आवत मिथ्यात तब नाना रूप बंध करे, ज्यों उकीले नागकी शकति पर-कासी है ।। अर्थात् लुहार अपनी संडासीसे भट्टीमें तपती स्थूल दीर्घ शलाकाको जब भट्टीमें ही संभालता है तो संडासी तप जाती है और तप्त लोह शलाकाको निकाल कूट पीट कर

करता है, यह व्यवहारसे ही कहा जाता है। इसी प्रकार जीव नाना प्रकारके इंद्रियोंको, दृष्टियोंको, कर्मोंको व नोकर्मोंको करता है, यह भी व्यवहारनयसे कहा जाता है। जीव तो अपना विकल्प व अन्तः प्रयत्न करता है, इसके भावको निमित्त पाकर देहके व्यापार उसके अनुरूप होते हैं। उनको निमित्तमात्र पाकर घटादिक बाह्य कर्म हो जाते हैं तो वहाँ व्यवहारी जन ऐसा कह देते हैं कि जीव घट पट रथ आदि पदार्थोंको करता है तथा ऐसा व्यवहारी जनोंको प्रतिभास भी होता है। इसी प्रकार जीव कर्मोंको व नोकर्मोंको व उनके साधनोंको करता है—ऐसा व्यवहारी जनोंको प्रतिभास होता है। उन बाह्य कर्मोंके समान ही अन्तः-कर्मोंको करने वाला मानता है यह मोही। इसी कर्तृत्व बुद्धिके कारण तथा इसीसे उत्पन्न भोक्तृत्वबुद्धिके कारण जीव स्वभावोपासना छोड़कर विषयोंमें उपयुक्त हो जाते हैं।

७२३. रागभावके कष्टका उदाहरण—देखो—प्रतापी क्षत्रिय राजा सत्यंधरने विजया रानीमें अत्यासक्तिके कारण मंत्री काष्ठांगारको राज्य दे दिया। कारण कि "विषयासक्तचित्तानां गुणः को वान नश्यति। न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥" अर्थात् जिनका चित्त विषयोंमें फंस जाता है उनका प्रत्येक गुण नष्ट हो जाता है। न उसमें पाँडित्य अर्थात् विवेक रहता है, न मनुष्यता रहती है और न कुलीनता, न सच्चाई, कोई भी सद्-गुण नहीं रहता। यही नहीं कि केवल सद्गुण न रहें किन्तु यह विषयासक्ति अन्तमें सर्वनाशका कारण बन जाती है। मंत्रियोंने राजाको बहुत समझाया कि काम भोग या सुखके दो प्रधान कारण हैं—पहिला धर्म, दूसरा धन। अतः सुखके चाहने वालेको उसकी प्राप्तिके कारण धर्म और धनको दृढ़ बनानेकी ओर ध्यान रखना चाहिये, न कि उन्हें दोनोंको छोड़-कर केवल विषय सुख सेवन करना चाहिये। "धर्मार्थयुग्मं किल काममूलम्। इति प्रसिद्धं नृपनीतिशास्त्रे। भूले गते कामकथा कथं स्यात्, केकायितं क्व शिखिनिप्रणष्टे ॥" अर्थात् जैसे मयूरके प्राणान्त हो जानेपर उसकी मधुर केका ध्वनि नहीं सुनाई दी जा सकती, वैसे ही धर्म और धनकी उपेक्षा करके केवल विषयसेवन नहीं हो सकता, होगा तो आत्मपतनकी बात साधारण है, सर्वनाशका ही कारण वह बन जायेगा। जिस विजयारानीमें आसक्त था उसीको यह बिना सोचे कि कहां जायेगी एक विमानमें रख उड़ा दिया और यह भी न सोच सका कि यह केकी यंत्र कहाँ गिरेगा "पूर्वाण्हे पूजिता राज्ञी राज्ञा सैवापराह्णके। परेत्तभूशरण्याभूत् पापाद् बिभ्यतु पंडिताः ॥" प्रातःकालमें जिस विजया रानीने राजासे आदर पाया, वही विजयारानी दिनके तीसरे पहरमें अपने नगरकी श्मशान भूमिमें असहाय रानी अवस्थामें जा गिरी। विवेकियों! अब भी विषयभोगमें तुम्हारी लिप्सा है क्या? रक्ताने अपने पति देवरतिको छलबलसे कुंयेमें धक्का दे दिया और लूले लंगड़े नौकरके साथ फंस गई।

७२४. भोगभावमें मलीनता—भोगोंके भोगनेमें आजके भौतिक युगमें होड़ाहोड़ी

पड़ौसभर गाँव भर या अपने परिचित अपरिचित अनेक ग्राम, नगरवासियोंके पास जाकर किस भाषा और भावमें यह कहे कि आप सब मेरे साथ भलाई करना और इसके कहनेमें क्या ऐसा जादू है जो सब मान जायें और ये सब अपने कहे हुयेका कब तक ध्यान रखें ? ये सब बातें अनहोनी जैसी लगती हैं। हां, यह स्वयं अपनी बहिरङ्ग अन्तरंग प्रवृत्तियोंको शुद्ध बना ले तो "आप भला तो जग भला" जैसी अमोघ स्पष्ट उक्तिके अनुसार सभी लोग उससे स्वयं भलाईका व्यवहार करेंगे। इसी भाँति तुम आत्मनिरीक्षण करो, अपनी स्वतंत्र सत्ताको पहिचानो और अद्वैत अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंदरूप आत्माका अनुभव करके उसमें स्थिर होओ। निमित्तोंपर दृष्टि मत डालो, स्वावलंबी ही विजयी होता है—यह बात लौकिक व्यावहारिक और धार्मिक दृष्टिसे भी उतनी सत्य है जितनी शुद्ध निश्चय आध्यात्मिक दृष्टिसे।

७२७. निमित्तदृष्टिकी प्रधानतामें विडम्बना—वर्षाके मौसममें एक नागरिक रास्ता चलनेके सरकारी नियमोंको पालता हुआ अपने बांये हाथकी पटरी परसे सड़कपर चला जा रहा था कि ४ कदम पीछे भूमिपर १ मकान वर्षाके कारण ढह कर गिर गया। उसने वादी बनकर मकान वाले प्रतिवादीपर ५००००) का अपने जीवनके खतरेका मुकदमा दायर किया। मकानवालेने कहा—मेरी कोई गलती नहीं। मैंने ठेकेदारको पूरे मुँह मांगे रुपये दिये हैं। ठेकेदारको बुलाया तो वह बोला—यह गलती मेरी नहीं कारीगरकी है। कारीगर बोला—यह गलती गिलारा चिनने वाले की है। गिलारा चिनने वाला बोला—यह मेरी गलती नहीं, गलती पानी डालने वालेकी है। उसने मेरे कहे अनुसार जलके प्रमाण से अधिक जल डाल दिया। तब भिश्तीको बुलाया गया।...यह अपराध मेरा नहीं, जब मैं पानी डाल रहा था तो पूरे गाजे बाजेके साथ राजाकी सवारी निकली। सब जनता तमाशा देख रही थी, मैं भी अपनेको न रोक सका और इसी तमाशा देखनेकी लालसाकी जल्दीमें अधिक पानी डालकर मैं तमाशेमें खड़ा हो गया। अतः राजा अपराधी है। यह बात जब न्यायाधीशके फैसलेकी राजाके समक्ष पहुँची तो राजाने न्यायाधीशको अलग कर दिया अर्थात् जो हमेशा परको ही दोषी बनाता है वह अपनी स्थिरता व कर्तव्यसे मानो शून्य बनता है। अतः अपनी भलाई बुराईके निर्माता हम हैं। हम चाहे तो सावधान हो स्वात्मानुभवमें लीन होकर परविकल्पोंमें न फंस स्वात्मानुभव कर सकते हैं। अभी तक वर्णन था कि परद्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता है। अब यह भी समझाते हैं कि परद्रव्य परगुणोंका उत्पादक नहीं।

७२८. परिणमनका आधार परिणमयिता—रोटीमें जो स्वाद है वह बनाने वाली या चूल्हा इंधन चकले बेलनका व बनाने वालीका नहीं है। स्वाद है आटेका, आटा है गेहूं

जब पानीमें संडासीसे पकड़ी लोहशलाकाको बुझाता है तो संडासी भी ठंडी हो जाती है। ऐसे ही आत्मानुभव या सम्यक्त्व प्रगट होते ही राग द्वेष मोह परिणतियाँ मिट जाती हैं। दूसरा उदाहरण है कि जैसे कि मंत्रोंसे कीलित भयंकर विषैला सर्प एक जगह जकड़ा सा बंधासा पड़ा रहता है। सम्यक्त्व या आत्मानुभवसे डिग जानेपर रागद्वेष परिणतियाँ ऐसे प्रगट हो जाती हैं जैसे सर्पको जिस मंत्रसे कीला था उस मंत्रको उठा लेनेपर वह सर्प शीघ्र चलने फिरने लग जाता है। विवेकीको जब आत्मानुभव हो जाता है तो उसे तो भक्ष्य भोज्य मर्यादा भीतरके पथ्य शुद्ध भोजन पान भी तथा सुन्दर आभूषण, महल, मकान, सुशीला, कुलीन सुन्दरीमें भी जब राग भाव नहीं रहता किन्तु वेदनाका प्रतीकार मात्र भोगों को अल्पकाल भोगता है तब लोकनिंद्य सप्तव्यसनोंको तो नियमसे सदाके लिये वह त्याज्य जानकर उन्हें छोड़कर अपनेको कुछ हल्कासा अनुभव करता है। यहाँ हल्का शब्द का अभिप्राय यह है कि उसके परिणामोंपर लोकापवादोंका भार न रहने से आत्मोन्नतिमें अग्रसर रहता है "मेरे चित्त घर मांहि बसो तेजोमय यावत, पाप तिमिर अवकाश तहां सो क्यों कर पावत ।।" अर्थात् मेरे आत्मामें परमात्मरूप आत्मज्योति जगमगा उठी है तो रागद्वेषरूप अंधेरा वहाँ कैसे रह सकता है ? शास्त्रोंमें ज्ञानीकी सिंहवृत्ति बताई है।

७२६. सिंहवृत्तिकी पद्धति—सिंहको कोई तलवार मारे तो वह सिंह इतना विवेकी सहज होता है कि तलवारपर कुछ भी रोष नहीं करता है किन्तु तलवार मारनेवाले पर आक्रमण करता है। उसी तरह ज्ञानी अपनी विकारपरिणतिपर ज्ञानपरिणतिमें आक्रमण करके उसे मिटा देता है। अज्ञानीकी श्वानवृत्ति होती है अर्थात् जैसे कुत्ता लाठी मारने वाले पर क्रोध न करके लाठी पर रोष करके उसे चबाता है, वैसे ही अज्ञानी अपनी क्रोध परिस्थितिपर हेय दृष्टि न कर दूसरेको ही द्वेषी अपराधी मानकर उसे दबाने मिटाने का प्रयत्न करके व्यर्थ विफल होता है। उस अज्ञानीकी दृष्टिमें संसारके सभी परपुरुषों, पशु पक्षियों अचेतन पदार्थोंपर उसका ऐसा अधिकार है कि वह उन सबका परिणमन अपनी इच्छानुसार कर देगा, किन्तु अपनी परिणतिका भी मालिक स्वयं वह नहीं बन सकता। एक बार एक राजाने बड़े भारी लम्बे चौड़े पहाड़की सैर करनेका विचार अपने मंत्रीको प्रगट किया। राजा की आदत नंगे पैर रहनेकी प्रायः थी, अतः मंत्रीने चाहा कि सारे पहाड़ पर नर्म चमड़ा बिछवा दूँ किन्तु इतना चमड़ा मिले कहाँसे ? मंत्रीने फिर अपनी सभामें इस बातका विचार रक्खा कि जिस पहाड़पर भारी काँटे कंकड़ हैं उस पर राजाके पर्यटन की सुविधा कैसे हो ? अन्तमें निर्णय हुआ कि समझा बुझाकर राजाको जूता पहिना दिये जायें तो यह विकटसे विकट परिस्थिति अति सहज हो जाये। लोग क्या मना करते है कि सब हमारे साथ भला बर्ताव करें, किन्तु यह अपने प्रति सबकी भलाई चाहने वाला व्यक्ति

पदेश शास्त्रके इन श्लोकोंका यह अभिप्राय है कि उत्तम तत्त्वमें आत्मानुभवमें जिसकी रुचि है उसे विषय विषसमान आत्मघातक जान पड़ेंगे और जो आगम व पुराणोंके लेखोंसे व अपनी आँखों देखी जगतकी भोग सामग्रीको रोग समझ गया है वह क्षण भर भी अपनी परिणति उनमें न लगाकर अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानन्द रूप आत्माके अनुभवमें ही तृप्त रहेगा। ऐसा आत्मानुभव अज्ञानियोंके अवलम्बनसे प्राप्त नहीं होता। यहाँ अज्ञानीका अभिप्राय है—जिसकी रुचि आत्मतत्त्वकी ओर नहीं हुई उससे है।

७३०. तथ्यके सुननेमें बधिरोंकी विडम्बना—एक दिन एक बकरी चराने वालेको बकरियाँ चराते समय जंगलमें भूख लग आई। वह बहरा था। भाग्यवश इसे एक आदमी जंगलमें मिल गया, किन्तु था वह भी बहरा। उसे इशारोंसे समझा बुझाकर रोटी खाने चला गया और इसे १ घंटेकी चराई क्या दूं—इस विचारमें डूबा—अपनी तमाम बकरियों को देखने लगा और एक लूली बकरीके पास खड़ा होकर उसका कान पकड़ इस एक घंटा चराने वालेके पास लाया और बोला—तुमने एक घंटा ही तो चराया, सो चराईमें यह बकरी लो। यह १ घंटा चराने वाला समझा कि यह मुझे उलाहना दे रहा है कि तुमने इसकी टांग तोड़ दी। सो ऊपरको मुंह और नजर व हाथ उठा कर बोला—यह परमात्मा देखता है कि मैंने तुम्हारी बकरीकी टाँग नहीं तोड़ी, किन्तु दोनों बहिरे थे। न इसकी वह सुने समझे और न उसकी यह सुने समझे। आखिर दोनों एक गाँवके जमीदारके पास पहुंचे। था वह भी बहिरा और उस दिन घर कामसे जमीदारनसे हो गई थी उसकी लड़ाई और ये दोनों जमीदार जमीदारन भी थे बहरे। इन दोनों ने समझा कि ये दोनों बाहिरी आदमी हमारी लड़ाई मिटाने आये हैं। सो दोनों बोले—तुम तो जाओ, हम दोनों निपट लेंगे। पर ये दोनों बकरी वाले लगे अपनी कहने और दूसरे की सुने नहीं, अतः जमीदारसे झगड़ने लगे। जमीदारने दोनोंको पीट पाट कर भगा दिया। इसी तरह जिसे आत्मबोध नहीं उसे राग द्वेषके विकल्पोंकी आकुलता भोगनी ही पड़ेगी। जिस तरह दीपक घट पट आदि पदार्थोंको प्रकाशता हुआ उन प्रकाश्यमान पदार्थोंमें रागी द्वेषी नहीं होता, ऐसे ही ज्ञानी आत्मा स्पर्श रस गंध वर्ण शब्दको जानकर भी उनमें रागी द्वेषी नहीं होता। क्योंकि स्पर्श आदि तो जड़ पुद्गलके गुण है वे आत्माको कुछ कहते नहीं कि हमको ग्रहण करो और आत्मा भी अपने प्रदेशोंको छोड़ उन स्पर्शादिकमें जाता नहीं। ऐसा होनेमें आत्माके शुद्ध ज्ञानकी महिमा ही कारण है—"पूर्ण एक अच्युत और शुद्ध है, ज्ञानकी महिमा जिसकी ऐसा यह आत्मा ज्ञेय पदार्थ जो स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द उनमें रागी द्वेषी नहीं होता। ऐसा आत्मीक शुद्ध ज्ञानसे रहित है बुद्धि जिनकी, वे अज्ञानी अपनी स्वाभाविक विरक्तिको छोड़ स्पर्श आदिमें राग द्वेष करने लग जाते हैं, यही अज्ञानकी महिमा है।

का । बनाने वालीका गुण रोटीमें एक भी नहीं अन्यथा बनानेवालीके देह और आकारका गुण रोटीसे स्पष्ट दिखना चाहिये सो दिखता नहीं । इसी भाँति घड़ेमें भी कुम्हारका स्वभाव बिल्कुल नहीं किन्तु मिट्टीके ही परिणाम स्वभावसे घटाकार परिणमन हुआ । इसी तरह तुम्हारे परिणामोंमें रागद्वेष पैदा करनेके मात्र कारण मित्र शत्रु नही हैं किन्तु अपने ही ज्ञान गुणका जब विकार रूप परिणमन होता है तो राग द्वेष पैदा हो जाते हैं । अतः एक क्षण भी स्वानुभवसे मत चूको । उंगलीसे कागज फटा तो ऐसा न समझना कि फटनेकी सामर्थ्य या परिणमन कागजमें नहीं होनेपर भी उंगलीने ही सब कुछ कर दिया । सभी द्रव्य अपने स्वभावसे परिणाम रहे है, निमित्तभूत द्रव्यान्तरोंकी प्रेरणासे नहीं । माँ ने बच्चे को मारा सो रोया, किन्तु रोया वह बालक अपने विकारपरिणमनसे । गुणोंका परिणमन ही आकार है । अपने स्वभावसे ही द्रव्यके परिणमनका उत्पाद है, दूसरे द्रव्यान्तरके स्वभाव उसमें उत्पादक नहीं । जैसे कि कुम्हारका कोई भी गुण घड़ेमें नहीं वैसे ही कोई भी प्रकाश व अंधकार आदि पदार्थ आत्मद्रव्यके रागद्वेष पैदा करानेको समर्थ नहीं । मुनिराज अनेक विभूति संयुक्त गृहस्थके घर भोजनके लिये जाते हैं किन्तु उन्हें तिलमात्रमें भी ममता नहीं और फकीरको मांगे दो टुकड़ा भी कई बार मिलता नहीं, किन्तु ममता है उस गृहपतिसे अत्यधिक, जिसके दरवाजे वह माँगनेको खड़ा है ।

७२९. आत्माभिमुखतामें तृप्तिका अनुभव—चेतन व अचेतनके परिणमनमें अन्तर है । ऐसा नहीं कि जैसा सहज परिणमन अचेतन पुद्गल द्रव्यमें होता है, वैसा ही जीव द्रव्यमें भी सहज परिणमन हो जाता होगा । देखो मिट्टीको चाहे घड़ा बनना पड़े या बन जावे, किन्तु मुनिराज जब ध्यानमें लीन होते है तब सुकुमालके शरीरको गीदड़ीने अपने अपने बच्चोंके साथ तीन दिन रात खाया तो भी मुनिराजके परिणामोंमें मलीनताका अंश भी न आया । अधिक आत्मशुद्धि हुई । हम निमित्तको बड़ा दोष देते हैं यही हमारी बड़ी भूल है । अपनी आँखका पूरा टेंट बाहर निकला है सो तो स्वयंको दिखता नहीं किन्तु दूसरोंकी फूलीको देखता फिरता है । हमें अपनी आँखोंसे अपना मुख नहीं दीखता । किन्तु हम अपनी आँखोंके सम्मुख आये अनेकोंका मुख देखते हैं । यदि कदाचित् तुम्हें अपनी आँखों से अपना मुख देखना ही है तो आत्मानुभवरूपी शुद्ध दर्पणमें शुद्ध ज्ञानदृष्टिसे अपना मुख भी देख लो । किसीने चुगली उड़ाई और मैं दुखी हुवा तो दूसरे चुगली वालेकी शक्ति सब कुछ हो गई और तुम अपनेको आत्मबली कहते थे । तुम्हारी शक्ति कैसे दब गई, चुगलकी क्रिया चुगलमें है । तुम अपनी शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा शक्तिको क्यों क्षणभर भी भुलाते हो ? यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ।। अथवा यथा यथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् । इष्टो-

वचनव्यववहार पवित्र रखो, अरे उत्तम काम करना कायक्लेश नहीं है।

७३२. न्याय और अविरोध त्रिवर्गसाधनका फल--तुम चाहते हो कि कोई तुम्हारी पाई न चुराये तो तुम भी दूसरोंकी पाई तो क्या एक सेकेंड एक मिनट भी बुरा मत चाहो। मैत्रीभाव जगत्में मेरा सब जीवोंपर नित्य रहे। इससे अचौर्यव्रतकी भी महान् पूर्ति है। इसी भाँति तुम चाहते हो कि तुम्हारी वहू, वहिन, बेटीकी ओर लोग बुरी दृष्टिसे न देखें, हंसी मजाक न करें तो तुम भी "परतिय लख जे धरती निरखें, धन है, धन है, धन है तिनको" अर्थात् "मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" लोग चाहते हैं कि हमारे घरकी स्त्रियाँ तो सीता समान शीलवती हो जायें और हम मनचाहे व्यभिचारी बने रहें। इसी तरह अधितृष्णा पराव्याधिः का सिद्धान्त मानकर न्यायोचित अपने पुरुषार्थसे प्राप्त सम्पदामें सन्तोष करो। अधिक आरंभ परिग्रहमें फंसनेसे अशान्ति बढ़ती ही जाती है। लोग भी कहते हैं कि—"नियतसे बरक्कत है—-किसीको तो नौ खाये, तेरहकी भूख सदा बनी रहती है। कोई संतोषी जन "अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य" के सिद्धान्तको आगामी भवमें ही मनुष्यभव पानेका कारणमात्र नहीं मानते, किन्तु "परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यम् अपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥" अर्थात् धर्म, धन और सुख तीनों समान रूपसे सेवन किये जायें तो सुख तो सदा स्वयं उपस्थित है किन्तु ऐसे अविरोध त्रिवर्गसाधनसे ऐसी पात्रता बनती है कि योग्यविधिसे निकट भविष्यमें मुक्ति भी मिल सकती है।

७३३. आत्मीय गुणमें अविश्वासकरका फल---अधिकांश आत्मायें ऐसी हैं जो मोक्षके सुखमें विश्वास भी नहीं करतीं, उन्हें तो लौकिक सुखमें ही विश्वास है और इसी लिये बार-बार इसी मोहमायाकी मृगतृष्णामें पच पच कर मर रहा है। देखो, राग द्वेष की परिणतिमें कितना बल लगाना पड़ता है और इतने परिश्रमके बाद भी जब शान्ति हाथ नहीं लगती तब तो और भी ज्यादा कष्ट मानता है। यदि आत्मीक गुण विरागमें आवे स्थिर रहे तो शान्ति पावे, परन्तु जब पर्याय बुद्धि रहती है तव पर्यायमें ही लक्ष्य होने से उसका उपयोग सर्वदा अस्थिर ही रहता है क्योंकि वह उपयोग भी रागमिश्रित है और उस उपयोगका आश्रयभूत पर्याय भी अस्थिर है। यदि अध्रुव तत्त्वों परसे और भेद रूप कल्पनासे लक्ष्य हटकर अनादि अनंत ध्रुव ज्ञानानंद स्वभावमें एकाग्रता हो तब अशान्ति नहीं हो सकती। यह जीव मोहवश रागद्वेष रूप आपत्तियोंमें चल चल कर उठता गिरता है। देखो जब अधिक राग करता है तब इसके पैर तक काँपने लगते हैं। इसी तरह द्वेषमें तो हाथ पैर होंठ आँखें सभी कम्पित और विवर्ण हो जाते हैं, जिसमें तत्काल-महान् परिश्रम है, खेद है। वह तो इस मोहीको सरल बन गया है और जिसमें अशान्ति नहीं, अपूर्व

७३१. प्राप्त समागमकी दुरुपयोगताका फल—ये रागद्वेष ही हिंसा भूठ चोरी कुशील परिग्रहके जनक हैं। "रागद्वेष निवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तनाकृता भवति। अनपेक्षितार्थ-वृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्" जिसे लौकिक आजीविका की चाह नहीं वह प्राणोंको खतरेमें डाल देने वाली राजाओंकी सेवा क्यों करेगा? उसी तरह जहाँ राग द्वेष हैं वहीं हिंसा आदि पाँचों पाप हैं। आप यह मत समझिये कि मैं सुखी रहूं और दूसरोंको अपनी सुविधाके लिये मनचाहा दुःख पहुंचाऊं। "ज्ञानार्णव" शास्त्रमें धर्मका प्रथम चिन्ह यही बताया है कि "यत् यत् स्वस्यानिष्टं तत्तत् वाक्चित्तकर्मभिकार्यम्। स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमलिङ्गम्॥ अर्थात् जो विचार, वचन और कार्य तुम अपने लिये अनिष्ट बुरा समझते हो, वैसा विचार वचन और कार्य दूसरोंके साथ मत करो। पशु अविवेकी होता है, गाय सावन भादोंके दिनोंमें जंगलमें सुन्दर स्वादु घास पेट भर कर आती है, फिर भी घर आने पर यदि उसके बच्चे के आगे घास पड़ी हो तो सिरसे धक्का देकर वह घास खा लेती है। हम यह चाहते हैं कि हमसे कोई कठोर शब्द न बोले किन्तु हम अपनी बोलीपर काबू नहीं करते। आखिर यह अन्धेर कौन कब तक सहे? सो "रहिमन जिह्वा बापरी, कह गई सुरग पाताल। आप कहीं भीतर धसी जूते खाय कपाल॥ जीभके व्यापार अर्थात् वचनके आधीन समस्त लोक व्यवहार है। लोकमें जिसकी बात है उसका सब कुछ है। जो कह कर बदल गया उसे लोक दोगला कहते हैं। कहते हैं कि जिसकी बातका भरोसा नहीं, उसके बापका भी भरोसा नहीं। जिसकी जबान है सच्ची, जवान तरुण कर्मठ वही है। लोग कहते हैं कि पेटका पता जीभको है, "कुलीनजातस्य न पाणि पद्मं, न जारजातस्य ललाट शृङ्गम्। यथा यथा मुंचति वाक्यबाणम् तथा तथा जातिकुलप्रमाणम्॥ अर्थात् जो सुशील सदाचारी माता पिताके संयोगसे पैदा हुआ उसके हथेली पर कमल नहीं खिला है और जो कुशीलसे पैदा हुआ उसके सिरपर सींग नहीं होते किन्तु बोलीसे ही जाति और कुलकी या व्यक्तिगत उच्चता नीचता का अनुमान सदा चतुर कर लेते हैं। कहा हुआ वचन भीतर नहीं धंसता, अतएव सावधानीसे बोलो। नेक वचनोंसे दुनियां अपनी बन जाती है और खोटे वचनोंसे अपने भी पराये बन जाते हैं या बुरे वचन बोलकर स्वयं पछताता है। तिर्यंचोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें एक अपना या परलोक अर्थात् दूसरे जनोंका या दूसरे समस्त प्राणियोंका उद्धार करने वाली अक्षररूप वचनमाला ही है। इस वचनशक्तिका दुरुपयोग किया अर्थात् कपट किया कि "माया तैर्यग्योनस्य" के इस वैज्ञानिक और आगमोक्त व युक्ति-युक्त विधान नियम कानूनसे उसे तिर्यंचगति मिलती है। हजारों रुपयोंकी सुन्दर घोड़ोंकी जोड़ी सर्पके सामने आने पर आत्मरक्षाका एक शब्द अपने मालिकको नहीं बोल सकती और कदाचित् सर्पके काटनेसे वहीं वह घोड़ोंकी जोड़ी प्राणान्त हो सकती है। अतः सदा

दूसरेकी परिणतिसे नहीं रहता, अपने भावोंसे रहता हूं, दूसरेके भावोंसे नहीं। तो इतना निराला हूं मैं सबसे कि कोईसे रंचमात्र सम्बंध नहीं है, स्वरूपदृष्टि करके देखो, मेरा किसी अन्य अणुसे सम्बंध नहीं है। तो मैं किसीका स्वामी नहीं रहा यह निर्णय कर लीजिए। अगर सच्चा निर्णय नहीं है तो मैं स्वामी हूँ धन, वैभव, कुटुम्ब आदिकका, इन्हीं व्यर्थके विकल्पोंमें रम-रमकर उम्र गुजर जायगी, मिलता कुछ नहीं है।

७३६. स्वयंकी शुद्ध भावनामें सत्य तत्त्वका मिलन—भैया! मिलन तो होता है तब जब अपने आप निर्विकल्प ध्यान बने, बाह्य पदार्थोंसे चित्त हटे और अपने में निर्विकल्पता आये तो अपना हित है। सो यह बात तभी सम्भव है जब हम अपने को समझ जायें कि मैं अकिञ्जन् हूँ, मैं किसीका सम्बन्धी नहीं हूं, मैं अपने आत्माका सम्बन्धी हूं पहिली बात। दूसरी बात यह निर्णय करिये कि मैं किसका करने वाला हूँ। मेरा किसपर वश चल सकता है? सोचिये। अन्य पदार्थोंपर मेरा वश नहीं चल सकता। भले ही पुण्योदय है अनुकूल है सो दिख रहा है ऐसा कि मैं जैसा चाहता हू वैसा ही वस्तुका परिणमन होता है। पर वह मेल है एक प्रकारका, हो रहा है, पर मैं करने वाला नहीं हूं। जैसे चलती हुई गाड़ीको बच्चे लोग ढकेलते है तो समझते हैं कि गाड़ी हमारे चलानेसे चल रही है, मगर वह तो एक खेलकी बात है, ढकेलनेकी बात नहीं है। इसी तरह जगतमें किन्हीं भी बाह्य पदार्थोंसे करनेकी बात नहीं है, एक मेल जुड़ गया है कि जो होना हो थोड़े सम्बन्धसे हो जाता है पर करने वाला मैं नहीं हूं। फिर दुनिया कहती है कि कुम्हार घड़ा बनाता, कारीगर मकान बनाता आदिक ये सब बातें क्या असत्य हैं? उसका उत्तर इस गाथामें दिया गया है कि व्यवहारसे ही ऐसा कहा जाता है कि घड़ा, रथ, मकान आदिक परद्रव्यों को कोई बनाता है, आत्मा कर्म शरीर आदिक नाना कर्मोंको बनाता है, यह निश्चयका कथन नहीं है। निश्चयकी बात तो यहीं देख लो—क्या हम आप लोगोंको समझा रहे है? क्या हम आप लोगों को समझा सकते हैं? कभी नहीं। तो हम क्या कर रहे हैं यहाँ पर? वचन बोल रहे हैं, पढ़ रहे हैं, चेष्टा कर रहे हैं, इसको तो मना किया नहीं जा सकता, प्रत्यक्ष दिख रहा कि कर रहे हैं, पर ये सब चेष्टायें और श्रम करके हम आपको समझा नहीं सकते हैं। समझाना हमारे अधिकारकी बात नहीं है किन्तु जो मनमें भाव उत्पन्न हुए, जिस किसी भी प्रयोजनसे हम बोल रहे हैं, उसकी शान्ति, उसकी पूर्ति की जा रही है, आप लोगोंको हम कुछ समझा नहीं सकते। चित्तमें आया कि कुछ बोलना चाहिये बोलने लगे तो जो हमारा ऐसा प्रभाव जगा, इच्छा हुई उसकी शान्तिके लिए हम बोल रहे है, आपको समझानेके लिए हम नहीं बोल रहे, क्योंकि हम समझा ही नहीं सकते। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ कर ही नहीं सकता है। पर कोई शंका करे कि हम समझाते

आनंद है ऐसा शुद्ध ज्ञानमय परिणमन कठिन बन गया है। सच बात तो यह है कि भेद-विज्ञान बिना कल्याणका मार्ग मिलता नहीं। इसलिये भैया! भेदविज्ञानका सतत प्रयत्न करो। भेदविज्ञानके होनेपर कदाचित कर्मोदयवश राग द्वेष आयें भी तो भी उन राग द्वेष आदि भावोंसे पृथक् ज्ञप्तिमात्र निजभावमें रुचि होनेसे ज्ञानी ऐसे खेदसे विराग रहता ही है।

७३४. सम्यक्त्वकी शरण्यता और सारभूतता—स्वस्वामित्व और कर्ताकर्मपना इन दोनों बातोंका सही निर्णय हो जानेपर सम्यक्त्व होता है। संसारमें सम्यक्त्वके सिवाय और कुछ शरण नहीं है। ये भौतिक समागम, परिजनोंका समागम, मित्रजन अच्छे मिल गए, इज्जत कीर्ति कुछ हो रही, इनमें क्या दम है? ये सब मायामयी हैं, इनमें न वर्तमान में सार है और न भविष्यमें कोई सारभूत है। एक अपने आपका सच्चा बोध हो जाय, बस वही मात्र शरण है। उस बोधके लिए दो बातोंका निर्णय कर लेना बहुत आवश्यक है। एक तो स्वस्वामी सम्बंध और एक कर्ताकर्मभाव। मेरा बाहरमें क्या है और मैं किसका स्वामी हूँ—इस प्रसंगमें विचार करें, इनमें यह ज्ञानमात्र मैं केवल उतना ही हूं जितना कि यह चैतन्यस्वरूप। इसके आगे मेरा कहीं कुछ नहीं है। मेरा किसीपर अधिकार नहीं है, इस देहपर भी तो मेरा अधिकार नहीं है जिसमें खूब घुल मिलकर बस रहे हैं। मैं सदा रहना चाहता इस देहमें, पर सदा रह सकता नहीं तो फिर मैं शरीरका मालिक कहाँ? अपनी उम्रके कितने ही लोग गुजर गए हैं। अपनेसे छोटी उम्रके कितने ही लोग इसी भव के परिचित गुजर गए हैं उनका तो ख्याल करो। इसी तरहसे हम भी गुजर गए होते तो क्या यह हो नहीं सकता था? क्या कोई गारंटी है कि हम इतने दिनों तक इस देहमें रहेंगे ही?

७३५. परचतुष्टयका मुझमें अत्यन्त अभाव—पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप होते है। कोईसा भी पदार्थ हो, जो मेरा पिण्ड है, जिससे वह रचा हुआ है गुणपर्यायात्मक उतना तो द्रव्य है जैसा कि मैं ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र, शक्ति, अनन्त गुणोंका पिण्ड हूँ, और वे सब गुण प्रत्येक समयमें अपनी पर्यायमें रहते हैं। तो मैं अपने गुण पर्यायका पिण्ड हूँ—इसका अर्थ यह हुआ कि गुणपर्यायमें तो मेरा परिणमन है, निवास है और कहीं निवास नहीं है, क्षेत्र मेरा जितनी जगहको घेरे हो, आकाशकी जगहको नहीं, किन्तु अपने आपको जितनेको घेरे हो उतना मेरा क्षेत्र है, इसके आगे मेरा क्षेत्र नहीं है। लोग कहते हैं कि मेरे पास इतनी जमीन है, इतने महल हैं पर है यहाँ किसीका कुछ नहीं। मेरा तो उतना ही क्षेत्र है जितनेमें व्याप कर रह रहा हूं। मैं किसी न किसी रूप परिणमता रहता हूं, तो जिस परिणमनसे परिणमता हूँ, जो परिणति रहती है बस वह मेरा काल है। मैं

जाता। किन्तु अज्ञानी की परिणति राग द्वेषमय देख शुभ रागवश आचार्योंको भी अज्ञानी की अज्ञानताका दुःख होता है, आत्मा शब्द को सुनकर, रूपको देखकर, रसको आस्वाद कर, स्पर्शको स्पर्श कर राग, द्वेष, मान, अज्ञान रूप परिणमन करता है। सो मानो ऐसा करते शुद्ध सामान्य द्रव्यके अनुभवमें आत्माका उपयोग नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानके तेजसे विभावरूप रागद्वेषको छोड़ चैतन्य चमत्कार मात्र स्वभावको छूते हैं अर्थात् अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानानन्द भावका ही स्पर्श करते हैं। पूर्व किये समस्त शुभाशुभ कर्मोंके उदयको ज्ञान परिणतिसे विफल कर प्रतिक्रमण द्वारा उनकी निर्जरा करता है और आगे आने वाले राग द्वेषके विकल्पोंके त्यागकी सावधानीसे प्रत्याख्यान करके आत्मशुद्धि करता है और वर्तमान कालमें उदयागत राग द्वेषके विचारोंकी आलोचना करके त्याग करता है। ज्ञानी ज्ञान चेतनाके बलसे चारित्र गुणकी शुद्ध सामर्थ्यसे राग द्वेषका त्यागकर ज्योतिर्मयी शक्तिसे आत्माको प्रकाशमान रखते हैं। जहां प्रकाश है वहां राग द्वेष रूप अन्धकार नहीं। इस ज्ञान चेतनाके अतिरिक्त अपने शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रूपके सिवाय राग द्वेषका भी मैं कर्ता हूं—ऐसी कर्मचेतना नहीं रहती और शुद्ध ज्ञान दर्शनके सिवा अन्य रागादिको मैं भोक्ता हूँ--ऐसी कर्मफल चेतना भी ज्ञानीके नहीं रहती। सो ऐसी शुद्ध परिणति चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टिके तथा पांचवे देश संयम गुणस्थानवर्ती श्रावकके तथा छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिके रहती है, पश्चात् सातवें अप्रमत्तगुण स्थानमें चढ़कर जैसा ज्ञान चेतना का श्रद्धान् किया था उसीमें मग्न हो जाता है। तब श्रेणी चढ़ता आत्मशुद्धि करता हुआ, केवलज्ञानी होकर फिर निरंजन निजानन्द रसमें मग्न सिद्ध हो जाता है।

७३६. अनेककी चाहसे एकमात्रकी चाहका मूल्य—जैसे कि कौरवोंने सेना माँगी थी सो उन्हें दी गई। किन्तु पांडवोंने कृष्णको अपने पास माँगकर जो वैभव पाया, वह वैभव कौरवोंके वैभवसे अधिक था। इसी तरह हमारे मति स्मृति प्रत्यभिज्ञान व्याप्ति अनुमान आगम युक्ति आदिके बहुसंख्यक ज्ञानकी प्राप्ति हल्की ही है। सामायिक में हिंसादि पाँचों पापोंका सामूहिक त्याग है यह अखंड व्रत है। इस एक चक्रवर्तीके राज्य मिल जाने पर महामंडलेश्वर मंडलेश्वर आदि राज्यपदोंकी प्राप्तिकी मान्यता कुछ नहीं रहती। स्वभाव में मग्न होना रूप कार्य भी सामायिकमें सधता ही है। छेदोपस्थापनामें अलग-अलग पापों की निवृत्ति की जाती है। जब सामायिकमें चित्त स्थिर नहीं रह पाता तब छेदोपस्थापनारूप चारित्र पाला जाता है। जब तक चक्रवर्ती सरीखा सर्वश्रेष्ठ राज्यपद नहीं मिला तब तक मंडलेश्वर बनकर महामंडलेश्वर आदि बननेकी अभिलाषा व प्रयत्न रहते हैं। स्वाध्याय, उपदेश, अनुप्रेक्षा आदि कार्य भी सामायिकसे उपयोगके चिग जानेपर परिणामोंकी संभालके लिये किये जाते हैं। ज्ञानके सचेतनसे ज्ञान प्रगट होता है। जिस तरफ आप उपयोग जमा-

तो हैं, जो वात कही जा रही है वह समझमें आ रही है ? आत्माकी बात या अन्य बात, तो कैसे नहीं समझा रहे ? आप भले ही समझ रहे हैं, इन वचनोंका निमित्तमात्र करके अपने आपमें अपनी समझ बना रहे हैं, आप लोग अपने काममें स्वतंत्र हैं, हम अपने काममें स्वतंत्र हैं।

७३७. **स्वरूपस्वातन्त्र्यकी दृष्टिमें ही कल्याणका मार्ग**—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनमें स्वतंत्र है। सो निमित्तनैमित्तिक भावकी बात देखकर करनेकी बात जोड़ना सो यह है व्यवहार और निश्चयसे वस्तु कितनी है, उसको उसमें ही निरखकर कर्ता कर्मकी बात कहना सो है निश्चय। निश्चयदृष्टिसे कर्ता कर्मत्वकी बात बतावो तो वहाँ मिलेगा कि हमने अपने आपमें अपना काम किया। जैसे हाथ चल रहा है, यहाँ तो हाथने हाथको ही चलाया, अपने में ही चलाया और अपने ही लिए चलाया। इसी प्रकार आत्माने किया क्या ? विकल्प किया। वे विकल्प मुझसे निराले नहीं हैं, आत्मस्वरूप हैं, आत्माकी पर्याय हैं सो उसको अपनेमें ही किया और अपने ही द्वारा किया, किसी दूसरेकी परिणतिसे नहीं किया गया, कोई दूसरेमें करने नहीं आता, अपनेमें ही किया. अपने को ही किया। तो यह हुआ निश्चय कथन और व्यवहारमें एक पदार्थसे दूसरे पदार्थके कर्तृत्वकी बात कही जाती है। तो जैसे व्यवहार जो अपने विकल्परूप व्यायाम करे, घट आदिक परद्रव्योंरूप बढ़कर करते हुये मालूम देते हैं। इन क्रोधादिक समस्त अन्तःक्रियावोंको परिणामोंको विकल्पोंको यह जीव करता है ऐसा इस जीवका व्यामोह है।

७३८. **निजका निजमें भारका अभाव और सहज विलास**—वास्तवमें परवस्तु ही भार है। लोकमें भी दूसरी ही चीज बोझल मालूम होती है। स्वयंका हृष्ट पुष्ट शरीर बोझदार नहीं मालूम देता। हाथीका शरीर सैकड़ों मनका होता है, किन्तु क्या उसे वह बोझल लगता है ? मनुष्यका पुष्ट शरीर ढाई तीन मनका होता है। फिर भी उस निरोग स्वस्थ मनुष्य को बैठने उठने चलने फिरने आदिमें जरा भी बोझ प्रतीत नहीं होता। बाहिरी चीज दो सेर भी हो तो उससे थकता है, इसी तरह ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान शान्ति आदिके कारण खेद या भार अनुभव नहीं करता, किन्तु प्रसन्न और विश्रान्त रहता है और राग द्वेष आदि विभावोंके आनेपर ज्ञानीको बड़ा बोझ मालूम देता है। ऐसी वस्तुस्थिति होनेपर भी अज्ञानियोंके मोहमाहात्म्यको तो देखो, रागद्वेषके भारको हंस हंस कर उठाना है, तिस पर भी अपने को सुखी मानता है। देखो तो इस मनुष्यके विचारोंकी विचित्रता कि यह मोही आत्मा स्वयं तो गुणोंके परिणमनमें, चाहे कैसे भी विकृत हों, डूबा है, फिर भी गुणोंको छूता नहीं। जैसे दीपक घट पटादिको प्रकाशता किन्तु घट पटादि रूप नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थोंको जानता हुआ भी रागी द्वेषी नहीं हो

विकल्प नहीं होते। विकल्प तब उठते हैं जब यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपको न जानकर किसी परद्रव्यको जानता है। जैसे पानीमें पानी ही रह रहा है तो उसमें मलिनता कम आती है और जब पानीके अतिरिक्त अन्य चीजोंका उसमें प्रवेश हो जाता है तो पानी मलिन हो जाता है, यह व्यवहारतः निर्णय है, ऐसे ही इस आत्मामें केवल आत्मा ही रह रहा है तब उसमें मलिनता नहीं है और जब यह व्यामोही प्राणी अपने ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त अन्य भावोंका कर्ता मान रहा, अन्यसे अपना सम्बन्ध मानता तो इसमें मलिनता आती है। देखिये कल्याणकी बात कठिन तो है ही, लेकिन बड़े योगपूर्वक सुननेसे और बाह्य अर्थोंकी असारता समझकर उनसे उपेक्षा करनेसे यह बात सुगमतया स्पष्ट हो सकती है कि मेरे आत्माका यहाँ काम और है क्या? बस विकल्प किये जा रहे हैं। बाह्य पदार्थ तो उस मेलमें प्रसंगमें जो होनेको है सो होते हैं, पर उनका मैं कर सकने वाला नहीं हूं, इस प्रकार ज्ञानी जीव कर्तृत्व व्यवहाररहित होता और अज्ञानी जीव उनमें आसक्त रहता और ये कल्पनायें रखता कि मैंने इतने परद्रव्योंको बनाया। ऐसा व्यामोह होता है, लेकिन यह बात सही नहीं है, क्यों सही नहीं है कि—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
तम्हाण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

७४२. परद्रव्यके करनेमें परद्रव्यमयताका प्रसंग—यदि कोई पुरुष परद्रव्योंको करने लगे तो इसका अर्थ होता है कि वह तन्मय हो गया। कर्ता कर्म एक ही पदार्थमें है। यदि दो अंगुलियोंने एक सींक तोड़ दी तो अंगुलियोंने सींक तोड़ी—यह व्यवहारकथन है। अरे अंगुलियोंने तो अपने आपके प्रदेशोंमे अपना मोड़ किया, अपनी क्रिया की, यह है निश्चय कथन। तो निश्चयसे अंगुलियोंने किसे किया? जो बात अंगुलियोंमें हुई हो उसको अंगुलियों ने किया। अंगुलियोंसे बाहरमे कुछ नहीं किया। फिर वह सींक जो पदार्थ है वह तो व्यवहार करने वाली अंगुलियोंका निमित्त पाकर सींकमें सींकके परिणमनसे सींक टूटी है। यही बात आप सभी जगह घटाते जायें तो आकुलता न होगी। किसी ने गाली दी है तो यों ही सोचना चाहिये कि इसने मुझको कुछ नहीं किया। इसने अपनेमें अपना परिणाम बनाया, अज्ञान किया, मिथ्याभाव किया, संक्लेश किया, श्रम किया। मेरेमें उसने कुछ नहीं किया। यह बात विदित रहेगी तो सुध रहेगी, अपनी सावधानी रहेगी। इस तरहसे हम प्रत्येक पदार्थोंके निरखनेकी आदत बना लें तो इससे अशान्ति और संक्लेशका बहुत बड़ा बोझ दूर हो जायगा। यह बात बडे अभ्यासकी है। कोई कुछ कहे तो यह समझलें कि इसने मुझे कुछ नहीं किया, मैं तो ज्ञानमात्र आत्मा हूं, मुझे तो यह जानता भी नहीं है। जब मेरेको कोई जानता ही नहीं है तो कोई मेरा कुछ करेगा क्या? इस तरह अपनेको सबसे निराला

ओगे उसी तरफका हानि लाभ समझ आयेगा। मैं अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंद रूप आत्मा हूं—ऐसे सामान्य ध्रुव तत्त्वके विचारसे जो संतोष मिलता है, कहाँ रक्खा ऐसा संतोष कर्म चेतना व कर्मफल चेतनामें ? जब कर्म चेतना व कर्मफल चेतनामें उपयोग लगाता है तब मोह माया की मृगमरीचिकामें स्वयं दुःख उठाता है। ज्ञानसे अन्य भाव जो भी हैं उनका कर्ता भोक्ता बननेमें सिवाय रागद्वेषके विकल्पोंकी आकुलताके और मिलना भी क्या है ? मैं दूसरेके घर धनको अपना कहूं या अपना मानूं तो कहां तो मुझे सन्तोष मिलेगा और कहाँ मैं लोककी दृष्टिमें भला बन सकता हूँ ? अतएव अपने ज्ञान दर्शन स्वरूपको अपना मानो। इसी ज्ञान चेतनामें आनंद है।

१४०. भ्रमाभ्यासकी गति—एक बार एक सज्जन बकरी लिये जा रहा था। चार चोरोंने मिलकर उसे ठगना चाहा, वे चारों अलग-अलग हो गये। एक चोरने सज्जनसे कहा—महाराज ! यह कुत्ता क्यों लिये फिरते हो ? ३-४ फलांग आगे जाने पर दूसरा ठग भी यही बात बोला कि सज्जन और कुत्तेका क्या साथ ? सज्जनको अपनी बुद्धिपर सन्देह हुआ कि यह तो बकरी मैं लिये हूँ, लोग कुत्ता क्यों कहते हैं ? दो तीन फलांग चलनेपर फिर तीसरे ने कहा—साधु जी छोड़ो इस कुत्तेको। थोड़ी देर बाद फिर चौथे ठगने यही कहा। सो उस यात्रीकी मूल बुद्धि भी स्थिर न रह सकी। तब उस सज्जनने उसे कुत्ता समझ छोड़ दिया। इसी तरह बार बारके अभ्याससे जैसी भावना हमारी बन जाये हम वैसा ही मानने लगते हैं। ये आत्म-भिन्न वस्तुयें यथार्थमें जो अपनी नहीं हैं सो उन्हें शरीर धन पुत्रादिको तो हम अपना मान रहे हैं और जो अपना दर्शन ज्ञान ध्रुव स्वरूप है जिसका कि बोध सामान्य जगत्को नहीं है, हम भी उसे भूलकर अनादि भवभ्रमणमें पड़े हैं। रात दिन हमारी दृष्टि धनसंग्रहके मोहमायामें फंसी है, सो अपने आपको भूल रही है। एक बार एक शेरके बच्चे को गडरियेने पकड़ अपनी बकरियोंमें मिला लिया। वह बकरियों की तरह चुपके से आये जाये, चरे। एक दिन जब पानीमें अपनी परछाई देखी तो सब बकरियों से अपना रूप पराक्रम अलग समझ गडरियेके बन्धनसे अलग हो गया और दहाड़ मार कर सब बकरियों और गड़रिये तकके प्राण दहला दिये। इसी तरह इस अविवेकी मिथ्यातीको आत्मस्वरूपका भान नहीं है, यह तो मोहकी अंधेरीमें पथभ्रष्ट हो रहा है। कभी सद्गुरुओंके समागमसे आत्मज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश पाकर आत्मानुभव करने लग जाता है।

७४१. ज्ञानप्रकाशमें चिन्तन—अपने आत्माका विशुद्ध स्वरूप ज्ञात होनेपर समझ लीजिये कि सर्व विपदायें शान्त हो जाती हैं। शान्तिके लिए निर्विकल्प होना है और निर्विकल्प होनेकी विधि यह है कि जानने वाला यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपको ही जाननेमें लग जाय तो ज्ञानने जाना, ज्ञानको जाना। तो ज्ञान और ज्ञेय एक हो जानेके कारण वहाँ फिर

अनुत्तीर्णता है। विह्वल हो जाय, संक्लेश करे तो वह भी अनुत्तीर्णता है। लेकिन सम्मान के समयमें महसूस नहीं होता। तो सन्मान प्रशंसा हो रही हो तब यह जीव अपनी सुध और होशका रूपक बना सकता है पर जब अपमान हो रहा हो उस समय यह सावधान रह सके अपनेमें तो समझो कि हाँ वास्तवमें हमने ज्ञान प्राप्त किया। सन्मान और प्रशंसा के समय तो हर एक कोई बड़ा नम्र और सुध वाला बुद्धिमान अपनेको बता सकता है पर अपमानके समय विह्वलता न आये तो समझना चाहिये कि हम परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हैं। जैसे इष्टजनोंका अच्छा संयोग मिल रहा है, उस समागममें बड़ी धर्मकी बातें छांट रहे हैं, बोल रहे हैं, ठीक है, बोल रहे है, मगर इष्टवियोगमें, अनिष्टसंयोगमें, विपत्तिके कालमें यदि धर्मकी बात बोल सके तो समझिये कि हाँ हममें मूलसे धर्म आया। ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वसे दर्शनमें अपमानका ही क्या सभी भयोंका अभाव हो जाता है।

७४४. स्वपरिणामके कर्तृत्वका विनिश्चय—यह मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान करनेके सिवाय और मैं कुछ नहीं करता हूं। लगता है ऐसा कि मैं मकान बनवा रहा, खेती करवा रहा, व्यापार कर रहा आदिक, पर अपने आत्मापर दृष्टि देकर निरखो, सिवाय विकल्पके विचारके और कुछ नहीं किया जा रहा है। हो रहा है सब कुछ वह मेलजोलसे हो रहा है, ऐसा एक जोड़ आ गया, हो रहा है, पर मेरे विकल्पसे, करनेसे श्रमसे यह सब कुछ नहीं हो रहा है। मैं केवल अपने परिणमनको ही करता हूं, बाहर कुछ नहीं करता। तभी देखिये—किसी पुरुषने दूसरेको मारनेका भाव किया और न मार सका, न मर सका तो भी वह हिंसक बन गया। और कभी कभी तो यह हो जाता कि हिंसाका फल पहिले पा लेगा यह और हिंसा बादमें करेगा। कैसी विलक्षण बात है? एक पुरुषने किसीको मारनेका पूरा षड़यन्त्र रचा, उद्यम किया तो उसे उसी समय लग गयी हिंसा, और मारने का यत्न वह बराबर करता जा रहा है और उसका मारने का दाव लगा २० वर्ष बाद तो २० वर्ष पहिले उसने जो इरादा किया था, घात करने का संकल्प किया था, उसमें पाप बंध गया था। अब पापका उदय १०–१५ वर्ष बाद उसे मिल सकता है और मारता है वह २० वर्ष बाद तो देखिये—मारने से पहिले हिंसाका फल उसने भोग लिया, क्योंकि परिणामसे ही हिंसा है। और परिणाममें खोटापन नहीं है तो हिंसा नहीं है। तो यहाँ प्रसंगमें यह बात समझना है कि मैं केवल अपने भावोंको परिणामको ही करता हूं, किसी भी परद्रव्यको मैं करने वाला नहीं हूं, अकर्ता हूं। जो काम बड़े बड़े तीर्थंकरों ने किया, राम हनुमान आदिक संतजनों ने किया और सदाके लिए कर्म काटकर संकटोंसे दूर हो गए तो यह तो निर्णय करें कि हमको यही काम करना है। इसमें ही सार मिलेगा, दूसरे काम में सार न मिलेगा।

तकते रहें तो आकुलता नहीं हो सकती। यदि मैं किसी परद्रव्यको करने लगूँ तो इसका अर्थ है कि मैं परद्रव्योंमें तन्मय हो गया। जैसे अंगुलियोंने जो अपनी मोड़ की तो इसका अर्थ यह है कि अंगुली अंगुलीमें तन्मय हो गई। सो यह बात ठीक है कि मैंने अपनेमें अपना विकल्प किया, मैं अपनी शान्ति अशान्ति आदिक पर्यायोंमें तन्मय हो गया। यह बात तो ठीक है। यदि मैं निश्चयसे चौकी कलम आदिक बनाता हूँ तो इसका अर्थ यह हुआ कि मैं चौकी कलम आदि बन गया? मैं कुछ न रहा। अर्थात् मैं अजीव बन गया। आपको बनना है क्या अजीव? अजीव बननेमें अच्छा लगता है क्या? कुछ गाली-सी जंचती है। कोई कह दे कि यह तो जड़ है तो वह गाली समझता है। कोई आत्मा चेतनसे हटकर जड़ नहीं बनना चाहता। और मानता कोई यह है कि मैं चौकीको बनाता हूं निश्चयसे तो निश्चयसे एक वस्तु अपनी ही वस्तुमें परिणमन करता है। तब यों वह अपनेमें तन्मय है। मैंने किया परको तो मैं पररूप हो गया, यह दोष आता है।

७४३. ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके दर्शनसे अनेक भयोंका अभाव---भैया! खूब ध्यानसे निर्णय करलो कि सिवाय अपने भावोंके मैं और कुछ किया ही नहीं करता। सम्मान और अपमानकी बात जो इस मनुष्यके चित्तमें बैठी हुई है वह महाविषका परिणाम है। मेरा अपमान हो गया। अरे इस ज्ञानमात्र तत्त्वको तो कोई जान ही नहीं रहा। उसका क्या अपमान? लोग अपने भावोंके अनुसार अपनी चेष्टा कर रहे हैं, मेरा क्या करते हैं? सारी दुनिया अगर मेरे विरुद्ध निन्दा करे, फिर भी उस निन्दासे अपने आपको न छोड़े तो वह बड़ा बलिष्ठ ज्ञानी पुरुष है। हाँ निन्दाके कार्य करे और फिर निन्दा हो और उस निन्दासे अपना कुछ बिगाड़ न समझे, तो यह तो उसकी अनीति है। इसकी बात नहीं कही जा रही है। आप स्वयं अपनेमें सावधान हैं, अपना कार्य करते हैं, अपने में सन्तुष्ट रहते हैं, तो फिर आपका उस अपमानसे क्या बिगाड़? अपनेको मैं ज्ञान मात्र हूं, अपने आपका स्वामी हूँ, मेरेसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा यदि आप अपने को प्रतीतिमें लिए हुए हैं तो फिर उस अपमानसे आपका क्या बिगाड़? ऐसा भय करना कि ये लोग क्या कहेंगे, दुनिया मुझे क्या कहेगी? अच्छी तरहसे रहते हुए भी यदि आप ऐसा सोचें कि अरे दुनियाके लोग मुझे क्या कहेंगे, मुझे क्या कहते होंगे, यह बात सोचना उचित नहीं है। जिसे जो कहना हो कहे वह अपनी चेष्टा करता है। देखिये सम्मान और अपमानमें कठिन प्रश्न है अपमान का, जिसके हल करनेसे उत्तीर्ण हो जायगा। जैसे विद्यार्थियोंके पेपर आते हैं। कोई प्रश्न सरल है, कोई कठिन है तो इसी तरह इस परीक्षाकेन्द्र जगतमें ये सब परीक्षायें हो रही हैं, पेपर चल रहे हैं, उसमें प्रश्न आ रहे हैं, तो एक तो प्रश्न आता है सम्मानका। सम्मानमें भी अपने आपको लगा दे, उसमें रत हो जाय। सम्मान समझे, बड़प्पन समझे तो वह भी

चाहिए। ये समागम विनाशीक हैं, अनित्य हैं, तो ऐसा ही ध्यान रहे, ये समस्त जाल ये समागम असार हैं, मेरेसे भिन्न हैं, यह बात सत्य है तो यह सच्चाई मेरे ज्ञानमें कायम रहे। हम उसपर चल सकें, न चल सकें उसकी बात अलग है, पर इससे अगर भूल हो गई, हम सच्चाईके ज्ञानसे हट गए तब फिर शान्त होनेका कोई उपाय न मिलेगा। शान्ति मिलेगी तो सम्यग्ज्ञानमें ही मिलेगी और उसका उपाय है वस्तु स्वरूपका निर्णय।

७४६. **ज्ञानसंचेतनकी सम्हाल और भूलका परिणाम**—दूसरेने मुझे ऐसा क्यों कह दिया ? ऐसा क्रोधभाव अज्ञान चेतनाके प्रभावसे ही होता है। जो मैं हूं उसे कोई कुछ कह नहीं सकता और जिसे लोग कहते हैं यह मनुष्य रूप मेरे आत्माका नहीं है। मैं तो केवल चैतन्यरूप हूं—इस तरह ज्ञा चेतनाकी उपयोगरूप सावधानीमें पर्यायबुद्धि नहीं रहती तब निराकुल आत्मानुभव करता है। यह विवेक दृष्टि चौथे गुणस्थानसे जागृत होती है और १२ वें गुणस्थान तक इस क्षायोपशमिक ज्ञानदृष्टिमें कुछ कुछ उन्नति भी होती जाती है। तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट हो जाने से ज्ञान चेतना ही सतत प्रगट रहती है। यद्यपि चौथे गुणस्थानमें भी ज्ञानचेतना प्रगट हो गई थी किन्तु वह श्रद्धानकी अपेक्षासे थी। उपयोगमें राग द्वेष आ जानेसे आस्रव और बंध भी होते हैं और सम्यग्दर्शनकी सत्ता की अपेक्षासे, आत्मानुभवकी निर्मूलतासे संवर निर्जरा भी होते हैं। मैं दुकान करता हूं, मकान बनाता हूं ऐसा व्यवहार भी सम्यग्दृष्टि करता है तो कर्म चेतनारूप हो जाता है और मुझे इस गृह धन्धेमें फंसनेसे प्राय: दु:ख ही उठाने पड़ रहे हैं—ऐसी कर्मफलचेतनाको भी अनुभव करता है। एक बार साधुने सेठसे कहा—सेठ जी कुछ धर्मध्यान किया करो किन्तु आरंभ परिग्रहकी अधिकतासे सेठ जी ऐसी मोह नदीमें डूबे रहते कि आत्मबोधके किनारे भी न आ पाते। साधुने सोचा ये सेठ जी बिना दंड दिये आत्मकल्याणके मार्गपर न आयेंगे, सो जब सेठ जी स्नान करने तालाबपर गये कि साधु सेठका रूप बनाकर सेठके लड़केसे बोले—देखो आज बस्तीमें एक जादूगर आया है वह मेरे सरीखा रूप धारण कर इधर आवे तो आने मत देना। थोड़ी देरमें सेठ जी स्नान करके लौटे तो बेटेने अन्दर आने से रोका। सेठ जी ने व तेरा बच्चोंको कहा सुना कि तुम मुझे क्यों भूल गये ? मेरे साथ ऐसा बर्ताव क्यों करते हो ? लड़के बोले—वाह हमारे पिता जी तो अन्दर बैठे हैं। आखिर सच्चे सेठ बोले—मैंने यह मकान इतने रुपयोंमें बनवाया है। तो वह सेठका रूप धारण किये साधु बोला—देखो यह तो मैंने तुझे शिक्षा देने वास्ते जाल रचा था, किन्तु चेतो सेठ जी ! अपना मूल धन ज्ञानदर्शन संभालो। एक चीज कोई तुम्हें एक घंटेको दे, कोई वस्तु एक साल दस सालको दे तो तुम उसे पाकर सन्तोष नहीं मान सकते। हाँ, जैसे तुम अपने बाप दादोंके घरको अपना मानो तो कदाचित सुख पा सकते हो। अभी भी इन्द्रजाल विद्या

७४५. स्वहित कार्यके लिये समग्र जीवनको ज्ञानीका धैर्य—यह मनुष्य किसी बहुत बड़े रोजिगारको जमानेके लिए यदि समझ रहा कि यह काम १० वर्ष बाद बन पायेगा तो भी वह जुटता है। काम बनना है १० वर्ष बाद, क्योंकि वह समझता है कि इतना ऊँचा यह व्यापारका काम है, १० वर्ष बाद जमने पर यह इतना उन्नतिशील हो जायगा कि सारी मेरी वाञ्छायें, कामनायें सब पूर्ण हो जायेंगी। तो बड़े कामके लिए लोग धीरता रखते हैं और बहुत समय भी लगा देते हैं। तो आप यह समझिये कि मुक्तिका काम कितना बड़ा है? शरीरसे, कर्मसे, देहसे छूट जाये और अनन्त चतुष्टयके धनी बन जायें।

सदाके लिए आनन्दमग्न हो जायें, यह काम कितना बड़ा है? कुछ बता सकेंगे आप? लाखोंकी करोड़ोंकी आमदनी कर ली जाय उससे भी बड़ा काम मुक्तिका है कि नहीं? तो बड़ा है ही। तो इतना बड़ा मुक्तिका काम करनेके लिए यदि हमारा सारा जीवन गुजरता है तो गुजरे, पर अपना तो यह निर्णय होना ही चाहिये कि हमें तो एक मुक्तिका ही काम करना है। मुक्तिका काम बहुत बड़ा काम है। इस भवमें यह काम पूरा न होगा तो दूसरे भवमें हो जायगा। इस महान कार्यके लिए कई भव भी लग जायें तो भी यही सारभूत काम है और यही काम करने योग्य है। मुक्ति, निर्वाण संकटोंसे छूटना, कर्मोंसे छूटना आदिकका काम ही एक मात्र सारभूत बात है, शेष सारभूत बात नहीं है। देहातीं, अनपढ़, मामूली जनोंके मुखसे अपने बारेमें प्रशंसाकी बात सुननेकी धुन रखना यह कोई बुद्धिमानीका काम नहीं है। तो जीवनमें केवल एक ही ध्येय रखना है, मैं सबसे निराला हूं, ज्ञानमात्र हूं, मैं ऐसे ही ज्ञानस्वरूपको निरखता रहूंगा तो मेरे कर्म कटेंगे, आकुलतायें दूर होंगी, समृद्धि बढ़ेगी, आत्मचमत्कार बढ़ेगा और निकट कालमें सर्वसंकटोंसे छूट कर मैं सदाके लिए सुखी हो जाऊँगा। केवल एक ही निर्णय रखना है, एक ही श्रम करना है, फिर गृ-स्थीमें रहकर क्या और कुछ नहीं करना है? वह सब कुछ अपने आप बनेगा, आपके थोड़े श्रमसे बनेगा। क्या ज्यादह मेहनत करनेसे ज्यादह धन आता है? देहाती, घसियारे, लकड़िहारे मजदूर आदि दिन भर कठिन परिश्रम करते हैं फिर भी उनकी अल्प आय चलती है और बहुतसे लोग अधिक श्रम भी नहीं करते, व्यापार कार्यमें पहुँच गए तो पहुँच गए, न पहुँचे न सही, पर एक बड़ी आय चलती रहती है। तो यह धन वैभव तो पुण्यकर्मके उदयसे स्वयमेव आता है। यहाँकी गरीबी अमीरी आदिक किसी भी स्थितिसे आत्माका कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है। आत्माका बिगाड़ तब है जब आत्मामें मोह आये, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहकी बात आये। अब अपने आपमें यह तो कमसे कम बात आनी ही चाहिए कि सच्ची सच्ची बात मेरे ज्ञानमें रहे। हम कुछ कर सकें, न कर सकें, वह बात अलग है, पर सच्ची बात मेरे ज्ञानमें रहे ऐसा यत्न तो होना ही

उदय आ रहे हैं मैं उनका ज्ञाता द्रष्टा मात्र हूं, कर्ता व भोक्ता नहीं हूं। इन भावोंसे महान् संवर और निर्जरा होती है। चौथे पांचवे छठवें गुणस्थानमें ऐसा ज्ञान श्रद्धान् ही प्रधान रहता है। क्रियामें कुछ अन्तर भी पड़ जाता है। चारित्रमोहका उदय जो साथ लगा है किन्तु जहाँ अप्रमत्त सातवें गुणस्थानमें पहुँचता है वहां प्रतिक्रमण आलोचना प्रत्याख्यानकी पूर्णता हो जाती है। केवल आत्मस्वरूपमें स्थिरता ही स्थिरता है। मोह कर्मके वश होकर जो कर्म मैंने कर डाले उनका मुझे पश्चाताप है, ऐसी बुद्धि बिना सामान्य तत्त्व आत्मानुभवके नहीं होती। बार-बार ऐसी आत्मतत्त्वमें धारणा होनेसे ज्ञानचेतना कहलाती है। इसी ज्ञानचेतनाके बलसे १४८ कर्मप्रकृतियोंका भी मैं कर्ता नहीं हू, यों निष्कर्माके चैतन्य का अनुभव दृढ़ होता है। आलोचना करते समय ज्ञानी सोचता है कि जो पहिले बाँधा पुण्य पाप कर्म था, उसका यह कार्य पापारंभ रूप प्रवृत्ति है, मेरे निज आत्माका यह कृत्य नहीं है क्योंकि मेरे शुद्ध आत्माकी प्रवृत्ति तो ज्ञान दर्शनरूप है, मैं केवल उदयागत प्रवृत्ति का ज्ञाता दृष्टा हूँ। मोहके विलासका फैलाव ही समस्त मेरी आलोच्य प्रवृत्तियोंमें है। राग द्वेष मोह परिणतियाँ आत्मज्ञान की विपरीततासे पैदा हुई हैं। भोजन गमन आदि सब क्रियाओंको संज्ञा बना कर केवल अस्ति या भवति क्रिया लगाकर जैसे वाक्य पूरे किये जाते हैं, वैसे ही मैं भी भोजन गमन अर्जन रक्षण, शयन, आदि क्रियाओंका ज्ञाता दृष्टा मात्र हूँ।

७४६. **आत्मसेवासे ही कृतार्थता**—भैया! कोई बड़ी तनख्वाह पाने वाला बन गया, अपने को अनेक आश्रितजन हाथ जोड़ने लगे, सब कुछ उन्नति हो गई, संन्तान हो गई, किन्तु सोचो अंतमें क्या होगा? क्या इस लौकिक विभवमें पचपच कर मरने से परम-सन्तोष हो जायगा क्या? मरके फिर अनेक गतियोंमें वही भ्रमण। कदाचित परोपकारमें धर्मबुद्धि मानता है किन्तु जो स्वयं निजरूपमें स्थिर नहीं होता। जो अपने सामान्यतत्व अनादि अनंत अहेतुक आत्माको नही समझता वह परके आत्माको भी क्या शुद्ध आत्मरूप अनुभव करेगा। बिना आत्मानुभवके किसका उपकार और कौन करे उपकार? जिस आत्माका उपकार करना है वह दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस शरीरका उपकार होता है वह क्षण नश्वर शरीर है। नश्वरका क्या उपकार? एक बार एक सेनापति लड़ाईमें लड़ रहा था। सायंकालका समय होनेसे वहीं हाथी पर चढ़े चढ़े प्रतिक्रमण बोलने लगा—जो एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय असैनी व सैनी पंचेन्द्रिय जीव मेरे द्वारा संजय हुये है वे सब मुझे क्षमा करो। किसी ने राजासे चुगली की कि जो सेनापति एक इन्द्रिय आदि जीवों के मरणका पश्चात्ताप करता है वह इतने बड़े प्रबल प्रतापी अनेक सेना सहित राजा को कैसे जीतेगा? राजाने चुगलपर कुछ भी ध्यान न दिया। अब दो चार दिन बाद इस धर्मात्मा सेनापतिकी विजय हो गई। राजा सेनापतिको धन्यवाद देने लगे तो सेनापति बोला—महा-

के द्वारा तुम अपना घर पानेमें कितना कष्ट अनुभव कर रहे थे, उसी तरह अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंद स्वभावको अपना मानो, उसी निज स्वरूपमें शान्ति है।

७४७. त्रिकालदोपनिवृत्तिकी ज्ञानमय भावना—ज्ञानी कर्मविविक्त अन्तस्तत्त्वका चिन्तन करता है। मैं अतीत अनागत वर्तमान काल संबंधी सभी कर्मोंको कृतकारित अनुमोदना और मन वचन कायसे छोड़ नैष्कर्म्य अवस्थाको प्राप्त होता हूं, सो भूतकाल संबंधी कर्मोंके त्यागको तो प्रतिक्रमण कहते है, वह प्रतिक्रमण करते समय सोचता है कि जो कर्म मैंने स्वयं किये और दूसरोंसे कराये और दूसरोंको करते देख अनुमोदना की, ऐसा मेरा पाप कर्म मिथ्या हो जाओ, छूट जाओ। लोकमें भी उक्ति है कि कहनेसे पाप और देनेसे ऋण छिकता या चुकता है। लड़केकी शरारतपर अध्यापकने उसे रोषमें आकर ऐसा कठोर दंड दिया कि अध्यापक स्वयं पछताने लगा। आखिर अध्यापक लड़के के पितासे बोला कि तुम्हारा लड़का बार बार शरारत करता था। दो चार बार हम आपको मुख जबानी पहिले कह भी चुके हैं। आज उसे कोपावेशमें कुछ कठोर दंड दे दिया गया है। तो अध्यापकके हृदयमें पश्चात्ताप देख और अपने लड़केकी सत्य भूल समझ पिता अध्यापकको क्षमा करता है। इसी तरह शुद्ध प्रतिक्रमणकी भावनासे पहिले कि ये पाप छूट जाते हैं, पापकर्मको संसारका कारण जानकर कौन विवेकी उससे न छूटना चाहेगा? कोई पापकर्म त्रियोगी होता है, कोई द्वियोगी और कोई केवल एकयोगी होता है। इसी तरह कोई पाप कर्म स्वयं किया जाता है, कोई दूसरेसे कराया जाता है और दोनों विकल्पोंको मिलाकर भी होता है और कोई कोई स्वयं भी किया जाता है, परसे भी कराया जाता है और अनुमोदना भी मिलाकर अधिकसे अधिक गाढ़ बंध बन जाता है ऐसे सभी पापकर्म मिथ्या हो जायें। ऐसी मान्यतासे, दृढ़ विचारसे पहिलेके पापकर्मोंसे यह विवेकी छूट जाता है। अब वर्तमान समय में भी मैं पापकर्म न स्वयं करता हूं, न दूसरोंसे कराता हूं, अभी न मैं मनसे पापकर्म विचारता हूं, न वचनसे कोई कठोर या असत्य वचन कह रहा हूं, न शरीरसे भी कोई पाप कर्म कर रहा हूं। इस तरह वर्तमान पापकर्मोंकी आलोचना करके आत्मशुद्धि करता है। यह ज्ञानी प्रतिक्रमण व आलोचनाकी भाँति प्रत्याख्यान भी करता है कि मैं भविष्यमें न मैं स्वयं पापकर्म करूंगा, न पापकर्मकी प्रेरणा दूसरोंको करूंगा, न दूसरोंको पापकर्म करते देख भला मानूँगा, न मनसे दूसरोंका बुरा सोचूंगा, न बुरा वचन बोलूंगा, न बुरा कार्य करूंगा—इत्यादि रीतिसे वह भविष्यमें पाप न करनेकी प्रतिज्ञा करता है। इस भाँति शुद्ध नयको अवलंबन करता हुआ ज्ञानी अतीत वर्तमान भविष्य तीनों काल सम्बन्धी कर्मोंको छोड़कर निष्कर्मपनेको अनुभव करता हुआ शुद्ध सामान्य ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव करता है।

७४८. ज्ञानीका अपना संचेतन—ज्ञानी सोचता है कि जो भी पुण्य पाप कर्म मेरे

कर पाता हूँ ? केवल दो समस्यायें सुलझाना है। मैं अपने आत्मस्वरूपका मालिक हूँ और आत्माके परिणमनको ही कर पाता हूँ, इसके आगे और बाहर कुछ नहीं करता। ये दो निर्णय हो जायें तो इस जीवको शान्तिका मार्ग मिल जायगा। यह अज्ञानी जीव इन दो चक्रोंमें पड़ा हुआ है। मानता है कि मैं वैभव राज्यका मालिक हूं और है कुछ नहीं। अरे जब समय आयगा तब इसे छोड़ना पड़ेगा। धर्मशालामें तो कह सुनकर १०–५ दिन और ठहर जायेंगे पर इस देहमें कह सुनकर एक मिनट भी नहीं ठहरा जा सकता। जैन कुल पाया, अच्छी जाति पायी, श्रेष्ठ मन पाया, श्रेष्ठ समागम पाया तो इन सबका पाना तब सफल है जब कि अपने ज्ञानको उन्नतिशील बना सकें। यदि ऐसा न कर सके तो ये सब पाना बेकार है। अब तो दिमाग बदलो, चित्त बदलो, बाह्यसे मुख मोड़कर अन्तर्मुख हो जावो। सार यहाँ ही मिलेगा। बाह्यमें लग लगकर अब तक कुछ सार भी मिला क्या ? भव-भवमें मोह कर करके सब कुछ तो निरख डाला, कुछ भी हाथ न आया। तो मोहमें, रागद्वेष परिणामसे कुछ नहीं मिलता और अपना सत्यस्वरूप दृष्टिमें रखे तो इस आत्माको सर्व-समृद्धि प्राप्त हो सकती है। इससे आत्मज्ञानके अर्जनमें आपका तन, मन, धन, वचन सर्वस्व लगे। सब कुछ लगाकर भी एक सम्यक्ज्ञान यदि प्राप्त किया तो आपने सब कुछ पा लिया, क्योंकि संसारसे तिर जायेंगे। और यह न पाया तो लाखोंका भी धन पा लिया तो आपने कुछ नहीं पाया। वह तो यहींका यहीं रह जायगा और यहाँ पाप विकल्प संस्कार ये साथ ले जायेंगे। इससे एक ही निर्णय रखना है कि मैं परका स्वामी नहीं, परका कर्ता नहीं। मैं अपने आपका स्वामी हूं और अपने आपके परिणामोंको करता हूं। इससे बाहर अन्य कुछ नहीं करता।

जीबो ण करेदि घडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुचओगा उप्पादगाय तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

७५२. निश्चयसे किसी भी पदार्थमें किसी अन्य पदार्थके कर्तृत्वका अभाव—कर्ता कर्म सम्बंधकी बात चल रही है। निश्चयसे एक पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं है। कर्ता होनेके मायने हैं परिणमाना। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको परिणमाता नहीं है, क्योंकि जब पदार्थ है तो स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य संयुक्त, जिसका भाव यह है कि मेरा अपने आपमें उत्पाद हो रहा और पूर्व पर्याय विलीन हो रही, और वह स्वयं बना हुआ है। जब उत्पादव्ययध्रौव्य स्वभाव है प्रत्येक सत्का तो वहाँ अधूरापन कहाँ है, और किसी दूसरेके द्वारा करनेकी बात कहाँ आती है ? फिर भी परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। जिस जीवके विभाव परिणामका निमित्त पाकर कर्मोंमें कर्मत्व अवस्था होती है और कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमें रागादिक रूप अवस्था होती है, यों निमित्तनैमित्तिक

राज ! जब आत्मसेवाका अर्थात् सामायिकका समय था तब मैं आपका चाकर नहीं था। अपनी आत्मकल्याण की भावना मैं विचारता था, शेष समयमें यह शरीर आपका चाकर बराबर रहा। सेनाकी परिणति सेनामें हुई, मेरी परिणति मेरेमें और पर सेना हारी सो उसकी क्रिया उसमें हुई।

७५०. मोहमें आत्मोन्नति माननेका व्यामोह--मोहमें आत्मोन्नति मानना तो विष पीकर संजीवन औषधिके फलकी चाह रखने समान विपरीत है। मेरा आत्मविवेक सावधान रहे तो अभी तक मैं जिस कर्म या शरीरके बंधनमें फंसा हूं उससे तुरन्त सुलझने का मार्ग पा सकता हूँ, वह आत्मविवेक है कि अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंदका अनुभव रहे। ज्ञानदृष्टिमें निन्दा द्वेष राग भाव जागृत नहीं होता, जहाँ मोह दृष्टि जगी वहाँ निन्दा स्तुतिमें द्वेप राग साकार होकर मेरा आत्मपतन करते हैं। इसी तरह जहाँ कर्मफलमें ममता छूटी, वहीं पीड़ाका भी अनुभव आत्मामें नहीं आता। बाँटो पूत पड़ोसी बराबर--इसी उक्ति से जबकि पुत्रकी ममता थी तो पुत्रकी रक्षार्थ स्वयं कष्ट माता पिता सहते है, स्वयं भूखी रहकर माता पुत्रको खिलाती है, स्वयं गीलेमें सोकर पुत्रको सूखे बिछौनेपर सुला देती है। किन्तु जब वह बड़ा होकर अविनयी हो जाता है तो माता पिता ममता तोड़ देते हैं। इसी तरह जब तक शरीरसे राग है तब तक उसकी रक्षामें मोह है। जहाँ शरीरसे राग छूटा कि शरीरकी पीड़ा आत्मा तक नहीं आती। कई बार देखा गया है कि लोभ कषायकी पुष्टिमें शरीरके कष्टको व्यापारी नहीं गिनते। ऐसे ही विवेकी आत्मानुभवमें शारीरिक कष्टको नहीं प्रतीत करते। शारीरिक मानसिक विकल्पोंसे आत्माको रागी द्वेषी बनाना ऐसी भूल है कि आप मानो किसी दुष्टकी अबोधकी अपने साथ की गई परिणतियोंको महत्ता देकर आत्मबल खोकर उस दुष्टको बड़ा बना रहे हैं।

७५१. परस्परके अकर्तृत्वसे ही पदार्थकी सत्ताका सद्भाव—बात यहाँ चल रही है कि मैं किसी भी परद्रव्यका ग्रहण करने वाला नहीं हूं। यदि किसी परका करने वाला होऊं तो मैं उससे तन्मय बन जाऊंगा। जैसे अंगुलीने स्वयं स्व अंगुलीको टेढ़ा किया, यह और कुछ तो नहीं कर सकती अंगुली। दो अंगुली मिलकर सींक तोड़ दें, तो उन अंगुलियोंने सींक नहीं तोड़ा, उन्होंने तो अपनी एक क्रिया की, नाच किया। तो यह अंगुली जो कुछ कर सकती है उसमें तन्मय हो गई, इसी तरह यह मैं आत्मा जो कुछ कर सकता हूं उसमें तन्मय रहता हूं। मै अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, विश्वास, उपयोग, कल्पनायें इनको तो करता हूँ किन्तु बाह्यमें कुछ नहीं करता। यदि मकान बना लूँगा तो इसका अर्थ है कि मैं मकानमे तन्मय हो गया। मैं मकान बन गया, जड़ बन गया, पर जड़ होना तो किसीको इष्ट नहीं है। तो यहाँ दो पक्के निर्णय बनाना है कि मैं किसका मालिक हूं और मै क्या

योग और उपयोग निमित्त है, जीव निमित्त नहीं है। दूसरे द्रव्यके परिणमनमें द्रव्य निमित्त नहीं है किन्तु द्रव्यकी पर्यायें निमित्त हैं। योग और उपयोग जीवके कदाचित होते हैं, वे नित्य चीज नहीं हैं, इसलिए नित्य कर्तृत्व भी न आयगा। यों यह बात सिद्ध हुई कि जब यह जीव योग और उपयोगमें रहता है उस समय तो कर्मप्रकृतियोंका यह निमित्त होता है। और जब नहीं है योग और उपयोगमें तब निमित्त नहीं है।

७५४. **कर्मसन्न्यास और आत्मस्थिति**—नक्कारोंकी महान् आवाजमें तूती या सीटी की आवाज कौन सुने। इसी तरह आत्मानुभवकी दृढ़ता आनेपर प्रबल असाता कर्म ऐसे खिर जाता है मानो चिकने घड़ेपर मनों पानी डाला किन्तु भीगा जरा भी नहीं, दुःखकी झलक तक उसके रोमपर नहीं, इसी तरह जिस विवेकीको आत्मानुभव हो जाता है उसके संवर निर्जरा ही सफलतारूपमें आत्मकल्याण करते हैं। सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी चौथे गुणस्थानवर्तीके इकतालीस खोटी प्रकृतियाँ बंधसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि की परिणति ऐसी सुधर जाती है कि प्रबल पापरूप ४१ प्रकृतियोंकका वह बंध नहीं करता। प्रथमगुणस्थान छोड़ा कि १६ प्रकृतियाँ बन्धसे हटीं 'मिच्छत्त हुंड संढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं। सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुगिणरयाउगं मिच्छे ॥९५॥ १—मिथ्यात्व, २—हुंडक संस्थान, ३—नपुंसकवेद, ४—असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, ५—एकेन्द्रिय, ६—स्थावर, ७—आतप, ८—सूक्ष्म, ९—अपर्याप्त, १०—साधारण, ११—दोन्द्रिय, १२—त्रीन्द्रिय, १३—चतुरिन्द्रिय, १४—नरकगति, १५—नरकगत्यानुपूर्वी, १६—नरक आयु, इन १६ का अगले गुणस्थानमें बंध नहीं और दूसरे गुणस्थानमें "बिदिय गुणे अणथीणति, दुभगतिसंठाणसंहदिचउक्कं। दुग्गमणित्थीणीचं तिरियदुगुज्जोवतिरियाऊ ॥९६॥ ये बंधव्युच्छिन्न हो जाते है अर्थात् दूसरे गुणस्थानको छोड़ते ही ४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ निद्रा-निद्रा, ७ प्रचलाप्रचला और ८ दुभगति अर्थात् दुर्भग, ९ दुस्वर, १० अनादेय। ११ से १४ न्यग्रोधादि ४ संस्थान, १५ से १८ वज्रनाराचं आदि ४ संहनन और १९ दुर्गमन यानी अप्रशस्त विहायोगति २० स्त्री वेद २१ नीचगोत्र २२ तिर्यंचगति २३ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २४ उद्योत २५ और तिर्यगायु ये पच्चीस प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थानके अंतमें बंधसे व्युच्छिन्न हो जाती हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्व प्रकृति और अनंतानुबंधी चतुष्कके दब जाने से जब सम्यग्दर्शन या आत्मानुभवका श्रद्धान हो जाता है तो इन इकतालीस प्रकृतियोंका बँध नहीं होता। घरमें जब कभी दो भाइयोंमें लड़ाई हो जाती है तब एक कहता है भाई लो हमें तो कुछ नहीं करना, तुम्हें जो करना हो करो, इसी तरह सम्यग्दृष्टि कर्मोदयमें भी फलका भोक्ता नहीं होता, उसकी दृष्टि केवल आत्मानुभवमें लगी है। सारे कर्मफल

भाव तो है पर कर्ता कर्म भाव नहीं है, लेकिन अब इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि किसी भी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यके साथ निमित्तनैमित्तिक भाव भी नहीं हुआ करता। तो इसका अर्थ यह है कि कोई द्रव्य किसी अन्यका किसी भी प्रकार कर्ता नहीं है। न निमित्तनैमित्तिक भावोंकी दृष्टिसे, न उपादान उपादेय भावकी दृष्टिसे। उपादान-उपादेयकी दृष्टिसे तो स्पष्ट है कि एक द्रव्य दूसरेका कर्ता नहीं है। उपादान-उपादेय भावसे कुम्हार घड़ेको बनावे, जीव क्रोधादिक कर्म प्रकृतियोंको बनाये तो इसका अर्थ यह होगा कि वह उसमें तन्मय हो गया। निश्चयसे कर्ता कर्ममें तन्मय मिलेगा। जैसे अंगुलीने अपने आपको टेढ़ा किया तो अंगुली उस टेढ़ी अवस्थामें तन्मय ही तो है, अलग कोई बात तो नहीं है। तो यों उपादान-उपादेय भावसे जीव कर्मप्रकृतिको करने लगे तो इसका अर्थ है कि जीव कर्ममय हो गया, कुम्हार घड़ेको करने लगे निश्चयसे तो इसका अर्थ यह होगा कि कुम्हार घड़ारूप हो गया, अब कुम्हार नहीं रहा। तो तन्मयताका प्रसंग आता है यदि उपादान-उपादेय भावसे एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता माना जाय, क्योंकि वहाँ व्याप्यव्यापक भावसे कर्तृत्व माना गया है। निश्चयसे कर्तृत्वका जहाँ वर्णन है, उपादान-उपादेय भावसे कर्तृत्वका जहाँ वर्णन है वहां व्याप्यव्यापक भाव निरखा जायगा। एक पदार्थ जो उस पर्यायका अंग भी रहेगा वह तो है व्यापक और उसमें व्याप करके पूरे रूपसे रहने वाले जो परिणमन हैं वे हैं व्याप्य। व्याप्यव्यापक भावसे, उपादान-उपादेय भावसे अथवा निश्चयदृष्टिसे आत्मा कर्म प्रकृतियोंका कर्ता नहीं है।

७५३. निमित्तदृष्टिसे भी जीवका परमें अकर्तृत्व—यदि कोई कहे कि निमित्तनैमित्तिक भावसे हो जायगा कर्ता अर्थात् यह जीव ही तो निमित्त है, उन पुद्गल कर्म प्रकृतियोंके करनेमें, तो जीवद्रव्य तो सदा रहता है फिर सदा ही कर्मप्रकृतियोंका कर्ता रहना चाहिये। सो तो रहता नहीं। तब फिर बात है क्या कि जीव पुद्गल कर्मका या किसी अन्य पदार्थका घट पट आदिकका उपादान-उपादेयसे तो कर्ता नहीं, पर निमित्तसे भी कर्ता नहीं। कर्ता कौन है कि उस जीवके जो योग उपयोग हैं, जो कि अनित्य हैं वे निमित्त होते हैं करनेमें। उससे सीधा भाव यह आया कि जिस किसी कामके करनेमें निमित्त क्या पड़ा? जैसे पुस्तक लिखी तो लिखनेमें निमित्त क्या हुआ? हाथका उस प्रकार चलना। हाथके चलनेमें निमित्त क्या हुआ? शरीरमें भरी हुई वायु चल उठी, उस शरीरगत वायुके चलनेमें निमित्त क्या हुआ? आत्माके प्रदेशोंमें उस प्रकारका योग परिस्पंद हुआ। आत्माके उस प्रकार योग चले, परिस्पंद हुआ, इसमें निमित्त क्या हुआ? जीवने इच्छा की। तो अब देखिये—उस इच्छाकी डोरीसे नैमित्तिक होते होते यह पुस्तक लिखना, मकान बनाना आदिकका कर्तृत्व निमित्तमें यह जीव आया। पर जीव नहीं आया, जीवका योग आया, जीवका विकल्प आया। तो

ज्ञानानन्द रूप आत्मानुभवमें ही मग्न होकर इहलोकभय परलोकभय आदि ७ भयोंसे अपने को मुक्त निःशंक अनुभव करता है।

७५६. अनुभवका स्थान—जो पूर्व जन्ममें आत्मानुभवसे भिन्न अशुद्ध भावों द्वारा किये गये कर्मरूप विषवृक्षके फलोंका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् सुख दुःख या रागद्वेषके विकल्प नहीं करता वह अपने ज्ञानानन्दस्वभावमें संतोष पाता है। कदाचित् उदय कालमें रम्य लगने वाले सातोदयजन्य विषयोंमें मग्न होनेका अवसर भी आता है तो तुरन्त अपने आत्मानुभवकी संचेतनामें पहुँचकर उन विषयोंकी पराधीनता अस्थिरता परिणामकी आकुलता और निःसारता अनुभव करता है। शास्त्रोंका ज्ञान वही बटोरेगा जिसे बहुत जीने की इच्छा हो। कहा भी है कि 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥' जो अपने को अजर अमर समझेगा वह विद्याको और धनको संचित करेगा और जिसे यह अनुभव हो जाये कि अब मेरी मृत्यु निकट है वह विद्या और धन संचयके विकल्पजालको छोड़कर आत्मानुभवरूपी परमधर्ममें लगेगा। आज संसारमें कितनी ज्ञानकी बढ़वारी हो रही है, कितनी कितनी प्राथमिक माध्यमिक शालायें और कालेज अथवा यूनिवर्सिटियाँ खुल रही हैं, विज्ञान और कला कौशलकी उन्नति हो रही है किन्तु परिणाम वही सर्वनाश नजर आता है। अस्त्रशस्त्र चुपचाप बनाये जा रहे हैं। ऐसे ऐसे बम बनाने की बाजी लग रही है कि कमसे कम बोझके बमसे अधिकसे अधिक दुनियाका संहार हो सके। जितने अधिक कानून बनते जा रहे हैं मानों उतनी भूलभुलैया छल फरेबोंके प्रचार बढ़ रहे हैं, जितनी दवायें, मिक्श्चर बढ़ रहे हैं वे उतने अधिक रोगोंके प्रचारका प्रमाण दे रहे हैं, आये दिन अनेक धर्मों पन्थों व मतोंका प्रचार बढ़ रहा है किन्तु आत्मकल्याण व आत्मसंतोष इन सब विकल्पोंसे भिन्न स्वानुभवमें ही है। जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ अर्थात् मैं धर्मके स्वरूपको जानता हूँ किन्तु जानकर भी मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं है और अधर्म अर्थात् पापपरिणतिको भी युक्ति आगम व वेदोंसे जानता हूँ किन्तु मेरी परिणति उन पापपरिणतियोंसे भिन्न नहीं होती। अनादिकालसे जो मोह मायाके संस्कार लगे हैं उन्हीं में फंसकर मनुष्य जीवनकी महत्ता को भूलकर जीती बाजी हार रहे है। यथार्थमें सुखकी चाह हो तो विरक्ति की भावनाको पूर्ण भाकर आत्माके एकत्वपनेको दृढ़ करो।

७५७. आत्मानुभवमें ही ज्ञानकी पूरकता—कदाचित तुम चाहो कि मैं स्त्री पुत्रादि को उनके कर्तव्यमें सावधान कर फिर वैराग्य लूंगा तो हे विवेकी! प्रथम तू अपने प्रधान कर्तव्य आत्मानुभवमें सावधान हो। लौकिक भावनाओंकी तो पूर्ति की बात सोचना मानों वस्तुतत्त्वकी अनभिज्ञता है, कारण कि लौकिक भावनाएं तो कभी पूर्ण होनेकी नहीं।

त्याग देनेसे मेरा सब क्रियाओंमें बिहार रुद्ध हो गया, आत्मानुभवमें दृढ़ता आ गयी, ध्रुव वस्तु जो अभेद आत्मतत्त्व है उसके चिन्तवनमें स्थिरता आ गई। ये कर्मफल या विषय अध्रुव हैं! मैं इनमें स्वाद नहीं लेता। कोई मुझसे कहे, लो थोड़ी देरको तुम मेरे घरके मालिक बन जाओ। पीछे मैं तुम्हें अलग कर दूंगा तो ऐसी मालिकी कौन लेवे, जिसमें पीछे तिरस्कार भरा है। सदा उसी अवस्थामें क्यों न रहूं जिसमें स्वाधीन स्थिरता है, शान्ति है। अतः अनादि अनंत अहेतुक ध्रुव आत्माके अनुभवमें दृष्टि स्थिर करो, पर्यायबुद्धि करते, पर घर फिरते, अनेक स्वांग भरते मरते जन्मते क्या सार पाया ?

७५५. शुद्धभावका बल--निराकुलता आत्माके शुद्ध अनुभवमें है। एक बार राजाने एक रसायनसिद्ध विद्या वाले साधुसे दवा माँगी कि साधो ! मुझे ऐसी दवा दो कि १० रानियोंके साथ कामभोग कर लूं और थकान न आवे। राजाकी प्रार्थना पर १ गोली राजाको दी और ४ गोलियाँ स्वयं राजाके सामने खा गया। राजा ने गोली खाई और मन-चाहा भोग १० रानियोंके साथ भोगा। दूसरे दिन फिर राजाने २ गोलियां मांगीं। साधुने भी राजाको २ गोलियाँ दे दीं और स्वयं ८ गोलियाँ खा गया। राजाने सोचा ये बाल-ब्रह्मचारी साधु इन गोलियोंका प्रभाव कैसे सहन करेंगे, सो उस रात अपनी लालसा तो राजाकी दब गई। राजाके मनमें तो साधुपरीक्षा की बात लग गई कि साधुको देखना चाहिये कि वे महाराज अभी क्या कर रहे हैं, किन्तु वहाँ वे योगिराज ध्यानमग्न बैठे थे। राजाने पूछा—महाराज आपको कामविकारने क्यों नहीं सताया तो साधुने कहा—शक्ति गोलियोंमें नहीं है, शक्ति है अपने विचारोंमें। तुम अपने नौकरको ये दो गोलियाँ खिलाओ आज शामको और कहो कि कल प्रातः तुम्हारा सिर कटवा लिया जायेगा। देखो रात्रिमें कितना तो वह भोग करता है और कितना उसके शरीरका बल और बोझ बढ़ता है, कितनी आनन्द लहरें उसके चेहरे पर खेलती हैं ? तब उन गोलियों की मादकता उस नौकर पर बिल्कुल नहीं आई, कारण कि प्राण जानेके लक्ष्यके आगे सभी विकल्प दब गये। इसी तरह अगर विवेकी यह समझ ले कि अपने आत्मानुभवको छोड़ परवस्तुओंमें राग द्वेष परि-णति बनानेसे केवल कष्टके सिवा कुछ नहीं मिलनेका, परवस्तु कभी अपनी हुई नहीं। अपनी वस्तु अपनी है "धन समाज गज बाजि राज तो काज न आवे। ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे ॥ तासु ज्ञानको कारण स्वपर विवेक बखानो। कोटि उपाय बनाय भव्यताको उर आनो ॥" सो हे भाइयों ! शास्त्रोंके स्वाध्याय व ध्यानका प्रयोजन यही है कि मेरा आत्मा आत्मानुभवमें लग जाये। बड़ा ज्ञानी होकर अज्ञानकी परिणति अपनेमें क्यों रक्खूं, इसी तरफ ज्ञानचेतनाके अनुभव व उपयोगसे कर्म चेतना और कर्म फल चेतना रूप अज्ञान परिणतियाँ उसके नहीं रहतीं। वह तो अनादि अनंत अहेतुक सामान्य तत्त्व

है ? देश विदेश घूमता है, दिन रात प्रयत्न करता है, झूठ सच बोलता है, किन्तु क्या ऐसा करनेसे शान्ति मिल जाती है, नहीं । "अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंद स्वभावके अनुभव बिना शान्ति मिलनेकी नहीं, पूजा स्वाध्याय गुरुसेवा दान संयम तप द्वारा इसी आत्मानुभव तक पहुँचना है, किन्तु इस आत्मानुभवरूपी धन की रक्षाको बहुत सावधानी चाहिये । मित्र पुत्र परिवार दैनिक पत्र बाजार बाग सिनेमा आदि सभी भौतिक सामग्रियाँ आत्माको भूलभुलैयामें ही डालकर चतुर्गति भ्रमण कराती हैं । आत्मानुभव करनेको तो इन सबका संग छोड़ स्वतंत्र ज्ञानानंद रूप आत्माका अवलंब ही प्रधान है । मूर्ति भी इसी आत्मानुभवकारक जिनेन्द्रकी होनेसे पूज्य है, जिसकी स्थापनाकी और जिसमें स्थापना की ये दो चीजें हैं तो दोनोंमें प्रधानता उन्हीं आत्मानुभवी स्थाप्य जिनेन्द्रकी है ।

७५९. अन्तर्ज्ञानकी प्रयोज्यता—हम शब्दमें ज्ञानकी स्थापना करते हैं और चौकी पर शास्त्रकी स्थापना करते हैं अथवा द्वादशांगको सरस्वतीकी मूर्ति मानते हैं किन्तु यथार्थमें निज आत्माकी अनुभूति ही सरस्वती है । कागज कलम दवात अक्षर इस बाहिरी रूपमें न सरस्वती है, न आत्मानुभव है । जीवके ज्ञानपना है—ऐसा व्यवहार धर्म धर्मीकी अपेक्षासे है, ज्ञान ही दीक्षा है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही त्याग है, ज्ञान ही क्षमा है, ज्ञान ही मार्दव है, ज्ञान ही आर्जव है, ज्ञान ही ब्रह्मचर्य है । इस भाँति जीव पर्यायोंमें सामान्यपर्यायी ज्ञान को देखो । इन सर्वपर्यायोंका राजा ज्ञान है । सर्वद्रव्योंसे भिन्न आत्माका ज्ञानस्वभाव अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष रहित है, यही एक निज ज्ञान स्वभाव देखने योग्य है । इसी ज्ञान स्वभावके दर्शन और चारित्र नामान्तर है । इस शैलीसे आत्माके ज्ञानरूपमें अभिन्नता आती है, दीक्षा है, पाप पुण्य है इत्यादि विकल्प भी ज्ञानका ही है । यहाँ तक कि ज्ञानका विकार परिणमन ही क्रोध मान माया लोभ रूप है । तपस्याको करता हुआ जीव चौथे गुणस्थानसे आगे बारहवें गुणस्थान तक उन्नति करता हुआ ज्ञानके विकल्पोंको देखता है, किन्तु यह परिणमन अशुद्ध उपादान ज्ञानका है । तेरहवें गुणस्थानमें शुद्ध पारिणामिक भावरूप केवल-ज्ञान समयसार रूपका ग्रहणमात्र है । यह शुद्ध आत्मा अचेतन पदार्थोंसे जैसे भिन्न है वैसे ही अन्य आत्माओंसे भी भिन्न है । प्रारंभमें मोक्षमार्ग पानेके लिये जितनी प्रयोज्यता कीमत भेदज्ञान या आत्मानुभवकी है, उतनी प्रयोज्यता केवलज्ञानकी नहीं । आरंभमें गणित विद्या में जो आवश्यकता १ से ९ तकके अंकोंकी है वैसी आवश्यकता हूटा ढोंचा पोचा या भिन्न दशमलवकी नहीं । अगर गणित की शुरुआत १ से ९ तकके अंकोंकी महत्त्वकी है तो मोक्ष-मार्गमें भी महत्ता अनादि अनंत अहेतुक सामान्य तत्त्व ज्ञानानंदरूप आत्माके अनुभवकी है । सहजशुद्ध परम समयसार सत्त्वरूपसे सब आत्माओंमें है, उसे जिसने पहिचाना सो निहाल । भूतार्थनयसे शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान करो ।

कोई इसी विकल्पमें पड़ जाये कि पहिले पूर्ण ज्ञानी बन जाऊं, पीछे आत्मानुभव आत्म-कल्याण कर लूंगा, सो इस शास्त्रज्ञानकी भी पूर्ति कठिन है। शास्त्र आगे पढ़ते हैं और पीछेके शास्त्रको भूल जाते हैं। शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा: यस्तु क्रियावान् पुरुष: स विद्वान्। अत: आत्मानुभवन करना यही श्रेष्ठ क्रिया आत्मकल्याणकारिणी है। शास्त्रज्ञान ज्ञान नहीं है। क्योंकि शास्त्रके पत्र व अक्षर तो कुछ जानते नहीं। सच्चा ज्ञान तो आत्मा-नुभव है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। शब्द ज्ञान भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द भी स्वयं कुछ जानता नहीं। ज्ञान अन्य है, शब्द अन्य है। अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानन्दरूप आत्मा शब्द-गोचर नहीं है। जैसे आत्मा शब्द व श्रुतरूप नहीं है उसी भाँति आत्मा न किसी रूप वाला है, न किसी गंध वाला है, न किसी स्पर्शवाला है। इसी भाँति आत्मा न पुण्यकर्म रूप है, न पापकर्म रूप है। आत्माका स्वरूप पुण्य पाप दोनोंसे रहित शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है। इसी भाँति परजीवकी रक्षा रूप जो धर्म है वह आत्माका निज शुद्ध रूप नहीं है। अपनी आत्मा को रागद्वेषसे हम सदा मैला बनाते रहते हैं इसीसे परदया तो आसान है किन्तु आत्मदया कठिन काम है। इसी भाँति मुनि पदकी दीक्षा ले लेना, ऐलक क्षुल्लकका वेष बना लेना भी आत्माका निज ज्ञायकरूप नहीं है। धर्म अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य कालद्रव्य भी आत्माके ज्ञानरूप नहीं हैं। ये समस्त भेद अजीवद्रव्यके हैं। जीव इन रूप कैसे हो सकता है? इसी भाँति अध्यवसान भी आत्माका ज्ञायक रूप नहीं है।

७५८. अन्तस्तत्त्वकी उपासनामें सर्व कौशल्य—आत्मामें जो स्वयं ज्ञानकी तरंगें उठती हैं इस एक मूल सामान्य पर्यायी आत्माका अनुभव करो। आत्मस्वभावमें आनेको बहुत शास्त्रोंका ज्ञान लादना जरूरी है, ऐसी बात नहीं है। कहा भी है कि "न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं, न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मन:। स्वभाव एवात्र तथाऽतिरिच्यते, यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पय:॥" जब भी हम राग द्वेषके विकल्पोंको छोड़ सकें नभी आत्मानुभवमें आ सकते हैं। पुस्तकें तो बातका बतंगड़ बनाती हैं, सब वेदोंका सार यही समयसार है अर्थात् अपनी शुद्ध आत्माका अनुभव करना। आत्मविवेक बिना तो ज्ञान भार है, धनीको धन भार है कंजूसीसे कदाचित उस धनसे साधुओंके सत्संगमें रहनेका अवसर प्राप्त करें। घर व्यापारसे ममता तोड़ भेदज्ञानकी प्राप्तिमें प्रयत्न करें तो किसी एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे धन भी आत्मानुभव या आत्मसाधनाका साधन माना जा सकता है। आत्मसुधार की मूल तो आत्मभावना ही है। न्यायालयमें प्रतिवादीका वकील अपने झूठे पक्षके समर्थन को कितनी बहसें तैयार करके रखता है। पर क्या वहां न्यायाधीशके समक्ष सबका प्रयोग होता है और क्या जिन जिन बहसोंका वह प्रयोग करता है क्या उन बहसोंसे उसे सफलता मिल जाती है, नहीं। इसी तरह यह संसारी शान्ति सुख पानेके लिये कितने प्रयत्न करता

लोग करते हैं लेकिन मेरा देह नहीं, इसका स्पष्ट भान तब ही हो सकता है जब कि प्रत्येक पदार्थका स्वतंत्र स्वरूप चित्तमें आये। अन्यथा यह कहने भरकी बात है; सभी लोग कहते हैं, देहाती मूर्ख बालगोपाल सभी ऐसा कह देते है लेकिन वस्तुके स्वरूपके यथार्थ बोधके साथ यह बात आये तो वह है सच्चा भेदविज्ञान। स्थूलदृष्टिसे ही देख लो—जिसे माना है कि यह पुत्र है, स्त्री है, घरके लोग हैं तो आप केवल मान ही तो रहे हैं। हो तो नहीं गए आपके। जब तक जिन्दा हैं, मेल है, समागम है तब तक भी आपके नहीं हैं। किसीके मरणके बाद तो लोग झट कह देते हैं कि जिन्दाकी पर्यायमें भी किसीका कोई कुछ नहीं है और व्यर्थ ही यह समय इस तरह गुजारा जा रहा है। मोहमें, अज्ञानमें, लगावमें समय गुजारा जा रहा है। मैं जीवद्रव्य हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, सहज ज्ञानस्वभावमात्र यह मैं किसी भी प्रकार परद्रव्यका कर्ता नहीं हूँ। लोग कर्तृत्वके अहंकारमें बहुत व्यस्त रहा करते हैं। मकान बनवाया, बहुत मजबूत बनवाया, कब तक रहेगा? चार पांच सौ वर्ष, हजार वर्ष तो नहीं टिक पाते हैं मकान भी। तब फिर उसके बनवानेका विकल्प करके पा क्या लिया? गृहस्थीमें व्यवस्था बनाना चाहिये परिजनोंकी, ठीक है लेकिन लोग तो मोहकी आसक्तिसे अपने आत्माकी भी सुधि न रखकर, बेसुध होकर व्यवस्था किया करते हैं। उसमें जीवको मिला क्या? तो जीवद्रव्य जो है सो ही मैं हूं। मैं वह हूं जो ध्रुव हो, सदा रहने वाला हो, किसी दूसरेके कारणसे नहीं बना। आनन्दमय हूँ, वह तो मैं हूं, ऐसा यह मैं किसी दूसरे पदार्थके किसी परिणमनमें निमित्त भी नहीं हूं, उसकी परिणतिमें उपयोग योग ये निमित्त हैं।

७६२. द्रव्यपरिणमनमें ही निमित्तत्वकी संभवता—यहाँ कोई यह तर्क न करे कि योग उपयोग भी तो जीवकी चीज है, उसे निमित्त मानें या जीवको निमित्त मानें? उसमें अन्तर क्या है? समाधान यह है कि अन्तर है। यद्यपि जिस पर्यायमें निमित्तपना हो रहा है उस पर्यायमें यह आत्मा तन्मय है लेकिन आत्मा तो अनादि अनन्त है और ये योग उपयोग सादि शान्त हैं। लोकव्यवहारमें भी निरख लो, रोटी बननेमें निमित्त कौन है? तो कहते हैं कि महिला है, पर महिला निमित्त है या महिलाके हाथका चलना निमित्त है? तो रोटी बननेमें महिला निमित्त नहीं है, महिलाका उस प्रकारसे हाथका चलना निमित्त है। आप कहेंगे कि वह हाथका चलना कोई महिलासे बाहर है क्या? नहीं है बाहर। लेकिन उस प्रकारका हाथका चलना तो कुछ समयके लिए है। और महिला २५, ५० वर्ष तक जिन्दा है, यदि महिला निमित्त हो तो ५० वर्ष रात दिन रोटी ही रोटी बनना चाहिये क्योंकि वह महिला रोटी बननेमें निमित्त हो रही है। और महिलाका उस प्रकारका हाथ का चलना निमित्त है तो जब हाथ चले तब निमित्त है और जब हाथ न चले तो निमित्त

७६०. ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वसे हटकर बहिर्बुद्धि होनेसे आकुलताकी निष्पत्ति—यहाँ दृष्टि यह देना है कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं मेरा स्वरूप क्या ? मैं अपनेको क्या कर लूं कि मैं अपने वास्तविक सहज स्वभावपर पहुँचूं और विश्वास कर लूं कि मैं निज सहज स्वभाव-मात्र हूं। तो निरखिये अब अपनेको, मैं क्या हूं ? यदि अपनेको किसी पर्यायरूप मान लिया कि यह मैं हूँ तो उसका फल नियमसे आकुलता है। जैसे आजकल बड़े संकट सहे जा रहे हैं। जितने भी क्लेश हो रहे हैं उन क्लेशोंके मूलमें है क्या ? पर्यायमें आत्मबुद्धि है, जहां माना कि मैं अमुक लाल अमुक चन्द आदिक हूँ तो देखो कि आत्माके शुद्ध स्वरूपकी सुधि भूल गया और मान लिया कि मैं अमुक चन्द हूं, अमुक प्रसाद हूं। तो मैं अमुक हूं, अमुक का पिता हूं, अमुकका मित्र हूं, इस तरहसे जब बुद्धि विचलित होने लगी तो उसके फलमें नियमसे आकुलता है। क्योंकि बाह्य पदार्थ मेरी इच्छाके अनुसार परिणाम जाय एक तो यह कठिन है और परिणाम जाय तो चूंकि अज्ञानमें इस जीवने अपने स्वरूपसे दृष्टि खोकर बाह्य में दृष्टि लगाया तो बाह्यमें दृष्टिके लगनेका फल ही आकुलता है। इससे शान्ति चाहिये हो, शान्तिका मार्ग चाहिये हो, मुक्तिका साधन बनाना चाहते हो तो अपने आपमें ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञानमात्र हूं। यह जीव रात दिन बाह्य विकल्प बनाये रहता है, बाह्य बातोंका, पदार्थोंका विचार किया करता है। इस कारणसे यह बेचैन रहता है। कैसा सब कुछ एक विभूति बनाया, कैसा आराम वाला घर है, इस तरह के आरामके साधन हैं। विषयोंके साधनभूत पदार्थोंमें प्रीति भी हो रही है। चाहे वैभव कितना भी जुड़ जाय, उसके प्रसंगसे कुछ न कुछ तरंगें उठती ही हैं। ऐसी हालतमें जीवको कुशल कहाँ है ? जैसे स्वप्नमें कोई अपनेको बड़ा यशस्वी राजा मान ले तो उस समय तो सत्य विदित होता है कि बात ठीक है लेकिन जगनेपर स्पष्ट हो जाता है कि वह सब मिथ्या था; कुछ था ही नहीं, कुछ बात ही न थी और कल्पनाके पुल चल रहे थे। इसी प्रकार मोहकी नींदमें यहाँ आँखोंसे निरख निरखकर विश्वास बनाया जा रहा कि यह मेरा ही तो है, यह मेरा ही तो घर है। मैं ऐसी इज्जतसे रह रहा हूं, ये सारी बातें बनायी जा रही हैं। है कुछ नहीं, ऐसा भीतरी विश्वास किए बिना शान्ति तो मिल नहीं सकती। बाहरी परिग्रहोंके जोड़ जोड़के विकल्पोंमें ही गुजारा तो चल न सकेगा। सोचना पड़ेगा कभी हृदय से। समझना होगा कि मेरा जगतमें अन्य कुछ है ही नहीं। मेरा ही स्वरूप मेरा सर्वस्व है, मेरा अन्य कुछ नहीं।

७६१. स्वरूपचतुष्टयकी समझपूर्वक भेदविज्ञानकी भेदविज्ञानरूपता—वैसे लोग कल्पना से मोटे विवेकमें कहते हैं कि मेरा तो शरीर भी नहीं है। देखो शरीर छोड़कर भी जाना पड़ता है, मरण होता है। तो मेरा तो यह देह भी नहीं, ऐसी बात कभी-कभी ये मनुष्य

रागादिक का मैं निमित्त बन जाऊँ तो ये सदा रहना चाहिए। सो रहते नहीं। इससे निर्णय करें कि मैं जीवद्रव्य हूं, अनादि अनन्त हूँ, अहेतुक हूं, ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानमात्र हूं ऐसी प्रबल श्रद्धा रहेगी तो वहाँ परमें आकर्षणकी बात न रहेगी। मैं ज्ञानमात्र हूं। अपना भला अपने आपसे होगा, अपने ही द्वारा होगा। तो उस अपने आपको निरख लीजिये कि जो मैं सदा रहता हूं तब यह भी ध्यानमें आयगा कि मैं किसी परको उपादान रूपसे कर्ता नहीं लेकिन यह भी ध्यानमें आयेगा कि मैं किसी भी कार्यका निमित्तसे भी कर्ता नहीं हूं, क्योंकि यहाँ अपनेको सोचा गया है केवल विशुद्ध द्रव्यस्वरूप। वह मैं हूं—ऐसा अपनेको ज्ञानमात्र सोचनेसे जो स्थिति बनती है उसमें यह शंका नहीं करना है कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ऐसा ही भावमें आ गया तो फिर घरका क्या होगा? परिजनोंका क्या होगा? उनका उनके भाग्यसे होगा। जब भी हम लग रहे है उनमें तो निमित्तनैमित्तिक की व्यवस्था है। मैं जो ज्ञानमात्र तत्त्व हूं सो किसीका कर्ता नहीं। केवलज्ञानस्वरूप निहारें, निरन्तर उसपर दृष्टि दें तो ज्ञानका अनुभव होगा और तभी समझिये कि हमने अपने जीवनकी सफलता पायी, श्रेष्ठ कुल मिला, इन्द्रियाँ खूब मिलीं, प्रबल मिलीं तो इन सबका उपयोग यही है कि जिस किसी भी प्रकार हो, परपदार्थोंसे हटकर मैं अपने आत्मतत्त्वमें ही लगूं। निर्णय करना है कि मैं मेरा हूँ, मैं मुझको करता हूं, मुझसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा अकिञ्चन अपने आपको देखने पर ये समस्त झंझट दूर हो जाते हैं। जैसे कोई जलचर जीव जलके ऊपर मुँह उठाये जा रहा है, पक्षीगण उसे चोंटते हैं तो वह क्या करता है? जलचर तो था ही। जलमें प्रवेश कर जाता है, जलमें प्रवेश करनेपर फिर वे सारी विपदायें दूर हो जाती हैं। इसी तरह यह मैं आत्मा उपयोगस्वरूप अपने इस ज्ञानसमुद्रसे हटकर ऊपरको उपयोगकी चोंच लगाये बैठा है। उस समय चूंकि तरंगें उठती हैं, आत्माकी स्थिरता नहीं होती है, विकल्प बनते हैं। बहुत कुछ विकल्पोंके बाद जब कुछ दृष्टि ठीक बने और समझमें आये कि मैं ज्ञानस्वरूप अगर ज्ञानस्वरूपमें ही समा जाऊँ तो एक भी झगड़ा नहीं है। उसके लिए बड़े-बड़े चक्रियोंने यही काम किया था तब उनको शान्ति प्राप्त हुई। ज्ञान मात्र हूँ—ऐसा सोचनेकी धुनिमें लग जाइये। जो कुछ होना होगा धर्म पालनमें वह सब हो जायगा, पर अपनी प्रतीति दृढ़ रखिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ।

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाण आवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

७६५. **पुद्गलपरिणामय कर्मोंमें आत्माके अकर्तृत्वके ज्ञानसे ज्ञानित्व**—ये ज्ञानावरण आदिक कर्म पुद्गल द्रव्यके परिणमन हैं। उनको यह आत्मा नहीं करता है, ऐसा जो जानता है सो ज्ञानी है। ज्ञानावरण आदिक पुद्गल द्रव्यके परिणमन किस प्रकार हैं, जैसे

नहीं है। इसी तरहसे सब द्रव्योंकी बात समझिये। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके परिणमनका निमित्त नहीं होता। कर्ता कर्म भाव तो है ही नहीं और निमित्तनैमित्तिक भाव भी द्रव्यके साथ नहीं है। किन्तु किसके साथ है? उस द्रव्यकी योग्य परिणतिके साथ है, पर्याय के साथ है। इस कथनमें हमको कहाँ दृष्टि ले जाना है? मैं तो वह हूं जो किसी भी पदार्थ के परिणमनका निमित्त भी नहीं हुआ करता। योग उपयोग रूप अपनेको न निरखे, योग उपयोग तो अनित्य है। प्रदेश परिस्पंद और ज्ञानका उपयोग कुछ विचार चलना यह तो अनित्य है, नष्ट हो जाने वाला है। जो अविनाशी ध्रुव तत्त्व है वह क्या है? वह है जीव का सहज ज्ञानस्वभाव। सहज ज्ञानस्वभाव निमित्तनैमित्तिक है किसी भी अन्यके परिणमन में, किन्तु जीवका जो रागद्वेष रूप योग उपयोग है वह निमित्त है कर्मबन्धका।

७६३. **पर्यायबुद्धिके आग्रहपरिहारका अनुरोध**—यहाँ इस बातपर बल दिलाया जा रहा है कि तुम पर्यायको मत मानो कि यह मैं हूं। पर्यायको आत्मा माननेका अर्थ है कि पर्यायमें अहंबुद्धि की। जो पर्यायमें अहंबुद्धि करता है सो मिथ्यादृष्टि जीव है। ऐसी निर्मल दृष्टि जब जगे तब समझना चाहिये कि हमारा भला होगा और आत्मामें ऐसे सहज स्वभाव की दृष्टि नहीं बनती तो बतलावो—जो लाखों करोड़ोंकी सम्पदा कमाकर जोड़ कर धर जावोगे वह सब छूटना है, उससे तत्त्वकी बात कुछ भी न मिलेगी। जब यह देह भी साथ नहीं रहनेका तो अन्यकी तो चर्चा ही क्या की जाय? देहके सम्बन्धमें जो विकल्प किये जा रहे हैं उन विकल्पोंसे अपने आपपर विपत्ति डाली जा रही है। जन्म मरण करते रहेंगे और जब देहसे भी विविक्त ज्ञानमात्र देखा जाय तो अमूर्त दिखेगा। उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक नहीं है, किन्तु ज्ञान द्वारा ही समझनेमें उस अपने आपकी समझ बनेगी। मैं ज्ञानमात्र हूं, इस भावमें क्या प्रभाव आया? मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्यरूप नहीं हूं, रागादिक रूप नहीं हूँ। यों सबसे निराला केवलज्ञान ज्योतिपुञ्ज अपनेको माने तो उसमें जीवको सत्य श्रद्धान्का मौका है।

७६४. **ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीतिका प्रभाव**—मैं ज्ञानमात्र हूँ। कैसा सीधा साक्षात् प्रभाव पड़ता है, मैं ज्ञानमात्र हूँ इतनेके सोचनेका। ज्ञानमात्र हूँ मैं—इस प्रकार अज्ञान भावसे हटनेका संकल्प है या हटा हुआ अपनेको निरख रहा है। मैं ज्ञानमात्र हूं। मात्रका अर्थ केवल अन्य रूप नहीं हूँ। यों ज्ञानी पुरुष अपने आपमें उस स्वरूपकी श्रद्धा रखता है। जिसके फलमें इसकी परसे उपेक्षा होती है और शान्तिका मौका मिलता है। अपनेको निरखें कि मैं अकिञ्चन हूँ। मेरेमें कुछ नहीं है और बात। भीतर देखो—जो जाननहार है, जिसमें समझ अब भी चल रही है वह अपने आपमें निरख लेगा ज्ञानबलसे कि मैं यह करता हूं। लेकिन मैं जो पदार्थ हूं सो रागादिकका भी कर्ता नहीं हूं अर्थात्

तरह आत्मा भी घटती बढ़ती नहीं, स्थिर है। जिस तरह सुवर्णसे सचिक्कणता भारीपन पीलाई आदि गुण अलग अलग नहीं हैं वैसे ही आत्मामें दर्शन ज्ञान चारित्र गुण अलग अलग नहीं हैं। जैसे जलमें अग्निके संयोगसे उष्णता आ जाती है, इसी तरह आत्मामें उपाधिवश कर्मसे युक्तता है, चैतन्यभाव मात्रके अनुभवसे कर्म संयुक्तपना नहीं है। इस तरह आत्मा निश्चयनयसे अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त रूप है। इस भांति सामान्य तत्त्वको लक्ष्य कर जो ऐसा अनुभव करे कि मैं ज्ञानानंदरूप हूं सो सम्यग्दृष्टि है। ये मति श्रुत अवधि मन:पर्यय और केवल भी ज्ञानकी पर्यायें हैं। वस्तुके द्रव्य और पर्याय दोनों धर्म हैं।

७६७. निजपदार्थविषयक सहज बोधका महत्त्व—विवेकीके बाह्य पदार्थविषयक मति-श्रुतसे आत्मबोध नहीं है किन्तु अंतरंग सामान्य तत्त्व ज्ञानानंदके अनुभवसे ही मति श्रुतज्ञान मुक्तिका कारण है। निजपदार्थविषयक मति श्रुत ही स्वानुभव कहलाता है। जितने जीव मुक्त हुए सो भेदज्ञानसे स्वानुभवसे और जितने जीव बधे सो मोहभावसे या परलक्ष्यसे। जब पूरी ताकत लगाकर आत्मानुभवको पाया, तब समझो छोड़ने योग्य सब छोड़ा और पाने योग्य सब पाया। ऐसा आत्मानुभव ही कृतकृत्यपना है। यह मेरा आत्मा सभी दृश्य-मान जगत् पदार्थोंसे भिन्न है. निर्मल परमपारिणामिक भाव रूप सामान्य आत्मद्रव्य ही लक्ष्य है। जिसकी ये मनुष्य तिर्यंच आदि तरंगें व पर्यायें हैं। परद्रव्यसे ज्ञान भिन्न है। आत्मा न पानी पिये, न भोजन करे, हाँ ज्ञानके विकार परिणमनसे इच्छाओंके विकल्प पैदा किया करता है। आत्माकी सविकल्प अवस्था बंधन या संसार है और निर्विकल्प अवस्था मोक्ष है। इन विकल्पोंकी निःसारता समझमें आई कि समझो कल्याणका कर्ता भेदज्ञान हमें मिल गया। इस भेदज्ञानमें कर्म या नोकर्मका आहार नही है अतएव ज्ञान अमूर्तिक है। ये राग द्वेषके विकल्प स्वप्नोंके महल समान आत्माके धोखा देने वाले ही हैं, द्वेषमें तो आकु-लता सम्मुख खड़ी ही है किन्तु रागके विकल्प भी परपदार्थोंकी आधीनता, विघ्नोंकी उप-स्थिति या भोग सामग्रीकी अस्थिरता और भोग लालसासे होने वाली वर्तमान आकुलता और आगेको होने वाला सघन पापकर्मका बंध इत्यादि जाल खड़े कर देते हैं। निर्ग्रन्थ लिंग भी मोक्षका कारण नहीं। अन्यथा समस्त मुनियोंको इसी भवसे मुक्ति होनी चाहिये। मोक्ष का कारण है निर्विकल्पता या ज्ञानानंद रूप आत्माका परमपारिणामिक भाव। इसी एक आत्मद्रव्यका दर्शन अनुभवन करो। इस एक शुद्ध विचारको छोड़ पर्याय बुद्धिमें फंसना ही जगका जाल है "जो इतउत डोले सदा सो तो निपट पिसाय। कीलाको लागे रहे ताको आँच न आय॥" आपने देखा होगा कि हमारी माता बहिनें गेहूं, पीसती हैं तब आटेको छन्नीसे छाननेपर कुछ साबुत गेहूं भी निकलते हैं, सो जब पीसते समय चक्कीके मुंहमें जो

दूध दही घी ये गोरस कहलाते हैं, ये गोरसके परिणमन हैं क्योंकि गोरसमें व्याप्त हो रहे हैं। दूध है तो गोरस, दही है तो गोरस, घी है तो गोरस, इसी प्रकार ज्ञानावरणादिक जो कर्म हैं वे पुद्गल द्रव्यसे व्याप्त हैं। जब कर्म न थे तब पुद्गल थे जब कर्मरूप बने तब पुद्गल है, तो कर्मोंकी आदि अन्त अवस्था पुद्गल द्रव्यरूप है तो उनको यह ज्ञानी जानता है। कैसे जानना है कि जैसे दूध निकालने वाला ग्वाला दूधका ज्ञाता है कि कर्ता ? निकाल रहा है, दिख रहा है, खूब भर गया है तो वह ज्ञाता है। दूधका दही बना दिया, जामन डाल दिया तो तटस्थ है या वह दहीमें प्रविष्ट है। वह तटस्थ है। उसका ज्ञाताभर है। तो जैसे ग्वाला दूध, दही, घी आदिकका करने वाला नहीं है किन्तु जानने वाला है इसी प्रकारसे ज्ञानी जीव भी पुद्गल द्रव्यके जो कर्मरूप परिणाम होते हैं उनका जानने वाला है, करने वाला नहीं है। तब फिर आत्माने क्या किया ? तो जैसे उस ग्वालाने दूध दहीके दर्शनको अपनेमें व्याप्त किया, दूध दहीको व्याप्त नहीं किया, किन्तु दूध दहीको जो जान रहा है उस दर्शन ज्ञान परिणमनको व्याप्त किया है ग्वालाने दूध दही आदिकको नहीं व्याप्त किया है। वह तो अपने दर्शनको व्याप्त करता हुआ ग्वाला केवल दिख रहा है, इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यके परिणमनके निमित्तसे जो ज्ञान बन रहा है ज्ञानीका सो ज्ञानी उस ज्ञानको ही आत्मामें व्याप्त कर रहा है जो जानता है वह। सो ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है।

७६६. निरपेक्ष सहज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिकी उपयोग्यता—परमशुद्ध समयसारमें आदि मध्य व अंत नहीं है और इसीलिये परिणमन भी नहीं है। भूतार्थनय कर जाने हुए जीव अजीव पुण्यपाप आश्रवबंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये नव तत्त्व, सम्यक्त्व हैं। यद्यपि व्यवहार धर्मकी प्रवृत्तिके लिये जीवादि नव तत्त्व व्यवहारनय कर कहे गये है तथापि उनमें एकपना प्रगट करने वाले भूतार्थ नयसे एकपना पाकर आत्माकी अनुभूति प्रगट होती है। बाह्यदृष्टि कर देखनेसे जीव पुद्गलकी अनादि बंध पर्यायको प्राप्त कर ये नौ भेद भी भूतार्थ है, सत्य है। किन्तु एक जीवद्रव्यके स्वभावको लेकर अनुभव करनेसे नौ भेद अभूतार्थ असत्य हैं। इन नौ तत्त्वोंमें भूतार्थनयकर जीव एक रूप ही प्रकाशमान है, इस मुख्य जीवतत्त्वके बिना शेष ८ पदार्थ नहीं बनते हैं। निमित्तनैमित्तिक भावसे ये ९ पदार्थ बन जाते हैं अथवा पर्यायबुद्धिसे ९ भेद है। भावदृष्टिसे देखनेपर ज्ञायक भावरूप जीव है और जीवके विकार का कारण अजीव है। जीवके विकार ही आश्रव बंध पुण्य पाप हैं। जो नय आत्माको बंधरहित, स्पर्श रहित, अन्यपनेसे रहित, नियत अविशेष और असंयुक्त अनुभव करता है सो शुद्धनय है। जैसे कमलपत्रको जल नहीं छूता वैसे ही आत्मा कर्मसे नहीं बंधता, न कर्मको छूता है। जैसे मिट्टी घट शराव आदि पर्यायरूप होकर भी मिट्टी ही है वैसे ही आत्मा नर नारकादि पर्यायोंसे भिन्न-भिन्न नहीं हो जाती। जिस तरह समुद्रका जल घटता बढ़ता नहीं उसी

आधारभर हूं पर करने वाला नहीं। जैसे सनीमाके पर्दे पर जो फिल्मके अक्स आते हैं तो क्या पर्दा उन अक्सोंका करने वाला है ? केवल आधार है। इसी प्रकार आत्मा रागादिक का आधार है पर करने वाला नहीं है। यह तो हुई ज्ञानीकी बात, पर अज्ञानीकी भी बात देखो तो उसका आत्मा भी आधार है रागादिकका, पर करने वाला नहीं है। अज्ञानीका परभावमें एकत्वका अध्यास है और कर्तृत्वका अध्यास है इसलिए कर्ता कहा जाता है। तो इस प्रकार इस गाथामें यह बताया कि ज्ञानी जीव ज्ञानका ही कर्ता है, न कि पुद्गल कर्मों का, न रागादिक भावोंका। अब बतलाते हैं कि अज्ञानी जीव भी परभावोंका कर्ता नहीं है।

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

७६९. आत्मभावमें ही कर्तृत्व व वेदयितृत्व—यहाँ इस प्रकार बतला रहे हैं कि अज्ञानी जीव तो शुभ अशुभ भावोंका कर्ता है और उन शुभ अशुभ भावोंके होनेपर जो कर्म-बन्ध होता है उसका कर्ता अज्ञानी भी नहीं है। अज्ञानी शुभ अशुभ भावोंका कर्ता है। सो भी वस्तुत: शुभ अशुभ भावोंका भी कर्ता नहीं है, आधार है वह अज्ञानी, पर इस तरहकी मान्यता तो नहीं है कि मैं इससे अलग हूं और आधार हूं यह समझ नहीं है। वह रागादिक भावोंमें तन्मय होकर भूल गया है। अनादिकालसे अज्ञानभावसे परपदार्थ परभाव और आत्मामें एकत्वका अभ्यास किया है अज्ञानी ने, अत: अज्ञानी परका व परभावका कर्ता माना गया है। कहीं परको आत्मा मान लेनेसे परवस्तु आत्मा बन नहीं जाता। वह तो वस्तुस्वरूप है। न ज्ञानी आत्मा पररूप बनता, न अज्ञानी पररूप बनता, पर अज्ञानी आत्मा को एकत्वका भ्रम हो गया है, इससे पुद्गलकर्मके उदयकी दशा जो तीव्र मंदस्वाद वाली है उसके कारण यह अज्ञानी जीव यद्यपि मूलमें अचलित ज्ञानघन है, अज्ञानीका भी आत्मा का जो स्वभाव है ज्ञानघन वह क्या चलित हो जायेगा ? वह तो आत्माका स्वरूप है। अज्ञानी और ज्ञानीमें कोई फर्क नहीं पड़ता। स्वरूप तो वही है लेकिन वह अपने स्वादमें भेद डाल रहा है अज्ञानी, सो शुभ अशुभभाव जो कि अज्ञानरूप है उनका यह करने वाला हो जाता है। वस्तुमें तो वस्तुस्वरूपके नाते जो कुछ हो सकता है सो हुआ करता है। मान लो ज्ञानगुण न होता आत्मामें तो अन्य पदार्थोंकी भाँति इसके भी निमित्तनैमित्तिक भाव का परिणमन होता। पर ज्ञान है आत्मामें, उसका निषेध तो नहीं किया जा सकता तो परिणमन तो हो रहा है वस्तुस्वरूपकी विधिके नातेसे, जैसे आग और जलका सम्बन्ध है तो आगके निमित्तसे जल गर्म हो गया या जलके कारणसे अग्नि शान्त हो गई ? पर ज्ञान तो नहीं है। इसी प्रकार आत्मामें भी कर्मोदय होनेसे जो रागादिक परिणाम होने चाहिएँ सो होते हैं, यह निमित्तनैमित्तिक भावोंकी बात है। तो वस्तुस्वरूपके नाते कर्मोदय होनेपर

गेहूं डाले जाते हैं उनमें प्रायः अधिकांश पिस जाते हैं। निमित्तवश कोई दाना उस कीलेसे चिपका रह जाता है तो पिसनेसे बच जाता है। इसी तरह जो अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंदरूप परमपारिणामिक भाव सामान्य आत्माका अनुभव करेंगे वे तत्काल भी शान्ति पाकर आगे भी मुक्ति पायेंगे और जो इस आत्मानुभवको छोड़ लौकिक विषयभोगोंकी पूर्तिमें लगेंगे वे इस परलक्ष्यसे दुःख ही पायेंगे।

७६८. **अनेक दृष्टान्तपूर्वक आत्माके पराकर्तृत्वका निर्णय**—अभी तो पुद्गलकर्मकी बात कही। सबमें यही बात घटालो। जैसे हमने चौकीको देखा तो क्या किया कि चौकीके निमित्तसे जो मेरे आत्मामें दर्शन हुआ, ज्ञान हुआ, ज्ञानपरिणमन हुआ उसने तो उस ज्ञानपरिणमनको व्यापा, चौकीको नहीं व्यापा। मुझमें ज्ञान दर्शन परिणमन आया, चौकी नहीं आयी। तो ज्ञानदर्शन परिणमनको अपनेमें व्यापता हुआ यह मैं किसका करने वाला हूं? ज्ञानदर्शनका। केवल जानने देखने वाला हूं, चौकीका करने वाला नहीं हूं। इसी प्रकार दर्शनावरण आदिक द्रव्यकर्ममें लगा लो और मोह, रागद्वेष, क्रोध, मान. माया, लोभ, मन, वचन, काय आदिक सभीमें लगा लो कि इन सबका यह आत्मा जानने वाला है, करने वाला नहीं है। अब देखिये—इस दृष्टिसे आत्मा रागका भी जानने वाला है, करने वाला नहीं है, यह ज्ञानीकी बात कह रहे हैं। तो आत्मामें राग उत्पन्न हुआ तो ज्ञानी पुरुष जान रहा है कि मैं तो इस रागका आधार भर हूँ, जैसे दर्पणमें सामनेकी भींत है तो उस भींत का दर्पण तो आधारभर है, हुकुम नहीं मान रहा। हुकुम मान रहा उपाधिभूत चीजका। चीज सामने आयी तो छाया आयी, चीज हट गयी तो छाया हट गयी। तो उस छायाका अन्वयव्यतिरेक उपाधिके साथ है, दर्पणके साथ नहीं है। दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है उसका अन्वयव्यतिरेक पदार्थके साथ है अर्थात् वह छाया पदार्थका हुकुम मान रही है। पदार्थ सामने है तो छाया आ गयी पदार्थ हट गया तो छाया हट गयी। छायाका अन्वयव्यतिरेक उस पदार्थके साथ है, पर दर्पण क्या है? छायाका आधार बन रहा है। जैसे इस कागजपर स्याहीसे कुछ लिखा तो उस लिखनेका कर्ता कागज नहीं है, पर स्याहीका आधार कागज है, न कि स्याही कागजका करने वाली है। इसी प्रकार दर्पणमें जो छाया आयी उसका करने वाला दर्पण नहीं है किन्तु आधारभर है, इसी प्रकार आत्मामें जो रागद्वेषभाव आते हैं उन रागद्वेषभावोंका कर्ता आत्मा नहीं है, आधार है आत्मा। ज्ञानी इस तरहसे जान रहा है क्योंकि रागद्वेषका अन्वयव्यतिरेक कर्मोदयके साथ है। कर्मोदय हुआ तो रागद्वेष हुए, कर्मोदय नहीं है तो रागद्वेष नहीं है, मगर रागद्वेषका आधार है आत्मा। तो यों निरख रहा है ज्ञानी कि रागद्वेष का करने वाला यह मैं आत्मा नहीं हूं। ज्ञानी आत्मामे राग आ रहा है, मगर उस रागसे अपनेको ऐसा निर्लेप तक रहा है कि इस रागमें मैं

पर्यायपरिणति आनेपर योग्यता आती है अन्य द्रव्यसे नहीं आती। शुभ अशुभ भावोंकी योग्यता आत्मामें ही आती है पुद्गलमें नहीं आती, इस नियमके कारण आत्मा उपादान है, आत्मद्रव्य उपादान है, पर कार्यके नाते पूर्वपर्यायपरिणत आत्मासे नहीं है, किन्तु अनादि अनन्त सामान्यरूप जो आत्मद्रव्य है उसको कह रहे हैं शुद्ध उपादान। यह द्रव्यरूप शुद्ध उपादान है और सिद्ध भगवान पर्यायरूपसे शुद्ध उपादान हैं।

७७२. ज्ञानानुभवमें मुक्तिसाधकता—ज्ञान कहो या आत्मा कहो, जहाँ आत्मापर दृष्टि आई कि सब व्रत पल गये। अलग-अलग नाम लेकर क्या छोड़ें, क्या क्या ग्रहण करें ? आत्मा अमूर्तिक है, उसका किसीसे संबंध नहीं, जो संबंधको छोड़े। हाँ कर्मबंध में बाह्य निमित्त अनेक हैं किन्तु आत्मा जब आत्मस्वभावमें स्थिर रहे तब केवल निमित्त जबर्दस्ती करके कर्म बंध नहीं करा सकते। जैसे आकाश अमूर्तिक है उससे अन्य चीजें बंध नहीं सकतीं, ऐसे ही आत्मासे कर्मका संबंध होता ही नहीं, किसी परद्रव्यका परिणमन या बंध परद्रव्यसे नहीं हो सकता। मुक्ति अपने आत्मानुभवमें है। इसी तरह त्रिकाल अनुगत सामान्य तत्वका वर्णन तो परम शुद्ध निश्चयनयसे होता है और आत्मा रागद्वेषमय है—ऐसा वर्णन अशुद्ध नयसे है और मैंने दुकान की, मकान बनाया आदि वर्णन व्यवहारनयसे है। एक द्रव्यकी परिणतिमें दूसरा द्रव्य कारण नहीं अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिमें देहकी नग्नता कारण नहीं है। किसी भी रूपको धरना वह भी आकुलता है, परलक्ष्य होनेसे आत्मस्वरूपका साधक नहीं। आत्मा शुद्ध ज्ञानमय हो जानेपर केवल शरीराश्रित निर्ग्रन्थ लिंगके मोहका मुक्तिके साधकपनेमें निषेध है। निर्ग्रन्थ लिंगके आश्रित मुक्ति माननेपर पर्याय बुद्धि आ जाती है। "अरि मित्र, महल मसान, कंचन काँच, निन्दन थुतिकरन। अर्घावतारन असिप्रहारनमें सदा समता धरन॥" इस निर्विकल्पताकी पुष्टि निर्ग्रन्थ लिंगके आधीन नहीं है। इस तरह अध्यात्मप्रेमी आचार्य कुन्दकुन्द महाराजने डाट डपटकर विचार बोध दिया कि जब शरीरकी ममता छोड़े बिना मुक्ति नहीं तो शरीराश्रित केवल निर्ग्रन्थ लिंगका ही धारण मुक्ति साधक कैसे बन सकता है ? गृहस्थ पद या निर्ग्रन्थ लिंग दोनों देहाश्रित लिंगोंकी ममता छोड़ आत्मामात्र ही मुक्तिका साधन है। लोकमें भी देखा जाता है कि एक मुनीम पूरी सालका बहीखाता दिनभरमें देख जाता है, किन्तु वह अपनी उंगलियाँ या दवात कलम बहीकी सुन्दरता आदि बाह्य वस्तुओंको ही देखता नहीं रह जाता अन्यथा हिसाब किताब की संभाल कुछ भी न बने। ऐसे ही साधुकी भी नजर देहाश्रित लिंगपर नहीं। दर्शक लोग मेरी निर्ग्रन्थता देख क्या कहते होंगे, मैं बदसूरत लगता हूं क्या, इत्यादि विकल्प तो आत्मलक्ष्यको छोड़ परलक्ष्यकी दृष्टि ही पैदा करते हैं। गुरुकी गुरुता अन्तरंग ज्ञान ध्यानकी शुद्धि व लीनतामें है। आध्यात्मिक दृष्टिमें जब देहका लक्ष्य छूटा तो देहाश्रित

आत्मामें रागादिक विकार हो गया। अब आत्मा है ज्ञानस्वरूप, सो यह उन रागादिक विकारोंको अपना बनाता है या नहीं, बस इस आधारपर ज्ञानी और अज्ञानीका भेद रहता है। पदार्थके नातेसे जो बात निमित्तनैमित्तिक भावमें होनी चाहिए सो होती, सब जैसा उपादान है, जैसा निमित्त है उस योग्य हो रहा है। पर ज्ञानी आत्मा उनका कर्ता नहीं बनता है।

७७०. योग्यपर्यायपरिणत द्रव्यमें उपादानरूपता—निमित्तनैमित्तिक भावमें उपादान है पर्यायपरिणत द्रव्य, न कि खाली द्रव्य। खाली द्रव्य है शुद्ध उपादान। शुद्ध उपादानमें उपादानके नाते कार्य नहीं बन सकता जब तक द्रव्यमें पर्यायकी तन्मयता न आये। जिस पर्यायमें जैसी योग्यता बनती है उस पर्यायसे संयुक्त पदार्थ उपादान कहलाता। जैसे घड़ेका उपादान है मिट्टी लेकिन कैसी मिट्टी उपादान है? जो सनीसनाई मिट्टी चाकके योग्य हैं वह उपादान है, न कि साधारण मिट्टी। इसी तरहसे रागादिक भाव उत्पन्न होनेके लिए आत्मा उपादान तो है मगर पूर्वपर्यायपरिणत आत्मा उपादान है, आत्मद्रव्य उपादान नहीं है। आत्मद्रव्य शुद्ध उपादान कहलाता है, शुद्ध उपादानमें कार्य नहीं होता, किन्तु शुद्ध उपादानमें जब उस पर्यायका मेल आता है जिस पर्यायके होनेपर अमुक अमुकरूप परिणमनकी योग्यता आती है तो वह उपादान अर्थात् पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य अर्थात् पर्यायका उपादान तो शुभ अशुभ भाव जो कुछ भी जीवमें आयें उनको अपनाता है तब आत्मा तन्मय होकर उस भाव का कर्ता कहलाता है। और वे शुभ अशुभ भाव भी तन्मय होकर उस आत्माके व्याप्त होने से कर्म होते हैं। तो यों आत्मा उस कालमें, उस भावका होवाने वाला है, भोगने वाला है और वह भाव भी उस आत्माके भोगमें आ रहा है। इस तरह अज्ञानी भी परपदार्थोंके भाव का करने वाला नहीं है, किन्तु स्वके भावोंका ही करने वाला है। अर्थात् शुभ अशुभ परिणाम, शुभ अशुभ राग इनका करने वाला है अज्ञानी, पर कर्मबन्ध, कर्मोदय इनका करने वाला नहीं है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो अज्ञानी आत्मामें भी जो रागद्वेष भाव हुए सो निमित्तनैमित्तिक भावकी विधिसे हो गए। आधार रहा, पर इस अज्ञानी आत्माके आधारमें रागद्वेष हुए सो यह उपयोगसे उन रागद्वेषोंको अपना लेता है, तो उन राद्वेषोंसे निर्लेप विभक्त अपनेको अनुभव न कर सकनेसे रागादिकका कर्ता अज्ञानी कहा है।

७७१. शुद्ध उपादान व योग्य उपादान—निमित्तनैमित्तिक भावोंकी विधिमें निमित्त भी पर्यायसंयुक्त द्रव्य है, द्रव्यका द्रव्य न निमित्त होता है और न उपादान होता है। खाली द्रव्य, त्रिकालवर्ती अनादि अनन्त सामान्यरूप द्रव्यत्व न उपादान होता कार्यका, न निमित्त होता, पर्यायपरिणत द्रव्य ही उपादान कहलाता। पर्यायपरिणत द्रव्य निमित्त बन सकेगा। अब शुद्ध उपादानके मायने यह हैं कि खालिस द्रव्य। सामान्य द्रव्य। एक आत्मामें ही

"आध सेर नाज काज, अपनो करत अकाज, लोक लाज काज बाँधो, पापन को ढेर है। अपनो अकाज कीनो लोकनमें जस लीनो, परभव विसार दोनो विषयवश तरेर है॥ बहुत सी गई विहाय अलप सी रही आयु, नर पर्याय यह अंधेकी बटेर है। आये सेत भैया अब काल है अबैया, अहो जानीरे, सयाने तेरे अजौंहूँ अंधेर है॥१॥" अतः परलक्ष्यको छोड़ अपने आत्मानुभवपर ही लक्ष्य करो।

७७४. **आत्मस्वरूपद्रष्टाका विशिष्ट भेदविज्ञान**—इस विवेचनमें कितना विशिष्ट भेदविज्ञानकी बात आयी कि ज्ञानी जीव रागादिक विकारोंका यह मैं आधारभर बन रहा हूं, यों निरखता है सो वह ज्ञाता कहलाता है। और मैं आधारभर हूं, ऐसा न निरखकर ये रागादिक मेरे ही स्वरूप हैं, मैं ही हूँ, ऐसा एकत्व अभ्यास कर लेता है। इससे उसके उपयोग में भेदविज्ञान नहीं है और वह रागादिकका करने वाला है। इतनेपर भी कर्मोदयका करने वाला ज्ञानी अज्ञानी कोई भी जीव नहीं है। वह अपने शुभ अशुभ भावोंका करने वाला है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानी जीवने ज्ञानतत्त्वकी उपासना की और उस ज्ञानभावकी उपासनाके प्रसादसे जो कर्मोदय हजार वर्ष बादमें आनेका था उसे अभी ही उदयमें ले लिया। उदीरणा हो गई है। तो ज्ञानी उस कर्म उदीरणाका करने वाला हुआ क्या? समाधान यह है कि उसका केवल निमित्तनैमित्तिक सम्बध है, करने वाला नहीं है, अत्यन्त भिन्न कर्ममें किसी भी प्रकार कर्तापनेकी बात थोपी नहीं जा सकती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है। अब यह बतलाते हैं कि परपदार्थका भाव परिणाम किसीके द्वारा किया जा सकने योग्य नहीं है।

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामये दव्वं॥१०३॥

७७५. **किसी भी पदार्थके गुण पर्यायकी अन्य द्रव्यमें संक्रमणकी अशक्यता**—जो कोई भी पदार्थ हो चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन हो, द्रव्य और गुणमें अपने रससे प्रभाव अनादिकालसे ही चला आ रहा है सो वहां भी वस्तुका स्वरूप तो अचलित है, उसकी सीमा नहीं भेदी जा सकती। तो क्या अर्थ निकला कि जिसका जो भाव है, जिसका जो परिणमन है वह उसका उसमें ही रह जायगा, बाहर नहीं जा सकता। एक द्रव्यका परिणाम गुण क्रिया, प्रदेश अस्तित्व आदिक किसी दूसरे द्रव्यमें नहीं जा सकते। तो जब अन्य द्रव्यमें अन्य गुणमें संक्रमण नहीं हो सकता तो फिर उसका यह अर्थ निकला कि कोई द्रव्य किसी अन्य वस्तुमें परिणाम नहीं सकता। अब देखिये अपने जीवनमें जो खेद मचाता है वह अज्ञान से मचाता है। यह सोच सोचकर ही तो क्लेश किया जाता है कि देखो—अमुकने मेरी बात नहीं माना, अमुक स्वच्छन्द हो गया है, पर वह कोई दुःख माननेकी बात है क्या? तुम तो

लिंगका भी विकल्प छूटा। जब परभवमें साथ जाने वाले एक क्षेत्रावगाही कर्मसे भी आत्मा की भिन्नता है तो देह तो मरण समय यहीं पड़ी रह जाती है, उसके साथ क्या ममता करना, निर्ग्रन्थलिंग को महत्ता देकर ही मुक्ति मानना परलक्ष्य है। आत्माके दर्शन ज्ञान चारित्र निजरूप होनेसे स्व द्रव्य ही है, इस भाँति जब देहको परलक्ष्य जाना तो केवल आहारादिकी शुद्धि भी परलक्ष्य होनेसे मुक्ति की साधक नहीं।

७७३. **ध्रुवसहज स्वभावकी दृष्टिमें मुक्ति साधकता**—आत्माका रत्नत्रयात्मक मार्ग मुमुक्षुओंको स्वाधीनतासे ग्रहण करना चाहिये। मुझे ईर्यासमिति पालनी है, शुद्ध आहार लेना है, देखकर शास्त्र पीछी कमंडलु रखने उठाने हैं आदि परलक्ष्यमें कल्याण नहीं, किन्तु आत्माका अनुभवरूप रत्नत्रय मार्ग ही मुमुक्षुओंको सेवना चाहिये। आत्मानुभवपर लक्ष्य स्थिर करनेको निर्ग्रन्थ लिंगाश्रित अट्ठाईस मूलगुणोंके पालनमात्र वाह्यलक्ष्यसे दृष्टि हटाओ। अध्यात्मके अनुभवमात्रसे अट्टाईस मूलगुण स्वयं लघु पर्याससे पलते रहते हैं, किन्तु अनध्यात्म मुनिके परलक्ष्य रहनेसे जरा जरासी बातोंसे मनमें क्षोभ आता रहता है। हे भाई अनादिसे परद्रव्यमें राग द्वेषकी कल्पनाएं कर अध्रुव वस्तुओंको ध्रुव बनानेके प्रयत्नमें लगे रहे। हे आत्मन्! तूने अपने ध्रुव त्रैकालिक ज्ञायकस्वरूपका अनुभव नहीं किया। तू ध्रुव, ये जगत्के भोग पदार्थ अध्रुव तथा अन्य चेतन स्त्री पुत्रादिका आत्मा तेरे समान होते हुए भी तू उनके जिस देहसे ममत्व करता है वह भी अध्रुव तथा उस देहके परिणमन भी अध्रुव हैं। जब तक स्त्री पुत्रादिकी देहसे तेरी देहका या तेरी देहसे उनके देहके सुखाभासका साधन होता है तब तक मोहके आवेशमें राग रूप परिणति परस्परमें बनी रहती है। किन्तु ज्यों ज्यों संसार और शरीरके सत्य स्वरूपका आप विचार करेंगे तब उनकी असलियत का ज्ञान हो जानेसे तू उससे मोह छोड़ अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानानंद स्वभावमें ही संतोष पायेगा। "जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यर्थम्" सूत्र आपने पढ़ा सुना समझा है और उसका भाव आत्माके भावमें रम गया है कि परकी परिणति परके आधीन है। हे आत्मन्! तू ज्ञायकस्वरूप वह जड़, तू अनादि अनन्त और देह सादि सान्त, तू निरोगी ज्ञानानन्द रूप है और देह सरोगी तथा वात पित्त कफके अनेक विकार रूप परिणमनसे सदा रोगी ही है। यह बैल और भैंसाकी जोड़ी चलनेकी नहीं, भैंसा कीच और वर्षाको रोचक समझता है, बैल उन दोनोंसे बचना चाहता है। इसी तरह हे आत्मन्! तेरा इस शरीरसे मोह करना प्रेम करना कुशलताका द्योतक नहीं है। इससे तो वैराग्य ही भला है तथा जगत्के जीव स्त्री पुत्र, मित्र, माता पिता, कुटुम्ब रिश्तेदारी समाजमें परस्पर व्यवहार निभानेको तुझे कितने मोहमायाके विकल्प करने पड़ते हैं? उन सबका मन भरनेकी धुनमें तू अपने आत्मकल्याणके मार्गको भूला रहता है। पीछे अपनी भूलसे स्वयं दुःख पाता है

विभावपरिणमन वन जाता है उसका स्वरूप और है। है यद्यपि एक समयमें, भिन्न आधार भी नहीं है, उत्पादव्यय भी विभावरूपसे बन रहा है, वहाँ दो परिणमन नहीं हैं, लेकिन विवेचक दृष्टि एकमें भी दो भेद कर लेती है। जिस पदार्थमें सामान्य विशेष पाये जाते हैं वह पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है लेकिन क्या सामान्य विशेष और पदार्थ ये दोनों चीजें वास्तविक अलग-अलग है ? नहीं हैं। तो क्या है ? एक है, कुछ है, इसकी बुद्धिसे हमने सामान्य विशेष समझा है। तो यहाँ जो सामान्यका स्वरूप है सो ही तो विशेपका नहीं है, जो विशेषका स्वरूप है सो सामान्यका नहीं, तो इस स्वरूपदृष्टिसे सूक्ष्म सामान्य और विशेष दो तत्त्व हुए लेकिन सर्वसत् नहीं हैं, तत्त्व एक हुआ। हमारे जाननेमें सामान्यका स्वरूप, विशेषका स्वरूप जुदे-जुदे रूपसे आया है। तो तत्त्व तो हो गए मगर सामान्य सत् अलग हो, विशेष सत् अलग हो यों सामान्य सत् पृथक् नहीं आया। यों सामान्य उत्पादव्यय और विभाव उत्पादव्यय इनमें भी सूक्ष्म दृष्टिसे हम भेद कर लेते हैं, तो इस अव बोधमें भी ज्ञानीको मदद मिलती है कि ये रागादिक विभावरूप परिणमन रहे हैं सो परिणम जावो, पर मैं तो अपने सामान्यभूत उत्पादव्ययसे ही लगा रहता हूं। यों भी रागादिक विकारोंसे विभक्त अपनेको ज्ञानी कर सकता है।

७७८. अन्तस्तत्त्वकी सेवासे ही आत्मदेवकी महत्ता—यदि राजमहलके दरवाजेपर लिखा है कि काँचपर हाथ मत लगाओ, राजमहलमें कहीं थूको मत, इत्यादि नोटिसोंसे हमें राजमहलकी महत्ता समझाई जाती है और जो राजमहल देखने जाता है वह उन नियमों को मानता पालता है, किन्तु यदि दर्शक लोग राजमहलकी कदर करके कदाचित् अपनी अपनी प्रवृत्तिसे राजाकी अवज्ञा करें, निन्दा करें तो उसके राजमहलके प्रति की गई सावधानी से क्या महत्व मिलेगा ? कुछ नहीं, उल्टा राजाकी अवज्ञासे दंड ही पायेगा। इसी भाँति हमारे देहमें जो महत्त्व हम रखते हैं, नहाते हैं, तेल मर्दन करते हैं, साबुन लगाते हैं, उत्तम भोजन पान कराते हैं, रातदिन इसी नश्वर शरीरके उपचारमें लगे रहते हैं, यहाँ तक कि— "सामान सौ बरसका पलकी खबर नहीं" इस उक्तिके अनुसार आकाशमें उमड़ा और फिर विघटते बादलोंको स्थिर रखनेकी बुद्धिसे उन्हें बाँधनेके विफल प्रयत्न समान दुखी ही होते हैं। इस शरीरमहलके अन्दर रहने वाला देही आत्मारूपी राजाके स्वरूपका हमें ज्ञान नहीं, उसके स्वभाव ज्ञानानंदके प्रति जो हमारी उपेक्षा बनी है वह उपेक्षा ही पलपलमें आकुलता देती है और भविष्यमें भी दुर्गतियोंमें आत्माका पतन कराती है। हे आत्मन् ! तुझे आत्मानुभवके बिना अनेक मुनिपद धारण करनेपर महान् परीषह उपसर्ग सहन करने पर भी शान्ति नहीं मिली। तूने इतने मुनिपद धारण कर लिये कि भवोंके प्रत्येक भवके मुनिपदके कमंडलोंसे सुमेरु बराबर ढेर लग सकता है किन्तु केवल लोकवंचना या आत्म-

ज्ञाता रहो कि आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है और यह अपने स्वार्थके कारण मेरी बात मानता है, सो वह अपने प्रयोजनसे मानता है, न कि मेरेसे उसका कोई सम्बंध है इस कारण मानता है। इस बुद्धिके आनेपर आपका क्रोध कम हो जायगा। प्रत्येक जीव जो कुछ भी हमारी आज्ञा मानता हो, हमारे अनुकूल चलता हो तो कहीं वह हमारे नातेसे अनुकूल नहीं चलता, वह स्वयं अपने प्रयोजनवश अनुकूल चलता है क्योंकि पदार्थ परिपूर्ण सत् है, किसी भी पदार्थका कोई परिणमन कार्य कुछ भी अन्यमें जा नहीं सकता। तो जब वस्तुका स्वभाव ऐसा अचलित है कि एक वस्तुका द्रव्य गुण कार्य कुछ भी चीज अन्य द्रव्यमें नहीं हो सकती तो इसका अर्थ यह हुआ कि किसीके भी द्वारा परका भाव किसी भी प्रकार किया नहीं जा सकता।

७७६. पदार्थमें स्वभावतः उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता होनेसे परिणमनस्वातन्त्र्यकी सिद्धि—प्रत्येक द्रव्य है उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त, उनमें उनके स्वभावसे उत्पादव्यय होना बराबर चल रहा है। अब इतनी विशेषता आ जाती है जीव और पुद्गलमें कि यदि वह अशुद्ध है तो किसी परपदार्थका निमित्त सन्निधान पाकर वह विभावरूप परिणम जाता है, पर परिणमनोंका स्वभाव तो उनमें पड़ा है। उपाधिका मेल हुआ तो विभावरूप परिणम गया, न उपाधिका सन्निधान हुआ तो विभावरूप न परिणमा, स्वभावरूप परिणमता रहा, परंतु परिणमनेका उसमें मूलमें स्वभाव पड़ा है। प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है, बना रहता है, उसमें उत्पादव्ययध्रौव्य बराबर चलता रहता है। पदार्थ अपने ही सत्त्वके कारण प्रति समय नवीन अवस्थासे परिणमता है, पुरानी अवस्थाका विलय करता है और स्वयं सब कुछ बना रहता है। तो इस नातेसे प्रत्येक पदार्थमें परिणमन चल रहा है। आकाश द्रव्य भी सत् है या नहीं। सत् है यदि तो उसमें भी प्रतिसमय आकाशके जो स्वाभाविक अगुरुलघु गुण हैं उसकी वृद्धि हानिसे आकाशमें परिणमन चल रहा है। और यदि आकाश-द्रव्य सद्भूत नहीं है, कल्पना करके मान लीजिये कि काल्पनिक ही है तो आकाश पदार्थ ही नहीं ठहरा, कल्पनामें क्या घटाया जाय, पर ऐसा नहीं है। आकाश भी एक सद्भूत पदार्थ है जिसमें पदार्थका अवगाहन प्राप्त होता रहता है। तो वस्तुस्वरूपके नातेसे प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद व्यय निरन्तर चलता रहता है। यहाँ विभाव परिणामकी बात नहीं कह रहे, उत्पाद व्ययकी बात कह रहे हैं। जब उत्पादव्ययध्रौव्यसे परिणमता हुआ जीव और पुद्गलमें यदि वह अशुद्ध है तो उपाधिका सन्निधान पाकर वह उत्पादव्यय विभावरूप तन्मय हो जायगा।

७७७. सामान्यपरिणमन और विभावपरिणमनकी स्वरूप दृष्टिसे विवेचना—ज्ञानी जीव ऐसी सूक्ष्मदृष्टिसे सूक्ष्म विवेचनासे यहाँ भी ऐसी समझ करता है कि वस्तुमें वस्तुस्व-रूपसे जो उत्पाद व्यय होता है उसका स्वरूप और है और उपाधिका सन्निधान पाकर जो

हैं, सो इनमें भी बिना राग द्वेषकी कल्पना लाये मैं कर रहा हूं। मेरी पूर्वबद्ध कर्मवर्गणाओं के उदयानुसार जो जो परिस्थितियाँ आयेंगी उनका मैं ज्ञाता मात्र हूँ, भोक्ता मैं नहीं बनता। जैसे रोगी कड़वी दवा पीता है तो रोगनिवारणके लिये। उसे कड़वी दवामें कोई ममत्व नहीं। वह यही चाहता है कि मुझे दवा न खानी पड़े तो भला ऐसे ही आत्मानुभवी लौकिक कार्योंको करते हुए उनमें आसक्त नहीं होता। वह समझता है कि यदि मैं इन लौकिक विकल्पोंमें राग द्वेष करूंगा तो पूजा सामायिक आदिके समयमें भी आत्मानुभवपर नहीं पहुँच सकूंगा।

७८०. इच्छा और रोषका फल—लोग कहते हैं कि मनुष्यकी महत्ता उसके आचार और विचारोंसे है। सो हमारे आचारमें अहिंसा प्रधान है और अहिंसाका लक्ष्य भी आत्म-मुखी हो तभी पूर्ण अहिंसा है, साथमें व्यवहारमें मुझे कोई उलाहना न दे। मैं आज इस सामने वाले को पीटता हूं तो इस सामने वालेके मित्र व घरके न जाने किस किस तरह कब कब मुझे दुःख देंगे, सो इस भयसे दूसरोंको नहीं मारता। कदाचित कोई अपनेको ज्ञात अज्ञात भावसे दुखी करता है तो वह कायरतासे सह लेता है, किन्तु यह अहिंसा नहीं है, कारण कि "अत्याचारको सहन करने वाला अत्याचारियोंकी भावनाको पनपनेका अवसर देता है और स्वयं तो दुःखका अनुभव करता ही है—कायर तो जीवत मरत दिनमें सौ सौ बार, प्राण पखेरू वीरके उड़त एक ही बार ॥ आशाओंका जन्म भी परलक्ष्यसे है। हमें जो चीज जहाँसे मिलनेकी आशा होती है उसी ओर झुकते हैं, प्रयत्न करते हैं, थकते हैं, इच्छायें पूर्ण नहीं होतीं। इच्छायें तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीकी भी पूर्ण नहीं हुईं, जिसके घरमें नौ निधि चौदह रत्न हों, उसे भी कमी बनी रही और वह भी खानेकी। आराधना कथाकोषमें आपने यह कथा पढ़ी होगी कि एक दिन ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीको भोजन करते समय रसोइये ने कुछ गरम खीर परोस दी। चक्रवर्तीको रसोइयेपर रोष आया कि तू ने इतनी गरम खीर मुझे क्यों परोसी? क्रोधके आवेशमें भर कर चक्रवर्ती ने खीर पकानेका खीर भरा बड़ा पात्र उठाया और लंगोटी पहिने नंगे बदन रसोइयेके शरीरपर वह बर्तन उड़ेल दिया। खीर तो चिकनी होती ही है, फिर थी वह चक्रवर्तीके खानेकी, उत्तमसे उत्तम सचिक्कणता लिये दूध की बनी थी, जिसमें सारभूत अच्छे मेवा मसाले डले थे, चावल भी ऊंचा होना था ही और उस खीरकी तादाद परिमाण भी पुष्कल बहुत थी। खीरकी उष्णता और सचिक्कणतासे उसका बदन जल गया। उसे प्रतिपक्षकी रोषभरी भावना पैदा हुई—"जैसे को तैसा" की उक्ति अनुसार। जो चक्रवर्तीका रसोइया होगा वह भी ऊंचे आचार विचार वाला अवश्य होगा। तदनुसार वह पुण्यात्मा भी था, अनेक सत्कार्यों—पूजा स्वाध्याय सामा-यिक संयम परोपकार आदिसे उसने देवायुका बंध किया था। किन्तु ज्योंही उसका बदन

वंचना रही। भाइयों ! जब लौकिक खेती व्यापारादि कार्य करते हुए अपने देहके अंगों पर दृष्टि नहीं रखी जा सकती अन्यथा अपने अंगोंपर ही दृष्टि व विचार जम जानेसे कब वह अपना कर्तव्य पूरा करेगा तो फिर आत्मानुभव जैसे महान् कार्यके करनेको अपनी देह व लोकके समस्त परपदार्थोंसे लक्ष्य हटाना ही पड़ेगा। जो श्रावक या साधु अपने परमपारिणामिक भाव ज्ञानानंदपर लक्ष्य रखेगा, उसकी दृष्टि कर्मचेतना व कर्मफलचेतना रूप न होनेसे शुद्ध ज्ञानचेतना रूप बन जाती है, तब जो संवर और निर्जरा होती है, वही आगे चलकर अनन्त सुख रूप मुक्तिकी प्राप्ति करा देती है, जन्म मरणके अनेक कष्टोंसे छुटा देती है। ज्ञेयरूप परद्रव्योंमें लक्ष्य मत दो। महावीर स्वामीने केवल आत्मानुभवका प्रधान काम किया तब वे महावीर परमात्मा भगवान् बने।

७७६. परके अकर्तृत्वके आशयसे विडम्बनाओंका प्रलय—एक किसानका स्वभाव बड़ा गुस्सेका था, किन्तु उसकी घरवालीका स्वभाव बड़ा शान्त था। किसान अपने साथ खेत में काम करने वालोंको उनकी भूलपर या उल्टा सीधा जवाब देनेपर पीट भी देता। किसान के मनमें एक दिन विचार आया कि मेरे दाव चक्करमें सभी आ गये किन्तु मेरी घरवाली मानो मेरे राज्यके कानूनसे बाहिर ही है। उसपर यह टैक्स क्यों न लागू किया जाये, उसे भी मैं आज पीटूँगा। किसानकी घरवाली इतनी सावधान थी कि हमेशा अपने कर्तव्यका लक्ष्य रखती थी। दोपहरी हुई तो किसानने एक बैलका मुख पूर्वको कर दिया और दूसरेका मुख पश्चिमकी ओर कर दिया और फिर भी किसी तरह दोनोंके कंधेपर जुआ रख दिया, हल भी उसमें फंसा था। किसानने सोचा कि जरूर घरवाली कुछ उजर करेगी और उसकी उजरपर मैं "ककरीके चोरको कटार" समान अवश्य आज कुछ पिटाई लगाऊंगा। किसान की घरवालीने गोबरके उपले थापे, घर झाड़ा, गाय भैंसोंके बच्चोंको नर्म घास चरनेको डाली, पानी लाई, रोटी बनाई और घरकी बाड़ीमें पैदा हुई लौकीका शाक बनाया, घरू खेतोंमें पैदा हुई धानके अपने हाथसे कूटे पुराने चावल बनाये, एक डलियामें सब भोजन सामग्री जमाई और दूध जमाकर कुछ दूध साथ लेकर भैंस गायोंके बच्चोंको आगे करके खेत पर पहुँची। देखा कि आज तो एक नई तैयारी है, वह अपने लक्ष्यपर रही। बैलोंको औंधा जुता देखकर भी कुछ न बोली, रोटी खिलाई पिलाई और लौटते हुए बोली, मुझे तो अपना कर्तव्य करना है सो कर रही हूं—"तुम चाहे बैलोंको सीधा जोतो या औंधा" ऐसा कहती घर लौट गई। किसानने आनन्दसे रोटी खाई, पर मनमें सोचा, कितनी सावधान यह घरमालकिन, मेरा विकल्प मेरेमें बैठा रह गया, मैं इसे पीटनेका मौका न पा सका। भाइयों ! इस दृष्टान्तसे यह भाव हमें ग्रहण करना चाहिये कि हमें अपने आत्मानुभव पर लक्ष्य रखना है। अशक्यानुष्ठानसे या गले पड़े जो ये लौकिक व्यवहार मुझे करने पड़ रहे

प्रयत्नसे नष्ट हो जाते हैं। भेदज्ञानी आध्यात्मिक साधुओंके सत्संगसे उनके उपदेशोंको मनन करनेसे परलक्ष्य हटनेमें एक अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। यदि भगवान्‌के रागसे पुण्यबंध होकर देवपद या भोगभूमि मिल भी गई तो केवल परलक्ष्य भोग संपदामें ही जीवनरत्न न खोवे। किसीपर चार आने पैसे चाहियें थे। उसके प्रमाणित करनेके लिये एक रुपयेके स्टाम्पको खराब करनेमें कोरी मूर्खता ही है। भोगमें वियोग है, रोग है, शोक है और अनेक आकुलताओंका संयोग है।

७८२. आत्मानुभवके साहस बिना भ्रमजालका बन्धन—सम्यग्दृष्टि अपने आत्मानुभवके बलपर विपाकवश आगत दुःखोंको ऐसे टाल देता है जैसे कि तृष्णामें फंसा मनुष्य हिन्दु मुसलमानके झगड़े जैसे लोक विप्लव और महामारी जैसे रोगोंको तथा गर्मी सर्दी, यहाँ तक तक कि पुण्य पापको ताकमें रख देता है। तृष्णावी पुरुष जैसे अपनी तृष्णाको सफल बनानेमें देश परदेश जल थल पाताल व आकाश मार्गमें रात दिन खुशी खुशी दौड़ लगाता है। वह दुखोंको भी सुखरूप अनुभव करता है, किन्तु आत्मानुभवका साहस उतना ही कठिन है, जैसे एक राजा यह आज्ञा करे कि मेरे मुकुटको सिरपरसे उतारकर ठुकरा दो, तो ऐसी आज्ञाके पालनेमें ९९ सेवक तो समर्थ नहीं, हाँ जिसने एक राजाज्ञापालनका व्रत ले रखा है वह राजाकी आज्ञा पाते ही सिरपरसे मुकुट उतारकर ठुकरा सकता है। ऐसे ही भगवानकी आज्ञा यही है कि जब तुम मेरी भी भक्ति राग स्तुति छोड़ोगे तब परमात्मा बनोगे। पर चीज परकी है। मैं किसीका कुर्ता उठाऊं यही बुरा, पहिन लूं तो और भी बुरा, पहिनकर अपना कहने लगूं तब तो लोग मारे पीटे बिना या जेलमें डलवाये बिना मुझे नहीं छोड़ेंगे।

७८३. किसी द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यमें कुछ करनेकी अशक्यता—यहाँ यह बताया है कि किसी अन्य द्रव्यका परिणमन किसी अन्य द्रव्यके द्वारा किया नहीं जा सकता। जितने भी पदार्थ होते हैं और वे अपने आपमें जितनेमें वे रहा करते हैं उनका उन्हींमें निवास रहता है। अपनेसे बाहर उनका कुछ भी नहीं रहता। जो सद्भूत पदार्थ है उसमें भेद करके जाने तो उसमें दो ही बातें मालूम होती हैं—गुण और पर्याय। इस कारण गुणपर्यायवान हो सो द्रव्य है ऐसा कहा जाता है। सच तो यह है कि पदार्थ है अखण्ड अवक्तव्य उसमें भेददृष्टिसे गुण और पर्याय निरखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थमें उसका गुण है और उसकी परिणति है। तो जब सभी पदार्थ स्वयं गुणपर्यायात्मक हैं तब फिर किसीसे किसी पदार्थमें कोई गुण आता हो या कोई परिणति आती हो यह कभी नहीं हो सकता। चेतनात्मक पदार्थोंमें चेतन गुण और चेतन परिणति है, अचेतनात्मक पदार्थोंमें अचेतन गुण और अचेतन परिणति है। चेतनमें भी एक चेतनकी परिणति व गुण कभी किसी अन्य

खीरसे जला कि उसकी भावनायें भी जलने लगीं। उसने निदान किया कि यह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती है तो क्या? है तो आदमी, यद्यपि इसमें मुझमें स्वामी सेवकका अन्तर है किन्तु इस भवमें न सही, मैं मरकर अगले भवमें बदला लिये बिना न छोड़ूँगा— ऐसे निदान आर्त्तध्यानसे वह मरा। मरकर उसे पूर्वभवका स्मरण आया कि चक्रवर्तीने मुझे ऐसा कष्ट दिया था कि मैं मर ही गया। ऐसा विचार बदला लेनेकी भावनासे कुछ स्वादिष्ट फल लेकर चक्रवर्तीके समक्ष आया। चक्रवर्तीको वे फल भेंट किये। आज मनुष्य भी जब एकसे एक रोचक उत्तम वस्तुएं तैयार कर सकता है तो विक्रिया शक्तिवाले और अवधिज्ञानी देव की बनाई गई चीजोंमें मनुष्य आसक्त हो जाये तो कोई अनहोनी बात नहीं। फलतः चक्रवर्ती वे फल खाकर ऐसे भूखे बन गये कि सारा विवेक गंभीरता और बड़प्पन भूलकर उसने कुछ मनुष्योंके आगे उन्हीं और फलोंकी याचना कर बैठे। उसने भी दाव पाया और बोला, आओ मेरे साथ चलो, उस बगीचेमें, मैं वहाँ और ऐसे मीठे फल तुम्हें देता हूं। आशा बहुत बुरी वस्तु है। वह अपने आपका भान भुला देती है, पाप पुण्य, नीच ऊंच, गुण दोषका ध्यान उसे नहीं रहता। सोचो कहाँ तो चक्रवर्तीकी महत्ता और कहाँ फलोंकी अभिलाषा पूर्तिमें एक अपरिचित का अनुगमन। इसी बीच चक्रवर्ती मारा गया, आशा या राग समान वस्तुएं हैं।

७८१. वीतरागताका प्रसाद—जिनेन्द्रमें १८ दोष नहीं होते, किन्तु मान्यता और प्रभावना जैसी वीतरागता शब्दके भावमें है उतनी अन्य दोषोंके त्यागसूचक वीत द्वेष आदि शब्दोंमें या उनके भावोंमें नहीं है और यह बात केवल आगमकी नहीं किन्तु अनुभवकी भी है कि हम और आप १ घंटा १ दिन १ पक्षको द्वेषका त्याग कर भी सकते हैं किन्तु रागका त्याग जैसा शुद्ध पदका धारण बड़ा कठिन है। हाँ, भेदज्ञान जिन्हें प्रगट हो गया उन्हें यह परलक्ष्यके त्यागरूप रागका त्याग भी शक्य है। वीतराग भगवान्ने भी यही उपदेश दिया कि तुम मेरी भक्ति पूजा स्तुति कीर्तनसे जितना फल पाओगे उससे भी कहीं अधिक फल मेरी आज्ञाके पालनमें है। कषायोंमें मन्द कषाय संज्वलन है। दशवें गुणस्थानमें वह अतिशय सूक्ष्म हो जाती है किन्तु फिर भी आत्मशक्ति रूपसे व्यक्त नहीं होती। जब दसवें गुणस्थानके अन्तमें समूल मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तब फिर अन्तर्मुहूर्तमें ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको नाश कर आत्मा परमात्मा केवली या जिनेन्द्र बनता है। दसवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें इसी तत्त्वका समर्थन है कि सर्वप्रथम परलक्ष्यको छोड़ो यानी मोह कर्मको मिटाओ तब कहीं और आत्मशक्तियाँ प्रगट होंगी। "मोह क्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" इस सूत्रमें मोहके साथ स्वतंत्र क्षयात् शब्द जोड़नेका अभिप्राय यही है कि मोह योद्धाको जीत लेनेपर अन्य पिछलगे ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय सहज

करे ? जैसे ज्ञानी जीवका उस रागविकारमें हाथ नहीं, इसी तरह अज्ञानी जीवका उस राग राग विकारमें हाथ नहीं। इस बातको जरा स्वरूपदृष्टि रखकर समझना होगा। अब भेद क्या पड़ जाता है कि ज्ञानी जीवमें रागविकार हुए तो ज्ञानबलसे उन रागविकारोंको अपनाता नहीं है। हुए, उनका ज्ञाता द्रष्टा रहता है और अपने स्वरूपको निरखकर उस विचित्र गजब घटनापर हंस लेता है, पर अज्ञानी जीव उन रागादिक विकारोंमें एकत्व बुद्धि करता है। यह मैं हूं, यही तो हूं, इसमें ही मेरा बड़प्पन है, इसमें ही हित है, यों रागादिक विकारोंमें तन्मय होकर अनुभवता है। इस कारण अज्ञानी रागादिक विकारोंका कर्ता कहा जाता है और रागादिक विकारोंके निमित्तसे नवीन कर्म आते हैं, बंधते हैं। सो रागादिक विकारोंकी एकता करने वाले अज्ञानीको पुद्गल कर्मका कर्ता कहा जाता है।

७८५, स्वरूपदृष्टिकी महिमा—स्वरूपदृष्टिसे निरखनेपर, जब अपने आपको समस्त परभावोंसे निर्लेप एक चैतन्यमात्र देखा तो उसका आनन्द कितना अलौकिक आनन्द है, उसका प्रभाव कितना अलौकिक प्रभाव है ? जैसे गीली धोती सुखाई जा रही है, खूंटसे छूटकर गिर गयी धोती, उसमें बहुतसी धूल चिपक गई, कोई पुरुष उस धूलको छुटाता है तो विवेकी मालिक उसे मना करता है——अरे इस धूलको यों मत छुटावो, इस धोतीको धूपमें सूखनेके लिए डाल दो, धोती सूख जानेपर फिर जरासे झटकेमें सारी धूल छूट जायगी। यों ही छुटानेमें तो वह धूल और भी चिपक जायगी। तो इसी प्रकार ज्ञानी जीवका अन्तरंग में और पुरुषार्थ ही क्या है ? यही कि अपने आपको समस्त पर और परभावोंसे निर्लेप केवल ज्ञानमात्र निरखना। ज्ञानमात्र निरखनेमें शुष्कता आती है अर्थात् रागादिक भाव वहाँ जम नहीं पाते, रागादिकका चिकनापन नहीं रहता और सरसता, आनन्दमयता वृद्धिगत होती रहती हैं। ज्ञानबलसे अपने आपको ज्ञानमात्र निरखनेका यत्न किया जाय, अधिकाधिक भावना बनायी जाय, मैं ज्ञानमात्र हूं ऐसा अनुभव होनेपर यह कर्मधूल, ये रागादिक विकार यों ही झट झड़ जायेंगे। तो अपनेको ज्ञानमात्र तो मानें नहीं, आकाशवत् अमूर्त सबसे निर्लेप केवल ज्ञानमात्र तो अपनेको समझे नहीं और व्रत नियम उपवास आदिक धर्मकी जो जो बातें इसने सुन रखी उनमें विशेष प्रवृत्ति करके निरखना चाहे, देखना चाहे, बाट जोहे कि अब हमें समस्त परभावोंसे निर्लेप केवल चैतन्यमात्र अनुभवसे प्रकट होने वाली मुक्ति मिलेगी। पर कहाँ है उसको मुक्ति ? प्रथम कर्तव्य यह है अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवमें लेना। इससे बढ़कर लोकमें अपने हितका और कार्य नहीं है। ज्ञानमात्र हूं ऐसा ज्ञानमें जब अनुभव जगता है तो सर्व समृद्धियाँ उत्पन्न होंगी। जगतमें बड़े बड़े चक्री होना, नारायण होना, बलदेव होना, और और भी विशेष समृद्धियाँ पाना——ये हाथ पैरके उद्यम द्वारा साध्य नहीं हैं। या बुद्धिका प्रयोग कर करके, चालें निकाल निकाल

चेतनमें नहीं जाते, इसी प्रकार अचेतनमें किसी भी एक अचेतनकी परिणति व गुण किसी अन्यमें नहीं पहुँचते, क्योंकि ऐसा वस्तुस्वभाव है। है वस्तु स्वभाव ऐसा, इसका प्रमाण यह है कि अब तक जगत्के पदार्थ ज्योंके त्यों व्यवस्थित बने हुए हैं। यदि कदाचित किसी द्रव्य से कोई गुण पर्याय किसी अन्य द्रव्यमें आते होते तो जिससे आते वह तो सूना हो गया। कभी इससे भी जायगा। तो यों जगतमें फिर कोई पदार्थ नहीं रह सकता। ये सब पदार्थ बराबर विद्यमान हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी वस्तुका गुण अथवा परिणमन किसी अन्य वस्तुमें नहीं पहुँचता। ऐसी उत्कृष्ट श्रद्धा करने वाले ज्ञानी पुरुषपर पदार्थोंकी परिणतिको निरखकर चित्तमें हर्ष एवं विषाद नहीं करते। यदि बाह्य पदार्थ मेरी इच्छाके अनुकूल परिणम गए तो इसमें हर्षकी क्या बात ? बाह्यपदार्थ तो बाह्य ही हैं। उनकी बात उनमें है, उनसे मेरेमें कुछ नहीं आता। यदि बाह्य पदार्थ प्रतिकूल परिणमता है तो उससे भी ज्ञानी पुरुष विषाद नहीं मानता, क्योंकि वह जानता है कि बाह्यपदार्थका जो कुछ है वह उसमें ही हो रहा है। कोई भी बाह्यपदार्थ मेरेको लक्ष्यमें लेकर मेरे अनुकूल बर्तनेका परिश्रम नहीं करता। वह तो निमित्तनैमित्तिक सम्बंधमें जैसा होना है वह होता है। ये जीव स्वयं उनमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि कर लेते हैं। वस्तुस्वरूपका यह अकाट्य नियम है कि कोई पदार्थ अन्य द्रव्यरूप नहीं परिणमता, कोई गुण अन्य गुणरूप नहीं परिणमता, किसी की परिणतिसे कोई नहीं परिणमता।

७८४. निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुस्वातन्त्र्यका प्रकाश—निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुमें स्वतंत्रताकी व्यवस्था अनादिसे बनी हुई है। इस जीवने अनादि कालसे रागद्वेष विकार विकल्पादिक रूप परिणति की है। हुई है वह कर्मोदयके सन्निधानमें. हैं वे सब नैमित्तिक भाव, तिसपर भी यह जीव इन चेतन प्रदेशोंमें जिस सीमा तक बिगड़ा हुआ होकर भी परिणम सकता था सो परिणमा। अपने स्वभाव स्वरूप सीमा से बाहर अर्थात् अन्य अचेतनकी भाँति परिणति नहीं की। हुआ यह सब निमित्तनैमित्तिक भाववश, होने दो, ऐसा वह धैर्य न रख सका, जान न सका, किन्तु जो विकार हुआ उस ही विकारमें एकत्व बुद्धि करके यह कर्ता बना। कर्ता न होकर भी कर्ता बना, यह अज्ञानमें अपराध है। कहीं ऐसा नहीं है कि ज्ञानी जीव तो कर्मका अकर्ता है और अज्ञानी जीव कर्म का कर्ता है, यह वस्तुस्वरूपके विरुद्ध बात होगी। यदि कहा जाय कि अज्ञानी जीव पुद्गल कर्मका कर्ता है, तो यह सिद्धान्त बिगड़ गया कि एक द्रव्य दूसरेमें कुछ नहीं करता। निरखा तो यहाँ तक जाता कि जैसे ज्ञानी जीवके आत्मामें पुद्गल कर्मोदय होनेपर रागादिक विकार झलके तो इसमें वह ज्ञानी क्या करे ? झलक ले, तो इसी तरह अज्ञानी जीवके आत्मामें भी कर्मोदय विपाक सन्निधान होनेपर रागादिक विकार आ गए तो अज्ञानी जीव भी वहाँ क्या

सम्पत्ति है। ज्ञानबल चाहिये, शुद्ध ज्ञान चाहिये, सही ज्ञान हो तो उसका उद्धार निश्चित है। तो वस्तुस्वरूपको हम आप इस स्वतंत्रताके रूपमें देखें और वहाँ यह ज्ञात करें कि परभाव किसीके द्वारा भी किसी प्रकार किये नहीं जा सकते। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पुद्गल कर्मोंका भी अकर्ता है।

दव्व गुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुम्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

७८७. दृष्टान्तपूर्वक परमें आत्माके अकर्तृत्वका विवरण--आत्मा पुद्गलमय कर्मोंमें अपना द्रव्य या गुण कुछ भी नहीं करता। जब अपना द्रव्य, गुण, परिणमन कुछ भी अन्य द्रव्यमें रख नहीं सकता तो फिर कर्ता कैसे कहलाया? जैसे कोई घड़ा कर्म बन रहा है, देखो वह मिट्टीमय ही है ना। जिस धातुका घड़ा बन रहा उस ही धातुके मय है ना घड़ा? अब उसमें चीज है क्या? मिट्टी द्रव्य है और मिट्टीके ही गुण हैं और वह स्वभावसे ही वर्तमान है। वह किसीने रखा हो, थापा हो, मनाया हो कि ऐ घड़े तू अपनेमें मिट्टीका रूप रख ले। मिट्टीका गुण रख ले; सो बात नहीं। वह द्रव्यतः स्वरसतः मिट्टीमय है। उस घड़ेमें किसी अन्य चीजकी कोई बात आ सकती है क्या? कुम्हारने अत्यन्त अधिक परिश्रम किया। पहिले मिट्टीको खूब गीला किया, छाना, उसका पिण्ड बना, चाकपर रखा, घुमाया, मृतपिण्ड फैलाया, घड़ेका आकार बना। कुछ जरा सूखनेपर उसमें थपथपे भी बहुत लगाये, फिर उसे पकाया, बहुत परिश्रम किया। घड़ा बन तो गया, पर उस घड़ेमें कुम्हारका कुछ भी अंश न पहिले आ सका, न अब आ गया है, न है, न रहेगा। कुम्हार अपने आपमें ही पूरा का पूरा वही तो है। तो उस मिट्टीमय घड़ा पर्यायमें मिट्टीका द्रव्य, मिट्टीका गुण स्वभावसे मौजूद है, अन्य द्रव्यसे कुछ नहीं आया, इसमेंसे कुछ जाता नहीं। कुम्हारने अपना कोई गुण उसमें रखा नहीं, क्योंकि किसी भी द्रव्यकी कोई बात किसी अन्य द्रव्यमें आ नहीं सकती। तो जब कुम्हारकी कोई बात उस घड़ेमें गई ही नहीं, देहका कोई अणुस्कंध जब कुछ उस मृतपिण्डमें गया ही नहीं तो निश्चयमे कुम्हार घड़ेका कर्ता कैसे कहला सकता है? यही बात अपने आपके बारेमें समझ लीजिये। यद्यपि कर्म दनादन बंधते चले जा रहे हैं, किसी भी क्षण ये रुकते नहीं है, पर उस प्रसंगमें देखिये तो सही कि ज्ञानावरण आदिक कर्म जो कि पुद्गलमय हैं उस कर्ममें क्या मौजूद है? जो जीवके साथ ज्ञानावरण आदिक कर्म बँधते हैं बंध गए, अब यह बतलावो कि उसमें मौजूद क्या है? पुद्गलका गुण पुद्गलकी ही बात है। जिन स्कंधोंमें यह अणु बना है उसमें उस ही की बात है। आत्माका द्रव्य, आत्माका गुण, आत्माका कोई तत्त्व उसमें पहुंच ही नहीं सकता। तो आत्माका गुण उसमें कहाँ रखा जा सकता है, अथवा आत्मा वहाँ कहाँ है? जब आत्मा भी अन्य द्रव्यरूप संक्रमण नहीं कर

कर बना लेने वाली बातें नहीं हैं, किन्तु जिन्होंने पूर्वमें इस ज्ञानमात्र आत्माकी साधना की ऐसे पुरुषोंको अपने-अपने वातावरणके अनुसार और कुछ रही त्रुटियोंके अनुसार और भीतरमें हुए धर्मविकासके अनुसार ये पद मिल जाया करते हैं। एक अपनेको साधले तो सब सध जाता है। अपनेको साध लेनेपर ज्ञान मात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति अनुभूति कर लेने पर जैसे इसका हित होगा वैसे सब वातावरण कर्मबन्ध सब कुछ बन जाया करते हैं। अपनी भवितव्यतामें अपना हाथ है। हम अपनेको सुधार लें, अपनेको बिगाड़ लें, जैसा चाहे इस ज्ञान द्वारा, इस विकल्प द्वारा अपने आपको बना सकते हैं। तो जब समस्त पदार्थ अपनी गुणपर्याय प्रदेशात्मक हैं तब यह कैसे आशा की जा सकती है कि किसी पदार्थसे किसी अन्य पदार्थका कुछ बन जाता है।

७८६. **हितार्थ अपना कर्तव्य**—प्रथम तो हम आप लोग अपने आपके ठीक बनाने में ही बहुत-बहुत परकी आशा बनाये रहते हैं। लोग मेरेको समझें, मेरी महत्ता जानें, मेरे अनुकूल ये परिणमें तो मुझे फिर इस जगतमें कोई आपत्ति न रहेगी, ऐसा यह अज्ञानी जीव मानता है। यह सुध नहीं करता है कि मैं ज्ञानमात्र, अंतस्तत्त्व, हूँ, इसके सिवाय और कुछ मुझे करना नहीं है, ऐसा करते हुए मेरे पर जो बीते वह बीतने दो। बाहरी सुविधा बढ़ा ली जाय तो इससे आत्माका हित नहीं है, किन्तु अपने आपमें विशुद्ध सुविधा बढ़ा ली जाय इससे आत्माका हित है। यहाँके लोग, इस जगतके लोग कर्मप्रेरित जन्ममरणका चक्र लगाने वाले दीनवत् भ्रमण कर रहे हैं। आज इस मनुष्यभवमें आये हैं, इसमें मैं क्या चाहूँ, मैं तो अपने आपमें अपने आपके निर्लेप स्वरूपको तकूं और प्रसन्नतासे छकित रहूं, यह कला यदि कर पायी तो समझिये कि हम वास्तविक कलावान हैं। एक आत्मानुभवकी कला न जगी और देह श्रमसे कितनी ही बड़ी बात कर ली जाय, उससे आत्महित नहीं है। क्या करना है कला ? यही समझना है कि प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण स्वतंत्र है, किसी वस्तुको अपने किसी परिणमनके लिए किसी दूसरी वस्तुकी अटक नहीं है। कोई पूछे कि आत्मा जब रागादिक रूप विभाव परिणमन करता है तो उसमें तो आश्रयकी अटक हो जाती है उस रागभाव बननेमें, मकान तो होना चाहिए सामने तब तो राग बन सकेगा। अरे रागपरिणतिका उदय होनेपर इसमें रागादिका परिणमन होते समय जो कुछ भी विकल्पमें पदार्थ आयेंगे या जो कुछ भी सामने होगा पदार्थ उसीका ही आश्रय करके यह रागादिक करने लगेगा। रागादिकसे बचनेके लिए विकाररहित केवल ज्ञानमात्र निजस्वरूपकी उपासनाकी संभाल होना चाहिये। यह कर सके तो जीवनकी सफलता है। जीवनमें जो पुरुष कष्ट उठाते हैं उनमें यह कला सुगमतासे आ जाती है और जो अपने जीवनको आराममें रखते हैं ऐसे पुरुषोंको यह स्वरूपस्मरणकी कला कठिनाईसे आ पाती है। दुःख भी इस मानवकी

जायें। अरे वह उपाय यही तो है जिसे गरीब भी कर सकते, अमीर भी कर सकते। थोड़ा यत्न रखकर इसमें कुछ ज्ञान प्रवेश करना है। समस्त वस्तुयें परिपूर्ण स्वतंत्र हैं, किसी का धर्म, किसीका गुण, किसीका परिणमन किसी अन्यके द्वारा किया नहीं जा सकता। तब इससे सिद्ध है कि आत्मा पुद्गलकर्मका अकर्ता है। जैसे अन्य बाह्य पदार्थोंका कर्ता नहीं है, इसी प्रकार कोई भी आत्मा किसी अन्य द्रव्यका कर्मका भी कर्ता नहीं है। अकर्ता स्वरूप निरखनेपर अपनी परेशानियाँ विकल्प, झंझट, क्षोभ, चिन्तना आदिक ये सब दूर हो जाते हैं। इससे ज्ञानमात्र अपनेको देखो और अपनेमें ही प्रसन्न रहकर विशुद्ध आनन्दका अनुभव करते रहो, यही एक सारभूत व्यवसाय है।

जीवम्हि हेदुभूदे कम्मस्स हु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदे कम्मे भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

७६०. कर्मकी जीवकृतताके उपचारसे कथनका कारण—पौद्गलिक कर्मका बंध होनेमें जीवका विभावपरिणाम निमित्तभूत है, सो निमित्तभूत जीवके विभावपरिणाम होने पर कर्मबन्धके परिणामको देखकर लोग कहते हैं कि जीवने कर्म किया। सो यह कथन उपचारसे समझना चाहिये। यद्यपि बात ऐसी बहुत स्पष्ट जंच रही है कि जीवमें रागादिक भाव हुये तो उनका निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है तो भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि करके निरखनेपर जीवका सब कुछ जीवके चतुष्टयमें निरखा जायगा। कर्मका सब कुछ कर्मके चतुष्टयमें निरखा जायगा। विभाव आदिक परिणामोंका आश्रय है जीव और कर्मोंका आश्रय है कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कंध। दोनोंमें जो कुछ है उस ही को निरखना, सो निश्चयदृष्टिका काम है। पृथक्-पृथक्में निरखना, जीवका परिणमन, जीवका गुण, जीवके प्रदेश, जीवका सर्वस्व जीवमें निरखना, चाहे कैसा ही परिणमन हो और पुद्गलका परिणमन, उसके प्रदेश, उसके गुण, उसका सर्वस्व उसमें निरखना यह कहलाता है वस्तुस्वरूपका दर्शन। तो वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे जीवने कर्ममें कुछ नहीं किया, कर्मने जीवमें कुछ नहीं किया। अहो! कैसा कठिन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि अनादि कालसे यह जीव भटकता चला आया है, नाना जन्ममरणके संकटोंमें उलझा हुआ चला आया है तिस पर भी वस्तुस्वरूपकी दृष्टि यह बतलाती है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र परिपूर्ण अपने आपमें अस्तित्वको लिए हुए है। निमित्तनैमित्तिक भावकी भी बात देखो तो पौद्गलिक कर्मके बन्धन होनेमें जीवद्रव्य क्या स्वभावसे निमित्तभूत है? जीवका स्वभाव पुद्गल कर्मका निमित्त बननेका नहीं है, फिर भी अज्ञानभावसे बंधके निमित्तभूत अज्ञानभावसे परिणम रहा है तो निमित्त होनेपर बंध हुआ ना, अतएव उपचारसे कहा जाता है कि आत्माने पौद्गलिक कर्म किया। यह निर्विकल्प विज्ञानघन समाधिभावसे भ्रष्ट हुए विकल्पोंमें लगे हुए

सकता, अथवा अन्य द्रव्यके संक्रमण किये बिना ही जब सब कुछ स्वयंका स्वयंमें होता है, दूसरेका गुण पर्याय दूसरेमें नहीं भरा जा सकता तो निश्चयसे आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे होगा ? इससे सिद्ध है कि आत्मा पुद्गल कर्मका अकर्ता है। कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थका परिणमन करनेमें असमर्थ है।

७८८. **वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावका ज्ञातृत्व**--निमित्तनैमित्तिक भाव जैसा है सो है, पर हर समय निमित्तनैमित्तिक भावकी फिकर न रखना चाहिये। समझ लिया एक बार समझनेकी चीज है, वह ज्ञेय तत्त्व है, कहीं उपादेय नहीं है। जान लिया कि अमुक परिणमनमें अमुक पदार्थका परिणमन इस प्रकार निमित्त होता है, अपने आपके विकारपरिणमनमें जो कर्मोदयका निमित्तपना है वह समझ लिया। अब वह दिलमें समाये रहनेके लिए नहीं है या उपासना किये जानेके लिए नहीं है। दिलमें बसाये रहनेकी बात, उपासना की जानेकी बात तो आत्माकी आत्मामें है। आत्माका जो विशुद्ध एकत्व है अर्थात् अपने ही सत्त्वके कारण अपने आपमें जो सहज स्वभाव पड़ा है उस विशुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान करना, यह दिलमें बसानेकी बात है और उपासना की जानेकी बात है। और इसी कारण नैमित्तिक भावको, परभावको आत्मामें स्थान कभी नहीं दिया गया है। यह विकारोंका अन्वयव्यतिरेक पुद्गल कर्मोंके साथ है, मेरे साथ नहीं है। इस बोधमें अपने आपको उससे अलग निर्लेप अकिञ्चन ज्ञानमात्र अपनेको तक लिया गया है। अपनेको ज्ञानमात्र समझना— यह सबसे महान पुरुषार्थ है। जैसे कोई पुरुष धानकी भुसीको चावलसहित धानके भावसे खरीदे तो उसे कौन बुद्धिमान कहेगा ? अर्थात् कोई विवेकी न कहेगा। यहीं कोई पुरुष निश्चयकी श्रद्धासे रहित निश्चयका विरोधी बनकर उस निश्चय तत्त्वके आलम्बनमें जो दृष्टि पायी जा सकती है उसे पाकर केवल एक अज्ञानमें विकारमें ही अपना समय गुजारे तो उसे कोई विवेकी न कहेगा। जैसे चोर-चोर आपसमें एक दूसरेकी कलापर शाबासी देते रहते हैं, यों ही ये रागी रागी जीव आपसमें एक दूसरेको शाबासी देते रहते हैं, पर इससे आत्माका कोई प्रयोजन निकलना नहीं है। सबसे निराला अपनेको ज्ञानमात्र निरखनेपर ही अपना हित हो सकेगा, यह बात वस्तुस्वरूपके अनुभवसे होती है, उसीका यह प्रसंग चल रहा है।

७८९. **विशुद्ध ज्ञानोपयोगसे विशुद्धानन्दलाभका स्मरण**—हे प्रियतम आत्मन् ! तुम अपनी शान्ति चाहते हो तो देखो, बहुतसा काम तुमने अभी तक कर लिया है. अब अन्त: जो उद्यम और रहा है उसे और करिये। बाह्य पदार्थोंके साथ आत्माका कोई सम्बंध नहीं है, इस प्रकारका दृढ़ निश्चय बनाना यही कर्मकलंकको काटनेका तरीका है। लोग घबड़ाकर भी पूछते हैं कि मुझे एक लैनका कोई मंत्र तो बता दीजिये कि संसारके सारे संकट टल

हमें आत्मलक्ष्य तो रहता नहीं, आत्मलक्ष्यका अभिप्राय कुछ आत्मनिरीक्षणसे भी है, किन्तु यह कार्य बड़ा कठिन है किन्तु जितना कठिन है उससे अधिक संतोषप्रद भी है। हर कोई दूसरोंका मुख या जगतके सम्मुख अनेक पदार्थोंको यथोचित क्षेत्र प्रकाश व आँखोंकी शक्ति अनुसार देखता है। पर जिन आँखोंसे यह परवस्तुओंको देखता है उन आँखोंको थोड़ी देर थोड़े अंशमें भी यह नहीं देख पाता। सुखकी चाहमें हमें पुण्य पापका भी बोध नहीं रहता। आपने देखा होगा कि गजरथ चलाने वाले सेठ साहूकार कितनी अहम्मन्यतामें भर जाते हैं। जिस अहम्मन्यताके मदमें, धर्मकी ओटमें अधर्म का भी पोषण इतनी अधिक मात्रामें करते हैं कि रथ चलानेके कुछ वर्षों या कुछ पीड़ियों बाद उसका सर्वनाश ही नजर आता है। जिसके उदाहरण यू० पी० प्रान्तके दक्षिणी हिस्सेमें अधिक हैं।

७६३. अन्तः ज्ञानसंचारका बल—अब धार्मिक प्रभावनाका कार्य शिक्षा-प्रचार ही समझा जाने लगा है। इसी शिक्षा-प्रचारके लिये प्रभावनाके अंगोंमें प्रथम गिनाया गया है कि—"ज्ञानाभ्यास करे मन माहीं, ताके मोह तम नाहीं" किन्तु देखो द्यानतरायजीने सोलह कारण पूजामें जयमालामें ऐसे ज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता बताई है जो मनको छुए, मनपर असर करे। केवल परीक्षामें पास होनेकी सार्टीफिकेट या प्रमाणपत्र या पारितोषिक पानेको या सभामें उपदेश देकर ख्याति पानेकी या आजीविका चलानेकी भावनासे प्राप्त किया ज्ञान प्रभावक नहीं होता। "ज्ञान समान न आन जगत्में सुखको कारण। यह परमामृत जन्म जरामृतु रोगनिवारण॥" यह सम्यग्ज्ञान या आत्मानुभव हियेकी आँखें कहलाती हैं। कितनी ही अधिक ऊंची शिक्षा दिलानेपर कई बुद्धू बने रहते हैं और किन्हींको थोड़े ज्ञानसे भी बुद्धिका अच्छा विकास हो जाता है। आज क्या हमेशा यह सिद्धान्त ठीक रहा कि जिसकी लाठी उसकी भैंस अर्थात् "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" विवेकी तो आपत्तिसे मार्गमें फंस जानेपर कष्ट और दारिद्रय होनेपर भी जो धैर्य रखकर उस कष्टसे निकलतेका उचित प्रयत्न करता है और "अड़ी खड़ी हो अमित अड़चनें आडी अटल अपार। तो भी कभी निराश निगोड़ी फटक न पावे द्वार॥१॥ सारा ही संसार करे यदि दुर्व्यवहार प्रहार। हटे न तो भी सत्यमार्गगत श्रद्धा किसी प्रकार॥२॥ असफलताकी चोटोंसे नहीं दिलमें पड़े दरार। अधिकाधिक उत्साहित होऊं मानूं कभी न हार॥३॥ जिसके आगे तनबल धनबल तृणवत् तुच्छ असार। महावीर जिन वही मनोबल महामहिम सुखकार॥४॥ मुझे है स्वामी उस बलकी दरकार॥ यह मनोबल ही वह श्रेष्ठ विद्या है जिसे कहते हैं कि—"विद्या सकल गुणोंकी धाम, विद्याका ही पारस नाम॥" विद्याके बलसे न कुछ आदमी भी सब कुछ बन जाता है। स्वामी अकलंकने विद्याके बलसे ही धर्मकी महिमा फैलाई और अपनी आँखोंके आगे भाईका बंध होते भी आत्मानुभवके बलपर सहन किया।

अन्य पुरुषोंका विकल्प है, सो वह उपचारकी बात है परमार्थकी बात नहीं है। वह आत्मा धन्य है जिस आत्माने यह कुन्जी प्राप्त की, यह अपनी आदत बना ली, ऐसी धुन बना ली कि प्रत्येक पदार्थमें उसके ही स्वरूप सर्वस्वको निरखेगा। निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपको निरख लेना यह बड़े ज्ञानबलका कार्य है।

७६१. लक्ष्य बिना उद्यमकी असफलता—एक बार कुछ कलकत्तेके व्यापारियोंने जलमार्गसे जहाजसे बम्बई जाने का इरादा किया। दिन भर रकम इकट्ठा करने, आवश्यक सामान व कागजात साथ ले जाने व लौटने तक की घर व दुकानकी व्यवस्था, घरके व दुकानके आदमियोंको समझानेमें पूर्ण प्रयत्नके साथ लग गये। शाम हो गई, १ घंटा १॥ घंटा अंधेरा हो गया। सब साथियोंको बुलाया, इकट्ठे हुए, बातचीत की, सब साथियों की संभाल हो गई। जहाजपर सामान यथा-स्थान लद गया और यथास्थान बैठकर संतोष की सांस ली और फिर किसको क्या लाना है, अपन किस समय मुम्बई पहुंचेंगे आदि बातें होने लगीं। जहाज चलाने वाला भी इसी प्रकारकी अपनी झंझटोंमें फंसा रहनेसे थक गया था। वह जहाजपर अपनी जगह बैठा और लगा पतवार हिलाने, बराबर कई घंटे उसने पतवार चलाया। जितने व्यापारी सवार थे सब सो गये। करीब ४ बजे पीछे उनकी नींद खुली। सबने एक करवट बदली और फिर कुछ मीठी नींदमें सो गये। पाँच बजे वे फिर जगे और आपसमें बातें करने लगे कि अब थोड़ी देरमें सूर्योदयके पहिले बम्बई आ जायेगा, किन्तु देखते क्या हैं कि जहाज जिस जगह खड़ा था वहीं हिल रहा है। जहाज चलाने वालेको लंगर खोलनेका ध्यान नहीं रहा था। बस यही हाल हमारी भक्ति व स्तुति का है कि हम सदा रागके खूंटेसे बंधे हैं, यह पड़ौसीकी सम्पति मुझे मिल जाये, ऐसा निरोग सबल शरीर मेरा हो जाये, आगे भी ऐसा ही या इससे अधिक सुख मुझे मिले, किन्तु मिलने मिलाने की धुन ऐसी भूल-भुलैया है कि वह कभी निवृत्त नहीं होने देती।

७६२. पुण्यमदकी व्यर्थता—कोई सोचते हैं कि मेरी रकम जिन सेठके यहाँ जमा है वे भी नियत समयपर नियत मेरी मांगके अनुसार जमाकी रकमसे भी कम रकम नहीं देते, हीला हवाला करते है कि आज बाजारका दिन है, फुरसतमें आना। कल आना, कल जाते हैं तो उत्तर मिलता है अभी एक आसामी बड़ी चीज सोनेके गहने रख गया है और सब रुपया उसके पेटमें भर दिया है। अभी थोड़ी देरमें कोई रकम आई जाती है आप चाहो जितना रुपया ले जाना। इसी भांति जो पुण्य हमने बंध कर रखा है उसीमें से कुछ कम हमें फलरूपमें प्राप्त हो सकता है किन्तु यह भी ध्यान रहे कि जिस कर्मका जितना अधिक स्थिति बंध होता हैं उसका अबाधा काल भी उतना अधिक लम्बा रहता है, न जाने वह कब उदयमें आता है ? इतने पर भी यह बात पहिले कह चुके हैं कि सुखकी चाहमें

आदि विकल्पोंकी ग्रन्थियाँ मत लगाओ, किन्तु मैं उनका ज्ञाता मात्र हूं—ऐसी भावना रखो। निमित्तनैमित्तिक रूपसे जो क्रियाएं होती हैं उनमें भी आसक्त मत होओ। एक लोकोक्ति आपने सुनी है कि "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्॥" अर्थात् कुलकी शुद्धि या कुलको महत्ताके लिये आवश्यक है कि कदाचित् हमारे घर या कुलमें कोई नरहत्या जैसा महान् अपराध कर बैठे तो उस अपराधीसे अपना व्यवहार तोड़ दे और गांवकी भलाईके लिये कुलका पक्ष छोड़ देवे। मेरे कुल या वंशका कोई नेता बन जावे—ऐसी भावना या हठको छोड़ सारे गांवकी भलाई जिसमें हो उसीके समर्थनमें शक्ति लगावे और यह शिक्षा समिति ऐसी जगह हो जहांसे सारे देशके अधिकसे अधिक आदमी लाभ लेवें तो ऐसे देशहितकी भावनाके समक्ष केवल मेरे ही गांवका हित इस शिक्षासमितिसे हो, ऐसे हठको छोड़े और आत्मकल्याणके लिये समस्त पृथ्वीसे अनुराग छोड़े। संसारमें राजेश्वरीसे अधिक महिमा तपेश्वरी की है। शान्तिनाथ कुन्थुनाथ अरहनाथ तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती हुए। किन्तु आत्मकल्याण व परमसंतोपकी भावनाके लक्ष्यसे षट्खंड का वैभव छोड़ा—"जो संसार विषे सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागें, काहेको शिव साधन करते संयमसे अनुरागें॥ अतएव यही भावना भाओ कि मैं रहूं आपमें आपलीन। सों कर, होहुँ ज्यों निजाधीन॥"

७८६. **शुद्धनयके प्रयोगसे आत्मसाधनका कर्तव्य**—शुद्धनयसे शुद्ध आत्मानुभव होता है। अतएव विचारो कि मैं ज्ञानानंद रूप आत्मा शरीर आदि परद्रव्योंका कर्ता नहीं हूं और ये शरीरादिक परद्रव्य मेरे नहीं हैं। मैं तो सकल परभावोंसे रहित ज्ञानस्वरूप ही हूं—इस प्रकारका ध्यान जो भेदविज्ञानी करे वह एकाग्रतामें मग्न हुआ समस्त ममत्व भावोंसे भिन्न निज आत्मस्वरूपका चिन्तवन करता है सो आत्माका ध्याता कहलाता है। जो व्यवहार नय में विरोध न करे किन्तु राग द्वेषसे कर्मबंध होता है ऐसा भी ठीक समझे और आत्माका ज्ञाता द्रष्टास्वरूप शुद्ध निश्चयसे जानके मोहको छोड़े वही जीव शुद्धात्मा या धर्मात्मा है। जो व्यवहारनयसे पर्याय चलती है उनमें असत्यता समझ पर्यायबुद्धि दूर कर द्रव्यकी शुद्धता को समझे। जो सोचे कि आत्मा कर्मरहित है, शरीरसहित है, राग द्वेप सहित है या दर्शन ज्ञान चारित्र तीन भेद रूप है सो अशुद्धनय है। एक अखंड द्रव्यका अनुभव करना शुद्धनय है और खंड करना अशुद्धनय है। द्रव्यमें गुणगुणीका भेद ढूंढता फिरे सो भी अशुद्धनय है। स्वानुभवके समयमें द्रव्यमें या आत्मामें ज्ञान दर्शन चारित्र शक्तियाँ झूठ नहीं हैं, किन्तु उनकी खंड खंड कल्पना झूठ है। यथार्थमें आत्माके ज्ञायक स्वभावके ही दर्शन ज्ञान चारित्र तीन भेद हैं। दो द्रव्योंका मेल मानना सो अशुद्धदृष्टि है और एक आत्मद्रव्यमें अनन्त चतुष्टय रूप भेद करना सो भी अशुद्ध दृष्टि है। ज्ञाताद्रष्टाको व्यवहार नयमें माध्यस्थ दृष्टि

७६४. **श्रेष्ठ अन्तर्विद्याके बिना बाह्यवृत्तिसे अलाभ**--मुनि जब मुनियोंकी सभामें उपदेश देते हैं तब वे यह अनुभव करते हैं कि क्रिया रूपसे २८ अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन सब कर रहे हैं, किन्तु "आत्मानुभव बिना पानीमें भी मीन प्यासी" अर्थात् उत्कृष्ट धर्माचरण होते भी आत्मदर्शन न होनेसे जगत्जालमें ही चक्कर लगाते हैं। सो अन्तरंग शुद्धिके लिये परलक्ष्यकी आभा भी छोड़ो। स्वावलंबन ही सर्वश्रेष्ठ है-- "सिखाये पूत दरबारे नहि जात" अर्थात् जो हमेशा परकी बुद्धिसे काम करता है वह साहसहीन हो जाता है और वह अन्तरंग आत्मीक उन्नति तो क्या लौकिक शारीरिक उन्नति भी नहीं कर सकता। एक सेठ जी थे। अच्छा व्यापार करते और धन कमाते थे--उन्हें देख एक धनहीन और बुद्धिहीन पड़ौसीको सूझा कि मैं भी सेठजीके समान खरीद बिक्री करके धनवान क्यों न हो जाऊं? सेठजी ने धान खरीदी, इसने दूरसे ढेर लगा देखा कि सेठजी ने मटमैली सफेद लम्बेसे दानेकी कोई चीज खरीदी है। दूसरे दिन उस मटमैली सफेद चीजकी खरीद की धुनमें रकम बाँध बाजारकी ओर चला और संयोगवश जिस इंजनमें धान छीलकर चावल निकाले जाते थे वहाँ पहुँचा। वहाँ चावलोंके बोरे भर लेनेके बाद अलग ढेरका ढेर धानका भुस पड़ा था। उसने उसे धानके भावमें खरीद लिया। बताओ क्या वह भुस खरीदने वाला धनी बन जायेगा? कभी नहीं। इसी तरह ऊपरकी क्रियाएं मुनि पालते हैं, किन्तु आत्मानुभव न होनेसे क्रियाकांडके विकल्पोंमें ही फंसे रहते हैं। किसी क्रिया, किसी रीति रिवाज को लेकर अपने मनमें व भक्त श्रावकोंके मनमें विग्रह खड़ा कर लेते हैं और आत्मसाधनाकी जगह आत्मवंचना या परवँचना ही दृष्टिगत होती है। द्रव्यलिंगकी ममतासे ऐसी आँखें वे स्वानुभवकी ओरसे मिच जाती हैं जैसे कि निशाचरकी आँखें प्रकाशयुक्त सूर्यको दिखकर मिच जाती हैं। जैसे गृहस्थीको पुत्र स्त्रीमें राग रहता है, ऐसा ही यह मुनि आत्मानुभवके बिना औरोंसे अपनेको पुजवानेका राग रखता है।

७६५. **आत्मार्थीकी उदार प्रकृति**--आत्मानुभवीकी जो प्रवृत्तियाँ रहती हैं उनमें मन्द कषाय रहती है जिसके बंध व उदयसे अनायास सद्गति और उपयोग सामग्री मिलती जाती है। जिस रोगीको निरोग होना है वह स्वास्थ्यके नियमोंपर सदा ध्यान रखेगा। उसकी आहार विहार व्यापार आदि समस्त क्रियाएं स्वास्थ्यको लक्ष्य करके होती हैं। वह कोई ऐसा आहार नहीं करना चाहता कि और रोग बढ़ जावे। ऐसी ही प्रवृत्तियाँ आत्मानुभवीकी रहती है कि वह प्रत्येक कार्यको करते हुए ज्ञातामात्र बना रहता है। कदाचित् आत्मानुभवसे कषायवश हट भी जाता है तो फिर तुरन्त परलक्ष्यकी हानियां और आत्मलक्ष्यके परमलाभोंका स्मरण कर फिर स्वानुभवमें ही रम जाता है। उपस्थित धर्म प्रेमियों! तुम अपने घरके आदमियोंमें भी पिता पुत्र, पति पत्नी, स्वामी सेवक, कर्ता भोक्ता

गयी तो वह अवास्तविक है, फिर भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेसे उसका उपचारसे कथन है। परमार्थतः जीव पुद्गल बंधका कर्ता नहीं, निमित्त नहीं, इस परिचयसे हम अपने आपके विशुद्ध स्वभाव तक पहुंचनेका यत्न कर लें।

७६८. हमारा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य—लोकमें सर्वोत्कृष्ट कार्य यही है कि जिस प्रकार बने, बाह्य व्यापारोंसे हटकर अन्तरङ्ग शुद्ध चैतन्मय अन्तस्तत्त्वके निकट आयें। जिसका ज्ञान विशुद्ध हुआ है, जिसने निजको निज व परको पर समझ लिया है, जो सर्व परसे हट कर अपने आपके स्वभावमें आता है उसका ही पुरुषार्थ धन्य है, आदर्श है। इतना जो काम न कर सका. जो नहीं कर सकता है वह लौकिक आराममें, लौकिक वैभवमें, लौकिक इज्जत में चाहे कितना ही बढ़ जाय पर वह कुछ भी नहीं है। जैसे कहते हैं ना कि दो दिनकी कोतवाली मिली और उसके बाद फिर घसियारेका काम मिला। तो ये आराम, ये वैभव, ये समागम, ये इज्जत आदिक आत्माके हितरूप नहीं हैं। आत्माका हित तो समस्त परभावों से हटकर चिन्मात्र आत्मतत्त्वमें पहुंचनेपर ही है। सो यह बात वस्तुत्वदृष्टिसे मिला करती है। उस वस्तुत्वदृष्टिसे निरखनेपर यह कथन अवास्तविक जंचा कि जीवने पुद्गल कर्मको किया। किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव अवास्तविक होनेपर भी, एक वस्तुगत न होनेपर भी निमित्तनैमित्तिक भावका अन्वयव्यतिरेक निरखा जाता है तो यह कथन उपचारसे कहा हुआ समझा जाता है। जिसमें निमित्तनैमित्तिक भाव भी नहीं, किसी भी प्रकारका सम्बन्ध ही नहीं है उसका इसमें उपचार भी नहीं हुआ करता। उसकी चर्चाका अवसर ही कुछ नहीं है। जीवने पुद्गलकर्म किया—यह उपचार है। इसको स्पष्ट करनेके लिए दृष्टान्त कहते हैं।

जोधेहिं कदे जुद्धे रायेण करंति जंयदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेहिं ॥१०६॥

७६९. उपचार कथनका एक दृष्टान्त—जैसे कि जब दो देशोंमें युद्ध होता है, सेना आपसमें भिड़ती है उस समय लोग यही कहते है कि देखो—यह राजा युद्ध कर रहा है, पर यह तो बतलावो कि युद्ध परिणामसे परिणाम कौन रहा है, राजा या सिपाही लोग? राजा तो महलमें बैठा हुआ मंत्रियोंसे मंत्रणा कर रहा है, और युद्धका संचालन कर रहा है, अथवा कभी जैसे प्राचीन समयमें होता था कि राजा भी युद्ध करने जाता था, पर जितना यह विकट विशाल व्यापक युद्ध छिड़ा है तो हजारों लाखों सिपाहियों द्वारा छिड़ा है। प्रायः राजा लोग युद्धमें नहीं शामिल हुआ करते, वे तो युद्धका संचालन एक ही जगह बैठे बैठे किया करते हैं। वहाँ युद्ध परिणामसे परिणाम तो रहे सिपाही लोग, लेकिन राजा का उपचार किया जा रहा है कि राजाने युद्ध किया। जो राजा युद्ध परिणामसे परिणाम

रखकर मोह हटानेके निश्चयका अवलम्बन श्रेष्ठ है--"एगो मे सासदो आदा णाण दसण लक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा" अनादि अनंत शुद्ध ध्रुव सामान्य परमपारिणामिक स्वसमयाकार अचल ज्ञानानंद रूप आत्मा ही मेरा है। इस मेरे सामान्य ज्ञायक स्वभाव आत्मासे भिन्न कर्म नो कर्म आदि पुद्गल द्रव्य तथा स्त्री पुत्र धन धानादि निमित्तनैमित्तिक भावसे संयुक्त हुए हैं। सो व्यवहारमें भी शारीरिक वाचनिक मानसिक परिणतिसे भिन्न-भिन्न हैं—"पाग भाग वाणी प्रकृति सूरत बुद्धि विवेक। अक्षर मिलें न एकसे देखे देश अनेक॥" की उक्ति तो भिन्न आत्माओंमें और भिन्न अचेतन पदार्थोंमें भेदज्ञान कराके उनसे मोह हटाती है, किन्तु इस मेरे आत्माकी ही भिन्न पर्यायों द्वारा विचित्र गतियाँ हुई हैं। मैं अपनी किस उत्तम देव मनुष्यकी पाई पर्यायको सुख शान्ति रूप समझूँ और किस तिर्यंच नरक निगोदकी पर्यायोंको बुरा समझूं और केवल भवान्तरकी कल्पनाओंको ही क्यों गिनूं? इसी मनुष्य पर्यायमें बचपन जवानी बुढ़ापेके प्रति वर्षमें प्रति मासमें प्रति दिनमें प्रत्येक घंटेमें प्रत्येक मिनटमें जो मन वचन शरीरके भिन्न-भिन्न परिणमन हुए हैं उनमें किन-किनमें तू राग करता है और किन किनमें द्वेष?

७६७. वस्तुतः आत्माके कर्तृत्वका कथन—वस्तुतः सर्व प्रसंगोंमें आत्माने किया क्या? जो अपनेमें शुभ और अशुभ भाव परिणमन हुए उन्हें तो आत्माने किया और जिसका निमित्त पाकर हुए उसको नहीं किया, तथा परमार्थदृष्टिसे आत्माने शुभ अशुभ भाव को भी नहीं किया। कर्ता कर्मके सम्बन्धमें भी निश्चयदृष्टि और परमार्थ दृष्टि दो दृष्टियोंसे भिन्न-भिन्न निर्णय होता है। निश्चयदृष्टिसे तो जीवने शुभ-अशुभ परिणाम किया और परमार्थदृष्टिसे जीवने शुभ अशुभ परिणाम भी नहीं किया। जीव तो एक अनादि अनन्त अहेतुक विशुद्ध चैतन्यस्वभाव है और परमार्थदृष्टि ऐसी बनती कि एक यह भी पूर्वका ज्ञानाभ्यास है कि जब यह देखा गया कि विकार कर्म विपाकके होनेपर हुए, कर्मविपाक न होने पर न हुए तो इन विकारोंका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कर्मोदयसे है। इस दृष्टिसे, इस परिज्ञानसे ऐसे शुद्ध सहज स्वभावको अकर्ता निरखनेका बल मिला। तो जिस दृष्टिमें यह स्वभाव प्रतीत हो रहा उस दृष्टिमें तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं, कर्ताकर्म भावकी चर्चा भी नहीं और जिस दृष्टिसे आत्माके स्वरूप सर्वस्वको निरखा जा रहा है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको जाना जा रहा है उस दृष्टिसे अर्थात् निश्चय दृष्टिसे यह कहा जाता है कि जीव अपने शुभ अशुभ भावोंका कर्ता है। यहाँ तक तो वास्तविकता है। वास्तविकता कहते हैं वस्तुमें रहने वाले भावतत्त्वको। यहाँ तक तो वस्तुगत बातका प्रतिपादन है किन्तु जहाँ वस्तुस्वरूपके बाहर होकर निरखा, जीवने पुद्गल कर्म किया तो अब यह अवास्तविक बात हो गयी अर्थात् विवक्षित वस्तुसे हटकर अन्य वस्तुमें जमाने वाली बात हो

समय परकीय विकल्प टलते हैं और वहाँ शान्तिका अनुभव होता है। पर जहाँ अपने आपके अकर्ता स्वभावमें परिणामको निरखकर प्रतिबुद्ध बनता है कि यह मैं अपनेको ही करता हूं, अपनेसे ही करता हूं, अपने लिए करता हूं, अपनेमें करता हूं, मैं हूं और परिणमता हूं, बस इसमें सब उत्तर आ गया। कोई भी पदार्थका परिचय यदि प्राप्त करना है तो संक्षेपमें यदि यह कह दिया जाय कि वस्तु है और निरन्तर परिणमती रहती है, तो इसमें ही सारी बातें आ गईं। हाँ विस्तारपूर्वक यदि कहा जाय तो यह कथन इतना बड़ा है कि जिसमें वर्षोंका समय गुजर जाय, और किसी एक बातको दुबारा न कहा जाय तो भी कहा जा सकता है, पर यह बात आजकल सम्भव नहीं। जो बड़े ज्ञानी पुरुष थे, द्वादशांगके वेत्ता थे वे वस्तुस्वरूपके वर्णनमें ही सारा जीवन बिता डालते थे। हाँ संक्षेपमें यदि इतनाभर कह दिया जाय कि वस्तु है और निरन्तर परिणमती रहती है, तो बस इसमें सभी बातें आ चुकीं। जितने मात्रसे ज्ञानी जीवका प्रयोजन है, पर वस्तुके बारेमें जितना ज्ञान करके यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको रागद्वेष मोहादिके संकटोंसे बचा लेता है वह वस्तुस्वरूप संक्षेपमें इतना ही है कि प्रत्येक पदार्थ है और स्वयंमें परिणमता है। इतना भर जानते रहने वाले ज्ञानी योगी पुरुषोंकी किसी भी प्रसंगमें आकुलता नहीं जगती। तो यहाँ वस्तुस्वातंत्र्यको दृष्टिमें यों तका जा रहा है कि ज्ञानावरण आदिक कर्मरूप परिणमे हैं, ये कार्माणवर्गणाके स्कंध, उनरूप यह आत्मा स्वयं नहीं परिणम रहा, अतः यह कहना कि ज्ञानावरण आदिक कर्मोंको आत्माने नहीं किया सो तो है निश्चयकथन और निमित्तनैमित्तिक भाव निरखकर जो कर्तृत्वकी बात एक दूसरेमें कही जाती है वह विकल्प उपचार है।

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

८०१. व्यवहारसे जीव कर्मोंका उत्पादक है, इस व्यवहारका समर्थक एक दृष्टान्त—जैसे व्यवहारसे कहा जाता है कि राजा प्रजामें दोषका उत्पादक है और गुणका उत्पादक है, जैसे नीतिशास्त्रमें कहा है यथा राजा तथा प्रजा। यदि प्रजा बेईमान है असभ्य है, असदाचार है तो यह कहा जाता है कि राजा भी ऐसा ही होगा। एक बार कोई राजा जंगलमें भटक गया। तो वहाँ एक जगह खेती हो रही थी। झोपड़ीमें बुढ़िया थी। राजाने कहा—मां प्यास लगी है, कुछ पिलावोगी? तो बुढ़ियाने झट एक गन्ना तोड़कर अपने ही हाथसे उसे मीड़कर उसको घुमा फिराकर रस निकाल दिया। एक ही गन्नेमें बहुतसा रस निकल आया। राजा पीकर बड़ा प्रसन्न हुआ, और पूछता है कि मां—कितना बड़ा खेत है?…इतना बड़ा।…इसका क्या टैक्स देती हो?…नहीं। राजा इतना कहकर वापिस आया और टैक्स की सोचता रहा। दुबारा फिर वहीं वह राजा पहुंचा कुछ दिनोंमें, कुछ प्यास लगी तो

नहीं रहा। उस राजामें बात लगायी जाती है कि उसने युद्ध किया। तो वह उपचारका कथन है, परमार्थसे ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानावरण आदिक कर्म परिणमनसे स्वयं परिणम रहा है पुद्गलद्रव्य, आत्मा तो नहीं परिणम रहा, आत्मा अपने परिणामसे ही परिणम सकता है। तो ज्ञानावरण आदिक कर्मपरिणामसे नहीं परिणम रहा यह आत्मा। यद्यपि वह अलग ही है, लेकिन ऐसा कहना कि ज्ञानावरण आदिक कर्मोंको आत्माने किया यह कथन उपचारभूत है, पारमार्थिक नहीं है। जैसे कोई किसी देशका वर्णन करे और उस देशको जिसने कभी देखा नहीं वह तो उस देशका वर्णन सुनकर थक जाता है, कभी-कभी कुछ बातें समझमें भी नहीं आती हैं, और उस देशमें जो गया हो उसके सामने यदि वर्णन किया जाय तो वह यों समझता है कि ठीक है यह सही बात तो कही जा रही है, यों उसके प्रति प्रत्यय रहता है। यों ही वस्तुस्वरूप, आत्मस्वरूप जिसके परिचयमें नहीं है वह इस कथनको सुनकर आनंदित न होगा, वह यह समझ ही न पायेगा कि क्या कहा जा रहा है, लेकिन जिसका प्रवेश 'अध्यात्म' शब्दसे वाच्य अन्तस्तत्त्वमें हुआ है वह इस अन्तरतत्वकी बात सुनकर ऐसा निर्णय रखता है कि यह सब बात यहीं की तो है। क्या किया आत्मा ने ? इसका परिचय किया जा रहा है। आत्मा है ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमात्र, वह करेगा तो अपनेको करेगा, ज्ञान मात्रताको करेगा, ज्ञान परिणमन करेगा। और अधिकसे अधिक, बिगाड़ है, कर्मोदयके निमित्तसे विकारभाव होता है तो साथ ही शुभ अथवा अशुभ भाव होता है, इसके आगे यह आत्मा कुछ नहीं कर सकता। यों आत्माने ज्ञानावरणादिक कर्मों को किया, यह उपचार कथन है, परमार्थसे ऐसा नहीं है। तब क्या बात ठीक रही ?

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणाम एदि गिण्हदि।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

८००. निश्चयतः किसी भी वस्तुमें अन्य द्रव्यको परिणमानेकी अशक्यता—जैसे कि दूध दहीको उत्पन्न कर देता है। आत्मा न पुद्गलकर्मको करता है, न बाँधता है, पुद्गल द्रव्यको न परिणमाता है और न ग्रहण करता है। तो जैसे ग्वाला दुग्धादि किसी अन्य पदार्थके परिणमनको न उत्पन्न करता है, न ग्रहण करता है, न बाँधता है, न परिणमाता है। कोई भी पदार्थ ले लो वह सहज सत् है। किसीने बनाया नहीं। सहज सद्भूत यह आत्मा किसी भी परद्रव्यको न उत्पन्न करता, न बाँधता, न परिणमाता और न ग्रहण करता, फिर भी जो व्याप्यव्यापक भाव होनेसे कहा जाता है कि आत्माने प्राप्य विकार्य निर्वर्त्य पुद्गल द्रव्यादिक कर्मोंको ग्रहण किया, परिणमाया, उत्पन्न किया, बाँधा, ये सब केवल विकल्प हैं, उपचार कथन हैं। जब दृष्टि अपने आत्मतत्त्वके अपने निकट पहुंची है, ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव करता है। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानप्रकाशरूप हूँ तो उस

नहीं लादी जाती। उपचार वहाँ ही हुआ करता है कि जहाँ परमार्थसे तो कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव आदिक कुछ सम्बन्ध है, जहाँ अन्तः सम्बन्ध तो नहीं किन्तु बाह्य सम्बन्ध है। तो बाह्य सम्बन्धके कारण उपचारकी बात कहनेमें आया करती है। जीवका पुद्गलकर्मके साथ अन्तः सम्बन्ध तो नहीं है। सत् दोनों का न्यारा-न्यारा है लेकिन परस्परके विकारमें एक दूसरेका निमित्त पड़ा करता है। ऐसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी बात निरखकर उपचारकी बात कही गई है। जीव पुद्गल कर्मका उत्पादक है—यह कथन करना सो उपचारकी बात है। वस्तुतः जीव पुद्गलकर्मका उत्पादक नहीं, किन्तु वह अपने ही भावोंका उत्पादक है। वस्तुके इस स्वतंत्रस्वरूपके समझनेका फल है परसे हटकर अपने आपके अन्तः स्वरूपमें प्रवेश करना और ऐसी समाधिसे ऐसे स्वरूप प्रवेशसे आत्माका हित है।

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोधव्व ॥१०९॥
तेसिं पुणोविय इमो भणिदो भेदो हु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरिमंतं ॥११०॥
एदे अपेदणा खलु पुग्गलकम्मुदय संभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्म णवि तेसिं वेदगो अप्पा ॥१११॥
गुणसण्णिदा हु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

८०३. विकारपरिणमन होनेपर भी स्वरूपकी अविकारता देखनेका पुरुषार्थ—सामान्य रूपसे तो मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय और योग ये बंधके करने वाले कहे गए हैं। कर्म बन्धके निमित्त कारण क्या है? तो ये चार प्रकारके हैं जीवके परिणमन। इनमें ही अन्तरङ्ग दृष्टि लगानेपर अर्थात् निश्चयदृष्टिसे देखनेपर जीवके ये चार विभाव बंधके कर्ता नहीं, किन्तु पुद्गलद्रव्यके ये चार प्रकार बंधके कर्ता कहे गए हैं। इससे भी और संक्षेपदृष्टि करें तो कह सकेंगे कि पुद्गलकर्मका एक पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है। कर्मोंका जो बंध होता है उस बंधका निश्चयसे करने वाला कौन है? वही पुद्गलकर्म। जैसे रस्सीके दो छोरोंमें बन्ध होता है तो उस बन्धका करने वाला कौन? रस्सीके वे दोनों ही छोर। निश्चयदृष्टिसे निमित्त दृष्टि तो पुरुषने किया पर अपने परिणमनके अभिन्न आधारको तकना यह है निश्चयदृष्टि। तो पुद्गलकर्मका पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है। उसके और भेद करें तो कह सकते हैं कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बंधके चार कर्ता हैं। उनके भी और भेद करें तो कह सकेंगे कि मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व आदि सयोगकेवली पर्यन्त ये

कहा—मां उसी तरह फिर तुम हमारी प्यास बुझा दो, तो ४–६–८ गन्ने तोड़े और यंत्रोंसे मीड़ा, पर उतना रस न निकला जितना कि पहले निकला था। राजा पूछता है कि मां यह क्या हो गया कि इतने गन्ना पेलनेपर भी रस बहुत कम निकला ? तो बुढ़िया कहती है कि अब राजाके मनमें बेइमानी आयी होगी। वह नहीं जानती थी कि यह राजा है लेकिन कुछ समझती थी। तो राजाने झट उसके पैर छुवे और कहा—मां सचमुच मेरी दृष्टिमें बेईमानी आ गयी। और हमने यह भी पूछ डाला था कि तुम इन खेतोंका कितना टैक्स देती हो ? तुम टैक्स कुछ देती भी न थी, और अब लिखे देता हूँ कि तुम्हारे खेतोंका कभी टैक्स न लगेगा। यथा राजा तथा प्रजाकी बात कही जा रही है। लोकप्रसिद्ध बात है कि राजाके भावोंके अनुसार भाव प्रजामें हो जाते हैं, पर बात परमार्थसे ऐसी नहीं है कि राजा प्रजाजनोंके आत्मामें दोष अथवा गुण उत्पन्न कर दे। लौकिक जनोंमें जो गुण अथवा दोष उत्पन्न होते हैं वे उनके स्वभावसे, उनकी ही योग्यतासे उत्पन्न होते हैं और किसी अन्यकी योग्यतासे नहीं होते। जिस पुरुषमें गुण अथवा दोष उत्पन्न होते है उस पुरुषमें गुण अथवा दोषका व्याप्यव्यापक सम्बंध उस ही पुरुषमें है। तो वस्तुतः प्रजाजनोंमें गुण दोष उत्पन्न होते हैं तो उनके स्वभावसे ही होते हैं, उनमें ही व्याप कर होते हैं। राजामें प्रजा जनोंके गुण दोषोंका व्याप्यव्यापक सम्बंध नहीं है। राजा अलग है, प्रजा अलग है। प्रजाकी पर्यायका राजामें क्या पहुंचा, राजाकी पर्यायका प्रजामें क्या पहुँचा ? सभी वस्तुवें अपनेमें परिणमा करती हैं। तो उन गुण दोषोंमें राजा व्याप नहीं रहा, फिर भी लोग कहा करते है कि राजा प्रजाजनोंके गुण और दोषोंका उत्पादक है। तो क्या यह कथन वास्तविक हुआ ? यह उपचार कथन है और यह उपचार कैसे बन गया कि राजा जिस गोष्ठीमें रहता होगा उस गोष्ठीके लोग राजाके स्वभावसे परिचित होकर, उस ही स्वभावको आदर्श समझकर उसके अनुकूल चलने लगें। वे लोग फिर जिन गोष्ठियोंमें रहे उन पर यह प्रभाव पड़ा। होते होते प्रजा जनों तक यह प्रभाव बढ़ता गया। तो उपचार आता है कि राजा प्रजा जनोंके दोष और गुणोंका उत्पादक है।

८०२. **जीवमें कर्मोत्पादकताके कथनकी व्यावहारिकता**—पुद्गल द्रव्यमें जो कुछ बात उत्पन्न हो रही है, जो प्रकृतिबंध हो रहा है, स्थितिबंध, अनुभागबंध आदिक जो कुछ भी हो रहे हैं वे पुद्गलद्रव्यमें ही हो रहे हैं। प्रकृतित्व, स्थितित्व, अनुभागत्वकी बात पुद्गल कर्मोंमें ही व्याप रही है। पुद्गलद्रव्यके गुण और दोषमें जीव व्याप नहीं रहा, फिर भी जीवको उन कर्मोंके गुण व दोषका उत्पादक कहना सो यह मात्र उपचार-कथन है। कुछ सम्बन्ध है क्या परसे ? निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है। जिसके कारण उपचार कहने की बात आयी। अत्यन्त भिन्न निमित्तनैमित्तिक भावोंसे शून्य पदार्थोंमें उपचारकी बात

कुछ भी बिगाड़ हो, आस्रव हो तो इस जीवस्वरूपमें क्या हुआ ?

८०४. द्रव्य और द्रव्यस्वभावका विवेचन—यहाँ कोई तर्क करता कि पौद्गलिक मिथ्यात्व आदिक प्रकृतियोंको भोगने वाला जीव स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है। उत्तर देते हैं कि यह अविवेक है। यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि आत्मा पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्व आदिकमें कहाँ जाता है ? उससे भाव्यभावक नहीं बनता, फिर वेदन करने वाला क्या रहा, और पुद्गल कर्मका कर्ता क्या रहा ? जीव एक विशुद्ध चैतन्यघन है। वह न किसीका कर्ता है, न किसीका भोक्ता है। स्वरूपपर दृष्टि देकर कहा जा रहा है, सद्भूत है, सो वह प्रतिसमयमें परिणमता ही है, सो जिस प्रकार परिणम रहा है उसी प्रकार परिणमता है। अशुद्ध रूप भी है, विशुद्धरूप भी है, किन्तु जब जीवस्वरूपकी बात कहते हैं तो उसे परिणमता हुआ नहीं कहा जाता। जैसे जल गर्मरूप परिणमता है कि नहीं, अग्निका सन्निधान होनेपर जल गर्मरूप परिणमता है, पूरा जल गर्म हो गया, किन्तु उसमें यह प्रश्न करें कि जलका स्वभाव भी क्या गर्म हो जाता है ? तो उत्तर मिलेगा कि नहीं। इसी तरह आत्मामें देखो—आत्मा जब रागादिक विकाररूप परिणम गया तो परिणम गया, पर क्या जीवका स्वभाव रागादिरूप बन गया ? तो उत्तर मिलेगा कि नहीं। उस ही स्वभावसे यह जीव है इस प्रकारकी रुचि और प्रतीति रखने वाला ज्ञानी कह रहा है कि यदि कुछ कर्मबन्ध हुआ, ये मिथ्यात्व आदिक भाव कर्मबन्ध कर डालें तो कर डालें, पर इसमें भी जीवने क्या किया ? देखिये—यह बहुत पैनी दृष्टि रखनेपर समझमें आयगा ? द्रव्य और द्रव्यका स्वभाव। वह स्वभाव यद्यपि द्रव्यसे बाहर नहीं है, पर जो बातें हम द्रव्यके लिए कह दें वे सारी बातें द्रव्यके स्वभावमें घटित हों ऐसा नियम नहीं है। द्रव्य तो परिणमनशील है, स्वभाव परिणमनशील नहीं है। स्वभाव तो अनादि अनन्त जो कुछ है वह एक ही है।

८०५. गुणप्रत्ययोंमें कर्तृत्वका कथन—यहाँ ज्ञानी पुरुष कर्ता कर्मके विवेचनमें देख रहा है। करने वाला कौन ? जो कर्मरूप हो वही कर्ता। पुद्गलकर्मका बन्ध हो रहा तो पुद्गलकर्मके बन्धका कर्ता कौन ? पुद्गलकर्म। जो जिसरूप परिणम सके वह उसका कर्ता कहा जाता है, फिर उस पुद्गलकर्मके विपाक ये चार प्रकारके हुये, विपाक भी क्या ? पुद्गलकर्म। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन ही चारोंका विस्तार है १३ गुणस्थान, सो कर्मके आस्रवमें बंधके करने वाले कौन ? ये १३ गुणस्थान। जो कि अत्यन्त अचेतन हैं। अहा अलौकिक निर्लेप जीवस्वरूपको देखकर यह ज्ञानी धीर बना हुआ है कि उस जीवस्वरूपके अतिरिक्त अन्य भावमें जीवत्वकी कल्पना भी नहीं कर रहा। यों पुद्गल कर्मका कर्ता पुद्गल कर्म ही है, आत्मा नहीं है। यह परिणम्य-परिणाम सम्बंधसे कहा जा

१३ कर्ता हैं। विशुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिकी रुचिमें ये १३ गुणस्थान अजीव देखे जा रहे हैं। जो शुद्ध चित्स्वरूप नहीं सो जीव नहीं। जैसे जीवाजीवाधिकारमें बताया था—चैतन्यमात्र जीव है और जो ऐसे नहीं हैं कि जिनका सर्वस्व सार चैतन्यशक्तिसे व्यापा हो वे सब अजीव हैं। तो बंधके कर्ता मिथ्यात्व आदिक सयोगकेवली पर्यन्त १३ हैं। ये सब पुद्गलकर्मके उदयके भेद हैं, इसलिए अत्यन्त अचेतन हैं। यद्यपि कुछ गुणस्थानोंको औदयिक भाव कहा है, कुछको क्षायोपशमिक कहा, कुछको औपशमिक कहा। पहिला मिथ्यात्वगुणस्थान, दूसरा सासादन गुणस्थान, तीसरा मिश्र गुणस्थान, चौथा अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान, ५ वां देशविरत गुणस्थान, छठा प्रमत्तविरत्त गुणस्थान, ७ वां अप्रमत्तविरत गुणस्थान, ८ वां अपूर्वकरण गुणस्थान, ९ वां अनुवृत्तिकरण गुणस्थान, १० वां सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान, ११ वां उपशान्तमोह गुणस्थान, १२ वां क्षीणमोह गुणस्थान, १३ वां सयोगकेवली गुणस्थान और १४ वां अयोगकेवली गुणस्थान। इस तरह गुणस्थानोंके भेद किए हैं। इस तरह यद्यपि इन गुणस्थानोंमें औपशमिकता, क्षायिकता आदिक बातें कही गई हैं किन्तु केवल क्षयसे ही चौथा गुणस्थान बना हो ऐसी बात तो नहीं है। उसके नामका व्यपदेश हुआ है क्षायिक शब्दसे। उसका भेद करनेके लिए क्षायिक भावकी मुख्यता की गई है। ७ प्रकृतियोंकी मुख्यतासे कथन हुआ तो क्षायिक कहा। चौथे गुणस्थानमें रहने वाला जीव मात्र सम्यग्दर्शन वाला है, इतना ही तो नहीं, चारित्रकी अपेक्षा कैसे हो रहा है? ५ वें गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा। चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम है, पर क्या क्षयोपशम मात्र ही है ५ वें गुणस्थानमें? उदय कषायोंका भी चल रहा है। उदयसे रहित यह कोई गुणस्थान नहीं है। प्रथम गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक, उदयसे भरा हुआ तो १४ वां गुणस्थान भी है, लेकिन १४ वां गुणस्थान बंधका कर्ता नहीं है, इस कारण उसे छोड़कर १३ प्रकारके गुणस्थान कहे जा रहे जा रहे हैं। ये १३ प्रकार पुद्गलकर्मके उदयके भेद हैं। कहीं कैसा उदय, कहीं कैसा उदय, इस प्रकार भेद चल रहा है। इससे वे सब अचेतन हैं। ये गुणस्थान सब अचेतन हैं। १४ हों गुणस्थान अचेतन हैं, पर बंधक गुणस्थान १३ हैं, सो उनका कथन है वे अचेतन हैं। सो वे यदि व्याप्यव्यापक भावसे कुछ भी पुद्गल कर्मका करें तो करें इसमें जीवका क्या आया? यहां अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वरूपको जीव मानकर निरखा जा रहा है कि १३ प्रकारके भाव गुणस्थान ये पुद्गल कर्मको करते हैं। कहीं बंधरूपसे, कहीं आस्रवरूपसे ही यह व्याप्यव्यापक भावसे पुद्गल कर्मको करे तो करे, इसमें इस जीवका क्या आया? जीवका क्या हुआ? हुआ न हुआ ये सब बातें व्यवहारशास्त्र बतलाते हैं, करणानुयोग बतलाता है, लेकिन शुद्ध जीवस्वरूपकी रुचिसे यह कहा जा रहा है कि बन्ध हुआ तो इस जीवस्वरूपमें क्या हुआ? वह तो वहीका वही है।

नहीं कहा। तब यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्मका एक पुद्गलद्रव्य ही कर्ता होता है।

८०७. अध्यात्मशास्त्रका प्रयोजन विकल्पोंसे हटाकर अविकारस्वरूपमें पहुंचाना—अध्यात्मशास्त्रका प्रयोजन है निरुपाधि चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि पहुंचना। है स्वयं यह गड़बड़। परिणमन इसमें चल रहे हैं नाना, तिस पर भी इसमें एक ऐसी ज्ञानकला है कि अन्य परिणमनोंमें न अटककर और अन्तः बढ़कर अपरिणामी अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूपको ग्रहण करले, जान ले। मिली हुई चीजोंमें पृथक् पृथक् देशका भेद न करके भी उनमें अलग-अलग तत्त्व जाना जा सकता है। मिले हुए दूध पानीमें पारखी लोग जान लेते हैं कि इसमें दूध इतना है और पानी इतना है। देशभेदसे नहीं जान सकते किन्तु ज्ञान द्वारा जान लेते हैं। ऐसे ही इन गुणस्थानोंमें जो विकार है, औदयिक भाव है उससे विलक्षण क्षायिक क्षायोपशमिक भाव भी चल रहा है तो एक विवेचक दृष्टिसे इन दोनोंको जान लेगा ज्ञानी, पर वहाँ प्रदेशभेद नहीं पड़ा हुआ है कि आत्माके इतने प्रदेशमें विकार पड़ा है और इस प्रदेशमें विकार छुट गया है। विकार और स्वभाव विकास जितने भी होते हैं वे सब पूरे आत्मामें हैं, समस्त प्रदेशोंमें हैं, पर स्वरूपभेदके कारण ज्ञानी उन्हें जान सकता है। अध्यात्मशास्त्रका प्रयोजन इतना ही है कि विकारोंसे हटकर अविकार निज ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको लगाना, तब ऐसा करनेके लिए हमें जिस जिस दृष्टिसे, जिस जिस प्रकारसे इन विभावोंसे कर्मोंसे छूटना है सो हम तकते हैं। यहाँ जीव और जीवके प्रत्यय अर्थात् आस्रव जो ये दो बातें कही गई हैं, उनमें एकत्व न समझना। इस बातका प्रतिपादन करते हैं।

जह जीवस्स अणण्णुव ओगो कोहोवि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो।
अयमेयत्ते दोसो पञ्चयणो कम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पञ्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

८०८. जीवकी विकारभावोंसे विलक्षणताका वर्णन——जीवसे अभिन्न क्या है? उपयोग, ज्ञान दर्शन। जिस तरह जीवमें तन्मय होनेसे उपयोग जीवसे अभिन्न है, एकमेक है, तादात्म्यरूप है उस तरह यदि जड़ क्रोध भी अभिन्न हो जाय तो चैतन्यस्वरूप और जड़ क्रोध इनमें अभिन्नता हो जानेसे जीवको जैसे उपयोगमय कहते हैं, इसी प्रकार जीवको जड़ क्रोधमय भी कहेंगे। देखिये——कितने बड़े विवेककी बात चल रही है कि जब जीवमें क्रोध उत्पन्न हो रहा है, क्रोध कषायके उदयके कारण यहाँ जीवमें क्रोध भाव चलता रहता है तो क्या उस जीवमें केवल क्रोधभाव ही क्रोधभाव है? यदि केवल क्रोधभाव ही है तब तो उसका

रहा है। वैसे देखो तो कर्ताका नाम लेना भी एक वृथा है क्योंकि जगतमें पदार्थ अनन्त हैं और वे उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त है, उनमें उत्पादव्ययध्रौव्य होता। खुद खुदमें करे, इसमें करनेका मतलब क्या आया ? कोई किसी दूसरेको कर नहीं सकता। तब फिर 'करना' शब्द ऐसा फालतू हुआ कि उसे कहीं अच्छी प्रकार टिकनेको जगह नहीं मिलती। और टिकने की जगह मिलती है तो अज्ञानियोंके हृदयमें मिलती है। एक वस्तुस्वातंत्र्यको दृष्टिमें लेकर निरखा जा रहा है। तब बात क्या आयी कि पुद्गल द्रव्यमय जो चार सामान्य प्रत्यय हैं— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इनके जो १३ भेद हैं वे विशेष प्रत्यय है। प्रत्यय कहते हैं आस्रवको। वह गुणस्थानसे वाच्य है तो वह ही केवल कर्मोको करता है, इससे सिद्ध है कि जीव पुद्गल कर्मोका अकर्ता है। कोई गुण ही कर्ता है सो वह गुण पुद्गलद्रव्य रूप ही है।

८०६. **कर्म गुणोंके कर्तृत्वका मर्म**—वस्तुतत्त्वका जिसने मर्म जाना है वह इन सब शब्दोंका ठीक-ठीक अर्थ लगा लेता है। तत्त्वका मर्म न जानने वाले कोई यह सुनकर चौंक पड़ेंगे कि जीव कर्ता नहीं है, गुण कर्ता है और वह गुण पुद्गलद्रव्यरूप ही है। क्या कहा जा रहा है ? मिथ्यात्व आदिक १३ गुणस्थान गुण ही तो कहलाते हैं। नाम ही रख दिया गुणस्थान। तो ये गुणस्थान १३ औदयिक हैं। १३ क्या १४ हों औदयिक हैं। क्षायिक आदिक रूपसे जो इसमें भेद डाला है वह व्यवच्छासे है, पर होते तो सभी कर्मोके उदयमें। औदयिक होकर वह १४ वां गुणस्थान आस्रवका कर्ता नहीं,, उसे अलग रखकर १३ गुण-स्थानोंकी बात कही जा रही है। ये १३ गुणस्थान कर्ता हैं पुद्गल कर्मके, ऐसा कहते समय यह दृष्टि आती है कि पुद्गल कर्मके उदयसे जो भाव बने उन भावोंको आत्मीय कहा जाय या पौद्गलिक कहा जाय तो यद्यपि उन भावोंका आधार जीव है, किन्तु अन्वयव्यतिरेक तो पुद्गल कर्मके साथ है जीवके साथ नहीं। यह गुणस्थान, ये कषाय आदिक भाव जीव के होनेपर हों, जीवके न होने पर न हों ऐसा इसमें सम्बन्ध नहीं बनता। जीव तो सदा है ये कषायें क्या सदा होती हैं ? और ऐसा कभी देखा नहीं गया कि जीवके न होनेपर कषायें न हों। जीवके न होनेपर कषायें हों, यह भी नहीं देखा गया। जीवके न होनेपर कषायें न हों यह भी नहीं देखा गया। अर्थात् जीव न हो और कषायोंका सद्भाव अभाव बोला जाय ऐसा कहीं व्यवहार नहीं हुआ। हाँ इसका कर्मोदयके साथ अन्वयव्यतिरेक है। कर्मो-दयके होनेपर ये कषायें होती है, कर्मोदय न रहनेपर ये कषायें हट जाती हैं। जीव जिस जिस प्रकारके कर्मोका आस्रव कर रहा है उस उस प्रकार यह कर्ता बनता है। तो वह भाव गुणस्थान कर्ता है और वह पुद्गल ही है। कर्मोदय होनेपर ये हुए, न होने पर न हुए, दोनों ही बातें इन विभावोंमें विदित होती है। इससे इसे पौद्गलिक कहा है, आत्मीय

जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कह तं परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइ परिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

८०९. **पौद्गलिक कार्माणस्कंध में परिणमनस्वभावत्व की सिद्धि**—पुद्गलद्रव्य कार्माणवर्गणाका पुद्गल स्कंध यह अपनेमें अपने परिणमनसे स्वयं परिणमता है। जीव अपने भावोंसे, अपनी परिणतिसे स्वयं परिणमता है। इसके खिलाफ यदि और कुछ तर्क किया जाय तो उस विषयमें वर्णन कर रहे हैं। यदि पुद्गल द्रव्य जीवमें स्वयं अबद्ध होकर कर्मजालसे स्वयमेव नहीं परिणमता तो इसका अर्थ है कि पुद्गल द्रव्य अपरिणामी हो गया। पुद्गल द्रव्यमें अब कुछ परिणमन नहीं रहा, तो संसारका अभाव हो जायगा। फिर जीव क्यों विभावरूप परिणमे ? जीवको क्यों चारों गतियोंमें भटकना पड़े ? क्या जीव स्वभावसे विभावरूप परिणमता है ? चारों गतियोंमें भटकता है या उसके साथ कोई उपाधि लगी है जिसके सन्निधानसे जीव नानारूप परिणमता है। यदि जीव स्वभावसे ही अटपट परिणमा करे तो अनन्त काल तक परिणमता रहे, फिर मुक्ति भी कोई चीज न रही। और यदि स्वभावसे नहीं परिणमता और ये परिणमन हैं नाना प्रकारके तो इससे सिद्ध होता कि नाना प्रकारकी उपाधियाँ इसके साथ लगी हैं। यदि यह कहें कि जीव पुद्गल द्रव्यको कर्मरूपसे परिणमा देता है इसलिए संसारका अभाव क्यों हो ? कर्म स्वयं नहीं परिणमते, किन्तु जीव उनको कर्मरूप परिणमाता है—ऐसा यदि कहते हो तो यह बतलावो कि जीवने कर्मवर्गणावोंको कर्मरूप परिणमाया, तो कर्मरूप स्वयं परिणम रहे हुये उनको परिणमाया या खुद न परिणमते हुये को परिणमाया। इन दो विकल्पोंका यह भाव लेना कि जैसे कोई कहे कि कुम्हारने मिट्टीको घड़ारूप परिणमाया तो क्या मिट्टी स्वयं घड़ा रूप परिणम रही है, अथवा नहीं ? याने कुम्हार मिट्टी को घड़ा रूप बना रहा है, मोटे रूप से यह ठीक कहा है, पर वहाँ भी घड़ा बन रहा या नहीं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि मिट्टी तो घड़ा रूप बन ही नहीं रहा और कह रहे हैं यह कि कुम्हार मिट्टी को घड़ा रूप बना रहा है, ऐसे दो विकल्प किये गए हैं कि जीव कर्मोंको परिणमाता है, पर वे कर्मरूप परिणम भी रहे या नहीं ? क्या परिणम रहेको परिणमाता या न परिणमतेको परिणमाता ? यदि वह नहीं परिणम रहा तो न परिणम रहेको दूसरेके द्वारा परिणमाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जिसमें स्वयं शक्ति नहीं है परिणमनेकी उसे कोई दूसरा किस

स्वरूप ही नहीं बन सकता और उसका अनुभव भी नहीं हो सकता। जिस पदार्थमें ज्ञान है, चेतन है उस ही पदार्थमें क्रोधादिक कषायें आ सकती हैं, अचेतनमें तो क्रोध नहीं आता। तो उस जीवमें देखो उपयोग भी पाया जा रहा और क्रोध भी पाया जा रहा, पर यह तो बतलावो कि वह जीव उपयोगसे तन्मय है या क्रोधसे तन्मय है? उस समय जो ही जीवका प्रदेश उपयोगमें तन्मय है वह ही जीवका प्रदेश क्रोधमय भी है। फिर भी जीव उपयोगसे तन्मय है, क्रोधसे तन्मय नहीं है। जीवका लक्षण उपयोगमय कहा है, क्रोधमय नहीं कहा। यदि जीव जैसे उपयोगसे तन्मय है उसी प्रकार क्रोधादिक भावोंसे भी तन्मय हो जाय तो जीव तब क्रोधमय कहलाने लगा जैसे कि जीवको उपयोगमय कहा करते हैं। जब ऐसा होने लग दिया जाय तो उसका अर्थ यह हुआ कि जो ही जीव है सो ही अजीव है। जब जीव जीवके उपयोगमें तन्मयसे रहा और इसी प्रकार जीव क्रोधादिक कषायोंसे तन्मयसे रहा तो इसका अर्थ है कि उपयोगकी भाँति जीव जड़ क्रोधमय हो गया। जब जीव जड़ हो गया तो जो ही जीव है सो ही अजीव है—यह अर्थ हुआ। तो अनेक द्रव्य न बन सके और अनेक क्या, एक भी नहीं बन सकता, इसी प्रकार आस्रवसे कर्मसे देहसे जीवसे अभिन्न माननेपर एकमेक माननेपर यह ही दोष आता है। अब यदि इस दोषके डरसे कि कहीं जीव जड़ क्रोधमय न बन जाय और यों कहा जायगा कि उपयोगी आत्मा तो दूसरा ही है अर्थात् जीव तो अन्य ही है और जड़स्वभाव क्रोध अन्य ही है, तब ठीक है। यही तो सुनता था कि जिस उपयोगात्मक जीवसे जड़स्वभाव क्रोध अन्य है तो क्रोध तो एक प्रत्यय है, आस्रवका अंग है। तो जड़ क्रोधादिक ये सभी जीवसे अन्य हुए। इससे सिद्ध हुआ कि जीवमें और प्रत्ययमें, आस्रवमें अभिन्नता नहीं है। जीवस्वरूप निराला है, निर्लेप है, चैतन्यगुण है, और यह क्रोध स्वयं जड़ है, इसमें चेतनेका माद्दा ही नहीं है। यह ज्ञान द्वारा चेत्य होता है। यह स्वयं अपने आपको चेत नहीं सकता। यों ज्ञानी निरख रहा है कि जीव न तो इन रागादिक भावोंरूप है, न रागादिक भावोंका कर्ता है, न उसमें कोई योग हलनचलन है। यह तो एक चैतन्यशक्तिमात्र है। यों जीवस्वरूपको निरखने वाला ज्ञानी अपने आपको निर्लेप अनुभव करता हुआ आकुलताओंसे, कर्मबन्धनसे अलग रहा करता है। सो जीवद्रव्य अकर्ता ही है, ऐसा निश्चय मनमें रखना चाहिए।

जीवेण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥

कुछ न हो और न कभी रह सकेगा। जो सत् है वह नियमसे बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। हम भी सत् हैं, हम भी बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं। यहाँ बिगड़नेका मतलब विकारसे नहीं, विकार होना भी बिगड़ना कहलाता है और नवीन अवस्था हो उसे यहाँ बिगड़ना कहा है अर्थात् पूर्व पर्याय न रहना। उत्पाद व्यय ध्रौव्य प्रत्येक पदार्थमें होता है। कर्म हो उसमें भी ये तीनों बातें हैं। कर्मत्वरूप हुआ यह उत्पाद है, अकर्मत्वरूप न रहा यह व्यय है और दोनों ही अवस्थाओंमें रहने वाला जो पुद्गल है वह वही है. यह ध्रौव्य है। हम आपके साथ अनादिसे अब तक अनवरत दो ही तो चीजें हैं जीव और कर्म। ये दोनों ही निरन्तर उत्पाद व्यय ध्रौव्य करते रहते हैं। तो उपाधिभूत, निमित्तभूत जो पुद्गलकर्म है वह भी स्वयं परिणमन स्वभाव वाला है। ऐसा होने पर कलश परिणति मिटी स्वयं कलशकी तरह जड़ स्वभाव ज्ञानावरण आदिक कर्मरूपसे परिणत पुद्गल स्वयं ज्ञानावरणादिक कर्म कहलाते हैं। जैसे घड़ा बननेमें निमित्त कुम्हार है। कुहारका व्यापार भी चल रहा है पर घड़ा बन भी रहा है ना, तो कहा जायगा कि कुम्हार ने घड़ा बनाया। यदि चाकपर ऐसा ही कोई पत्थर रखकर उस पत्थरपर हाथ चलाये घड़ा बननेकी तरह तो हाथ चलानेमें, इच्छा करनेमें कोई कसर रखी नहीं, पर हुआ कुछ क्या ? तो जो स्वयं परिणमता नहीं है उसे कोई परिणमाता नहीं है। कभी कोई पुरुष किसी वियोगमें उद्विग्न हुए पुरुषको समझाता है और समझाते समझाते बहुत दिन निकल जायें और वह जब समझने लगता है तो लोग तो यह कहते हैं कि इसने उसे समझा दिया पर यह तो बतावो कि समझते हुएको समझाया या न समझते हुएको समझाया ? पहिले क्यों नहीं समझाया ? तो निमित्त होना और बात हैऔर परिणमनकी बात और है। इससे सिद्ध होता है कि पुद्गलमें परिणमनेकी शक्ति स्वयं अपने स्वभावमें पड़ी हुई है। जब उसमें परिणमन शक्ति स्वभावभूत है तब जिस भावको आत्मा करता है आत्मा उस भावका कर्ता कहा जाता है।

८११. वस्तुस्वातन्त्र्यदर्शन लाभकी महनीयता—वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपको निहारने का वैभव किसी पवित्र जीवको ही प्राप्त हो सकता है। संसारमें अनेक समागम सुलभ हैं, जिन्हें आज बड़ा दुर्लभ समझा जा रहा, राजपाट धन वैभव ये आ गये तो क्या, न आये तो क्या, इससे कही अकिञ्चन ज्ञानमात्र यह आत्मा कुछ अपनेमें बढ़ नहीं जाता। न आये तो अकिञ्चन ज्ञानमात्र यह आत्मा अपनेमें कुछ घट नहीं जाता। बल्कि यह तो बड़ी विपदा है और कलंक है कि जो ये जीव पुद्गलों, परद्रव्योंके समागमोंसे अपना उत्कर्ष मानते हैं और पुद्गलद्रव्योंके असमागमोंसे अपना अपकर्ष मानते हैं। इतनी ही बात तो समझमें लेनी है जिसके प्रसादसे, परवस्तुवोंसे उपेक्षा हो जाय और ये अपने आपमें अपनेको रमा सकें।

प्रकार परिणमा सकता है ? जैसे कहे कोई कि अमुक महिला दाल पका रही है तो दाल भी पक रही या नहीं ? पक रही दालको ही तो पकाती है, या जो नहीं पक रही ऐसी दालको पकाती है ? जिसमें पकनेकी शक्ति ही नहीं है उसे तो नहीं पका सकती । तो पकते हुएको ही पका सकती है, न पकते हुएको नहीं पका सकती । इसी प्रकार कर्मरूप परिणमते हुएको ही कर्मरूप जीव करता होगा, पर न परिणमते हुयेको कोई कुछ नहीं कर सकता । तो न परिणमते हुएको किसी दूसरेके द्वारा कभी परिणमाया ही नहीं जा सकता । क्योंकि जब स्वयं शक्ति नहीं है तो अन्यके द्वारा कुछ नहीं किया जा सकता, और यदि कहो कि स्वयं परिणमते हुयेको परिणमा रहा है तो यह बात व्यवहारदृष्टिसे तो ठीक है, पर वस्तुस्वरूप की दृष्टिसे देखो तो जो स्वयं परिणम रहा है वह किसीपर परिणमाने वालेकी क्या अपेक्षा करे ? क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं किया करतीं, इस कारण पुद्गल द्रव्य परिणाम स्वभाव स्वयं ही होता है । इस बातको एक इस दृष्टान्तसे समझें कि किसी पुरुष ने तबलेपर हाथ पटका और तबलेसे आवाज आयी, तो तबलेपर हाथका संयोग होना इतने तकका तो वह कर्ता हुआ व्यवहारसे, संयोग हुआ, अब उस संयोगके होनेपर उस तबलेमें से जो ध्वनि निकली सो निकलती हुई वह ध्वनि उस समय परकी अपेक्षा नहीं करती । परिणमनके क्षणमें परिणमता हुआ पदार्थ अपने परिणमनके लिए किसी परकी अपेक्षा नहीं करता । जैसे रोटी तवेपर सेंककर आगपर डाल दी तो रोटी फूलने लगी । वह फूलती हुई रोटी उस फूलनेमें क्या किसी परकी अपेक्षा करती है ? योग्य सन्निधान होनेपर वह परिणमन हो रहा है । तो इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य परिणमनस्वभाव वाला स्वयं ही होता है ।

८१०. पदार्थोंमें अस्तित्वके कारण ही परिणमनशीलता—जो भी पदार्थ है, है के ही कारण उसमें परिणमते रहनेका काम पड़ा ही हुआ है । कोई होते हैं शुद्ध परिणमन वाले पदार्थ । उनका परिणमन हम आप स्थूल बुद्धि वालोंके चित्तमें स्पष्ट न आयेगा । केवल आगमगम्य इसमें गुणवृद्धि हानि होती है, पर परिणमनशील है । जो है वह नियमसे परिणमता है । एक सांख्यदर्शन इस बातको नहीं मानता । कोई है होकर भी न परिणमे, इसके लिए उनको दृष्टान्त सर्वोपयोगी कुछ न मिलेगा, क्योंकि जितने भी दृष्टान्त दिये जाने को होंगे वे सब स्थूल हैं, परिणमते हैं । एक कल्पना की गई कि कोई अद्वैत ब्रह्म है, जिसका सत् तो मानते हैं और परिणमन नहीं मानते हैं, किन्तु उपचार करने पर उसमें भी बाधा है । जो भी पदार्थ सत् हैं वे नियमसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं । लक्षण लक्ष्यमें आदिसे अन्त तक घटित होता है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं था जो उत्पादव्ययध्रौव्यमें से किसी तत्त्वकी हीनता रखता हो । न कोई पदार्थ ऐसा है जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनोंमें से

शंका करनेपर वे ही दो विकल्प उत्पन्न होते हैं कि जीव क्रोधादिक रूप परिणाम रहा है या नहीं ? स्वयं क्रोधादिक रूप परिणाम रहे जीवको ये कर्म क्रोधादिकरूप परिणमाते हैं या क्रोधादिक रूप न परिणाम रहे जीवको ये कर्म क्रोधादिक रूप परिणमाते हैं ? इस सम्बन्धमें ऐसा दृष्टान्त लेकर समझें कि जैसे बोझ भरी गाड़ी चल रही है और उसके पीछे चार लड़के हाथ लगाये हुए अहंकार कर रहे कि मैं गाड़ी चला रहा हूँ तो पूछा जाय कि चल रही हुई गाड़ीको वे लड़के चला रहे हैं या न चलती हुई गाड़ीको चला रहे है ? इस ढंगका विकल्प यहां नहीं किया है। इससे भी और बढ़कर बात चला लें। बैल जो जुटे हुए हैं, चल रहे हैं, गाड़ी चल रही है, गाड़ीके चलनेमें बैल प्रेरक निमित्त हैं, ठीक है मगर चल रही हुई गाड़ीको बैल चला रहे हैं या नहीं ? चल रही हुई गाड़ीको बैल चला रहे है। सूक्ष्म दृष्टिसे वस्तुके परिणमनपर दृष्टि देकर बात सोचना है। इसी तरहका प्रश्न यहाँ किया जा रहा है कि क्रोधादिक विकाररूप परिणाम रहे जीवको प्रकृति क्रोधादिक रूप परिणमती है या क्रोधादिक रूप न परिणाम रहे जीवको प्रकृति क्रोधादिक रूप परिणमाती है ? न परिणाम रहेको परिणमाती है यह कथन तो विरुद्ध है, क्योंकि जो स्वयं नहीं परिणाम रहा वह परके द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता, क्योंकि स्वतः जब शक्ति नहीं है तो उसकी शक्ति अन्यके द्वारा नहीं चलायी जा सकती। और जो स्वयं परिणाम रहा है वह परकी अपेक्षा क्या करेगा ? क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं करतीं। तब क्या सिद्ध हुआ कि जीव परिणमनस्वभावी स्वयं है।

८१३, वस्तुके परिणमन स्वभावकी श्रद्धासे आत्महितप्रेरणा—प्रत्येक पदार्थ परिणमनका स्वभाव रखता है। जैन सिद्धान्तका तो सब कुछ मूल आधार यह वस्तुस्वरूप है, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। इस वस्तुस्वरूपकी अवहेलना करके जैनधर्मकी किसी भी दिशामें कोई बढ़े तो उसका मार्ग समीचीन नहीं है। बढ़ नहीं सकता। जो बात पदार्थमें है उसका वर्णन किया जा रहा है। वर्णन करके पदार्थको बनाना यह जैनधर्मका काम नहीं है, किन्तु पदार्थका जैसा स्वरूप है उस स्वरूपका वर्णन करना जैनसिद्धान्तका काम है। अनेक दर्शन आपको ऐसे मिलेंगे कि बातें गढ़ दीं और उस तरहसे चीजोंको बनानेका प्रयत्न कर रहे, कितनी ही बातें तो विश्वासमें भी नहीं आतीं। शरीरका मैल गिर गया पानीमें, उसे मछली ने खा लिया, उससे फिर अमुक ऋषि हुए। और और भी बढ़ते चले जावो. बातें बनाकर घटना बनाना यह जैनसिद्धान्तका काम नहीं है, किन्तु निरख-निरखकर कि क्या है वस्तुस्वरूप, उसे बताना इसका प्रयोजन है। और फिर इससे अपनेको शिक्षा भी बहुत मिलती है। मैं हूँ, परिणमता रहता हूं, पूर्वपर्यायका त्याग करता हूं, उत्तर पर्यायका ग्रहण करता हूँ। मैं इस समय अज्ञानी हूं, लेकिन विश्वास है कि अज्ञान पर्याय मिटेगी, ज्ञानपरिणति आयगी, जो

अब जैसे कि कर्मको परिणामन करनेका स्वभाव वाला बताया है वैसे ही अब जीवको भी कहते हैं कि यह भी परिणामन स्वभाव वाला है ।

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२१॥
अपरिणमं तम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख समओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामए दि कोहत्तं ।
तं सयम परिणामंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहोपरिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

८१२. जीवके परिणामस्वभावत्वकी सिद्धि—जैसे पहिली गाथावोंका कथन इस आधार पर था, उस शिष्यको समझानेके लिए था, जो शिष्य कर्मको परिणामनशील न मानता था, इसी प्रकार इन ५ गाथावोंका वर्णन उस शिष्यको समझानेके लिए है जो जीवको परिणामनस्वभावी नहीं मानता । समझाते हैं कि यदि जीव कर्ममें अबद्ध हो, इतना हिस्सा तो ठीक है निश्चयदृष्टि जीव जीवमें है, कर्म कर्ममें है, पर वह जीव कर्ममें अबद्ध हो क्रोधादिक भावोंसे स्वयं नहीं परिणमता है । तो इसका अर्थ हुआ कि जीव अपरिणामी हो गया । जीव क्रोधरूप नहीं परिणमता, इसका अर्थ क्या कि जीव कूटस्थ अपरिणामी है, तब फिर संसार किसका सांख्यप्रधान सिद्धान्तमें ब्रह्मको अपरिणामी कहा है और परिणामी कहा है प्रकृतिको । प्रकृतिसे ही बुद्धि उत्पन्न होती है । बुद्धि ब्रह्मका धर्म वे नहीं मानते । बुद्धि अचेतन है और वह प्रकृतिसे उत्पन्न होती है और बुद्धिसे अहंकार उत्पन्न होता है । यह मैं हूँ –ऐसा भाव, फिर अहंकारसे इन्द्रियाँ बनती हैं, इस तरहसे बढ़ बढ़कर यह सारा जगत बन गया । ये सब विषय बन गए । तो ये जितने भी परिणामन हैं वे सब प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मसे इनमें कुछ नहीं आया । तो ब्रह्म कहो, जीव कहो, वह है अपरिणामी और प्रकृति है परिणामनशील, किन्तु ऐसा माननेपर यह अर्थ हुआ कि प्रकृति ही बिगड़ी और मोक्ष होगा तो प्रकृति ही सुधरी । जीवका इसमें क्या आया ? यदि जीव अपरिणामी है तो फिर उसका संसार नहीं हो सकता । जब संसार नहीं है तो मुक्ति दिलानेका किसे प्रयत्न करते ? यदि कहो कि पुद्गल क्रोधादिक जीवको क्रोधादिक भावरूप परिणमाता है इस कारण संसारका अभाव नहीं है । यह कर्म जीवको क्रोधादिकरूप परिणमा दे ऐसी

रही, उसका अन्वय ही न रहा तो परिणामन स्वभाव है यह बात कैसे घटित होगी? जो लोग पदार्थको सर्वथा नित्य मानते हैं वहाँपर भी परिणमनोंका स्वभाव कैसे घट सकता है? नहीं तो सर्वथा नित्य न कहलायेगा। जो मन्तव्य इस समस्त जगतको ईश्वरकृत मानता है उस मन्तव्यमें भी पदार्थमें परिणामनका स्वभाव नहीं पड़ा हुआ है। यदि पदार्थमें परिणमने का स्वभाव मान लिया जाता तब फिर ईश्वर कर्तृत्वकी कोई महिमा न रही। जितने भी अन्य मन्तव्योंको निरखें यथार्थतया उनमें यह न माना जा सकेगा कि पदार्थोंमें परिणमन करनेका स्वयमेव स्वभाव पड़ा हुआ है, यह तो हुई दर्शन शास्त्रकी बात। अब अपने हितके प्रसंगमें भी सोचिये।

८१५. आत्महितमें वस्तुकी परिणमनशीलताके सिद्धान्तका महत्त्व—यदि यह बात हृदयमें घर नहीं कर सकती कि प्रत्येक पदार्थका परिणमनेका स्वभाव है, मैं भी एक पदार्थ हूं, आत्मा हूं, मेरा भी परिणमनेका स्वभाव है-यदि यह श्रद्धामें नहीं आता तो उसका मोक्ष-मार्ग नहीं बन सकता। इस श्रद्धाके अभावमें वह अनेक कल्पनायें करेगा। यह विधान मेरे को मुक्ति दिला देगा, ये वाह्य गुरुजन मुझे तार देंगे। अरहंत सिद्धका भी नाम जपता हो तो वहाँ भी यह कल्पना करेगा कि अरहंत सिद्ध मुझे मोक्ष पहुंचा देंगे, मेरी भक्तिसे ये प्रसन्न होंगे आदि। और उसने जब यह स्वीकार कर लिया कि मैं भी एक पदार्थ हूं, और मेरेमें भी परिणमनेका स्वयं स्वभाव पड़ा हुआ है, तब वह अपनेमें ऐसी विधि लगाना चाहेगा कि जिसके उसका परिणमन शान्तिरूप चले और सदाके लिए शुद्धरूप बने। ऐसी विधिमें वह क्या निरखेगा? पहिले तो अपने स्वभाव और स्वरूपका निर्णय करेगा कि मैं क्या हूं, खूब निरखकर समझ लेगा कि मुझमें रूप, रस, गंध स्पर्श तो हैं नहीं, क्योंकि यदि रूपादिक होते तो मेरेमें जानने देखनेका काम ही नहीं बन सकता है। जो रूपादिकमय होता है वह जड़ है, मूर्त है, पुद्गल स्कंध है, उसकी ही भाँति यदि मैं भी रूपी पदार्थ होऊँ तो मेरेमें चैतन्यशक्ति नहीं रह सकती। मैं तो चेतन हूं। जो चेतन है उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्शादिकका स्वभाव नहीं हो सकता। अपने आपका निर्णय कर रहा है ज्ञानी पुरुष कि मैं एक चेतन पदार्थ हूं, चेतने वाला, जानने देखने वाला एक मैं आत्मा हूं जो आकाशकी भाँति अमूर्त हूं। अनुभवसे प्रतीत हो रहा है कि मैं आकाशकी तरह सर्व आकाशमें व्यापक नहीं हूँ, केवल वर्तमानमें पाये हुए देहमें व्यापक हूँ, पर इस देहमें व्याप कर रहने वाला यह मैं आकाशकी तरह अमूर्त किन्तु चैतन्यस्वरूपसे युक्त पदार्थ हूं। और जितने पदार्थ होते हैं इनका परिणमनेका स्वभाव हुआ करता है। मेरेमें भी परिणमन करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। मैं प्रतिक्षण परिणमता रहता हूँ। वर्तमानमें किस प्रकार परिणम रहा हूं, इसको भी निरख लेता है। चूंकि मुझमें चैतन्य है, उस चैतन्य तत्त्वका आधार मात्र करके वर्तमान

आज परिणमन है वही रहा करेगा, ऐसी वस्तुमें बात नहीं है। तब ध्रौव्यकी ओर दृष्टि देते हैं यह मैं बन रहा हूं, बिगड़ रहा हूं लेकिन कुछ परवाह नहीं, यह मैं सहज चैतन्यस्वरूप वहीका वही हूं। कथनमें जब जिस धर्मको निरखते हैं उस ही से हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। वर्णनमें मुख्यता चाहे किसीकी हो, पर ज्ञानी पुरुष वह कहलाता है जो वस्तुकी त्रिगुणात्मकतामें प्रतीति रख रहा है।

जैसे अनित्य भावनामें बोलते हैं कि सब कुछ नष्ट हो जाने वाला है—-राजा, राणा, छत्रपति, तुम हम ये सब नष्ट हो जाने वाले हैं, इस भावनासे हित क्या ढूंढ़ा ? घबड़ाहट और बढ़ गई। अरे इससे हित यह निकला कि जिस पर्यायपर, जिस समागमपर हम अहंकार करते हैं ये समागम ये पर्यायें रहनेकी नहीं हैं। तो संतोष कैसे होगा ? मैं भी तो नहीं रहनेका। घबड़ाहट कहाँ मिटी ? यह बात सुनकर तो घबड़ाहट आ गयी। तो द्रव्यदृष्टिसे देखो, तुम नित्य हो, घबड़ाओ मत। उस पर्यायको मिटा दो जो पर्याय स्वयं क्लेशरूप है। तुम नहीं मिटते। तो वस्तुकी त्रिगुणात्मकताको न समझने वाला पुरुष तो किसी भी भावनासे अपने आपमें शिक्षा नहीं ले सकता। तो इस तरह यह जीव परिणमनस्वभावी है। स्वभाव है तब ना, जैसे कि गरुड़के ध्यानमें परिणत हुआ साधक अर्थात् जो मंत्रवादी गारुड़ मंत्रको सिद्ध कर रहा है तो वह मानो स्वयं गरुड़रूप हो गया है, इसी तरह ज्ञानस्वभाव वाले क्रोधादिक कषायोंमें जिसका उपयोग लग रहा है, परिणत हो रहा है वह जीव स्वयं क्रोधादिक रूप हो गया। हो गया—इसका मतलब यह निकला कि जीव परिणमनस्वभावी है और वह है, इस प्रकारसे परिणम जाता है। अविकार सहज चैतन्य स्वभावका आश्रय ले तो विकारपरिणमन मिटकर अविकारपरिणमन हो सकता है। इसके लिए प्रेरणा मिलती है इस परिणमनस्वभावके प्रसंगको समझकर।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६।

८१४. वस्तुकी परिणमनशीलताका मूल सिद्धान्त—-प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही परिणमनेका स्वभाव रखता है। जैन सिद्धान्तका सब कुछ रहस्य जाननेके लिए और अपने आपको कल्याणमय बनानेके लिए मूल श्रद्धान यह होना ही चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनेका स्वभाव रखता है। इस सिद्धान्तके आधारपर वस्तु विवेचन है और मोक्षमार्गका उद्यम है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमनका स्वभाव रखता है, यह बात क्या अन्य दर्शनोंमें नहीं मानी गई, इसपर जरा विचार करें ? जो सिद्धान्त पदार्थको क्षणिक मान रहा, एक क्षणको पदार्थका आत्मलाभ है द्वितीय क्षणमें वह नहीं है तब उसमें परिणमनस्वभावकी बात ही क्या आयी ? जब एक क्षणसे दूसरे क्षण वस्तु ही न

चेतता है तो इसमें वे सब प्रतिभास होते हैं, इतना कहकर इसे समाप्त कर देते हैं, लेकिन काम इतनेसे नहीं चल सकता। मैं पुरुष हूँ, जीव हूँ, मुझमें यदि अशुद्धता नहीं है तो उसके मेटनेकी दरकार क्या? प्रकृतिमें अशुद्धता है तो प्रकृतिको करनी पड़े ऐसी बात कि उसका मोक्ष हो। सारी बात इस मूल सिद्धान्तको मान लेनेपर सुलझती कि प्रत्येक पदार्थका स्वयं परिणमन स्वभाव है।

८१७. शान्तिमार्गके लाभके लिये अध्यात्ममर्मके उद्बोधनकी आवश्यकता—शान्ति की राह पानेके लिए अध्यात्ममर्मके उद्बोधनकी आवश्यकता है, क्योंकि शान्ति किसी बाहरी पदार्थसे नहीं आती और अशान्ति भी किसी बाहरी पदार्थसे नहीं आती। अशान्तिका भी उद्भव यहींसे है और शान्तिका भी उद्भव इसी अध्यात्मसे है। जब हम अपने स्वरूपकी श्रद्धासे विचलित होते हैं और पर की ओर लगते हैं, परसे अपने आपमें कुछ चाहते हैं तो उस कालमें हम परदृष्टि करनेके कारण चूंकि हम अपने स्रोतसे अलग हो रहे, हमके मायने उपयोग। मेरा उपयोग, मेरा स्रोत जो चैतन्यस्वरूप है जो कि अपने प्रदेशमें है उससे जब हम उपयोग द्वारा अलग हो रहे हैं तो फिर स्थिरता नहीं प्राप्त होती। तो वहाँ क्षोभ होना, अशान्ति होना एक अनिवार्य बात बन जाती है। मैं परिणमने का स्वभाव रखता हूं इस श्रद्धाके बलपर हमारी कितनी समस्यायें सुलझती हैं? परिणमन का स्वभाव न रखनेपर तो निमित्त प्राप्त होनेपर भी यहाँ कुछ घटना नहीं बन सकती। जैसे जो मूंगका दाना पत्थरकी तरह होता, पक ही नहीं सकता तो दिनभर भी उसे पकायें तो उस अग्निका कुछ वहाँ असर याने परिणतिगमन नहीं है। अग्निका असर तो पकने वाली मूँगपर भी नहीं, निमित्त सन्निधान है और पकने वाली मूँगमें स्वयं ऐसा स्वभाव पड़ा है कि ऐसा अनुकूल निमित्त आनेपर वह अपनी कच्ची अवस्थाको छोड़कर पक्व अवस्थामें आता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना है, और वस्तु-स्वातंत्र्य होनेपर भी योग्यताके अनुरूप निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था बराबर रहा करती है। इन दोनों बातोंमें कहीं विरोध नहीं है। मैं परिणमनका स्वभाव रखता हूं तभी तो कर्मोदय आनेपर मैं कभी क्रोधादिक कषायोंरूप परिणमता हूं, कभी अन्य नाना रूप परिणमता हूं। तो यह आत्मा स्वयं परिणमनका स्वभाव रखता है और तब जिस भावको अपनेमें करता है वह भाव तो उसका कर्म है और यह आत्मा उस भावका कर्ता होता है। जब शुद्ध ज्ञानपरिणमन होता है तब यह है शुद्ध कर्म और उसका ही वह कर्ता है।

८१८. निश्चयतः कर्ता और कर्मका अर्थ—कर्ता कर्मका निश्चयसे इतना ही अर्थ है—परिणमने वाला और परिणमन। करनेको लोकव्यवहारमें यों निरखा जाता है कि एक दूसरेमें करे तो उसका नाम करना और एक स्वयं में कुछ भी बना करे उसका नाम करना क्या? जैसे यदि एक अंगुलीने दूसरी अंगुलीको टेढ़ा कर दिया तो मालूम होता है

में ऐसी योग्यता है, अतः इसमें यह रागादिकविकार रूप मैं परिणम रहा हूँ। इसमें विकार रूप परिणमनेका सहज स्वभाव नहीं है। यह उपाधिका सम्बन्ध पाकर विकाररूप परिणम रहा है, लेकिन परिणमनेका स्वभाव तो स्वयं पड़ा हुआ है, वह तो किसीसे उधार लिया हुआ नहीं है। वस्तुके स्वरूपसे यह स्वभाव पड़ा है कि वह परिणमा करे। तब मुझमें स्वयं परिणमने का स्वभाव है, मैं चेतन हूँ, जब मैं परकी ओर दृष्टि करूँगा तो विकाररूप परिणाम जाता हूँ। जब परदृष्टिसे हट जाऊँगा और स्व जैसा नित्य शाश्वत चैतन्यमात्र है वैसा अपनेको निरखूँगा तो केवल ज्ञाता रहनेका परिणमन चलेगा। केवल ज्ञाता रहनेके परिणमनमें अशान्ति नहीं है, किन्तु रागादिक रूप परिणमनमें अशान्ति है। परिणमनेका मुझमें स्वभाव है, इस श्रद्धापर कितनी समस्यायें सुलझ जाती हैं, और कितनी अच्छी तरहसे हमें कल्याणका मार्ग मिलता है सो स्वयं निश्चय करते जाइये।

८१६. पदार्थकी परिणमनशीलताके सिद्धान्तके स्वीकारसे अध्यात्मसमस्याओंकी सहज सुलझ—मैं आत्मा हूँ और निरन्तर परिणमनशील हूँ। मैं अपनेमें ही परिणमता हूँ किसी अन्यमें नहीं परिणमता। जैसे मैं किसी अन्यमें मिल नहीं सकता, क्योंकि स्वरूप सबका पृथक् है, सत्ता सबकी अपनी-अपनी है। जैसे मैं किसी परपदार्थमें मिश्रित नहीं हो सकता इसी प्रकार कोई पदार्थ मुझमें भी मिश्रित नहीं हो सकता। यद्यपि इस समय ऐसा एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है कि जहाँ ही मैं हूँ वहाँ ही देह है, वहाँ ही कर्म हैं, वहाँ ही तैजस वर्गणा है, सब कुछ वहाँ ही इस समय मिल रहा है और साथ ही बन्धन भी है। कभी इस सीमाका उल्लंघन नहीं कर रहे, इतनेपर भी स्वरूपदृष्टिसे निहारो तो चेतनमें चेतन है, कर्ममें कर्म है, देहअणुमें देहअणु है और उनका परिणमन भी उनका अपने आपमें है, पर विकारपरिणमनकी विधि यह है कि वे विकारकी योग्यता रखने वाले उपादान अन्य अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं अपनेमें विकाररूप परिणाम जाते हैं, पर इन सब प्रसंगोंमें बात यह आयी कि प्रत्येक पदार्थका स्वयं परिणमनेका स्वभाव है। यह प्रसंग मुख्यतासे तो उस शिष्यको समझानेके लिए चल रहा है। जो शिष्य यह अभी मान रहा कि जीवका परिणमने का स्वभाव नहीं, किन्तु कर्म प्रकृतियाँ इस जीवको क्रोधादिक कषाय रूप परिणमा देती हैं। जैसे कि संख्याप्रधान सिद्धान्तमें माना गया है कि पुरुष अविकारी है और प्रकृति ही विकार उत्पन्न करती है, सो प्रकृतिने अपनेमें विकार किया, अपनेमें एक बुद्धि बनाया, उसमें अहंकार उत्पन्न किया। उससे फिर ये तन्मात्रायें बनी, इन्द्रियाँ बनीं। यों सारा ससार प्रकृति का ठाठ है। पुरुष, ब्रह्म, जीव तो अविकारी हैं। बहुत कुछ पूछा जानेपर कि फिर जीवमें ये दु:ख क्यों पैदा हो रहे ? तो उत्तर मिलता है कि हो तो रहा सब प्रकृतिमें, सुख दु:ख राग-द्वेष सब चल तो रहे प्रकृतिमें पर बुद्धिसे निश्चित इसको यह पुरुष चेतन होनेके कारण

आया कि एक तो अपनेमें उत्पन्न होने वाले विकल्पपरिणमनोंसे हटकर स्वभावमें लग रहा है और एक उन विकारपरिणमनोंमें ही यही मैं सर्वस्व हूं ऐसी प्रतीति करके अपने आनन्द का वहाँ ही उपाय ढूंढ़ रहा है। तो यह अन्तर पड़ा वस्तुस्वरूपका सम्यक् अवबोध हो जानेसे और न होनेसे। ज्ञानकी कितनी बड़ी महिमा है कि सारी बात जो प्रतिकूल चल रही हो उसे अलग हटाकर अनुकूल कर दे और इस ज्ञानके बिगड़नेकी भी कितनी महिमा चल रही है कि जो बात यथार्थ नहीं है, हो नहीं सकती, वहाँ विकल्प बनाकर अपने आपमें वहमी होकर निरन्तर विह्वल रहा करता है। ज्ञानके विलास और बिगाड़में ऐसी जुदी-जुदो महिमा प्रकट होती है। क्या किया ज्ञानीने ? निजको निज परको पर जाना। इतनी बात की, आत्माको आत्मास्वरूपसे जाना, परको परस्वरूपसे जाना। आत्मामें उठने वाले विकल्पों को भी इसने परस्वरूपसे जाना। जिन जिनको यह परस्वरूपसे जानेगा उनसे ही तो यह उपेक्षा करेगा।

८२०. **कल्याणमें दृष्टियोंका प्रताप**—देखिये—दृष्टियोंका प्रताप, कभी यह कहा कि शुभ अशुभ भाव आत्माके हैं, कभी कहा कि ये शुभ अशुभ भाव आत्माके नहीं हैं, कभी यह कहा कि ये शुभ अशुभ कर्म पौद्गलिक हैं, कर्मके हैं। इन तीनों ही बातोंका आशय शुद्धमें शुद्धताका और अशुद्धमें अशुद्धताका प्रभाव डालता है। जैसे ये रागादिक विकार आत्माके हैं ऐसा जानते हुएमें यह आशय बना कि प्रत्येक पदार्थ परिणमन करनेका स्वभाव रखता है। और उस ही लैनमें आज योग्यतानुसार यह रागादिक विकाररूप परिणमन चल रहा है तो ये रागादिक परिणमन किसी अन्यके नहीं हैं, ये रागादिक परिणमन किसी अन्यसे आये हुए नहीं हैं। जैसे कि जीव सोचते हैं कि इस पुरुषसे मुझे सुख मिला, मुझे दुःख मिला, इसने मुझे प्रेम दिया, इसने मुझसे विरोध किया, पर यह बात नहीं है। परिणमनका स्वभाव है और ये आत्मामें परिणमे हैं, आत्मासे परिणमे हैं, आत्माकी परिणतिके द्वारसे परिणमे हैं—इस प्रकार निश्चय दृष्टिसे जब विकारभावोंको देख रहा है तब उसका यह निश्चय है कि ये रागादिक आत्माके है, परके नहीं हैं। इस आशयमें वह शिक्षा क्या ग्रहण करता है कि मेरेमें ये रागादिक हैं और ये क्षणिक हैं, नष्ट हो सकने वाले हैं। मेरेमें यह भी सामर्थ्य है, चैतन्य स्वरूपको अंगीकार करनेमें यह भी बल है कि ये रागादिक विकार मिटकर मेरेमें अविकार परिणमन हो सकता है। यह भी श्रद्धा उसके साथ साथ नत्थी है। तो शुद्ध आशय वाला इससे अपने कल्याणका काम निकाल लेगा। जब ज्ञानीने यह निरखा कि ये रागादिक विकार मेरे नहीं हैं उसका क्या आशय बना है ? एक परम शुद्ध निश्चयनयका, स्वभाव-मात्रका। मेरा स्वभाव केवल चिन्मात्र है, ऐसी अपने विशुद्ध स्वरूपकी तीव्र रुचि है जिससे वह साक्षात् लाभ ले रहा। जब यह निरखता है ज्ञानी कि ये रागादिक विकार पौद्गलिक

कि कुछ किया गया और एक ही अंगुली अपने आपमें टेढ़ी स्थिति बनाये तो इसे लोक-व्यवहारमें करना क्या कहते हैं, किन्तु निश्चयवादमें करनेका अर्थ ही परिणमन है। परिणमने वाला कर्ता कहलाता और उसका जो परिणमन हो उसे कर्म कहते। तो इसी तरह हम अपने आपमें परिणमते रहते है, परिणमनेका हमारा स्वभाव है, प्रत्येक पदार्थमें परिणमने का स्वभाव है। तो निरन्तर जो परिणमन चलता है वह है उसका कर्म और जो परिणमता है सो परिणमने वाला यह कहलाता है कर्ता। इस स्थितिसे जब हम चलते हैं तो निमित्तनैमित्तिक भावकी भी समस्या सुलझती है, उपादानउपादेय भावकी बात भी इसमें ठीक बैठ जाती है। कैसे रागादिक हुए, यह एक मुख्य जिज्ञासा हो रही थी, और उसका एक समन्वयरूप निर्णय यह हुआ अथवा एक प्रतिपादनके प्रसंगमें केवल अवबोधनके रूपमें यह निकष्कर्ष निकला कि यह जीव स्वयं परिणमनेका स्वभाव रखता है और इसके साथ लगी हुई कर्म उपाधि भी स्वयं परिणमनेका स्वभाव रखती है। सो एक दूसरेका निमित्त पाकर द्रव्य द्रव्यका नहीं किन्तु परिणामनका निमित्त पाकर योग्य उपादानभूत पदार्थ विकाररूप परिणमते रहते हैं। जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाकर ये कर्मवर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं और कर्मरूप परिणमती हुई इन वर्गणाओंके उदयका निमित्त पाकर यह जीव अपनेमें रागादिक रूप परिणमता है। तो यह हुआ सिद्धान्त पर यहाँ एक वस्तुत्व की दृष्टिसे देखें तो स्वयं उस प्रकार परिणमनेका स्वभाव पड़ा है और वह स्वयंमें स्वयं इस प्रकार परिणम रहा है तो पर-निमित्त पाकर वह परिणमन चल सकता है, अन्यथा न परिणमते हुएको कौन परिणमाये ? जो स्थिर है जैसे पहाड़, तो वह चल नहीं सकता, उसे कितने ही धक्के दिये जायें पर वह कहाँ चलित होता है ? जिसमें चलित होनेका स्वभाव है वह ही अनुकूल निमित्त पाकर अपनेमें चलित होनेका काम कर सकता है। तो इस तरह इस वस्तुत्वदृष्टिसे निरखनेपर यह आत्मा कर्ता है और इसमें जो परिणाम उत्पन्न हुआ वह परिणमन कर्म।

८१६. ज्ञानके विलास और विगाड़की महिमा—ज्ञानी जीव जिसको भले प्रकारसे स्व और परका विवेक उत्पन्न हुआ है, जिसके आत्माकी ख्याति, प्रसिद्धि है, आत्मा यह है आत्माकी बात इतनी है, आत्मामें आत्माका यह सब काम चल रहा है, यों आत्माकी ख्याति होनेसे वह ज्ञानमय ही है और अज्ञानी जीव भले प्रकार निज और परका विवेक नहीं हुआ इससे उससे विवेकता दूर हो गई। आत्मख्याति नहीं रही तो वह अज्ञानमय होता रहता है। यहाँ जीव दो प्रकारके पाये जा रहे हैं—एक तो विकल्पोंमें उपयोग रखने वाले, विकल्पोंमें आसक्ति, अहंकार रखने वाले और एक उन विकल्पोंमें आस्था न रखकर 'ये मैं नहीं हूं' ऐसी ऐसी अपनी आस्था रखकर ज्ञानमय अंतरतत्त्वकी ओर झुकने वाले। उनमें ऐसा अन्तर क्यों

अन्य विकारों रूप अपनी प्रतीति करे सो अज्ञानी है। जीवका हित, जीवकी रक्षा केवल शुद्ध प्रतीतिमें है। कुछ समागम अच्छा मिला, पुण्यका उदय है, मनुष्य पर्याय मिली और योग्य सामग्री मिली, लेकिन इन सबको हम कहाँ तक निभायेंगे? आखिर यह देह तक भी मेरे साथ न रहेगा अन्य की तो कथा ही क्या? अब यह मैं आगेकी पर्यायमें किस रूप रहूंगा, कैसा ढंग बनेगा, इसका ख्याल करना बहुत आवश्यक है। केवल वर्तमानके ही भोग उपभोगमें रुचि रहना यह बहुत बड़ा महंगा पड़ेगा तब अपने आपके भविष्यके लिए ऐसा ध्यान रखना आवश्यक है कि मुझे जब यह सब कुछ छोड़कर जाना ही पड़ेगा, और मुक्ति इस भवमें इस कालमें है नहीं, तो कोई पर्याय ही तो पानी पड़ेगी। उन पर्यायोंमें यदि नरक तिर्यञ्च जैसी पर्यायें मिलीं तब तो बड़ी कठिनाईकी बात है। देवपर्याय मिली तो वहाँ समागम भी मिलेंगे तीर्थंकरोंकी वन्दना करनेके, अन्य तीर्थस्थानोंकी वन्दना करनेके धर्मस्रवण करनेके, स्वर्गोंमें भी इन्द्र शास्त्रसभा करते हैं। देव लोग सुनते हैं, आत्माकी चर्चा होती है, ऐसे प्रसंग वहाँ भी मिल सकेंगे। कहीं अच्छी जगह मनुष्य हुए तो वहाँ भी धर्मप्रसंग मिल सकेंगे। भीतरमें इच्छा यह हो कि हे प्रभु! मुझे अगले भवमें भी धर्मका प्रसंग मिले। आजकल भी जिनका जो व्यापार है, सेवा है, कृषि आदिक हैं, इन सब कामोंके करनेपर भी जो सन्तोष जो तृप्ति ज्ञान चर्चा सुनने, भगवत् पूजा करने व अन्य अनेक धार्मिक प्रोग्राम करनेमें मिलती है वह धनार्जन लौकिक इज्जत आदिकके प्रसंगोंमें नहीं मिलती। तो हार्दिक वाञ्छा यह होना चाहिये कि अगले भवमें भी मुझे धर्मका प्रसंग मिले और यह बात तब सम्भव है जब हम यहाँ भी धर्मका काफी संग बनाये हुए रहें।

८२३. ज्ञानमात्र प्रतीतिमें धर्मका पालन—धर्मके सब कामोंमें सारभूत बात यह है कि अपने आपकी प्रतीति रखें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, केवल जाननमात्र हूं, ज्ञानगुण वाला हूँ। ज्ञान अमूर्त होता है, ज्ञानमें केवल जानन रहता है, उस ज्ञानरूप अपनेको मानें, मैं और रूप नहीं हूं, मैं परिवार वाला नहीं, मैं लड़कोंका बाप नहीं, मैं किसी का पति अथवा स्त्री नहीं, मैं अमुक नामका भी नहीं, मैं ऐसी पर्याय वाला नहीं, सबका निषेध करते हुए जब ज्ञानमात्र निरखे तो इस प्रतीतिमें मौलिक धर्मपालन होता है। जिससे कर्म कटते हैं, कर्मों का सम्वर होता है ऐसा मौलिक धर्म यह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व प्रतीतिमें रहे। ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति रहे इसके लिए हमको एक तो अधिकतर सत्संग चाहिये। जो ज्ञान मात्र प्रतीति करनेकी रुचि रखते हों ऐसे पुरुषोंका संग हो तो वह बहुत सहायक है ज्ञानमात्रका उपयोग बनाये रखनेकी प्रेरणा देनेमें। दूसरी बात चाहिये हमें अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करनेके लिए स्वाध्याय। स्वाध्यायमें ऐसे ग्रन्थ हों कि जिनसे अर्थ स्पष्ट समझमें आता जाय और आत्मतत्वके बारेमें उसमें वर्णन हो। विशेषतया ऐसे ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी बात कही

हैं, कर्मके हैं, उस समय उसका आशय क्या रह रहा है कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, चैतन्यमात्र मुझ आत्मतत्त्वके साथ रागादिक विकारोंका अन्वयव्यतिरेक नहीं है, अर्थात् इस चैतन्यमात्र मेरे होनेपर रागादिक विकार हों और न होनेपर न हों, ऐसा अन्वयव्यतिरेक नहीं है क्योंकि मैं सदा रहता हूं तो सदा रागादिक हों। इसका अन्वयव्यतिरेक कर्मके साथ है। कर्मविपाक होनेपर ही ये रागादिक विकार होते हैं, कर्मविपाक न होनेपर ये रागादिक विकार नहीं होते हैं। ये तो कर्मोंके साथ अपनी सुलह रख रहे हैं। ये तो कर्मोंके निर्देशमें चल रहे हैं, मैं तो चिन्मात्र हूँ ऐसा वह शुद्ध स्वभावका पोषण करनेके लिए वहाँ मौका पा रहा है। तो शुद्ध आशयके इन तीनों समझोंमें इस ज्ञानीका कल्याण होगा।

८२१. अकल्याणमें दृष्टियोंका संताप—अज्ञानी जीव इन समझोंमें कि विकार आत्माके हैं, विकार आत्माके नहीं, विकार पौद्गलिक हैं—इन तीनों समझोंमें अपना अकल्याण कर लेगा। रागादिक विकार मेरे ही तो हैं, ये मुझसे छूटकर कहां जायेंगे ? मैं कभी रागरहित हो नहीं सकता, ये विकार मेरे हैं, लो अशुद्ध आशय बनाकर अब यह अज्ञानी उन रागादिविकारोंसे छूट न सकेगा। दूसरे विकल्पमें चलो—मेरे रागादिक विकार हैं ही नहीं, जिसके हों सो जाने। ऐसा जान करके यह ज्ञानका भेष बनाकर स्वच्छन्द रहेगा और मनमानी प्रवृत्ति करेगा। शुद्ध आशयके होनेपर ये तीनों ही विकल्प बिगाड़ कर सकते हैं। दूसरे विकल्पकी बात देखो—ये रागादिक विकार पौद्गलिक हैं, पुद्गलसे द्वारा किये गये हैं। पुद्गल जब चाहे कर दे, जब चाहे न करे। जैसे ईश्वर कर्तृत्वमें इस जगतका कर्ता ईश्वर है, वह अपनी मर्जीसे करता है, हम किंकर क्या करें ? ईश्वरकी उपासना करें, वह हमपर प्रसन्न होगा, वह मुझमें दुःख पैदा न करेगा, सुखकी बात देगा। यों ही ये विकार कर्मकृत हैं ऐसा समझकर अशुद्ध आशय वाला यह सोचेगा कि मैं क्या करू ? कर्म करते हैं कर्म छुट्टी दें तो हमें छुट्टी मिलेगी। मैं पिस रहा हूं, अनाथपनेका अनुभव करेगा। तो मुझ आत्मामें परिणमनका स्वभाव है, इसी मूल श्रद्धाके आधारपर यह भी समस्या सुलझ जाती है। यह एक जैन सिद्धान्तका प्राण है जो यह निर्णय रखता कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं हो परिणमन स्वभाव रखते हैं।

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥१२७॥

८२२. अगले भवमें धर्मसंग मिलनेकी वाञ्छनीयताकी झलक—ज्ञानीके जितने जो कुछ भी भाव होते हैं वे सब ज्ञानमय ही होते हैं। और अज्ञानीके जो कुछ भाव होते हैं वे सब अज्ञानमय होते हैं। इसमें उस आशयपर दृष्टि देना है कि ज्ञानी कहते किसे हैं ? जो अपनेको ज्ञान मात्र हूँ ऐसी प्रतीति करे सो ज्ञानी है। ज्ञानभावको छोड़कर अन्य

अन्य कुछ भी नहीं मिल रहा। केवल एक यह ज्ञानमात्र मैं हूं, ऐसी समझ बिना तो अपनी ज्ञानज्योतिको बिगाड़कर दुःखी होता रहता था और जब सम बनता हूं, ज्ञानज्योतिकी समान सुध रखता हूं, इस निर्णयके प्रसादसे कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानसे अतिरिक्त मेरेमें अन्य कुछ नहीं है उसी समय इसमें आनन्द जगने लगता है। बस इतना भर काम है दुःखी होने और आनन्दित होनेके लिये। जब मैं अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी सुध लेता हूं तो सारी असार बातें हट जानेसे इसमें सहज शान्ति व आनन्द जगने लगता है। तब विवेक करके सोचना चाहिये। दुनिया कहीं बह रही हो, लोग कहीं लग रहे हों, यह तो सब मायामय दुनिया है। मेरेको क्या करना चाहिये ? मुझे कोई यहाँ जानता नहीं। अपने आपके बारेमें सोचिये। मेरा कोई परिचय करने वाला नहीं, कोई मुझे समझता ही नहीं है, फिर दूसरेके विचारपर, आधारपर मैं अपना क्या निर्णय बनाऊँ ? मुझे कोई नहीं जानता। जिसे लोग जानते हैं वह तो मूर्त शरीर है। यह शकल सूरत तो किसी दिन भस्म हो जायगी, यह देह भी भस्म हो जायगा या इसे पक्षी चोंट जायेंगे। जिसे लोग पहिचानते हैं वह मैं नहीं हूं। जो मैं हूं, जिस दुःख सुख लगे हैं, जिसपर मेरी सारी जिम्मेदारी लगी है इस मुझको जानने वाला कोई पर नहीं है। जब मुझे कोई समझता ही नहीं तब कोई लोग मुझे क्या करते हैं ? मुझे किसी को क्या जताना है ? मैं तो सबसे अपरिचित हूं, गुप्त हूं, तो गुप्त ही गुप्त रहकर भीतर ही अपनी दृष्टि सुलझाकर ज्ञानप्रकाश पाकर अपनेमें ही रमकर प्रसन्न होनेकी विधि बनाऊँ तब तो मेरा मनुष्यजीवन पाना सफल है अन्यथा जैसे सभी लोगोंने नरभव पाया वैसे ही हमने भी पाया। जैसे सभी लोग नरभव पाकर व्यर्थ गवां गए वैसे ही हम भी गवां गये। यह नरभव, इस जन्ममरणमय भवसे तिरनेका उपाय बनानेके लिए पाया था। इस भव से हम सुलझनेका उपाय बना सकते थे पर इसे यों ही बिता डाला तो यह कितनी बड़ी भारी भूल है ? हम अपनी सम्हाल करें। हमारी सम्हाल यही है कि यह जानकर कि दुनिया मुझे जानती नहीं, इस दुनियाके लिए मुझे कुछ नहीं करना। मैं जब अपने ही आपके परिणामके कारण अपनी सारी आपत्तियाँ भोगता हूं और अपने ही शुद्ध परिणामके कारण आपत्तियोंसे निवृत्त हो सकता हूँ तो व्यर्थमें ही बाह्य संकोच, बाह्य एषणा, इन्हें मैं क्यों करूँ, क्यों बढ़ाऊं और अपने आपके ज्ञानमात्र स्वरूपकी अनुभूति करके स्वयंमें परिणमन किया करूँ ?

८२५. ज्ञानमात्र प्रतीतिके बलसे ज्ञानमयताका विलास—ज्ञानी पुरुषके जितने भी परिणाम होते है वे ज्ञानमय क्यों होते हैं, यों कि उसने अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवमें ले लिया। अब जो भी भाव बनेगा वह ज्ञानमय भाव बनेगा। अज्ञानीके अज्ञानमय भाव क्यों होता कि ज्ञानमात्र स्वरूपकी सुध छोड़कर अपनेको क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, नाम

जा रही है और फिर सहायक रूपमें सभी विषयोंके ग्रन्थ हमें स्वाध्यायके लिए योग्य हैं। जब हम पुराण पुरुषोंका चारित्र वर्णन सुनते हैं तो उससे बहुत प्रेरणा जगती है, ओह ! ऐसे ऐसे महापुरुष हुए, ऐसे साम्राज्यके अधिकारी हुए, किन्तु जब उन्होंने अपनेको ज्ञानमात्र प्रतीतिमें लिया, वैराग्य जगा तो सारे साम्राज्यको तृणवत् समझकर छोड़कर निर्ग्रन्थ हुये। अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करनेके द्वारा प्रसन्नताका अनुभव किया। सब कुछ छोड़ना तो पड़ता ही है। ऐसा छोड़ा तो कल्याण हो गया। अपने जीवनका कुछ समय ऐसा निकालें कि जो निवृत्तिका जीवन हो, प्रवृत्तिमें मोहमें अगर समय गुजारा तो समझो यह समय यों ही गया। निवृत्तिका जीवन एक सच्चा जीवन है। यह एक बहुत बड़े साहसका काम है अथवा सुगम काम है। काममें बात ढूंढ़कर ऐसा निर्णय बनाना कि हम तो अब इतने समयके बाद रिटायर हो जायेंगे, यह बात कुछ सम्भव सी नहीं है। और अपने आप में ज्ञानदृष्टि करके बाह्यको असार जान करके निवृत्त होना चाहे तो यह सम्भव बात है, क्योंकि बाह्य समागम बाह्य परिणतियां यदि इस प्रकार की उलझन वाली हैं कि एक कड़ी सुधारी तो दो कड़ी इसमें फंसती हैं और उन कामोंके करनेसे हम निवृत्त होनेकी आशा रखें तो यह बात सम्भव नहीं है। जिन-जिन महापुरुषोंने वैराग्य पाया, निवृत्त हुए वे अचानक किसी भी सयय निवृत्त हो गए। सुकुमालकी स्त्रीके गर्भ था और सुकौशल की आयु उस समय बहुत थोड़ी थी। वैराग्य हुआ, उस समय निवृत्त हुये। जो कोई भी निवृत्त हुए वे सब अचानक किसी भी स्थितिमें विरक्त हुए। किन्हीं महापुरुषोंने यह पहिलेसे नहीं सोचा कि कुछ संभाल करके मैं विरक्त होऊंगा। यद्यपि वह भी एक कर्तव्य-सा है लेकिन उस ओरसे निवृत्तिका अवसर नहीं है, किन्तु अपने आपमें जो ज्ञान बसा है उसकी ओरसे निवृत्तिका अवसर है। तो जब हम अपने आपको सत्संगमें पाते हैं, स्वाध्यायमें लगाते हैं और ऐसी चर्चामें रहते हैं तो हमको ज्ञानमात्र अनुभव करनेका बहुत अवसर मिलता है। जिस क्षण अपने आपके इस स्वरूपपर दृष्टि जाती है कि मैं अकिञ्चन हूं, मेरेमें सिवाय ज्ञान ज्योतिके और कुछ नहीं है। जब यह मैं बिगड़ता हूं तब भी यह ज्ञानज्योति बिगड़ी हुई है। कुछ दूसरी चीज आयी हुई नहीं है। जब मैं सुधरा हुआ हूँ तो यही ज्ञान ज्योति स्वच्छ है। केवल मैं अपनेको ज्ञानमात्र निरखने लगा हूं। तो मैं अकिञ्चन हूँ, ज्ञानमात्र हूं, बस इन दो चिन्तनोंके आधारसे अपने आपका जितना ध्यान बनेगा उतनी अपनेमें स्वच्छता प्रकट होगी।

८२४. परसे अपरिचित, अकिञ्चन, ज्ञानमात्रकी प्रतीतिका प्रभाव—मैं ज्ञानमात्र हूँ, अकिञ्चन हूं, इस दृष्टिके बिना यह जीव विकल्पोंमें पड़कर व्यर्थ ही विह्वल बना हुआ है। आफत बहुत लदी है पर जब निर्णय करके देखते हैं भीतरमें उसका विवेचन करके देखते हैं कि यहाँ

पाता। लोकमें जीवोंको और दुःख ही क्या है ? दुःख नाना नहीं है। दुःख एक ही है। अपने स्वरूपसे हटकर बाह्यमें चलना बस इतना मात्र दुःख है। अब वे बाह्य चूंकि अनेक हैं, सो उनका नाम लेकर ये जीव अनेक दुःख मानते हैं। किन्तु दुःख नाना हैं कहाँ ? दुःख तो एक ही है। अपनेसे हटकर बाह्यमें बढ़ना। तो जब इन अज्ञानी जीवोंको अपने आत्मा की सुध नहीं है तो क्लेश तो पायेंगे ही। तब जो जो भाव होते हैं वे सब अज्ञानमय होते हैं। मूलका बर्तन जब औंधा रखा है तो उसके ऊपर जो भी बर्तन आयेंगे वे सब औंधे ही आयेंगे। जब बुद्धि ही मूलमें औंधी हो गयी है तो उस बुद्धिमें जो जो भी उपयोग चलेंगे, जो भी उसके प्रवर्तन होंगे वे अज्ञानमय होंगे।

८२७. **क्लेशोंकी अज्ञानजन्यता**--एक सेठ जी के ढलती उम्रमें बड़ी कामनाओं बोल कबूलोंके बाद यज्ञ हवन वा किमिच्छक दान देकर जगत्का आशीर्वाद जब फलित हुआ तब एक पुत्र हुआ। प्रति समय उसकी पूरी संभाल रखी जाती। उसकी कल्पनाओंके साथ ही भोजन वस्त्रादि खेल मौजकी साधन सामग्रियाँ उपस्थित रहतीं। कारण कि वह रहा भी इकलौता-खेलते खाते, आमोद प्रमोद करते षड् ऋतुओंके समान छः वर्ष शान्तिसे बीते। सातवें वर्षमें यज्ञ पूजा व नगरके निवासियों का खानपान करनेके बाद गुरु को दक्षिणा देकर विद्यारंभका मुहूर्त हुआ। क्रमशः जैसे सालके बारह महीने बीत जाते है, वह श्रेष्ठिपुत्र शस्त्र शास्त्रकी शिक्षा लेते सद्गुरुओंके आश्रममें स्वास्थ्य और विनय आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हो बारह वर्षका हुआ। एक दिन बाजारके चौराहेपर सघन छायामें बिछी विशाल चौपालपर हमजोली मित्रोंके साथ छियापट्टी खेल रहा था। उसे खेलते देख दुकानमें चौपालसे कुछ दूर बैठे सेठ जी की आंखें व मन व शरीरका रोम रोम प्रस्फुल्ल हो रहा था, कि एक मोटर आई और उन्हीं लड़कोंकी गोटका एक वैसी शक्ल सूरत वाला लड़का मोटरसे दब गया और कुछ तड़फनके बाद मर गया। तुरन्त सेठ जी पुत्रमोहवश विलाप करने लगे, मुनीमों वा पड़ौसियोंने अपना काम छोड़ सेठ जी को घेर लिया। सेठ जी का हृदय पुत्रमरणकी कल्पनासे इतना शक्तिहीन हो गया कि कुछ स्पष्ट न बोल सके। विवेकहीन हो आँखोंसे अश्रुधारा बहाते कंठसे करुणक्रन्दन करते हाथोंके ईशारेसे बताया कि उनका पुत्र मोटरसे दबकर मर गया। मुनीम और पड़ौसी उस निष्प्राण देह पिंडके पास गये तो ज्ञात हुआ कि यह तो कोई और ही बालक है। श्रेष्ठिपुत्र तो वह ५-७ लड़कोंके साथ बैठा इसी दुर्घटनाकी चर्चा कर रहा है। यही खबर सेठ जी को भी दी। पर सेठ जी वही समझे कि मुझे भुलावा देनेको लोग ऐसा कह रहे हैं, सो वे तो उसी करुणाजनक आलापमें लगे रहे। जब सेठ जी के पास लाकर उनका बच्चा खड़ा किया गया, तब कुछ शान्ति आई। भाइयों ! इसी तरह "अज्ञानसे परको आपा मान आत्मा क्लेशित हो रहा है।

वाला, शकल सूरत वाला, परिचयी आदि अनुभव करने लगता है। इस कारण उसके जो भी भाव बनेंगे वे अज्ञानमय बनेंगे। ज्ञानी पुरुष कदाचित सीमामें विषयोंकी प्रवृत्तिमें भी चलेगा तो उसकी ज्ञानमयता साथ न छोड़ेगी। अज्ञानी पुरुष विकल्पोंके विधान आदिक अनुष्ठानोंमें भी लगे तो वह ज्ञानस्वरूपकी सुध न रखकर विकल्पोंको अपनानेके कारण अज्ञानमय भावोंका संग न छोड़ेगा। कुछ हो बाहरमें। मैं अपनेको ऐसा ही समझूँ कि मैं दुनियासे अपरिचित अकिञ्चन ज्ञानमात्र हूँ, इन तीन विशेषणोंसे अपने आपकी ओर आयें तो। कितना साक्षात् लाभ प्राप्त होता है ? मैं दुनियासे अपरिचित हूँ। ये परिवारके लोग, गोष्ठीके लोग, मित्रजन, सेवकजन ये कोई भी मुझे नहीं जानते। जिसे जानते हैं वह मैं नहीं हूं। यों मैं दुनियासे अपरिचित हूं, अकिञ्चन हूं। मैं ज्ञानमात्र हूं—इसके अतिरिक्त यहाँ और कुछ नहीं लदा है। मैं ऐसा भाररहित और केवल ज्ञानस्वरूप हूं। यों अपरिचित, अकिञ्चन ज्ञानमात्र अपने आपकी दृष्टि रहे तो इस दृष्टिके प्रतापसे आत्मामें एक ऐसी ज्योति जगती है कि जिसमें आनन्द ही आनन्द बसा हुआ होता है। उस आनन्दका, उस ज्ञानका अनुभव करनेके बाद फिर ये बाह्य समागम सहज अरुचिकर हो जाते हैं, असार दिखने लगते है। इनमें कहीं कुछ सार नहीं है। अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होता है इसलिए वह कर्मों को करता है, अपने विकारको करता है और कर्मबंध उसके होता है। ज्ञानीके ज्ञानमय भाव होता है। वह न राग करता न द्वेष करता, न उसकी प्रतीति इस ओर लगती। कोई ऐसा प्रसंग मिले कि राग करना पड़े, पर वह राग नहीं कर रहा, क्योंकि उसको अपने ज्ञानमात्र स्वरूपकी प्रतीति लग रही है। जैसे मुनीम ग्राहकोंसे रकमके लेनदेनमें मेरा तेरा भी करता, पर वह सेठकी सम्पत्तिमें आसक्त नहीं हो रहा, क्योंकि उसकी प्रतीतिमें है कि यह कुछ भी मेरा नहीं है, ऐसे ही ज्ञानी जीव कदाचित राग भी करता है तो रागसे हटा हुआ रहता है क्योंकि उसे ज्ञानमात्र निज स्वरूपमें प्रतीति हुई। हमारा आपका भला है इसमें कि अपने को इस रूपमें देखें कि दुनियासे अपरिचित अकिञ्चन ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं।

८२६. **अज्ञानियोंके अज्ञानमय प्रवर्तन होनेका मूल कारण**—मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकार जब अपने स्वरूपका बोध नहीं रहता तथा उपयोग अपनेको कुछ माने विना नहीं रहता और यह ज्ञानमात्र अपनेको माना जा सका नहीं तब नाना परभावोंरूप विकारों रूप अपनेको मान लेते हैं। यह उपयोग माने विना नहीं रह सकता और सत्यस्वरूप मान न सके उसका ही फल है कि अपनेको इस अज्ञानी जीवोंने नानारूप मान डाला। सो स्व और परका भेद न होनेसे इसके आत्माकी प्रसिद्धि बिल्कुल अस्त हो गयी। अज्ञानी मोही जीवोंको अपने अस्तित्वका भी पता नहीं है। व्यवहार करते हैं, मैं मैं शब्द बोलकर कुछ अपना अनुभव करना चाहते हैं, पर जैसा ज्ञानमात्र स्वरूप है उसरूप अनुभव नहीं हो

सामने छातीमें मारती है जिससे कमर झुक जाती है औरोंको अब क्या मुख दिखाये. कैसे औरोंसे भाईचारेसे बोले ? जब धन था तब अच्छों अच्छोंको ठुकराया, निरादर किया। अब कौन ऐसे मायावीसे सहृदयता दिखाये सो इसे महान् दुःखका अनुभव होता है।

८२९. गुणानुवृत्तिका कर्तव्य—भाइयों यदि तुम्हें मोह हटानेकी लगन है तो निश्चय का अवलंबन लेकर सामान्य स्वसमयाकार ज्ञायक शुद्ध रूप आत्माको देखो। स्वानुभवीके कषायोंकी मन्दता होना ही परीक्षाफल है। कषायोंकी मन्दतामें जो पुण्य राशि बंधती है उसका फिर भी उत्कर्षण होता है जिससे अनायास लौकिक उपयोगी वस्तुएं मिल जाती हैं, उसकी सुख दुःखकी परिणतियाँ धूप छायाके समान मूल आत्मापर असर डाले बिना अर्थात् कर्ता भोक्ता बने बिना ज्ञानके विषयमें आतीं और चली जाती हैं। जैसे व्यवहारमें हम दूसरेका विरोध विगाड़ करके अपना भला नहीं कर सकते, किन्तु दूसरोंकी उपेक्षा करके अपनी प्रगति भी कर सकते हैं, उसी प्रकार शुद्धात्मा व्यवहारनयका विरोध करके ही मध्यस्थ बनता है। मैं अपने अस्तित्व विशिष्ट हूं और पर अपने अस्तित्व विशिष्ट है, ऐसी वस्तुस्वतंत्रताके ज्ञान बिना माध्यस्थभावना नहीं पल सकती। मैत्रीभावना करना सरल है। दीन दुखीपर दया हमारे स्वभावमें है। गुणीजनोंको देख झुकना, विनय करना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना—ये तीनों भावनायें आसान हैं। जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं वे भी इन तीन भावनाओंका पालन कर लेते हैं। आज भी अविकारी लोग स्वाभाविक रूपसे या मानव धर्मके नाते सभ्यताके नामपर इन तीन भावनाओंको व्यवहारमें सदा लाते हैं किन्तु चौथी माध्यस्थ भावनाका पालन बड़े विवेकका फल है, बड़े आत्मबलका काम है। जो अपना बुरा करे, तुम उसको तटस्थ भावसे देखो, प्रतिकृति प्रतिपक्षकी भावना न पैदा होने दो। यह कठिन है, किन्तु आत्मानुभवके बलपर यह कठिन व्रत भी सुगमतासे पाला जा सकता है कि दुष्टकी परिणति दुष्टमें है, मेरी परिणति मेरेमें है। मैं अपनी ज्ञानचेतनाके लक्ष्यसे क्यों च्युत होऊं ? वह अपना कर्तव्य करता है, मैं भी अपना कर्तव्य क्यों न करूं ?

८३०. हठ और विकल्प—लोगोंको हठ अपने परिणामोंकी अपनी कषाय पुष्टिकी होती है। घरमें आप एक बर्तन लाये। दूसरोंने उसे घरमें अनुपयोगी बताया, तो आपको उस बर्तन रखनेकी हठ नहीं है, किन्तु जो मैंने किया सो ठीक किया, ऐसे अपने कर्तापनकी हठ होती है। व्यवहार नयके सभी विकल्प पराश्रित होनेसे पर हैं। उनमें स्वस्वामी संबंध की हठ मत करो, कि मेरी आज्ञा अनुसार क्यों काम नहीं हुआ ? देखो एक वक्ता महोदयने सूचना दी कि मैं ८ से ८॥ तक बोलूंगा। अमुक विषयपर अमुक जगहपर आप सब आवें। तो अगर ऐसी अहम्मन्यता है कि लोग मुझे समयकी पाबंदी करने वाला, बड़े दिमाग वाला अंग्रेज जैसा सावधान कहेंगे तो समझो वह वक्ता परलक्ष्यी है और यदि सुनने वालों

८२८. **मृगतृष्णाका रंग**—"आकुलित भयो अज्ञानधार, ज्यों मृग मृगतृष्णा जान बारि" अर्थात् मारवाड़में दुपहरीमें सूर्यके किरणोंके तापके साथ तेजसे जब वहाँकी रेत चमकती है तो प्यासे हिरणोंके झुंड तृषा प्यास बुझानेकी लालसासे उधर दौड़े जाते हैं किन्तु पाते हैं वही मृगतृष्णा अर्थात् चमकती रेत, फिर गर्दन ऊंची उठाकर आंखोंसे देखते हैं कि देखो उधर तालाबका जल चमक रहा है। दौड़ते हांफते वहाँ पहुँचते हैं. किन्तु पाते हैं वही रेत। ऐसी ही अवस्था हमारी संसारी जनों की है। हम समझते हैं कि इस तरह ब्लेक बाजारसे, घूँस रिश्वतसे, दौड़धूपसे ग्राहक को बातोंके चक्करमें लाकर, अपनी दुकानकी सफाई व सजावट दिखाकर धन कमाकर सुखी होना चाहते हैं, भक्ष्य अभक्ष्यका ख्याल न कर शरीरको पुष्ट करना चाहते है, उजले कपड़े पहिनकर कुछ समाजसेवकका बाना बनाकर परमार्थकी बड़ी रकमोंको जमा करके उस रकमको अपने काममें लेकर भी संस्थाको रकमका ब्याज न देकर धन बढ़ाते रहते हैं और धनसे मदान्ध हो अपनेसे गरीब साधर्मियों तथा साधु सन्तोंका या अपनी समाजके भाइयोंका तिरस्कार करते हैं और धर्मादिकी रकमसे चन्दा देकर लोकनेता बननेका दम भरते हैं, बहुत हाथ पैर पीटते हैं। कभी कभी तो इस झूठी लोकसेवाका चेक भुनाकर धारा सभाओंके सदस्य बनकर बड़ी तनख्वायें और बड़ी इज्जत पाकर भी जैसे आगकी चोरी रजाईमें नहीं छिपाई जाती वैसे ही यह बड़प्पनकी कलई उतर जाती है जो कि लोगोंको चांदी बननेका भान कराती थी। ऐसे धन व पदके नशेरूप आत्मलक्ष्यसे जो भ्रष्ट अवस्थायें पैदा करते हैं उनके संबंधमें कहा है कि—"कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय। वह खाये बौरात है यह पाये बौराय॥" अर्थात् कनक नाम धतूरेका भी है और कनक नाम सोने धन संपत्तिका भी है। धतूरेके तो खानेपर नशा चढ़ता है, किन्तु धन संपत्तिके आगमनसे ही नहीं, किन्तु आगमनकी खबरसे ही आत्मलक्ष्यसे भ्रष्ट हो भौतिक सुखमें मग्न हो भूत जैसी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियाँ करता है। तारसे खबर आई कि आपको दो हजार रुपयोंका घाटा चाँदीमें आज रहा। बस हम व्याकुल हो गये। हमारे मित्र पुत्र भोग जो रोचक थे वे भी अरोचक ज्ञात होने लगे। दूसरे दिन खबर आई कि अलसीके सौदेमें पाँच हजारका मुनाफा हुआ। अभी कुछ रकम आई नहीं, किन्तु खर्चकी मिसिलें पुत्र मित्र स्त्रीने और स्वयं सेठ जी ने अलग अलग पांच पांच सौ की बनाकर पूरे दो हजारका बजट रख ही डाला। जिस धनके पीछे यह इहलोक परलोक और माता पिता व परमात्माको भी भूल जाता है उसीका नाम दौलत भी है। अर्थात् वह एक लात तो पीठ पीछे कमरमें लगाती है, सो आदमी अकड़कर धनके मदमें ऊपरको नजर करके चलता है। वह अपने सहयोगियोंको प्रेमकी नजरसे नहीं देखता। बोली भी बदल जाती है और जब अपने धनके नाम चंचलाके या स्वभावके अनुसार चली जाती है तो एक लात

व विने मनको सर्वाधिक चंचल जानकर पहिले रखा। "प्यारे भाइयो मनके हारे हार है मन के जीते जीत। मन ही के वश पाइये पारब्रह्म परतीत ॥" मनका कार्य है विचार। सो जैसे आचार्योंने परिग्रहका प्रमाण बताया है, ऐसे ही विवेकी को विचारोंका भी प्रमाण करना चाहिये। किन्तु शुद्ध ज्ञायक स्वभावमें पहुँचने व रमनेकी जिसे लालसा है वह व्यर्थके विचारोंको तो आने ही क्यों देगा? शुद्ध भोजी विवेकी जैसे अपनी थालीमें अभक्ष्यको नहीं आने देता वैसे ही व्यवहारनयके विकल्पोंको आत्मानुभवी पूर्ण रूपसे छोड़ना चाहता है और विवेकी अपने प्रत्येक दिन व प्रत्येक घंटेको, प्रत्येक मिनटको सदुपयोगमें लगाना चाहता है और सदुपयोगमें लगाकर सन्तोष मानता है क्योंकि है यह विवेकी है।

८३२. वर्तमान क्षणका मूल्य—"आयुष: क्षण एकोऽपि न लभ्येत स्वर्णकोटिभि:, स चेन्निरर्थको नीत: कानुहानिस्ततोऽधिका ॥ अर्थात् मनुष्यायुका एक क्षण भी व्यर्थ मत खोओ, सदा आत्मोद्धार और आत्मकल्याणका प्रयत्न करो। आहार, मित्र पुत्रादि तिर्यंचों के भी होते हैं। उनसे उत्थान क्या? कोई सद्गुरु भावुकजनोंको चेताते हैं कि आत्मकल्याण करो तो वह कहते हैं कि महाराज जरा लड़का समझदार हो जाये। उसकी शादी विवाह कर दूं कि बस मेरी लौकिक जिम्मेवारी पूरी हुई। लड़का बी० ए० पास हो गया, ऊंचे घरानेमें शादी हो गई, लड़केको बैंकमें अच्छी पोस्ट जगह भी मिल गई किन्तु इस वृद्धको अब पौत्रके मुख देखनेका मोह बढ़ता है। यथार्थमें मनुष्य अपनी कषायपुष्टिमें लगा है। वह परका क्या कर्ता हो सकता है? वह इस उक्तिपर विश्वास जमा कर कहता है कि—"अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्" अर्थात् पुत्रका पुत्र पैदा हो जाय तो गृहत्याग संन्यासी बन जाये, किन्तु ऐसा बन्धन जैनशास्त्रोंमें नहीं है। न यहाँ दाहसंस्कारके लिये पुत्रकी लकड़ीकी महत्ता और न संन्यासके लिये पौत्रका मुख देखने की। यहाँ तो आठ वर्षकी उम्र में भी विवेक जागृत हो जानेपर आत्मकल्याण मार्गमें लग सकनेकी आज्ञा है। खैर, पुत्रके पुत्र हुआ, फिर तीसरे खूंटेसे अपने आपको बाँधता है कि पौत्रका विद्यासंस्कार होते ही में गृहत्याग दूंगा—"करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितम्। मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम् ॥" अर्थात् यह करना है, यह करूंगा, यह करना है, यह करूंगा—ऐसा जब तक जीना तब तक सीना, की उधेड बुनमें लगा हुआ मृत्युको प्राप्त हो जाता है और आर्तध्यानसे कुगति पाता है। कांच रूप लौकिक विकल्पोंकी अदलाबदलीमें मनुष्यभव श्रावक कुल सत्संग आदि चिन्तामणिरत्न समान अमूल्य निधि खोकर पछताता है।

८३३. अज्ञानीको यथावत् लौकिक ज्ञान होनेपर भी अज्ञानमयता—अज्ञानी जीव चौकीको चौकी, दरीको दरी, बाबा नानाको बाबा नाना मानता है तो क्या यहाँ अज्ञान भाव है? क्या सच नहीं समझ रहा है? हाँ सच नहीं समझ रहा है। वह कैसे? चौकी

को आने जानेकी सुविधा वाले वक्ताने यह सूचना दी कि ८ बजेसे ८॥ बजे तक प्रातः शास्त्र सभा होगी तो फिर चाहे ५ मिनट आगे पीछे शुरू हो किन्तु उसमें आत्मानुभवका लक्ष्य रखनेसे वह विचार शुद्ध ही है। जहाँ तक व्यवहारनयका विरोध या समर्थन है वहां तक विकल्प है। ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद मालूम होना सो विकल्पका स्वरूप है और द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म आदि द्रव्योंमें अपनी कल्पना करना संकल्प है। जिस तरह व्यवहारनयका अवलंबन विकार है उसी तरह निश्चयनय का भी आलम्बन विकार है। इसी विकारके दूर करनेका क्रम है कि प्रथम व्यवहारका आलम्बन छोड़ो। सामायिक पाठ भाषामें आपने पढ़ा है कि—"सामायिक सम नाहिं और कोउ वैर मिटायक। सामायिक सम नाहिं और कोई मैत्रीदायक॥ श्रावक अणुव्रत आदि अंत सप्तम गुण थानक। यह आवश्यक किये होय निश्चय दुःख हानक॥ जे भव आतम काजकरण उद्यम के धारी। ते सब काज विहाय करो सामायिक सारी॥ तो इसमें लिखा है कि पूजा दान आदि शुभ उपयोग छोड़ यानी व्यवहार का आलम्बन छोड़ निश्चयनयमें पहुँचो और निश्चयनयको भी छोड़ स्वानुभवमें पहुँचो। कारण कि निश्चयका आलम्बन भी रागसे है। व्यवहारनयमें प्रवृत्ति मोहसे होती है। दोनों को छोड़कर परभावमें जब स्व-स्वामी संबंध छूटा तब एक स्वानुभवमें निश्चित हो जाता है।

८३१. **मैं हूं के निर्णयमें भविष्यका विभाग**—परभावमें "यह मैं हूं" इतने विचारमें ही आस्रव बंध रूप समल परिणति और संवर निर्जरा रूप निर्मल परिणति होती है। मैं धनवान् हूं, मैं तुम्हारा हाकिम हूं, मैं गरीब हूँ, इत्यादि पर्याय बुद्धिमें रागी द्वेषी होना—ऐसी ममत्व बुद्धि आस्रव बंध कारक है और अनादि अनंत अहेतुक अचल ध्रुव सामान्य तत्त्वपर दृष्टि रखना सो संवर निर्जराजनक परिणति है। लोग कहते हैं—बैठेसे बेगार भली। सो भाइयों बेगार तो शब्द भी खराब है, काम भी खराब है। कोई कोई तो बेगारका अर्थ काम बिगाड़ना कहते हैं। कहते हैं कि तुमने तो बेगार सी टाली, ठीक काम नहीं किया, किन्तु तुम्हें उस समयको अमूल्य घड़ी समझनी चाहिये जब तुम्हें अपनी आत्माका अनुभव हो। यह ज्ञायक स्वरूप मेरा है, मैं इसी ज्ञायकरूप हूं—ऐसे अनुभव लानेको न तो खास धनकी जरूरत है, न खास जगहकी जरूरत है। फिर भी शरीरको काबू करने वाले आज निरोगी पुरुष अनेक हैं, किन्तु मनको काबूमें करने वाले विरले ही हैं। "इस मनकी परतीति नहीं क्षण में मन कोस हजारन जावे। "मनो मधुकरो मेघो मानिनी मदनो मरुत्। मा मदो मर्कटो मत्स्यो मकारा दश चञ्चलाः॥ संसारमें ये १० चीजें चंचल हैं—मन और मधुकर अर्थात् भौंरा, मेघ अर्थात् बादल और मानिनी अर्थात् स्त्री, मदन अर्थात् कामदेव, मरुत अर्थात् वायु मा अर्थात् लक्ष्मी और मद अर्थात् अभिमान, मर्कट अर्थात् बन्दर, मत्स्य अर्थात् मछली—ये दश मकार अर्थात् जिनका पहिला अक्षर म है वे महान् चञ्चल स्वभावके हैं, किन्तु विद्वान्

ने अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव किया है सो विल्कुल स्पष्ट है, समस्त परतत्त्वोंसे निराला ज्ञानमात्र यह आत्मा इसकी दृष्टिसे प्रसिद्ध हुआ है। तव यह ज्ञानमय ही हुआ। कभी गप्पसप्पमें भी बैठकर उससे जुदा रहकर अपने आपके ज्ञानमात्र स्वरूपकी ओर टिकाव रहना यह किसके बलका सामर्थ्य है ? यह सम्यग्ज्ञानका सामर्थ्य है। परिवारके बीच रागभरी बात बोलकर भी कुछ राग होकर भी वह विरस लगे, सूना लगे और ज्ञानमात्र निजतत्त्वकी ओर कुछ अपनी गति सी मालूम पड़े, यह किसके बलका सामर्थ्य है ? सम्यग्ज्ञानके बलका सामर्थ्य है।

८३५. सम्यग्ज्ञानीकी अन्तर्वृत्तिका बल—देखो भैया ! एक निगाहसे यों लग सकता है कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ गोदमें बालकको खिलाता हुआ भी आनन्द नहीं पा रहा, क्योंकि उसकी दृष्टि है अलौकिक अंतस्तत्त्वकी ओर, और अलौकिक अंतस्तत्वका उपयोगसे सम्बन्ध है नहीं, तो इससे तो वह अज्ञानी गृहस्थ चोखा है जो गोदमें भरपूर ढंगसे बच्चेको खिला कर खुश तो हो रहा है, हंस तो रहा है। इस सम्यग्दृष्टिकी तो दशा न यहाँके मौजकी है और न अनुभवके आनन्दमें ही मग्न हो पाता है, लेकिन यह जानना कि ये सारे मौज इतने बड़े खतरे हैं कि भले ही कुछ मिनटोंका यह सुख माने, वहाँ भी वस्तुतः क्षोभ मच रहा है, किन्तु परिणाम इसका नियमसे खोटा है। स्थिति आगे खोटी आयगी। इस सम्यग्दृष्टि जीवने जो कि ज्ञानानुभव अनवरत नहीं भी कर पाया, वहुत अन्तरायके बाद कर पाता है लेकिन अनुभव किये हुए आनन्दमय ज्ञानतत्त्वका स्मरण चल रहा है। जैसे कोई पुरुष जो अच्छी मिठाइयाँ खानेका लोभी है वह खूब छककर अच्छी मिठाइयाँ खा चुका, उस समय अपनी कल्पनामें उसने मौज तो लूटा ही था, मगर दिन भर उस मौजका स्मरण करके अपनेमें गौरव अनुभव करता है। जव यहाँ साधारण जन भी भोगे हुये मौजका स्मरण करके सुख मानते हैं तो सम्यग्दृष्टि जीव जिसने कि विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपका अनुभव किया है वह उस स्मरणके प्रसादसे आनन्द पाता रहे तो इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है ? अनुभव चाहे जव हुआ हो किन्तु उसके स्मरण मात्रसे यह ज्ञानी पुरुष सदा निराकुल रहता है। भले ही कुछ ऊपरसे आकुलतायें आयें, किन्तु जब सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करता है उस ही समय यह दुःखोंसे छुटकारा पा लेता है।

८३६. परस्पर अकर्तृत्वकी अचलितता—यह ज्ञानी जीवको स्व और परका विवेक हुआ है, इसको आत्माका स्वरूप स्पष्ट है, इसको ज्ञानमय भाव हुआ है स्व और परमें तव नानापनका भाव करके यह परसे हटकर ज्ञानमात्र भावमें ही अच्छी तरह बैठता हुआ राग-द्वेषसे पृथक् होनेके कारण स्वरसतः ही अहंकारसे हट जाता है। मैं क्या करता हूं ? मैं बाहरमें कुछ नहीं करता। कितने ही बड़े काम हो रहे हों, कितने ही प्रकारके कामकाजके

को चौकी भी जान लेनेसे सत्यता विदित नहीं हो सकी। चौकी क्या है ? क्या यह परमार्थभूत यथार्थ वस्तु है अथवा एक यथार्थ वस्तुसे कुछ निराला है ? अर्थात् जो एक एक अणु हैं, जो इन्द्रिय द्वारा गम्य नहीं हो सकते, अनादि अनन्त हैं, अहेतुक हैं, अपना विशुद्ध सत्त्व लिए हुए हैं ऐसे एक एक अणु ही परमार्थभूत पुद्गल हैं, उनकी यह एक मायारूपता बनी है तभी तो यह बिगड़ जाता, कुछसे कुछ बन जाता, पर परमार्थवस्तु बिगड़े, टूटे, कुछसे कुछ बने यह उसमें बात नहीं होती। इस यथार्थताका परिचय नहीं है तो चौकीको चौकी जानकर भी परमार्थके सम्बंधमें तो अज्ञान ही चल रहा है और इस अज्ञानमय भावका फल क्या मिलता है कि उसे शान्ति नहीं हो पाती, किसी एक उपादेयभूत उत्कृष्ट लक्ष्यमें जम नहीं पाता। इसीसे यह ज्ञानमात्रसे भ्रष्ट होता हुआ राग द्वेषोंके साथ एकमेक हो जाता है और तब तब इसके अहंकार प्रवर्तता है, मैं यह करता हूँ, मैं राग करता हूं, मैं द्वेष करता हूं, मैं परिचय करता हूं, इस प्रकार इन बाह्य पदार्थोंमें 'मैं' का लगाव होनेसे यह जीव जिसका कोई जाननहार नहीं, जिसे कोई पूछने वाला नहीं, यह ही खुद मान न मान मैं तेरा महिमान बना फिर रहा है। कोई भी जीव इस मुझको पहिचानता नहीं है। जिसपर सारा भविष्य लदा है, जो अपनी पर्यायमें परिणमकर अपनी ही अनुभूति करता रहेगा उस चैतन्यतत्त्वको कोई पहिचानने वाला नहीं है, पूछने वाला भी नहीं है। लेकिन यह जीव इस टेकमें लगा है कि कोई लोग मुझे जानें या न जानें, पर मैं तो इनमें ही लगा हुआ हूं। इस प्रकार जबरदस्ती महिमान बन रहा है। लोगोंसे परिचय नहीं है पर अपनेको परिचय वाला मानता है, इसी कारण अज्ञानमय भाव होनेसे अज्ञानमय परभावोंको, इन रागद्वेष भावोंको आत्मारूप करता हुआ कर्मोंको करता है।

८३४. सम्यक् ज्ञानके बलका सामर्थ्य—ज्ञानी पुरुषोंने जाना कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। देखो भैया ! हम आपका इस परमार्थभूत सत्य तत्त्वपर टिकाव नहीं हो पाता कुछ, इस सम्बंधमें ज्ञान तो बन रहा अथवा यथार्थतया ज्ञान भी नहीं बन रहा। जैसे नक्शों द्वारा अमेरिका, जापान, जर्मन आदिक देश समझ लेते हैं इसी तरह कुछ शब्दों द्वारा थोड़ा बहुत अनुमान द्वारा कुछ निकट भी पहुंचकर आत्माकी बात तो समझ लेते हैं, पर ऐसे अनुभवके साथ अपनेको नहीं समझ पाते कि जिसके बाद फिर यह निश्चय हो कि यह है सत्य आत्मस्वरूप, और उसका अनुभव जगे, आनन्द जगे तो फिर वाह्यपदार्थोंकी असारता उसके चित्त में रमण नहीं कर सकती। यत्न करना है जीवनमें तो एक यही कि मैं अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर लूं। इस कार्यके अतिरिक्त अन्य जितने भी कार्य हैं वे सब बाह्य हैं, असार हैं, यहाँ कुछ भी समागम हो गया उससे इस आत्माका लाभ नहीं है। यह ज्ञानके द्वारा ज्ञानमात्र निज स्वरूपका अनुभव जगे तो इससे नरभव पानेकी सफलता समझना चाहिये। ज्ञानी

हूं। प्रभु हूँ, कृतार्थ हूँ, परिपूर्ण हूं, कुछ अधूरापन है ही नहीं, कुछ क्लेशके योग्य बात ही नहीं, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जब अनुभव कर लेता है तो यह कृतार्थताका अनुभव करने लगता है। जीव कृतार्थता जैसे भावमें शान्तिका अनुभव करता है। कोई काम बन चुका तो बड़े विश्रामसे बैठकर सन्तोषकी साँस लेते हैं, क्योंकि चित्तमें यह समा गया कि मैं कृतार्थ हो गया हूँ। मेरे करने को अब कुछ नहीं पड़ा। तो ज्ञान बलसे सभी पदार्थोंमें यही बात तकता रहे कोई कि मुझे कुछ करनेको पड़ा ही नहीं है, क्यों कि मैं ज्ञानमात्र हूं, आकाशवत अमूर्त विज्ञानघन यह आत्मा कुछ परमें कर सकेगा नहीं, परमें इसे कुछ करना नहीं, यों कृतार्थताका ज्ञानी पुरुष अनुभव करता है, यह उसका ज्ञानमय परिणमन है, किन्तु अज्ञानी जीव कहाँ इस ज्ञानमय परिणमनका अधिकारी बन सकता है? वह तो बाहर ही ज्ञान और आनन्दको ढूँढ़ेगा। ज्ञान और आनन्दकी निजमें ही श्रद्धा रखने वाले संतजनोंका संग यदि बहुलतया प्राप्त रहे तो चित्त इस ज्ञानभावकी ओर जायेगा। इसही ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की चर्चा बोलने सुनने मनन करनेको मिले तो इसके अभ्याससे इसका कलंक दूर हो और विशुद्ध आनन्दकी जागृति हो। पर ऐसा करते रहनेके लिए हमें अब वह सारा समय लगाना है जो निर्विकल्पसमाधिसे पहिले-पहिले मिले। अनादिकालसे अनवरत चले आये हुये कलंकोंको धोनेके लिए हमें कितने समय निष्कलंक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी सुध रखनी होगी? सभी समय अनवरत ज्ञानमात्र मैं हूं—यह अनुभव चलेगा तो आत्मामें विशुद्ध आनन्दकी अनुभूति रहेगी। परसे निराला, दूसरोंसे अपरिचित अकिञ्चन मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह प्रतीति न भूलें तो समझिये कि हमारे हाथ कुछ लगा है अन्यथा हम रीतेके ही रीते हैं।

णाणमया भावादो णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

८३९. ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भावकी उद्भूति—मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी जिसकी प्रतीति बनी रहती है उसे ज्ञानमय आत्मा कहना चाहिये। यद्यपि जीव सभी ज्ञानमय हैं लेकिन जिनको अपनी ज्ञानमयताकी सुध नहीं है वे उपयोगमें रीते हैं। जैसे घरमें धन गड़ा है पर उसका पता नहीं है तो उस धनका कुछ भी तो उपयोग नहीं है, वैसेके वैसे गरीबीमें ही रहकर अपना समय काटता है, व्यवहारमें गरीबोंकी तरहकी वृत्तियाँ करता है। और कोई चारा ही क्या? और जब उसको किसी तरह यह खबर हो जाय कि मेरे घरमें निधि पड़ी है तो यद्यपि अभी उस निधिको निकाला नहीं है फिर भी उसके चित्तमें गौरव हो ही

प्रसंग चल रहे हों, उनमें यह उपयोग भी बनता है तो भी यह भावना रहती है कि मैं इसमें क्या करता हूं ? मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, सो इस ज्ञानस्वरूपमें ही मैं कुछ किया करता हूँ। विकल्परूपसे रहूं अथवा निर्विकल्परूपसे रहूं, सब कुछ इस ज्ञानस्वरूपमें ही किया करता हूँ। मैं अन्य पदार्थोंके परिणामको नहीं करता। यों उस ज्ञानी जीवका अहंकार नष्ट हुआ, तब वह निरन्तर जानता रहता है कि मैं इन रागद्वेषोंको आत्मारूप नहीं करता हूँ, मैं कर्मोंका करने वाला नहीं हूं। ऐसी संक्षिप्त प्रतीतिका कितना अद्भुत प्रभाव चलता है। मैं ज्ञान-मात्र हूं और ज्ञानका ही विलास चले, इसके सिवाय और कुछ मैं करता नहीं। सर्वत्र हमारी यही बात है। जब धर्मध्यानमें होते हैं तब भी हमारी यही बात है। मैं ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानके विलासको ही कर रहा हूं। जो अज्ञानी पुरुष हैं उसमें भी यही बात है कि वह ज्ञानमात्र है और अपनेमें ज्ञानके विलासको कर रहा है। उसके विलासका रूपक और बन रहा है, ज्ञानीके विलासका रूपक और बन रहा है, पर कहीं ऐसा नहीं है कि अज्ञानी तो परमें कुछ कर देता हो, अथवा अज्ञानीमें पर कुछ कर देता हो और ज्ञानी परमें कुछ नहीं करता, ज्ञानीमें पर कुछ नहीं करता। सर्वत्र कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें कुछ करता नहीं है। अज्ञानीके विकल्प है, वह करनेका भाव रखता है, परमें अहंकार रखता है, इस बातसे अज्ञानीको कर्ता कहा गया, पर वस्तुस्वरूप जो है वह सर्वत्र अचलित होकर बर्त रहा है।

८३७. ज्ञानी अज्ञानीके भावका विवरण—इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा कि ज्ञानीके तो ज्ञानमय भाव होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय भाव होता है। यहाँ ज्ञान और अज्ञानसे प्रयोजन वस्तुस्वरूपसे है, अपने आत्मस्वरूपसे है। ज्ञाता द्रष्टा रहना सो ज्ञानका प्रताप है। रागी द्वेषी विकल्पक बनना सो अज्ञानका प्रताप है। हम व्यवहारमें भागे जा रहे हैं व्यवहारियोंके वचनोंकी प्रेरणा पाकर। जैसे कोई बालक किसीके बहकावेमें आकर कौवेके पीछे भाग रहा है। कौवा मेरे कान ले गया। पर धीर होकर अपने अवयवोंमें कानोंको नहीं टटोलता कि मेरे कान बाहर गये भी है क्या ? इसी तरह अज्ञानी जीव निश्चयतः अपने अपराधसे और व्यवहारतः दूसरेके निरखन और व्यवहारसे ऐसा मान कर कि परपदार्थोंमें मेरा आनन्द भरा हुआ है, उनसे मुझे आनन्द मिलता है, सो परकी ओर भागता है अथवा परसे अपने आनन्दकी आशा रखता है, पर कभी इसने धीर होकर अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि नहीं की है। दृष्टि करे तो यह स्वयं जान जायगा, अहो, यह मैं ज्ञान और आनन्द भावसे ही तो रचा हुआ हूँ। इसमें और कुछ तो है ही नहीं। ज्ञान और वह है विशुद्ध निराकुलतारूप आनन्दका अविनाभावी।

८३८. अन्तस्तत्त्वकी सुध रखनेकी आवश्यकता—लो मेरे लिए मैं ही पूरा सर्व व

भी उसकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकता। इसको तो इसी रूप बनकर अनुभव करके समझा जा सकता है कि ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिका प्रताप क्या है ?

८४१. आत्महितके वाञ्छकोंकी बाह्यसंगमें अमुग्धता—जगतमें ऐसा लौकिक समुदाय बहुत है जो ज्ञानदृष्टिसे, धर्मपालनसे बहिर्भूत रहकर मौज उड़ाता है और धर्मको ढकोसला कहकर मजाक उड़ाकर अपने विषयोंके मौजमें रहता है। ऐसे लोगोंकी चारुवाणी भी बहुतों को प्रिय होती है और उनकी संख्या वृहत्तम है, किन्तु आत्महितकी भावना हुई है तो इस लोक समुदायपर दृष्टि न देना। कोई लोग किसी प्रकारका मौज कर रहे हों। लोकमें अरब-पति बहुतसे पड़े है उनपर दृष्टि देनेसे, उनकी ही तरहका सुख चाहनेसे लाभ क्या होगा ? जो लोग धर्मदृष्टिसे दूर रहा करते है उनकी वाणीमें मुग्ध न होना चाहिये। आत्महितकी भावना है तो गुप्त ही गुप्त रहकर अपने आपमें भीतर ही भीतर रहकर इस ज्ञानमात्र स्व-रूपकी दृष्टि करके इस समृद्धिको लूट लेना चाहिये, बढ़ा लेना चाहिये। इसके सिवाय हम आपकी सही गुजारेकी बात इस दुनियामें नहीं है। कौन है अपना रक्षक जिनका स्नेह करके इन जीवन क्षणोंको बिताया जाय ? वस्तुस्वरूप कह रहा है कि तेरा रक्षण कोई दूसरा नहीं कर सकता। कोई दूसरे लोग यदि आज हमारी शुश्रूषा करते हैं, प्रशंसा करते हैं, अच्छे ढंग से पेश आते है तो हमारे ही सदाचार, हमारे ही सद्व्यवहार, हमारी ही सम्हालका फल है। कहीं दूसरे यों ही नहीं बात करते हैं। उसपर मुग्ध न होना, किन्तु इस अपने आपके श्रद्धान ज्ञान चारित्रकी वृद्धिमें लगना कि जिसके प्रतापसे लौकिक बाधायें भी नहीं होतीं और अपने आपकी समृद्धि जगती है। वे पुरुष धन्य हैं जो अपने आपको ऐसा मान चुकें कि मैं ज्ञानज्योतिमात्र हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, प्रतिभासमात्र हूँ, हमें कोई लोग जान नहीं रहे, कोई जान जाय मुझको तो वह स्वयं ज्ञानसामान्यका प्रेमी हो गया, मुझ व्यक्तिको क्या जाना ?

८४२. ज्ञानमय व अज्ञानमय भावकी निष्पत्तिका स्रोत भेद—मैं सर्वसे अपरिचित अकिञ्चन ज्ञानमात्र अंतस्तत्व हूँ—ऐसी प्रतीति रखने वाले जीव ज्ञानमय कहलाते हैं और उनसे जो कुछ भी भाव होता है वह सब ज्ञानमयताका उल्लंघन न करने से ज्ञानमय ही होता है, सारे उसके भाव ज्ञानयय होते है। एक अशुद्ध संस्कृतकी नीति है कि पंडित शत्रुः भलो न मूर्खो हितकारकः, ज्ञानी विवेकी पंडित कदाचित शत्रु भी बन जाय तो वह भला है. पर मूर्खपुरुष यदि मित्र भी बन जाय तो वह भला नहीं है। ऐसा क्यों कहा कि जो आखिर ज्ञानमय होगा, विवेकशील होगा उससे मुझे खतरा न होगा। पर जो मूर्ख होगा उसकी स्वयं कोई ऐसी करतूत बन जायगी कि उससे मेरा घात सम्भव है। तो यह नीति भी इसका समर्थन करती है कि जो ज्ञानमय जीव होते है उनका भाव कभी विपरीत नहीं

जाता है। और, जब कभी किसी जगह देख लें तो फिर वह बहुत आनन्द पाता है। यह एक लौकिक दृष्टान्त है। इसी तरह अपने स्वरूपमें, प्रदेशमें ज्ञाननिधि भरी पड़ी है पर जिसे खबर नहीं है वह तो बेचारा गरीब है। भले ही यहाँ वहाँकी राजपाट सामग्री मिली हुई हो, किन्तु चित्त देखिये, उपयोग देखिये, परदृष्टि होनेके कारण वह चिन्तित है और पीड़ित है, जिसको यह प्रतीति जगी है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, अपने आपको ज्ञानघन समझ रहा है उसका भाव ज्ञानमय है। अब उस ज्ञानमय भावसे जो कुछ भी भाव उत्पन्न होता है वह ज्ञानमयताका उल्लंघन न करनेसे ज्ञानमय ही कहा जाता है।

८४०. **ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिका लाभ**–हम आप सबके लिए बहुत बड़ी बात होगी यह कि किसी भी प्रकार तो चर्चासे, ज्ञानार्जनसे, ध्यानसे, जिस किसी भी प्रकार ऐसी अनुभूति जगे, प्रतीति हो जाय कि मैं ज्ञानमात्र हूं इसके अतिरिक्त मुझमें कुछ नहीं पड़ा हुआ है। अमूर्त हूं, जिसमें रूप नहीं जो आँखोंसे देखा जाय, रस नहीं जो रसनासे चखा जाय, गंध आदिक नहीं जो अन्य इन्द्रियोंसे जाने जायें। जो केवल ज्ञानप्रकाशमात्र निर्भार आकाशवत् निर्लेप है, यद्यपि निमित्तनैमित्तिक बन्धन है पर निर्लेपता बराबर है। स्वभावदृष्टिसे देखिये–ऐसा मैं ज्ञानमात्र हूं–ऐसी प्रतीति हम आप कोई कभी कर लें, अनुभव कर लें तो समझिये कि मैंने मनुष्य होकर अपना मनुष्यत्व सफल किया। अपने बारेमें ऐसी प्रतीति न बन सके और जगतके कितने ही ऊधम कर लिए जायें, ये सब ऊधम ही तो हैं—ठाठबाठ भी ऊधम, विषयकषायोंके मौज भी ऊधम, भोगोपभोगकी प्रवृत्तियाँ भी ऊधम। कितने ही ये सब प्रवर्तन हो जायें लेकिन आत्माको देखकर बोलिये—इसे मिला क्या ? जिन्दगीसे जिये—बचपन में खेल खेले, बादमें और तरहके खेले। जवानीमें जवानीके अनुरूप कार्य किया। धनसंचय किया, विद्यासंचय किया, इज्जत प्रतिष्ठादिकके कार्य किये। वृद्ध हुये, यहाँसे चल बसे। अब उस आत्माको निरखकर बताओ कि उसने लाभ क्या पाया ? लाभकी बात क्या कहें, टोटा ही टोटा पाया। अपनी निधिको बिसारकर बाह्यदृष्टिमें आकुलतायें हुईं और संस्कार ऐसे बनाकर गये कि जिस भवमें पहुंच गए उस भवमें भी आकुलित। तो अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करना एक ऐसा पोषण है कि जिससे यह आत्मा हराभरा प्रसन्न हो जाता है। अपनी रोजकी जीवनचर्यामें जितना समय धर्मभावनाके लिये रखा है, अध्यात्मचर्चणाके लिये रखा है, उतने समय अपने आपकी सुध लेकर आप स्वयं अनुभव कर लेंगे कि हम कुछ लाभ पाते हैं, हममें कुछ उन्नति हुई है और इस ही के प्रतापसे शेष २३ घंटे व्यापारादिक जिन कामोंमें गुजरते हैं उतने समय भी उस अध्यात्मचर्चणाके प्रसादसे बहुत कुछ शान्ति रहती है और उपयोग व्यवस्थित रहता है। अपने आपके ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टिका, महिमाका कौन वर्णन कर सकता है ? जैसे साहित्यमें कहते हैं कि हजार जीभ वाला भी कोई हो तो वह

ही होता है। अज्ञानीने इस ज्ञानमात्र स्वरूपको समझा भी नहीं। विकाररूप, विषय कषाय रूप, ममता रूप अपने आपको ग्रहणमें लिया है, तो उसका जो कुछ भी भाव होता है वह अज्ञानमय रूप भाव होता है। तोतलेको कितना ही सिखाया जाय कि तुम बोलना नहीं, चुप रहना, पर जब मौका आयगा तो वह जरूर बोल उठेगा। तो जिसका जैसा उपादान है उससे वैसी ही बात प्रकट होती है। अपनेको शिक्षा यह लेना है कि ध्यानसे, स्वाध्यायसे, चर्चासे किसी भी प्रकारसे यह अनुभूति पा लेना है इस जीवनमें कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूं। इतनी बात न पायें तो हमारा सारा जीवन बेकार है।

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावो।
अयमयया भावादो जह जायंते सु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो वहुविहावि जायंते।
णाणिस्स हु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

८४४. स्वरूपपरिपोषण—ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वकी चर्चा करनेका, निज आत्मतत्त्वके निकट रहने का उद्यम एक ऐसा अपना पोषण है जैसे कि फाग के दिनोंमें पचासों आदमियों से भिड़कर रंग, कीचड़, मिट्टी आदिक से खराब होकर फिर अपने घरमें कुआपर या नलके नीचे जलसे नहाते हैं, साबुनसे धोते हैं, अपनेको साफ करते हैं, इसी प्रकार २२-२३ घंटा यहाँ वहाँ फिरकर, मोहियोंसे व्यवहार करके, यत्र तत्र विकल्प बनाकर, लुट पिटकर थोड़े समयको आत्मविशुद्धि बनानेके लिए एक पोषणमें लगते हैं, अपनी स्वच्छता करनेके लिए बैठते हैं। अपनी स्वच्छता अपने सहज स्वरूपके निहारनेमें है। यह स्वरूप अविकार है। मेरे स्वभावमें विकार नहीं है। कितना महत्त्व है मेरे स्वरूपमें ? इसको स्पष्ट समझना है तो कर्ममुक्त, देहमुक्त, कैवल्य अवस्थामें विराजमान सिद्धप्रभुके स्वरूपको निहारकर समझ सकते हैं। वे भी जीव हैं, मैं भी जीव हूं, स्वरूपमें रंच अन्तर नहीं है। फिर यदि अपने आपको सम्हाल लूं, अपनी ओर लगन करूं तो प्रभु जैसा मैं केसे नहीं हो सकता हूं ? अज्ञानभावका ही निमंत्रण देते रहे विषयकषायोंमें ही प्रीति बनाये रहे तो यह बात तो स्वप्न जितनी भी नहीं रहती।

८४५. ज्ञानमय आत्माकी भक्ति—यहाँ आत्मभक्तिमें यह कहा गया है कि जो ज्ञानमय ज्ञानी पुरुष है उससे जो कुछ भी भाव होता है वह ज्ञानमय भाव होता है, किन्तु अज्ञानी पुरुष जिसने रागद्वेषादिक अज्ञानमय भावोंमें 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति बनाया है उस अज्ञानमयभावसे जो भी भाव बनता है वह अज्ञानमय बनता है। जैसे कोई गुस्सा करके बैठा हो तो दूसरे लोग समझाते हैं कि भाई अभी इससे न बोलना, क्योंकि यह रूठा हुआ बैठा है। उसके चित्तमें यह बात समायी है कि अभी यह रूठा हुआ है और इसके वचन

होता। और अज्ञानमय जीव जिन्हें अपने ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है, किन-किन विकल्पोंरूप में बस रहे हैं ? मैं ऐसे परिवार वाला हूं, मैं रूप वाला हूँ, मैं कुरूप हूं, मैं ऐसी मौज वाला हूं, गरीब हूं, धनी हूं, पंडित हूँ, मूर्ख हूँ। कितने कितने प्रकारके विकल्प करके और जो अन्त: विकार चल रहा है उसके बारेमें शब्द तो नहीं बोलता मगर लगाव तो अधिक है ऐसे पुरुषकी प्रतीति क्या होती है ? बाह्यभावरूप। वह अज्ञानमय पुरुष है। ऐसे जीवका जो कुछ भी भाव होता है वह अज्ञानमयका उल्लंघन न करनेसे अज्ञानमय ही होता है। इससे निर्णय करिये कि अज्ञानी जीवके समस्त भाव अज्ञानमय ही होते हैं, ज्ञानी जीवके समस्त भाव ज्ञानमय होते हैं। एक राजा विद्याका बड़ा प्रेमी था। विद्वानोंको खूब द्रव्य देता था। एक विद्वानको बहुत दिनोंसे द्रव्य न मिला। वह गरीबीकी हालतमें अपना समय काट रहा था। सोचा कि क्या करें ? चोरी करनेके सिवाय कुछ गुजारा नहीं। सोचा कि गरीबोंके यहाँ चोरी करनेसे क्या होगा, राजाके यहाँ चोरी करें। किसी तरह राजदरबारमें पहुंच गया रात्रिके समय। उस समय राजाका पहरेदार एक बन्दर था। उस बन्दरके हाथमें तलवार थी। रात्रिमें कुछ खटपट-सी हुई तो वह विद्वान वहीं कहीं छिपकर खड़ा हो गया। राजा सो रहा था। उसकी नाकपर एक मक्खी आकर बैठ गयी, बन्दरने उसे उड़ा दिया। फिर उसी जगह बैठ गयी, फिर बन्दरने उड़ा दिया। यों ही वह मक्खी बार-बार उसी जगह आ आकर बैठे तो बन्दरको गुस्सा आ गया। सोचा कि इस ही स्थानपर यह मक्खी आ आकर बैठती है। यदि इस स्थानको ही काटकर साफ कर दें तो फिर यह मक्खी न बैठे। तो झट तलवार उठाया राजाकी नाकको काटनेके लिए। यह सब दृश्य देख रहा था पासमें छिपा हुआ वह विद्वान। तो पासमें खड़े हुये उस विद्वानको दया आयी और झट बन्दरका हाथ पकड़ लिया। इसी बीच राजाकी नींद खुल गई और वह दृश्य देखकर राजा आश्चर्यमें पड़ा। राजाने उस घटनाका कारण पूछा तो विद्वानने सारा हाल कह सुनाया। तो नीतिमें ठीक ही कहा है कि पंडित शत्रु भी भला है पर मूर्ख मित्र अच्छा नहीं। मूर्ख मित्रसे जब कभी भी कुछ भी परिणति ऐसी बन सकती है कि खुदके बहुत प्रतिकूल बैठे। ज्ञानी पुरुषके संग में कभी उसे क्रोध भी आये तो एक दृष्टिसे देखो तो उसका क्रोध भी भला कर देगा। दूसरे पर जितना वह बर्षेगा क्रोधमें, क्रोधशान्तिके बाद उतना ही अधिक उपकारकी वाञ्छा करेगा। अपने आपमें ज्ञानमय भाव होनेसे सारी प्रवृत्तियोंमें अन्तर आ जाता है। अज्ञानमय भाव होनेसे प्रवृत्तियोंमें अन्तर आ जाता है।

८४३. ज्ञानमय व अज्ञानमय भाव होनेका कारण——यह ज्ञानमय भाव बना कैसे ? अपनी रुचिके अनुसार कहा जा रहा है कि उस जीवने अपनेको ज्ञानमात्र प्रतीतिमें लिया है। मैं अन्य स्वरूप हूं ही नहीं, केवल ज्ञानमात्र हूं। अब उसका जो भाव होता है वह ज्ञानमय

जैसे कारणका सन्निधान होगा उस प्रकारसे इसमें अवस्था बनेगी, सो योग्यता तो ज्ञानमय है, अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव किया है। अब उससे जो कुछ भी भाव बनेगा वह अज्ञान जातिका न बनेगा, ज्ञानमय भाव बनेगा।

८४७. ज्ञानमय अन्तस्तत्त्वके समझ लेनेका प्रभाव—देखिये—अपनेको ज्ञानमात्र समझ लेनेपर तुरन्त कितना प्रभाव आत्मामें आता है? मेरा जगतमें कोई शत्रु नहीं है। भले ही ज्ञानी पुरुष किसी विरोधीसे बचनेका अपना उपाय रखे, किन्तु श्रद्धा यह है कि दूसरा जो कोई भी विरोधी हो रहा है वह अपने अज्ञानसे अपनी कल्पनामें मेरेको लक्ष्यमें लेकर विरोध भाव रख रहा है। वस्तुत: उसका आत्मा मेरा विरोधी नहीं है अथवा दूसरा कोई भी मेरे कुछ नहीं करता। फिर मेरा विरोधी कौन? मेरा जगतमें कोई मित्र नहीं है, मेरेको कोई कर क्या देगा? कुबुद्धि जब होती है तो लाख समझाये पर वह किसीके समझाये समझता है क्या? और जब सद्बुद्धि होती है तो भले ही कोई दूसरा निमित्त हो जाय, पर जो कुछ भी सहयोग उसने पाया वह अपनी सद्बुद्धिके परिणमनसे ही पाया। अपनेको ज्ञानमात्र निरखनेपर रागद्वेषकी परिणति हट जाती है, परिग्रह संचय राजपाट इन सबका भी लोभ नहीं रहता। मैं ज्ञानमात्र हूँ इतना ही था, इतना ही हूँ और इतना ही रहूँगा, इसमें एक अणुकी भी वृद्धि नहीं होती, फिर क्यों व्यर्थकी आकांक्षाओंमें अपने आपको विह्वल किया जाय? गृहस्थीमें हैं तो उदयानुसार जो हो उसकी व्यवस्था बनाना हमारा कर्तव्य है। अपने से बड़े गये बीते भी आर्थिक स्थितिमें गृहस्थजन हैं, उनकी व्यवस्था क्या होती नहीं? अपने आपमें यह हठ न बनाना कि मेरी व्यवस्था तो इस ढंगसे ही चल सकती है इससे कममें नहीं चल सकती। अरे पापका उदय होनेपर जब तिर्यञ्च गति प्राप्त होगी, पशुपक्षी अवस्था प्राप्त होगी तब बताओ कितनेमें काम चल जायगा? अथवा निर्धन वंशमें उत्पन्न हुए होते तो कितनेमें काम चल गया होगा? ये सब कल्पनायें दौड़ाना और अपने आपका परिग्रहमें आसक्त होनेका उपाय बनाना यह योग्य नहीं है। गृहस्थका काम है त्रिवर्गका। धर्मके लिए समय दिया तो गृहस्थीमें धनार्जनके लिए भी समय देना ही पड़ता है। अब जो हो उसके अनुसार व्यवस्था है। मुझे किसीका भी संकोच नहीं है। मुझे यदि बड़ी संकीर्णतासे गुजारा करना पड़े, तो किसीमें संकोच नहीं। कोई मेरा मित्र है क्या? कोई मुझे जानता है क्या? मैं सबसे अपरिचित हूँ। मेरा कर्तव्य है कि मैं अपनेको समझूँ, मेरेमें गुप्त रहता हुआ अपनी निधिका खूब लाभ लूटूँ। विशुद्ध आनन्दका अनुभव करता रहूं। यही मात्र मेरा कर्तव्य है। तो ज्ञानमात्र अपनेको अनुभवनेपर सारे कलंक दूर हो जाते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषका ज्ञानमय भाव है और उससे जो भी भाव उत्पन्न होता है वह सब ज्ञानमय भाव होता है। जबकि अज्ञानी पुरुषके समस्त अज्ञानमय भाव होते है। जैसे जो लोहमय पदार्थ है उससे कढ़ाई,

अभी रूठे हुये कलुषित ही निकलेंगे। बुद्धिमान पुरुष किसीसे सुन्दर बचन या कामकी आशा रखने वाले इस टोहमें रहते हैं कि अमुक पुरुष जब शान्तिसे बैठा हो तब बात करना, वहाँ भी क्या बात रही ? प्रसन्न रहती हुई अवस्थामें सुन्दर वचन निकलते हैं और क्रुद्ध अवस्थामें रहते हुएमें असुन्दर वचन निकलते हैं। अब यहां अध्यात्ममें निरखिये कि जिस पुरुषने अपने आपको ऐसा अनुभवमें लिया कि मैं सबसे निराला विकाररहित केवलज्ञान ज्योतिस्वरूप हूँ, इस प्रतीतिमें जो बस रहा है उससे जो भी भाव बनेगा वह ज्ञानमय बनेगा।

८४६. **दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भावकी उद्भूतिका कथन**—इस विषय में अब इन दो गाथाओंमें दृष्टान्त देकर समझाया है। जैसे स्वर्णमय कोई पदार्थ है, स्वर्ण पदार्थ नहीं स्वर्ण अवस्था है, जो एक सामान्य परमाणु स्कंध है वह पदार्थ माना और परमार्थभूत उनमें अणु-अणु पदार्थ हैं तो ऐसे पुद्गल जब स्वर्ण अवस्थामें आये, तो वह स्वर्णमय पदार्थ है। सो देखो पुद्गलका तो परिणमनस्वभाव स्वयं है। कोई दूसरा पुरुष नहीं परिणमाता किसीको। जैसे चाभी भरी हुई घड़ीको कोई देखे या नहीं, वह स्वयं ही चलती रहती है, ऐसे ही द्रव्यत्वगुणसे तन्मय इस पदार्थकी कोई सुध ले या न ले, कहीं भी कोई पदार्थ पड़ा हो पर वह परिणमता रहता है। तो पुद्गलमें क्या सभी पदार्थोंमें यह परिणमन पाया जाता है। यहाँ पुद्गलकी चर्चा कर रहे हैं। उस स्वर्णमें स्वयं परिणमन का स्वभाव पड़ा है और अब जिस प्रकारका कारण जुटा उस प्रकारका उसमें से आभूषण बनता है। स्वर्णकारने जिस विधिसे अपने अवयव चलाये उस प्रकारका उसमें आभूषण बनता है। तो यहाँ स्वर्णसे स्वर्णमय भाव बनेगा या लोहमय बन जायगा ? स्वर्णमय पदार्थ से स्वर्णमय ही चीज बनेगी और लोहमय पदार्थोंसे लोहमय ही चीज बनेगी। जिसमें जैसी योग्यता है वहाँ वैसा ही बनेगा। इसी प्रकार आत्माका स्वयं परिणमनेका स्वभाव है। अनादि अनन्त स्वभाव है, अनादि अनन्त स्वभाव है। सिद्ध हो गये तो वहाँ भी परिणमन चलता है। परिणमनका अर्थ विलक्षण परिवर्तन नहीं किन्तु अवस्थासे अवस्थान्तर होना। विलक्षण अवस्थान्तर होना नहीं किन्तु बर्तना होना। दशा तो रहता इसका नाम है परिणमन। जैसे बिजलीका बल्ब आधा घंटा तक जलता रहा तो लोग तो उसे देखकर यों कहने कि इसमें कोई नयी बात नहीं हुयी। यह तो बराबर आध घंटेसे ज्यों का त्यों प्रकाश रहा है। पर ऐसी बात नहीं है कि नया नया परिणमन नहीं, उस बिजलीके बल्बमें प्रतिक्षण नया नया काम हो रहा है। तभी तो बिजलीके खर्चके बिल बनते हैं। तो इसी प्रकार सिद्ध अवस्थामें सिद्धप्रभुके सदृश ही सदृश परिणमन चलता है किन्तु पहिले समयमें परिणमा तो उस परिणमनसे ही नहीं चल रहा, तू दूसरे समयमें द्वितीय परिणमन है। पदार्थमें परिणमनका स्वभाव पड़ा है। आत्मामें परिणमनका स्वभाव है। अब इसकी योग्यता है

अनुकूल दूसरोंका सहयोग भी प्राप्त होता रहेगा। स्वयं ही विपरीत हो गए तो दूसरोंसे मुझे सहयोग मिलनेकी आशा क्या ? मेरा मैं ही शरण हूं, मेरी मैं ही रक्षा कर सकता हूं दूसरा कोई नहीं। जब समझा कि मैं अपने ही गुणसे हूं, अपनी ही शक्तिसे हूं दूसरेकी शक्तिसे नहीं हूं तब दूसरेकी अपेक्षाका भाव न रहा। मैं अपनी ही शक्तिका आलम्बन लूं तो मेरेमें वह शक्ति प्रकट होगी। दूसरेका आलम्बन लेनेसे मेरी शक्ति प्रकट न होगी। तो जो स्वरूप प्रभुका है वही स्वरूप जब मेरा है तो स्वरूपका आलम्बन लेने पर वह प्रभु अवस्था मेरी क्यों न प्रकट होगी ? अवश्य प्रकट होगी। इसमें सन्देहका रंच भी स्थान नहीं है। केवल एक दृढ़ निर्णयके साथ अपने आपके स्वरूपमें झुकनेकी आवश्यकता है, परकी अपेक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है। यों जो अपनेको स्वचतुष्टयसे अस्ति तक रहा और पर चतुष्टयसे नास्ति सोच रहा है, उसे अपनेमें मिला यह ज्ञानमात्र स्वरूप। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति करने वाला पुरुष ज्ञानमय कहलाता है, उसमें जो भी भाव बनेगा वह ज्ञानमय भाव बनेगा। ज्ञानभावमें आनन्द है, शान्ति है। शान्ति चाहिये तो अपनेमें दृढ़ प्रतीति बनाओ कि मैं केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं, इसमें अन्य कोई भी खटपट नहीं है।

अण्णाणस्स स उदयो जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजम स्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो हु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदयो ॥१३३॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठ उच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

८४९. भ्रममें अज्ञानके उदयकी विडम्बना—इस कथनमें यह सिद्ध किया जायगा कि जीव जब विकाररूप परिणम रहा है और वहाँ पुद्गल कर्मका आस्रव बंध हो रहा है उस घटनामें भी कर्म कर्ममें परिणम रहे हैं और जीव जीवमें परिणम रहा है। हो क्या रहा है वहाँ संक्षेपमें देखा जाय तो कहना चाहिये कि अज्ञानका उदय चल रहा है। अज्ञान में सब कुछ बातें आ जाती हैं। अज्ञान यह है कि जो उस तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो रही। आत्माका तत्त्व सहज ज्ञानस्वभाव है। तत्त्वके मायने यह कि खालिस आत्मामें क्या भाव पाया जाता है उसको कहते हैं तत्त्व। तस्य भावः तत्त्वं। उसके भावको तत्त्व कहते हैं।

तवा, चमीटा, मशीनरी आदिक लोहमय चीजें ही बनती हैं स्वर्णमय नहीं, इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंसे अज्ञानमय भाव ही बनता है ज्ञानमय नहीं। अज्ञानी पुरुषमें स्वयं चेतने की सामर्थ्य नहीं है सो वह जड़भावोंको अपनाता है, सो अज्ञानी पुरुषके अज्ञानमय भाव ही होंगे।

८४८. **ज्ञानमय भावके स्तवनसे आत्महितकर उद्बोधन**--इस कथनसे हमें अपने बारेमें क्या देखना है ? मैं अपने भावोंसे व्यापकर रहा करता हूं, इसके अतिरिक्त अन्य काम नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप होता। इसे स्वरूप चतुष्टय कहते हैं। जैसे यहाँ पुस्तक है तो इसका अर्थ क्या है ? जो भी इसका पिण्ड है, जिसे हाथमें लिए हैं, दूसरेको बता सकते है, दे सकते हैं, यह है द्रव्य। और यह पुस्तक और पुस्तक की जो परिणति है नई पुरानी जीर्ण शीर्ण रूपादिक सो उसका काल है। और पुस्तकमें जो भी गुण हैं, शक्तियाँ हैं वे हैं पुस्तकके भाव। किसी भी पदार्थके सम्बंधमें चर्चा कर लें। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप मिलेगा। आत्माकी चर्चा कर लीजिये—आत्मामें द्रव्य क्या ? जो भी पिण्ड है, मूर्तकी तरह पिण्ड नहीं है, किन्तु जिससे रचा गया है। जिन गुण पर्यायोंमें यह रहता है उनका पिण्डरूप यह है आत्मद्रव्य। जो ज्ञानदृष्टिसे समझमें आता है। ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द आदिक गुण और इनका परिणमन इन सबका जो पिण्ड है यही तो आत्मा है। आत्माका क्षेत्र क्या है ? जितने प्रदेशोंमें अनुभवन चलता है ज्ञानका, आनन्द का जितनेमें हमारी वर्तना है वह हमारा क्षेत्र है। आकाशकी बात नहीं कह रहे कि जितने आकाशमें हम रहते है वह हमारा क्षेत्र है। अरे आज हम यहाँ बैठे हैं अभी दूसरी जगह बैठ गये। वह परक्षेत्र मेरा क्या ? मैं अपने आपमें जितने क्षेत्रको अपने क्षेत्रको अपने आप की रचनासे मैं व्याप रहा हूँ वह मेरा क्षेत्र है। मेरा काल क्या ? मुझमें जो परिणति चल रही है, नई पुरानी, कषाय, विषय, इच्छा आदिक जो कुछ भी परिणतियाँ चल रही हैं वह है हमारा काल, और मुझमें अनादि अनन्त जो शक्तियाँ हैं वे हैं मेरा भाव। तो मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हूं, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं हूं। इस प्रतीतिमें कितने निर्णय आ गए ? मुझमें मैं ही रहता हूं, मुझमें दूसरेका प्रवेश नहीं है। स्वद्रव्यसे हूं, परद्रव्यसे नहीं हूं। इससे यह बात आयी कि त्रिकाल भी मेरेमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है। मैं अपने क्षेत्रसे हूं, परक्षेत्रसे नहीं हूं। इससे यह निर्णय हुआ कि मैं अपने आपमें ही रहा करता हूँ, दूसरेमें नहीं। दूसरा भी मुझमें नहीं रहता। मेरेमें मैं ही मिलता हूँ दूसरा कोई नहीं। मैं अपने कालसे हूँ, अपने परिणमनसे परिणमता हूं दूसरेके परिणमनसे नहीं परिणमता। अब क्या आशा रही कि कोई दूसरा मेरी रक्षा कर दे ? कहाँ गुंजाइश है कि किससे मुझे सहयोग मिल जायगा ? अरे मैं स्वयं भला हूँ, भली परिणतिसे रहता हूं तो दूसरेके सहयोगकी अपेक्षा क्या ? अथवा भली परिणतिसे परिणमता हुए मेरेको बाह्यमें

किन्तु इन सब परभावोंसे भिन्न मैं अनादि निधन चैतन्यस्वरूप हूँ, इस प्रकारकी झलक नहीं हो पाती। यह अगृहीत मिथ्यात्वकी बात चल रही है। अपनी त्रुटियोंकी चर्चा चल रही है कि जीवमें क्या त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण इसे जन्ममरण करना पड़ रहा है। कितना अहंकार इस जीवको है इस अगृहीत मिथ्यात्वमें। मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, रंक हूँ, राजा हूं, इतने वैभव वाला हूं, ऐसी प्रतिष्ठावाला हूँ, देहको निरखकर यह मैं हूं, देहकी उत्पत्ति होनेको अपनी उत्पत्ति मानता, देहके नष्ट होनेको अपना विनाश समझता। कितनी पर्यायमें आत्मबुद्धि है। तो यह सब अगृहीत मिथ्यात्व है, पौद्गलिक कर्म बंधका कारण है। जो बात दुःखके लिए है उसे तो सुखकारी समझते हैं अगृहीत मिथ्यात्वमें और जो बात सुखके लिए है उसे दुःखकारी समझते हैं। जैसे रागद्वेषादिक भाव इस जीवको दुःखके लिए हैं लेकिन उन्हें सुखदायी समझता है, और ज्ञान वैराग्य संयम जो कि आनन्दके लिए हैं उन्हें यह जीव दुःखकारी समझता है।

८५१. अगृहीत मिथ्यात्वमें वस्तुस्वरूप दृष्टिका तथा कैवल्यपरिणमन प्रतीक्षाका अभाव—देखो भैया! जब वस्तुस्वरूपका शुद्ध ज्ञान उपयोगमें चल रहा हो, प्रत्येक पदार्थ अणु-अणु प्रत्येक जन स्वतन्त्र है, अपने स्वरूपसे सत् हैं, अपने ही स्वरूप में उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त है। जब वस्तुस्वरूपका उपयोग चल रहा हो उस समय के अपने परिणामको निरखिये कि कैसे धार्मिक शान्त परिणाम रहते हैं और जब वस्तुस्वरूपके विरुद्ध हठ बन जाती है, परपदार्थोंमें ये मेरे हैं, ये मैं हूँ, इनसे बड़प्पन है, इस प्रकार जब एक हठ बन जाती है तबका परिणाम निरखिये। आकुलता बढ़ जाती है और उस समय फिर कोई शान्तिका उपाय समझमें नहीं आता, बल्कि जो जो उपाय किये जाते हैं इस भ्रममें वे सब उपाय इसके विपरीत पड़ते हैं, अशान्तिको ही बढ़ाने वाले होते हैं। इस जीवने परतत्त्वोंको सुखकारी समझकर परकी बाट बड़ी जोही, प्रतीक्षायें कीं, किन्तु कभी अपने आपको केवल विशुद्ध दशामें रहनेकी प्रतीक्षा नहीं कीं। हर एक पुरुष अपने बारेमें कुछ न कुछ सोचता है और उस प्रकार बननेकी प्रतीक्षा करता रहता है, मुझे ऐसा बनना है, मुझे इस ढंगमें रहना है, प्रतीक्षा करते है। लेकिन मुझे केवल बनना है, केवल ही मैं रह जाऊँ, जो मुझपर देह कर्म आदिकका उपद्रव लगा है वह सब टल जाय और मैं केवल रह जाऊँ, इस प्रकारकी बाट नहीं जोहते हैं, यह सब अगृहीत मिथ्यात्वका ही प्रभाव है। इसको दूर करनेसे ही अपना काम बनेगा। यहाँ मौज माननेसे, इन सांसारिक बातोंमें ही सन्तोष करनेसे अपना पूरा न पड़ेगा। इस अगृहीत मिथ्यात्व को काटना है। इसको काटनेका उपाय एक प्रज्ञा होनी ही है। भेदबुद्धि एक ऐसी तीक्ष्ण छेनी है कि जिसके द्वारा यह मिथ्यात्व कट सकता है। जहाँ दो पदार्थोंके लक्षणोंमें भेद समझा वहाँ अगृहीत

आत्माके स्वभावको आत्माका तत्त्व कहते हैं। उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, यह सब अज्ञानका उदय है। जैसे कोई पुरुष जेबमें तो अंगूठी रखे हुए है और उसका ख्याल न रहने से वह उस अंगूठीका बड़ा ढुँढ़ावा कर रहा है तो जो हालत उसकी है वही हालत हम आपकी है, हैं तो हम स्वयं चैतन्यस्वभाव ज्ञानानन्द स्वभावमात्र और उस ज्ञानानन्दकी चर्चा भी कर रहे, ढुढ़ावा भी कर रहे, खोज भी कर रहे किन्तु दर्शन नहीं हो रहा है। यह ज्ञानमात्र आत्मा अपने आपकी दृष्टिमें नहीं आ रहा है, बस सारी बिडम्बना यही है। और इस दृष्टिसे सबको क्लेश विपदा एकसी है। चाहे राजा हो, चाहे रंक हो चाहे मूर्ख हो, चाहे विद्वान हो, चाहे प्रजा हो, चाहे अधिकारी हो सबका एक ही प्रकारका क्लेश है और एक ही प्रकारकी विडम्बना है। वह है आत्मतत्त्वकी उपलब्धि न होनेसे उपयोगका बाहरकी ओर मुख करना। और इस एक विडम्बनाको मिटा दिया जाय अर्थात् उपयोग बहिर्मुख न होकर अन्तः जो स्वरूप है, तत्त्व है, सहज स्वभाव है, आत्मामें आत्माके कारण अपने आप जो कुछ भी सत्त्व हो, भाव हो उसकी उपलब्धि हो जाय तो बस विडम्बना मिट गयी। तो एक यह अज्ञानका उदय चल रहा है, इस ही अज्ञान उदयके, इस ही अज्ञान अवस्थाके प्रकार उपप्रकार बनायें तो चार प्रत्यय होते हैं, जिन्हें कहते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। यह सब वर्णन इन सबको दिखानेके लिए चल रहा है कि जीवमें इस इस तरह के परिणाम होते हैं, अवस्थायें होती है जिस निमित्तको पाकर कर्म बंधा करते हैं। यहाँ त्रुटियोंकी बात सुनाई जा रही है कि हम लोग क्या क्या गल्तियाँ करते हैं जिनके फलमें संसारमें रुलना पड़ता है। तो कर्मके हेतुभूत मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग, इनके उदय रूप चार प्रकारके भाव हैं। यह सब जीवभावकी बात कही जा रही है।

८५०. अगृहीत मिथ्यात्वमें विडम्बना—मिथ्यात्वका उदय क्या है अर्थात् जीवमें मिथ्यापरिणाम होते हैं वे किस रूपसे हैं ? तत्त्वका अश्रद्धान रूपसे ज्ञानमें जो भाव, परिणमन हो रहा उसे कहते हैं मिथ्यात्वका उदय। तत्त्वका श्रद्धान ही नहीं बन पाता। अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व ऐसे मिथ्यात्वके दो भेद किये गए हैं। अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं उसे जो मिथ्यात्व किसी दूसरेके द्वारा ग्रहण न कराया गया हो अर्थात् उपदेश सुनकर संगमें आकर किसी भी प्रकार जो ग्रहण कराया गया हो। अगृहीत मिथ्यात्वमें यह जीव पर्यायमें आत्मबुद्धि रखता है। जीवद्रव्य है तो एक अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यमात्र अमूर्त। उसमें आत्मतत्त्वका श्रद्धान नहीं हो पाता, किन्तु उससे पृथक् जो कुछ भी परतत्त्व हैं उनमें 'यह मैं हूं' इस रूपसे श्रद्धान होता है। जिनमें ममता है, पुद्गल द्रव्य हैं, मित्र परिजन हैं, वैभव सम्पदा हैं अथवा भीतरके विभाव हैं, इच्छा हैं, रागादिक विकार हैं, इन सबमें यह मैं हूं, ये मेरे हैं, इनसे मेरा बड़प्पन है, इस प्रकारका श्रद्धान तो इसके डटकर चल रहा है,

मिथ्यात्व करके प्रेरित हैं, ऐसे तो जगतमें अनन्त जीव हैं। सब कुदेव तो नहीं कहलाते। लेकिन इन्हें तो भक्तोंने कुदेव बनाया है। ये तो जो हैं सो हैं, रागी द्वेषी अल्पज्ञ, ऐसे तो संसारमें अनेक जीव हैं, एक ये भी जीव हैं जिनकी आज कुदेवके रूपमें प्रसिद्धि है। तो जब संसारके ये अनन्त प्राणी ये भी रागी द्वेषी मोही अल्पज्ञ हैं और जिन्हें आज कुदेव माना जा रहा है वे भी रागी द्वेषी मोही अल्पज्ञ हैं फिर उन्हें कुदेव कहना और जगतके अनन्त प्राणियोंको कुदेव न कहना यह भेद किसने डाला है? भक्तजनोंने डाला है। किसने उनमें देवत्वकी कल्पना की? भक्त जनोंने।

८५४. कुदेवत्वसाधक भक्तव्यवहारकी समीक्षा—अब और सूक्ष्मदृष्टिसे चलिये—यदि वीतरागमूर्तिके समक्ष भी कोई इस प्रकारकी बुद्धिपूर्वक भक्ति कर रहा हो कि ये प्रभु मेरा मुकदमा जितायेंगे, मुझे धन देंगे, विवाह करा देंगे, लड़के दे देंगे आदि, तो समझो कि उस भक्तने प्रभुको भी कुदेव बना डाला, अपने आपमें यदि वाञ्छा हुई तो। गृहीत मिथ्यात्व को तो हमें बिल्कुल छोड़ ही देना चाहिये, वह तो हमारे वशकी बात है, क्योंकि मन मिला है, सोच सकते हैं, और अगृहीत मिथ्यात्वका टालना भी वशकी बात है, पर वह जरा कठिन पड़ता है। गृहीत मिथ्यात्वका छोड़ना तो आपको सरल है। अभी मन आये तो अभी छोड़ दें। तो वीतराग मूर्तिके समक्ष भी यदि ऐसी ही भावना रही कि जिससे देवका रागी स्वरूप बन जाय तो आप गृहीत मिथ्यात्वमें हैं। सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो जो लोग यह कह बैठते हैं कि अन्य देवी देवता न पूजो, और एक अपने आराम सुखकी वाञ्छासे यहीं वीतराग मूर्तिको ही पूजो तो गृहीत मिथ्यात्वसे तो टले। भले ही मोटे रूपसे गृहीत मिथ्यात्वसे टलना मान लिया जाय, पर वस्तुतः गृहीत मिथ्यात्वसे टले नहीं क्योंकि ये सुख देते हैं, पुत्र देते हैं, विवाह कराते हैं आदिक स्वरूप तो जब मान लिए गए तब फिर कुदेवका स्वरूप ही क्या कहलायेगा? तो गृहीत मिथ्यात्व तो टालो कमसे कम। अन्य देव जो प्रकट रागद्वेषका स्वरूप लिए हुए हैं, स्त्री पुत्रादिक साथमें रखते हैं फिर भी देवरूपमें उनकी प्रसिद्धि है। धनुष बाण फर्सा आदिक अनेक प्रकारके हथियार रखते हैं, अनेक प्रकारके वस्त्राभूषण हैं और जिनका चारित्र भी इस प्रकार वर्णन किया है कि एक बड़े पुरुषोंके भांति यहाँ वहाँ जाते, उद्यम करते, आरम्भ करते, लड़ाई कराते, खुद लड़ाईमें शामिल होते, ऐसे जिनका चारित्र है ऐसे आत्मामें देवत्वकी बुद्धि न करना। ये देव हैं, भगवान हैं, संकटहारी हैं—इस प्रकारकी बुद्धि न करना कुदेवमें इसके मायने हैं गृहीत मिथ्यात्वका त्याग। और वीतराग मूर्तिके समक्ष, अरहंत सिद्ध भगवानकी मूर्तिके समक्ष ऐसा स्तवन करें कि ये जितेन्द्रिय हैं, जितमोह हैं, इन्होंने कर्मोंका क्षय किया है, ये सर्वज्ञ हैं, अपने आपमें निरन्तर विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं। विशुद्ध ज्ञान है, सर्व क्लेशोंसे दूर हैं, अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमें मग्न

मिथ्यात्व कट जाता है । कहाँ भेद डालना ? कहाँ बुद्धि छेनी निपात करना ? जीवस्वभाव और रागादिक विभाव इनके बीच। रागादिक विकार ये मलिन भाव हैं, मेरे घातके लिए आये हैं, क्षणिक हैं, ये आये हैं मिट जायेंगे लेकिन इनमें जो कोई आत्मबुद्धि करता है उसके लिए इसकी परम्परा बन जायगी और जन्म मरणकी बिडम्बनामें बना रहना होगा। ये रागादिक विकार आये हैं तो ये क्षणिक हैं, खुद अशरण हैं, स्वयं ये दूसरी क्षण न टिक सकेंगे, मेरे दुःखके लिए ही है और भविष्यमें भी ये दुःखकी परम्परा बना जायेंगे। ये अहित रूप हैं, मेरे स्वरूप नहीं। मैं तो एक सहज चैतन्य स्वभावमात्र हूं। यों क्षणिक विकारसे अपनेको अलग हटाना और ध्रुव ज्ञानमात्र अपने आपमें अपनी प्रतीति करना बस एक यही परम औषधि है। जिसका पान करनेसे संसारके समस्त क्लेश टल जायेंगे। अगृहीत मिथ्यात्व निगोदसे लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक पाया जाता है।

८५२. गृहीतमिथ्यात्वका निर्देश—गृहीत मिथ्यात्व चूँकि मनसे विचारकर ही ग्रहण किया गया है अतः संज्ञी पंञ्चेन्द्रियमें ही प्रकट पाया जाता है। योग्यता कर्मोदयकी दृष्टिसे जिसके अगृहीत है उसके ग्रहीत भी है, जिसके ग्रहीत है उसके अग्रहीत भी है किन्तु प्रकट रूपमें जिसके गृहीत मिथ्यात्व है उसके ग्रहीत भी है अग्रहीत भी है, किन्तु जिन जीवों के अग्रहीत मिथ्यात्व है उनके ग्रहीत मिथ्यात्व हो भी और न भी हो। विष तो अग्रहीत मिथ्यात्व हुआ। ग्रहीत मिथ्यात्व तो एक स्थितिका पोषक है। गृहीत मिथ्यात्वमें यह जीव कुदेवको देव मानता, कुशास्त्रको शास्त्र मानता और कुगुरुको गुरु मानता और देव शास्त्र गुरु मानकर उनकी उपासना करता। यह तो उसकी कुभक्ति है। किसी किसी जगह देखा होगा दो चार संन्यासी जहाँ रहते हों, जिनके बीच गाँजा, भांग, अफीम आदिक वस्तुवोंका बड़ा प्रयोग किया जा रहा हो, उनके ही साथ कुछ उनके भक्त जन रहा करते हैं, जो कि चिलम तम्बाकू आदि सुलगाकर दिया करते हैं। वे उनकी बड़ी विनय किया करते हैं। वह भी कुभक्तिका एक नमूना है। विनय ऊपरसे उसी प्रकारकी करते हैं। जैसे कोई ज्ञानी पुरुष ज्ञानाधारकी विनय करता है, पर भीतरमें विवेक नहीं है, विशुद्ध मन नहीं है तो कुदेवको देव मानते, कुशास्त्रको शास्त्र मानते और कुगुरुको गुरु मानते। यह गृहीत मिथ्यात्व है।

८५३. भक्तोंकी चेष्टासे कुदेवमें कुदेवत्वकी सिद्धि— देखिये अग्रहीत मिथ्यात्व टलेगा भेद विज्ञानकी एक विशिष्ट दृष्टि होनेसे। किन्तु इस समम इतना तो खोजिये कि हम कहीं गृहीत मिथ्यात्वका आचरण तो नहीं करते। यह बात तो चल करके भी छोड़ी जा सकती है। कुदेव उन्हें कहते हैं जिनमें रागद्वेष हों, अल्पज्ञता हो, संसारी प्राणी भी हैं वे लेकिन उनमें देवत्वबुद्धि करते हैं तो वे कुदेव कहलाते हैं। तो देखिये कुदेवकी कुदेवता किसने बनाया ? वे तो बेचारे जो हैं सो हैं, रागी है, द्वेषी हैं, अपने आपमें जो कुछ भी लगा है

यों जो आत्मा की साधनामें रहते हैं उन्हें साधु कहते हैं। उनसे अतिरिक्त जो आत्मस्वभाव की प्रतीतिसे बहिर्गत हैं, नाना प्रकारके तपश्चरणोंका आडम्बर करते हैं—जैसे काठमें नाना कीलें गड़ाकर उनपर बैठना, दोपहरमें तेज आग जलाकर पंचाग्नि तप तपना, अन्य अन्य क्लेश सहना आदि। तो जिनकी बुद्धि आत्मसाधनासे बहिर्भूत है वे कुगुरु कहलाते हैं। उनको गुरु मानकर उनकी उपासना करना गृहीत मिथ्यात्व है।

८५७. मिथ्यात्वमें तत्त्वाश्रद्धानरूपसे स्वदमान भाव और उसकी निवार्यता—समस्त मिथ्यात्वोंमें तत्त्वका अश्रद्धान पड़ा हुआ है। अपने आपके अंतस्तत्त्वके अश्रद्धानके रूपसे जो कुछ भी पर्यायमें स्वाद आ रहा है, जो कुछ भी परिणमन बन रहा है वह है क्या? मिथ्यात्वका उदय। तो यों जीवमें जीव मिथ्यात्वका उदय होनेपर जो कर्मोंका आस्रव होता है, बंध होता है उस कर्मबंध और आस्रवके समय भी वस्तु वस्तुस्वरूपकी कलाको न छोड़गा। कार्माणवर्गणावोंमें कर्मरूप परिणमन हो रहे हैं वे उनकी योग्यतासे। जीवमें जो मिथ्या आशयरूप परिणमन हो रहा है वह जीवमें हो रहा है। एक कोई दूसरेका परिणमन नहीं कर रहा, दूसरेके परिणमनमें अभेद नहीं रख रहा? निमित्तनैमित्तिक भाव तो है, पर कर्ता कर्मभाव परस्परमें नहीं होता। वस्तुकी स्वतंत्रताके परिज्ञानकी बड़ी महिमा है। इसके प्रतापसे ही मोह दूर होता है, सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है। संसारके समस्त झंझट सम्यग्ज्ञानसे ही नष्ट हुआ करते हैं।

८५८. एकान्त मिथ्यात्व और विपरीत मिथ्यात्वमें तत्त्वाश्रद्धानरूपसे स्वदमान भाव—जीवमें मिथ्यात्व उदय होता है तो उस समय जीवके तत्त्वके अश्रद्धान रूप भाव चलते है। यह लक्षण कि तत्त्वका अश्रद्धान होना यह मिथ्यात्वके समस्त भेदोंमें प्रसिद्ध होता है। मिथ्यात्वके भेद ५ किये गए हैं—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, सांशयिक मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व। एकान्त मिथ्यात्व उसे कहते हैं कि पदार्थके अनेक धर्म होनेपर भी उनमेंसे किसी एक धर्मका ही हठ किया जाय, यह ही है अन्य कुछ नहीं है इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे सभी उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हैं। जिनका निष्कर्ष यह हुआ कि पदार्थं नित्यानित्यात्मक हैं, सदा रहते हैं और सदा नहीं रहते हैं। तो यों नित्यानित्यात्मक पदार्थमें एक नित्य एकान्तका हठ करना कि पदार्थ नित्य ही है, सदा अपरिणामी है तो यह एकान्त मिथ्यात्व हुआ। अथवा पदार्थमें अनित्य एकान्तका हठ करना कि पदार्थ अनित्य ही है, क्षण-क्षणमें नया नया होता है, होते ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकारके अनित्यका एकान्त करना सो एकान्त मिथ्यात्व है। इसमें भी तत्त्वका अश्रद्धान रहा। जो समस्त दृष्टियोंसे ज्ञात करके जो कुछ समझा गया है अवक्तव्य मर्म उसका अश्रद्धान रहा, तभी तो उसके प्रतिपादनमें अन्यथा बात हो गयी। विपरीत मिथ्यात्व कहते

रहते हैं, ऐसा ही तो मेरा स्वरूप है। मुझे उनसे कुछ वाञ्छा न करनी चाहिये, अपने आपके स्वरूपसे चिगकर किसी बाह्य भावमें न लगना चाहिये। प्रभुकी भाँति ही हमें अपना पथ बनाना चाहिए, आदिक स्तवन करते हुए जो निर्वाञ्छताकी पुष्टि की जाती है समझिये हमने गृहीत मिथ्यात्व तज दिया। तो यहाँ भी वीतराग मूर्तिके समक्ष भी हम रंच भी ऐसी वाञ्छा न करें कि हे प्रभो! मेरा अमुक काम करा दीजिये, तुम्हारी भक्तिसे हमारे काम सफल हो जायें। अरे ये तो संसारके काम हैं। जो होना होगा वह होगा पुण्य पापके अवसर हैं। प्रभुस्तवन तो शुद्ध चैतन्यकी भक्तिपूर्वक करना चाहिये। तो समझिये कि हमने गृहीत मिथ्यात्वको मूलसे तजा।

८५५. गृहीतमिथ्यात्वमें कुशास्त्रमें शास्त्रत्वबुद्धि—कुशास्त्रको शास्त्र मानना यह भी गृहीत मिथ्यात्व है। जिनमें रागद्वेषके पोषणकी बातें लिखी हैं, जिनमें प्रभुका ऐसा चरित्र बताया है कि वे सखियोंके संग रहते हैं, दूध मिठाई आदि चुराकर खाते हैं, गोपिकाओंके संग खेलते हैं आदिक ऐसी बातें सुनकर खुश होना, ऐसे चरित्र वाले प्रभु मानकर उनका स्तवन करना, यह सब क्या है? यह है गृहीत मिथ्यात्व। शास्त्र उसे कहते हैं जिससे आत्मा शासित किया जाय। आत्माका जो चैतन्य स्वरूप है, ज्ञाताद्रष्टा रहनेका स्वभाव है उस स्वभावमें आ सके, इस प्रकारसे जो आत्माको अनुशासित करनेमें कारण बने, ऐसे जो वचन हैं वे हैं शास्त्र। श्रद्धा इतनी दृढ़ होनी चाहिये कि हमारा भला ज्ञान और वैराग्यसे ही हो सकता है, अज्ञानसे नहीं। अपने आपके स्वरूपका उपयोग तज कर बाहरी बातोंमें बेसुध होकर लगना इससे मेरा भला न होगा। अविकार ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा तजकर अपने वैराग्य परिणमनसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें राग बढ़ाना, आसक्त होना, इससे मेरा भला न होगा। मेरा भला तो ज्ञान और वैराग्यसे ही है। तो ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न करने वाले जो उपदेश हैं वे हमारे शास्त्र हैं।

८५६. गृहीतमिथ्यादृष्टिके कुगुरुमें गुरुत्वबुद्धि—कुगुरुको गुरु मानकर भक्ति करना गृहीत मिथ्यात्व है। जो परिग्रही हैं, खेतीबाड़ी करते हैं, हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल आदिक रखते हैं, महंत बने हैं, अथवा कोई देहका विचित्र भेष बनाया है, जिन्होंने आत्माके अंतस्तत्त्वकी झलक भी नहीं पायी है पर बड़ी बड़ी कष्टप्रद तमस्यायें भी करते हैं ऐसे जो लोकव्यवहारमें कहलाने वाले तपस्वी साधु हैं उनको साधु समझना यह गृहीत मिथ्यात्व है। साधु उसे कहते हैं जो आत्माके सहज ज्ञानस्वभावकी साधनामें लगा रहता है। जो अनवरत ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी साधनामें, अनुभूतिमें, यत्नमें रखता है। उन साधुजनोंका बाह्यस्वरूप कैसा होगा? झंझटोंसे रहित, लेपोंसे रहित, परिग्रहोंसे रहित। किसी अन्य बातकी जिन्हें फिक्र नहीं, केवल शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह रह गया है, वह कैसे छोड़ा जा सकता है?

वैनयिक आदि मिथ्यात्व मन वाले जीवोंमें हो सकते हैं, लेकिन योग्यतासे और उसके अन्त: अङ्गरूप सर्वत्र पाये जानेसे ये सभी मिथ्यात्व सभी जीवोंमें बताये गए हैं। निगोद हों, दो इन्द्रिय हों, एकेन्द्रिय हों, सभी जीवोंमें मिथ्यात्व कहा गया है। जीवके तत्त्वका अश्रद्धान होना यह है मिथ्यात्वका उदय। मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव विपदाओंसे घिरा हुआ है। यहीं अभी बैठे ही यदि दृष्टि अपने अंत: ले जायें, देहको भी पार करके, विभावोंको भी पार करके अपने उपयोगको यदि अपने आत्माके अन्त: स्वरूपमें ले जायें तो यहीं विदित हो जायगा कि आत्मा आनन्दमय है। इसको कहीं कोई कष्ट नहीं है, किन्तु जब यह अपने आनन्दमय स्वरूपको तजकर बाह्य भावोंमें दृष्टि लगाता है तब इसको प्रकृत्या क्लेश हो जाया करता है।

८६१. उपयोगका सामर्थ्य—उपयोगमें ऐसी सामर्थ्य है कि सब चीजोंका विकल्प तोड़कर अन्त: सहज चैतन्यमात्र स्वरूपपर उपयोग आ सकता है। जैसे आपके घरमें तिजोरीमें कोई गहना रखा है, आप यहीं बैठे बैठे उस गहनेको जान रहे हैं, व्यवहारसे कहा जाता है कि हमारा ज्ञान घरमें तिजोरीमें रखे हुये गहने तक पहुंच गया। तो पहुँच तो गया, मगर घरके किवाड़ लगे हों तो ज्ञान कहीं अटककर तो नहीं रह जाता कि किवाड़ खुलें तो हम घुसें अथवा तिजोरीका ताला बन्द है तो ज्ञान अटककर तो नहीं रहता कि किवाड़ लगे हुये हैं, हम भीतर कैसे जायें? ज्ञानकी ऐसी अबाध गति है कि सबको पार करके अंत: प्रवेश करता है। सो यह तो बाह्य विषयकी बात है, जब हम अपने आत्मतत्त्व के विषयके अन्दर चलेंगे तो पहुंच जायेंगे। इस देहमें अटक न होगी कि इस देहके भीतर है परमात्मस्वरूप किन्तु इसपर देहका आवरण है तो इस देहसे मैं अटक गया, अब मैं भीतर कैसे जाऊँ। तो यों स्पर्शसे उपयोग देहमें नहीं अटकता। किन्तु यह विकल्प करे, उसमें मुख्यता रखे तो यह अटकता है। इसके अन्दर और भी पदार्थ पड़े हैं कार्माणवर्गणा, तैजस वर्गणा उनसे भी नहीं अटकता यह उपयोग। जब यह अपने आत्माके अन्त: स्वरूप को जाननेके लिए चलता है तो यह उपयोग इन किन्हींमें भी नहीं अटकता और आगे चलें तो रागद्वेषादिक विकार मिले, विकल्प वितर्क विचार आदिक मिले उनसे भी यह उपयोग न अटकेगा। जब यह उपयोग आत्माके सहज अंतस्तत्त्वका ज्ञान करने चलेगा तो यह किसी भी परतत्वसे नहीं अटकेगा। एक दृष्टि शोधनकी आवश्यकता है।

८६२. उपयोगका शान्तिपूरक प्रयास—उपयोगमें सब सामर्थ्य है, हम अपनेको सुखी रख सकें, शान्त रख सकें, दु:खी बनाये रहें, संसारमें जन्म मरण करके भटकते रहें अथवा जन्म मरणसे छुटकारा पाकर अनन्त कालके लिए शाश्वत् निर्दोष आनन्दमय बने रहें ये सब बातें उपयोग द्वारा सम्भव हैं। तो हम शान्तिके लिए मन, वचन, कायकी चेष्टावों

हैं उसे कि वस्तुका स्वरूप तो है और भाँति और श्रद्धान किया जाय और भाँति। जैसे जीव स्वयं चैतन्यस्वरूप है, स्वतः सिद्ध है, किन्तु मानें यह कि जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका संयोग होता है तब उसमें चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। यह विपरीत मिथ्यात्व हुआ। विपरीत मिथ्यात्वमें भी तत्त्वका अश्रद्धान बना हुआ है। अन्तस्तत्त्व है चैतन्यशक्तिरूप, स्वतःसिद्ध अनादि अनन्त जिसका गुण विनाश हो ही नहीं सकता निश्चल, किन्तु उसका श्रद्धान नहीं बन रहा तो पदार्थके बारेमें उल्टी श्रद्धा चल रही है।

८५६. सांशयिक, वैनयिक व अज्ञानमिथ्यात्वमें भी तत्त्वाश्रद्धानरूपसे स्वदमान भाव—तीसरा मिथ्यात्व कहा है सांशयिक मिथ्यात्व। पदार्थके स्वरूपमें संशय होना कि पदार्थ नित्य है कि अनित्य है, एक है कि अनेक है, इसमें चित्त डोलने वालेके तत्त्वका श्रद्धान नहीं है ऐसे सांशयिक मिथ्यात्वमें भी तत्त्वका अश्रद्धान होता है यह लक्षण घट जाता है। वैनयिकमिथ्यात्व—साँचे झूठेकी परख किये बिना मेरे तो सभी भगवान हैं, जिस किसी भी चारित्र वाले हों नाम लेकर भी, मेरे तो सभी प्रभु हैं। जिस मजहबने जो माना है मेरा सब देव है, ऐसा समझकर सबका समानरूपसे विनय करना सो वैनयिक मिथ्यात्व है। ऐसे साँचे झूठे सबकी ही विनय करनेकी प्रवृत्ति क्यों हुई कि उसे यथार्थताका श्रद्धान नहीं हुआ। वास्तविक प्रभुताका अर्थात् जो रागद्वेषादिकसे रहित हुए, सर्वज्ञ हुए वे ही प्रभु होते हैं, इस मर्मका पता न होनेसे सर्वज्ञ वह विनयकी प्रवृत्ति करता है, तो ऐसे विनयके आशयमें तत्त्व का अश्रद्धान पड़ा हुआ है, इससे वैनयिक मिथ्यात्वमें भी तत्त्वका अश्रद्धान घटित होता है। ५ वां प्रकार है अज्ञानमिथ्यात्व। कुछ ज्ञान न होना। हित अहितका विवेक नहीं, सत्य असत्यका बोध नहीं, कुछ पता ही नहीं ऐसे आशयका नाम अज्ञान मिथ्यात्व है। इसमें तत्त्व श्रद्धान तो पड़ा ही नहीं है। तो यहाँ भी तत्त्वका अश्रद्धान घटित होता है।

८६०. मिथ्यात्वकी दशावोंका दिग्दर्शन—मिथ्यात्वके जो ये ५ भेद प्रसिद्ध हैं इन भेदोंमें सामान्यतया देखा जाय तो जिसमें एक भी मिथ्यात्व है उसमें सभी मिथ्यात्व हैं लेकिन एक व्यक्तताकी अपेक्षा किसमें मुख्यतासे वह चल रहा है, इस दृष्टिसे किसीको एकान्त मिथ्यात्व कहते, किसीके विपरीत मिथ्यात्व कहते, पर मिथ्यात्व जिसमें है उसमें इस सभी मिथ्यात्वकी योग्यतायें होती हैं। साथ ही यह भी जानना कि विश्लेषण करके देखा जाय तो समस्त मिथ्यादृष्टि जीवोंके अज्ञान मिथ्यात्व तो है निगोदमें, स्थावरमें, असंज्ञीमें, संज्ञीमें, जितने मिथ्यादृष्टि हैं सबमें अज्ञान मिथ्यात्व पाया किन्तु ये एकान्त, वैनयिक सांशयिक और विपरीत मिथ्यात्व संज्ञी जीवोंमें ही पाये जाते हैं। जिनके मन होगा, जो विकल्प करेंगे वे ही एकान्तका आशय रखेंगे, विपर्ययका आशय रखेंगे। विपरीत मिथ्यात्व भी सबमें हो सकता है पर जहाँ तर्कणासे सम्बंध है ऐसा विपरीत मिथ्यात्व व ऐसे एकान्त, संशय और

स्वदमान जो भाव है उसको असंयमका उदय कहते हैं। देखिये अज्ञानका जो उदय है सो सारी बुराइयाँ हैं, और ज्ञानका जो उदय है सो सारी अच्छाइयां हैं। जितनी बुराइयाँ है—मिथ्यात्व हो, अविरति हो, कषाय हो और योग हो, ये सब ज्ञानकी किसी प्रकारकी परिणति मुखेन अपना विलास कर पाते हैं। असंयममें क्या होता है? स्वाद किसका आया असंयममें? बात क्या बीत रही है असंयममें? ज्ञान ही एक किस्मका बीत रहा है। जिस ज्ञानकी स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन ५ इन्द्रियोंके विषयमें वृत्ति लग रही है ऐसा ज्ञानमय जो स्वाद आ रहा है बस उसे कहते हैं असंयम। असंयम १२ प्रकारके बताये गए हैं। ६ प्रकारके तो काय अविरति और ६ प्रकारके विषय अविरति। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन ६ कायके जीवोंकी हिंसासे विरक्त न होना, इसमें विरक्तिका भाव न आना, यह तो है ६ प्रकारकी कायअविरति। हिंसासे अविरति और ५ इन्द्रियके विषयोंसे और मनसे विरक्ति न आना सो विषय अविरति है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय है चिकना, रूखा, ठंडा, गरम आदिक स्पर्शकी बात। जैसे गर्मीके दिनोंमें ठंडे स्पर्शमें रुचि होती है, पानी चाहिये तो खूब ठंडा, इतना ठंडा कि यह जानते हैं कि पानी स्वयं ठंडा है पर उसमें बर्फ डालकर और ठंडा बनाकर पीते हैं। तो जैसे गर्मीमें ठंडी चीजें रखना, कूलर, एयर कंडीशन आदिककी व्यवस्थायें करना व शीतमें उष्ण आदिक की चीजें सुहाना ये सब स्पर्शन इन्द्रियके विषय है। देखिये—स्पर्श रस आदिका बोध तो साधुजनोंके भी होता है, पर इन्द्रियके विषयकी अविरति नहीं है साधुके। क्यों जी, साधुजन भोजन करते हैं तो गृहस्थोंको ही उसका स्वाद आये, यह खट्टा है, यह मीठा है आदिक, किन्तु साधुवोंको तो उसका स्वाद न आता होगा क्योंकि वे तो साधु हो चुके, यदि ऐसा कोई सोचे तो यह बात ठीक नहीं है। अरे स्वादका आना तो पदार्थ और जिह्वाके स्पर्शका एक प्रसंग है। यदि साधुजनोंको खट्टा, मीठा आदिकका बोध न हो तो फिर वे अन्तराय कैसे पाल सकेंगे? जिस दिन खट्टे रसका त्याग कर दिया हो और आहारमें कोई खट्टी चीज दे दी गई तो उसके बाद वे साधु अंतराय कर देते हैं। जब यह विदित हुआ कि यह खट्टा रस है तभी तो अंतराय कर सके ना। रसोंका ज्ञान साधुवोंको भी होता है किन्तु उनमें रति नहीं होती, आसक्ति नहीं होती।

८६४. साधुजनोंके जीवनका उद्देश्य—साधुजन खानेके लिए अपना जीवन नहीं समझते। आप परीक्षा करके देखलें। ऐसे मनुष्योंकी संख्या बहुत मिलेगी जिन्होंने अपनी जिन्दगी खानेके लिए ही समझा है। देख लो, हाँ कुछ लोग ऐसे मिलेंगे जिनको यशकी बहुत पड़ी है, धन वैभव बहुत जोड़नेकी पड़ी भई है तो उसमें ही उनका चित्त है और इतना अधिक चित्त है धन वैभवके संचयका अथवा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेका ख्याल इतना

को उपाय न समझें। बाह्यमें धन वैभवके संचयको हम शान्तिका उपाय न समझें, किन्तु अपने उपयोगको इस अपने विशुद्ध आत्मतत्वकी ओर ले जानेको शान्तिका उपाय समझें। देखिये—कोई भी पुरुष हो, कोई भी राजा हो, धनी हो, विद्वान् हो, गरीब हो, प्रतिष्ठित हो, अप्रतिष्ठित हो, सभी जीवोंमें यह एक बात है कि उपयोग यदि आत्माके अपने सहज चैतन्य स्वभावको छूता है, उसे समझते हैं तो शान्तिका उपाय बनता है, और अपने आपके स्वरूप के निकट उपयोग नहीं पहुंचता है तो इसे बाह्यमें अशान्ति ही रहती है, यह बात सबके लिए एक समान है। हम अन्य किसी बातमें न उलझें किन्तु एक ही निर्णय बनायें कि मैं अपनेको यथार्थ जानूं और अपनेको यथार्थ जानता ही रहूं ऐसी प्रवृत्ति हो तब तो मेरी कुशलता है अन्यथा कुशलता नहीं है। लोग पूछते हैं कि कहो भाई सब तरहसे कुशल हैं ना आप। तो कहते कि हाँ सब प्रकारसे कुशलता है। पर इस संसारमें रहकर काहेकी कुशलता? जहाँ इतनी व्याधियाँ, इतने नटखट, इतने सम्बन्ध, इतने विकल्प और फिर जन्म मरणकी आग लगी है, विकल्पोंके संताप सता रहे हैं, साथ कोई निभा सकने वाला नहीं। जिन जिनका समागम हुआ है वे सब बिछुड़ेंगे। रागद्वेषादिकके विकार पड़े हैं। जिस किसी भी पदार्थको इष्ट मानकर उसके लिए ही हम तुल जाते हैं, जिस किसी भी पदार्थको अनिष्ट मान कर उसके प्रति हम जलते रहते हैं तो ऐसी संतापभरी दुनियामें रहकर मेरी कुशलता पूछ रहे हो? मैं कहाँ कुशल हूं? मैं कहाँ सुरक्षित हूं? हां कुशलता तब हो सकती है जब मैं अपने यथार्थस्वरूपको जानूं और उसकी रुचि बन जाय, उसमें हमारी लगन बन जाय। एक मात्र यह धुन हो जाय कि इस ही परमात्मतत्वका शरण गहना, इसका ही उपयोग रखना सो ही शरण है, शेष और कुछ शरण नहीं है। ऐसी श्रद्धा, ऐसी भावना और ऐसी परिणति बने तव तो हम कह सकते कि भाई हम सकुशल हैं अन्यथा कुछ भी स्थिति मिल जाय, हम सकुशल नहीं हैं। तो इस मिथ्यात्वके उदयको हम सुगमतासे तोड़ सकते हैं। आखिर मेरी चीज तो नहीं है, औपाधिक चीज है, आयी हुई चीज है। आयी हुईको हटा देना यह तो सुगम बात हो सकती है। मैं अपने निर्लेप शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपकी सम्हाल करूं अर्थात् तन्मात्र मैं अपना अनुभव करूं तो यह कलंक, ये गंदगियाँ दूर हो सकती हैं तो ऐसे मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव अपनेमें अपनेसे ही इस रूप में परिणम रहा है, कोई अन्य पदार्थ मेरेमें मिथ्यात्वका परिणमन नहीं करता। ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता जाननेके लिए और निश्चयतः मेरा कर्तृत्व कर्मत्व मुझमें ही है ऐसी बात समझनेके लिए यह प्रसंग चल रहा है।

८६३. असंयमके उदयमें अविरमणरूपसे स्वदमान भाव—अब इस संसारी जीवके असंयमका भी उदय है इसकी व्याख्या करते हैं। ज्ञानमें अविरमण रूपसे अविरति रूपसे

पर्यायका जो रूप रंग है, आकार प्रकार है वह सुहाना और उसके देखनेमें अपना उपयोग जुटाना यह है चक्षुरिइन्द्रिय विषयकी अविरति। देखिये किसी सुहावने रूपको निरखते रहने से इस आत्माको लाभ क्या है, बल्कि आँखें थक जायेंगी, नेत्रइन्द्रियकी शक्ति घट जायगी, समय खराब कर लिया जायगा, आकुलता बढ़ा ली जायगी। कभी शल्य भी बन जायगी। तो सारे अनर्थ हैं लेकिन जिनके ऐसा उदय है वे जीव चक्षुरिन्द्रियके विषयसे विरक्त नहीं हो सकते है। तो यह अविरतिभाव होता क्या है? इन सब अविरति भावोंमें से ज्ञानमें ही एक अविरमण रूपका स्वाद लिया गया है। अब देखिये श्रोत्रइन्द्रियकी अविरति। कर्ण-इन्द्रियको जो सुहावना लगे—राग भरे शब्द, उनको सुननेमें आसक्ति रखना सो कर्ण-इन्द्रिय विषयकी अविरति है। अब तात्विक दृष्टिसे देखें तो बड़ी राग रागनीके शब्द सुन लेनेसे इस आत्मामें कौनसी वृद्धि हो गई? रात भर गाना सुना अच्छी सभा जोड़कर संगीत गोष्ठी बनाकर रात्रिभर गाना सुना तो उसके फलमें सुबह मिला क्या? आलस्य, नींद, तो कुछ झंझट सा लगता, जगनेका समय आ रहा, लोग जगा रहे अथवा काम पड़ा है करनेको, झंझट सा लगता। तो उसने अपने परिणामोंमें नुक्सान ही किया और जिस कालमें वह राग रागनी सुननेमें आसक्त हो रहा था उस समयका परिणाम देखिये, उसमें भी उसने अपनी बरबादी ही की। तो इन इन्द्रियके विषयोंमें जीवको लाभ कुछ नहीं है, किन्तु जब उदय ही अविरतिका चल रहा है तो वह उन विषयोंसे विरक्त नहीं हो सकता।

८६६. मनोविषयाविरतिमें अविरमणरूपसे स्वादमान भाव—छठा विषय है मनका। यह विषय बड़ा भयंकर है, इसकी कोई सीमा नहीं है, तभी तो मनको अनियत विषय बताया गया है। इन्द्रिय नियत विषयको ग्रहण करता है। इन इन्द्रियोंपर इतना तो विश्वास है कि यह चक्षुइन्द्रिय रसका स्वाद लेनेका काम न करेगी, यह थोड़ा अपना नियत उपद्रव करेगी, अटपट उपद्रव न करेगी। इतना तो इन्द्रियोंमें निर्णय है, पर मनके बारेमें कुछ निर्णय नहीं है। यह मन इन इन्द्रिय विषयोंमें लगकर इनकी भी तीव्रता करता है और लोकेषणाद कीर्ति, प्रशंसा आदिकके कार्य करना, इसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। रे मन कितना धन बढ़ जाय तो तू सन्तोष पा लेगा? अरे कोई सीमा ही नहीं है। तीन लोकका भी वैभव पुद्गल ढेर सामने आ जाय तो भी तू सन्तोषकी श्वास न लेगा। रे मन इस संसार में कितनी जगहमें तेरा यश हो जाय तो तू सन्तोष पा लेगा? कोई सीमा ही नहीं है। जब यह ज्ञानभाव जगे कि अरे यश इज्जत प्रतिष्ठा नाम है किसका? अरे ये तो सब मायारूप हैं, झूठ हैं। जगतके इन मायामय जीवोंने मेरी कुछ प्रशंसा करदी तो उससे इस रे आत्माको लाभ क्या मिल जायगा? मनके विषयोंमें लगनेमें मनकी अविरतिका उदय मनके विषयसे विरक्ति न होना, अविरमण रूपसे ज्ञानमें स्वाद आना, भाव बनना,

अधिक है कि खाने पीनेकी भी सुध नहीं करते। आये, झट, थोड़ासा जल्दी जल्दीमें खा पी लिया और चल दिया। धुन उनकी किसी और जगह है, तो उन्हें थोड़ा कह सकते कि ये खानेके लिए नहीं जी रहे लेकिन वस्तुत: उन्हें ऐसा नहीं कह सकते। हाँ वे प्रतिष्ठाके लिए जी रहे हैं। उनके साथ-साथ चूँकि वे सब अज्ञानभाव हैं जिनके लिए जी रहे हैं, तो भोगोपभोग भी अज्ञानभाव हैं इसलिए वस्तुत: उन्हें भी यह न कहा जायगा कि ये खानेके लिए नहीं जी रहे हैं। किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं, अपने आपके अन्त:स्वरूपकी जिन्हें झलक हुई है और जिसके कारण यह निर्णय किया है कि सारमात्र बात जीवमें केवल इतनी है— अपने चैतन्यस्वरूपका अनुभवन करना, निर्विकल्प होना और सदा शान्त रहना। इसमें ही सार है, ऐसा जिसके बोध हुआ है उस पुरुषको कह सकते कि यह खानेके लिए नहीं जी रहा। वह जी रहा किसलिए कि संसारके संकटोंसे, भ्रमजालोंसे छूट सकनेका मौका यहाँ मुझे मिला है, मनुष्य पर्याय मिली, जैन शासन मिला, समझनेकी बुद्धि मिली तो इतने श्रेष्ठ समागम जो मुझे प्राप्त हुए हैं इनसे मैं आत्माके अलौकिक विशुद्ध ज्ञानानन्द लाभको लूट लूँ, इसके लिए ही मेरा जीवन है, पर यह शरीर है, शरीर टिकता है टिकानेके ही ढंगसे। कोई इतना मात्र मान ले कि हमारा जीवन तो अन्त:स्वरूपकी शुद्धिके लिए है तो क्या इतना मान लेने मात्रसे इस समय हम आपका जीवन टिक सकता है? यह शरीर तो शरीर के ढंगसे टिकेगा, इसे भोजन देना होगा। तो ज्ञानी जन भोजन ग्रहण करते हैं पर उनके अन्त: आशयको निरखिये तो वे खानेके लिए नहीं बल्कि संयमकी सिद्धिके लिए अपने इस जीवनको चाह रहे कि थोड़ा और टिका रहे यह जीवन, मैं अपने ज्ञान और संयमकी साधना बना लूँ और उस जीवनको टिकाये रहनेके लिए आवश्यक है आहार। तो यों आहार ग्रहण करते हैं। पर साधुजनों को इन्द्रियविषयोंमें आसक्ति नहीं है।

८६५. पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी अविरतिमें अविरमणरूपसे स्वदमान भाव——रसमें अविरति होनेका नाम है रसना इन्द्रियकी अविरति। स्पर्शन इन्द्रियके विषयसे विरक्त न होना सो स्पर्शनेन्द्रियविषयाविरति है। घ्राणइन्द्रियका विषय है सुगंध दुर्गन्ध, उससे विरक्त न होना सो घ्राणइन्द्रिय विषयकी अविरति कहलाता है। अब देखिये—सुगंध लिया, इत्र सामने रख लिया, कोटमें फूल रख लिया, इत्रका फोवा लगा लिया, तो ऐसी गंधकी आसक्तिसे इस जीवको मिलता क्या है? न तो कोई शरीरकी वृद्धि होती है, न तो कोई जीवनके टिकनेका आधार है। सो सुगंधित द्रव्योंकी बड़ी लालसा रखना यह गंध विषयकी बात है। इस गंधके विषयोंसे विरक्त न होना सो घ्राणेन्द्रिय अविरति है। अब देखिये—चक्षुइन्द्रियके विषयकी अविरति। जो रूप सुहाये, आकार शकल सुहाये चेतनकी और अचेतनकी, चेतनकी तो शकल सूरत नहीं होती, किन्तु जीव जिस पर्यायमें है मनुष्य तिर्यञ्च आदिक तो उस

जाननेके लिए उससे कई गुनी बातें जाननी होती हैं तो आवश्यक बातका ज्ञान परिपूर्ण हो पाता है। यों आत्मामें जो बात है, जानना चाहिये सब, किन्तु यह कह रहे हैं कि स्वानुभव ज्ञानानुभव निर्विकल्प दशाका परिणमन आत्माके किस प्रकारके चिन्तनसे होता है। आत्मा के आकारका विचार करनेसे ज्ञानानुभव नहीं बनता। ज्ञानानुभवका ही नाम स्वानुभव है। तो आत्मामें यह क्रोध जग रहा, इतनी इसमें शान्ति है, इतनी कलुषता है, ये मान, माया, लोभादिक जो जो भी भाव हैं उन परिणमनोंको भी ध्यानमें रखते हैं ऐसे भी स्वानुभव नहीं जगता। हालांकि जानना चाहिये सब, किन्तु स्वानुभवमें किस प्रकारका ज्ञान चाहिये, उपयोग चाहिये उसकी बात कह रहे हैं। और जब आत्माको अभेदभावकी दृष्टिसे देखते हैं मैं ज्ञानमात्र हूं, अपने आपके बारेमें अपने आपको एक ज्ञानमात्र तका, चैतन्यशक्तिमात्र निरखा जिसका सर्वस्वसार चैतन्यशक्तिमें व्याप्त हो गया, केवल ज्ञानज्योति मात्र इतना ही अपने आपको चिंतन करिये और ज्ञानका जो स्वरूप है केवल जानन उस स्वरूपमें दृष्टि रखकर अपनेको ज्ञानमात्र बारबार चिन्तन करिये तो यह मार्ग ऐसा है कि अन्य विकल्प हटकर एक ज्ञानानुभवकी बात आ सकती है।

८६६. शान्तिके उपायका उपक्रमण--संसारमें हम आप सभी जीव शान्ति चाहते हैं और शान्तिके लिए अथक प्रयत्न करते हैं। व्यापार बढ़ाना, परिवार बढ़ाना, इज्जत बढ़ाना लोगोंसे मिलना जुलना आदिक जितने भी श्रम लोग करते हैं वे किसलिए करते हैं? इस लिए कि हमें सुख मिले और शान्ति मिले और शान्ति नहीं मिल सकी अब तक। बल्कि अभी तक जितने-जितने भी श्रम किये, विकल्प किये, उद्यम किये वे सब अशान्तिके ही कारण बने। तो क्यों शान्ति अभी तक न मिली? इसलिए कि वे सारे उद्यम शान्तिके उपाय न थे। परद्रव्योंका आकर्षण होना, परद्रव्य धनादिकके संचयमें ही अपनी बुद्धि लगाये रहना, उसकी ही धुन रखना और वह भी किसलिए रखी जा रही कि लोगोंमें मेरा यश बढ़े, मेरा बड़प्पन रहे, किन लोगोंमें जो कि स्वयं मायारूप हैं, कर्मके प्रेरे हैं, जन्म मरणके दुःखसे दुःखी हैं, अज्ञानी हैं, वे लोग मुझे समझें और मुझे भी किसे? जिस शरीर को, जिस शकल सूरतको मान रखा है कि यह मैं, उसे समझें, मैं जो चैतन्यमात्र हूं इसको समझने का कोई यत्न नहीं करता कि लोग इस मुझका बड़प्पन जान जायें। एक शकल सूरत, एक पुद्गल पिण्ड इसमें ही आत्मबुद्धि करके लोग विकल्प किया करते हैं कि मुझे समझ जायें। अरे जिनमें बड़प्पनकी चाह की जा रही है वे सब असार हैं। जो बड़प्पन चाह रहा है वह भी असार है और बड़प्पन स्वयं असार है। जीवनका थोड़ासा समय है और थोड़ीसी बुद्धि पायी है, उसमें भी बड़प्पनकी चाह बना लेना यह कोई सारभूत बात नहीं है। तो सारा असारका ही खेल बन रहा है, इससे शान्ति कहाँ मिल सकेगी? शान्ति

इसका नाम है असंयमका उदय। सो देखो—इस असंयमभावको दूसरा कोई नहीं करा रहा। यह खुद परिणाम रहा, निमित्त भले ही है, पर मेरे संयमभावको मैं ही भूलकर भ्रम से उपयोग लेकर कर रहा हूं। इस प्रकार भावकी परिणतिकी स्वतंत्रता यहाँ बतायी गई है।

८६७. कषायोदयमें कलुषोपयोगता—यहाँ प्रकरण यह है कि इन संसारी जीवोंके परिणामोंके प्रसंगमें निमित्तनैमित्तिक भाव हैं यद्यपि किन्तु पुद्गल द्रव्यका परिणमन पुद्गल द्रव्यमें है, जीवका परिणमन जीवमें है, इस ही बातका विवरण कर रहे हैं। मिथ्यात्वका उदय हुआ। यहाँ उदय शब्दसे मिथ्यात्वके उदय शब्दसे जीव मिथ्यात्वकी बात लेना है। उदय उसे कहते हैं जो उटता है, उदित होता है। जैसे कहा कि सूर्यका उदय हुआ, वहाँ न था सूर्य और अब आया। तो इसी तरह जितने भी औपाधिक परिणाम हैं व्यक्तिगत, वे न पहिले आये। और यही होता रहता है। तो जैसे मिथ्यात्वका उदय क्या है कि तत्त्वके अश्रद्धान रूप ज्ञानमें स्वादमान भाव आया हुआ है। असंयमका उदय क्या है? इन्द्रियके विषयोंसे विरक्त न होनेके रूपसे ज्ञानमें आया हुआ स्वादमान भाव। तब कषायका उदय क्या है? कलुष उपयोगरूपसे ज्ञानमें स्वादमान भाव, उसका नाम कषायका उदय है। जीवमें जब कषायभाव आता है तो होता क्या है? कलुषता। उपयोग कलुषित हो जाता है।

८६८. उपयोग और उसके विशुद्ध प्रतापकी विधि—उपयोग क्या चीज है? ज्ञान परिणमन। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जैसे अन्य द्रव्योंको जब जानने बैठते हैं कि इसमें भरा क्या है तो उसकी कुछ जानकारी कर लेते हैं—इस चौकीमें है क्या? रूप, रस, गंध, स्पर्श। इनका परिणमन नजर आता है। इनका छोटेसे भी छोटा हिस्सा हो जाय वहाँ भी क्या समझमें आया? रूप, रस, गंध, स्पर्श समझमें आया। ऐसे ही जीवको जब निरखने चले कि आखिर है क्या जीवके अन्दर, किस स्वरूपसे रचा हुआ है तो वहाँ ज्ञानभाव ज्ञानमें आयेगा। जो जानन परिणमन हो रहा, जो जानन शक्ति है, जाननस्वभाव है। जाननभाव का नाम आत्मा है। हम अपने आत्माको अपने लक्ष्यमें लेना चाहें तो ज्ञानस्वरूपका लक्ष्य बनायें तो ले सकते हैं। वैसे आत्मामें अन्य बातें भी हैं, आकार भी है, जो कि इस समय जितना देह है उतना आकार है। इसमें अनन्त गुणपर्यायें भी हैं भेदरूपसे देखे गए। इनके प्रदेश भी हैं, इनके परिणमन भी हैं किन्तु आकारको निरख-निरखकर भी स्वानुभव नहीं बन पाता। ऐसा देखनेसे कि यह इतना लम्बा है, आत्मा ४ हाथका है, इतना मोटा है, इतनेमें फैला है, ऐसी दृष्टि करके आत्माको उस ढंगमें जाना तो, किन्तु वहाँ स्वानुभूति नहीं जगती। हालांकि यह भी समझना चाहिये कि सब ओरसे सब ढंगसे आत्माको जानेंगे तो आत्माका ठीक ज्ञान होगा, विशद ज्ञान होगा। किसी भी वस्तुके सम्बंधमें आवश्यक बात

यह कहता है कि कोई मुझमें प्रेम ही नहीं कर सकता। मैं किसी दूसरेसे प्रेम ही नहीं कर सकता। मैं खुद राग परिणाम बनाता हूँ सो अपना ही राग कर रहा हूं, दूसरेका राग नहीं कर रहा। हाँ मेरे इस रागमें दूसरे लोग विषय हो रहे है, आश्रय बन रहे हैं पर मैं दूसरेमें राग नहीं करता, कोई दूसरा मुझसे प्रेम नहीं कर सकता। एक बच्चा सिनेमा देखने जा रहा हो तो दूसरा बच्चा भी उसके साथ सिनेमा देखने जाता। दोनों बच्चे एक दूसरेके गलेमें हाथ डालकर बड़े प्रेमसे जाते हैं इतनेपर भी एक बच्चा दूसरे बच्चेसे प्रेम नहीं कर रहा। वे दोनों मित्र अपनी जुदी-जुदी परिणतिसे परिणम रहे हैं। कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिमें राग कर ही नहीं सकता। यही बात हम आप सबकी है। तो यथार्थ जो स्वरूप है वस्तुकी स्वतंत्रता है। प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टयरूप है जिसका कि अर्थ यह हुआ अपने बारेमें घटा करके कि मैं किसी अन्य द्रव्यमें नहीं हूं। कोई अन्य चीज मुझमें नहीं है। मैं अपने ही प्रदेशोंमें हूं, स्वक्षेत्रमें हूं, मैं तो आकाशमें भी नहीं रह रहा। मैं अपनेमें रह रहा। आकाश परवस्तु है। मैं उसमें व्याप नहीं सकता। अन्यकी बात तो जाने दीजिए। भले ही ऐसा योग है कि आकाशको छोड़कर मैं और जाऊँ कहाँ? आकाश सब जगह है। मैं रहता हूं तिस पर भी आकाशमें आकाश है, मुझमें मैं हूं, इतना तक तो निराला हूं। मैं अपनी परिणतिसे हूं तो दूसरा कोई पदार्थ मेरी परिणतिको क्या करे?

८७१. ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके विनिश्चयमें प्राप्त समागमकी सफलता—कोई पदार्थ अपना भी परिणमन करले, दूसरेका भी करदे यह नहीं होता। ऐसा तकने वाले मिथ्यात्वसे ग्रस्त हैं। मैं अपने परिणमनसे हूँ, अपने भावोंसे हूं, अपनी शक्तिसे हूं, अपने गुणसे हूं, सबसे निराला अपने आपको देख लेना यह है सबसे बड़ा भारी काम। इससे बढ़कर और कुछ बात नहीं है। साथ ही यह समझिये कि यह काम कर सके तो जीवन सफल है। ज्ञानमात्र आत्माको प्रतीतिमें ला सके तो जैसे जीवन सफल है इसी तरह यह भी कह सकते कि अच्छे परिजन मिले, धन सम्पदा मिली वह भी सफल है, क्योंकि अच्छे परिजन मिलना, थोड़ा बहुत धनका समागम रहना, जिससे आकुलता न हो, इसमें कुछ धनका भी सहयोग चलता है, ये सब करना हमारा तब सफल है जब हम अपने ज्ञानस्वरूपमात्रकी प्रतीति कर लें। यह प्रतीति जब नहीं होती है तो आत्मामें कलुषतायें जगती हैं। ये साधारणजन कर क्या रहे हैं? अपना उपयोग मलिन कर रहे हैं। हर स्थितियोंमें घटा लीजिये। कोई बहुत बड़ा कारखाना चला रहा, ऊँची सर्विस कर रहा तो वह वहाँ कर क्या रहा? अपना उपयोग कलुषित कर रहा, उपयोगको बिगाड़ रहा, परतत्त्वोंको नहीं कर रहा। जैसे एक बढ़ई काठकी कोई चीज बना रहा है, काठको छीलता है, रंदा करता है, पालिस करता है, व्यवहारमें सब कुछ कर रहा है, देखनेमें लगता कि सब कुछ वह बढ़ई कर रहा है मगर जिस

का उपाय है अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करना। यही उपाय है, अन्य उपाय नहीं हो सकता। चाहे अभीसे कर लें, चाहे जबसे करलें। मैं अकिञ्चन हूँ, मेरेमें और कुछ नहीं मिलता। मैं अमूर्त हूं, इसमें कुछ दूसरी बात लिपट ही नहीं सकती। और अपरिचित भी हूं। साथ ही साथ अपने बारेमें यह भी सोचते जाइये कि मैं दुनियासे अपरिचित हूं। सबकी बात कह रहे है, आप जो हैं खास, जो सद्भूत है उस आत्म सत्की बात कह रहे हैं। उसे कौन जानता है ? जो लोग जान रहे हैं इन इन्द्रियोंसे आँखोंसे तो इस शकलसूरत को इस शरीरको जान रहे हैं। ये शकल सूरत मैं नहीं हूँ, जिसमें कि लोग पहिचानते भी नहीं हैं उस मैं' के लिए इतना श्रम करना ये सब असार बातें हैं। शान्तिका उपाय तो अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करना है। दुनिया कहाँ गयी, जिसे हम मान रहे थे, विकल्प कर रहे थे उसका पता ही नहीं। जिसको ज्ञानमात्र अपनी प्रतीति की धुन हो जाती है उसको दुनिया का क्या ? वह तो अपने आपको एक ज्ञानरूपमें ही अनुभव करता रहता है, इसकी प्रतीति जब तक नहीं होती तब तक कितने ही उपाय रच डालें पर आत्माको शान्ति प्राप्त नहीं होती।

८७०. वस्तुस्वातन्त्र्यके विज्ञानसे वैराग्यकी सुगमता होनेसे आत्महितोपायकी सुगमता——आत्महितके उपायकी बात कहनेको छोटी सी है पर जब उस पर चलनेको हम उतारू हों तो सुगम भी है, कठिन भी है। बात कितनीसी है ? अपने आपको ऐसा विश्वास में लेवें कि मैं दुनियासे निराला हूं। जिसको यह दुनिया जानती ही नहीं। देहसे भी न्यारा। अब परखते जावे, बात भी सच है। सारी दुनियासे, समस्त समागमोंसे यह मैं प्रकट न्यारा हूं कि नहीं ? देहसे भी न्यारा हूं कि नहीं। दूसरोंको मरण करते हुए देखते भी हैं। तो यह भी सब जान रहे हैं कि आत्मा देहसे निराला है। यह अपने बारेमें सोचें कि मैं देहसे निराला हूं। तब हूं कैसा ? ज्ञानज्योतिमात्र, प्रतिभासस्वरूप, चैतन्यस्वरूप। ऐसा यह मैं आत्मा हूं ऐसी प्रतीति बना लें और अधिकतर जितना निरन्तर बन सके, ऐसा ही उपाय बनाये रहें कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, इतना काम है करने का, जिससे कि कहा जा सकता कि हमारी जिन्दगी सफल हुई। और इतनी बात न कर सके तो आप कुछ करते जावो लाभ कुछ न मिला। बड़े-बड़े राजा महाराजा हो गए पर उनके साथ रहा क्या ? वे भी सब छोड़ छाड़कर चल बसे। तो अपनी यह समझ रखिये कि इस जिन्दगीमें जीकर हमको करनेका असलमें काम है क्या ? धन कमाना अथवा यश आदिक बढ़ाना ये मेरी जिन्दगी सफल करनेसे कार्य नहीं हैं। वे तो सब असार बातें हैं। दुनियामें कोई दूसरा साथी नहीं है, सिर भी दर्द करे तो कितने ही प्रेमी बन्धुजन हों पर वे जरा भी उस सिर के दर्दको बाँट न सकेंगे। वे सभी बड़ा प्रेम दिखलायेंगे, यह बात दूसरी है पर वस्तुस्वरूप

इन परवस्तुवोंपर हमारा अधिकार तो कुछ है नहीं और हम मानते हैं कि यह मेरी चीज है, यह मेरे अन्दरकी चीज है, मेरेसे अलग कैसे हो सकती है ? यों अभिप्राय तो इस प्रकार का बना रखा था और परिणमन उन वस्तुवोंमें और भाँतिका पाते है तो दु:खी हो जाते हैं। यदि यह ज्ञान बनाये रहें कि सर्व पदार्थ मुझसे निराले हैं, ये अपने परिणमनसे परिणमते है, रहे तो क्या, न रहे तो क्या। ये समस्त अध्रुव चीजें हैं, इन अध्रुव चीजोंकी बातें हैं, ये अपने कारणसे हैं और अपने कारणसे गए। आये तो क्या, गये तो क्या, इनमें मेरा कुछ वश नहीं है। तो जब वस्तुकी स्वतंत्रता ज्ञात होती है वहाँ मोह टल सकता है। मोह टले बिना कभी जीवको शान्ति नहीं मिलती। परेशान हैं सब मोहसे और परेशानीको मिटानेका उपाय भी मोह ही समझते हैं तो परेशानी कैसे मिटे ? किसीके स्नेहसे परेशानी उठा रहे, उस परेशानीको मिटानेके लिए उससे राग कर रहे तो उससे तो परेशानी और बढ़ेगी।

८७३. प्रभुकी आज्ञा और अज्ञानमें उसकी अवज्ञा—जिनकी हम रोज पूजा करते, भक्ति करते उन प्रभुका यही तो उपदेश है कि अपनेको समझ जावो, जैसा सहजस्वरूप है यह मैं हूँ बाकी सब पर हैं, ऐसा समझनेके साथ मोह मिटेगा। मोह छोड़ो, द्वेष छोड़ो, यही तो उन प्रभुका उपदेश है जिनकी हम आप पूजा करते है। तो पूजा तो हम कर लें और चलें प्रभुके उपदेशसे उल्टा। प्रभु कहें कि मोह छोड़ो और सबसे ज्यादा मोह जैनोंमें हो रहा, अभी और और बिरादरीके लोगोंमें देखो तो ऐसा लगेगा कि उनमें कम मोह है। अन्य लोगोंमें तो दिखता कि जिस झोपड़ीमें रह रहे थे उसे किसी कारणवश झट उसे छोड़कर अन्यत्र चल दिया। और कहीं जाकर झोपड़ी बनाकर रह रहे हैं। वैसे मोह तो सबमें है पर इन वीतराग प्रभुके ऊपरी उपासकोंकी हठ तो देखो—कि हम तो मोहको और भी दूना करेंगे। मोहमें कमी न लायेंगे। यदि ऐसी बात है तो बताओ प्रभुकी पूजा ही क्या की ? अपना भला तो इसमें है कि अपनेको ज्ञानमात्र सहजस्वरूप निरखें। ऐसी बात तो चित्तमें उठे नहीं और धर्मके नामपर हम बातें बहुत करते रहें तो जो बात जिस विधिसे होती है वह उसके बिना नहीं हो सकती। हम करते तो बड़ा श्रम हैं, तन, मन, धन, वचन सबका उपयोग हम धर्मके लिए करते हैं, लेकिन यह चीज ऐसी है कि जो रुपया पैसा लगानेपर भी नहीं बनती केवल अपने ज्ञानसे मिलती है, अपने अनुभवसे मिलती है, अपने आपकी दृष्टिसे मिलती है। इतनी चीज कर लो साथमें। साथमें क्या, सारभूत बात तो यही है। अपनी दृष्टि विशुद्ध बन जाय। अपने आपके यथार्थ स्वरूपका भान रहे। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अकिञ्चन हूं, मुझे कोई यहां जानता ही नहीं है। मैं अपनेमें गुप्त हूँ, मेरे कोई शकल सूरत ही नहीं है, यह मैं केवल ज्ञानप्रकाश रूप हूं—ऐसी अपने आपमें बुद्धि जगे,

जीवको बढ़ई समझ रहे वह क्या कर रहा है ? उत्तर मिलेगा कि विकल्प कर रहा, इच्छा कर रहा, ज्ञान कर रहा और उसकी इच्छाके होने से आत्मप्रदेश परिस्पंद हो रहा। अच्छा यह ठीक। और कोई अगर शरीरको ही बढ़ई समझे कि यह जो हाथ पैरों वाला है वह बढ़ई क्या कर रहा है ? हाथ पैर चला रहा है। उसके शरीरमें उसकी क्रिया हो रही, पर काठमें भी कुछ नहीं कर रहा और निमित्तनैमित्तिक भाव इतना है जबरदस्त कि सब समझमें आ रहा कि देखो उसके इस तरहके श्रमका निमित्त पाकर काठमें यह अवस्था हो रही है तिसपर भी वस्तु कितनी है ? इतना ध्यानमें रखकर निर्णय लें तो स्वतंत्रता ज्ञात हो।

८७२. पदार्थकी स्वतन्त्रताका पुनः चिन्तन—प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें है। जैसे कोई बहमी है, व्यर्थका बहम करता है, बिगाड़ कुछ नहीं हुआ, स्थिति खराब नहीं हुई, सब बात ठीक है, मगर बहम लग गया तो बहमका फल है आकुलता। तो वह आकुलता तो होगी ही। बाहरमें देखो तो कुछ बिगाड़ नहीं है। जैसे किसी काममें नुक्सानमें बहम हो गया तो देखो वहाँ नुक्सान भी नहीं हो रहा किन्तु बहम होनेसे आकुलित हो रहा है। तो प्रत्येक पदार्थमें अपने-अपने परिणमन हैं और उस परिणमनका प्रयोजन खुद खुद है। बतलावो ये दिखने वाले पुद्गल किसलिए परिणम रहे हैं ? क्यों ये नई-नई अवस्थायें बनाते हैं, पुरानी अवस्थायें विलीन करते हैं। काठ जल गया, राख हो गया, कण-कणमें बिखर गया—ये सब अदल बदल परिणमन अवस्थायें आदि पुद्गल किसलिए कर रहे ? तो भाई इनमें चेतना नहीं है इसलिए इनका चिदात्मक प्रयोजन तो कुछ नहीं है। मगर प्रयोजन यहाँ क्या है ? इन पदार्थोंकी सत्ता बनी रहे। सत्ता बनी रहे, इससे लिए परिणमन चल रहा, किसी दूसरेके लिए नहीं परिणमन चल रहा। निश्चयदृष्टिसे देखो तो कोई पदार्थ जो कुछ कर रहा है वह अपने लिए कर रहा है। चेतनमें है चेतना। वहाँ हम दो बातें कह सकते हैं—यह चेतन, आत्मा। जीव जो कुछ विकल्प कर रहा है वह दो प्रयोजनोंसे एक तो अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए, वह तो पदार्थकी खुदकी बात है, दूसरे अपनी शान्तिके लिए। जितने भी हम विकल्प करते हैं अपनी शान्तिके लिए करते हैं लेकिन शान्ति नहीं मिली। उसकी ही यह गवेषणा चल रही है कि शान्तिका उपाय क्या है ? शान्तिका उपाय है मोहका मिटा देना। जब तक मोह है तब तक शान्ति नहीं हो सकती। मोटे रूपमें सब जानते हैं कि जब मोह रहता है तो शान्ति नहीं मिलती। मोह होता है परद्रव्योंके सम्बंध से। अब परद्रव्य बहुतसे इकट्ठे पड़े हैं जिनमें हम ममकार कर रहे हैं, अब उनकी व्यवस्था बना देना हमारे वशकी बात नहीं है। हो रहा है, प्रसंग है, व्यवस्था चल रही है, मिल गया जोग। जोग मिलनेपर भी जो वस्तु जहाँ है, रक्षित है, वह उसके कारणसे है। तो

निवृत्तिके व्यापारके रूपसे ज्ञानमें स्वद्मानभावको योगोदय कहते हैं। शुभकार्योंमें प्रवृत्ति करना अथवा शुभ कार्योंसे हटना, अशुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करना अथदा अशुभ कार्यसे हटना इन व्यापारोंके रूपमें जो कुछ इस ज्ञानस्वरूप आत्मामें बीत रही है वही तो योगका उदय है। योग नाम है प्रदेश परिस्पंद का। जीवके दो प्रकारके परिणमन हो रहे हैं—एक गुण परिणमन और एक द्रव्यपरिणामन। गुणपरिणमनमें तो गुणोंकी परिणतिकी बात है, जिसको अभेद करके एक ज्ञानकी परिणतिके रूपमें कहा जाता है अथवा यह आत्मा अखण्ड एक स्वभावरूप है। उसको हम समझना चाहें तो चैतन्यस्वरूपसे या निर्णयके साथ विकल्पों के साथ समझते हैं तो ज्ञानके रूपसे समझमें आता है। तो ज्ञानमें जो परिणमन होता है, गुणोंके जो परिणमन होते हैं वे सब गुणपरिणमन है। जैसे कभी इच्छाका भी परिणमन है तो इच्छाका परिणमन भी गुणपरिणमन है। वह प्रदेशपरिणमनसे जुदा स्वरूप रख रहा है, किन्तु जितने भी गुण हैं उन सब गुणोंका ज्ञान गुणमें अभेद किया है अतएव वह भी ज्ञानका एक स्वदभाव परिणमन है। ऐसे परिणमन तो तीन प्रकारके बताये गए हैं। विकारभावमें मिथ्यात्व, अविरति और कषाय। इच्छाकी बात कषायमें आ जाती है। अब यहाँ योगकी बात कह रहे हैं कि आत्माके प्रदेशोंमें खलबल क्षोभ होना, परिस्पंद होना यह भी चलता है। अब इन दृष्टान्तोंसे हम आप अपना निर्णय करते हैं तो हम क्या पाते हैं अपनेमें करना? इच्छा पाते हैं और अपने आत्मामें प्रदेश परिस्पंद करते हैं, इसके सिवाय और क्या कर रहे हैं? वस्तु जो जितनी है उतनी वस्तु निरखकर उसके निर्णयकी बात चल रही है। व्यवहारका विषय तो अनेक द्रव्य होते है। निमित्तनैमित्तिक भावसे देखकर यह उपचार करना कि इस पदार्थमें दूसरेने यों कर दिया है यह व्यवहारकी बात है। वस्तु में उस ही में स्वयंमें होने वाली बात नहीं कही गई है। तो हम जब केवल अपनेको इस अशुद्ध हालतमें निरखते हैं कि मैं करता क्या हूं तो वहाँ जानना, इच्छा करना और योग परिस्पंद करना, हिलना डुलना, हलन चलन होना——इन तीन बातोंको करते हैं। तो जब यह निर्णय हो जायगा कि यह मैं दुनियासे निराला, देहसे भी निराला ज्ञानमात्र आत्मा इस संसारमें रहकर भी क्या कर रहा हूं? विकल्प करता हूं और अपने प्रदेशोंमें हलन चलन करता हूं। दो बातोंके सिवाय मैं और कुछ कर ही नहीं रहा।

८७६. सत्यसे चिगनेपर विकल्पोंके क्लेश——देखिये——सत्य यह आत्मागत है इस समय जो पाया जा रहा है इसकी श्रद्धा हो जाय, आस्थापूर्वक प्रतीति हो जाय तो अनेक क्लेश समाप्त हो जायेंगे। क्लेश क्या लगा रखे हैं जीवने? परपदार्थोंके सम्बंधमें कुछ करने की हठ, बस यही परिणाम क्लेशरूप है। इस जीवपर और कुछ क्लेश नहीं आ रहा, कोई इसे पीट सकता नहीं, इस मुझ अमूर्त जीवको कोई बाँध सकता नहीं, पकड़ सकता नहीं,

प्रतीति जगे तो समझ लीजिये कि अब धन्य है क्षरण, अब मैं कृतार्थ हुआ। सन्तोष तब आता है कि जो करने योग्य काम है सो अब मैंने कर लिया। अब मैं संसारसे पार हो जाऊँगा, जन्म मरणके दुःखसे छूट जाऊँगा। अब मुझमें आकुलताओंका निवास नहीं रहेगा। मैंने अपनेको जान लिया। अविकारस्वभावी केवल ज्ञानप्रकाशमात्र मैं हूं।

८७४. कलुष उपयोग और उसके मेटनेका कर्तव्य—ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति तो कल्याणकारी तत्त्व है और यह न हो तो क्या होगा इस जीव पर ? यह कलुष उपयोग। उस कलुषरूपसे ज्ञानमें जो भाव उठता है उसीका नाम है कषायका उदय। वे कषायें नाना प्रकारकी है, पर उनको जातिमें अगर बाँटा जाय तो वे चार जातियोंमें बंट जाती हैं। पहिली जाति की कषाय है वह जिसके होनेपर तत्त्वका श्रद्धान ही नहीं हो सकता। निज अन्तस्तत्वकी दृष्टि ही नहीं हो सकती इसका नाम है अनन्तानुबंधी कषाय। एक जाति है वह कि जिसके होनेपर लेश भी संयम और व्रतका भाव न बने, उस जातिकी कषायका नाम है अप्रत्याख्यानावरण। एक कषाय वह है कि जिसके होनेपर निर्ग्रन्थ, सकल संयम, सर्वसे विरक्त होकर केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्वकी धुन बनाये रखना, यह काम नहीं बन सकता। उस कषायका नाम है प्रत्याख्यानावरणकषाय। एक कषाय वह है कि जिसके उदयमें आत्मा वीतराग जैसा है वैसा प्रकट हो जाय, यह बात नहीं बनती। उसका नाम है संज्वलनकषाय। तो इन सब कषायोंमें होता क्या ? अपना उपयोग कलुषित हुआ, मलिन हुआ। क्रोध किया तो उस मलिन हुए फण्डसे क्या बात आयी ? बेवकूफी मिलती, मायाचारमें क्या बात होती ? यही कलुषता। जहां धर्मकी बात प्रवेश ही नहीं कर सकती। लोभकषायमें होता क्या है ? बेहोशी। अपने आपका होश नहीं आ रहा, तो ये सब कषायें दुःखकारी हैं, इनसे हटनेका उपाय बने और वह उपाय है ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका उपयोग प्रतीति, ऐसा ही निरन्तर चिन्तन करें तो सारे अवगुण हट जाते हैं। तो हमें इस नरभव को पाकर कौनसा कार्य करना चाहिये ? तो कहते हैं कि इस देहसे भी निराला, अकिञ्चन ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि जगे तो यही मात्र एक हम आपका उत्कृष्ट कर्तव्य है।

८७५. अज्ञानोदयके वंशमें मिथ्यात्व असंयम कषाय और योगके उदयकी चर्चा—ज्ञानमात्र इस आत्मतत्त्वमें जब जब भी जो परिणति होगी, क्रिया होगी उस सबकी ज्ञानमें स्वद्मानताका सम्बन्ध है। इसी आधारपर विकारभावोंका भी वर्णन किया जा रहा है कि मिथ्यात्वका उदय क्या है ? तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें स्वद्मान भाव। असंयम क्या है ? विषयोंसे विरक्त न होनेके रूपसे ज्ञानमें स्वदमानभाव। कषाय क्या है कि कलुष उपयोगरूपसे हुआ ज्ञानमें स्वद्मानभाव। अब यहाँ योगकी चर्चा कर रहे हैं कि योग नाम किसका है ? योगका उदय है, अध्यात्मविधिमें कहते हैं कि शुभ और अशुभ प्रवृत्ति और

निरखकर निर्णय लेते रहिये। किसी मनुष्यने यदि निन्दा कर दी दूसरेकी तो उस मनुष्यने किया क्या ? अपनेमें विकल्प किया और अपनेमें हलन-चलन किया। इसके सिवाय निन्दा करने वाले ने और कुछ नहीं किया। लोगोंको ऐसा नजर आता कि देखो वह मनुष्य उसकी निन्दा कर रहा। अरे उसका वह कुछ नहीं कर रहा। जो कुछ कर रहा है वह अपनेमें कर रहा है, और कर रहा विकल्प और योग। मैं भी न तो किसीकी प्रशंसा कर सकता, न निन्दा कर सकता, न किसीको कुछ सहयोग दे सकता, न किसीका कुछ कार्य कर पाता, न परिणमन कर सकता। निश्चयदृष्टिसे बात कही जा रही है। मैं हूँ आत्मा एक ज्ञानात्मक अमूर्त पदार्थ। मेरा जब किसी अन्यसे संसर्ग ही नहीं बनता तब फिर अन्यके करनेकी बात क्या कही जाय ? यह आत्मा विकल्प करता है और अपनेमें हलनचलन करता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर रहा।

८७८. जीवकी विकारावस्थामें अपने विकल्प और योग करनेकी क्षमता--यह आत्मा हाथ भी नहीं हिलाता। देखिये बड़े अन्तः स्वरूपमें प्रवेश करके यह निर्णय किया जा रहा है अन्यथा आंखोंसे देखनेपर तो यह लग रहा है कि क्या कहा जा रहा है कि आत्मा हाथ भी नहीं हिलाता। लो इस ओरसे उठाकर इस ओर हाथ कर दिया। कर तो दिया, ठीक है, यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंधमें घटी हुई घटना है। ऐसा होता है लेकिन जीव कितने हैं, किसे कहते हैं उसपर ही उपयोग करके निर्णय करिये आत्मा क्या है, जरा भीतर खोजकर बताओ ? यह है ज्ञानरूप, ज्ञानस्वरूप। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। रूप, रस, गंध, स्पर्श होते तो यह जाननेका काम कर नहीं कर सकता। यह आत्मा जाननहार है, जाननका कार्य कर रहा है, ज्ञानस्वरूप है और साथ ही जब यह सत् है तो अपने आपके प्रदेशोंमें है। है ना कुछ ? कितना ही हो, है तो इसमें प्रदेश भी है। तो ऐसा ज्ञानरूप स्व-प्रदेशस्थ यह मैं आत्मा किसी पदार्थको पकड़ नहीं सकता, किसी पदार्थसे पकड़ा नहीं जा सकता। भैया ! भले ही आज निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि शरीरसे जकड़े हुए प्रतीत होते हैं, इस शरीरको छोड़कर यह आत्मा कहाँ जाय ? इतनेपर भी यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। कहीं दो रस्सियोंके ओर छोरसे बंधी हुई गाँठकी तरह आत्मा और शरीरका बन्धन नहीं है। मैं आत्मा हूं ज्ञानस्वरूप तो यह मैं अन्य क्या कर सकता हूं ? ज्ञानकी धारा बहाता हूँ, विधारा बहाता हूं तो विपरिणमनके सम्बंधमें विकल्प करता हूं। यों कर दूं, यों बोल दूं, यों समझा दूं, कितनी ही बातें तो शब्दात्मक भी नहीं बन पातीं और इच्छा चलती रहती है। व्याख्यान करनेके प्रसंगमें व्याख्याता जो अपने हाथ हिलाता है तो क्या उन समस्त क्रियावोंके करते समय वह व्यक्ति व्यक्त अभिप्राय बनाया करता है कि मैं इस हाथका ऐसा इशारा करूं और समझाऊँ ? नहीं कर पाता है वह व्यक्त अभिप्राय, फिर भी शीघ्र शीघ्र

इस पर किसी तरहका प्रहार कोई कर सकता नहीं, इसमें क्लेश यह है कि परपदार्थोंकी ओर दृष्टि की, ममताका परिणाम किया, विकल्प बनाया और परपदार्थमें कुछ करनेका हठ किया, सिवाय इन बातोंके कोई कष्ट हम आप किसीपर भी हो तो निरख लो। अब ये विकल्पोंके प्रकार हैं न्यारे न्यारे। कोई विद्वान होता है तो वह अपने विकल्प अन्य ढंगके करता, कोई धनिक होता है तो उसके विकल्प जरा लम्बे चौड़े होते हैं। कोई गरीब होता है तो उसके विकल्प कम लम्बे चौड़े होते हैं, पर अज्ञानभावमें सबको निरन्तर विकल्प सताते हैं। और दूसरा कोई नहीं सता रहा है। मान लीजिये—एक लोकेषणा भाव रखते हैं—लोग मुझे कुछ समझें इस प्रकारकी इच्छाका नाम है लोकेषणा। सो सोचिये—३४३ घनराजू प्रमाण अर्थात् असंख्याते योजनों कोशों प्रमाण इस सारी दुनियाके बीच एक छोटी सी जगहमें हम आप आये हैं और कुछ परिचित बने हैं—वह जगह कितनी सी है? जैसे कि बड़े लम्बे चौड़े समुद्रके सामने एक बूंद जितनी जगह घेरती है उतना है यह स्थान, इस सारी दुनियाके सामने जितनेमें हम आपका परिचय ज्ञान विचार दौड़ता है। इस भ्रमभरी अपरिचित दुनियामें यदि कोई मुझे न जाने तो उससे मेरा बिगाड़ क्या? अथवा कोई जान जाय, कोई कौन? ये ही संसारी प्राणी खुद जन्म मरणका संकट सहने वाले कुछ जान जायें तो इसमें कौनसा गढ़ जीत लिया? काल अनन्तानन्त है? कितना काल और आगे पड़ा हुआ है जिसका अन्त ही नहीं। अनन्तानन्त काल है, और हमें भी अनन्तानन्त काल तक रहना पड़ेगा। क्योंकि सत् हूँ। जो भी सत् होता है, जो भी पदार्थ होता है वह कभी नष्ट हो ही नहीं सकता। तो जब मैं भी अनन्तकाल तक रहूंगा तो इन कुछ दिनोंके जीवनमें और भूलभरी जगहमें यदि कुछ बात मायामयी न बन सकी, लोगोंका परिचय आदिक बात यदि न बन सकी तो इस जीवने किया क्या? बल्कि जिनको विवेक जगा ऐसे बड़े-बड़े पुरुषोंने सर्व कुछ त्यागकर अपनेको अपने उस ही अनुभवनमें लगा दिया जिसके फलमें उन्होंने शाश्वत शान्ति प्राप्त की। छोड़ा सब विकल्प। परिचय अपरिचय, यश, कीर्ति ये सब मिथ्याभाव हैं, इनसे भी हटें और परमार्थभूत ज्ञानमात्र जिससे किसी अन्यका सम्बंध नहीं, न जिस रूपमें कोई दूसरा मुझे पहिचानता उस ज्ञानमात्र भावमें वे योगीश्वर लगे हैं। जब यह निर्णय करते हैं इस प्रसंगमें कि विकल्प और अपनेमें हलन चलन होना—इन दो बातोंके सिवाय न मैं कुछ कर सकता था, न मैं कुछ कर रहा हूं और न मैं कुछ कर सकूंगा तो अनेक क्लेश उसी समय समाप्त हो जाते हैं।

८७७. **धर्मपालनके लिये आत्मभावकी जानकारीकी प्रथम आवश्यकता**—धर्मपालनके प्रसंगमें और अधिक कुछ न बन सके तो इतना तो कर ही लीजिये कि हम अपना निर्णय कर लें कि मैं करता क्या हूँ? वस्तु जितने हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे उतने

णमन और अपना परिणमन मिला करके एक परिणमन किया हो ऐसी बात नहीं है। इससे अपनी बहुत सी समस्यायें हल हो जाती है।

८८०. **विह्वलताका कारण परदृष्टिका प्रसंग**—जिस किसी भी प्रसंगमें जब हम विह्वल होते हैं तो सोचना चाहिये कि यहाँ किसी परने मेरेमें क्या किया ? मैं ही स्वयं मेरा ख्याल कर करके अपने आपमें विकल्प बनाता हूं और क्लेश पाता हूं, दूसरेमें कुछ नहीं किया मैंने, लेकिन जब यह संसार कर्तृत्व बुद्धि वाला है तो ऐसी संगतिमें रहता हुआ ज्ञानी पुरुष एक कठिनाई तो अनुभव करता है, यद्यपि उसका पूर्ण यत्न है कि मैं मिथ्याभावोंसे हटकर इस ज्ञानभावमें आऊँ, किन्तु इस संगमें रहकर कुछ कठिनाई भी महसूस करते हैं लोग तो प्रकट कहा करते कि कैसे नहीं लोग मुझे जानते ? मुझको हजारों लोग पहिचानते हैं। देखो अमुकने निन्दा की है तो ये हजारों लोग क्या समझते होंगे कि यह इतना खराब है। किन्तु यह देखो कि तुम अपने आपमें सच्चे हो या नहीं ? वस्तुस्वरूपका यथार्थ श्रद्धान कर रहे हो या नहीं सच्चाईके साथ धर्मपालनके लिए। और चूँकि परिजनमें हैं, समाज में हैं, लोकमें हैं तो उस हितके लिए भी ईमानदारीसे हमारी परिणति चल रही है ना ? तब दुनिया कुछ भी कहो, फल किसका होगा ? दुनियाके कहनेका फल होगा या मेरे भीतरी परिणमनका ? यदि मैं अपने आपके भीतरमें शुद्ध नहीं हूं, सच्चा नहीं हूं, मिथ्यात्वमें लगा, असंयममें लगा, पापोंमें लगा, और कुछ विधियाँ बनाकर लोगोंको हम अपना कलंक न जानने दें और उनकी दृष्टिमें हम बहुत अच्छे कहलायें तो आप यह बतलावो कि हमको फल दूसरों की प्रशंसाका मिलेगा या अपनेमें जो परिणाम बनाया है उसका फल मिलेगा ? जब तक अपनेको यों न निरख लेंगे आप कि मुझे कोई जानता ही नहीं है, मैं तो दुनियासे अपरिचित हूं, ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, और मेरे ही परिणमनके आधारपर मेरा भविष्य निर्भर है तो यह सब शान्तिका मार्ग मिल जायगा और कुहठ करनेमें शान्तिका मार्ग नहीं मिलता।

८८१. **दुनियाका मायामय सम्पर्क**—दुनियाका यह परस्परका सम्बन्ध तो ऐसा है कि जैसे कवि लोग कहते हैं कि ऊँटोंके विवाहमें बहुतसे जानवर आये। गधे भी आये। तो वहांपर गधे लोग ऊँटकी प्रशंसा करते हैं और ऊँट गधोंकी प्रशंसा करते हैं। गधे कहते अहो कैसा सुन्दर तुम्हारा रूप है। ऊँटोंमें कोई सुन्दरता तो नहीं होती, उनके शरीरके अंग टेढ़े मेढ़े होते हैं, पर गधे लोग ऊँटोंके रूपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे। और ऊँट भी कहते अहो कैसी तुम्हारी सुरीली आवाज है। गधोंका स्वर सुहावना तो नहीं होता, और पशु पक्षियोंकी अपेक्षा सबसे गया बीता गधोंका बोल असुहावना लगता है, मगर ऊँट लोग गधोंके स्वरकी बड़ी प्रशंसा कर रहे। तो दोनों ही एक दूसरेकी प्रशंसा करके खुश हो रहे। तो यह जगत ऐसा ही है। यहाँ एक मोही दूसरे मोहीकी प्रशंसा करता है, और वे अपनी

अव्यवत रूपमें वे सब आशय चलते ही रहते हैं। तो यह मैं आत्मा विकल्प करता हूं औ अपने अपने प्रदेशोंमें हलनचलन करता हूं। इसके सिवाय कुछ नहीं करता, किन्तु इन द का निमित्त पाकर इस शरीरमें जो कि एक क्षेत्रावगाह है इसमें वायुका संचार हुआ। वा से फिर ये अंग चले। अंग चले तो संकेत हुआ, वचन निकले। तो इन वचनोंमें या संके की परिणतिमें निमित्त तो जीव भाव पड़ा परम्परया, जीवने हाथको चलाया, वचनोंसे बोल ऐसा सम्बंध न करना क्योंकि जीव तो अभी देखो ना ज्ञानस्वरूप है और अपने प्रदेशों लिए हुए है। अब इतनाभर स्वरूप निहारकर निर्णय करिये कि मैं क्या करता हूं, मैंने क्य किया और मैं क्या कर सकूंगा, रंच मात्र भी अणुसे मेरा सम्बंध नहीं। मैं सबसे निराल ज्ञानस्वरूप हूं। यह मैं इस विकारपरिणतिके समय विकल्प कर रहा और योग कर रहा उसमेंसे विकल्पोंका वर्णन किया जा चुका, अब योगोदयका वर्णन चल रहा है।

८७९. योगमें शुभ शुभ प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार—योग होता है मन, वचन, कायक चेष्टाके निमित्तसे। जीवने इच्छा की और इच्छाके फलमें इसका हलनचलन होगा। परि स्पंद होना अनिवार्य हो गया, क्योंकि योग परिस्पंद किस सहारेसे हो पाता है। इन मन वचन, कायकी क्रियावोंके निमित्तसे। मनसे चिन्तन करना, शुभ चिन्तन किया, कुछ भ विकल्प किया, उसका आश्रय पाकर यह योग परिस्पंद व्यक्त हुआ है। वचन बोले। कै ही वचन बोले गए हों—सत्य हों, असत्य हों, उभय हों, अनुभय हों, उन वचन योगोंव निमित्त पाकर आत्माके योगमें हलनचलनमें व्यक्तता आयी। शरीरसे कुछ भी चेष्टा क अशुभसे हट गए शुभमें लग गए, शुभसे हट गए अशुभमें लग गए। यों प्रवृत्ति अथवा निवृ रूप जो भी व्यापार हुआ उसका आश्रय करके जीवके योगका, प्रदेशपरिस्पंदका यह आवि र्भाव हुआ। तो यों प्रवृत्ति और निवृत्तिके रूपसे ज्ञानमें खदमान योग्यतायें हुआ करती हैं तो अब देखिये—उपादान दृष्टिसे पौद्गलिक कर्मोंमें कर्मत्व आनेका हेतुभूत है वही पौद्गलि भाव। कर्मके लिए कर्मवर्गणा उपादान है। और जब वह अपने हेतुभूत इन मिथ्यात्वादि पौद्गलिकोंको पाता है तो वे पुद्गल कर्म कर्मकृत हो जाते हैं। निमित्त दृष्टिसे जब जीव मिथ्यात्व, जीवअविरति, जीवकषाय और जीवप्रदेश परिस्पंदका निमित्त पाकर कार्माणवर्ग णायें अकर्मत्वरूप अवस्थाको छोड़कर कर्मत्व अवस्थामें आती हैं तो यह परिणमन जो कम का हुआ है क्या दूसरेके परिणमनको लपेटकर एक परिणमन बना है? उसमें वह स्व परिणमन हुआ? इसी प्रकार जब जीव स्वयं अज्ञानभावसे पर और आत्मतत्त्वमें एकत्व अभ्यास करनेसे जब मिथ्यात्वरूप परिणमा, कषायरूप परिणमा, असंयमरूप बना तो उ समय उन परिणामोंका उपादान रूपमें हेतु यही जीव रहा। दो द्रव्योंके परस्पर निमित्तनैमि त्तिक भावके प्रकरणमें भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनसे परिणमा। दूसरेका प

८८३. पुद्गलकर्मके साथ जीवके विकारपरिणमनके अभावका विवरण—इस संसार अवस्थामें यह जीव पुद्गल कर्मके साथ बना हुआ है फिर भी ये पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, भिन्न लक्षण वाले द्रव्य हैं और उनका परिणमन उनमें होता है। तो यों जीवमें जो कुछ होता है वह पुद्गल द्रव्यसे अलग है, परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, किन्तु हैं वे दो द्रव्य इस कारण परिणमन अलग-अलग है और उनका परस्परमें कर्ता कर्मभाव नहीं है। यदि जीवका रागादिक अज्ञान परिणमन उसके निमित्तभूत उदयागत पुद्गल कर्मके साथ होने लगे तो इसका अर्थ यह है कि जीव और पुद्गलकर्म इन दोनोंमें रागादिक अज्ञान परिणाम आने चाहियें। जैसे कि लोकमें चूना और हल्दी दोनों एक साथ मिला दिये जायें तो लाल रंग रूप परिणमता है, सो दोनोंका लाल रंग हो जाता है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो दोनों का लाल परिणमन होनेपर भी अलग-अलग लाल परिणमन है। चूनाके प्रदेशमें लाल परिणामन अलग है, हल्दीके प्रदेशमें लाल परिणमन जुदा है लेकिन हुआ तो लाल परिणमन। तो जैसे उन दो के मेलमें एक मेल परिणमन हो जाता है, इसी प्रकार जीव और पुदगलकर्म इन दोनोंमें यदि साथ ही साथ रागादिक अज्ञान परिणमन हुआ तो दोनोंमें राग उठे। जैसे जीवमें रागभाव उठता है उसी तरह कर्म भी राग करने लगे, पर स्नेहका कार्य, रागका कार्य जीव ही कर पाता है, कर्म नहीं कर रहा। तो जब एक ही जीवमें रागादिक अज्ञान परिणमन हुए तो इससे यह सिद्ध हुआ ना कि पुद्गल कर्मसे कर्मविपाकसे पृथक्भूत है जीव का परिणमन। जीवका परिणाम जीवमें है, पुद्गलका परिणाम पुद्गलमें है। धर्मचर्चाके रूपमें यह बात हम जीव और कर्ममें ज्यादा समझते हैं लेकिन हमें यहां भी तो समझना है जिसमें हम लगे रहते हैं। मेरा परिणमन मुझमें है, शरीरका परिणमन शरीरमें है, चिद्रूप मुझ अंतस्तत्त्वका परिणमन मुझमें है। इसी प्रकार जिनमें हमारा सम्पर्क रहता है उनसे भी अतिरिक्त हमें इस तरह जुदा-जुदा पहिचानना चाहिए। तो ऐसे जुदे परिणमन पहिचानने का प्रभाव क्या होता है ? मोहका विनाश।

८८४. मोहविनाशके उपायमें मौलिक सम्यक् ज्ञान—भैया ! किसी भी प्रकार मोह का विनाश हो जाय और ज्ञानानन्दस्वरूप निजतत्त्वका दर्शन हो जाय, यह बहुत बड़े लाभ की बात है। जब जीवको अपनी सुध होती है कि मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं तब उसके संकट संक्लेश अंधकार सब दूर हो जाते है। लोग सुख शान्तिके लिए नाना प्रयत्न करते हैं, रोजगार, सेवा, भागदौड़ आदिके, किन्तु एक यह प्रयत्न कभी नहीं किया कि मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूं। ज्ञान और आनन्द इसके अतिरिक्त मुझमें और कुछ नहीं पड़ा है, और यही सारभूत है, तो मुझमें सार ही सार पूरा घन रूपसे पड़ा हुआ है, मैं कृतार्थ हूं। जब ही जीवको ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्वकी सुध होती है तब ही यह जीव कृतार्थ हो

प्रशंसा सुनकर बड़े खुश होते हैं। पर इस झूठी प्रशंसासे आत्मामें कुछ भी उत्कर्ष नहीं होता। मैं ही स्वयं अपनेको जानकर अपने सम्यग्ज्ञान और चारित्रमें रहूं तो यहाँ मेरी रक्षा है और मैं अपने रत्नत्रयका कार्य न कर सका तो यहाँ मेरी कुछ भी रक्षा नहीं है। बड़ा खेद करना पड़ेगा। मरणके बाद जैसा बंध किया उसमें तुरन्त जाना होगा।

८८२. दुर्लभ श्रेष्ठ भवमें अपनी उपयोगिताकी दृष्टि—अब सोच लीजिए कि हमने कितनी-कितनी पर्यायोंको लाँघकर व्यतीत करके आज इस नरदेहमें आये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पेड़ पौधे भी तो हम थे। उन भवोंमें जीवपर क्या बीतती है? न कुछ जैसी बात लगती है कि क्या है? कीड़ामकोड़ा पतिंगे हुए वहाँ भी कौनसी उन्नति पायी? कीड़ा मकोड़ों को छिपकलियां खा जातीं, छिपकलियोंको और जीव खा जाते हैं। उन अवस्थाओंमें सारा जीवन यों ही चलता रहता है। वहाँ ज्ञानकी बात कुछ नहीं हो पाती। उन अवस्थाओंसे हटकर पशु पक्षियोंकी पर्यायमें आये, वहां भी कुछ समझ तो पायी, फिर भी कुछ नहीं पाया। एक दूसरेकी बात समझ नहीं सकते, अपनी बात दूसरेको समझा नहीं सकते, पर इस नरभवमें तो देखो—ज्ञानकी बात कर सकते हैं, सम्यग्ज्ञान बना सकते हैं, तत्वका मर्म पा सकते हैं, बड़ी चर्चायें कर सकते हैं। तो ऐसे पवित्र भवमें आये। शरीर तो अपवित्र है लेकिन पवित्र भव यों कह रहे हैं कि अन्य भवोंकी अपेक्षा इस भवमें कुछ विशिष्टता है। हम रत्नत्रयकी सिद्धिकी यहां कुछ योजना बना सकते हैं। तो ऐसे विशिष्ट भवको पाकर हम ज्ञानकी ओरसे अब भी प्रमादी रहे, धर्मपालनमें अपना चित्त न दें तो इसको हम कितनी बड़ी भारी भूल कह सकते हैं? हितके प्रसंगमें यहां वोटोंसे काम न चलेगा। दुनियाके लोग इस ख्यालके अधिक हैं, ऐसा जानकर हितके निर्णयकी बात ना बन सकेगी। क्योंकि दुनिया ही इसका नाम है। मोह मिथ्यात्वसे भरे हुए मनुष्योंका नाम दुनिया है। जीवोंका समूह ही लोक है। यहां तो अपने आपके सम्बन्धमें गुप्त रहकर, अपनेको अपरिचित मानकर वस्तुस्वरूपका निर्णय करके अपने हितकी बात सोचना है। मेरा हित मेरे ज्ञानमें है और ज्ञानमात्र अपनेको जानकर ऐसा ही उपयोग बनाये रहनेमें है। इस ही की पुष्टिके लिए यहां वस्तुके स्वातंत्र्यका वर्णन चल रहा है कि प्रत्येक पदार्थ अपनेमें परिपूर्ण सत् है। अतएव सबका अपनेमें अपने उत्पादव्यय स्वभावसे परिणमन चल रहा। कोई किसीके परिणमनको किया नहीं करता।

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एक्कस्स दु परिणामा जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

जैसे यहाँ कहा जा है कि पुद्गलद्रव्यसे पृथक्भूत है जीवका विकार परिणमन, तो तकिये ना हर जगह . इस घरसे निराला है मेरा परिणमन। इस परिवारसे जुदा है मेरा परिणमन, इस देहसे निराला है मेरा परिणमन। जो हमारे विकारके आश्रयभूत होते हैं उनमें भी तो घटाना चाहिए। पुद्गल कर्मको तो हम जानते भी नहीं, जिस तरह शरीरको, धनको, घर को जान रहे हैं। उस ढंगसे हम कर्मोंको नहीं जान पाते, युक्तिसे समझ रहे हैं, आगमसे समझ रहे हैं तो जो युक्ति और आगमसे समझे जा रहे हैं उनमें तो हम बनायें भेदविज्ञान की चर्चा और जिनमें हम रहा करते हैं उनमें हम न रखें भेदविज्ञानकी खबर तो उस बालककी तरह पढ़ाई समझिये जैसे किसी स्कूलमें इन्स्पेक्टर आना था विद्यार्थियोंकी परीक्षा लेनेके लिए तो वहाँ बच्चोंने खूब रट लिया कि अमेरिका पूछेगा तो यों बतायेंगे, जर्मन जापान आदि पूछेगा तो यों बतायेंगे, अन्य भी देश, नदी, पहाड़ आदिकी खूब जानकारी करके अपनी अच्छी तैयारी कर ली। जब इन्स्पेक्टर आया तो वह यह पूछता है कि बेटे तुम्हारे गाँवके पाससे जो नाला निकलता है वह किस जगहसे निकला है? तो वह बालक उसका उत्तर न दे सका, क्योंकि उसे पढ़ा ही न था। तो यों ही इन नक्शोंके आधारपर कर्मोदयमें जो रागादिक अज्ञान परिणाममें भेदविज्ञानकी बात बताये वह भी ठीक है, वह तो मौलिक न्याय है लेकिन कर्तव्य तो यह है कि हम जिस सम्पर्कमें रहते हैं उस सम्पर्कसे भी पृथक्भूत मेरा परिणमन है, यह भेदविज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान अखण्ड स्वतंत्र वस्तुके स्वरूपके ज्ञानसे होगा। तब शान्तिके लिए इस अन्तस्तत्त्वका ध्यान करना आवश्यक हुआ।

८८६. अन्तस्तत्त्वकी सुध— मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। मुझमें भरा ही क्या है और? ज्ञान और आनन्द। ज्ञानका स्वरूप क्या? जानन। उस प्रयोगमें रहें। आनन्दका स्वरूप क्या? निराकुलता। परम सहज आल्हाद परिणमन, आनन्द परिणमन। अभावरूप परिणमन नहीं है कि भाई दुःख नहीं है इसीके मायने आनन्द है। आकुलता नहीं रही इसके मायने आनन्द है। केवल अभाव मात्र नहीं है कि आकुलताका अभाव सो आनन्द, किन्तु आनन्दगुण, ज्ञानगुणकी तरह अपना विकास लिए हुए है और षड्गुणहानिवृद्धि रूपसे परिणमनशील जिसका शुद्ध विकास अलौकिक आल्हादरूप है। तो मैं हूं ज्ञानानन्दस्वरूप, अन्य मेरा कोई स्वरूप नहीं है, कोई दूसरा तत्त्व मुझमें नहीं है। ज्ञानस्वरूप हूं और आनन्दस्वरूप हूं, यह सुध जब होती है तब बहुतसे संक्लेश, बहुतसे संताप टल जाया करते हैं। तो यहाँ विकट सम्बंध है जीव और पुद्गल कर्मका। जिस सम्पर्कके कारण यह संसारकी सारी गाड़ी चल रही है। जो कुछ दिखने वाला परिवर्तन है उसका भी मूल इस जीव और पुद्गल कर्म का सम्पर्क है। चारों गतियोंमें हम नाना विढंगेरूप रखा करते हैं, यह भी जीव और कर्मके

जाता है। तो यों इस प्रसंगमें यह देखा जा रहा है कि पुद्गल द्रव्यसे न्यारा ही है जीवका परिणमन। जैसे दर्पणके सामने हाथ किया तो दर्पणमें हाथका प्रतिबिम्ब आया। अब यह बतलावो कि दर्पणमें जो हस्त प्रतिबिम्ब हुआ वह इस शरीरके हाथसे न्यारा है या नहीं ? निमित्तनैमित्तिक सम्बंध तो जरूर है। जैसे ही हाथ हिलाया, छाया भी हिली, हाथ हटाया तो दर्पणकी छाया भी हट गई। हाथ सामने आया तो झट दर्पणमें छाया प्रतिविम्बित हो गयी, इतना अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है हाथका और दर्पणमें पड़े हुए हस्त प्रतिबिम्बका। अब आप ही यह बतलावो कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया है वह हाथसे न्यारा है या नहीं ? न्यारा है। वहाँ दो द्रव्यके परिणमन हैं। शरीरके हाथका परिणमन शरीरके हाथमें है और दर्पणके हस्त प्रतिबिम्बका परिणमन दर्पणमें है तो निमित्तके साथ उस उपादानका कार्यका ऐसा घनिष्ठ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है तिसपर भी दर्पणका छाया प्रतिबिम्ब परिणमन निराला है हाथसे। इसी प्रकार जीवमें कर्मोदय होनेपर रागादिक अज्ञान परिणाम हो रहे हैं और कर्मोदयसे रागादिक अज्ञान परिणामोंका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध भी है। न हो कर्मोदय तो रागादिक नहीं दिखते, कर्मोदय हो तो अनुकूल रागादिक दिखते हैं, ऐसा अन्वयव्यतिरेक सम्बंध होनेपर भी, निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी जीवमें जो रागादिक भाव उठे सो वे अप्रत्याख्यानावरणीय प्रत्याख्यानावरणीय आदिक जो प्रकृतियाँ हैं उनके परिणमनसे निराला है कि नहीं ? निराला है। मनुष्य खड़ा है धूपमें और उसकी छाया पड़ रही जमीन पर, तो जमीनपर जो छाया पड़ रही है वह मनुष्य देहके निमित्तसे हो रही है। हट जाय मनुष्य वहाँसे तो छाया भी हट गयी और आ जाय मनुष्य तो वहाँपर छाया भी आ गई, इतना अन्वयव्यतिरेक तिसपर भी यह तो बतलावो कि जमीनपर जो छाया प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह परिणमन उस परिणमनसे निराला है या नहीं ? निराला है। इसी प्रकार यहाँ भी बात चल रही है कि कर्मोदयसे पुद्गल द्रव्यसे यह जीवका रागादिक अज्ञान परिणाम पृथक्भूत है।

८८५. भेदविज्ञानके द्वारा अन्तस्तत्त्वकी सुध लेनेका उद्यमन—यदि जीवका रागादिकभाव पुद्गल कर्मके साथ मिलकर होने लगे तो इसका अर्थ यह बनेगा कि जैसे चूना और हल्दी मिल करके सबका लाल रंग परिणमन हो जाता, इसी प्रकार जीव और कर्म दोनोंसे मिलकर रागरूप परिणमन हो जाना चाहिये। तब जैसे राग जीव करता है उसी प्रकार कर्ममें भी रागांश उठ जाना चाहिये, सो होता नहीं। अकेले ही जीवमें रागादिक अज्ञान परिणमन देखे गए हैं, इससे सिद्ध है कि जीवका रागादिक परिणमन उसके हेतुभूत, निमित्तभूत, पुद्गल कर्मविपाकसे आया है। यह चर्चा हम बहुत अन्दर की कर रहे हैं, पर ऐसी हालत न बनाना चाहिए कि अन्दरकी तो करते रहें और बाहरकी चर्चा ही न करें।

चूना भी लाल हुआ, हल्दी भी लाल हुई उस सम्बन्धमें, फिर भी हल्दीके प्रदेशोंमें हल्दी लाल हुई, चूनाके प्रदेशोंमें चूना लाल हुआ, पर ललाईकी दृष्टिसे कह रहे कि जैसे उन दोनोंमें लालिमादिक परिणमन बन गया इसी तरह कर्मका परिणमन जीवके साथ होता तो जीव का भी कर्म परिणमन बन जाता पुद्गलका जैसे बना हुआ है, लेकिन ऐसा तो नहीं है। पुद्गल द्रव्यमें एक ही में कर्मपर्याय हुई है। हाँ वह कर्मपर्याय रागादिक विकारमय जीवके अज्ञान परिणमनके निमित्तसे हुआ है। देखो हम आपका रक्षक भेदविज्ञान और अभेद स्वभावका ध्यान है। दो के सिवाय और कुछ हो तो उसपर विचार करिये। हमारी रक्षा करने वाला, हमें शान्ति प्रदान करने वाला कोई दूसरा परिणमन हो तो निर्णय करिये। तो जब निराले परिणमन हैं तो निराली वस्तु मान लो। घरमें भाई लड़के, स्त्री आदिक कोई बात नहीं मानते तो कैसा जल्दी ज्ञान कर लेते हैं कि सभी जीव मेरे से न्यारे हैं, किसी से मेरा क्या सम्बन्ध और बहुतसे लोग कभी कभी कह भी बैठते हैं कि कोई मेरा कुछ नहीं है, सब जुदे-जुदे हैं, लेकिन वह उनकी रोषभरी आवाज है, ज्ञानभरी आवाज नहीं है। ज्ञानसे कह तो रहे हैं ज्ञानकी बात, मगर स्वरूप चतुष्टय सबका न्यारा न्यारा है, ऐसा ज्ञान करके जो प्रशम गुण आता है उस प्रशमके साथकी आवाज नहीं है। ये परिकर न्यारे हैं मैं इनसे न्यारा हूं। जब तक अपने सम्बन्धमें अपने स्वरूपका यथार्थ बोध न होगा तब तक जीवन निष्फल है। जीवनमें यदि लौकिक विद्या कलामें महान् हुए, धनमें महान् हुये, वक्तृत्व कलामें महान हुए तो उससे इस जीवको शान्तिके लिए क्या ? मोक्षमार्ग तो न बनेगा और एक अपने स्वरूपका बोध हो जाय, मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ज्ञानरूप हूँ, आनन्द हूं आदिका अनुभव हो जाय तो फिर उसे संक्लेश नहीं रहता, विशुद्धि बढ़ती है, आत्मसंतोष होता है।

८८८. ज्ञानीका चिन्तन और करतब—भैया ! हमारा कर्तव्य है कि अपने स्वरूपके पोषणके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर करके भी ध्रुवतत्वका दर्शन होना चाहिए। परके अनुभवनके लिए तो इस जीवने अनादिसे ही सारे ओटपाय रचे, किन्तु 'यह मैं हूं' ऐसा श्रद्धान करनेमें अपनेको धैर्यपूर्वक समझनेमें जो शान्ति होती है उस शान्तिका उपाय कोई दूसरा नहीं है। कर्तव्य है, सब कुछ करना होता है करिये—पर यह तो बताओ कि अपने आत्मस्वरूपकी सुध करनेका कर्तव्य नहीं है क्या गृहस्थीमें ? अरे इन दो चार सेकेण्डकी निज झलकके प्रसादसे सारा दिन रात अच्छा व्यतीत होता है, आनन्दमय व्यतीत होता है। भोजन करनेसे भी अधिक करणीयता इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्वके चिन्तन में है। बड़े-बड़े लोगोंकी फुरसत देखकर किसी परोपकारमें लगे हैं तो १०–१२ दिन तक लगे हुए हैं, परकी कोई चिन्ता नहीं रख रहे, कोई धर्मध्यानका प्रसंग छिड़ा, विधान छिड़ा

सम्पर्कका फल है। तो ऐसा जीव और कर्ममें निमित्तनैमित्तिक गहरा सम्बंध है तिसपर भी जीवका परिणमन जीवमें है, पुद्गलकर्मका परिणमन पुद्गलकर्ममें है। जैसे कोई अध्यापक शिष्योंको पढ़ा रहा है तो उनका परस्परका आकर्षण दिख रहा है किन्तु गुरुका परिणमन गुरुमें है, शिष्यका परिणमन शिष्यमें है। इसी तरह हम अपने घर परिवारके प्रसंगमें भी करते हैं। किसीने कोई प्रवृत्ति की, हमें प्रतिकूल दिखा अथवा अनुकूल जंचा। सब हालतोंमें यह निरखिये कि इन परिकरोंका परिणमन इन ही में स्वयं है। मेरा परिणमन मेरेमें स्वयं है; मैं हूं ज्ञानानन्दस्वरूप। प्रभुदर्शन करें तो प्रभुदर्शन करते ही अन्दरमें आवाज उठे-ओह! यह है ज्ञानानन्दस्वरूप, मैं हूँ ज्ञानानन्दस्वरूप। बस इस दो चार सेकेण्डके समयमें ही सारा फल पा लिया। जब अपने स्वरूपकी खबर हुई तो खुद अनुभव करेंगे कि अब पाया मैंने प्रभुदर्शनका फल। प्रभुका दर्शन इसीलिए किया जाता है कि प्रभुके विशुद्ध स्वरूपकी सुध हो जाय और अपने विशुद्ध अन्तस्तत्त्वकी सुध हो जाय, दर्शनका फल यही है। तो यह ज्ञानानन्द मात्र मैं आत्मा अपनेमें रहता हूँ, पुद्गलकर्म सब अपनेमें रहते हैं। ऐसा ज्ञान करने वाले जीवको पुद्गल कर्मोदय निमित्तसे हुये रागादिक विकारोंमें ममता नहीं रहती। इस सम्बंधमें कितनी बातें जानी? जाना कि परिणाममें कर्मोदय निमित्त है। कर्मोंके बन्धमें जीव परिणाम निमित्त है, जीवकी भाव निर्जरामें योग्य कर्मस्थान निमित्त है। कर्मकी निर्जरामें जीवके परिणाम हैं निमित्त हैं, ऐसा तो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध जंच रहा तो सभी परिणमनोंमें इसे सोच सकेंगे। दूसरी बात यह हुई कि जीवमें जो परिणमन हुआ है उसका हेतु जीव ही है निश्चयसे, अन्य नहीं। यों वस्तुकी स्वतंत्रताकी सुध हो तो मोहभाव हटता है। अब यहाँ बतला रहे हैं कि पुद्गल द्रव्यका परिणमन जीवसे पृथक्भूत है। इसके पहिले कथनमें बताया था कि जीवका रागादिक अज्ञान परिणमन पुद्गलद्रव्यसे पृथक्भूत है। यहाँ बतला रहे कि पुद्गलका परिणमन जीवसे न्यारा है।

जह जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एक्कस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्सपरिणामो ॥१४०॥

८८७. जीवके साथ पुद्गलकर्मके कर्मपरिणमनके अभावका विवरण——जैसे जीवके परिणाम उसके निमित्तभूत पुद्गलकर्मसे न्यारे हैं इसी प्रकार ये पुद्गल द्रव्यके परिणमन उसके निमित्तभूत रागादिक अज्ञान परिणामसे निराले हैं। तो जीवके साथ ही पुद्गलका परिणमन हो तो पुद्गलका और जीवका कर्मपरिणाम हो जाना चाहिये। जैसे चूना और हल्दीका सम्बन्ध होनेपर सबका लाल परिणमन होगा। वस्तुतः तो वहाँ भी भेद है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, किन्तु है सर्वत्र निराला परिणमन। ऐसा विविक्त अपने आपके स्वरूपको निहारनेसे फिर क्लेश नहीं सताते।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

८६०. जीवका कर्मके साथ सम्बन्ध जाननेके विषयमें दो दृष्टियां—अब यह प्रश्न हो रहा है कि कर्म आत्मामें बद्ध स्पृष्ट हैं अथवा अबद्ध अस्पृष्ट ? अर्थात् कर्म आत्मामें बँधे हुए हैं अथवा नहीं बंधे हैं, छुवे हैं अथवा नहीं छुवे हैं, इस प्रश्नका उत्तर इस गाथामें नयविभाग पूर्वक दिया गया है। जीव और पुद्गल कर्म इनका वर्तमानमें एक बन्धन पर्याय हो रहा है, इस कारण इस समय वर्तमानमें उसमें भेद नहीं किया जा सकता है। तब जीव में कर्म बंधा है और छुवा है—यह बात जंच रही है, किन्तु यह देखिये कि दो द्रव्योंके कथन करनेसे उनका सम्बंध बतानेका जो अभिप्राय बनता है वह व्यवहारका पक्ष है, इसके मायने यह नहीं है कि उनके कर्मोंका इस समय बन्धन नहीं है। बन्धन तो है लेकिन स्वरूपदृष्टिसे जब देखते हैं फिर जीवमें जीव है, कर्ममें कर्म है। कर्मका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जीवमें नहीं आता, जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कर्ममें नहीं आता, इस दृष्टिसे वह कथन व्यवहारका कहलाता है। जैसे दोनों हाथोंकी मुट्ठी बंधी है, इसे कोई गलत कह देगा क्या कि मुट्ठी नहीं बंधी है। बंधी तो है किन्तु हाथ हैं वे दो। प्रत्येक हाथकी बात प्रत्येक हाथमें निरखिये। एक हाथ दूसरे हाथमें कुछ नहीं कर रहा। दोनों अपने आपमें अपनी बात कर रहे हैं, इस दृष्टिसे निश्चय अभिप्रायमें मुट्ठी नहीं है और न एक हाथने दूसरे हाथमें बन्धन किया है। लेकिन यहाँ दिख तो रहा है और इस समय जो कार्य बन रहा है, छूट नहीं पा रहे हैं यह भी दिख रहा है। सो दो का सम्बंध बताना व्यवहारनय है और एकका एकमें ही बात बताना निश्चयनय है। इस दृष्टिसे यह कथन व्यवहारका है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि यह कथन असत्य है। भींत सफेद है। भींतपर कलई पुतनेसे इसमें स्वच्छता है यह बात गलत तो नहीं है, पर भींत जितनी है, कलई जितनी है उतनी ही को निरखकर उस सबको एक निरखा जाय तो यह बात सत्य नहीं है। तो जीवमें कर्म बंधा है यह बात, जीवमें कर्म छुवा है यह बात व्यवहारनयसे युक्त है, लेकिन जीव और पुद्गलकर्म ये हैं दोनों भिन्न-भिन्न अनेक द्रव्य, इन दोनोंमें परस्पर हैं अत्यन्त भेद, इस कारणसे जीवमें कर्म नहीं बंधा, कर्ममें जीव नहीं छुवा, ऐसा भी है, और यह है निश्चयका पक्ष।

८६१. निश्चयनयके प्रकाशमें आत्माकी प्रगति—निश्चयनयका मूल लक्षण यह है। एकको एकसे एकमें ही निरखना निश्चयनय है। व्यवहारका ऐसा लक्षण है कि एकका नियंत्रण न हो। दो पदार्थोंका सम्बंध हो, निमित्तनैमित्तिक भाव हो, दो पदार्थोंका कुछ वहाँ

तो उसमें १०-१५ दिन लग रहे, घरके भी कुछ काम नहीं कर रहे, दूसरे लोगोंको देखकर यह आश्चर्य होता कि ये तो कुछ भी नहीं कर रहे, पर लाखों रुपयोंकी कमाई होती रहती है और हम लोग सारे दिन भर भटकते, फिर भी पर्याय कमाई नहीं होती। अरे भले ही वे धर्मके कार्योंमें कई दिनों तक लगे रहें पर वे तो बराबर एक बहुत बड़ी कमाई करते रहते हैं। धर्मकी और धनकी इन दोनोंकी उनके कमाई चलती रहती है। जो भी वैभव मिलेगा, जो भी समागम मिलेंगे वह सब उनके धर्मकार्योंमें लगनेका ही प्रताप है। धर्मके कार्य करनेसे पुण्यका बंध होता है, उस पुण्य बंधके कारण उन्हें स्वतः ही सब चीजोंकी प्राप्ति होती रहती है। तो जो ज्ञानी पुरुष अपने आपको ऐसा अनुभव कर रहा है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूं वह भले ही बहुतसे लौकिक कार्योंमें लगता है फिर भी वह किन्हीं भी चीजोंमें रत नहीं होता है। जीवन तो ऐसे ही पुरुषका धन्य है।

८८९. प्रत्येक वस्तुका स्वयंका स्वयंमें परिणमन--यहाँ यह निश्चय किया है कि पुद्गल द्रव्यका परिणमन कर्मबन्धन जीवके परिणमनके साथ नहीं होता। इसको यों कह सकते कि पदार्थका परिणमन निमित्तके बिना हो रहा है। यहाँ निमित्तके बिना, इतनेका अर्थ क्या है? निमित्तके परिणमनको उपादान अपने विषयमें स्वीकारे बिना, अपनेमें ग्रहण किए बिना उपादानका परिणमन हो रहा है। इसका भाव यह है कि निमित्तके बिना परिणामन हो रहा है। शब्द कुछ सीधे ऐसे हैं कि कोई यह समझ सकता कि क्या निमित्त नहीं है और हो रहा है परिणमन, पर इसमें यह बात नहीं कही जा रही है। निमित्त होते हुए भी उपादानमें ही नैमित्तिक परिणमन निमित्तके बिना ही हो रहा है अर्थात् अन्य द्रव्यका परिणमन लिए बिना स्वयं अपने आपमें अपनी बात चला करती है। शिक्षा क्या लेना है कि जब वस्तुस्वरूप ऐसा है तो इसी निर्णयपर डटे रहें कि भीतरके परिणमनमें मुझमें कुछ नहीं हो रहा। मेरा परिणमन मेरेमें ही मेरेसे हो रहा है। सभी पदार्थोंके सम्बंधमें यही बात लगाते जाइये। क्योंकि वस्तु है उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप, जिसका निष्कर्ष यह है कि प्रतिसमय बनता, बिगड़ता और बना रहता। तो जब सबका ही परिणमन है ऐसा तो निमित्त का यह उत्पादव्यय निमित्तमें हुआ, उपादानमें हुआ, तब दूसरेके बिना ही तो परिणमन हुआ। मुझे इसने बड़ा दुःखी कर दिया ऐसा लोग क्यों सोचते हैं कि उन्हें कर्ता कर्म सम्बंध का यथार्थ पता नहीं है। गलत बात सोचनेमें क्लेश होता है, सही बात निर्णयमें आनेसे क्लेश दूर हो जाता है, निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी वस्तुमें अपना अपना निराला परिणमन है, यह यथार्थ बात है। इस कारण ऐसा जाननेमें शान्ति निराकुलताका अनुभव होता है। प्रत्येक जो हमारे उपयोगमें आये, जितनेमें परिपूर्ण हैं उतनेके द्वारा वे उतने अपने में कुछ करते हैं, उस कर्तृत्वके परिणामायतता ही निश्चयसे जिम्मेदार हैं। है उनमें परस्पर

होता है तो उस समय कौन मददगार होता है ? ऐसा जब अपना एकाकीपन विचारा जाता तो उसमें जितने अंशमें मोह कम हो उतने अंशमें शान्तिका मार्ग मिलता है और यही एकत्व बढ़ते-बढ़ते इस स्वरूप तक आ जाय कि मैं तो केवल एक चैतन्यमात्र हूं, मुझे दुनियाका और कोई पहिचानता भी नहीं। मैं ही इस किलेमें बैठा बैठा अपने स्वरूपके किलेमें अपने अस्तित्वमें रह रहा हूँ, मैं ही कुछ मन, वचन, कायकी चेष्टा करके अपने आपमें कुछ समझ रहा हूं, सम्बन्ध बना रहा हूं, व्याकुल होता हूं तो यह सब मैं ही अपने इस स्वरूपकिलेमें बैठा बैठा कर रहा हूं, दूसरे लोग मुझे अब भी नहीं जान रहे। मेरा जो स्वरूप है उस स्वरूपको कोई नहीं समझ रहा है। जिनसे हमारा परिचय है, जो बड़े हमारे मित्र हैं, जो हमारे बड़े हितू हैं, जो मेरे साथी हैं, परिजन हैं, उनमें से भी कोई मेरा स्वरूप नहीं जान रहे। मेरा स्वरूप प्रभुवत् चैतन्यमात्र है, जिसमें नाम भी नहीं है। नामरहित मेरा स्वरूप है। दुनियाने नाम रखा है इस भवमूर्तिका। भवमूर्ति संसारकी मूर्ति। यह शरीर, यह पर्याय, इसका नाम रखा है। मेरा नाम न कोई रखता है, न रख सकता है, क्योंकि मैं हूं एक चेतन पदार्थ। सबसे अविशेष अर्थात् जैसे सब तैसा मैं। जैसे गेहूंके दानोंसे बोराभर गेहूं भरे है, उनमें अलग-अलग दानोंका कोई नाम हो सकता है क्या ? अरबों दाने पड़े हैं गेहूंके। वे सब गेहूँके दाने भिन्न-भिन्न हैं, व्यक्ति विशेष हैं ऐसा समझनेके लिए कुछ गेहूंका नाम पड़ा है ? सबका नाम गेहूं है। जब सबका नाम गेहूं है और एक एक गेहूंका कुछ नाम धरा नहीं जा सकता तो वे गेहूं निर्नाम कहलाये, इसी प्रकार सब आत्मा जितने भी हैं, जो कि केवल चिन्मात्र है, उन आत्माओंमें कोई नाम नहीं हो सकता जिससे कि यह जाना जाय कि यह चैतन्यमात्र अमुक है, चैतन्यमात्र अमुक है। ऐसे उस निर्नाम स्वरूपका कोई नाम नहीं बन सकता। जब कोई नाम नहीं बन सकता तो सब जीव निर्नाम कहलाये। जीव नाम धरकर भी व्यक्तित्वमें जीव निर्नाम है। जिसका नाम नहीं, जिसका परिचय नहीं, जिसे कोई समझता नहीं ऐसे मुझ अन्तःतत्त्वका सम्बन्ध क्या है किसी पदार्थसे ? है कुछ नहीं। पर हो क्या रहा है ? हो यह रहा है कि इस स्वरूपकिलेमें पड़ा हुआ यह सत् यह चेतन चूंकि उपयोगस्वरूप है इसमें समझ है, अपनी ही समझ कर करके अपनी ही समझके द्वारा अपनेमें अपनी रचना किया करता है। तब समझमें फेर डालनेकी आवश्यकता है, बाह्यमें फेर डालनेकी जरूरत नहीं है। तथ्यकी बात यह है और इस तथ्य तक पहुँचनेके लिए गिर गिरकर भी हमें यत्न करना चाहिये। फिसलते भी जा रहे, फिसल-फिसलकर भी यत्न करना है इसी तथ्यमें लगनेका कि मैं कर क्या रहा हूँ जगतमें ? मैं अपने आपके स्वरूप किलेमें रहता हुआ अपनी समझके द्वारा, अपनी बुद्धिके द्वारा लोककी रचना किये जा रहा हूं। हाँ इस आत्मरचनामें कर्म निमित्त हैं। न कर्म लगा होता, न उदय चल रहा

दखल हो, प्रभाव हो, इन सब बातोंको कहते हैं व्यवहारनय। इन दो नयोंके स्वरूप इनके जितने प्रयोग बढ़ेंगे ये कि ये ही आयेंगे। तो जब हम निश्चयनयसे देखते हैं याने जीव कितना जितना कि ज्ञानदर्शनात्मक, चैतन्यात्मक। तो ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्यस्वरूप आत्मामें क्या दिखेगा, केवलमें क्या दिखेगा ? केवलमें ज्ञानदर्शनका प्रकाश दीखेगा। वहाँ न कर्म दिखेगा, न बन्धन दिखेगा। बन्धन होते हुए भी निश्चयनयकी दृष्टिमें बन्धन न दिखेगा। जैसे गिरवा से गाय बंधी है, गिरवाका एक छोर दूसरेमें मिला दिया, गाँठ बंध गयी और वहाँ गाय परतंत्र हो गई। तो गाय परतंत्र है यह बात सत्य नहीं कही जा सकती। वहाँसे हट नहीं सकते पर इस हालतमें गाय जितनी है उतनी ही देखी जाय, गिरवा जितना है उतना गिरवामें देखा जाय तो कह सकेंगे कि गाय न बंधी है और न स्पृष्ट है। इसी तरहसे आत्माके सम्बंध में भी कहा जा रहा है कि आत्मा न कर्मोंसे बंधा है, न छुवा है। उसके स्वभावको निरखकर कहा जा रहा है, और जब वर्तमान परिस्थिति तकते हैं तो इस समय जीवका और कर्मका एक बन्धन पर्याय हो ही रहा है। तो कहा जायगा कि जीव कर्मोंसे बंधा है और कर्मोंसे छुवा है—यह वर्णन सुनकर हमें अपने हितके लिए क्या शिक्षा मिली कि कुछ स्वभाव दृष्टि करके एक उत्साह जगता है। मैं स्वभावतः ऐसा हूं। स्वभावको सम्हालूँ, स्वभाव के निकट रहूं, स्वभावकी उपासना करूँ और कदाचित स्वभावमें कुछ मग्नता हो जाय तो यह मेरे आत्महितके लिए है। और स्वभावकी परख न रखी, उसकी सुध न ली और बाह्य में ही कुछ निरखते रहे तो इसके फलमें बन्धनसे छुटकारा न होगा। हमें अपने आपके उस स्वरूपको निरखनेकी परम आवश्यकता है जिस एकत्वस्वरूपको निखरनेसे आत्मामें निर्भारता अकिञ्चनता, निर्बाधता अनुभूत होती है। इस वर्णनमें सबसे मुख्य कार्य यह है, लेकिन स्थिति बन गयी ऐसी कि इस मुख्य कार्यकी मुख्यता नहीं दी जा रही है और कदाचित इसे भी समझा जा रहा, अन्य बातें भी तकी जा रहीं, लेकिन दशा यह होना चाहिये कि मेरे जीवनका मुख्यकार्य तो यह है—निर्विकल्प स्वरूपका निहारना और उस निर्विकल्प स्वरूपमें मग्न होना यह मुख्यकार्य है। इसके लिए उत्साह हमें इस निश्चयनयसे मिलता है। मैं एक हूँ, अपनेमें केवल मैं ही हूं। जितना एकत्वकी ओर अपन चलेंगे उतना ही अपनको शान्ति प्राप्त होगी।

८९२. एकत्वके परिचयमें अशान्तिका अभाव—व्यवहारमें भी देखिये—जितना हम परिवारमें, परिजनोंमें स्नेह बढ़ाकर रमते हैं उतना ही हम अपने धर्मसे शान्तिसे दूर हो जाते हैं, और जितना यह सोचते हैं कि ये परिकर ये परिजन भिन्न हैं, इनसे मैं निराला हूं, अकेला हूं। जब पैदा हुए तब कौन साथमें आया, जब मरण होगा तब कौन साथ जायगा ? यहाँ सुख दुःखकी अवस्थायें होती हैं, उनमें कौन साथी होता है ? जब कोई क्लेश

बाहर निकल जाता है, उसका पात्र नहीं रहता, और जीव देहसे बंधा नहीं है ऐसा विकल्प करनेमें यह जीव अपनेमें स्वानुभव करनेकी पात्रता बनाये हुए है। जरा और अन्दर चलो तो इस विकल्पको भी छोड़ दें तो यहाँ स्वानुभव कर सकते हैं। लेकिन स्वानुभवके समय तो जीव देहमें बंधा नहीं है यह विकल्प रहता, न जीव देहमें बंधा है यह विकल्प रहता। केवल एक शुद्ध चिन्मात्रका अनुभव होता है, ऐसी स्वानुभूति है।

८९४. मानवोचित कर्तव्यमें रहकर ही मानवकी सम्यक्त्वपात्रताका वर्णन—हम आप मनुष्य इतनी बात कहकर, सुनकर, पढ़कर, लिखकर करनेके यत्नमें रहते हैं और पशु-पक्षी तिर्यञ्च आदिकको जीवादिक सप्त तत्त्वोंका नाम भी याद नहीं है। वे कोई आत्मतत्त्व की चर्चा नहीं कर सकते। ये गाय, बैल, भैंस, बन्दर आदिक आत्माके कथनकी क्या चर्चा करेंगे, लेकिन दृष्टिमें वह प्रताप है कि दृष्टि होते ही वे पशु पक्षी आदिक भी स्वका अनुभव कर लेते हैं जिसकी चर्चा यहां हम आप खूब कर लेते हैं। इस बातको सुनकर ऐसा चित्त न बने तो फिर पढ़ना लिखना व्यर्थ है, बल्कि बिना पढ़े लिखे ये पशु पक्षी आदिक भी इस सम्यग्दर्शनकी दृष्टिको प्राप्त कर लेते हैं। ठीक है, पर संस्कार उनका पहिले से है, सो कर लेते हैं पर यहाँ तो हम आपका यही उपाय है कि अध्यापन करें, चर्चा करें स्वरूपका परिचय करें, स्वरूपको समझें। हम आपका यही उपाय है और यही करना चाहिए। जैसे कोई कहे कि देखिये पशु पक्षी न कभी शुद्ध खाते हैं, न कोई स्यादका खाते हैं, पर ऐसे बहुत से पशु पक्षी होते हैं जो सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं। तो फिर मनुष्योंको भी इन ही वातावरणोंमें रहकर सम्यक्त्व उत्पन्न हो जायगा, यह बात नहीं हो सकती। और यहाँ तक यह भी घटा लीजिये कि जैसे जैन कुलमें उत्पन्न हुए, हम आप लोगोंका जो कुल परम्परा का आचरण चला आ रहा था उससे खिलाफ रहकर और यह उदाहरण देकर कि अन्य लोग भी तो इस तरह करते है, रात्रिको खाते रहते हैं और वे अपना विचार बड़ी अच्छी

होता तो हम अपनी रचना ऐसी विकृत न बना सकते थे। प्रयोजन इस कथनका यह है कि
हम अपने एकत्वस्वरूपकी ओर आयें, परिजनोंसे न्यारा, वैभवसे न्यारा, देहसे न्यारा और
रागादिक विकारोंकी उत्पत्ति होती है जो कि औपाधिक है, उन औपाधिक भावोंसे न्यारा
केवल चैतन्यमात्र यह मैं आत्मतत्त्व हूं, ऐसी अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि हो तो ये जो
बाहरी विकल्प होते हैं वे हट जायेंगे और उन विकल्पोंके हटनेसे अपने आपमें एक विशुद्ध
प्रभुवत् शुद्ध आनन्दकी अनुभूति होगी। यहाँ पर दो बातें रखी हैं--जीवमें न कर्म बन्धा है,
न जीवमें कर्म छुवे हैं और जीवमें कर्म बंधा है और छुए भी हैं तो प्रश्न होता है कि ऐसा
जानकर हमें करना क्या है, उसका उत्तर दे रहे हैं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाएा णयपक्खं।
पक्खातिक्कंते पुण भण्णादि जो सो समयसारो ॥१४२॥

८९३. पक्षातिक्रान्त ज्ञानीका समयसारस्वरूप—यहाँ दो बातें रखी हैं जीवमें-कर्म
बन्ध है, यह व्यवहारका पक्ष है। इसमें विकल्प अवस्था है कि नहीं यह भी तको। जीवमें
कर्मबन्ध होता है ऐसा जो चिन्तन है वह विकल्पकी दशा है या निर्विकल्पकी दशा है ?
विकल्पकी दशा है। जीवमें कर्म नहीं बंधा, यह निश्चयनयकी बात है। यह भी बतलावो कि
यह विकल्पकी दशा है या निर्विकल्पकी दशा है ? यह भी विकल्पकी दशा है। तो दोनों
विकल्पोंसे पीछे हुए जो पुरुष इन दोनोंका उल्लंघन करके इस विकल्पसे भी अतिक्रान्त
निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभावी होकर जो साक्षात् समयसार बनता है बस वही ही इन
विज्ञानोंका लाभ उठाता है। यहाँ इस तरहसे निर्विकल्पताका अंदाजा कीजिये कि जैसे कोई
बड़ी रुचिसे भोजन बनाया गया, कोई भी पदार्थ बनाया, मान लो लड्डू बनाया, बेसनको
घी में खूब गूँथा। समयपर उसमें मिठाई डाला। जिस विधिसे बनाना चाहिए अच्छी तरह
बनाया गया, बननेके बाद करता क्या है यह आसक्त जीव, यह लोभी जीव ? उसे जब
खाता है खानेका पूरा आनन्द लूटनेके लिए वह यहाँ वहाँके निर्णयोंमें नहीं लगता है और
उस भोज्य पदार्थके इस निर्णयमें भी नहीं लग रहा कि इसमें अच्छा बेसन है, सिका अच्छा
है, घी अच्छा पड़ा है, मीठा अच्छा पड़ा है आदि, वह तो एक रस होकर उसके स्वादमें
लीन हो रहा है। तो एक अन्य विकल्पोंसे हटकर किसी एकमें एक लीनतासे लगनेका उदा-
हरण दिया है। कहीं कोई अच्छी बात नहीं कही जा रही है कि ऐसा करना चाहिए। इसी
तरह जब हम आत्माके बारेमें कुछ ऐसे विकल्प उठा रहे हैं कि यह जीव देहसे बंधा है
क्या ? यह जीव देहसे बंधा नहीं है, इन दोनों विकल्पोंमें आत्माकी शुद्ध अनुभूति नहीं होती।
इतनी बात जो है कि जीव देहसे [illegible] है, ऐसा विकल्प होनेपर यह जीव स्वानुभवसे बहुत

यह विषय कठिन लगता है तो इसके फलकी पूर्तिके लिए एक ऐसा ही दिल बना लें थोड़ी देरको कि जो भी चिन्तन करता हूं वह सब असार बैठ रहा है क्योंकि चिन्तन हो रहा है परपदार्थोंका और परपदार्थोंके विषयमें जो कुछ भी चीज चल रही है, जो चिन्तन चल रहा है वह चिन्तन हमें भ्रमाता है। जिस किसीका भी चिन्तन करते हैं उससे धोखा मिलता है। तो इस समय मैं ऐसा करूँ कि किसीका भी चिन्तन न करूँ, शास्त्रोंमें जो निश्चय व्यवहारकी बातें कही गई हैं उनको जरा गौण कर दें तो अपने ही व्यवहारको देख करके सोचिये कि मुझे इस समय किसी भी परका विचार नहीं करना है। ये विचार ये विकल्प मुझे चैन नहीं लेने देते। एक समय मैं किसी भी अन्यका विचार न करूँगा। सर्व प्रकारके विकल्प छोड़नेकी बात कह रहे है। धन दौलत, मकान महल, परिकर आदिकको एक सेकेण्ड भी यदि भूल जायें, अपने उपयोगको निर्भार बना लें, किसी भी परपदार्थको अपने चित्तमें न बसायें, सबसे न्यारे अपने स्वरूपका स्मरण करें तो ऐसी स्थितिमें स्वयंकी जो एक झलक होगी, अनुभूति होगी उस अनुभूतिसे आप जान जावेंगे कि इस निर्विकल्प आत्मतत्त्वकी अनुभूतिके लिए इन शास्त्रीय शब्दोंमें कहा जा रहा है, वहाँसे भी परख सकते हैं।

८९६. अन्तस्तत्त्वके उपयोगके प्रयोगसे आत्महितकी संभवता—प्रयोजन यह है कि जो सब तरहके परतत्त्वोंका उल्लंघन करके आत्मामें विश्रामसे रहेगा वह आनन्द पायगा, कर्मोंको झरायेगा। प्रभु पूजा करके, भक्ति करके, अर्चना करके लोग तो कहते हैं कि हे प्रभु! मेरे अष्ट कर्म नष्ट हो जायें, पर उन कहने वाले कितने भी लोगोंको उन अष्ट कर्मोंके नामका भी पता नहीं है। उन स्तवनोंको पढ़नेसे होगा क्या? क्या प्रभु उन स्तवन रकने वालोंके अष्ट कर्मोंको दूर कर सकेंगे? अरे उन अष्टकर्मोंको दूर करनेके लिए तो स्वयंको भी उस ही रास्तेसे चलना पड़ेगा जिस रास्तेसे चलकर प्रभुने अष्टकर्मोंका ध्वंस किया। वह मार्ग क्या है, उसकी यहाँ चर्चा है। सहज अनादि अनन्त विशुद्ध चैतन्यमात्र निज तत्त्वकी अनुभूति करना, यही है उन अष्टकर्मोंको काटनेका मार्ग। उस निज तत्त्वकी प्राप्तिके लिए हम सब कुछ खोकर भी खानेके मायने ये बाह्य वैभव, बाह्य सम्पर्क, सम्पदा सब कुछ खोकर भी यदि एक झलक पा लेते हैं इस सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी, तब समझिये कि हमने अपने जीवनकी सफलताकी दिशा प्राप्त की। इतनी चीज अगर नहीं पा सकते हैं तो मान लीजिए इस लोकके बीचमें हम पड़े ही हैं, यहां सब कुछ मेरा है, सम्पदा मेरी है, ऐसा मानते जाइये, इससे तात्विक बात कुछ नहीं निकल रही। तात्विक निष्कर्षकी बात तो यह है कि मैं सबसे निराला चिन्मात्र सहज अपनी सत्ताके कारण जो मेरे भीतरमें कैवल्यस्वरूप है उस स्वरूपकी झलक हो, उसके लिए यह प्रकरण चल रहा है कि व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोंसे अलग होकर केवल अपनेमें निर्विकल्प आत्मविश्राम करें, इसके लिए यह समस्त शास्त्रोंकी

देना है कि एक तो हम अपनी क्रियायें विशुद्ध रखें—रात्रिभोजन न करना, अभक्ष्य भक्षण न करना, सच्चाईसे अपना व्यापार करना आदिक जो बातें हैं उन योग्य व्यवहारमें लगना, एक काम तो यह है और दूसरा काम है ज्ञानार्जनका। अध्ययन करना, विचार करना, पढ़ना, याद करना, पाठ करना, इस ज्ञानार्जन द्वारा आगे बढ़ें तो इससे हमारा व्यवहार भी उन्नत बनेगा। इस विना गुजारा न चलेगा। जिस किसी भी प्रकार रहकर यथा तथा जीवन गुजारा तो उससे शान्ति न मिलेगी। मरते समय सन्तोष न होगा। उसे तो अपने जीवनमें श्रद्धा विवेक और ज्ञान आचरणसे चलते रहना चाहिये। इस कामको करनेमें रंच आलस्य न करना चाहिये। रात्रि भोजनके त्यागमें आप यह बतलाओ कि कहाँ कौनसी कठिनाई आती है? अनेक लोगोंको देखो जो एक ही वार खाते पीते हैं, वे क्या जीते नहीं हैं? अरे वे भी जीते हैं और जो दो वार, चार बार खाने वाले हैं अथवा वारबार खाने वाले हैं वे भी जीते हैं। सारा दिन पड़ा हुआ है। खूब खायें पियें और एक रात्रिभरको अन्नका त्याग करदें तो इसमें कौनसी कठिन बात है? अगर रात्रिभोजनका त्याग है तो ऐसा मनमें अभिप्राय होनेसे एक बल रहता है कि हम भी प्रभुके सेवक हैं, हम प्रभुसे कुछ प्रार्थना करने के लायक हैं। प्रभुभक्ति पर अब हम प्रार्थना करनेके लायक हैं। प्रभुभक्तिपर अब हमारा अधिकार है, क्योंकि जो प्रभु कहते हैं उसको हम मानने लगे हैं, अब हमारा प्रभ्रभक्तिका अधिकार है। ऐसा अपने आपमें उत्साह जगेगा। तो योग्य क्रियायें करते हुए ज्ञानका अर्जन करना है—इस बातको न भूले और इस प्रक्रियामें रहें तो हम अपने आपमें बड़ी सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

८९५. चिन्मात्र चिन्तनमें चेतनका संचेतन—यहाँ आत्माकी चर्चामें यह कहा जा रहा है कि जो पुरुष ऐसा सोच रहा है कि जीवमें कर्म बंधे हैं तो वह विकल्प ही तो कर रहा है। इस समय वह इस विकल्पमें नहीं है कि जीवमें कर्म नहीं बँधा, निश्चयके विकल्पमें नहीं है पर व्यवहारके विकल्पमें तो है और कोई जीव जब यह चिन्तन कर रहा है कि जीवमें कर्म नहीं बंधा है तो वह व्यवहारके विकल्पमें नहीं है, जीवमें कर्मबँधा है यह चिन्तन नहीं कर रहा, निश्चयका ही चिन्तन कर रहा है फिर भी आखिर विकल्प ही तो है। और कोई पुरुष दोनों विकल्पोंको करे—हाँ ठीक है, देखो ना जीवमें कर्म नहीं बंधा, यह सच बात है। जीवमें कर्म बँधा यह व्यवहारकी बात है। दोनोंको मान रहा बात तो ठीक कर रहा, प्रमाण भी कर रहा, लेकिन प्रमाणका चिन्तन भी विकल्प है। प्रमाणके फलमें लगना यह तो है स्वानुभवके योग्य बात और दोनोंको माना तो वह भी विकल्प है, एक को माना वह भी विकल्प है। तो दोनों विकल्पोंसे नहीं छूट रहे, यद्यपि वे दोनों पुरुष एक-एक विकल्पमें थे, एक विकल्पसे दूर हटे, पर विकल्पमात्रसे दूर हटे तो स्वानुभूति है।

कभी भी सौदा लेने वाला चाहे पापी हो चाहे पुण्यात्मा, अपना रक्षक परोपकारी मित्र या गुरु हो प्रत्येकसे वह छलका बर्ताव करके धनसंचय करता है। कुछ ऐसी वैश्यवृत्ति हो जाती है कि रोम रोममें छल आ जाता है "मानेन किञ्चित्, मूल्येन किंचित्। तुलयापि किंचित् कलयापि किंचित्। किंचिच्च किंचिच्च गृहीतु कामा: प्रत्यक्ष चौरा वणिजा नराणाम्॥" अर्थात् ये छलिया व्यापारी दिनके लुटेरे हैं चोर प्राय: रात्रिमें चोरी करते हैं, पर ये व्यापारी प्राय: बाट कम तौल वाले से देना चाहते हैं। ७९ उन्यासी रुपया भरके सेरसे देना चाहते हैं और इक्यासी भरके सेरसे लेना चाहते हैं। तौलकी तरह नाप चाहे वह गजकी हो या थैलीकी, उसमें भी कमती बढ़तीका लक्ष्य बनाये रखते हैं। फिर बाजार भाव कुछ होगा, ये व्यापारी एक ही चीज कुछ महत्त्वकी बताकर अधिक रेट पर बेचते हैं। यह चावल देहरादूनका है, बासमती है, दो साल पुराना पड़ा है, घरके लिये रख छोड़ा था, आपने अच्छा माँगा सो दिये देते है—इस तरह कलाबाजीसे ५) रुपया पंसेरीकी जगह ७।) पंसेरीके दाम ले लेते हैं। फिर कुछ तराजूमें भी पासंग रखते हैं। जिस पलड़े पर रखनेसे एक तोला कम देना पड़े उसी पलड़े से तोल देते हैं और ग्राहकका मन रखनेके लिये अठन्नी भर नीचा झुकता बड़ती देखा देते है। इतने पर भी कुछ कलाबाजी ऐसी चलते हैं कि जहाँ तराजू उठाते ही झोंका खाया कि माल पल्लेमें उड़ेल देते हैं। इस तरह बेईमानी से संचित किया गया धन कब तक सुखद हो सकता है? परिणाम यही होता है कि "पानीका धन पानीमें और नाक कटी बेईमानी में॥"

८६६. प्रशम और न्यायकी आवश्यकता—आजकल तो जमींदारी उठ ही गई। २०-२५ वर्ष पहिले किसी प्रान्तमें यह रिवाज था कि किसी खास खास वर्ग वालेको जमींदारी नहीं दी जाती थी। सरकार समझती थी कि ये अपने आश्रित वर्गका बुरी तरह शोषण करेंगे। यह बात तो रही व्यापारिक क्षेत्रमें, आज धार्मिक क्षेत्रमें भी हमारी दृष्टि संकुचित होती जा रही है। एक जैनधर्मके पालने वालोंमें पूजा, भोजन आदिकी विधिमें कुछ अन्तर आया, मानो वे विदेशी हो गये। जरा जरासी बातमें मनमुटावकी हदबंधी दीवालें खड़ी हो जाती हैं। परिणामस्वरूप संगठनकी कमीसे आज जैनियोंको अहिंसाके अवतार श्री महावीर स्वामीके पुनीत जन्मदिवसकी सार्वजनिक छुट्टी नहीं मिलती। अत: भाइयों अपनी भावनायें शुद्ध और उदार बनाओ। धर्मपालनकी जगह केवल मंदिर नहीं है, अपने जीवनके प्रतिक्षणमें प्रत्येक घर बाजार व मंदिरके काममें न्यायसे वर्तो। याद रखो छल करके तुम दूसरोंको जितना नहीं ठग सकते, जितने स्वयं ठगे जाओगे। सुना है, आपने और कुछ अनुभव भी किया है कि जो औरके लिये गड्ढा खोदेगा उसे खाई तैयार है। जो मनुष्य जितना आत्मलक्ष्यी बनता जाता है वह उतना ही जगत्के जंजालोंसे, जिम्मेदारियोंसे, झंझटोंसे

रचना है।

८९७. **निरुपाधि सहज स्वरूपकी दृष्टिमें आत्मानुभव**—भैया ! "यह ज्ञाता द्रष्टा सामान्य तत्त्व मैं आत्मा हूँ" ऐसा अनुभव एक बार जम जावे तो फिर भूल जाने पर भी उसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। व्यवहारमें भी जिस आदमीसे एक बार हमारी पहिचान हो जाये तो फिर बीसों वर्ष बाद मिलने पर झट स्मृति जागृत हो आती है। आजकल प्रारंभ में शीत ऋतुमें जो ठंडे पानीमें या तालाबमें नित्य नहानेका अभ्यास रखते हैं उन्हें प्रथम बार का स्पर्श कुछ कठिन जंचता है किन्तु जहाँ एक बार शरीर भीगा कि फिर मलमल कर नहाते हैं, आनंद मानते हैं—इसी तरह प्रथम बार स्वानुभव होनेमें कठिनता अवश्य है पर वह जितना कठिन है उतना ही मीठा भी है। इसका स्वाद अपूर्व ज्ञानानंद रूप है। परमात्मासे यदि हम यह प्रार्थना करें कि मैं ऐसा बनना चाहता हूं जैसा कि सदा रहूं। सो सदा रहने वाली ध्रुव वस्तु तो आत्मानुभव है। बाकी भौतिक वस्तुएं नाशवान हैं। वे तेरी पुकार या प्रयत्नसे अपने अध्रुव स्वभावको नहीं छोड़ सकतीं। जिस भव्यात्माने सामान्यतत्व परमपारिणामिक भाव शुद्ध समयसार तथा समस्त परिणतियोंमें व्यापक रहने वाले एक ध्रुव तत्वके दर्शन किये उसी ने सहजानंद पाया। केवलज्ञान भी ज्ञान स्वभावकी पर्याय है क्योंकि जब केवलज्ञानमें पर्यायें झलकती हैं तो केवलज्ञान भी पर्याय है। ज्ञान या केवलज्ञान कूटस्थनित्य हो तो, सकल द्रव्यके गुण अनंत, पर्याय अनंता। जाने एक काल प्रगट केवली भगवन्ता" ऐसा विधान ठीक नहीं बैठेगा। ज्ञानस्वभाव और केवलज्ञानको भिन्न समझनेकी शक्ति रखने वालेके स्वानुभव होता है।

८९८. **लक्ष्यानुसार दृष्टि और वृत्ति**—जिधर लक्ष्य दोगे वैसी तुम्हारी दृष्टि बन जायेगी। नींबूका विचार आते ही मुंहमें खटाईका सा स्वाद आ जाता है। पर दोषग्रहण ही जिसका लक्ष्य है उसे विवेकीसे विवेकी साधुमें दोष मिल जायेगा और जहाँ गुणग्रहण का भाव है वह अवश्य दूसरोंमें भी कुछ भलाई देखकर सन्तोष मानेगा। कहा भी है कि— "गुणान् गृह्णन् सुजनो न निवृत्ति प्रयाति दोषान् वदन्न दुर्जनः। चिरन्तनाभ्यासनिबंधनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः" ॥ व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सचाई और सादगीसे जीवन बितना चाहते है वे सचाई और सादगीसे जिन्दगी पार करते जाते हैं और उसीमें सन्तोष मानते हैं। लोग कहते हैं कि नियतसे बरक्कत होती है, कोई तो थोड़ी आमदनीमें ही अपना निर्वाह कर लेता। परोपकारमें भी धन लगा लेता है, घरमें न कोई विद्रोह मानसिक खड़ा होता है, न शारीरिक व्याधियाँ आती हैं, किन्तु जिन्होंने यह लक्ष्य बना रखा है कि सीधी उंगलियोंसे घी नहीं आता। माया अर्थात् धन दौलत बिना माया अर्थात् छल कपटके नहीं आती, वे हर बातमें हर चीजमें पर्वके दिन हों या सादा दिन हों

वनता है। हम पूजन स्तुति करेंगे तो परशैलीसे कि हे पार्श्वनाथ ! तुम हमें सुख दो। दुःख मिटाओ अपनी परिणतियों पर तो हम ध्यान नहीं देते। मानों भगवान् हमारी धौंसमें आकर हमें कुछ दे देंगे किन्तु परावलम्बीका हाल तो आप जानते ही हैं कि पराश्रितकी इच्छायें तो क्या फलेंगी, शक्तियां भी कुन्द हो जाती हैं।

९०२. **आत्मशुद्धिके माप सकनेकी वृत्तिका लाभ**—कदाचित् आत्मलक्ष्यपर जिनेन्द्र के दर्शन पूजनसे आ सके तो सोचे कि हे जिनेन्द्र जैसा ज्ञानानन्द स्वरूप आपका है वैसा ही मेरा है, मैं परपरिणति को छोड़ दूं तो प्रगट ज्ञानानंदकी अवस्थामें पहुँच जाऊं "देखत देखत ऐसा देख, मिट जाये द्विविधा रह जाये एक" ॥ अर्थात् परमात्माके ध्यानसे तू अपने आत्मानुभव पर आजा। पुण्यके प्रलोभनमें क्यों पड़ा है ? स्वर्ग मिलेगा–सैकड़ों देवांगनाएं मिलेंगी, वैक्रियक शरीर मिलेगा। किन्तु सोचो देवपदके मरण समयकी चिन्ताको, ऐसा मानसिक दुःख मनुष्यको एक क्षण भी नहीं होता जैसा देवको ६ माह रहता है। मनुष्य बड़े रोगमें फंस कर मृत्युके निकट होकर भी आशा करता है कि बस अब मैं इस वैद्यकी इस दवाईसे अच्छा हो जाऊंगा और कई बार ऐसा देखा भी गया कि प्रबल रोगी भी निरोग हो जाते हैं, क्या ऐसा धैर्य किसी देवको कभी बंध सकता है, कभी नहीं। यह मानव स्वाध्याय करके भी परलक्ष्यमें अटका रहता है। मैं कर्मप्रकृतियोंको बंध व्युच्छित्ति जानता हूं। त्रिलोककी रचना मुझे याद है। त्रिलोकमें वहाँ कितने मन्दिर हैं, मैं जानता हूं। स्वयंभूरमण समुद्रमें तंदुलमच्छ है, राघवमच्छ है आदि बड़ी बड़ी आगमकी बातें करेगा। राजनीतिके तमाम जालोंको ठीक ऐसे जानता है जैसे देहलो जंक्शनपर बिछी प्रत्येक पटरीका ज्ञान स्टेशन मास्टरको भी न० होगा किन्तु जब अपनेको पहिचाने तब कल्याण हो। संयम धारण करते हुए यह मानव कहता है—मैंने अमुक अमुक चीजें छोड़ दीं। पर यह नहीं सोचता कि मैं इतना आत्मलक्ष्यमें आया। परको न अपनाऊं, यही सर्व श्रेष्ठ संयम है। शीत उष्ण भूख प्यासको सहकर कहता है कि मैंने तप किया किन्तु इच्छाओंको नहीं रोका—"परायत्तेन दुःखानि बाढ़ सोढानि संसृतौ। त्वयाद्य स्ववशः किञ्चित् सहेच्छन्निर्जरा पराम् ॥ पराधीनता से यानी लाचारी मजबूरीसे तूने अनेक कष्ट सहे, गरीबीसे या बीमारीसे अन्य अनेक विघ्नोंसे अनेक बार मनवाँछित भोग नहीं भोग पाये, किन्तु तृष्णा व लालसासे अनेक अशुभ आस्रव व बंध किये।

९०३ **संसारसंततिच्छेदका अनुरोध**—यदि तू आत्मकल्याण चाहता है तो स्वयं इरादा करके भोगोंसे ममता छोड़—"निज कालपाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना। तप कर जो कर्म खिपावे सो ही शिव सुख दर्शावे ॥" या "संकल्पपूर्वकः सेव्ये, नियमोऽशुभकर्मणो, निवृत्तिर्वा व्रतं, स्याद्वा, प्रवृत्तिः शुभकर्मणि" अर्थात् विचार बाँधकर

बचता है।

९००. सन्न्यास होनेपर असुविधाओंका परिहार—साधु संन्यासीसे आपने कोई बात कही तो ऐसा भी हो सकता है कि साधु आत्मध्यानमें लीन हो, किसी तत्त्वका विचार कर रहा हो तो हम उस साधुको उलाहना नहीं दे सकते कि आपने मेरी बात क्यों नहीं सुनी, क्यों नहीं मानी और आजके जमानेके पंडितजन यदि आपके प्रश्नका उत्तर न दें सो या तो वे उस विषयके अज्ञानी हैं या व्यवहारज्ञानशून्य अभिमानी हैं—ऐसा लांछन लग जाता है। जिसको आत्मकल्याणका लक्ष्य है उसके घरके आदमी भी अधिक लौकिक विकल्पोंमें नहीं घसीटते हैं। कह देते हैं कि वे बिचारे सीधे सादे हैं, इस प्रपञ्चसे उन्हें क्या लेना देना ? सो तुम यदि आत्मदर्शी बन जाओ तो अनायास सैकड़ों पापोंसे बच सकते हो। किन्तु यह चीज अर्थात् आत्मानुभवी होना कोई कायरता या निरुद्यमीका कार्य नहीं है। आत्मानुभवी बननेको पूर्ण सावधानी और पूर्ण प्रयत्न चाहिये। आत्मानुभवी, मुर्दा जैसी अवस्था करने वाला सोनेमें कब सुख मानने लगा। हाँ वही "गले पड़ी बजाय सरे" की नीति समान शारीरिक थकान मेटनेको वह थोड़ी देर लेट जाता है। इसी भाँति आकुलतामय भोगोंकी कीचमें भी वह अपनेको नहीं फंसने देता। जितने संयोग सुखदायक मानते हो, वे वियोग अवस्थामें तो दुःखदायक जंचते ही हैं, किन्तु संयोग अवस्थामें भी उनकी परिणतियां उनके आधीन और तुम्हारी शारीरिक मानसिक परिणतियाँ तुम्हारे आधीन एक सी न रहने से तुम दुःख ही अधिक उठाते हो।

९०१. उपयोगके विकेन्द्रीकरणका परिणाम—जगत्के जीवोंकी दृष्टि अपने आपपर नहीं है, अनादिसे परपदार्थों पर है। हम जब भी किसीसे थोड़े या बहुत दिनों बाद मिलते हैं तो शरीरकी कुशल पूछते हैं, लड़कों बच्चोंकी व्यापारकी, पड़ोसी की और रिश्तेदारों तक की खबर पूछते हैं किन्तु आत्मकल्याणकी बात कोई नहीं पूछता। इस परदृष्टिका हेतु अज्ञान है। यह परपदार्थको अपना मानता है किन्तु प्रत्येक पदार्थकी स्वतंत्र परिणति पर इसका विचार नहीं गया। जितना अधिक परिवार व्यापार होगा, व्यवहार होगा उतनी अधिक आकुलता होगी, "आहार बड़े सो मरे। परिवार बड़े सो मरे। व्यवहार बड़े सो मरे।।" सो भाइयो ! क्रमशः मोह ममत्व घटाओ तब आत्मलक्ष्य पर आने को, स्थिर रहने को कुछ अवकाश भी मिलेगा। जीव आत्मस्वरूपका ज्ञान न होनेसे दुकान मकानमें ममताकी पुष्टि करता है और भोक्ता बनता है। शीत उष्ण शरीरकी अवस्था होनेसे मैं आत्मा शीत उष्ण हो गया—ऐसी कल्पनाएं करता है और फिर शरीरसे भी भिन्न कपड़े, भोजन, मकान आदिके सुधार बिगाड़में अपना सुधार बिगाड़ मानता है। शीतविषयक ज्ञान मुझे हो रहा है इस बातको तो उड़ा देता है, किन्तु मैं स्वयं आत्मा शीत हो गया, ऐसी कल्पना करके दुखी

थी। विद्युच्चर राजाकी आशाकी टेक और प्रजाकी आस्थाके केन्द्र थे। राजत्वको निभानेकी दृष्टिसे सब विद्यायें विद्युच्चरको दी गईं किन्तु जो धर्मशास्त्रोंका रहस्य विद्युच्चरने समझा उसका मेल राजत्वसे नहीं खाता था। कुमारने राजत्वका विश्लेषण किया तो उसमें केवल नश्वर ऐश्वर्यकी प्रतिष्ठा व विलासका सुभीता ही नजर आया, पर ऐसा राजत्व उसे खटका। कुल परम्परासे बपौतीमें चली आई राजसम्पदाको उसने अपने लिये आकस्मिक समझ अपने पुरुषार्थ व चातुर्यको उपयोगी सा समझा। ऐसा कोई काम जिसमें सामर्थ्यकी आजमाइश हो। अतः विद्युच्चरने डकैती करनेका विचार किया और राजमहलमें ही चोरी शुरू की। उसी समय विद्युच्चरने जंबूकुमारका जो सामर्थ्य सुना कि यह रत्नचूल जैसे आततायी विद्याधरको वशमें कर लाया है और इसीलिये नगरकी ओरसे उसे आज सम्मान मिल रहा है। जम्बूकुमारकी आँखोंकी दीप्ति कंठमें सुशोभित माणिक्य मालाकी कान्तिसे भी सतेज और ऐसी असह्य थी कि दूसरा आँखोंमें आखें नहीं मिला सकता। चेहरा ओज भरा, प्रत्येक दर्शक को उनकी ओर ममता और श्रद्धा हो जाती। जम्बूकुमारको देख विद्युच्चरकी आँखें चौंधया गईं और मनमें प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो गई। थे जो समान। विद्युच्चर यदि राजपुत्र तो जम्बूकुमार श्रेष्ठिपुत्र होकर भी आतताई आतंकवादी राजाओंको वशमें करने वाले थे। विद्युच्चर ने सोचा कितना दृढ़ और बलवान है, महान् ऐश्वर्यशाली है, अपरिमेय द्रव्य होगा। यदि इन जंबूकुमारका मैं कुछ बिगाड़ सकूं तो अपने बाहुओंकी क्षमता और मस्तिष्कका चातुर्य समझूं। ये धर्मभक्त सेठ अर्हद्दासके पुत्र हैं। शैशवसे ही अलौकिक प्रतिभावान् और आज इस २५ वर्षकी चढ़ती उम्रमें अपने पराक्रमसे कठिनसे कठिन कार्योंमें भी यशके साथ सफलता पाकर राजमान्य बन गये हैं। राज्य संकटके समय इनकी मंत्रणासे ही निष्कंटकता मिलती है। वे कुबेर समान समृद्ध, आशासे भी अधिक यशस्वी, वृहस्पतिके तुल्य मेधावी, सूर्य समान प्रतापी थे। फिर भी इन वैभवोंसे, प्रताप, यशसे, निःस्पृह भोगोंसे उपेक्षाभाव उनके आत्मलक्ष्यको प्रगट कर रहा था। परिजन पुरजन फिर भी इन्हें प्रेमपाशमें बाँधे थे और लोकबंधनको दृढ़ करनेके लिये। पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री, रूपश्री इन चार कन्या-रूपी रस्सियोंसे जंबूकुमारका संबंध निश्चय किया। होनहार प्रबल कि जंबूकुमारको सुधर्माचार्यके दर्शन और उपदेशका लाभ हुआ और जम्बूकुमारका वैराग्य जग गया।

९०५. विद्युच्चरकी योजना—हम यहाँ यह बात कहना चाहते हैं कि आत्मानुभवी वयोवृद्धोंका साथ करो। तो तुम्हारा लक्ष्य जो भौतिक सुख समृद्धिमें है, वह बदलकर आत्मा की ओर लग जाय। विद्युच्चरने सोचा—ऐसे धन कुबेर और पराक्रमी प्रतापीके घर यदि मैं डकैतीमें सफलता पाऊं तो उपहारमें मिले राजपुत्रत्वसे अधिक पुरुषार्थ समझूं। विद्युच्चर जंबूकुमारके घर चोरीको गया, किन्तु हुआ कुछ और ही, कारण कि जब सगाई हुई चारों

अपने समक्ष उपस्थित विषयोंसे विरक्तिका नियम लेना या नियमसे शुभ कामोंमें लगना सो व्रत है। परलक्ष्यके रूपसे त्याग करनेमें अंतरंगमें भोग तृष्णाकी पाल बंधी रहती है। जैसे मैंने दशलक्षण पर्वमें हरी चीजें छोड़ीं तो ऐसा भाव लगा रहता है कि ये १० दिन कब पूरे होते हैं, कहीं जब तक मक्कीके भुट्टे और कबड़ी ही खतम न हो जायें, सो व्रत पूर्ण होते ही भूखे नाहरकी तरह हरी चीजोंके खानेपर टूटकर पड़ता है। यह त्याग, त्यागकी भावना से रहित है, उसमें बिल्कुल भी शुभोपयोग नहीं है। यदि तुम्हें मोहका त्याग करना है तो जैसे कई स्वार्थत्यागी घरका काम छोड़ समाजसेवामें असमाज सेवामें अधिक समय देते हैं, इस परोपकारकी पद्धतिसे विषयाभिलाषायें घटती हैं, फिर ऐसा आत्मलक्ष्य बनता है कि परोपकारकी भावना भी मिट जाती है। "विदुषां किं कर्तव्यम्" अर्थात् समझदारोंको क्या करना चाहिये, तो उत्तर यह कि—संसारसन्ततिच्छेदम्" अर्थात् परमकर्तव्य है संसारके जन्म मरणरूप दुःखको मिटाना। जब भेदज्ञानी जीव आत्मानुभवसे कर्मोंके टुकड़े-टुकड़े कर देता है तब अज्ञानी परद्रव्योंको अपनाकर व अपनेको परका बनाकर दुखी होता है। जिसे कभी भूत आता है तो वह उस पुरुषके शरीरमें समा जाता है और उसका शरीर व मस्तक कांपने या घूमने लग जाता है। इसी भाँति यह क्रोधमें भी ममता करके क्रोधीरूप अपनेको मानता है, किन्तु जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित करनेकी शक्ति है वैसे ही आत्माके ज्ञायक भावमें कभी क्रोध भले ही झलक जाता है किन्तु है शुद्ध निश्चयनयसे, है ज्ञाताद्रष्टा। परके विकल्पमें आप नहीं रहता। १—व्यवहारनयसे रागद्वेष कर्मसे आये हैं ऐसा मानता है। २—शुद्ध निश्चयनयसे ज्ञाता द्रष्टा है, २—परमशुद्ध निश्चयनयसे केवल ज्ञायकस्वरूप है। निमित्तनैमित्तिक दृष्टि परदृष्टि होनेसे व्यवहारनयमें ही आती है और परमशुद्ध निश्चयनयमें सामान्य आत्मतत्त्व आता है।

९०४. ज्ञानीके विरोधरूप संगसे भी लाभ पाने वाले विद्युच्चर चोरकी भावना— भाइयों! अध्यात्मियोंके सत्संगमें रहो तो वह परिस्थिति आत्मानुभव करानेमें कारण है। कथा पुराणोंमें आपने सुनी है विद्युच्चर चोरकी कथा कि हस्तिनापुरके प्रतापी राजा संवर और सर्व सुलक्षणा रानी श्रीषेणा जो कवियोंकी कल्पना अनुसार—"पुत्रसूः पाककुशला पवित्रा च पतिव्रता। पद्माक्षी पञ्चभिर्नारी भुवि संयाति गौरवम्॥" अर्थात् धर्मसन्तान चलाने वाले पुत्रको पैदा करे। स्वास्थ्यवर्धक रोचक शुद्ध आहार बनानेमें कुशल, सरल विनीत सेवाभावी और पतिव्रता सुलोचना सुन्दरी उस श्रीषेणा रानीके कोखसे विद्युच्चरका जन्म हुआ, मानो उदयागिरिसे पूर्व दिशामें सूर्य उत्पन्न हुआ हो, राजकुलमें उजेला हो गया। वह नगरी भी धर्मप्रभुओं श्री शान्तिनाथ कुन्थुनाथ अरहनाथके गर्भ जन्म, तप ज्ञान चार कल्याणकोंकी धर्मभूमि और कौरव पांडव जैसे प्रतापी प्रसिद्ध राजाओंकी राजनीतिका केन्द्र

नहीं। उसने सोचा—जो यहाँ धन वैभव रंगरेलियां कर रहा है, उसे वे आपत्तिका जाल समझ छोड़ रहे हैं और एक मैं हूँ जो डकैतीसे धनसंग्रह करना चाहता हूं। झट विद्युच्चर सबके सामने श्रद्धा वश झुक गया और संकल्प कर लिया जो आत्मपंथ त्यागमार्ग शान्ति-साधना जंबूकुमार करेंगे वही मैं करूँगा और प्रातःकाल हुआ भी वही। सज्जनों! "लायक हूं सो कीजिये ब्याह बैर अरु प्रीति" अर्थात् आत्मानुभवी आध्यात्मिक सन्तोंका साथ करनेसे आत्मकल्याण सहज है। सत्संगके लिये कुछ धनसंग्रह करो। भोग थोड़े समयका है, अध्रुव है। आत्मा ध्रुव है, आत्मा अनन्त है। आगे आत्माको ही जाना है रहना है। तुम इस प्रकार का उत्तम काम करो जो सदा शान्ति दे। संसारकी वस्तुओंका स्वभाव ही विनाशीक है। लोग यहाँ तक दम भरते हैं कि हम अपनी चतुराईके बलसे वस्तुका स्वरूप ही बदल देंगे, न तो हमारा धन कम हो सकता है, न परिवार कम हो सकता है, न यश कम हो सकता है और न शरीरका बल घट सकता है और इसी झूठे सुखके झूठे उपायोंमें अपनी जिन्दगी झूठी बनाता है। "झूठी करनी आचरे झूठे सुखकी आस। झूठी भगति हिये धरे झूठे प्रभुको दास॥" अभिप्राय यह कि संसारका सुख झूठा है--इस विषयमें तो आप बहुत सुन चुके, पढ़ चुके व अनुभव भी कर रहे हैं। सुख होता है पुण्यसे, पुण्य होता है मंद कषाय और शुभोपयोगसे, दान पुण्य आदि सत्कर्मोंसे। और यह सुखके उपाय समझता है धन और शरीर को और पुण्यपापका भेद भुलाकर धन और शरीरकी रक्षा बढ़तीमें लगा रहता है और झूठी भक्ति करता है। अभिप्राय यह कि भक्त होता है आज्ञाकारी—यह तो तीर्थंकरकी आज्ञा मानता नहीं—"वे कहते हैं कि परलक्ष्य छोड़ो, आत्मानुभवी बनो और भगवान्का स्वरूप है वीतरागी, यह समझता है जरूर नामकीर्तनसे भगवान् कुछ देंगे, अंजनको निरंजन किया। सीताका अग्निकुंड जलमय करके कमलपत्र पर सीताको विराजमान कर देव देवियोंने चमत्कार प्रगट किया। अब मेरी ओसरी है मुझे क्यों नहीं पार लगाते, यह क्या अन्धेर जमाना है, आदि क्रमसे प्रभुका स्वरूप झूठा मानता है, प्रभुकी भक्ति झूठी करता है।

९०७. **नयपक्षको जान करके पश्चात् अपना कर्तव्य**—वस्तुको दो निगाहोंसे तका जा सकता है—एक सम्बन्धदृष्टिसे, दूसरा स्वरूपदृष्टिसे। सम्बन्धदृष्टिसे निरखनेपर यह जीव देहसे बंधा, कर्मसे बँधा, यों कहना यथार्थ बैठता है स्वरूपदृष्टिसे निरखनेपर जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल. भावमें है, परवस्तुमें नहीं है। परवस्तुसे असम्बद्ध है, जीवमें कर्मबन्ध नहीं है। जीवमें जीव ही है। कैसा ही हो कालपरिणमन पर जीवमें जीव ही है, यह कर्म से बद्ध नहीं है, यों दृष्टिमें आता है। तो इन दोनों दृष्टियोंके ही बारेमें कहा जा रहा। अब यहाँ तीन तथ्य सामने रख लीजिए—एक व्यवहार पक्ष, एक निश्चयपक्ष और एक चैतन्य मात्र स्वका अनुभवन। चैतन्यमात्र स्वके अनुभवनके समक्ष ये दोनों विकल्प हैं और इस

पुत्रियोंके संरक्षकोंने यह सुना कि प्रात: जम्बूकुमार वैराग्य लेंगे तो उन चारोंने कठोर मुनिपदका भय दिखाकर गृहस्थीके विलास वैभव भोगनेकी प्रेरणा की। किन्तु जम्बूकुमारने पराश्रित बाधासहित नश्वर, पापबंधके कारण और अटपटे संसारके काम भोगोंकी निस्सारता समझाई—"सपरं बाधा सहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं। जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा" स्वाधीनता सुख और पराधीनता दु:खका माना हुआ स्वरूप है। भोजन, कपड़ा, मकान आदि परवस्तुएं ही तो भोग हैं। सो प्रथम तो ये पर हैं ही, फिर ये परवस्तुएं भी पराश्रित हैं। कहींसे अन्न ढूंढ़ना खरीदना है, कहींसे शाक और फल औषधियां लानी, मंगवानी, रखानी, बनानी व खानी पीनी हैं। समस्त जगत्के लोग और उनकी सारीकी सारी जिन्दगी इसी नौन तेल लकड़ीके फेरमें लग जाती है। मरनेकी फुरसत नहीं। काम बाकी पड़ा रह जाता है इसी खाने पीने पहिरनेका। "आगाह अपनी मौतसे कोई बसर नहीं। सामान सौ बरसके पलकी खबर नहीं।" आज कौन सा स्वतंत्रताका जमाना है कि स्टूडेन्ट सुप्रिडेन्टकी आज्ञाके अन्दर या नियमोंके बन्धनमें नहीं रहना चाहता, पिताके बंधनमें पुत्र नहीं रहना चाहता, किन्तु खटका है क्या किसीको अनादिका, कर्म और शरीरके बन्धनका। हाँ व्रती जरूर कभी कहते है कि हम तो भाई खान पानकी मर्यादाके बन्धनमें हैं। गृहस्थको गृहजालके बन्धन जितने नहीं खटकते जितने आत्मलक्ष्यशून्य व्रतीको त्यागके बन्धन खटकते हैं। दूसरे ये कामभोग विघ्न बाधाओं सहित हैं। आज सर्दीका मौसम है दही नहीं खा सकते। अब गर्मी है, चाय नहीं पी सकते। अब वर्षा है चावल नहीं खा सकते। आज मैं बीमार हूं, कल बाजार बन्द है, परसों पैसा नहीं है, नरसों कोई आदमी बाजारसे सामान लाने वाला नहीं है, तीसरे ये भोगकी चीजें ऋतु ऋतु पर आती व चली जाती हैं, चौथे इन काम भोगकी वस्तुओंके संग्रह रक्षण भोग व नाशमें भारी आफत आकुलता होनेसे महान पाप बंध होता है, पांचवें ये काम भोग विषम हैं। दाल अच्छी है तो रोटी ठीक नहीं। अन्न सस्ता है तो पानी खारा है, आदमी अच्छे तो रहनेको मकान नहीं हैं या आगमके अनुसार भोगोंकी विषमता इस प्रकार है कि "जे जे मन वांछित विलास भोग जगत्में ते ते विनाशीक सब राखे न रहत हैं। और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिणाम ते अविनाशीक धारारूप ह्वै बहत हैं॥ एक तान दुहु माँहि तातैं बांछापुरी नाहिं ऐसे भ्रम कारज कों मूरख चहत है। सतत रहे सचेत पर सो न करे हेत यातें ज्ञानवंतको अबंछक कहत हैं॥"

९०६. विद्युच्चरका विवेक—यथार्थमें इन भोगोंको भोगकर क्या आत्मकल्याण किया? सोचो तो यही उत्तर मिलता है—इन भोगोंके भोगसे मैं अपने आप ठगा गया। ऐसा युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तर सुनकर उपस्थित लोग जंबूकुमारके आत्मलक्ष्यका विरोध न कर सके, चुप रहे। इस कथनीका जैसा असर छिपे हुए विद्युच्चर चोरपर पड़ा, वैसा किसीपर

जायगा, किन्तु उपयोग इसके स्वभावसे बंधा है तो उस उपयोगका कैसा दुरुपयोग किया जा रहा है, इस बात पर ज्ञानी संत पुरुष ही समझ सकेंगे कि कितनी दयनीय अवस्था है ? ऐसी अवस्थावोंमें पड़े हुए गृहस्थजनोंको दृष्टिका बहुत बड़ा सहारा है। आत्माको शान्ति देने वाला और इसका उद्धार कर सकने वाला तो यह जिनवचन है। यही अमृत है। जिनको यह जिनवचनामृतका कर्णपात्रसे पीनेका अवसर नहीं मिल रहा वे भाग्यहीन हैं और जो कर्णपात्रसे इस जिनवचनामृतका पान करते हैं और अंतरंग चाहसे अपना विशुद्ध लक्ष्य बना लेते हैं उनके समान पवित्र किसे कहा जाय ?

९०९. शुद्ध दृष्टिके प्रतपनसे कषायोंका शैथिल्य—यथार्थ तथ्यभूत अंतस्तत्त्वका अनुभव जगनेपर उनके चारों प्रकारकी कषाये स्वयं शान्त होने लगती हैं। क्रोध किसपर करना ? जैसे बड़े पुरुष होते हैं वे अपराधीको भी, सामान्य अपराधीको भी उपेक्षा करके अरे जाने दो बेचारे को, यों सोचकर क्रोध तज देते हैं, तो ज्ञानीसे बढ़कर और बड़ा किसे कहा जाय ? ज्ञानीपुरुष अपराध करने वाले पुरुषपर भी एक ज्ञानबलसे उपेक्षा करके, जाने दो बेचारेको, समझ नहीं हैं, कोई गालियाँ देता है, निन्दा करता है तो इस अज्ञानीको समझ नहीं है अथवा यह अपनी शान्तिके लिए अपनी चेष्टा कर रहा है, यह मेरेमें कुछ परिणमन नहीं कर पाता, मैं ही स्वयं इसके वचनोंपर ध्यान देकर अपनेमें असर बनाऊँ तो वह अपराध मेरा है, न कि दूसरेका है। मैं दूसरेके अपराधसे कभी दुःखी नहीं हो सकता। स्वरूप ऐसा है। जब भी मैं दुःखी होऊंगा तो अपने ही अपराधसे दुःखी होऊंगा, दूसरा मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। यों समझकर वह ज्ञानी पुरुष क्रोधको तजता है। ज्ञानीका चिन्तन है कि इस मायामयी दुनियामें जहाँ ये दिखने वाले लोग स्वयं अशरण हैं, मलिन हैं, इनको अपना क्या रौब दिखाना ? और जो मेरी समृद्धि है, जो मेरा रौब है वह तो भीतर ही भीतर अनुभूत होकर आनन्द प्रदान किया करता है। मानकषाय नहीं रहती। क्या अपना लोकमें उच्चपन बतानेका भाव करना कि मैं कितना बड़ा हूँ, मेरी कैसी इज्जत है, लोग कुछ समझ जायें, इस प्रकारकी भावना सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषमें नहीं होती। वह जान रहा है कि तथ्यभूत चैतन्यमात्र मैं आत्मा यह हूँ। इसके मायाचार नहीं जगता। मनमें कुछ हो, वचनमें कुछ हो, किसीसे कुछ कह दिया, किसी दूसरेसे कुछ कह दिया, इसका हिसाब रखना बड़ा मुश्किल हो जायगा, यह बात गुप्त रहे, यह ही रहे, यह हिसाब रखना बड़ा कठिन लग रहा है ज्ञानीपुरुषको। इसका ख्याल बनाये रखना है, इसको यों करना है, इसको यों नहीं समझने देना है, कहीं कुछ कहीं कुछ कहना, इसमें तो दिमाग परेशान हो जाता है, इसका हिसाब ही रखना कठिन हो जाता है। क्या करना है ? जगतमें कौनसा पदार्थ आदेय है और हो भी सकता किसी परिस्थितिमें। वैभव अथवा अन्य कुछ तो स्वयं

निर्विकल्प विज्ञानघन अंतस्तत्त्वके अनुभवसे बहिर्गत है। तो जो पुरुष व्यवहारपक्ष, निश्चय-पक्ष दोनोंका उल्लंघन करके एक निर्विकल्प ज्ञानघन अंतस्तत्त्वका अनुभव करता है वही समस्त विकल्पोंका उल्लंघन करता है और समयसारका अनुभवन करता है, जब बात ऐसी है तो आत्महितार्थी समस्त संकटोंसे मुक्ति चाहने वाले विवेकी पुरुष सभी प्रकारके नय पक्षों में त्यागकी भावनाको करेंगे, पर उनके त्यागनेकी भावनाका क्रम बना है। निश्चय व्यवहार में कोई निश्चय छोड़ दे और व्यवहार ग्रहण करे, और कहे कि तुमने ही तो यह उपदेश किया है कि दोनों पक्ष छोड़ना है, तो एक पक्ष छोड़नेका हम सिलसिला लगा रहे हैं, निश्चय पक्षको छोड़ रहे हैं तो यह क्रम नहीं है। क्रम यह है कि पहिले दोनों पक्षोंकी बात अच्छी तरह जान लें और उनसे जो कुछ अपने लिए प्रेरणा मिलती है उसको भी समझ लें। पश्चात् व्यवहारनयका विरोध न करके माध्यस्थ होकर निश्चयनयका आलम्बन करके पहिले मोहको दूर करें और फिर दोनों ही पक्षोंसे च्युत होकर एक चैतन्यमात्र स्वका अनुभव करें। जो पुरुष नय पक्षपातको तजकर स्वरूपमें गुप्त रहकर नित्य निवास करता है वह विकल्पजालोंसे च्युत हुआ शान्त होकर साक्षात् अमृततत्त्वका पान करता है।

९०८. **दृष्टिका प्रभाव**—संतप्त पुरुष पश्चात् विवेकके बलसे, ज्ञानके बलसे कितना शीघ्र अपनेमें शान्तिका अनुभव कर सकते हैं, यह सब प्रयोग करके जाना जायगा और समझमें आयगा कि हम आप लोगोंके लिए दृष्टिका लक्ष्यका बहुत बड़ा महत्त्व है। इस अवस्थामें श्रावक अवस्थामें दृष्टिका ही बहुत बड़ा सहारा है। स्थिति तो ऐसी है जिसे कह सकते दयनीय। क्या प्रयोजन है कि अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमें ऐसा उपयोगको भिड़ाया जाय, तन्मय किया जाय। बात तो है भिन्न किन्तु आकर्षण इतना है कि एकमेक करते हैं। जो बात त्रिकाल नहीं हो सकती है उसको करनेके सपने करना, अपना उपयोग बनाना यह दयनीय स्थिति है कि नहीं? यदि कोई एक बालक किसी बड़े वजनदार लोहेके चौखटको सरकानेका प्रयत्न करे, उसके सरकानेमें पसीना भी आ जाय, सरके भी नहीं और रोने लगे, तो ऐसे बालकको देखकर किसे न दया आयगी और किसे न उसकी मूर्खता समझमें आयगी? तो यों ही भीतर श्रद्धामें जो इस तरहके परोन्मुख बने हुए हैं कि अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमें चेतन अथवा अचेतनमें जो कर्तृत्वकी धुन बनाये हैं, पालन पोषण करना, परिवर्तन कर देना, कुछ अवस्थायें कर देना, ऐसी जो हठ बनाये हुए हैं और उस हठपर रहकर अपने आपके इस अमूल्य नरजीवनको उलझाये हुए हैं तो इस बातपर जो विवेकी पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, जिन्होंने आत्मानुभव करके तथ्य आनन्दका अनुभव किया है वे जानते हैं कि कितनी दयनीय अवस्था है, जिसके फलमें इसे कुछ मिलना नहीं, है यह अकेला ही, अकेला ही जन्मा, अकेला ही विकल्प कर रहा, अकेला ही परेशान है, अकेला ही मरण करेगा, अकेला ही

देखिये--सबसे भयंकर फल मायाचारीका मिलता है। मायाचारी पुरुषपर दूसरे लोग टूट कर गिरेंगे कि उसकी जान भी सुरक्षित नहीं रह सकती। किसी बैरीको सबसे अधिक गुस्सा आयगी दूसरेपर तो उसका मायाचार समझनेपर अधिक गुस्सा आयगी। तब बड़ा कठिन होगा। तो हम ऐसे धंधोंसे, कषायोंको दुर्भावनाओंको न बनायें और अपने सम्यग्ज्ञानपर अपने सदाचारपर विश्वास रखें। मेरा ज्ञान सही है तो, मेरा आधार सही है तो मुझे कोई दुःखी कर सकने वाला नहीं है। ऐसा सुन्दर व्यवहार करता हुआ गृहस्थ वस्तुस्वरूपका ज्ञान करके, व्यवहार निश्चयकी बात समझ करके व्यवहारका विरोध न करके, निश्चयका आलम्बन करके मोह दूर करे और फिर इसही आनन्दघन अन्तस्तत्त्वके निकट रहा करें, यह है संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय।

९११. तत्त्ववेदीका वेदन और कर्मसंपर्कसे दूर रहनेका यत्न—यहां चल रही है कुछ सूक्ष्म चर्चा। एक दृष्टिमें यह आ रहा है कि आत्मा कर्मोंसे बद्ध है, बद्धका अर्थ है बंधा हुआ। दूसरी दृष्टिमें यह आ रहा है कि आत्मा कर्मोंसे बंधा हुआ नहीं है। चेतनमें चैतन्यमात्र निज तत्त्वमें ये दोनों प्रकारके आशय पक्षपात हैं। जो तत्त्वज्ञानी पुरुष होता वह दोनों पक्षोंको छोड़कर अनुभव करता है कि यह तो चित् चेतन चित् ही है। अपने आपके आत्माके भीतर उपयीग ले जाकर यह चर्चा सुनना है। कर्मोंका हमें विशद परिज्ञान नहीं है जैसे कि आँखोंसे खम्भा देख कर हम समझ जाते हैं कि यह है खम्भा, इस तरहका ज्ञान हमें कर्मके बारेमें नहीं हो रहा। किन्तु आगम बताता है और युक्ति इसका समर्थन करती है कि हम आप सबके साथ कर्म लगे हैं। कोई भी पदार्थ विपरीत नानारूप परिणमे, यह किसी विलक्षण उपाधिके सन्निधान बिना हो नहीं सकता। पानी कभी ठंडा हो, कभी गर्म हो, कभी कम गर्म हो, कभी अधिक गर्म हो, ऐसी जो नाना अवस्थायें बनती हैं वे सब केवल परिणमनोंकी ओरसे ही नहीं बनतीं। अनेक प्रकारकी उपाधि उसके समक्ष है तब बनती हैं। गर्मी पड़े, आग पास हो, अनेक उपाधियाँ जलकी इन विभावपरिणतियोंकी कारण हैं। इसी तरह यह मैं कभी सन्तोष मानूं, कभी असंतोष करूं, कभी विह्वल हो जाऊँ, कभी दुखी, कभी सुखी बन जाऊँ, ये जो नाना अवस्थायें नजर आ रही हैं, इनका उपाधिभूत साधन कर्म है। तो कर्म तो वास्तवमें है अपनी परिणतिका नाम। जो मेरे आत्माके द्वारा किया जाय उसे कहते हैं कर्म। अब उस कर्मके होनेपर जो कुछ उपाधिमें बात बनती है उसका नाम रखा है कर्म। तो निमित्तके नामपर उसका नाम रख दिया कर्म। कर्म वास्तवमें आत्माकी परिणतिका नाम है। फिर जो विभावपरिणतिका निमित्त पाकर जो सूक्ष्म वर्गणायें बंध जाती है, प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग पड़ जाते हैं उनका नाम कर्म रख दिया। वे सब साथ लगे हैं।

पुण्यके अनुसार हुआ करते है। आत्मशक्तिपर, कर्मविपाकपर, दोनोंपर श्रद्धा है विवेकी पुरुषको। जिसका जितना काम है, जिसका जितना निमित्तपना है उसकी उतनी बात जाननेमें इस ज्ञानीकी अनेक समस्यायें सुलझ जाती हैं, किसी व्यापारमें नुक्सान हो गया तो ज्ञानी जानता है कि प्रथम तो वह भिन्न पदार्थ था। जिसकी हानि हुई है उससे मेरेमें क्या बिगड़ा ? दूसरी बात यह है कि मेरा उदय नहीं है, पुण्य नहीं है, पहिले था अब नहीं है, फिर कभी होगा। जैसे सुख दु:ख चक्रकी तरह घूमता है इसी तरह पुण्य और पाप भी चक्र की तरह घूमते हैं। विवेकी तो वह कहलायेगा जो पुण्यके फलमें हर्ष न माने और पापके फलमें विषाद न माने। यह बल कब आ सकेगा जब कि अविकार ज्ञानमात्र अपने स्वरूप की सुध हो।

६१०. सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे शान्ति लाभकी स्थिति—सम्यग्ज्ञानका अद्भुत प्रताप है। सम्यग्ज्ञानके बिना हम आप संसारके संकटोंसे पार नहीं हो सकते। कितने ही उपाय रच लें, सम्यग्ज्ञान होना ही पड़ेगा, यदि शान्त रहना चाहते हो। अपना भला सम्यग्ज्ञानसे ही हो सकता है।इसमें प्रमादी न होना चाहिए। बाह्य पदार्थोंके ऊधममें व्यापारमें प्रमाद हो जाय तो उससे हानि क्या है ? कदाचित हानि भी हो जाय तो किसी दिन लाभ भी तो हो सकता है। और ये तो सब उदयाधीन चीजें हैं किन्तु अपने आपका ज्ञान न करें, मिथ्याज्ञानमें रहें, भ्रान्तिमें बने रहें तो यह तो साक्षात् हानि हो रही है। तुरन्त भी शान्ति नहीं पा रहे, दु:ख पा रहे और भविष्यमें भी क्लेश पायेंगे। वहाँ इसको किसी भी प्रकारका लाभ नहीं है। अपने आपपर दया करके सच्चा ज्ञान करनेकी धुन बनायें। जिनपर आज विश्वास बनाकर मौज मान रहे हो—पितापर, पुत्रपर, स्त्रीपर, पतिपर जिस किसीपर एक विश्वास रहे—मेरे तो ये है, मुझे अब क्या डर ? मुझे अब क्या क्लेश ? ऐसा सोचना निरर्थक है। स्वयंका यदि पापका उदय चल रहा है तो यहाँ कोई मददगार नहीं हो सकता। दूसरे लोग भी तब तक पूछते हैं जब तक पुण्यका उदय है। यों ही ठलुवा अपने बिना इस सम्बंधके कोई पूछने लगे तो कौन पूछता है ? पिता वृद्ध हो गया तो उस पिताकी जायदाद भी सब हथिया ली, ऐसी कुछ स्थिति कर ली कि अब उसकी अपेक्षा न रही। ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलेंगे। उस वृद्ध पुरुषको कोई सहारा नहीं मिलता तो इसमें दोष किसका है ? दोष तो सबका खुद खुदका है। कोई वृद्ध असहाय है तो उसमें उसका ही अपराध है। स्वयंके चित्त को सरल न रखा, ज्ञानमें न रखा, छल कपटसे दूर न रखा, दूसरे लोगोंके हितकी वाञ्छा न रखी, पापबंध होते रहे, उदय आता है दु:खी हो जाते है। हम आप दु:खी होंगे तो अपनी करतूतसे होंगे। अत: ऐसी करतूत करें ही नहीं कि व्यर्थमें दु:खी होना पड़े। वह क्या करतूत है जिससे दु:खी हुआ करते हैं ? अज्ञान मोह कषाय करना और मायाचारी करना।

जान सकता है। श्रोताकी गल्तीको वक्ता अपने आपपर ढाले, इसमें वक्ताका कैसा मातृवत् प्रेम है श्रोता पर, इसका अंदाज कर लो। और आचार्य यह कह रहे हैं कि यदि मैं न दिखा सकूँ। अरे न दिखा सके तो इसमें आचार्यकी गल्ती है या उस समझने वालेकी गल्ती है? समझने वालेको समझने वालेकी गल्ती न दिखाकर उसे अपने आपपर लेते कि मैं न दिखा सकूँ, तो अब कुन्दकुन्दाचार्यके विशाल हृदयको समझिये "तो छल ग्रहण न करना," इसका भाव यह है कि यह विश्वास रखना कि मैं न समझ सका, अब यहाँ उद्यम इसीका करिये कि अपना पूरा पड़ेगा तो एक इस आत्मतत्त्वके समझनेसे ही पड़ेगा। कोशिश करो आगे, यह विश्वास करके मत रह जावो कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं है, बेकार बात है। ऐसी अनास्था बनाकर अपना बुरा न करना, यह अर्थ भरा है छल ग्रहण न करना ऐसा कहनेमें। जिनवचनामृत जिसको नहीं मिला, जिन्होंने इसका उद्यम नहीं किया उन्होंने नरभव पाकर बहुत बड़ी गल्ती की, जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। इस अंतस्तत्त्वके रुचिया पुरुष कम होते हैं। होने दो कम, उसमें अपनेको ही क्यों न समझा जाय? मुझे करना है, ऐसी लगनके साथ सम्यग्ज्ञान करें तो उसका जीवन सफल है। बाहरी बातें तो सब असार हैं, थोथी हैं। इनमें ही उपयोग रहे, लक्ष्यहीन बनें तो इससे अपने किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

९१४. जीवकी मूढता अमूढता व चिन्मात्रताका वर्णन—आत्माके सम्बंधमें लोग किस किस निगाहसे क्या क्या भेद करते हैं—इसका वर्णन चल रहा है। और ज्ञानी जीव उन सब निगाहोंसे सब कुछ जाननेके बाद सारे निगाहोंको छोड़कर केवल एक विशुद्ध आनन्द का अनुभवन करता है। यहाँ मुख्य दृष्टियाँ दो दी गयी है—निश्चयनय और व्यवहारनय। व्यवहारनयमें तो जीवका परसे सम्बंध जोड़ा, परभावोंसे सम्बंध जोड़ा और निश्चयनयसे केवल जीवमें ही स्वयं जो तत्त्व पाया जाता है उसकी बात कही। कोई लोग कहते हैं कि इस जीवमें मोह है, यह जीव मूढ़ है, यह कहना तो बहुत ठीक जंच रहा है। मोह खूब समझमें आता। लेकिन मोह ठीक उनके ही समझमें आ सकता जो मोहरहित भावको भी पहिचानते हों। मोह क्या है, इसका वर्णन मोहरहित अवस्था क्या होती है यह समझे बिना ठीक न हो सकेगा। मोह एक आत्मामें आगुंतक भाव है, आत्माकी स्वयंकी निजकी चीज् नहीं है। हुई है आत्मामें परिणति, पर उपाधिके निमित्तसे हुई है। इस मोहसे बेसुधी रहती है। अपने आपकी सुध नहीं रहती, अन्य सब चेष्टायें चला करती हैं। तो एक दृष्टिमें जीव मूढ़ जंचा, मोहयुक्त जंचा और निश्चयकी दृष्टिमें जीव मूढ़ नहीं है। मोह, विकार वाला जीव नहीं है, इन दो निगाहोंमें दो प्रकारकी बातें समाती हैं चित्तमें किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं, जिन्होंने आत्माके सद्भूत स्वरूपको जाना है वे यह न कह सकेंगे कि जीव है क्योंकि वह जीवके स्वरूपमें ही नहीं है, और न यह कह सकेंगे कि जीव मूढ़ नहीं है,

६१२. कर्मचर्चाके प्रसंगमें प्राप्तव्य शिक्षा— हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम सदा सावधान रहें, सदाचारको अपनायें। कभी अन्यायसे, छल कपटसे, धोखेसे कुछ लौकिक लाभ होता है तो उसको भी हम तजें, उससे कई गुना लाभ होगा। छल करके जो हम लाभ पाना चाह रहे हैं, न करें छल, अपनेमें विशुद्धि रखें, भले ही कुछ दिन परेशानी हो, लेकिन उसका फल उत्तम मिलेगा। पब्लिकमें, पड़ौसियोंमें छल रखने वाला पुरुष सफल नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानी जानता है—कर्म साथ लगे हैं, उनके उदयमें फल भोगना पड़ेगा, इसलिए ऐसे कर्म ही न किये जायें, अपनेको बड़ा सावधान रखा जाय। दुनिया बहती है तो बहने दो, आखिर ज्यादहसे ज्यादह यही तो होगा कि इस जीवनभर हम बड़े वैभवशाली न बन सके, इसके आगे और क्या होगा? अपनी सच्चाईपर रहें, अपने विश्वासपर रहें तो इसके फलमें लौकिक दृष्टिके हिसाबसे ज्यादहसे ज्यादह खोटा फल क्या होगा? हम अगर सदाचारसे रहें, ज्ञानपूर्वक रहें तो अधिकसे अधिक यही हो सकता है कि हम अपने इस जीवनमें वैभवशाली न बन पायें, इससे बढ़कर और तो कुछ हानिकी सम्भावना नहीं। लेकिन जो वैभवशाली बन गए उन्हें भी मरकर जाना पड़ेगा और जो इस तरह धर्मका साथ निभाकर रहें उन्हें भी जाना पड़ेगा। अब अगले भवमें बतलावो कि कौनसा साधन ऐसा है कि वैभवशाली बनें, साधनसम्पन्न बनें, सुख समृद्धिमें रहें? जैसा कमाया वैसा ही परिणमन वहाँ स्वयमेव जुटेगा। कितनी सरल कुन्जी है शान्त सुखी होनेकी, आत्मकल्याण करनेकी। अपने उपयोग द्वारा, अपने ज्ञानके द्वारा अपने आपके सहज स्वरूपको जानने लगें, संकट जैसे मिटने होंगे मिटेंगे। कोई पूछे कि हमको एक काम बताओ, जिससे हम शान्त रह जायें, इस दुःखमय संसारसे छूट जायें, क्लेश ही क्लेश हमें न सतायें तो वह एक काम क्या है? यही है एक काम। अपने ही ज्ञान द्वारा अपने आपके उस विशुद्ध चैतन्यमात्र ज्ञानस्वरूपको निहारने लगें। वही दृष्टि जगायें, वही लक्ष्य बनायें। इसमें सफल हो पायें तो, न हो पायें तो, काम केवल एक यही है।

६१३. आत्माके ज्ञानसे ही आत्मलाभकी पूर्तिका संदेश—कुन्दकुन्दाचार्य देव समयसारकी भूमिकामें बहुत कुछ कहनेके बाद कहते हैं कि मैं उस एकत्व विभक्त आत्माको अपने वैभवके अनुसार दिखाऊँगा। जो मैंने शास्त्रोंसे जानकारी की है, जो मेरे पास युक्तियाँ हैं, गुरुवोंके चरणोंकी सेवाके फलमें उनकी दृष्टि आनेसे, वचन मात्रसे, मुद्रा मात्रसे चरणसेवा कर करके जो सीखा है उस वैभवके द्वारा। और जो कुछ अभ्याससे, ध्यानसे अनुभव पाया उसके अनुसार हुए भव्य जीवोंको मैं इस पवित्र आत्मतत्त्वको दिखाऊँगा। यदि दिखा दूँ तो स्वयं प्रमाण करके स्वीकार कर लेना, न दिखा सकूँ तो छल ग्रहण न करना। "न दिखा सकूँ तो छल ग्रहण न करना" इस वाक्यमें कितना मर्म भरा पड़ा है? इसे गुणानुरागी पुरुष

समझकर कि वाह्य वैभवके मेलके सम्बंधमें रचनामें रहकर रच रचकर फायदा कुछ न पाया जायगा। जो जीव मरणोन्मुख हैं उनको देखकर यह पाठ बड़ी जल्दी सीखा जा सकता कि इन समागमोंमें जीवको लाभ कुछ न मिलेगा। देखो ना दूसरे लोग ५०-६०-७० वर्ष राग रागमें ही विताकर अकेले ही मरण करके जा रहे हैं। यहाँके ये वैभव अव साथ नहीं जा रहे है। लाभ क्या है ? तव इन समागमोंसे इस जीवको रंचमात्र लाभ नहीं है। जिसे लाभमें शुमार करते हैं वह इस स्वप्नवत् जगतकी असार वात है। इसको समझले कोई कि समागम सव असार हैं, इनमें ही चित्त लगाये रहनेमें आत्माका उद्धार नहीं है, इससे हटकर अपनी ओर आये, अपनी वात सुनें, अपना वैभव देखें, वड़े-वड़े ऋषि संतोंके निकट पहुँचें तो अपनी वात अपनी समझमें आनी सुगम होगी।

९१६. दृष्टान्तपूर्वक राग और अरागसे भिन्न विधिरूप चित्स्वरूपका निर्देश—एक दर्पणका दृष्टान्त ले लो—दर्पण वतलावो छाया सहित है या छायारहित है ? छाया मायने प्रतिविम्ब। दर्पणके सामने हाथ कर दिया तो दर्पणमें हाथका प्रतिविम्व आ गया। जव दर्पणका स्वरूप कहने वैठे तो कोई यह कहेगा कि दर्पण प्रतिविम्व सहित है। तो यह वात सत्य वतायी जा सकती कि प्रयोग द्वारा हाथ अलग किया और कहा—देखो प्रतिविम्व सहित है दर्पण, तो अव कहा रहा दर्पण प्रतिविम्व सहित ? कोई कहता है कि दर्पण प्रतिविम्व रहित है तो उसके इस कहनेमें तथ्य तो है, लेकिन प्रतिविम्व रहित होना यह दर्पणमें सद्भावात्मक स्वरूप तो नहीं है। दर्पणका स्वरूप सद्भावात्मक होगा निषेधात्मक नहीं। दर्पणमें क्या है यह वतलावो। यों कहना कि दर्पणमें प्रतिविम्व नहीं है तो इसमें दर्पणका स्वरूप नहीं आया। तव यह कहा जायगा कि अतिस्वच्छता मात्र दर्पण है। तो इसी तरह आत्माके सम्बंधमें कोई पुरुष कहता है कि आत्मा रागी है, राग सहित है। एक तो वता सकते हैं कि जो परमात्मा हैं, उत्कृष्ट साधुजन हैं वे भी आत्मा हैं, रागसहित कहाँ हैं, और एक दूसरा कहता है कि आत्मा रागरहित है। रागरहित है—इतना कहनेमें कुछ वात तो आयी, लेकिन स्वरूप क्या आया ? हम कहेंगे कि चौकी रागरहित है, रागरहित बहुतसे पदार्थ हैं तो निषेधसे स्वरूप तो न आया। आत्मामें जो आत्मसत्के ही कारण तत्त्व हुआ उसको वतायें तो आत्माकी वात कही गयी समझिये क्या है वही चेतन आत्मा चिन्मात्र है ? चैतन्यस्वरूप है।

९१७. जीवके द्वेषित्वके सम्बन्धमें नयविभागसे वर्णन—किसीके अभिप्रायसे यह आता है कि आत्मा द्वेषसहित है। अरे देखो ना—सभी लोग रागद्वेषमें रहते हैं, एक दूसरे को सुहाता नहीं, एक दूसरेसे ईर्ष्या करते। तो यह रागद्वेष ही है जीवका स्वरूप। तो कोई कहता है—नहीं, जीव द्वेषरहित है। द्वेषसहित कहने वालेको तो खुलासा समझाया जा

क्योंकि मूढ़ न होना, यह कोई स्वरूपकी बात नहीं है। यह तो किसी स्थितिका कथन है। जैसे तखतपर बीट पड़ी हो तो कहते हैं कि यह तखत बीटसे भिड़ा है और जब मानो बीट न हो, हटा दी जाय और उस समय कोई कहे कि तखत बीटसे भिड़ा नहीं है, तो बीट भिड़ा न होना यह तखतका स्वरूप नही है, यह उसकी एक स्थिति कही जा रही है कि तखत पर अन्य पदार्थका संयोग नहीं है। तखतका स्वरूप तो वह कहलायेगा जो तखतमें रह रहा है। मूढ़ होना, मूढ़ न होना ये जीवके स्वरूप नहीं हैं। जीवका स्वरूप तो वह होगा जो जीवमें भरा होता है। जीवमें भरा है ज्ञानानन्द चैतन्यमात्र। इसे ज्ञानानन्द भी नहीं कह सकते क्योंकि किसी भी वस्तुका स्वरूप स्वभाव एक होता है और वह अवक्तव्य है। उस स्वरूपको जब कह बैठेंगे तो उसके भेद किए जायेंगे समझने के लिए, तब प्रतिपादन होगा। तो जीवमें ज्ञान है, आनन्द है, ऐसा कहकर बोध तो होना है जीवका क्योंकि वह अनुकूल भेद किया गया है, लेकिन जीव क्या है ? एक निगाहमें इन शब्दोंसे न समझा जा सकेगा। इसको भी अभेद करके कहा— जीव चित्स्वरूप है, चैतन्यमात्र है। जीव चैतन्यमात्र है—इस शब्दसे बात तो कही गई, लेकिन सही परिज्ञान इस कथनसे भी नहीं होता किन्तु प्रयोगसे होगा, दृष्टिमें आनेसे होगा। यह है जीव। जीवके सम्बन्धमें व्यवहारवादी कहता है कि जीव मोहयुक्त है, निश्चयवादी कहता है कि जीव मोहरहित है, किन्तु जो तत्त्ववेदी पुरुष हैं वे हमेशा चितको चित् ही जानते हैं। ऐसी ही बात अन्य विकारोंकी है।

९१५. जीवके रागित्वके सम्बन्धमें नयविभागसे वर्णन— व्यवहारपक्ष कहता है कि जीव रागी है। जीव रागी है, यह व्यवहारपक्ष क्यों कहलाया कि जीवमें स्वभावतः स्वरूपतः राग नहीं है, वह तो औपाधिक भाव है। उस औपाधिक भावरूप जीवको कहना सो व्यवहार है। तो निश्चयपक्ष कहता है कि जीव रागी नहीं है। जीवमें रागका स्वभाव नहीं है। रागका स्वरूप नहीं है। अतः जीव रागी नहीं है। इन दोनोंमें कुछ विकल्प हैं, कल्पना की हुई है पर तत्त्वज्ञानी पुरुष तो न राग देखता है, न रागरहित देखता है, क्योंकि दृष्टिमें तो वह चेतन चैतन्यमात्र ही प्रतिभात होता है। अपने अन्तःस्वरूपकी बात चल रही है। अपनी ही बात अपनेको कठिन तब तक लगती है सुनने, समझने, करनेमें, जब तक यह उपयोग बाह्यपदार्थोंमें रागी मलिन हो। किन्तु थोड़ा भी उपयोग दें, आत्महितकी रुचि जगायें तो शब्द तो वे ही हैं जिनके अर्थ समझमें आ रहे हैं। आत्मा इन शब्दोंका अर्थ कुछ नहीं समझता। 'राग' इस शब्दका अर्थ कौन नहीं जानता, 'स्वभाव' इस शब्दका अर्थ कौन नहीं जानता ? इन्हीं शब्दोंको बोलकर आत्माके स्वभावकी बात कही जा रही है। कोई शब्दके अर्थका ज्ञान न करे, ऐसा नहीं है, किन्तु जब उपयोग मोह रागमें विकल्पमें रहकर बाह्यकी ओर रहता है तो अपने आपके स्वरूपकी बात समझमें कैसे आये ? जरा भी संसारको असार

चिन्तन करें, धर्मप्रसंगकी बड़ी-बड़ी बातें करें, विधान करना, जाप करना, पूजा करना, तीर्थयात्रायें करना आदिक भी हम अनेक कायचेष्टायें करें, इतनेपर भी संकटोंसे छूटनेकी जो कुञ्जी है वह नहीं मिली। और मिली है वह कुञ्जी तो उसके लिए यह व्यवहार धर्म उसके बढ़ावामें सहयोगी है। जब किसी बालक को हुचकी आती हो और उस बीच कोई बालक उसे बड़ा भारी अपराध लगाये बड़े क्षुब्ध ढंगसे बोलकर—जैसे कि तुम उसके घर अकेले गए, तुम वहाँसे चोरी करके आये आदि—तो कुछ देरको उस बालककी हुचकी भी बंद हो जाती है। उसकी दृष्टि उस समय पलट गयी, वह कुछ चिन्तामें पड़ गया, कुछ सोचने विचारने लगा, लो दृष्टि बदल जानेसे उसकी हुचकी बन्द हो गयी। तो जब दृष्टिका छोटी-छोटी जगह भी हम प्रभाव तक रहे हैं तो फिर आत्मस्वरूपमें यदि हमारी दृष्टि लग जाय, अविकार चैतन्यमात्र, केवल प्रतिभासमात्र, केवल ज्ञानज्योतिमात्र आत्मतत्त्वकी ओर यदि दृष्टि लग जाय तो समझो कि तत्काल ही समस्त संकट टल गए। अब वह दृष्टि हटी तो संकट फिर सामने आ गए वह बात अलग है, पर एक बार दृष्टि होकर संकटरहित स्थितिका अनुभव करके फिर संकट आये तो वे सब संकट सुगम सह्य हो जाते हैं। तो सब कुछ हम आपकी दृष्टिका प्रताप है, और दृष्टि बदलनेके लिए, दृष्टि अपने आत्मस्वरूपमें लगाने के लिए रुचि नहीं जगती तो यह तो बड़ी भूल है कि जिन्दगीभर मंदिर आये, स्वाध्याय करें पर भीतरमें फर्क नहीं आया। जो अतीत आवश्यक बात है वह चाहे इस समय कठिन लगे, पर श्रद्धा ऐसी हो कि भले ही हो कठिन, आत्माकी बात समझना, लेकिन हमारा पूरा इस ही से पड़ेगा अतएव उसे हमें जानना ही है। ऐसा अपने आपमें अपना निर्णय बनायें। आत्माके सम्बंधमें यहाँ कोई पुरुष मान रहा है कि आत्मा कर्ता है। तो कोई पुरुष मानता है कि आत्मा कर्ता नहीं है, लेकिन तत्त्वज्ञानी कहता है कि वह तो चेतन है और चिन्मात्र ही है।

६१६. अनुभूत पुरुषको संकेतसे बोधकी सुगमता—जिसने जो बात देखी है वह थोड़ा भी सुनकर पूरा ग्रहणमें ले लेता है। जिसने जो बात नहीं देखी है उसे कितना भी बतायें, पर वह बात स्पष्ट बोधमें नहीं आती। जैसे किसीसे कहा कि अमुक व्यक्तिको अमुक घरसे, अमुक मोहल्लेसे बुला लावो, और उसने उसका घर देखा नहीं। तो उसे कितना ही समझा दिया जाय कि देखो अमुक जगह जाकर उस गलीमें जाना, फिर उस जगहसे उस जगह जाना, यों समझा देनेपर भी वह जब वहाँ जायगा तो शंकित ही रहेगा, क्योंकि उस बुलाये जाने वाले व्यक्तिका मकान इसने देखा नहीं है, और जिसने देखा हो वह तो जरा सा कह देनेभरसे तुरन्त उसके घरका सारा नक्शा ज्ञानमें खींच लेता है और झट वहाँ जाकर उसे बुला लाता है। ऐसी ही बात यहाँ जानना है कि जिसको आत्माके चैतन्यगृहका

सकता। देखो—यह पुरुष कितना प्रेमी है, सबका भला सोचता है, इसमें कोई द्वेषकी गंध भी नहीं आयी। द्वेपसहित जीव कहाँ रहा? अथवा साधुजन द्वेपसे कितना दूर रहते हैं, उनको द्वेषसहित कैसे कहा जा सकता है? परमात्मा तो द्वेषसे अत्यन्त दूर हो गए हैं, फिर द्वेपसहित आत्मा है, यह बात कैसे कही जा सकती है? यों समझा सकते हैं—पर यह दूसरा जो कह रहा है कि आत्मा द्वेषरहित है तो बात कुछ तथ्यकी है, आत्मामें द्वेषपर्याय नहीं है, आत्मा स्वरूपतः द्वेष पर्याय वाला नहीं है, लेकिन निषेधसे आत्माकी बात समझमें कुछ न आयी। कुछ विध्यात्मक ही स्वरूप बनाना चाहिये था कि तत्त्व देही पुरुष चिन्तन करता है कि आत्मा न द्वेषी है, न आत्मा द्वेषरहित है, किन्तु आत्मा चित् है और चैतन्यमात्र है, इतना विशेष और सूक्ष्म ढंगसे अपने आपका वर्णन क्यों किया जा रहा है? यों किया जा रहा है कि यह जीव विकल्प विपदाओंमें बहुत घिरा हुआ है, जो व्यर्थ है अनर्थ है और घिरा हुआ भी अपनेको समझ नहीं पाता कि मैं विकल्प विपदाओंसे घिरा हुआ हूँ। ऐसी दयनीय स्थिति में रहने वाले जीवको यह ज्ञानामृत यों पिलाया जा रहा है कि इसके वे व्यर्थके विकल्प हटें और अपने स्वरूपकी ओर उत्सुकता हो। यह जीव केवल चैतन्यमात्र है।

६१८. जीवके कर्तृत्वके सम्बन्धमें नयविभागसे वर्णन—कोई पुरुष कहता है कि यह जीव कर्ता है, करने वाला है। ऐसा कहने वाले तो अनेक हैं—मैं घर करता हूँ, मैं ही दुकान करता हूं, मैं ही अपने बच्चोंको पालता पोषता हू, मैं ही सबको सुखी करता हूँ। आदिक रूपसे कर्ता माना है। और गहरे चलें। कर्तृत्ववादमें तो कर्तृत्ववादके आशय वाला कहता है—देखो ना—जीव ही तो बँधता है, जीव ही तो पुण्य पाप करता है। तो इस तरह जीवको कर्ता कहना एक तो यह पक्ष है। दूसरा पक्ष कहता है कि जीव कर्ता नहीं है। कहाँ है कर्ता? वह तो अपने स्वरूपमात्र है। पर ये दोनों प्रकारके विधिनिषेधात्मक विकल्प हैं तत्त्वज्ञानी पुरुप चिन्तन करता है कि जीव कर्ता है यह भी बात नहीं है और जीव कर्ता नहीं है, यह भी स्वरूप नहीं है, किन्तु आत्मा चेतन है, चैतन्यमात्र ही है, यह है जीवका स्वरूप। चिन्मात्र जीवस्वरूप, अपनी दृष्टिमें आता है तो कर्म कलंक ये सब तुरन्त जल जाते हैं, निवृत्त होने लगते हैं। हमारा उत्थान हमारी दृष्टिके आधार पर होगा और कोई उपाय नहीं है। मुक्त होना है, सिद्ध होना है तो इसका उपाय क्या है? संसारके संकटोंसे हम सदाके लिए मुक्त हो जायें इसका उपाय क्या है? अरहंत सिद्ध भगवानसे खूब गिड़गिड़ायें, बड़े जोर-जोरसे स्तवन करें और आशा रखें कि यहां आकर हमें इस घरसे उठाकर अपने निकट ले जायेंगे, सो ऐसा करते होते तो वह भी हमारी आपकी तरह संसारी और दुःखी कहलाते। तो कौनसा उपाय है कि हम इन संसारके संकल्पविकल्पोंसे छूटकर सुखी शान्त हो जायें? मन, वचन, कायकी क्रियायें करें, मनसे बहुत-बहुत कल्पनायें

समागमोंके सम्बन्धमें खूब सोचते जावो, उनका फल भी सोचते जावो तो उन समागमोंकी असारताका बोध बड़ी सुगमतासे हो सकेगा। तो प्रारम्भिक उपाय यही है, यही करने लगिये। इन समस्त समागमोंकी बात सोचिये कि मेरे लिए ये लाभ रूप नहीं हैं, सारभूत नहीं हैं, ये सब असार समागम है। यों जब समागमोंमें असारता जंचने लगी तो सारभूत क्या है—इसकी जिज्ञासा बनेगी तब सब काम बनने लगेंगे। अन्यकी तो बात क्या, यह देह भी असार है। इसको भी अपने लिए अहित रूप समझें। तो सर्व प्राप्त समागमोंको असार समझें, यही परिज्ञान आत्महितकी रुचिका साधक बन जायगा। ऐसा निश्चय कोई करले तो यह भी एक बहुत बड़ा काम है।

९८१. जीवको भोक्ता माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका तात्त्विक निर्णय—जीव कर्मफलका भोक्ता है या नहीं, इस सम्बंधमें नयविभागको न जानकर भी लोगोंमें दो पक्ष चल रहे हैं कि जीव कर्मफलका भोक्ता नहीं है, साधारणतया मनुष्य इस पक्षके ज्यादह मिलते कि जीव कर्मफलका भोक्ता है। जैसे कर्म किया वैसे फल मिलेंगे, इस विश्वासके साधारणजन बहुत हैं और जो कुछ थोड़ासा अपनेको विद्वान जानते हैं, विद्या भी पढ़ी है, ऐसे कुछ लोग कहते हैं कि जीव तो अपरिणामी है, उसमें कर्मफल भोगकी कोई बात नहीं है और उन्हीं विद्वानोंमें से कुछ ऐसे हैं जो कहते कि करने वाला तो जीव नहीं है किन्तु भोगने वाला जीव है। किसी दार्शनिकके अभिप्रायसे यह जीव न कर्मका कर्ता है, न कर्मका भोक्ता है, ऐसा नित्य अपरिणामी एकान्त है। कुछ दार्शनिक यह कहते हैं कि जीव कर्मका कर्ता तो नहीं है, उसे तो प्रकृति करती है, पर प्रकृति अचेतन है। अचेतन कर्मफलको कैसे भोगे? भोगने वाली जो बात है वह चेतनमें ही सम्भव है, इस कारण कर्मफलको भोगने वाला जीव है। यह तो नयविभाग बिना जो अभिमत है वह बताया गया। अब नयविभाग पूर्वक उनकी बात सुनो। एक अभिप्रायमें जीव कर्मफलका भोक्ता है। कर्म उदयमें आते हैं और रागद्वेष मोह सुख दुःख आदिक अनेक परिणतियां चलती हैं। वह भोग ही तो है। जीवका जो अनुभवन है वह जीवका भोग है। जब रागद्वेषादिक रूप अनुभवन चल रहा है तो जीव उसका भोक्ता है। पर स्वभावदृष्टिसे देखनेपर क्या जीवका कर्मफल भोगनेका ही स्वभाव पड़ा है, क्या कर्मफल भोगनेका ही स्वरूप है? तब उत्तर मिलता है कि नहीं। जीव कर्मफलका भोक्ता नहीं है। फिर किसका भोक्ता है? यदि कहो कि किसका भोक्ता है तो कह लीजिये कि अपने सत्त्वका भोक्ता है, अनुभवता है। लेकिन शुद्धनयमें भोगनेकी बात का प्रश्न ही नहीं होता। उस नयमें तो केवल एक चिन्मात्र स्वरूप ही निरखा जा रहा है। तो एकके अभिप्रायमें जीव कर्मका भोक्ता है और एकके अभिप्रायमें जीव कर्मका भोक्ता नहीं है। ये दोनों तरहके आशय एक पक्ष हैं, विकल्प हैं। पक्षपातके मायने पक्षमें गिरना।

पता नहीं है उसे कितना ही समझाया जाय कि देखो—इस देहके अन्दर विराजमान जो अनादि अनन्त हो जो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हो, जिसमें अन्य कुछ नहीं टिकता, ऐसा विविक्त यह आत्मगृह है। यों खूब शब्दों द्वारा समझाया जाय लेकिन उसकी समझमें स्पष्ट बात आती नहीं है। और जिसने उस आत्मगृहको देखा हो अर्थात् अनुभव किया हो वह "चिन्मात्र" इतना ही शब्द सुनकर तुरन्त जान जाता है कि इसकी बात कही जा रही है। तो यह बात पानेके लिये थोड़ा अध्ययन चाहिए, स्वाध्याय चाहिये। कुछ प्राप्त समागमोंकी असारताको समझिये और फिर आग्रह चाहिये कि मैं अपनेको जानकर ही रहूँगा। बाह्य धोखे वाले समागमोंसे मेरा क्या पूरा पड़ेगा? धनी हो तो, गरीब हो तो, सबके सुखकी बात कही जा रही है। और वह एक ही प्रकारकी बात है कि जब तक अपना चित्त न बदले, हृदयकी शुद्धि जब तक नहीं हुई तब तक हम आत्मधर्मकी बात पानेके पात्र नहीं हो पाते। और इसकी शुरुआत प्राप्त समागमोंकी असारता समझनेसे होगी। बढ़नेमें रुचि जगे, आत्मध्यानमें रुचि जगे, ज्ञानार्जनमें रुचि जगे, इसका उपाय बताया है कि किसी गुरुसे पढ़ने लगें। पर गुरुसे पढ़नेका उत्साह नहीं जग रहा। कुछ भी उपाय बतावें—सबका उत्तर यही मिलेगा कि बात तो ठीक है, मगर ऐसा तो कर पा ही नहीं रहे। कोई दो पहलवान कुश्ती लड़नेको तैयार हुए, उनमें से एक तो था बहुत निर्बल, पर वह डींग मारने लगा कि मैं तो इसे जरा सी देरमें हरा दूंगा। अच्छा भाई, मगर एक बात है कि अखाड़ेमें आते ही वह गिर पड़े। अरे तो हराना और है क्या? यही गिरा देना ही तो हराना कहलाता है। मंदिर दर्शनकी रुचि जगे, ज्ञानार्जनकी रुचि जगे, आत्महितकी रुचि जगे, यही तो कठिन लग रहे है।

९२०. आत्महितका प्रारंभिक सरल उपाय प्राप्त समागमकी असारताका चिन्तन— कोई पूछे कि कोई सरलमार्ग ऐसा प्रारम्भिक तो बताओ कि जिससे आत्मकल्याणमें रुचि बनने लगे। वह प्रारम्भिक सरलमार्ग यही है कि हम प्राप्त समागमोंकी असारताका कुछ विचार करने लगें। यद्यपि इस विचारमें भी ज्ञान चाहिये, लेकिन हम आप सबको कुछ न कुछ ज्ञान है। थोड़ा भी सोचें तो समझ जायेंगे कि इन प्राप्त समागमोंमें सार कुछ नहीं है। घरमें रह रहे हैं, मां बच्चे पति पत्नी आदिक सभी लोग रह रहे हैं। क्या यह निश्चित नहीं है कि ये सब बिछुड़ेंगे? सभी लोग सोच लो अपनी-अपनी बात। अरे ये समस्त प्राप्त समागम नियमसे बिछुड़ेंगे। कोई यह न सोचना कि हमको ऐसी बातोंकी याद दिलाकर महाराजजी हमारे अभीके सुखमें बाधा डाल रहे हैं। तो भाई ये सुखके समागम छूटने तो हैं ही। यदि ये समागम अभीसे छोड़ नहीं सकते तो कुछ समय बादमें छूटेंगे। जब उनके छूटनेका प्रसंग आयेगा तो फिर किस तरहसे अपनको शान्तिमें रख सकोगे? इन समस्त

ही लीनता करायी गई है। तो खुद ही ब्रह्म है, खुद ही जीव है। जिस दृष्टिसे देखते हैं उस दृष्टिसे वह दिखता है। स्वभावदृष्टिसे मैं ब्रह्म हूँ, भेददृष्टिसे मैं जीव हूँ, इस तरह भी एक आशयमें तो जीव है और एक आशयमें जीव नहीं है, ये दोनों पक्षपात हैं, दोनों विकल्पोंके काम हैं। जो तत्त्ववेदी आत्मा है उसकी दृष्टिमें तो चित् नित्य चित् ही है। वह चित् किसी दूसरे रूप नहीं है।

६२३. दृष्टान्तपूर्वक तथ्यकी विकल्पातिक्रान्तताका निर्देश—जीवके बारेमें जो भी सोचा और उसका निषेध सोचा वे सारे विकल्प हैं, और एक चित्स्वरूपका जो अनुभव है वह यहाँ सत्य कहा जा रहा है। जैसे व्यवहार कथामें अरहदास सेठकी कथा आयी है कि अष्टाह्निकाके दिनोंमें उनके अपने चैत्यालयमें सम्यक्त्वकी कथा कही जा रही थी। सेठ और उसकी ८ सेठानियाँ सम्यक्त्वकी कथामें बैठे थे। राजा नगरके समाचार जाननेके लिए रात्रिको नगर घूमने गया। वह राजा सेठ अरहदासकी हवेलीके पीछे खड़ा हो गया। हवेलीके अन्दर रात्रिके समयमें वह सेठ तथा सेठानियाँ सम्यक्त्वकी चर्चा कर रहे थे। सेठ अपने सम्यक्त्वकी कथा कहे तो ७ सेठानियाँ कहें बिल्कुल ठीक और एक छोटी सेठानी कहे बिल्कुल गलत। ७ सेठानियोंने भी अपनी कथा कही तो सभी सेठानियोंने कहा ठीक, पर छोटी सेठानीने कहा बिल्कुल गलत। राजा वे सारी चर्चायें हवेलीके पीछे खड़ा हुआ सुन रहा था। उन चर्चावोंमें एक चर्चा तो ऐसी थी जो कि उस राजाके पितासे सम्बंधित थी। जब दिन हुआ तो राजाने बड़े आदरसे उस अरहदास सेठको व विशेष रूपसे उस छोटी सेठानीको बड़े आदरसे अपने दरबारमें बुलवाया, जो कह रही थी बिल्कुल गलत। राजाने पूछा कि रात्रिको जो सम्यक्त्वकी कथा तुम्हारे घर चल रही थी उसमें सभी सेठानियाँ तो कहती थी बिल्कुल सच और तुम क्यों कहती थी बिल्कुल झूठ? तो सेठानीने उत्तर तो कुछ न दिया, अपने आभूषण उतार दिये, वस्त्र भी उतार दिए, एक मामूली सी साड़ी मात्र पहिनकर यह कहते हुए वहाँसे चल दी कि मेरा यहाँ किसीसे कुछ भी सम्बंध नहीं है। तो वहाँ बैठे हुए सभी लोगोंने कहा—सच तो यह है। इसी तरह आत्माके सम्बंधमें हम कुछ भी विकल्प न करके सोचें—यह कर्ता है, यह भोक्ता है, न कर्ता है, न भोक्ता है, ये सब विकल्प हैं। तो जैसे वहाँ सत्य क्या है कि जो स्वरूप है चैतन्यमात्र केवल वही सामान्य प्रकाश अनुभवमें हो, वह सत्य है।

६२४. जीवको सूक्ष्म माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका अंतिम निर्णय—एकके अभिप्रायमें जंच रहा है कि यह जीव सूक्ष्म है। सूक्ष्म कहनेसे कुछ बात आयी ना? सूक्ष्म, इन्द्रियके अगोचर, स्थूलसे विपरीत। तब किसीके आशयमें यह बात आयी कि जीव सूक्ष्म नहीं है। इन दोनों विकल्पोंसे अतिक्रान्त होनेकी प्रकृति वाला तत्त्वज्ञानी सोचता है कि

पक्षपातका अर्थ है विकल्पपात, विकल्पमें डूबना, निश्चयनयका पक्ष लिया उस पक्षमें गिर जाना, व्यवहारनयका पक्ष लिया तो व्यवहारमें गिरे, किन्तु जो तत्त्ववेदी पुरुष है, जो पक्षपातसे च्युत है उसके लिए तो नित्य ही यह चित् चित् ही है। जैसे दृष्टान्तमें एक थोड़े अंश में यह कह सकते कि कोई पुरुष बच्चा था, जवान हुआ, अब बूढ़ा हुआ, ये नाना परिणतियां हुईं और इस तरहका जुदा-जुदा व्यवहार चला उसमें, उसकी माताकी निगाहमें तो वह बच्चा ही है, जवान भी हो गया तो उस माताकी दृष्टिमें तो वही मुन्ना है। एक थोड़े अंशकी बात कह रहे हैं। उसमें एक रुचिकी बात कही जा रही है। जिसको अपने सहज स्वभावकी रुचि है उसके लिए तो यह निज स्वयं चित् चित् ही है। न भोक्ता है, न अभोक्ता है।

९२२. आत्माको जीवरूप माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका तात्त्विक निर्णय–यह जीव प्राणोंसे जी रहा है। इसमें ५ इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ऐसे १० प्राण बनते हैं, और प्राणोंसे ही जी रहा है इसी लिये इसका नाम जीव है। एक आशयमें यह जीव है, यह व्यवहारका आशय है। एक आशयमें यह जीव नहीं है यह निश्चयका आशय है, अर्थात् १० प्राणों कर जीने वाला नहीं है। अथवा जो एक व्यक्तिरूप से समझमें आया हो, चेतन है, उसका नाम जीव है। तो यों व्यक्तित्व रूपसे जाना हुआ जीव है यह व्यवहारपक्ष हुआ और इस प्रकार व्यक्तित्वरूपसे जाना जाने वाला जीव यह नहीं है यह निश्चय पक्ष हुआ। पढ़े लिखे कुछ अन्य लोग इस बुद्धिका बड़ा महत्त्व देते हैं कि लोकमें आत्मा तो एक ही है और जीव नाना हैं, या यों कहो कि ब्रह्म एक है और जीव नाना हैं। तो ऐसे ही वह ब्रह्म एक क्या जो जीवोंके बिना रहता है और ऐसा यह जीव क्या जो ब्रह्मके बिना रहता है और फिर उन जीवोंका उस ब्रह्ममें लय हो जाता है तो उसे मोक्ष कहते हैं। तो यह जीव लय होनेसे पहिले जो बखाने जाते हैं ये सत् हैं कि नहीं ? सत् हैं तो किसी सत्का लय कैसा ? विचार करनेपर विदित होता है कि ब्रह्म एक है। जीव नाना हैं। इसका भाव यह है कि सर्व जीवोंका जो स्वरूप है चैतन्यमात्र है, चित्स्वरूप है, वह एक स्वरूप है, अतएव स्वरूप दृष्टिसे यह तत्त्व चित्भाव इसका नाम ब्रह्म है, वह एक है लेकिन इस दृष्टिमें जब बढ़ते हैं तो ब्रह्म एक है इतना भी न कहना चाहिए, किन्तु वह तो अनुभूतिमात्र है। अब व्यक्तिरूपसे जो समझमें आ रहा है कि ये मनुष्य, ये पशु, ये पक्षी, ये लोग इस तरह जो भिन्न-भिन्न व्यक्तिरूपसे ये प्राणी समझमें आ रहे हैं उनका नाम है जीव। अब यों जब यह व्यक्तित्व, यह फर्क, यह विशेष अपने ज्ञान स्वरूपसे हटकर रहनेकी स्थिति समाप्त हो जाती है, तब यह जीव, यह उपयोग ब्रह्मस्वरूपमें लीन होता है। तो यह लीनता किसी बाहरके तत्त्वमें नहीं करायी गई है, किन्तु स्वयंमें स्वयंकी

कहती है कि हमारा पुत्र कभी बिगड़ा नहीं है, बिगाड़ तो उसके संगीका लग गया है, मेरा पुत्र तो ठीक है। इसी तरह अंतरतत्त्वके रुचिया ज्ञानी संत निरखते हैं कि यह आत्मा बिगड़ा नहीं, विकृत नहीं, बुरा नहीं। अरे कैसे नहीं है बुरा, हम बता दें, समझा दें। यह जीव भवधारण कर रहा है? इस तरह नाना सुख दुःख क्षोभमें आ रहा है जीव? हां आ रहा है, पर यह जीव बिगड़ा नहीं है। यह चित् चित् ही है। यह तो उपाधिके सम्बंधसे है। यह कथा अन्यकी नहीं कही जा रही है कि जो भगवान हो चुके हैं उनकी ही यह बात है। अरे अपने भीतरके स्वरूपकी ही बात कही जा रही है। निज स्वरूपका परिचय न हो तो उत्साह और उत्थान बन नहीं सकता।

९२६. जीवको कार्य माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका अंतिम निर्णय—एकके मतमें यह जीव कार्य है। किसीका कार्य है। पुत्रको पिताने किया। देखिये—कोई निन्दा करे, बुराई करे तो उसने दुःख पैदा किया ना? अन्य लोगोंने दुःख पैदा कर दिया, सुख पैदा कर दिया तो ये कार्य ही तो हुए। यह कार्य है, दूसरेके द्वारा किया जा रहा है। एक अभिप्रायमें बात आ रही कि यह जीव कार्य नहीं है। कहां किया जा रहा है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका करने वाला नहीं है। फिर यह मैं जीव किसी द्रव्यका कार्य कैसे बन सकता हूं? इस तरह जीवके सम्बंधमें ये दो विकल्प किए गए, पर जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो पक्षपातसे दूर है, विकल्पोंसे अति भ्रान्त है उसकी दृष्टिमें तो यह चेतना चित् चेतना ही है, कार्य है सो भी नजर नहीं आता। कार्य नहीं है ऐसा भी दृष्टिमें नहीं आता। किन्तु चैतन्यकी अनुभूतिमात्र वर्त रही है और वह चित्स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है।

९२७. जीवके भावत्वके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका निर्णय—यह जीव अपने आप किस-किस रूपमें समझमें आ रहा है? आ रहा और बता नहीं पाते। कभी बता भी सकते। यह जीव अपनेको किसी भाव रूपमें समझमें आ रहा है यह गोरा है, यह काला है, यह पीला है आदिक। यह तो मूढ़ताकी बात है जो अपनेको लाल पीला काला आदिक मान रहे। जो देहके रंगको अपना स्वरूप मान रहे उनकी बात अभी नहीं की जा रही है, वे तो घोर अज्ञानमें पड़े हुए हैं, किन्तु जो अपने देहके अन्दर किसी भी रूपमें अपने आपका अनुभवन कर रहे हैं उनकी चर्चा की जा रही है। एक अभिप्रायमें यह जीव भावरूप है, रागादिक विकाररूप अथवा अनेक गुणोंरूप दृष्टिमें आ रहा है। यह मैं ज्ञानवाला, सुख वाला शक्ति वाला यों अनेक भावोंरूप हूं। यह है व्यवहार पक्ष। तो एकके अभिप्रायमें यह बात हुई है कि जीवके भाव नहीं है। भाव तो भेदकल्पित है। इसमें गुण मानना कि जीवमें ज्ञानदर्शन आदिक अनन्त गुण हैं, यह व्यवहारपक्ष है, यह भेद नहीं है जीवमें। जीव तो अखण्ड सत् है, एक स्वरूप है, उसमें गुण नहीं, उसमें परिणति नहीं। स्वभावको निरख

जीव सूक्ष्म है ऐसा भी नहीं है, जीव सूक्ष्म नहीं है ऐसा भी नहीं है किन्तु यह तो नित्य चित् चैतन्य ही है केवल चैतन्यमात्र। देखिये—अपने इस नरभवको सफल करना है तो एक बार तो जिस किसी भी प्रकार हो सके, निर्लेप चैतन्यमात्र अपने विशुद्ध स्वरूपका अनुभव तो कर लीजिये। ये समागम साथी नहीं हैं। ये मेरा साथ निभाने वाले नहीं हैं। सबकी अपनी जुदी-जुदी सत्ता है, सबके साथ उनके परिणामोंसे बँधे हुए कर्म हैं। उनका अनुभवन उनमें है, क्या ऐसी गुंजाइश है जिससे यह कहा जा सके कि मेरा तो इन जीवोंसे सम्बंध है, नाता है, रिश्ता है ? रही व्यवहारकी बात, तो व्यवहार तो माया रूप है। जब मेरा कोई साथी नहीं है और बाह्यकी दृष्टिसे मेरा भ्रमणजाल है तब एक बार सत्यका आग्रह करके अपने आपमें ही शाश्वत नित्य अन्तःप्रकाशमान इस चैतन्यमात्र का अनुभव तो करिये। उसकी रुचि कर लीजिये। मैं किसी परका विकल्प न करके विश्राम से बैठूँ, सामायिकमें या अन्य समय भी। इस आग्रहके साथ अपनेमें विश्राम तो कीजिए। स्वतः ही एक सामान्य चैतन्यप्रकाश ही अनुभवमें रहेगा, विकल्परहित अवस्था होगी और वहाँ अन्तस्तत्त्वका अनुभव करके यह निर्णय पा लेंगे कि उत्कृष्ट आनन्दकी बस यही स्थिति है और यही आत्माकी अमिट विभूति है, ऐसा अनुभव यदि जग गया तो यह नरभव सफल है और यह बात यदि नहीं जगती है तो बाह्य धन वैभव परिजन आदिक समागमोंके स्नेहसे तो पूरा पड़ेगा नहीं। तत्त्वज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें यह बात समायी है कि यह तो मात्र चैतन्यात्मक है और कुछ बातें होती हैं तो ये फोटो उतर रहे हैं, कर्मविपाकके समय यहाँ ये छाया माया प्रतिबिम्ब पड़ रहे हैं। मैं तो वस्तुतः अन्तः चैतन्यमात्र ही हूं।

९२५. जीवको हेतुरूप माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका अंतिम निर्णय— इस आत्माके सम्बंधमें कुछ लोगोंका अभिप्राय है कि यह जीव हेतु है, कारण है। देखो ना, कर्म बँधते हैं उसका कारण यह जीव ही है। दुनियामें इतने वादविवाद मचते हैं उन सबका कारण यह जीव है। यह जीव हेतु बन रहा है। तो एकके अभिप्रायमें यह बात हुई है कि जीव किसीका भी हेतु नहीं है, किसीका भी कारण नहीं है, यह एक सद्भूत वस्तु है। कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका वस्तुतः कारण नहीं होता, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनके हेतुभूत होते हैं। जहाँ वास्तविक दृष्टि कही जाय, निश्चय दृष्टि कही जाय तो वहाँ यह भाव लेना कि हम यहाँ सब कुछ एकका एकमें ही निरखते हैं। तो इस निश्चय पक्षमें यह जीव किसीका हेतुभूत नहीं है, ये दोनों इस चेतनमें विकल्प हैं, पक्षपात हैं। किन्तु जो तत्त्ववेदी पुरुष है, पक्षपातसे रहित है उसके अभिप्रायमें तो यह चित् नित्य चेतन ही है, चैतन्यमात्र है। माताकी दृष्टिसे पुत्र सदा भला है। कभी किसी कुसंगमें बिगड़ भी गया हो पुत्र, और कोई कहे कि देखो तुम्हारा पुत्र व्यसनी हो गया है, बिगड़ गया है, तो उसकी माँ

प्रसंगमें कोई जीव किसी अन्यका साक्षी न होगा। किसीके सिद्धान्तमें यह दिख रहा है कि जीव एक है तो किसीके आशयमें यह दिखता कि जीव एक नहीं है। हैं ये दोनों विकल्प। तो तत्त्ववेदी पुरुष इन विकल्पोंसे अलग होकर यह अनुभव करता है कि यह तो चित् है, चेतन है, नित्य चैतन्य ही है।

९२९. जीवके सान्तत्व और नित्यत्वके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका अन्तिम निर्णय— किसीके अभिप्रायमें ऐसा जंच रहा है कि यह जीव सान्त है, अन्तसहित है, इसका विनाश हो जाता है। देखो ना—बहुतसे जीव मरते हुए दिख रहे हैं, मर गए, मरकर चले गए, खतम हो गए,। तो किसी एकके सिद्धान्तमें यह बात है कि जीव सान्त नहीं है, अन्त सहित नहीं है, अर्थात् नित्य है, सदा रहने वाला है। जो सत् है उसका नाश कौन करेगा ? किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। कैसे अभाव बनेगा सत्का ? तत्त्ववेदी कहता है कि ये दोनों ही पक्षपात हैं, विकल्प हैं, और विकल्पोंको छोड़कर अन्दर निरखे तो यह आत्मा नित्य चित् चित् ही है, इस प्रकार किसीके आशयमें यह जीव नित्य है तो किसीके आशयमें यह जीव नित्य नहीं है। नित्य है--ऐसा कह कर उसने द्रव्यदृष्टिका पक्ष लिया। नित्य नहीं है किन्तु नष्ट होता रहता है—ऐसा कहनेमें पर्यायदृष्टिका पक्ष लिया है। किन्तु तत्त्ववेदी पुरुष अनुभव कर रहा है कि ये दोनों ही विकल्प हैं। इनसे अतिक्रान्त होकर तत्त्ववेदी देखता है कि यह तो एक चैतन्य प्रकाशमात्र है। जो मूल आधारमें सद्भूत तत्त्व है वह दृष्टिमें है, उसका यह सारा जिकर है।

९३०. जीवके वाच्यत्वके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका तात्त्विक निर्णय— यह जीव वाच्य है अथवा अवाच्य है याने शब्दोंके द्वारा इसको कहा जा सकता है या नहीं, इस प्रसंगको लेकर यहाँ नयविभाव किया जा रहा है। व्यवहारनयके पक्षमें तो यह जीव वाच्य है अर्थात् शब्दों द्वारा इसका प्रतिपादन किया जा सकता है। शब्द वाचक होता है अर्थ वाच्य होता है। अर्थमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सभी आ गए। सभी वाच्य हैं। जैसे पुद्गलके सम्बन्धमें हम समझते हैं, शब्दों द्वारा बोलते हैं, उनका नाम रखते हैं, इसी प्रकार शब्दों द्वारा हम जीवके बारेमें भी समझ सकते हैं। जीव वाच्य है। जीवके गुणोंका वर्णन, जीवकी पर्यायोंका वर्णन, जीवके स्वरूपका वर्णन जब किया जाता है तो जीव वाच्य ही तो हुआ। व्यवहारनयके पक्षमें जीव वाच्य है, किन्तु निश्चयनयके पक्षमें जीव वाच्य नहीं है। अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव अथवा स्वयं स्वयंके कारकरूप ऐसे एक ही पदार्थमें एक ही पदार्थके स्वरूप सर्वस्वपर दृष्टि देने वाला निश्चय-नय देखता है कि यह जीव वाच्य नहीं है, जो इसमें समझा गया है वह शब्दों द्वारा कथन किया जाने शक्य नहीं है। शब्द तो उसके लिए संकेतक हो जाते हैं जो उस पदार्थसे

करके कह रहे हैं। ये निश्चय पक्षवादीके जीवके भेद नहीं हैं। तत्त्ववेदी कहता है कि जिसको पक्षपात न रहे उसकी दृष्टिमें आता है कि वह तो नित्य चित् ही चित् है। ये तो दोनों पक्षपात हैं। अपने आत्माको अपने ही अन्दर कोई सूक्ष्म सामान्य निर्विकल्प चैतन्य-स्वभावकी खोज की जा रही है। यह अपने भीतरके पतेकी बात है। आप इन शब्दोंको समझ रहे हो तो भी चैतन्यके अनुभवसे आपका काम बनेगा और जो लोग इन शब्दजालोंमें नहीं पड़ रहे हैं ऐसे भी विरले होते हैं कि जो इस चैतन्यस्वरूपका अनुभव कर लेते हैं, लेकिन कर्तव्य क्या है ? अभ्यास करना, ज्ञानार्जन करना, तत्त्वचर्चा करना, इनके ही जरिये हम अपने इस शुद्ध चैतन्यतत्त्व तक पहुंच पायेंगे। यदि किसी अंधेको चलते हुएमें पैरकी ठोकर लगनेसे पत्थरको उखाड़ लेनेसे धन मिल गया तो धन प्राप्त करनेकी यह कोई विधि तो नहीं बन गयी कि चलो सभी लोग अंधेसे बनकर चलें और किसी पत्थरमें ठोकर मारें, उसे खोद लें तो बहुतसा धन मिल जायगा। अरे वह तो किसी अंधेको कभी हो गया। इसी तरह रत्नत्रय पानेकी बात, आत्महित पानेकी बात यदि किसी जीवको सुगमतया हो गयी, बिना विशेष अध्ययनके, बिना विद्याभ्यासके यदि किसी पशु, पक्षी अथवा मनुष्यको सम्यक्त्व लाभ हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके भरोसे हम बैठे रहें, आलसमें पड़े रहें कि जब होना होगा सम्यक्त्व तब यों ही हो जायगा। इस भरोसे बैठनेका कर्तव्य नहीं है। जब हम रात दिन नाना विकल्पोंमें जुटे रहते हैं, चैन नहीं पाते तो जहां इतने विकल्प करते हैं उन विकल्पोंसे हटनेके लिए विद्याभ्यास, ज्ञानार्जन तत्त्वचर्चाके विकल्प करें तो उससे अपना भला है। अपने आपके अन्तः बसा हुआ अनादि अनन्त तत्त्व क्या है, इसकी समझ बना लेना सर्वोपरि कर्तव्य है। संतोष ज्ञानसे होता है, और ज्ञान भी वह है जो ज्ञानको जानता है। जिस ज्ञानमें अपने ही ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान बसा लिया बस तथ्यभूत ज्ञान वह है।

६२८. जीवके एकत्वके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका अन्तिम निर्णय—एकके अभिप्रायमें यह जीव लगता है कि सारे जीव एक हैं। बहुतसे लोग कहते भी हैं कि एक है सब। और ऐसा कहकर मोह मिटानेका रास्ता भी ढूँढ़ा करते हैं। जब हम आप और सब जीव एक हैं, तब फिर विरोध किससे करना, और राग किससे करना ? खुद खुदका क्या राग करना ? खुद खुदसे क्यों द्वेष करे ? तो ये सब जीव एक हैं। जो हम हैं सो आप हैं, इस कारण रागद्वेष न करना चाहिए, यह रास्ता भी वे इस कथनसे ढूँढ़ते हैं। यदि एकके आशयमें यह जीव एक है तो किसीके आशयमें यह जीव एक नहीं है। अनुभव सबके जुदे-जुदे हैं। एक ही कामके प्रसंगमें दो तीन चार पुरुष एक साथ आनन्द पा रहे हैं तिसपर भी सब अपने अपने जुदे-जुदे आनन्दके भोगने वाले हैं। कोई किसी दूसरेके आनन्दका भोक्ता नहीं है। कहते हैं लोग कि हम तुम्हारे सुख दुःखमें साथी होंगे, पर किसी भी परिणतिमें,

आ गये तो इसके मायने हैं कि यह जीव प्रतिभासमें आ गया। यों चैतन्यभावसे सम्बंधित यहाँ ४ प्रकारके विकल्प बन जाते हैं—चेतनेमें आने वाला, ज्ञानमें आने वाला, दर्शनमें आने वाला और प्रतिभासमें आने वाला। किसीके आशयमें से यह आत्मा चेतने योग्य है ऐसा आता है। तो दूसरे पक्षमें यह चेतने योग्य नहीं है ऐसा आता है। पहिला है व्यवहारपक्ष, दूसरा है निश्चयपक्ष। कितनी सूक्ष्मचर्चा की जा रही है? आत्माके चेतनेमें अन्तस्तत्त्व आया, आत्मा आया, ऐसा जो चेत्यपना है यह भी जहाँ व्यवहारका विषय किया जा रहा है तो निश्चयके विषयमें तो इससे भी और सूक्ष्म बात होगी। वही दिग्दर्शन यहां है। आत्मा चेत्य है, चेतने योग्य है, आत्मा चेत्य नहीं है, ऐसे यहाँ दो पक्ष हुए हैं किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह तो विकल्पमात्रको भी पसंद नहीं करता। चेत्य है यह भी विकल्प है, आत्मा चेत्य नहीं है यह भी विकल्प है। इन दोनों विकल्पोंसे च्युत होकर तत्त्वज्ञानी जानता है कि वह तो जो चित् है सो चित् ही है।

६३३. जीवको दृश्य माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञान करके ज्ञानीका संचेतन— अब चेतनके हुये दो प्रकार दर्शन और ज्ञान। दर्शनमें तो दृश्य होता है, ज्ञानमें वेद्य होता है। किसीके मतमें यह आत्मा दृश्य है, दर्शनमें आने योग्य है। दर्शन कहलाया सामान्य प्रतिभास। यह आत्मा सामान्य प्रतिभासके समय दृश्य हो जाता है, यह है व्यवहारका पक्ष। और किसीके अभिप्रायमें यह आत्मा दृश्य नहीं है, दर्शनमें आता है कुछ विधिरूप। किस किस प्रकार आता है? गुणपर्यायात्मक जैसा यह सामान्यविशेषात्मक आत्मा है यह दृश्य होता है, यह व्यवहारका पक्ष है, दृश्य नहीं है। एक व्यवहारके पक्षका निषेध करना इतना ही मात्र है, निश्चयका विषय है। निश्चयका विषय विधिरूप भी है, प्रतिषेधरूप भी है, पर हैं ये दोनों पक्ष। तत्त्वज्ञानी पुरुष विकल्पोंसे दूर होकर ऐसा अनुभव करता है कि यह चित् तो चित् ही है। यों समझिये कि ज्ञानी पुरुष उस चित्स्वरूपका अनुभव करे, उसमें जो कुछ जानता वही उसके लिए तथ्यभूत है। तीन स्थितियाँ हुईं ना? एक व्यवहारकी स्थिति, दूसरी निश्चयकी स्थिति और तीसरी अनुभवकी स्थिति। जैसे जीव कर्मसे बंधा है यह व्यवहारका पक्ष है, जीव कर्मसे बंधा नहीं है यह निश्चयका पक्ष है, और जीव तो एक चिन्मात्र है, बंधा है यह भी विकल्प नहीं, बंधा नहीं यह भी विकल्प नहीं, केवल चिन्मात्र अनुभवमें है। यह है अनुभवकी स्थिति। तो तत्त्वज्ञानी पुरुष अनुभवजन्य तत्त्वको यथावत् मानता है।

६३४. जीवको ज्ञेय माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक अवगम करके ज्ञानीका अन्तःसंचेतन— चेतनका विकल्प है ज्ञान। एकके आशयमें यह आत्मा ज्ञेय है वेद्य है, समझने योग्य है। अब समझने योग्य और ज्ञेय, ज्ञानका विषयभूत जो पदार्थ होता है वह गुणपर्याय भेद अभेद सर्वात्मरूपसे ज्ञेय होता है। जितने भी इसमें धर्म जब विदित हो पाते

परिचित हो। जो इस आत्मतत्त्वसे परिचित नहीं है उसको शब्द क्या करेंगे? वास्तविक सहज अन्तस्तत्वका कथन करने वाला कोई शब्द नहीं है। जो भी शब्द होगा वह भेद करके गुणोंके रूपमें, पर्यायके रूपमें, विशेषणके रूपमें बता सकेगा। जो तथ्यभूत वास्तविक सत् है वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं होता। इस तरह ये दो नयपक्ष है, विकल्प हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष दोनों विकल्पोंसे अतिक्रान्त होकर अनुभव करता है कि यह चित् तो सतत चित् ही है, इससे यह वाच्य है, यह विकल्प नहीं है, यह वाच्य नहीं है, यह भी विकल्प नहीं है, किन्तु एक शुद्ध प्रतिभासमात्र है।

९३१. जीवके नानात्वके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका तात्त्विक संचेतन—जैसे कि व्यवहारमें भी लोग समझते है कि जीव अनेक हैं, मनुष्य अनेक हैं, पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा ये सब भिन्न-भिन्न देहोंमें रहने वाले ये जीव अनेक हैं। तो यों जीवको नाना देखना यह व्यवहारनयका पक्ष है। यह व्यक्तिगत देखा गया, भेदरूपसे देखा गया और जीव नाना नहीं है यह निश्चयनयका पक्ष है। निश्चयनय एक अभेद स्वभावपर दृष्टि पहुँचाना चाहता है। जब जीवके अभेदस्वभावपर दृष्टि करते हैं तो यह कहाँ नाना दिखता है? स्वभाव एक है। तो निश्चयनय के पक्षमें जीव नाना नहीं है। नाना नहीं है तो क्या एक है? हाँ यह भी कह सकते। उसका भाव, अथवा एक भी न कहकर केवल इस निश्चयका प्रयोजन इतना ही है कि जीव नाना नहीं है। इस तरह जीवके सम्बन्धमें यह जीव अनेक है अथवा अनेक नहीं है ऐसे दो पक्ष हुए। तत्वज्ञानी पुरुष इन विकल्पोंसे हटकर केवल अपनेको चिन्मात्र अनुभव करता है। चित्—उसमें न नानापनका विकल्प है और न एकका विकल्प है, वह तो जो है सो ही है, अनुभवगम्य है। इस तरह जीवको तत्वज्ञानी पुरुष केवल एक चिन्मात्र स्वरूपमें निरखता है। इस जीवपर विपदा तो यह है कि अपनेको चैतन्यमात्र स्वरूपमें नहीं निरखता और नाना रूप समझता है। यद्यपि इस जीवमें नानारूप हो रहे हैं, परिणतियां नाना चल रही हैं तिस पर भी हम परिणतिपर दृष्टि देकर तो संसार नष्ट न कर सकेंगे। पर्यायबुद्धि तो संसारका कारण है। तब किन्हीं भी परिस्थितियोंमें हों, हम उन परिस्थितियोंको पार करके अपने उपयोगमें उन्हें न ले करके अन्तःस्वरूपको निरखें तो जो अन्तःदर्शन होगा चित्प्रतिभास, उसके प्रतापसे संसार संकट टलेगा। तत्वज्ञानी पुरुष अपनेको चिन्मात्र अनुभव करता है।

९३२. जीवको चेत्य माननेके प्रसंगमें नयविभागपूर्वक ज्ञानीका संचेतन—आत्मामें है चैतन्यगुणस्वभाव और वह स्वभाव वह चैतन्यतत्त्व है सामान्य विशेषात्मक। अर्थात् चैतन्यभावके कारण जो आत्मामें प्रतिभास हुआ वह प्रतिभास सामान्य रूपसे भी है और विशेषरूपसे भी है, तब उसमें ज्ञान और दर्शन ये दो गुण आ गए। जब ज्ञानदर्शन दो गुण

भी वह सफल नहीं हो पाता है दूसरेको समझानेमें। क्यों सफल नहीं हो पाता कि उस स्वादका स्पष्ट अनुभव वचनों द्वारा नहीं होता, किन्तु खाकर ही होता है। इसी तरह आत्मा का जो सहज चैतन्यस्वभाव है उसको वचनों द्वारा कितना ही कहा जाय फिर भी कहा नहीं जा सकता। दूसरेको परिपूर्ण रूपसे स्पष्ट समझमें आ नहीं सकता। क्यों नहीं आ सकता कि आत्मस्वरूप तो अनुभवगम्य है। अनुभवमें ही उसका विशद प्रकाश है कि यह है वह आत्मतत्त्व ज्ञानानन्दस्वरूप।

९३६. सकल संकटोंका प्रलय करने वाले चैतन्य तेजका प्रकाश—संसारमें कितने संकट हैं, कितने विकल्प हैं? जिनपर विचार करनेसे एक भान होता है कि ओह बाहर देखा तो वही संसार और यह सारा दुःखमय। कोई पुण्यके उदयमें कुछ अनुकूल समागम पाता है और उसकी मौजमें रहता है तो उसकी यह मूर्खता है। इस संसारमें मौजकी क्या बात? कुशलता है कहाँ? कुशलता तो रत्नत्रयमें है, अपने आपकी सच्ची श्रद्धा हो, अपने आपका सत्य विज्ञान हो और अपने आपमें ही अपना आचरण हो तो इस प्रयोगसे ही जाना जा सकने वाला है यह आत्मा। उसको न जानकर सब विकल्पोंमें विपदाओंमें पड़े हुए हैं। एक दूसरेके प्रति सोच सकते हैं कि ये इतनी ममता न करें तो क्या बिगाड़ हुआ जाता है, यह तो मात्र एकाकी इतना का ही इतना है, और सभी सबके प्रति ऐसा सोच सकते हैं। तो तब इसका क्या अर्थ है कि सब बिलकुल साफ स्वच्छ हैं। जब दूसरेके प्रति ऐसी बात सोच सकते हैं कि व्यर्थके विकल्पोंसे क्या मिलता है तो इसके मायने यह हैं कि सोचने वाला व्यर्थ के विकल्पोंसे दूर है, पर अन्धेर है यह कि सब विकल्पोंमें घिरे हैं। और अपने विकल्पोंका घिराव उनकी बुद्धिमें नहीं आता। जैसे कि दूसरोंके प्रति ख्याल होता है कि वह विकल्पोंसे बहुत अधिक घिरा हुआ है। तो देखिये कितने संकट हैं इस जीवपर? और वे सब हैं इन्द्र-जाल। बड़ी चंचल विकल्प तरंगें इसमें उठती हैं। यह ज्ञान ज्ञानमात्र ही तो है, इसका काम केवल जानन ही तो है, किन्तु जब वर्तमान स्थितिको देखते हैं तो वह जाननमात्र केवल प्रतिभासमात्रकी बात तो यहाँ एक क्षण भी नहीं रह पाती। निरन्तर कोई पर बसा हुआ है। उसके विकल्प भी चल रहे हैं। यों पर घटना बनी हुई है। कितना कष्ट है? व्यक्त रूपसे भी कष्ट देखें तो सब लोग अपने-अपने कष्टको जान रहे हैं। दूसरेके कष्टसे दूसरा तो कष्टमें नहीं आता। इतना तो बचाव है, लेकिन स्वयंकी कल्पनामें ऐसा घोर विकल्प है कि रात दिन उन विकल्पोंसे ही घिरा और दबा रहता है। ऐसे उठ रहे नाना विकल्पोंको हटा देने वाला जो तत्त्वज्ञान है उस तत्त्वसे भरा चैतन्यमात्र यह मैं हूं। यह कैसा अनोखा विजय है? विकल्पोंको हटानेके लिए इन विकल्पोंकी ओर नहीं आना पड़ता है। जैसे कोई शत्रुपर विजय प्राप्त करना चाहता तो वह शत्रुकी ओर आकर उससे कलह करके विजय

हैं तो ऐसे गुणपर्यायात्मक आत्माको ज्ञानमें लेते हैं और उस ज्ञानसे ज्ञेय होता है यह आत्मा, इससे इसे वेद्य बताना यह है व्यवहारनयका पक्ष और यह आत्मा वेद्य नहीं है, ज्ञेय नहीं है, वह तो जो है सो ही है। स्वभावदृष्टिसे परख करने चलें तो उसमें कहा कि यह वेद्य नहीं है, इस तरह जीवके विषयमें दो पक्ष हुए। उन दोनों पक्षोंसे अतिक्रान्त तत्त्वज्ञानी पुरुष निहारता है कि यह तो एक चिन्मात्र है, उसमें अन्य विकल्प नहीं।

७३५. जीवको प्रतिभात माननेके सम्बन्धमें नयविभागपूर्वक ज्ञान करके ज्ञानीका अन्तःसंचेतन— एकके अभिप्रायमें यह बात है कि आत्मा प्रतिभात है, समझा हुआ है, प्रतिभासमें आता है, तो एक अभिप्रायमें यह है कि आत्मा प्रतिभात नहीं है। तत्वज्ञानी पुरुष उन दोनों विकल्पोंसे अतिक्रान्त होकर एक चैतन्यमात्र अनुभव करता है। यों समझिये कि जैसे तीन पुरुष हैं—एक दुष्ट प्रकृतिका, एक सज्जनताका भावावेश रखने वाला और एक बहुत विवेकी। तो जैसे वे दोनों पुरुष अपने विषयमें विवाद कर रहे हों तो यह तीसरा झगड़ेके स्थलसे हटकर अपने उपयोगमें लग जाय, इसी तरह मानो कि व्यवहारवादी संयोगकी बात कह रहा है, निश्चयवादी संयोगी बातका निषेध कर रहा है तो यह तत्ववेदी कह रहा है कि विकल्पोंसे क्या मतलब? अपने स्वरूपका अनुभव करके अपना काम निकालो। तो यों तत्ववेदी सर्वविकल्पोंसे दूर हटकर अनुभवता है कि यह चित् चित् ही है, चैतन्यमात्र है। इस प्रकरणसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप कितना गहरा है, कितना साधारण सामान्य है? विकल्परहित है, केवल चैतन्यमात्र है। जिसमें क्लेशका काम नहीं है, एक यह आत्मस्वरूप है। अब तक न जानकर, उसपर दृष्टि न देकर, बाह्यमें दृष्टि लगाकर विकल्प ही बनाये जाते हैं। तत्वकी बात कुछ नहीं। जो तात्विक बात है, सहज बात है वह तो अनुभवगम्य है, इतना ही मात्र मैं हूं, अन्यरूप मैं नहीं हूँ। चिन्मात्र अपने आपका अनुभव करने वाला पुरुष संकटोंसे हटकर शान्तिको प्राप्त करता है। हमें अपने बारेमें कुछ स्पष्ट बोध रखना चाहिये। तब तो ठीक है और अपने बोधसे रहित होकर रहे तो क्या जीवन है? जीवन अनेक पाये, अनेक भवोंके पाये, जैसे वे गुजरे वैसे ही यह जीवन भी गुजरनेका है। तथ्यभूत बात कुछ न रही। कर्तव्य तो यह है—ये विकल्पजाल उठते हैं तो अपनी इच्छासे उठते हैं। इच्छा की और विकल्पजाल बने। उन विकल्पजालोंको व्यतीत करना है और उन विकल्पजालोंसे हटकर अन्तः उस स्वभावको निरखना है जो समता रससे भरपूर एक स्वभाववाला है। मेरा सहज स्वरूप समतारससे भरपूर है। उसमें रागद्वेष कषाय इच्छा इनका काम नहीं है। अपने रससे भरपूर, समतारससे भरपूर एकस्वभावी इस अनुभूतिमें आत्मतत्वका ज्ञानी अनुभव करता है। जैसे किसी भी चीजका स्वाद कोई कहना चाहे तो कितने ही वचनोंसे कहे, उसके बाद

स्वभावमें भेद हो जाय तब तो द्रव्योंकी संख्या और बढ़ानी पड़े। प्रभु अलग हैं और संसार के जीव अलग हैं, ये एक द्रव्य नहीं हो सकते, ऐसा समझानेके लिए उन्हें द्रव्योंकी संख्या बढ़ानी पड़ेगी। जब जीव एक ही द्रव्य है, एक जातिका है तो जातिका मतलब क्या है कि सदृश परिणाम धर्मका पाया जाना, अनेकमें एक रूपसे पाया जाना देखा उनकी जातियाँ बनायी जाती हैं। तो प्रभु और हम एक जातिके हैं। जीव वह हैं, जीव हम हैं। चेतन वह हैं, चेतन हम हैं। इस चेतनमें जो मौलिक भाव हैं, मौलिक गुण हैं, मौलिक शक्ति है, वह अनादि अनन्त है, सदा रहने वाली है। प्रभुके सदृश मैं हूँ, जीव हूँ। सो जब प्रभु जानते भर हैं, किसी विकल्पको करते नहीं हैं, तो यह ही काम तो मेरे भी हो सकता है। इसही से सारे संकटोंसे प्रभु अलग हैं। कोई बाहरी बात नहीं है प्रभुमें ऐसी, जिसके कारण वे संकटोंसे दूर रहें। उनमें उनकी ही बात है। हममें हमारी ही बात है। जब प्रभुवत् मेरा स्वरूप है और मैं लग जाऊँ उस धुनमें तो मेरेमें प्रभुता क्यों न प्रकट हो? सब दृष्टिबल की बात है। जब महापुरुषोंके चरित्र याद आयें, संकेतमात्र, झलकमात्र भी आ जाय महापुरुषोंकी तो उनका वैभव गुण उनकी समाधि, इन सबको समझकर अपनेमें उत्साह जगता है और जब अपनेको गिरायें तो गिरते को गिरानेके लिए उदाहरण बहुत भरे हुए है। यह दृश्यमान सारा संसार गिरनेका उदाहरण है, उनकी बात देखकर उनकी क्रिया देखकर श्रद्धा समझकर उन ही जैसा होनेके लिए बहुत साधन पड़े हुए हैं, किन्तु साधारणजनोंका उदाहरण लेकर उन जैसा बननेमें विवेक नहीं है, किन्तु महापुरुषों का उदाहरण लेकर उन जैसा मार्गमें चलनेका महत्त्व है। हम आचरणकी ओर प्रगति करें, आत्मज्ञानकी वृद्धि करें और मेरा हित मेरेसे ही सम्भव है, अपने उस स्वरूपकी दृष्टि करें तो यह हुआ संकट मेटने का उपाय। और बाह्यदृष्टि, बाह्य विकल्प ये हमें संकटोंसे निकाल नहीं सकते, एतदर्थ अपने सामान्य चित्स्वरूपके ध्यानकी आवश्यकता है।

६३९. ज्ञानीकी पक्षातिक्रान्तताका प्रताप—ज्ञानी जीव व्यवहारनयके विकल्पसे और निश्चयनयके विकल्पसे दूर होकर अन्तः केवल चैतन्यमात्र अपनेको अनुभवता है। यहाँ थोड़ा इस विषयपर भी विचार करना है कि जिन विकल्पोंसे ज्ञानी जीव दूर होता है वे विकल्प भी बड़े दुर्लभ हैं। एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक मन ही नहीं मिलता है, फिर भी जीव कर्मसे बंधा है अथवा नहीं बंधा है, जीवमें रागद्वेष हैं अथवा नहीं हैं आदिक बातों की समझ तो उनके होती ही नहीं है। संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें भी देव और मनुष्य, दो गतिके जीव ऐसे विशिष्ट मन वाले है कि वे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे तत्त्वविचारमें अधिक समर्थ हैं। उनमें मनुष्य और विशिष्ट मन वाले हैं। तो यहाँ मनुष्योंकी बात देखिये—कितने ही सारे ऐसे मनुष्य हैं जिनको अपने हितका कुछ ध्यान भी नहीं है और न वस्तुस्व-

करना चाहता है, किन्तु यह पद्धति उस मिथ्यात्वके विजयमें न लग सकेगी, इन विकल्पोंके विजयमें न लगेगी। इन विकल्पोंका विजय तो चैतन्यमात्र निज तेजके अनुभवसे होगा, अन्य किसी प्रकार नहीं। इससे अब थोड़ा इस प्रयोगकी ओर आइये सामायिकमें या अन्य समयमें कि मेरा मेरे स्वरूपके अतिरिक्त सब कुछ बाह्य यदि व्यर्थ है, असार है, ठीक समझमें आ गया। तो समस्त वैभव समागम जब असार हैं, तब उनमें रुचि करनेका कारण क्या? उन सबमें उपेक्षा होकर परमविश्रामसे बैठ जायें तो वहाँ जो चैतन्यमात्र प्रतिभास होता है वह समस्त विकल्पोंका नाश करता है। तो जो विकल्पोंसे अतिक्रान्त हैं, पक्षोंसे दूर हैं वे ही पुरुष अपने आपके समयसारका अनुभव करते हैं। अब पूछते हैं कि पक्षोंसे अतिक्रान्त पुरुषका क्या स्वरूप है? उसके उत्तरमें कहते हैं—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो।
ण हु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

६३७. नयपक्षातिक्रान्ततामें प्रभुका उदाहरण—पक्षोंसे, विकल्पोंसे अतिक्रान्त हुए पुरुषका स्वरूप क्या है, यह इसमें दिखाया गया है? जिस पुरुषने अपने आपमें विराजमान अनादि अनन्त अहेतुक नित्य अन्तःप्रकाशमान चित्स्वरूप अपने ही स्वभावसे, अपने ही सत्वसे निरख लिया है उसको किसी प्रकारकी हठ नहीं रहती और जब हठ नहीं रहती तब यह जीव निष्पक्ष प्रवृत्ति करता है। जब तक किसी ओरकी हठ लगी है तब तक निष्पक्ष प्रवृत्ति नहीं हो सकती। भगवान केवली तो सारे विश्वको जानते हैं, व्यवहारनय का क्या पक्ष है इसको भी जानते हैं और निश्चयनयका क्या पक्ष है इसको भी जानते हैं, लेकिन उनको जो निर्मल केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस स्वरूप ज्ञप्तिके कारण अब ये प्रभु नित्य विज्ञानघन हैं। इनमें पक्ष करनेकी टेक अब आ ही नहीं सकती। अलौकिक केवलज्ञान निराबाध वह प्रतिभास जो किसीसे अटकता नहीं, जिसमें सभी पदार्थ जैसे हैं यथावत स्वरूप विदित हो रहे हैं, ऐसा सकल विमल ज्ञान पा लेनेके कारण अब स्वयं वे ज्ञान घन-भूत हो गए। अब श्रुत ज्ञानकी भूमिका का उल्लंघन करनेके कारण समस्त नयपक्षोंसे दूर होनेके कारण अब किसी भी नय पक्षका ग्रहण नहीं करते। यह प्रभुकी बात कही जा रही है। भगवान सर्वज्ञ सब जानते हैं, व्यवहारनयका विकल्प जानते हैं और निश्चयनयका विकल्प जानते हैं किन्तु उन्हें इन विकल्पोंसे प्रयोजन नहीं है। उनका स्वभाव तो समस्त पदार्थोंको जान लेना मात्र है। इससे उनके ज्ञानमें सब पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं। जो जैसा है वैसा जानते है। तो यों नय पक्षके परिग्रहसे भगवान दूर हुए हैं।

६३८. प्रभुवत् ज्ञानी जीवमें नयपक्षातिक्रान्तताका दर्शन—जब भगवान किसी विकल्पका परिग्रह नहीं रखते तो भगवानकी तरह पद्धति रखने वाले ज्ञानी जीव भी हैं।

है। ज्ञानीकी बात करते हैं, गुनगुनाते हैं, कुछ अन्य समाभ बनाते हैं, यह तो भली बात होगी नहीं। अरे यह भी मेरा स्वरूप नहीं है, इसमें भी क्या उपयोग लगाना? इसे हित रूप मानना, सारभूत मानना, यह भी धोखेकी ही बात है। यहाँ भी मन लगानेसे आत्माका हित नहीं है। तो अब बतलावो कौनसी बात तथ्यकी रह गयी, जहाँ मन लगानेसे, उपयोग रमाने से आत्माकी भलाई हो सकती हो। खोजिये—कुछ नहीं मिल रहा परमें, और जो है हितरूप उसका भी विकल्प है तब भी भलाई नहीं है। तब निष्कर्ष क्या निकला कि तात्विक बात, तथ्यभूत बात तो यह एक मेरे लिए चित्सामान्य है। उस चित् सामान्यमें ज्ञान जमे तो उसकी भलाई है। मेरे ही विकल्पोंमें, देहमें, परिजनोंमें, वैभवोंमें कहीं भी आये तो भलाई नहीं है। तो जिनकी दृष्टिमें अपने आत्मामें उठने वाले विचार वितर्क विकल्प रागादिक परिणमनोंका भी परिग्रह है और उनसे हटनेकी जिनके उत्सुकता जगी है वे करते क्या हैं लोकमें? केवल जानते हैं और कुछ नहीं करते।

९४१. ज्ञानीकी खरतरदृष्टिका प्रताप— ज्ञानीकी दृष्टिमें इतना वेग आया है और इतनी सूक्ष्म गतिकी शक्ति प्रकट हुई है कि वह सबको पार करके सारभूत नित्य उदित अन्तः प्रकाशमान, चिन्मात्र समयमें प्रतिबद्ध हो जाता है। जैसे हड्डीका फोटो लेने वाला यंत्र इतने वेगसे और सूक्ष्मगतिसे हड्डीका फोटो लेता है कि वह यंत्र कपड़ोंमें, चमड़ेमें, मांसमें, लोहूमें नसोंमें न अटक कर इन सबको पार करके एक हड्डीका ही फोटो लेता है, यों ही ज्ञानी-पुरुषकी यह तत्त्वस्पर्शी प्रज्ञा इतनी तेजीसे गति कर रही है कि यह वैभवमें, परिजनोंमें, मित्रोंमें, देहमें, रागादिक विकारोंमें, तर्क विचारोंमें न अटककर एक शुद्ध चैतन्यमात्र तत्त्वको ग्रहण करती है। ऐसी जिसकी पैनी प्रज्ञा है वह ज्ञानी पुरुष नय पक्षको नहीं करता। वह स्वयं ज्ञानघनभूत है, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग श्रुतज्ञानात्मक समस्त विकल्पोंसे परे है। वह किसी भी नय पक्षको ग्रहण नहीं करता। प्रथम तो यह बात समझिये कि नयपक्षको जान सकें, ऐसी बुद्धि भी बड़ी दुर्लभ है असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक को तो यह भी बुद्धि नहीं प्राप्त होती है कि वे इतना भी समझ सकें कि जीव कर्मके उदयसे दुःखी हैं, रागी हैं, इसमें कर्म बंधे हैं, नहीं बंधे हैं, सप्त तत्त्वोंका क्या स्वरूप है, आत्माका क्या स्वरूप है, इन बातोंकी समझ असंज्ञीमें क्या संज्ञियोंमें भी अति विरले दो चार व्यक्तियोंमें पायी जाती है। ऐसा दुर्लभ व्यवहारनय और निश्चयपक्षके ज्ञानका विकल्प भी ज्ञानीजीव उपादेय नहीं समझता। तो ऐसा जो समस्त विकल्पोंसे दूर रहने वाला ज्ञानात्मक पृथक् ज्योतिस्वरूप, जहाँ आत्मा की ही प्रसिद्धि है ऐसे स्वरूपकी अनुभूतिमात्र, वह पुरुष समयसार बनता है।

९४२. भवबाधाके दूर होनेके लिये उत्साहन—भैया! इस संसारजालसे छूटकर निकल जाना और सदाके लिए निराकुल शान्त हो जाना यह बहुत कठिन बात है।

रूपका कुछ ख्याल भी है। जिन मनुष्योंका क्षयोपशम बहुत बढ़ा चढ़ा है उनके श्रुतज्ञान सम्बंधी ये विकल्प हो पाते हैं। ये दोनों व्यवहार और निश्चयपक्ष श्रुतज्ञानके अवयव हैं। ये मिथ्या नहीं हैं दोनों प्रकारके आशय। व्यवहारनयमें जो वर्णन चल रहा है—जीव मलिन है, देहसे बंधा है, कर्मसे बंधा है, यह बात क्या सर्वथा असत्य है? स्वरूप दृष्टिसे असत्य है। और जो ये विकल्प उत्पन्न होते हैं कि जीव कर्मोंसे बंधा नहीं है, कर्मोंसे स्पृष्ट नहीं है इस प्रकार भीतरमें जो तरंग उत्पन्न होती है वह भी क्या असत्य है? यद्यपि दोनों ही बातें ठीक हैं, किन्तु जिस तत्त्वज्ञानीने अपने सहज चैतन्यस्वरूपका अवगम किया है उसको ये विकल्प परिग्रह जंचते हैं। मैं आत्मा निष्परिग्रह हूं अर्थात् मिथ्यात्व रागद्वेष कषायें विकल्प विचार ये सब आत्माके परिग्रह हैं, और कहे भी गए हैं। १४ प्रकारके परिग्रह होते हैं। तो यह ज्ञानी परिग्रहसे निवृत्त होनेकी उत्सुकता रख रहा है और बाह्य पदार्थोंके पकड़ने से निवृत्ति चाहता है। मैं किसी बाह्यको न ग्रहण करूँ, न अपनाऊँ, यहाँ तक ये जो रागादिक विकार हैं, विकल्प हैं इनको भी वह ज्ञानी अपनाता नहीं है। जिस ज्ञानीको परपदार्थों से निवृत्त होनेकी उत्सुकता जगी है वह अपने आपके बारेमें केवलस्वरूपको जानता है।

६४०. **रम्य तत्त्वका निर्णय**—भैया! जब ऐसा विचार करनेको कहा जाय कि तुम मन लगाओ ऐसी जगह जहाँ तुम्हारा हित हो। तो अब ढूँढ़ो जगतमें, कौनसा विषय ऐसा है जहाँ मन लगायें, उपयोग लगायें तो अपना हित सम्भव है? धन वैभव आदिक जड़ पदार्थोंमें मन लगानेसे आत्माके हितका क्या सम्बंध है? आत्मा चैतन्यमात्र है, वह सदा ही अपने स्वरूप है। उसमें बाह्य पदार्थोंसे कौनसी वृद्धि होती है? प्रत्युत बरबादी होती है। तो जड़में मन लगानेसे आत्महितका कुछ प्रयोजन नहीं तो परिजन, मित्रजन, परिकरमें मन लगाये रहें उससे आत्महित होगा क्या? उसके भी बहुतसे अनुभव हैं कि परिजनमें चित्त लगानेसे आत्माको शान्ति नहीं प्राप्त होती। और फिर परिजन हैं किसके कौन? अनंत जीवोंमें से कोई अटपट जीव घरमें आ गया उससे स्नेह करने लगे। अरे अनन्त जीवोंकी तरह घरमें आये हुए ये जीव भी उतने ही निराले हैं जितने निराले अब गैर माने जा रहे जीव हैं। तो वहां भी मन रखनेसे, उपयोग रखनेसे भलाई नजर नहीं आती। तब फिर क्या देहमें मन लगानेसे यह तगड़ा बने, बहुत बलिष्ट बने, ऐसा यहां चित्त लगानेसे कुछ आत्महित होगा? अरे यह हट्टाकट्टा शरीर भी जीवके निकल जानेपर जला दिया जाता है। इसका विचार इसका विकल्प रखनेसे कौनसी अपनी भलाई है? तब अपनेमें जो सुख होता है, राग होता है ऐसे विकल्प होते हैं, उन विकल्पोंमें मन लगानेसे तो आत्माकी भलाई होगी। अरे वे भी क्षणिक हैं, औपाधिक हैं, तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू उन रूप नहीं है। वे परभाव हैं, उनमें मन लगानेसे भी आत्माका हित नहीं होता। तब फिर तत्त्वचर्चायें करते

भावना होनेसे तो हमारा उद्धार है और परपदार्थोंमें आकर्षण होनेसे हमारा पतन है। क्यों संसारमें रुलनेका साधन जुटाया जा रहा है? वह समयसार तत्त्व, वह चिन्मात्र उपयोग पक्षसे अतिक्रान्त होनेपर ही प्राप्त होता है।

सम्मद्दंसण णाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

६४४. पक्षातिक्रान्त समयसारकी चर्चा—यह ही मैं एक जो अनादि अनन्त नित्य अन्तःप्रकाशमान है, अपने सहज सत्वके कारण सदा उदित है ऐसा एक ही केवल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नामको पा रहा है। इस मुझमें कहीं दो ऋद्धियां अलग नहीं पड़ी हैं कि दर्शन है और ज्ञान है। अरे यह चिन्मात्र ही दर्शन ज्ञानस्वरूपको प्राप्त हो रहा है। तो जब सब प्रकारके विकल्पोंसे अखण्डित रहे और समस्त विकल्पोंके व्यापारको विश्रान्त कर दे तो जो चिन्मात्र चैतन्य है वही तो समयसार है। प्रभुने क्या किया? इस आदर्श ज्ञानीने क्या किया कि जिससे यह आत्मा उन्नतिकी अवस्थामें पहुँचा हुआ है। पहिले तो श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय किया है कि मैं ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, मुझमें और कुछ है ही नहीं। ज्ञानातिरिक्त कुछ हो तो इसकी कुछ वहाँ सत्ता ही नहीं, वह कुछ और है, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा श्रुतज्ञानके द्वारा निश्चय किया। जब मैं ज्ञानमात्र हूँ तो ऐसा ही मुझको प्रसिद्ध रहना चाहिए, ऐसा ही मुझको प्रकट रहना चाहिए। मैं ज्ञानमात्र ही रहा करूँ। ज्ञानातिरिक्त अन्य विकल्पात्मक न रहूं तो ऐसी आत्माकी प्रसिद्धि चाहिए फिर। जैसा हो तैसा प्रकट हो जाऊँ, तो सब झंझट मिटें। जगतके जीवोंको अपना मानें तो सब अपने हैं, अपने स्वरूपके समान होनेसे अपने ही समान हैं। सब अपने हैं और भिन्न देखें तो सब भिन्न हैं। मेरे आत्माका तो केवल मैं ही आत्मा हूं।

६४५. परख्यातिकी विपदा—भैया! यह तो एक विपत्ति लगी है कि इन अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंको मान लिया कि ये मेरे हैं और उनके ही भरण-पोषणकी बात चित्तमें रहती है। लोग तो मानते हैं कि हमारे घरके लोग बड़े अच्छे हैं, घरके सभी लोग हमारी आज्ञामें रहते हैं, हम तो बड़े सुखी हैं, बड़े मौजमें है। अरे मौज नहीं है, वह धोखा है, खतरा है। यहाँ बिजलीके खम्भोंपर जो खतरा लिखा रहता है वहाँ फोटो क्या लगायी जाती है? वह ही फोटो लगायी जाती है जिसे देखकर यहाँ हम आप आकर्षित होते हैं। यदि खतरेमें आकर्षित हो रहे हैं तो हम बचेंगे कैसे? वही तो खतरा है। खोपड़ीसी फोटो लगाया, नाक, आँखकी जगह उसमें छिद्र रहते हैं। एक भयानक सिरकी हड्डीका जैसा फोटो रहता है. वही तो ये हड्डियाँ है जिनमें रम रहे हैं, आकर्षित हो रहे हैं, केवल एक चमड़ी ऊपर लगी है। बात वहीकी वही है जो बिजली वाले खतरेमें दिखती है, तो ऐसे ही यहाँ भी

कठिन भी नहीं है। जिस पुरुषको आत्महितसे प्रीति हुई हो उसके लिए तो कुछ भी कठिनाई नहीं है। अपनी ही तो बात है, अपने ही स्वरूपके दर्शनकी तो बात है। एक रुचि चाहिये। आत्महितका काम सुगम है, और आत्महितकी रुचिके लिए इतना ही काम कर लें कि परतत्त्वोंमें हमारी अरुचि बन जाय। जो हम चेतन परिकरोंमें रुचि लगाये हुए हैं जो कि बिल्कुल व्यर्थ है उस रुचिको तो हटा लें। आज मनुष्य हुए हैं, इस भवसे पहिले भी तो हम कुछ थे। वहां भी तो बड़े-बड़े साधन थे, समागम थे। जो कुछ भी हो, नहीं जानते, लेकिन थे परिकर। वहांसे मरण करके आये। आज इस भवमें उन पुराने भवोंका कुछ भी साथ है क्या? लाखोंका वैभव भी जोड़ लें तो भी इस भवसे जानेके बाद इसके साथ कुछ नहीं रहता, और यदि आत्मज्ञानका अभ्यास किया है, ज्ञानानुभवका अभ्यास किया विकल्पोंसे परे होकर निर्विकल्प ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वका ध्यान किया है तो ये चीजें नियमसे सहायक होंगी और साथ जायेंगी। इनके संस्कारके प्रतापसे अगले भवमें भी धर्म-साधन किया जा सकेगा, निर्वाणके मार्गमें बने रहेंगे तो अपने आपपर दया करके थोड़ा इतनी बात तो बनावो कि जड़ वैभवोंमें अरुचि जग जाय। इनसे मुझ आत्माका हित नहीं है। परिजनोंमें जो इतना आकर्षण बना हुआ है उसको दूर कर दें, उस आकर्षणसे लाभ कुछ नहीं है। गृहस्थीमें हैं तो इसलिए हैं कि आप सकल व्रती बनकर केवल आत्मसाधना करते, ऐसी तो शक्ति नहीं है, तो केवल गृहस्थीका आलम्बन रखकर अनेक पापोंसे दूर होकर और ध्यान व्रत सामायिक भक्ति आदिकसे अपने आत्मस्वरूपका पोषण कर लें जिससे अगला भव हमको धर्मसाधनका मिले और निकटकालमें ही संसारसंकटोंसे मुक्त हो जायें। इसके लिए गृहस्थ जीवनमें आप रह रहे हैं। यह लक्ष्य बनाइये।

९४३. **मुक्तिके आनन्दका कुछ स्वाद लेनेका** अवसर—यह आत्मीय सुख, यह विशुद्ध आत्मीय आनन्द प्रकट होगा मुक्तिमें, वीतराग अवस्थामें होगा। उसके लिए अभी समय है, भविष्यमें होगा, लेकिन इस जातिका आनन्द तो अब भी पाया जा सकता है। उस आनन्द को क्यों न लूटूँ? ज्ञान मिला है, बुद्धि जगी है, देह समर्थ है, सर्व समागम योग्य मिले हैं, तो क्यों नहीं ऐसा कर्तव्य बनाया जा रहा है अपने आपमें कि इसी समय मुक्तिके आनन्दकी जातिका कुछ आनन्द तो ले लूँ। उससे सभी लाभ हैं। वर्तमानमें संकट ढीले हो जायेंगे, वर्तमानमें आनन्दका लाभ होगा और उस आनन्दके पानेके उपाय करनेका विचार दृढ़ हो जायगा यही करना है, इस ही से मुक्ति लाभ होगा। क्या करना है? सब संकल्प-विकल्पों से दूर होकर केवल एक चिन्मात्र अपने आपका संचेतन करता है। मैं चैतन्यमात्र हूँ, जरा और स्पष्ट समझता है तो सोचिये कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानसे अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूँ। ज्ञान न हो, और कुछ हो, ऐसा मैं कुछ नहीं हूं, मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारकी दृढ़

गया है। वरें क्या ? मतिज्ञानका यहाँ यह काम है कि वह विकल्पोंको दढ़ाये ? हम आँखों से देखते हैं और देखते ही जो हममें एक अनुभव कल्पना विकल्प बुद्धि बनती है कि यह सफेद है, सो लो अब श्रुतज्ञान बन गया, इससे पहिले मतिज्ञान हुआ। तो मतिज्ञान तो बहुत सरल समीचीन है, पर इस श्रुतज्ञानका कारण मतिज्ञान है। मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान हुआ करता है इसलिए प्रथम यह उपदेश दिया है कि हम अपने मतिज्ञानको आत्माकी ओर लगावें। विकल्प मचाने वाला तो और ही कोई दूसरा है, विकल्पोंसे आकुलतायें बढ़ें इसका कारण ही कुछ और है। उसकी बात अब कर रहे हैं। नाना प्रकारके विकल्पोंसे आकुलित करने वाला कौन है ? श्रुतज्ञानकी बुद्धियां। देखिये—अब भी जो ज्ञानोंको गाली दी जा रही है सो भी परसंगके दोषसे, किसीका दोष किसीपर मढ़ा जा रहा है। आखिर मतिज्ञान श्रुतज्ञान भी तो ज्ञान हैं और उनको दूषित किया जा रहा है, दोष मढ़ा जा रहा है। यह है परकी ख्यातिका हेतु। यह है अनेक विकल्पोंसे आकुलित करने वाला। सो ऐसे दोषकी बात ज्ञानोंमें नहीं है। वह है चारित्र मोहके उदयवश हुए विकारमें। रागद्वेष मोह विकार साथ लग रहे हैं, उसका कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें यह दोष आ पड़ा, उसके मत्थे लगाया गया। तो यहाँ प्रथम इन ज्ञानोंकी ही आलोचना क्यों की जा रही है ? जब हमारे बिगाड़के मुख्य कारण रागादि भाव हैं तो उनको तो छू नहीं रहे और यहां ज्ञानोंकी आलोचना कर रहे, वह आलोचना भी इसलिए की जा रही है कि ज्ञानोंसे हम जानते हैं। जानने के साथ ही तो ये रागादिक विकल्प आकुलित करते हैं। तो यों विकल्पोंसे आकुलित करने वाली बुद्धियां हैं। श्रुतज्ञानकी बुद्धियाँ, ऐसा निर्णय करिये। फिर क्या करें कि श्रुत ज्ञानको भी आत्माके अभिमुख कर दो, मतिज्ञानसे भी आत्माको जानो, श्रुतज्ञानसे भी आत्माको जानो। इन दोनोंका प्रयोग अब परपदार्थोंकी ओर बहकर मत करो। यों इन उपायोंमें बताया है कि तुम अपने ज्ञानको आत्माकी ओर लगाओ। यों आत्माकी ओर ज्ञानको लगानेसे क्या चमत्कार होता है, क्या प्रभाव होता है ? उसका अब वर्णन किया जा रहा है।

६४८. ज्ञानी संतोंका पुरुषार्थ— ज्ञानी पुरुष क्या करता है अन्तरमें जिसके कारण वह रागद्वेष संकल्प विकल्प सब बन्धन हटकर साक्षात् समयसारभूत हो जाता है, उसकी यहाँ चर्चा चल रही है। इस ज्ञानीने सर्वप्रथम तो यह किया कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, यह निर्णय बनाया। इसके बाद उद्देश्य बनाया कि मुझे ज्ञानस्वभाव आत्माकी सिद्धि चाहिये। इसके बाद फिर यह निर्णय किया कि ऐसे ज्ञानमात्र आत्माकी जो सिद्धि उपलब्धि नहीं हो रही उसका कारण है परख्याति अर्थात् परपदार्थोंमें उपयोगका रमाना, फिर निर्णय किया उसका कारण है इन्द्रियजन्य ज्ञान और मानसिक ज्ञान। इसके बाद यह निर्णय करनेका उसका प्रयत्न हुआ कि अब इन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको, मानसिक ज्ञानोंको अर्थात् मतिज्ञानको

विचारना चाहिये कि हम आपको भी ये सब खतरे हैं जिनसे हम आप मोह कर रहे हैं। जैसे खतरेके पास बिजलीका करेण्ट कोई छू ले तो वह बिजली उसे पकड़ लेती है और उसके प्राण निकाल लेती है, इसी तरह इन खतरोंमें जो रमें, जो इनमें आकर्षित हो उसके भी अन्त: प्राण निकल जायेंगे, ज्ञानदर्शन मलिन हो जायगा, अपनी सुध भूलकर बरबाद हो जायगा। तो जगतमें बाहरमें जो कुछ भी है वह सब खतरा ही खतरा है, किनमें आकर्षित होना, किनमें रुचि जगाना ? रुचि जगे अपने आत्माकी ख्यातिके लिए।

६४६. आत्मख्यातिकी प्रसिद्धिके लिये मतिज्ञान बुद्धिका प्रयोग आत्माभिमुख करने का अनुरोध—अब क्या करना ? मैं ही मैं अपने उपयोगमें प्रसिद्ध होऊँ, इसके लिए क्या करना कि जो परप्रसिद्धिके कारण हैं पहिले उनका निर्णय करें, परख्यातिसे हटना है और आत्मख्यातिमें लगना है। व्यवहारकी आत्मख्याति नहीं कह रहे, वह तो बुरी चीज है। व्यवहारकी आत्मख्याति मायने अपने नामका फैलाना। यहाँ आध्यात्मिक आत्मख्यातिकी बात कह रहे हैं। अपने उपयोगमें सहज ज्ञानस्वभावरूप निज तत्त्वकी प्रसिद्धि होना, उसके प्रयोजनकी बात कही जा रही है। उसके लिए यह निर्णय करें कि परख्याति हो क्यों रही है ? बाह्यपदार्थोंमें आकर्षण हो क्यों रहा है ? उसका साधन क्या है ? परख्यातिके साधन हैं इन्द्रिय बुद्धि और मानसिक बुद्धि। जो इन्द्रियजन्य ज्ञान चल रहा है ये इन्द्रियाँ परको ही तो छू रही हैं। तो जब ज्ञानका साधन हमारे ये परविषयक ही हैं तो परमें ख्याति हो रही है, यह तो प्राकृतिक बात है, और यह निर्णय करिये कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और मानसिक बुद्धि ये सारे परके आकर्षणके हेतु बन रहे हैं। इन्द्रिय और मनसे जब जानते है तभी तो उनकी ओर खिंचना हो रहा है। परकी दृष्टि होनेसे होता है परका आकर्षण, परकी ख्याति। तो परके आकर्षणमें हेतुभूत हैं ये इन्द्रियजन्य और मानसिक ज्ञान। सो अब यह उपाय करिये। जो हमारे पास पूंजी इतनी ही है कि इन्द्रियसे जान लें, मनसे जान लें। और तो पूँजी है नहीं हमारे पास अभी। तो उस पूँजीको अब आत्माके अभिमुख कर दीजिये। जितना भी बनें, जितनी भी शक्ति है, उन इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको और मानसिक ज्ञानोंको आत्माकी ओर अभिमुख करके इन्द्रिय जन्यज्ञान तो इतनी मदद मुझे नहीं दे सक रहे है कि मैं अपने आत्माके अभिमुख बनूँ, लेकिन मानसिक ज्ञान तो हमें कुछ मदद दे सक रहा है। मनसे, विचारसे हम अधिकाधिक इस प्रवृत्तिमें आयें कि अपने आत्माको समझें। पहिला काम तो यह बताया।

६४७. आत्मख्यातिकी प्रसिद्धिके लिये श्रुत ज्ञानबुद्धिका प्रयोग आत्माभिमुख करने का अनुरोध—अब आत्मख्यातिकी सिद्धिके लिये दूसरा निर्णय करिये कि नाना तरहके विकल्पोंसे आकुलित करने वाले साधन और क्या हैं ? मतिज्ञान तो परसंगसे दूषित बताया

तिक्रान्त। आत्माके स्वरूपमें कोई पक्ष नहीं रहा, कोई विकल्प नहीं रहा। केवल एक चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्वका दर्शन और ज्ञान हो रहा है। यह जीव ज्ञानदर्शनात्मक है। ज्ञानसे तो जानता है और दर्शनसे एक सामान्य प्रतिभास होता है, स्वप्रतिभास होता है। इस दर्शन ज्ञानका उपयोग यह संसारी प्राणी बाह्य पदार्थोंमें कर रहा है, लेकिन इसे कुछ लाभ थोड़े ही होता है। भले ही बाह्यपदार्थोंमें रमें, उनके जाननेके आकर्षणमें रहें पर इसमें आत्माकी कोई भलाई नहीं है। ये सब बिछुड़ जायेंगे। यह भी खुद बिछुड़ जायगा। इस आत्माको कौन जानता है जिस आत्माकी यह चर्चा की जा रही है? जो आत्मा देहको भी छोड़कर चला जायगा, ऐसा सूक्ष्म जो आत्मा है बतलावो इसको देखने जाननेकी किसी की लगन है क्या? इसको कोई चाह सकता है क्या? कोई इसपर प्रेम कर सकता है क्या? कोई दूसरा मुझपर प्रेम कर सकता है क्या? अरे कोई भी दूसरा इस मुझ आत्मासे प्रेम नहीं कर सकता। इस मुझ आत्माको तो दूसरा कोई जान भी नहीं रहा। प्रेमकी तो चर्चा ही क्या? अरे इस मुझ आत्मासे कोई प्रेम कर ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन उनका उनमें ही होता है। कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तुके रूपमें नहीं परिणमती। तब समझ लीजिये कि यह मैं आत्मा अन्य सर्व परसे कितना निराला हूँ? इन जड़ वैभवोंसे इन समस्त चेतन अचेतन तत्त्वोंसे मैं निराला हूँ। ऐसा यह आत्मतत्व ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा देखा जाता है इसका यह कारोबार है बढ़िया और बाह्य पदार्थोंमें जो कुछ कारोबार किया जा रहा है सो बाह्यपदार्थोंमें नहीं किया जा रहा है। खुदमें ही विकल्पों का कारोबार किया जा रहा है। विकल्पोंका व्यापार सुन्दर नहीं है, किन्तु निर्विकल्प चैतन्यमात्र अंतस्तत्वके दर्शन ज्ञानका व्यापार सुन्दर है।

९५०. निजज्ञानानुभवकी ही शरणरूपता—आनन्द और गुणविकास, निर्मलता ये सब आत्मदर्शन कर समझमे प्रकट करेंगे। आत्मदर्शनके अतिरिक्त हम आपका कुछ भी तत्व, कुछ भी काम शरण नहीं है, सारभूत नहीं है। जब हम यहाँ रह ही न सकेंगे, किसी दिन वियोग होगा, सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा तब फिर शरणकी हम बात ही क्या कहें? मरते हुए बालकको बचानेमें माँ भी शरण नहीं बन सकती। जो पूरे दिलसे चाहती है, कर्ज भी हो जाय, कोई खर्च भी हो जाय, सब कुछ लुटाकर भी वह माँ चाहती है कि मेरा बेटा जीवित हो जाय, पर वह मां उस बेटेको जीवित कर सकनेमें असमर्थ हो जाती है। उसे बचा नहीं पाती। वह तो समझती है कि इस मेरे बेटेके आगे इस धनकी क्या कीमत? सब कुछ न्यौछावर करके भी वह मां अपने बेटेको प्रेमवश गोदमें लिए रहे पर उस माँ के आत्मासे उस बेटेका आत्मा बद्ध नहीं हो जायेगा। जब ऐसी स्थिति है हम आपकी और समय बड़ी तेजी से गुजर रहा है, हम आप सभी मृत्युके निकट पहुँच रहे हैं,

अब आत्माके अभिमुख करो। परपदार्थके सम्मुख तो इस मतिज्ञानको खूब लगाया। अब इस मतिज्ञानका प्रयोग आत्मतत्त्वपर करें। अब इसके बाद ज्ञानी यह निर्णय कर रहा है कि मतिज्ञानका तो सीधा काम जाननमात्र है। मतिज्ञान निर्विकल्प हुआ करता है। पांच ज्ञानोंमें से श्रुतज्ञान तो सविकल्प है, शेषके चार ज्ञान निर्विकल्प है। यहाँ निर्विकल्पका अर्थ यह है कि तर्क वितर्क इसमें नहीं बनते। मतिज्ञानसे जो जाना सो उसमें तर्क वितर्क नहीं। विकल्प नहीं बन पाते, फिर ये विकल्प बने कैसे ? तो मतिज्ञानसे जानकर फिर श्रुतज्ञानसे जो जाना वह तो श्रुतज्ञानमें विकल्प बना। यह काला है, पीला है, कुछ भी विकल्प किया तो श्रुतज्ञानने। अवधिज्ञानमें जो विकल्प है, अवधिज्ञान जोड़ा, उसमें दिख गया। जैसे आंखोंसे कोई चीज देखी जाती है ऐसे ही अवधिज्ञानसे ज्ञात होता है। उसके बाद फिर जो श्रुतज्ञानका उपयोग होता है- अवधिज्ञानसे जानी हुई बातका संस्कार रखना, यह जब श्रुतज्ञानसे समझते हैं तब दूसरेका पता पाते हैं कि यह अमुक चीज थी, वहां यह है, ऐसा होगा, ऐसी ही बात मनःपर्यय ज्ञानमें है। मनःपर्यय ज्ञानसे भी दूसरेके मनमें रहने वाली बातका ज्ञान तो हो गया, पर उसके बाद जो उसका प्रतिपादन करेगा वह श्रुतज्ञानके उपयोगसे होगा। केवलज्ञान तो निर्विकल्प ही है। तो इसमें जो विकल्प बने और जिन विकल्पों के कारण आकुलतायें बनीं वे सब किस कारणसे ? इन श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंके द्वारा। बुद्धि और ज्ञानमें अन्तर है। यद्यपि बुद्धि ज्ञानसे अलग चीज नहीं है पर ज्ञान तो एक सामान्यवस्तु है, जाननमात्रको बताने वाला है और बुद्धि विकल्पात्मक ज्ञानको बताने वाली है। हमारे ज्ञानमें यह आया। तो बुद्धि विकल्पको प्रकट करती हुई होती है और ज्ञान सामान्यका नाम है। श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंने विकल्प मचाया—यह निर्णय किया ज्ञानीने। इसके बाद उसका अब यह प्रयत्न हुआ कि इस श्रुतज्ञानको भी अपने आत्माके अभिमुख कर दिया जाय। तो इस तरह यह ज्ञानी जीव मतिज्ञानको और श्रुतज्ञानको आत्माकी ओर लगाता हुआ अब यह अविकल्प हो गया। जब परकी ओर इन ज्ञानोंको लगा रहे थे तब तो यह सविकल्प था। अब जब विकल्परहित, विकाररहित एकस्वरूप, अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वपर उपयोग लगाया तब यहां परके विकल्प न रहे। यों अविकल्प होकर शीघ्र ही स्वभावसे प्रकट हुआ यह ज्ञान, यह अन्तस्तत्त्व अनाकुल रहता हुआ समस्त विश्वके ऊपर तैरते हुएकी तरह समस्त विश्वका ज्ञाता होता हुआ अखण्ड प्रतिभासमय निज तो विज्ञानघन आत्मा है उसका अनुभव करता है।

९४९. ज्ञानानुभूतिमें प्राप्त वैभव—अब देखिये ज्ञानानुभूतिमें वहाँ मिला क्या ? यही आत्मस्वरूप भली प्रकारसे देखा जा रहा है, जाना जा रहा है। जब यह आत्मतत्त्व विकल्पसे रहित होता है तो साक्षात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप होता है। यह है पक्षा-

सकता है। तो इसी तरह ज्ञानी जीवने धर्ममूल दृढ़ बनाकर धर्ममें प्रगति की, इसलिए वह कहीं भी विचलित नहीं हो पाता। तो धर्मसाधनाकी यह ही विधि है कि पहिले वस्तुके स्वरूपका निर्णय करें, यह यत्न बनावें कि आत्माके स्वरूपका विशद निर्णय हो जाय, फिर उसे ही देखते रहें, उसे ही जानते रहें। जो आनन्दमय चीज है उसको तो निरन्तर जानते देखते रहना चाहिये। यों ज्ञानीने पक्षपातको छोड़कर निश्चल अविकल्प भावको अंगीकार किया है।

६५२. ज्ञानैकरस आत्मतत्त्वका ज्ञानियों द्वारा अनुभवन—ज्ञानीने अपनेको यह अनुभव किया है कि मैं ज्ञान एक रस हूं। मुझमें ज्ञान ही ज्ञान है। जैसे कोई फल ऐसा होता कि रसपूर्ण होता, जिसमें न गुठली फोड़नी पड़ती और न जिसमें उसके ऊपरका छिलका फोड़ना पड़ता। जैसे एक फल आता, जिसका नाम है रसभरी। उसके फलको निकाला और मुँहमें डाला। क्या पाया ? रस ही रस। और फलोंमें तो रस भी पाया, गुठली अलग निकालकर फेंकी, उसमें जरा बाधा आयी स्वादमें और उसके एक तान होकर मौज लेनेमें बाधा आयी। पर जो रस ही रससे भरा हुआ फल है, जिसमें कुछ मुखसे निकालकर फेंकना नहीं पड़ता, जिसमें कुछ पहिलेसे ही अलग नहीं करना पड़ता। सीधा फल पूरा मुँहमें लिया और खाया तो वहां खाने वाला क्या अनुभव करता है ? बस एकमात्र ही है यह सब ? इसी तरह यह आत्मतत्त्व एक ज्ञानरस मात्र है। यहाँ कुछ दूसरी बात ही नहीं नजर आती। इसी कारण आत्माको ज्ञानमात्र कहा है आध्यात्मिक संतोंने। यह ज्ञानमात्र आत्मा है। जैसे केलेका पेड़ क्या है ? पत्ते मात्र ही पेड़ है और कुछ नहीं है। पत्ते छीलकर अलग कर दिये जायें तो वहाँ कुछ न मिलेगा। मिलेगा मामूलीसा डंठल। यह एक मोटे रूपमें दृष्टान्त कह रहे हैं। दृष्टान्त घटेगा नहीं पर इतनी बातको समझानेके लिए कहा है यह बात कि आत्मामेंसे ज्ञान-ज्ञानको निकाल दिया जाय तो फिर क्या रहेगा आत्मामें ? बस न कुछ उपलब्धि है, न आत्माका कुछ सत्व ही समझमें आया। आत्मा ज्ञानमात्र है। केवल जानन भाव है। जैसे—आकाश क्या है सो बताओ ? आकाश किसका नाम है ? है वह पदार्थ जिसमें छहों द्रव्योंका अवगाह बना है, पदार्थ रहा करते हैं। है वह आकाश पदार्थ जो सिद्धान्तके अनुसार आकाशमें अनन्त प्रदेश हैं। सो जो प्रदेशात्मक चीज होती है वह तो सद्भूत होती है। तो सद्भूत है, आकाश प्रदेशात्मक है, पर आकाशमें धरा क्या है ? आकाशके निजी क्षेत्रमें, निजस्वरूपमें बात पड़ी है क्या ? इसको जब समझने चलेंगे तो कुछ नजर तो न आयगा। हाँ समझ कुछ जरूर आयगी। है आकाश एक ऐसा कोई पोल जिसमें अन्दर कुछ नहीं है। तो आकाशकी ही तरह तो आत्मा अमूर्त है ना ? तो उस अमूर्त आत्मामें भी क्या समझमें आयेगा ? जैसे अमूर्त आकाशमें हम कुछ समझ नहीं पाते

कोई समय जल्दी ही ऐसा आ जाने वाला है कि हम आपका मरण हो जायगा। न जाने इस भवको छोड़कर किस भवमें पहुँचेंगे? जिस देहमें हम आप बिराज रहे हैं, जिस देहका आज इतना पोषण कर रहे हैं, जिस देहको ध्यानमें रखकर सम्मान अपमान, यश अपयश आदिककी बातें सोच रहे हैं, वह देह शीघ्र ही अग्निमें भस्म हो जाने वाला है। जो आत्मा यहांसे चला जायगा, इस मुझ आत्माको यहाँ कौन जानता है? इस आत्माका यहाँ कौन रिश्तेदार है? कौन कुटुम्बी है? है ना सब इसी तरह। जैसे किसीने स्वप्नमें कुछ मेला झमेला देखा तो है क्या वहां? कुछ भी नही। केवल यही सोता हुआ पड़ा है और चित्तमें विकल्प कर रहा है, इसके अतिरिक्त उसके पास और कुछ नहीं है। यों ही समझिये कि इस आँखसे जगे हुए पुरुषमें भी और कुछ नहीं है। तो इस आत्माको यहाँ कोई जानता तक भी नहीं है; इससे प्रीति तो करेगा कौन? तब फिर यहाँ कर्तव्य क्या है कि हम परमें न लगें, परमें आसक्त न हों, उसमें ही अपना सर्वस्व न समझें। सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र चैतन्यमात्र निज आत्मतत्त्वको जानें। ज्ञानियोंने यही किया जिससे वे सर्वसंकटोंसे छूट गए।

९५१. प्रभुता प्राप्तिके पथपर चलनेमें प्रभुभक्तिकी उत्तीर्णता—अच्छा यह बताओ कि जिस भगवानकी मूर्तिके हम आप दर्शन करते हैं उस भगवानके प्रति यह विश्वास है कि नहीं कि यह सबसे निराला है। देह भी नहीं, घर भी नहीं, कुटुम्ब नहीं, सबका त्याग कर दिया। केवल अपने ज्ञान और आनन्दमें लीन है। और ऐसा ही होना सर्वोपरि काम है। यह बात चित्तमें आती है या नहीं? यदि यह बात चित्तमें नहीं आती तो रोज रोजके दर्शनोंका ढेर लग जायगा, पर अपने आपमें कुछ प्रगति न होगी। और यदि यह बात मनमें आती है तो हम तभी समझेंगे कि यह बात मनमें आयी, जब अपने लिए भी यह ख्याल जगे कि मैं भी सबसे निराला हूँ। स्वरूप मेरा भी ऐसा ही है। प्रभुकी तरह मेरा भी यह कर्तव्य है कि परकी उलझनोंको छोड़कर, परके ख्यालोंको त्यागकर, निजतत्त्वको ही शरणभूत मानकर, सारभूत समझकर इस ही में रमते रहें। ऐसी भावना अगर जगती है तब तो समझिये कि हमने भगवानके स्वरूपको भी ठीक तरहसे समझा। यह हैं भगवान! अब दर्शन तो करते जायें और चित्तमें यह बात रहे कि मुझ जैसा सुखिया कौन? हमारे पास इतना वैभव है, हमको इतना मौज है, हमारा इतना बड़प्पन है, मैं बहुत बढ़िया हूँ, ऐसी बनी हो श्रद्धा तो उसने कहाँ पहिचान पाया कि प्रभु यह हैं? प्रभुमें उसकी आस्था कहाँ हो सकती तो ज्ञानी पुरुषने मोक्षके लिए जो कुछ किया वह मूलसे किया। जड़ पक्की करके मकान चिना जायगा, नींव दृढ़ बनाकर मकान बनवाया जायगा तो वह ठीक रहेगा, उसमें मकान के नातेसे स्थायित्व रहेगा। और जड़ ही जिसकी खोखली होगी उसपर ठीक कुछ नहीं बन

अपने आपमें अपनेको पाये। जैसे बड़ी गर्मीके संतापसे समुद्रका जल भाप बनकर ऊपर उठता है, बादलरूपमें बन जाता है तो देखो ना, उस संतापके कारण यह जल अपने ओघ से हटकर एकदम दूर ऊपर चला गया। अब वही बादल बहुत बहुत दूर घूमता रहता है। समय पाकर वह बादल बरसाता है तो वह नीचे आता है, नीचे आकर भी फिर जमीनपर नीचे बहता है. और नीचे बह-बहकर जहांसे वह पानी निकला था उसी समुद्रमें जाकर मिल जाता है। समुद्रमें से निकलकर उठा हुआ दूर-दूर घूमता हुआ जल किस प्रकारसे फिर समुद्रमें मिल जाता है, इसकी जो विधि है उस विधिसे जरा आत्माको भी देखिये। आत्म-उपयोग यह अज्ञान संतापके कारण अपने ओघसे हटकर, अपने स्वरूपसे हटकर बहुत दूर-दूर घूमा, उपयोग उन विकल्पजालोंमें भ्रमण कर रहा है, फिर समय पाकर जब उन विकल्प जालोंमें उपयोगके परिणमनोंमें नम्रताकी प्रकृति आयगी अर्थात् विनय होकर नम्रता आयगी तो उस नम्रतासे वह उपयोग नमकर आयगा तो चलकर इस ही ओघमें शामिल हो जायगा। तो धर्मपालन इस ही का तो नाम है। धर्म कहते हैं वस्तुके स्वभावको। आत्माका धर्म है आत्माका स्वभाव। आत्माके स्वभावमें आत्माके उपयोगके आ जानेको धर्मपालन कहते हैं। धर्म तो जीवमें सदा है, पर धर्मपालन नहीं है। धर्मका तो कभी अभाव नहीं है। जो अधर्मी है, मिथ्यादृष्टि है, निगोदमें है, जगजालमें रुल रहा है उस जीवमें भी धर्म है, सदा धर्म है। धर्मका वियोग कभी नहीं होता। यदि वस्तुके धर्मका अभाव हो जाय तो वस्तु ही मिट जाय। तो धर्म तो है इसमें सदा, पर उस धर्मकी दृष्टि नहीं है इसलिए कह सकते हैं कि धर्मका पालन हम नहीं कर रहे। अपने आपको चिन्मात्र ज्ञानमात्र अनुभवमें लें, स्वीकार करें, इस ही को स्व बना दें तो हम धर्मपालन कर रहे हैं। तो यह जीव जो कि विकल्प-जालोंमें बहुत दूर तक घूम चुका था। जब समय आया तो इसको विवेक जगा। विवेककी गलीसे चला। जैसे कि जल ऊपर उठ गया तो वह नीचे बह रहा, नीचे आ रहा, तो जैसे पानीकी निम्नग प्रकृति होती है, जहां ही पानी चला कि वह नीचेको बहने लगता है, इसी प्रकार जीवकी विवेक प्रकृति हो जानी चाहिए। अर्थात् उठकर बाहर गया ना तो बाहरसे अब नम्र बनकर जहांसे निकला था यह उपयोग वहीं आ जाय, ऐसा होनेके लिये जो पहिले विधान बताया था, मतिज्ञानको आत्माके सम्मुख करें तो अभिमुख करनेका ही तो नाम है नम्रता। उसके सम्मुख नम्र हो गया यह उपयोग, इस प्रकार यह आत्मा जो बहुत दूर विकल्पजालोंमें घूम रहा था, अब विवेकके बलसे अपने आपके स्वरूपमें आता है।

६५५. विकल्पक जीवमें कर्तृत्वका आरोप—यह जीव जब अपने स्वरूपको छोड़कर बाहर घूम रहा था तब भी कहां बाहर घूम रहा था? उसका उपयोग, उसका ज्ञान, उसके प्रदेशोंको छोड़कर बाहर कहां जायगा? सो प्रदेशोंसे बाहर नहीं गया, किन्तु प्रदेशोंमें ही

हैं पर समझते जरूर हैं। आकाश भी अनन्त प्रदेशात्मक है। तो यों ही इस अमूर्त आत्मामें आप और अन्य कुछ न पायेंगे, हाँ समझ अवश्य जायेंगे, है यह ज्ञानमात्र। केवल एक ज्ञान-रस करके पूर्ण, यह आत्मा है ज्ञानस्वरूप। तो यों ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, केवल ज्ञान ही ज्ञान से अपनेको निरखा जाय। ज्ञानरूप ही जो जानन है सो हूं। हूँ ना सद्भूत, इसलिए वह जानन एक क्षेत्रमें है। इसका आधार सर्वव्यापक नहीं है। किन्तु यह क्षेत्रमें है। उसीको कहते हैं आत्माके प्रदेश। जितनेमें यह ज्ञानभाव बनता रहता है कि बस वही तो आत्मा कहलाता है। उस आत्मतत्त्वकी बात कह रहे हैं कि वह ज्ञानरस है।

९५३. ज्ञानैकरस भगवान आत्माकी उपासना—आत्मा ज्ञान ही ज्ञान है, जाननमात्र है। केवल जो जानन है सो आत्मा है। इस प्रकार ज्ञानैकरस यह भगवान आत्मा पवित्र है, पुराण है। कोई रचना करके आत्मा बनाया नहीं गया है। यह अनादि अनंत स्वतंत्र सद्-भूत पदार्थ है। सो यह आत्मा क्या ज्ञानरूप है ? हां, दर्शनरूप है ?···हां। ज्ञानदर्शनरूप होकर भी जब आत्माके इस अखण्ड स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो ज्ञान दर्शन शब्दसे भी इसे नहीं कह सकते कि यह तो कुछ ही जो कुछ भी एक तत्त्व है, ऐसे उस आत्माको ज्ञानी संत चित्स्वरूपमें निरखते हैं। ऐसा हू मैं आत्मा। जिसके समझनेमें भी बड़ी कठिनाई जंच रही है, जिसकी समझ एक ऐसे धाममें चल रही है जहां फिर कुछ पता नहीं रहता, सब छूट जाता, कुछ बुद्धियां नहीं रहतीं, विकल्प नहीं रहता, ऐसा अलौकिक अद्भुत चित्सामान्य स्वरूप यह मैं आत्मा हूं। बस इसकी खबर है ज्ञानीको, उसका जो भी उपयोग है वह सब आत्माकी ओर लगा रहता है। जिसको इसकी खबर नहीं है वह परपदार्थोंमें ही आकर्षित रहता है, और परख्याति ही उनका काम बन रहा है। ज्ञानी पुरुषने यह किया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उपयोगको अपनी आत्माकी ओर लगाया, जिसकी प्रसिद्धिसे कर्मकलंक दूर हुए, रागादिक दूर हुए और अब यह केवल ज्ञाता द्रष्टा रह गया। ऐसे ज्ञानघन एक ज्ञानैकरस रूपमें अपने आत्माके दर्शन कीजिये और इस लोकमें प्राप्त हुए दुर्लभ मानव जीवनको सफल कीजिये।

९५४. निज ओघसे हटे हुए जीवका निज ओघमें आनेका विधान—यह जीव अनादि से किस स्थितिमें पड़ा है और क्या उपाय करे कि यह उत्कृष्ट स्थितिमें पहुँच जाय ? इसपर विचार करना है। अनादिकालसे यह जीव बहुतसे 'विकल्पजालरूपी बनमें भ्रमण कर रहा है और बहुत दूर अत्यन्त अधिक भ्रमण कर गया है जिससे वह अपने स्वरूपसे भी च्युत हो गया है। अपना जो ओघ है, स्वरूप है, गुणसमुदाय है, अपना जो स्वभाव है उससे भी अलग हो गया अर्थात् उपयोगमें यह स्वभावसे दूर हो गया, ऐसी स्थितिमें पड़ा हुआ यह जीव जब विवेकरूपी निम्नगमनसे अपने ओघमें आया तो यह अपना विज्ञानरस होता हुआ

उठने वाला विकारभाव है। इसलिए ज्ञप्तिमें क्रिया नहीं होती और क्रियामें ज्ञप्ति नहीं होती। जो करने वाला बन रहा वह जाननहार नहीं और जानने वाला बन रहा वह करने वाला नहीं। यों कह लीजिए कि जो मूढ़ है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह मूढ़ नहीं। अब इससे भी और सूक्ष्म भेदविज्ञानकी दृष्टि बनाकर निरखें कि इस प्रकारके कर्तृत्वमें भी जीव कर्ममें नहीं, कर्म जीवमें नहीं, यह जीव चैतन्यात्मक पदार्थ है, विकल्पोंमें चैतन्यस्वरूप नहीं, तब कर्ताकर्मपना बना क्या ? यह सब अज्ञानमें ही कर्ताकर्मपनेकी बुद्धि हो रही है। तो यहाँ सारा मोहका ही प्रचार है, सर्व मोहका ही नृत्य हो रहा है। जीव तो अब भी विशुद्ध चैतन्यात्मक है।

९५७. समस्त परपदार्थोंमें आत्माका अकर्तृत्व—यहाँ जीवके सम्बन्धमें कर्ता कर्मकी बात चल रही है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं होता अर्थात् उस रूपसे परिणमने वाला नहीं होता। उपादान दृष्टिसे एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं है। कर्ता क्या, एक वस्तुके अस्तित्वका दूसरे वस्तुमें रंचमात्र भी प्रवेश नहीं है। इतना भी मिलन हो गया कि उस ही आकाशमें, उस ही जगहमें जीव रह रहा हो, उस ही जगहमें यह शरीर रह रहा है, उस ही जगहमें ये कर्म रह रहे हैं, इतना ही क्यों ? उस ही आकाशमें अनन्त सूक्ष्म निगोदिया जीव रह रहे हैं तिस पर भी प्रत्येक जीवका अपने आपमें अनुभवन है। तब किसीका किसी अन्यमें प्रवेश तो नहीं कहलाया। यहाँ तक कि जहां एक सिद्ध भगवान है वहाँ अनन्त सिद्ध भगवान हैं उस ही जगहमें और उनके शरीर है नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा है। तो इस ढंगसे वे वहाँ अनन्त सिद्ध विराज रहे हैं। उन सिद्धोंका एकसा स्वरूप है, विकास एकसा है, सभी सिद्ध हैं। प्रत्येक सिद्ध अपने ज्ञानमें समस्त लोकालोकको जान रहा है, इतने पर भी प्रत्येक सिद्धका परिणमन उनका उनका अपने आपके प्रत्येकमें है। एकका परिणमन किसी दूसरेमें प्रवेश नहीं करता, तब फिर एक दूसरेका कर्ता कैसे कहा जा सकता है ? जब यह बुद्धि जगती है कि मैं किसी भी परपदार्थका करने वाला नहीं हूं, परमें क्या है ? खुदको छोड़कर बाकी सब, जितने अनन्तानन्त पुद्गल स्कंध हैं उनको मैं किसीको नहीं करता। जितने अन्य जीव हैं उनका मैं कुछ नहीं करता। तो जब मैं देहको परिजनोंको वैभवोंको किसीको भी नहीं कर रहा हूँ तो कर क्या रहा हूँ ? केवल विकल्प। वे विकल्प हैं भावात्मक। उन विकल्पों में कुछ स्कंध जैसा पिण्ड नहीं पाया जाता। केवल भावरूप। तब देखिये ना कि केवल भावोंका ही मैं चक्कर लगा रहा हूं, दुःखी हो रहा हूं। और यही भाव जब सुधरता है, शुद्ध होता है, स्वभावकी ओर ढलता है तो यही भाव इस जीवको उलझनोंसे अलग कर देता है। तो मैं भाव मात्र ही करता हूं। जब भाव ही करता हूं, बाह्य पदार्थोंका कुछ

रहकर बाह्यकी ओर मुख बनाये रहा। अब यह कर क्या रहा था? विकल्प ही कर रहा था। क्या किया जा रहा था उस समय? विकल्प ही किया जा रहा था। तो जब तक विकल्प रहते हैं तब तक यह जीव कर्ता कहलाता है। जहां विकल्प न रहे वहां कर्ता नहीं कहलाता। परपदार्थके सम्बन्धमें कुछ करनेका, कुछ परिणमन करनेका, कुछ चाहनेका विकल्प करता है तो वह जीव विकल्प करने वाला कर्ता कहलाता है। और उस कर्ताके कर्ममें आया क्या? कर्म। संसारके प्राणी हर जगह घरमें बैठे हों तो, दूकानमें बैठे हों तो समाजमें बैठे हों तो, सर्वत्र विकल्प ही करते है, अन्य किसी पदार्थको नहीं कर सकते। क्योंकि यह आत्मा चेतन अपनेमें परिपूर्ण सत् है। इसमें जो बनेगा, जो परिणमन होगा वह अपने में होगा, बाह्यमें न होगा। विकल्प करने वाला यह चेतन कर्ता है और जो विकल्प किए जा रहे हैं वे कर्म है। तो ये कर्ता कर्म चल रहे हैं जीवमें, न कि परपदार्थों को ये कर देते हैं। जैसे कहते हैं कि अज्ञानी जीव तो कर्ता है और ज्ञानी जीव कर्ता नहीं है, प्रभु भी कर्ता नहीं हैं, तो इसका अर्थ यदि यह होता कि अज्ञानी जीव तो परपदार्थका करने वाला है, ज्ञानी जीव परपदार्थका करने वाला नहीं है तो इसमें बलवान, सामर्थ्यवान बड़ा कहलाया अज्ञानी। बेचारा ज्ञानी और बेचारा प्रभु परपदार्थका कुछ भी न कर सका और देखो इस अज्ञानीने परपदार्थका कुछ कर दिया। तो फिर यह अज्ञानी प्रभुसे भी बढ़कर बन गया। सो परका कर्ता कोई नहीं है, न ज्ञानी है न अज्ञानी। अज्ञानी अज्ञानभावसे अपने आपमें विकल्प मचाता रहता है और ज्ञानी जीव ज्ञानभावसे शान्त रहा करता है। तो अज्ञानी जीव विकल्पक है और वह कर्ता कहा जाता है। जब तक ये विकल्प दूर न हों, परके सम्बंधमें अज्ञानभाव दूर न हो तब तक उसका यह कर्ता कर्मपना नष्ट नहीं हो सकता। और इस तरह जो अपने विकल्पोंके मचानेके रूपसे कर्ता बन रहा है यह तो कर्ता है, जानने वाला नहीं है। जानने वालेका अर्थ है विशुद्ध जानन, जिस जाननमें विकल्पका सम्बंध न हो। तो जो कर्ता है वह जानता नहीं और जो जानता है वह कर्ता नहीं, जो कर्ता है वह कर्ता ही है और जो जानता है वह जानता ही है।

९५६. ज्ञाता कर्ता नहीं, कर्ता ज्ञाता नहीं—यहां आत्माके भीतरके परिणामको निरखकर सोचना है। करना मायने विकल्प मचाना। तो विकल्प मचाने वाला विकल्प मचाते समय विशुद्ध ज्ञानका अनुभव आनन्द कहाँ प्राप्त कर सकता है? और जो चीज विशुद्ध आनन्दका; ज्ञानका अनुभव प्राप्त करती है उसमें विकल्प नहीं मच रहे। तो जो कर्ता है वह वस्तुतः जानता नहीं और जो जानता है वह वस्तुतः कर्ता नहीं। इससे सिद्ध है कि जाननभावका लक्षण और है और कर्तृत्वभावका लक्षण और है। कर्तृत्वभाव तो विकारभाव है और जाननभाव आत्माके स्वभावसे उठने वाला है। कर्तृत्वभाव उपाधिके संसर्गसे

९५९. आत्माका पवित्र उत्तम स्वार्थ—श्री समन्तभद्र आचार्यने बृहत् स्वयंभूस्तोत्र में श्री सुपार्श्वनाथकी स्तुतिमें स्वार्थकी महिमा समझाई है। "स्वाथ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा। तृषोऽनुषङ्गान्न च ताप शान्तिरितीदमाख्यत् भगवान् सुपार्श्वः॥ अर्थात् समस्त विकल्पोंको छोड़ आत्मस्वरूपमें स्थिर होना स्वास्थ्य है। यही स्वास्थ्य विवेकियोंको इष्ट है। लौकिक भोग स्वार्थ नहीं, किन्तु परार्थ परवस्तु है। आत्मकल्याणके लिये समर्थ नहीं है और आगे लालसाओंकी परम्पराको आकुलताको बढ़ाने वाली है। हृदय का ताप मिटानेको भोग भोगते हैं—"पर मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की" जैसे खटमल बढ़ते हैं वैसी ही तेज गतिसे लालसायें बढ़कर चारों ओरसे आत्माको पीसती हैं। अतएव क्रान्ति करो, जीवनमें परिवर्तन करो। दिशा बदलो, लक्ष्य बदलो। ठीक विचार बनाओ—बस व्यापार व्यवहार खान पान ही लक्ष्य मत रक्खो। जो चीज सदा रहती है ऐसे अचल अनादि अनंत अखंड ज्ञानानंदरूप आत्माको अनुभव करनेका प्रयत्न करो। "जहं मह तहं गह जीव तुह, रणुविजेण लेहहि। ते परबंभु भुणवि मह, मा परद्रव्व करेहि॥" योगीन्द्र देव आचार्य कहते है कि जहाँ तू बुद्धि लगायेगा वहीं पहुंच भी जायेगा, तुझे मरकर अमर होने या मुक्ति पानेकी उत्कंठा है तो परमात्माको छोड परद्रव्यका चिन्तवन मत कर॥ और परमात्माका चिन्तवन ही मुक्ति नहीं किन्तु मुक्तिका कारण है। सीढ़ियोंसे छतपर चढ़ते हैं इसका अर्थ यही होता है कि सीढ़ियां छोड़कर फिर छतपर पहुंचते हैं, इसी तरह तू परमात्मा समान अपने आत्माका स्वरूप समझ आत्मामें आ जा। "चेतन चित परिचय विना, जप तप सबै निरत्थ। कनविन तुसवन फटकते आवे कछू न हत्थ॥ जिस आत्मकल्याणसे लिये तीर्थ-यात्रा जैसे कठिन कार्य करता है उस आत्माको तो समझ, यह सब तेरी भागदौड़ केवल उस शरीरके लिये तो नश्वर है। तू शरीरकी सेवामें जिन्दगी भर लगा रहा, क्या कुछ आत्म-कल्याणको तनखा मिली—नहीं मिली। उल्टा आत्मा अनंत भवोंमें भटका और परपरिणति से भटकेगा। परिणामोंमें निर्मोहता लानेको क्रान्ति करो। ऐसी क्रान्ति विना अनादि की कर्मबंधन शरीरकी परतंत्रता की गुलामी नहीं मिटेगी। तुम पुत्र मोहवश लड़कोंको कमा कमाकर स्वयं रागद्वेपकी कीचमें फंसते हो। तुम तो आत्मलक्ष्य रखो। फिर आत्मलक्ष्यसे जो मंद कषायपूर्वक प्रवृत्ति होगी उससे पुण्य परमाणुओंकी सातिशय वृद्धि और पाप परमा-णुओंकी ऐसी निर्जरा होगी कि सरलतासे लौकिक कार्य चलते जायेंगे और हम इस प्रकरण में व्यवहारकी स्मृति भी भुला सकें तो समझो आत्मलक्ष्य आया। मोहकी दलालीमें कुछ सार नहीं मिलेगा। कोयलाकी दलालीमें चाहे टका मिलते भी हों कालिमा ही लगती है।

९६०. व्यामोहके त्याग होनेपर ही धर्मध्यानकी पात्रता—शुद्धोपयोगके साधनभूत धर्मध्यानके ४ भेद हैं। ये धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि आत्मानुभवीके ही होते हैं। मोही जीव इन

करता ही नहीं हूं तब फिर ऐसा भाव करनेमें क्या हित है जिस भावसे यह मैं बन्धन में रहूं। भाव वही करने योग्य है जिस भावसे मैं अपने स्वातंत्र्यको पहिचानूं और अपने स्वरूपमें मग्न हो सकूं।

९५८. **गरजकी नजर**—विवेकियों! आप लोग जीवनमें कुछ क्रान्ति करो, निन्यानवे के चक्करमें, जगत् की मोह मायामें मत पड़े रहो। किससे ममता करते हो और उस ममता से क्या तो तुम्हारी आत्माका भला हुवा और ममता करके कितना तुमने दूसरोंका कल्याण कर पाया? तुम समझते हो स्त्री तुमसे मोह करेगी सो सोचो वह तुमसे मोह नहीं करती, अपनी स्वार्थसिद्धिसे उसे मोह है, तुम उसके लिये आहार पान लाते हो व स्त्री भूषणके लिये दौड़ धूप करते हो। एक स्त्री अपने पतिसे कहती—मुझे तुम बिना एक क्षण भी नहीं रहा जाता, तुम बाहिर गये मानों मेरे प्राणसे खो गये। अस्तु, एक दिन उस पुरुषने अपनी स्त्रीके प्रेमकी परख करनी चाही। सो रातको भोजनसे पहिले ८ बजे सांस साधकर लेट गया। औरतने उस दिन खीर लड्डू वनाये थे। औरत जब सब बना चुकी तो पतिको खाने वास्ते बुलाया, इसने मरेका स्वांग बना रखा था सो बोला नहीं। स्त्री पास आई तो प्राणा-यामसे इसने अपने को मरे समान कर लिया, सांस साधली। औरतने सोचा—कैसे व्यंजन वने रखे हैं, कैसे इन्हें छोड़ दूं और अभीसे कब तक रात भर रोऊंगी, सो खीर लड्डू खा गई और सो गई। सबेरे फिर पास आई तो फिर इसने वही प्राणायाम करके हृदयकी गति थोड़ी देरको रोक ली। बस दिनकी पौ फूटते यह रोने लगी, पुकारने लगी, नाना तरहके स्वांग गाने लगी। घर पड़ौसके लोग जुड़ आये, इसे समझाने लगे और इन्हें क्या हो गया था? मरते समय क्या कह गये? कुछ दान पुण्य मंदिर व पाठशालाको कर गये कि नहीं आदि बातें पूछने लगे। यह भी रोनेमें गानेकी धुन मिलाकर मना करती गई कि न तो कुछ बीमारी हुई, न कुछ दान पुण्यकी बात कही। अस्तु, अर्थी बनने लगी। इधर धनी ने अपने दोनों पैर खूब दूर दूर फैला लिये थे। अर्थीपर रखनेको उठाने लगे तो देखें पैर इतने फैले हैं कि दरवाजेमें से निकल नहीं सकते। पंच बोले थोड़ा दरवाजे की एक तरफकी चौखट खींच लो तो लाश निकल जायेगी। फिर इस औरतने बड़े करुणा भरे शब्दोंमें आक्रन्दन किया कि कमौआ तो मर ही गये, फिरसे चौखट वनवाने जड़वानेमें दश रुपये कहाँसे लगायेंगे? इनके पैर ही थोड़े काट लो, बस जहाँ यह कहना सुनना था कि ऐंडाई जंभाई लेकर यह जाग उठा और बड़ी नाराजी व उपेक्षासे औरतपर घृणाके वचन प्रहार किये। सज्जनों! सब रिश्ते नाते ऐसे ही अपने-अपने स्वार्थ साधनके हैं। न तो विधवा मरे हुए पतिको रोती है और न पुत्र मरे हुए पिताको रोता है, जो रोता है सो स्वार्थको। स्वार्थ आत्मकल्याणमें है। आग पानी जैसा बैर और सच्चा स्वार्थ है भी किसे?

न तो प्रत्यक्ष हैं और न युक्तियोंसे समझे जाते हैं, फिर भी "जो सद्दहादि जिणुत्तं सम्मद्दिट्ठी अविरदो सो" जो जिनेन्द्र कथित तत्त्वोंपर विश्वास करता है सो सम्यग्दृष्टि है। बहुतसे लोग कहते हैं स्वर्ग नरक सब यहीं हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रकी आज्ञाको प्रमाण मानता है। सुमेरु आदि पंचमेरुके अस्सी चैत्यालय और नन्दीश्वरके ५२ चैत्यालय स्वयंभू रमण समुद्र आदि दूरवर्ती पदार्थ और रामरावणादि दूर कालकी आत्माओंको हम आज्ञा प्रमाण से मानते है। अंग्रेजोंने जितनी पृथ्वी का पता चलाया उतनी ही नहीं है किन्तु ३४३ राजू लोक हैं, लोकके चारों ओर तीन वातवलय हैं, वैज्ञानिक लोग भी परिचित पृथ्वीके बाद जल मानते हैं, किन्तु वह जल भी तो किसी पृथ्वीपर सधा होगा। विज्ञानके पहिले शब्दको अन्य मतावलम्बी आकाशका गुण मानते थे, किन्तु रेडियो और लाउडस्पीकर द्वारा शब्द पकड़ा जाने से वह पुद्गलका गुण माना जाने लगा है। हम किसी बड़े बन्द महलमें आवाज करें तो प्रतिध्वनि निकलती है। मुंहके आगे कपड़ा लगा देने पर आवाज रुक जाती है। आवाज जब बहुत जोरकी होती है तो कानके पर्देको धक्का लगता है और दो पुद्गलोंकी ठोकरसे वह पैदा होता है। इस कारण शब्द पुद्गल ही है। शुद्ध परमाणु एक समयमें १४ राजू ऊंचा चला जाता है ऐसा जैन शासनमें लिखा है. किन्तु टेलीफोनसे भी शब्द ४००० मील दूर बहुत जल्दी पहुँच जाता है और अब तो चन्द्रलोकमें पहुँचनेकी तैयारी है। लोग कहते हैं कि पहिले एक वायुमंचालक तीन बन्दर ले जायेगा— वे यदि जीते रहे तो फिर आम आदमियोंका भी जाना सुगम हो जायेगा। विद्याधर तो मेरु पर जा सकते हैं और विद्याधर भूमि गोचरीको भी ले जा सकते हैं, तिर्यकलोकमें ढाई द्वीप तक जा सकते हैं और ऊंचाईमें सुमेरु तक जा सकते हैं। यह निश्चय है कि चन्द्रलोक में मनुष्योंके खानेको कुछ नहीं मिल सकेगा, चन्द्रलोक मध्यलोकसे केवल ८८० राजू है। एक राजू २००० कोसका होता है।

९६२. अपायविचय धर्मध्यान—अब दूसरा धर्मध्यान अपायविचय है अर्थात् कर्मों के फलका रागादिका कैसे विनाश हो, उस उपायका चिन्तन करना। प्रायः सर्वसाधारण ने यह सुन व समझ रक्खा है कि—"यद्यपि भानु पूरवसे पच्छिम उदय होय तो हो जावे। परन्तु जो कुछ लिखा भागमें कहो वो क्यों टलने पावे॥" किन्तु यही १ पक्ष नहीं है किन्तु वह शुद्ध परिणामके बलपर टल भी सकता है। कर्मकी १० अवस्थायें या दस करण माने गये हैं—"बंधु क्कट्टकरण संकममोकट्टुदीरणा सत्तं। उदयुवसाम निधत्ती णिकांचणा होदि पडियपडी॥ अर्थात् १ बंध, २ उत्कर्षण, ३ संक्रमण, ४ अपकर्षण, ५ उदीरणा, ६ सत्त्व, ७ उदय, ८ उपशम, ९ निधत्ति, १० निकाँचना, ये दस अवस्थायें कर्मकी प्रकृतियों की होती हैं। इन दशोंमें अंतकी जो निकांचित अवस्था है उसमें उदीरणा संक्रमण उत्कर्षण

चारों धर्मध्यानोंमें एकको भी नहीं पा सकता। मोह और धर्मध्यानमें इतना अन्तर है जितना प्रकाश और अंधेरेमें। धर्मध्यान प्रकाश है और मोह है अंधेरा। धर्मका यथार्थ मूल सम्यग्दर्शनसे है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी मानना, अर्थात् प्रत्येक वस्तुका परिणमन स्वतंत्र है। न कोई किसीका भला कर सकता है, न बुरा। चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो। मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ हे आत्मन्! यदि तू मोह अर्थात् और क्षोभ अर्थात् द्वेषरहित केवल ज्ञायक दृष्टि बनाले तो तुझे शान्ति तत्काल प्राप्त है। धर्मके दो रूप माने जाते हैं—एक नगद धर्म, दूसरा उधार धर्म। नगद धर्म है मोह क्षोभरहित आत्मलक्ष्यरूप ज्ञानानन्द का अनुभव। जिस पूजा स्वाध्याय ध्यानादिको करते हुए मानसिक विकल्प रुक कर अनादि अनन्त अचल अखंड ज्ञानानंदरूप आत्मानुभवमें लग जाये यही तो नगद धर्म या धर्मका तत्काल फल है और इस दान पूजासे आगे स्वर्ग, धन सन्तति आदि मिलेगी सो उधार धर्म है। उधार दिया हुआ, अनेक बार मारा ही जाता है लौटता नहीं, इसी तरह कामना लालसा से किया गया पुण्य घटता ही है। कहा भी है कि—"पुण्णासएण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती। इति जाणि ऊण जइणो पुण्णे किम आयरं कुणह॥" जो पुण्यकी भारी लालसा करता है उसके पुण्यबंध भारी कम होता है क्योंकि निःस्पृहके ही पुण्यकी प्राप्ति होती है—ऐसा समझकर हे जिनेन्द्र भक्त तू पुण्यमें भी लालसा मत कर। तू ने पुण्यवानों की हालत अभी अच्छी तरह सुनी समझी नहीं। "पुण्ण जुदस्स विदीसइ इहविओयं अणिट्ठं संजोगं। भारहौवि साहिमाणो। परिज्ज होलहु भायेण॥" अर्थात् षट् खंड नौ निधिके भोक्ता प्रथम चक्रवर्ती भरतका निरादर छोटे भाई बाहुबलीसे हुआ—दृष्टियुद्ध मल्लयुद्ध जलयुद्ध तीनों युद्धों में भरत हारे। कस्सविणत्थि कलत्तं अहव कलत्तंण पुत्त संपत्ती। अहतेसिं संपत्ती तहवि सरोगो हवे देहो॥ किसीके स्त्री नहीं, स्त्री भी है तो पुत्र नहीं। स्त्री पुत्र दोनों हैं तो देह दुर्बल व रोग युक्त है। कस्सविदुट्ठकलित्तं कस्सविदुव्विसणओ पुत्तो। कस्सवि अरि समवंधू कस्सवि दुहिदावि दुच्चरिया॥ वह जो वज्रनाभि चक्रवर्तीकी वैराग्यभावनामें लिखा है कि—"काहू घर कलहारी नारी कि बैरी सम भाई। काहूके दुःख बाहिर दीखे काहू उर दुचिताई॥" किसीकी स्त्री कर्कशा है तो किसीका पुत्र दुर्व्यसनी है। किसीकी पुत्री व्यभिचारिणी हो गई है। क्या कहें जगतकी विडम्बनाको? यह लोकसुखकी चाह भी आर्तध्यान है—बिना आर्तध्यानको छोड़े धर्मध्यान नहीं बन सकता।

९६१. **आज्ञाविचय धर्मध्यान**—पहिला धर्मध्यान है आज्ञा विचय—नान्यथावादिनो जिनाः अर्थात् जिनेन्द्रदेव कभी तत्वका स्वरूप अन्यथा नहीं कह सकते॥ "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं युक्तिभिर्नैव हन्यते॥ अर्थात् जिनेन्द्रकथित परमाणु धर्म अधर्म आदिद्रव्य जो

है। बहिनोईको बुलाओ, बहिनोईके समझानेसे वह कौएका माँस खा लेगा और निरोग हो जायेगा। बहिनोईको बुलाया गया, जब बहिनोई खदिरसारके गांवकी तरफ आ रहा था तो रास्तेमें औरतके भेषमें एक यक्षिणी रो रही थी कि खदिरसार कौएके मांसत्यागकी प्रतिज्ञा से उत्पन्न पुण्यसे मेरा पति यक्ष देव होने वाला है किन्तु घरके लोग प्रेरणा करके उसका व्रत खंडन करना चाहते हैं, कदाचित् उसने किसीके समझानेसे कौएका मांस खा लिया तो फिर ऐसा संयमी जीव मेरा पति न हो सकेगा। यह वार्ता देख सुनकर खदिरसारके बहिनोईके हृदयमें धर्मभावना जागृत हुई। ये खदिरसार भीलके पास उपस्थित हुये और मार्गकी सारी घटना रोगशय्या पर पड़े संयममें दृढ़ अपने प्यारे मित्र खदिरसारको सुनाई। सुनते ही खदिरसारकी धर्मभावना और भी ऊंची हुई। कुटुम्बी जो चाहते थे हुआ उससे विपरीत। खदिरसारने समस्त प्रकारके मांसोंका त्याग कर दिया। वह शान्त परिणामोंसे देह त्याग उस वृद्धिगत संयमकी भावनासे कल्पवासी देवोंमें महर्द्धिक देव हुआ। यह खदिरसार भील श्रेणिकके पूर्वभवका जीव था—जिसके जीवनमें अनेक चढ़ाव उतार हुए। मेरे कहनेका अभिप्राय यह है कि धर्मकी भावनाने पुण्य कर्म वर्गणावोंकी स्थिति और अनुभाग बढ़ता है, यह तो हुआ भौतिक कार्य, किन्तु आत्मशुद्धि ऐसी दृढ़ होती है कि अनेक पापवर्गणायें बिना फल दिये खिर जाती हैं, परिणामोंमें निर्मलता आती है।

९६४. अपायविचयके प्रसंगमें अपकर्षणादिका चिन्तन—अब आप अपकर्षणका स्वरूप और दृष्टान्त समझिये—कि जब राजा श्रेणिकने बौद्ध धर्मके मदमें जैन साधु श्री यशोधरका सर्वनाश करनेके लिये उनपर घातक क्रूर कुत्ते छोड़े, किन्तु मुनिराजकी तपस्याके तेज से उनकी घातक शक्ति हिंसाके भाव उस समय मिट गये। तब परेशान दिल श्रेणिकने निर्ग्रन्थ स्वार्थत्यागी श्री यशोधर मुनिराजपर बाण चलाया, किन्तु वह भी फूलमालाके रूप में परिणत हो गया। कई बार ऐसा देखा जाता है कि हम अपने किसी आश्रित जनको द्वेषवश अपनेसे अलग कर देते या आजीविका छुटा देते है, किन्तु उसके पुण्योदयसे वह अन्यत्र पुण्यका उदय भोगता, उन्नति कर लेता है। श्रेणिक राजाने जैन साधुका तिरस्कार करना चाहा किन्तु स्वयं तिरस्कृत हुआ और इस धर्मापमानके कारण श्रेणिकको सातवें नरककी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरका बंध हुआ, किन्तु तुरन्त उसे अपनी भूलपर पश्चात्ताप हुआ। कारण कि जब मुनिराजका ध्यान पूर्ण हुआ तो सामने उपस्थित श्रेणिक राजाको उन्होंने धर्मोपदेश दिया। जिससे श्रेणिकका मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ उपशान्त हुआ और उपशम सम्यक्त्व प्रगट हुआ। 'जिसके प्रभावसे सातवें नरककी तेतीस सागरकी आयु छिदकर प्रथम नरकमें केवल चौरासी हजार वर्षकी रही। यह घटना चतुर्थ कालके अंतकी थी। चौरासी हजार वर्षमें पांचवां काल इक्कीस हजार वर्षका छठवां भी

अपकर्षण कुछ नहीं होते। यह ऐसी अवस्था है कि—"होनहार होतव्य न पल भर टलती। भइ जरद कुंअरके हाथ मौत गिरघरकी ॥ या "कहाँ कृष्ण कहाँ जरद कुमारा कहां लोहेका तीर। मारा भरोसे मृगके बलभद्र भरन गये नीर ॥ या "राई घटे न तिल बढ़े"। किन्तु हम आप सबको इस एक निवांचना अवस्थाका ही हठ नहीं करना है और अवस्थाओंको भी देखना है। यदि इस राई घटे न तिल बढ़े पर ही नजर रहे तो न कोई धर्म पा ले, ना पापसे डरे ॥ फिर धर्म किस मर्जकी दवा रहे? असलमें धर्म जो आत्मानुभव या सम्यग्दर्शन रूप है, उस धर्मसे पुण्य प्रकृतियोंकी स्थिति बढ़ती व अनुभाग भी बढ़ता है और पापप्रकृतियों का फल घटता है। कर्मकी स्थितिका बढ़ना उत्कर्षण है और कर्मकी स्थितिका घटना अपकर्षण है।

९९३. नियमकी दृढ़ताका प्रताप—खदिरसार भीलने किन्हीं साधुके सत्संगसे उपदेश पाकर कौएका मांस त्याग दिया था। एक बार जब खदिरसार बीमार हुआ तो वैद्योंने उसका वर्तमान रोग दूर करनेके लिये कौएका ही मांस बताया। घरके सब लोगोंने बन्धुओंने बहुतेरा समझाया कि आज संकट दूर करनेके लिये तुम कौएका मांस खालो, फिर चाहे एक कौआ जातिकी जगह सभी नभचरोंका तो क्या, जलचरों और थलचरोंके भी मांस खानेका त्याग कर देना। किन्तु 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपत काल परखिये चारी', अर्थात् कष्ट में जो नियमधर्म पर स्थिर रहे वही गंभीर व धर्मात्मा है। फिर भी मोहवश घरके लोगों ने खदिरसारको बहुतेरा समझाया कि भाई "काया राखे धर्म, काया राखे धर्म" अर्थात् आज त्यागी हुई वस्तु वा अभक्ष्य खाकर जी गये तो आगे कई वर्षों तक कई प्रकारके व्रत नियम धर्म पालना। किन्तु "प्राणान्तेऽपि न भक्तव्यं गुरुसाक्षी श्रितं व्रतं।" अर्थात् प्राण जाते भी लिये हुए नियमको न छोड़े, क्योंकि अभक्ष्य औषधि आदिसे संभव है कि वर्तमानका दुःख टल जाये, निश्चय नहीं है किन्तु यह निश्चय है कि व्रत भंगसे भव भवमें कष्ट उठाना पड़ता है। यह तो अपने आपको धोखा देना है। मनुष्य समझता है कि मैं दूसरोंको ठग रहा हूं पर निश्चय समझिये कि ठग अपने आपको ही रहा है। हमने एक आमका पेड़ लगानेकी इच्छासे आमकी गुठली अच्छी उपजाऊ सुरक्षित जमीनमें बोई। वर्षाका योग पाकर अमेला उगा। लड़के बच्चे इसे उखाड़कर इसकी गीली गुठलीसे पीपी बनकर बजाते हैं। उसी तरह अगर जिसे आमका पेड़ लगानेकी इच्छा है वह भी यदि यह देखे कि आओ, आज जड़ कितनी गहरी चली गई, इसे उखाड़कर देखें तो नित्य उखाड़ने लगानेसे आमका पेड़ न जम सकता है, न बढ़ सकता है। इसी तरह लिया हुआ नियम कभी भी न तोड़े, तभी वह आगे चलकर फलित हो सकता है। ऐसा विचार खदिरसार भील अपनी कौएके मांसत्याग की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा। घरके आदमियोंने सोचा—इसका अपने बहिनोईसे अधिक प्रेम

वह पूर्वसे पश्चिममें सातवें नरकमें ७ राजू लम्बा है और मध्यलोकमें सकुड़कर एक राजू रह गया है, फिर ऊपर ऊर्ध्वलोकमें जाकर पाँचवें स्वर्गमें ५ राजू हो गया है और भी ऊपर चलकर सिद्धशिलापर केवल एक राजू रह गया है। चारों जगहकी लम्बाई मिलकर चौदह राजू हुई। इसका समीकरण विचारमें लानेके लिये चौदहमें चारका भाग दिया तो साढ़े तीन राजू आई। इस साढ़े तीन राजू की लम्बाईको दक्षिण उत्तर सर्वत्र एक समान सात राजू रहने वाली चौड़ाईसे गुणा करने पर साढ़े चौबीस राजू हुआ और इसका भी गुणा चौदह राजू ऊँचाईके साथ कर देनेसे ३४३ राजू लोकका घन क्षेत्रफल हुआ। नरकमें तो दुःख ही दुःख है शारीरिक मानसिक, क्षेत्रकृत स्वभावकृत परकृत सभी प्रकारके दुःख हैं। वे पहिले नरकके भी दुःख इतने प्रबल हैं कि जिनको समझानेके लिये यहाँ मनुष्य और तिर्यञ्चोंके किसी भी दुःखकी ठीक उपमा नहीं दी जा सकती। मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, उनकी बात जाने दो, तुम अपने परिचित क्षेत्रमें परिचित जनोंमें या फिर स्वयं अपनी देहमें दुःखोंका अनुभव करो कि संसार कितना दुःखमय है ? ऊर्ध्वलोकमें भी देवोंको मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक मानसिक दुःख हैं। छः माह पहिले मृत्युसे गले की माला मुरझा चलने से जैसा मासिक दुःख वे पाते हैं, उसकी तुलनामें मनुष्यका शारीरिक दुःख हल्का है। अपनेसे अधिक पुण्यवान् देवोंकी संपत्ति देखकर झुरते हैं। इस प्रकार समस्त लोक दुःखमय है। कहा भी है कि "इसमें दुःख मेरु समान दुःख ज्यों राई। सो भी सब आकुलतामय पड़त दिखाई॥" ये चार भेद धर्मध्यानके हैं। इस धर्मध्यानका तत्काल फल है, आश्रव बंधका न होना किन्तु संवर निर्जराका होना। सामायिक करते समय इन्हीं चारों प्रकारके धर्मध्यानोंका चिन्तवन करना चाहिये। इन चारोंको छोड़कर केवल नाममात्र बोलना या मालाके दानों पर उंगलियां फेरने मात्रसे कोई लाभ नहीं। कोई कोई भाई कहते हैं कि सामायिकमें हमारा मन नहीं लगता, अनेक विकल्प सामने आ जाते हैं, इस विचारपर भी जो कुछ विवेक है, वह यह कि इतना पता तो चल गया कि मेरे मनमें कितने विकार भरे पड़े हैं ? लोकारम्भकी ममतामें फंसा हुआ मानव तो विवेकको खो बैठता है। मोहके मदमें सावधानी रहे कहाँसे ? इस चतुर्विध धर्मध्यानके प्रभावसे कभी कभी बड़े चमत्कार प्रगट हो जाते हैं, किन्तु चमत्कार की तलाशमें बैठे रहने वालोंका चमत्कार नहीं हो सकता।

९६७. मनःशुद्धिका महत्त्व—एक बार युधिष्ठिर ने बड़ा भारी यज्ञ किया, अगनित साधुओंकी सेवा संगति की, याचकोंको मन वांछित दान दिया। भोजनशालामें बराबर यज्ञ दर्शियोंकी भीड़ रहती, उनके पैर प्रक्षालनका काम स्वयं राजा करता, उस पादप्रक्षालनसे बहे जलमें एक नौला डुबकियाँ लगा रहा था जिसकी आधी पूंछ स्वर्णके रंगकी थी। नौले

इक्कीस हजार वर्षका यह तो होगा अवसर्पिणीका पूरा काल, फिर उत्सर्पिणी प्रारंभ होगी, सो उसके भी प्रथम छठवें कालके २१००० इक्कीस हजार वर्ष और द्वितीय, पांचवें काल के २१००० इक्कीस हजार वर्ष जब पूरे होंगे और तीसरे नम्बरका चौथा काल पूर्ण होगा तो श्रेणिक का जीव महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होगा। यदि आत्मानुभव रूप सम्यग्दर्शन हमारे हृदयमें जागृत हो जाये तो हम आप भी अधिक आत्मोन्नति कर सकते हैं। आज लोकमें देखा जाता है कि जो सच्ची लगनसे लोकसेवा करते हैं—उसके अनेक अपराध पाप जनता स्वयं भूल जाती है। धर्म किस मर्जकी दवा है ? इसी प्रश्नके उत्तरमें यह उत्कर्षण अपकर्षणके दृष्टान्त हैं।

९६५. विपाकविचय धर्मध्यान— अब विपाकविचय धर्मध्यानको सुनिये है। इस को संक्षेपमें यों भी समझ सकते हैं कि—"जे निज पूरब कर्म उदय सुख भुंजत भोग उदास रहेंगे। जे दुःखमें न विलाप करें निर्वैर हिये तन ताप सहेंगे ।। हैं जिनको दृढ़ आतमज्ञान किया करके फलको न चहेंगे। ते सुविचक्षण ज्ञायक हैं तिनको करता हम तो न कहेंगे ।।" किन्तु जो अनादि अनन्त अचल अहेतुक सामान्य स्वसमय परमपारिणामिक भाव, परमपारिणामिक भाव ज्ञानानंद रूप आत्मामें मग्न हैं वह कर्मफलका भोक्ता भी नहीं है। यह एक विवेक दृष्टि है कि समतासे फल भोगोगे तो वह अपना फल देकर सहजभावसे झर जायेगा और विलाप करके सहोगे तो भी पापका फल सहना पड़ेगा ही, साथमें आत्मबल घटेगा, लोक हास्य होगा और आगे के लिये महान् असाता कर्म व अन्तराय कर्मका बंध होगा। हमें जिसका कर्जा देना है वह वायदेपर मांगने आ गया तो शक्ति अनुसार देनेमें ही निखरना है। यदि देनेको नहीं तो विनयपूर्वक क्षमा माँगनी पड़ेगी कि आगे जिस किसी तरह आपका ऋण चुकता करूंगा। यदि कर्जदार समयपर साहूकारको कुछ भी न चुकावे, उल्टी अकड़ बतावे, टालमटूल करे तो फिर साहूकार न्यायालयमें कर्जदारपर नालिश करता है। जज साहूकारके पक्षमें डिग्री देता है और कर्जदारको न्यायालयके खर्च और समयकी बर्बादी के साथ लोकापवाद उठाकर वह कर्ज कई गुने रूपमें चुकाना ही पड़ता है। ऐसे विपाकविचय धर्मध्यानसे आत्मानुभवमें पहुँचनेका सहजमार्ग है।

९६६. संस्थानविचय धर्म्मध्यान—चौथे धर्मध्यानका नाम है संस्थानविचय अर्थात् लोकके आकारका विचार करना, लोकके भेदोंका प्रभेदोंका विचार करना कि "पूरव पच्छिम तलें सात मध्य एक बखानी। पंच स्वर्गमें पाँच अन्तमें एक प्रमानी ।। चहुँ मिलाय चहुँ अंश तीन साढ़े परमानों। दक्षिण उत्तर सात साड़े चौवीस बखानों ।। ऊंचा चौदह राजू गिनों, अधिक तितालिस तीन सौ यह घनाकार तिहुँलोकको केवलज्ञान विषै लसै ।।" अर्थात् कमर पर हाथ रखे दोनों पैर पसारे और सीधे खड़े पुरुषाकार समान लोकका आकार है।

आत्मध्यानरूप महलमें से कूड़ेकचड़ेके समान शीघ्र अलग करने योग्य है। फिर हम सावधान होकर उन विकारपरिणतियोंको इस तरह निकाल सकते हैं, जैसे हम चौकेकी तरफ आते हुए कुत्ते बिल्लीको भगा देते हैं। सामायिक करने बैठते हो तो मनो विकार झलकमें आ भी जाते हैं। किन्तु जो रात दिन हम चार संज्ञा अर्थात् आहार निद्रा भय मैथुन या विषयकषायमें फंसे रहते हैं, तब विकारोंको दोषदृष्टिसे न देखकर उस मोह मायाको ही और मोह माया द्वारा पुष्ट करते हैं। एक कपटसे स्वार्थ सिद्ध न हुआ तो और और कपटकूट तैयार करते हैं। दूसरे वकीलोंसे कूट कपटकी चालें पूछते हैं और इतने गहरे पापकूपमें जा गिरते हैं कि उससे निकलना कठिन है। अतएव आत्मानुभवमें आनेके लिये जिनवाणीका आराधन करो और इस तरह सावधानीसे करो, मानो हमें इससे कुछ बड़ी सफलता लेनी है। पूजन करते समय केवल इस बात तक ही ध्यान नहीं रखना है कि द्रव्य कैसा सुन्दर व बहूमूल्य है, भक्तजन किस मधुर स्वरसे सुखद बाजोंके साथ गा रहे हैं ? किन्तु जिनकी पूजा है उनके गुणोंमें मन ऐसा अनुरक्त हो जाये कि आराध्य व आराधक अर्थात् पूज्य व पूजकका विकल्प भी थोड़ी देरको मिट जाये—यही स्वानुभव है। आत्माके ज्ञायक भाव प्रगट होनेपर पुद्गल द्रव्योंके बिगाड़ सुधारमें आत्माके सुधार बिगाडका विकल्प नहीं होता, जाड़ा लगनेपर भी यही अनुभव होता है कि शीतविषयक ज्ञान मुझे हो रहा है। पूजा करनेपर ऐसा अनुभव होता है आत्मा आत्मामें लग गई है और इस आत्मानुभवके बिना पूजा भी परशैलीसे ही बनी रहती है। अत: मनको स्थिर करके आत्मानुभव करो तथा जिनवाणीका आराधन करो।

६६९. वर्तमान समागममें ज्ञानीका अन्तः यत्न—वर्तमानमें हम आपको बड़े ही अच्छे समागम प्राप्त हुए हैं, यह शरीर तो क्षण प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है, मृत्युके निकट पहुँच रहा है। इस संसारमें इस लोकमें आज हम जितनी दुनियामें, जितनेसे क्षेत्रमें बँधे हुए हैं, जितनेमें समझ रहे हैं, वह सारी दुनिया जो कि ८—१० हजार मीलके चक्करकी मानी जाती होगी आजके प्रत्यक्ष हठी लोगोंके द्वारा यह सारी दुनिया इस लोकविस्तारके सामने बिन्दुवत् है। अब समझिये कि जिस बिन्दुमात्र जगहमें हम आप इतना बन्धनमें आ गए तो उसके अतिरिक्त और लोक कितना पड़ा है ? असंख्यातों गुना। तो इस भवको छोड़ कर हम बचे हुए क्षेत्रमें कहीं भी जन्म ले लें तो यहाँका क्या रहा ? इतनेसे क्षेत्रमें अपनी कल्पनाके अनुसार दुनिया बसायी तो इसमें सार क्या निकला ? हमारा कर्तव्य है कि हम इन प्राप्त समागमोंमें आसक्ति न रखकर आत्माको ज्ञानस्वरूप निरखकर अपने आपमें रत होनेका यत्न करें। यह आत्मा सहज ज्ञानैकरस है, आनन्दस्वरूप लिए हुए है। आनन्द पानेके लिए कुछ श्रम नहीं करना है, किन्तु दुःखी होनेका जो श्रम कर रहे थे उस श्रमको हटाना है। विकल्पोंको हटाना है, व्यर्थके परिश्रमको हटाना है। आनन्द स्वरूप तो यह

की भावना थी कि इतने बड़े यज्ञमें अवश्य कोई चमत्कार प्रगट होगा— किन्तु बहुत लोटने पर भी पूंछका शेष कोई भी अंश स्वर्ण वर्णका नहीं हुआ तो लोगोंने पूछा कि तुम्हारी यह आधी पूंछ कहाँ कब कैसे स्वर्णकी हो गई ? तो वह बोला कि एक गरीब ब्राह्मण ब्राह्मणी तीर्थयात्राकी भावनासे कुछ रोटियाँ बाँधकर बड़े प्रातःकाल ईश्वरका भजन कर बिना कुछ खाये पिये घरसे चल पड़े। पैदल यात्रा करते जब वे ४-५ कोस निकल गये और थकान आनेपर और भूखकी ज्वाला बढ़ जानेपर वृक्षकी शीतल छायामें एक मीठे जल भरे कुएके पास बैठे, रोटियाँ निकालीं कि दो संन्यासी आहारके निमित्त वहाँ आ पहुंचे, उन्हें भोजन कराकर पादस्पर्श किया और स्वयं भोजनकी तैयारी की कि फिर और दो साधु आ गये। ब्राह्मण दम्पतिने बड़ी भक्तिसे उनको पड़गाहा और समस्त भोजन उन्हें परोस दिया। वे साधु भोजनके बाद कुछ धर्मोपदेश देकर अपने इष्ट स्थानको विहार कर गये। मैं यह सब घटना बड़ी भक्तिसे देखकर प्रसन्न हो रहा था। फिर जैसे ही मैं भी चला कि उनके पाद-प्रक्षालनके जलमें मेरी पूंछ भीगकर स्वर्णकी हो गई। किन्तु यह राजयज्ञ था, न जाने कुछ भी चमत्कार क्यों नहीं हुआ, तो लोग भी इस अभिप्रायपर पहुंचे कि लौकिक सुखकी चाह छोड़ शुद्ध मनसे जो धर्म यज्ञ आदि किये जाते हैं वे ही परमार्थ साधक होते हैं। धर्मके द्वारा लौकिक सुखोंकी चाह करना भी विपरीत मिथ्यात्व है। धर्म तो आत्मकल्याणके लिये है, जैसे मणिके बदले कांच लेना मूर्खता है वैसे धर्मसे लौकिक सुखोंकी कामना भी कम मूर्खता नहीं है। यथार्थमें हमारी आत्मबुद्धि शुद्ध नहीं है, कदाचित हम आत्मा या परमात्माका अनुभव कर सकें तो यही एक परमकर्तव्य है। अपनी विभावपरिणतियोंको मेटनेका पुरुषार्थ करो। फिर जैनी लोग तो प्रायः वैश्य जातिके हैं जो कि सदा लाभपर दृष्टि रखते हैं और भविष्यमें उन्नतिकी अधिक भावनाएं भरते हैं। यह नरदेह ही ८४ लाख योनियोंमें श्रेष्ठ है, किसी महान पुण्यसे मिली है। अब संसारसमुद्रका पार करना दुष्कर नहीं है, सो अब "इस थोड़ीसी के कारणे क्यों अब तान चुकाय" अर्थात् शेष रहे मनुष्य जीवनको पाशविक विषय वासनाओंमें न खोकर मानवजीवनको विकसित करने वाली तप त्यागरूप आत्मानुभवकी भावनामें लगाकर चिरस्थायी शान्तिपथके पथिक बनो।

९६८. अन्तस्तत्त्वके अध्ययनका कर्तव्य—प्रायः स्वाध्याय और ध्यानको आत्मानुभवमें तत्काल समर्थ कारण माना है और इन दोनोंमें भी अर्थात् स्वाध्याय और ध्यानमें भी कार्य कारण भाव है। स्वाध्याय कारण है, ध्यान कार्य है। आज स्वाध्यायका तो कुछ प्रचार भी है, किन्तु उस स्वाध्यायका कार्य ध्यान यानी धर्मध्यान सामायिकमें भक्तोंको बड़ी शिकायत है कि महाराज जाप या ध्यानमें तो जगह जगहकी अनेक बातें याद आती हैं। सो भाई यह तो पता चल जाता है कि मेरे मनमें कितनी विकार परिणतियां भरी पड़ी हैं जो

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम्।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्ततत्त्वम्।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम्।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम्।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥

आत्मा स्वयं ही है। विकल्प हटे कि वहाँ आनन्दस्वरूप प्रकट हुआ। विकल्प आवरण हैं जो कि इस आनन्दस्वरूपको ढके हुए हैं। तो उस आनन्दको प्रकट करनेका सामर्थ्य भेद-विज्ञानमें है। हमारा प्राथमिक उपाय कल्याणके लिए भेदविज्ञान ही चल सकेगा। भेद-विज्ञानकी प्रकृति बनावें। जो कुछ भी चीजें हमारे सामने हैं, जिन-जिनके बीच हम रह रहे हैं, उन सबसे हम अपने को भिन्न समझें, मैं इन सबसे निराला हूँ, देहसे भी न्यारा हूं।

६७०. चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका परिणाम—देखो भैया! इस मुझ चैतन्यमात्र आत्माको कौन जानता है? जब कोई समझता ही नहीं है तो न समझने वालों को हम कुछ जतानेका क्यों प्रयत्न करें? जैसे न समझने वाले बेचारे भींत खम्भा आदिक हैं तो इनके सामने तो हम आप अपनी शान नहीं बगराते कि ये मेरा कुछ बड़प्पन जान जायें, ये मुझे समझ जायें कि मैं कुछ हूँ, क्यों नहीं जतानेका प्रयत्न करते? इसलिए कि हम आप यह जानते हैं कि ये भींत खम्भा आदिक तो कुछ मुझे जानते ही नहीं है, ये मुझे पहिचानते ही नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समझता है कि ये समस्त दृश्यमान जो प्राणी हैं ये मुझ चैतन्यात्मक आत्माको समझते ही नहीं हैं। जब ये कुछ समझते नहीं, तो इनके सामने मैं क्या शान बगराऊं? इनको मैं क्या दिखाने चलूं कि मैं कुछ हूँ? जैसे न समझने वाले अचेतन पदार्थोंको हम समझानेकी चेष्टा नहीं करते, इसी प्रकार ज्ञानीजन यहाँ किसीको कुछ जतानेकी चेष्टा नहीं करते, क्योंकि वे जानते है कि ये सब लोग तो इस मुझ आत्माको पहिचानते ही नहीं है, जानते ही नहीं हैं। यदि कोई मुझ आत्माको जान जाय वह तो स्वयं अपने चित्स्वरूपका अनुरागी हो गया। अब वह व्यक्ति न रहा, वह तो स्वयं चित्स्वरूप रह गया। तो मुझ व्यक्तिको उसने नहीं समझा। मुझे यहाँ कोई नहीं समझता। ज्ञानी पुरुष चित्स्वरूपको समझता है। अज्ञानी जीव मेरे स्वरूपको किसी भी प्रकार समझता ही नहीं। तब अज्ञानीको अपना महत्त्व बतानेकी गुंजाइश क्या? ज्ञानियों को हम क्या बतावें? वे तो स्वयं चित्स्वरूपके अनुरागी हैं। इस तरह जानकर ज्ञानी जीव विकल्पोंको हटाता है और विवेक द्वारा अपने आपके उस स्वरूप तक पहुंचता है जिस स्वरूप में मग्न होनेपर फिर किसी भी प्रकारके विकल्प नहीं रहते? यों ज्ञानी कर्ता कर्म भावसे हटता है और विकल्प भावोंसे हटकर वह शीघ्र ही साक्षात् समयसार हो जाता है?

॥ इति समयसार प्रवचन पंचम पुस्तक ॥